

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां

श्रीमद्भागवत-

सुबोधिन्यां

दशमस्कन्धे त्रयोदशं गुणप्रकरणं लेखसमेतं

यावत्प्राप्तैकादशस्कन्धं प्रकाशसमेतं च



श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धगुणप्रकरणैकादशस्कन्ध-सुबोधिनी

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता

वि.सं. २०७३, श्रीवल्लभाब्द ५३९

३०० प्रति.

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र - ४१६००८.

संगणकाटंकन :
अल्पा बाराई, अनिल भाटीया, जगदीश शेठ, असित शाह.

मुद्रक :
रमा आर्ट
४, चुनावाला इन्डस्ट्रीयल एस्टेट,
कोण्डीविटा रोड, अन्धेरी (पूर्व),
मुम्बई - ४०००५९.

। श्रीकृष्णाय नमः ।

सम्पादकीय

पूर्वप्रकाशित मूल श्रीसुबोधिनी और टीकाओंको पुनःप्रकाशित करनेकी शृंखलामें यह दशमस्कन्धका गुणप्रकरण एवं एकादशस्कन्ध सातवी कड़ी है.

इसके अलावा इसमें यह वैशिष्ट्य है कि हमने मुद्रित संस्करणोंकी प्राप्य हस्तप्रतोंसे तुलना करके यथावसर संशोधन या पाठभेद प्रस्तुत किये हैं. गुणप्रकरणकी हमारे किशनगढके संग्रहमेंकी हस्तप्रतको हमने 'क' संकेत दिया है. मांडवीसे गो.श्रीशरदबावाने अपने संग्रहमेंकी दो हस्तप्रतोंकी झेरोक्स कोपी हमें भेजी उन्हें हमने 'ग' और 'घ' संकेत दिया है. एक हस्तप्रत हमें गुजरातके संखेडासे प्राप्त हुई है जिसे 'सं' संकेत दिया है और अन्य एक अज्ञात स्रोतसे प्राप्त हुई है उसे 'ख' संकेत दिया है. दोनोंके हस्ताक्षर भिन्न हैं तथा 'ख'प्रतमें अनेक स्थलपे कुछ टिप्पणी भी बाजुमें लिखी मिलती हैं. 'सं'प्रतको हमें उपलब्ध करानेवालोंका यह दावा, कि यह श्रीराणाव्यासने श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणोंके लिये लिखी थी, यह तो अप्रतीतिकर है, क्योंकि इसमें श्रीगुसांईजीके प्रक्षेप भी प्राप्त होते हैं और लिपिकर्ताकी इतिश्रीमें संवत् १७०४का उल्लेख मिलता है. यह लिपिकर्ता श्रीव्रजनाथ भट्ट हैं ऐसा माण्डवीस्थ गो.श्रीशरदबावाने श्रीगोपीनाथप्रभुचरणग्रन्थावलीमें उल्लेख किया है. विशेष जानकारी उस पुस्तकमें प्राप्त हो सकती है. आद्य मुद्रित संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला भी अपने सम्पादकीयमें उन्हें सुरतके घरमें स्थित श्रीराणाव्यासलिखित हस्तप्रत श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने उपलब्ध करवाई ऐसा उल्लेख करते हैं. वह परन्तु हमें उपलब्ध नहीं है. सम्भवतः एकाधिक हस्तप्रत राणाव्यासलिखित होनेके रूपमें प्रसिद्ध हैं परन्तु इनमेंकी कोई वास्तवमें राणाव्यासलिखित नहीं ऐसा हमें लगता है. फिर भी इस हार्दिक सहयोगके लिये हम इस हस्तप्रतको उपलब्ध करानेवालोंके आभारी हैं.

गुणप्रकरणलेखकी हमें ज्ञात-अज्ञात स्रोतोंसे चार प्रतियाँ मिली हैं, जिन्हें हमने 'आ-इ-उ-ए' संकेत दिये हैं.

एकादशस्कन्धसुबोधिनी या प्रकाशकी हस्तप्रतोंकी अनुपलब्धिवशात् ऐसा तुलनात्मक सम्पादन हम नहीं कर पाये हैं.

इनके आद्य मुद्रित संस्करणोंके सम्पादकोंकी प्रस्तावनाएं हमने प्रथम परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित की हैं.

लेखोपेत गुणप्रकरणसुबोधिनी श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाके श्रीधीरजलाल सांकलिया इत्यादि सहयोगियोंने विक्रम संवत् १९८९में प्रकाशित की थी. सम्प्रदायमें आदर्श सम्पादनका एक जो कीर्तिमान उन्होंने स्थापित किया यह उसीका अनुसरण है. आद्य और शुद्ध मुद्रणके अतिरिक्त संबद्ध साहित्य— कारिकासूचि, श्लोकसूचि, उपन्यस्तवाक्यसूचि, योजनासे भूषित भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम, श्रीभागवतदशमस्कन्धार्थानुक्रमणिका, श्रीसुबोधिन्यनुस्यूतवाङ्मुक्तिकावली आदि— का निवेश अपने आपमें एक सांगोपांग ग्रन्थप्रकाशनकी मिसाल है आज भी.

किसी अज्ञातकारणवशात् उन्होंने वेदस्तुतिकी सूक्ष्मटीकाका समावेश नहीं किया था. सो हमने अन्यों द्वारा प्रकाशित सूक्ष्मटीकाको भी तत्तद् श्लोक और उसकी सुबोधिनीके बीचमें निविष्ट कर दिया है. भागवतार्थनिबन्धके परिशिष्टमें प्रकाशित श्रुतिगीतार्थ भी वहीं निविष्ट किया है.

सं. १९९०में श्रीमगनलाल शास्त्रीजीद्वारा संपादित एकादशस्कन्धसुबोधिनीको श्रीधीरजलाज काशीनाथ पंड्याने प्रकाशित की थी. यह किन हस्तप्रतोंपर आधारित है यह सूचित नहीं किया गया है. हालाकि पादटिप्पणीमें पाठभेद भी दिये गये हैं.

इन सभीका इस संस्करणमें निवेश कर पाये तदर्थ हम उन आद्यसम्पादकोंके प्रति अपनी चिरकृतज्ञता व्यक्त करते हैं. इनमेंसे भागवतार्थनिबन्ध, त्रिविधनामावली, श्रीभागवतदशमस्कन्धानुक्रमणिका एवं श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम प्रकरणार्थ / लीलार्थ के बोधक होनेके कारण हमने इन्हें वाक्यार्थ-पदार्थनिरूपिका श्रीसुबोधिनीके पूर्व ही दिये हैं. कारिका-श्लोक-उपन्यस्तवाक्य-सूचियां एवं श्रीमदाचार्यवाङ्मुक्तावली हमने द्वितीय परिशिष्टके रूपमें प्रकाशित किये हैं.

तृतीय परिशिष्टमें हमने स्वतंत्रलेखोंका संकलन किया है. इनमें प्रकाशित एवं अप्रकाशित लेख भी हैं जो एतत्प्रकरणीय तथा प्रकीर्ण भी हैं. प्रकाशित लेखोंमें इन आद्यसंस्करणों एवं टिप्पणीके परीशिष्टमेंके तथा वेणुनाद आदि मासिकपत्रोंमेंके लेखोंका संग्रह है. अप्रकाशित लेखोंमें ज्ञात एवं अज्ञात स्रोतोंसे हमें प्राप्त हुवे लेखोंका संग्रह है. इन्हें हमें उपलब्ध करानेवालोंके हम आभारी हैं. पाठकोंसे निवेदन है कि उनके संग्रहमें उपलब्ध अप्रकाशित लेखोंकी प्रति हमें प्रकाशनार्थ उपलब्ध करायें.

हमारी पहलेकी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ (!) रूपमें दिये हैं; तथा श्रीसुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके संशोधनका भी प्रयास किया है. हमारी पादटिप्पणियाँ '-सम्पा.'संकेतसे पहचानी जा सकती है; अन्य सब पादटिप्पणी आद्यसम्पादकोंकी हैं. हमने शब्दोंके उपर लिखे अंक पादटिप्पणीका स्थल सूचित करते हैं, जबकि वे ही अंक कोष्ठक ( ) में होनेपर गद्यमेंकी किसी योजनाको उजागर करते हैं.

इस ग्रन्थके सम्पादनकार्यमें हमारे सहयोगी श्रीभोगीभाई, श्रीहसमुखभाई, श्रीहर्षदभाई, श्रीधर्मेन्द्रभाई, श्रीपरेशभाई, श्रीअनिलभाई, श्रीराजेशभाई, श्रीजगदीशभाई तथा सम्पूर्ण मुद्रणकार्यभारके वाहक श्रीमनीष बाराईके हम कृतज्ञ हैं.

हम सभीकी पाठकगणसे ये ही अपेक्षा है कि वे इस वाङ्मयके अध्ययनद्वारा हमें चिरकृतज्ञ बनायें. इसकी सोफ्टकॉपी भी हमारे अन्य प्रकाशनोंकी तरह पुष्टिवाङ्मयकी वेबसाईटपे उपलब्ध है.

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

श्रीवल्लभाब्द ५३९ — ***गोस्वामी श्याममनोहर***
दीपावली — ***असित शाह***

गुणप्रकरण तथा एकादशाध्यायत्रयी
की
प्रस्तावना

(गुणप्रकरणविषयवाक्य)

[१. ''स्वभावम् एके कवयो वदन्ति कालं तथा अन्ये परिमुह्यमाना:, देवस्य एष महिमा तु लोके येन इदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्. येन आवृतं नित्यम् इदं हि सर्वं, ज्ञ: कालकालो गुणी सर्वविद्य:, तेन ईशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यापस्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्. तत् कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूय: तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्, एकेन द्वाभ्यां त्रिभि: अष्टभि: वा, कालेन चैव आत्मगुणैश्च सूक्ष्मै: आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावान् च सर्वान् विनियोजयेद् य:, तेषाम् अभावे कृतकर्मनाश: कर्मक्षये याति स तत्त्वतो अन्य:. आदि: स संयोगनिमित्तहेतु: पर: त्रिकालाद् अकलोऽपि दृष्ट:, तं विश्वरूपं भवभूतम् आद्यम् ईड्यं देवं स्वचित्तस्थम् उपास्यं पूर्वम्'' (श्वेता.उप. ६।१-५).

२. ''पुरुष: चेता प्रधानान्त:स्थ:. सएव भोक्ता प्राकृतम् अन्नं भुक्तइति. तस्य अयं भूतात्मा हि अन्नम् अस्य कर्ता प्रधान:, तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं, भोक्ता पुरुषो अन्त:स्थ:... यस्माद् बीजसम्भवा हि

पशवः, तस्माद् बीजं भोज्यम्. अनेनैव प्रधानस्य भोज्यत्वं व्याख्यातम्. प्राकृतम् अन्नं त्रिगुणभेदपरिणामित्वाद् महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्... सुखदुःखमोहसंज्ञं हि अन्नभूतम् इदं जगत्, नहि बीजस्य स्वादुपरिग्रहो अस्तीति यावद् न प्रसूतिः... एवं प्रधानस्य व्यक्ततां-गतस्य उपलब्धिः भवति, तत्र बुद्ध्यादीनि स्वादुनि भवन्ति. अध्यवसायसंकल्पाभिमानाः इत्यथ इन्द्रियार्थान् पञ्च स्वादुनि भवन्ति. एवं सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि एवं; व्यक्तम् अन्नम् अव्यक्तम् अन्नम्, अस्य निर्गुणो भोक्ता, भोक्तृत्वात् चैतन्यं प्रसिद्धं तस्य''(मैत्राय.उप. ६।१०).

३.''ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यद् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभाद् अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते. सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतो अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमद् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् असक्तं सर्वभृत् चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च... कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः उच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते, पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्, कारणं गुणसंगो अस्य सदसद्योनिजन्मसु. 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' च 'भर्ता' 'भोक्ता' 'महेश्वरः' 'परमात्मा' इति चापि उक्तो देहे अस्मिन् पुरुषः परः... प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः यः पश्यति तथा आत्मानम् अकर्तारं च पश्यति,

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ततएव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा. अनादित्वाद् निर्गुणत्वात् परमात्मा अयम् अव्ययः शरीरोऽस्थोऽपि, कौन्तेय!, न करोति न लिप्यते''(भग.गीता. १३।१२-३१).

४.''सत्त्वं रजः तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनम् अव्ययम्... न अन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टा अनुपश्यति गुणेभ्यः च परं वेत्ति मद्भावं सो अधिगच्छति. गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तो अमृतम् अश्नुते... मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते''(भग.गीता. १४।५-२६).

५.''सत्त्वं रजस् तम इति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः, स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीताः मायया विभोः. कार्यकारण-कर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः'' (भाग.पुरा. २।५।१८-१९).

६.''गुणेषु आविशते चेतो गुणाः चेतसि च प्रभो, कथम् अन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोः अतितितीर्षतोः?... मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुद्ध्यध्वम् अञ्जसा. गुणेषु आविशते चेतो गुणाः चेतसि च प्रजाः जीवस्य देहे उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः. गुणेषु च आविशत् चित्तम् अभीक्ष्णं गुणसेवया गुणाश्च चित्तप्रभवाः, मद्रूपः उभयं त्यजेत्. जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो

बुद्धिवृत्तय: तासां विलक्षणो जीव: साक्षित्वेन विनिश्चित:. यर्हि संसृतिबन्धो अयम् आत्मनो गुणवृत्तिदो मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्याग: तद्गुणचेतसां" (भाग.पुरा. ११।१३।२९).

७."अहम् आत्मा उद्धव! अमीषां भूतानां सुहृद् ईश्वर: अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्यय:. अहं गति: गतिमतां काल: कलयताम् अहम् गुणानां चापि अहं साम्यं गुणिनि औत्पत्तिको गुण:" (भाग.पुरा. ११।१६।९-१०)]

[**भावानुवाद :** १.कुछ मनीषी स्वभावकी कल्पना करते हैं तो दूसरे मुग्धजन कालकी, परन्तु, वस्तुत: तो इस लोकमें उस देवकी ही यह महिमा है जिसके कारण यह ब्रह्मचक्र फिरता रहता है. यह सब कुछ सदा उससे आवृत है, वह ज्ञानवान् कालका काल और सर्वज्ञ है, उसके द्वारा चिन्तित और नियत कर्मके कारण पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश प्रकट होते हैं. यहां कर्मको कर जो लौटनेको पुन: एक दो तीन या आठ तत्त्वसे तत्त्वको योजित कर, कालवश या सूक्ष्म आत्मगुणोंके वश कर्मोंका आरम्भ कर गुणोंसे अन्वित सारे भावोंको वहीं योजित कर पाता है, वह गुणोंके अभावमें किये हुवे सारे कर्मोंका क्षय होनेपर मूल तत्त्वको प्राप्त कर लेता है. जो गुणोंके साथ संयोगका आदि निमित्तकारण है वह कालत्रयातीत है और अकल भी है. ऐसे विश्वरूप आद्य भवभूत स्तुत्य देवको अपने चित्तमें उपास्यतया निरुद्ध करना चाहिये.

२.चेतन पुरुष अचेतन प्रधानके भीतर रहता है. तब वह

प्राकृत अन्नका भोग करनेवाला भोक्ता बनता है. प्रधाननिर्मित यह भूतात्मा (विज्ञानात्माके वास्ते) अन्नकी तरह है. अतः भोज्य त्रिगुणात्मक होता है और भोक्ता पुरुष उस भोग्यान्नके भीतर रहता है. क्योंकि सारे पशु किसी न किसी बीजसे प्रकट होते हैं, अतः बीजको 'भोज्य' कहा जाता है. इसी आधारपर प्रधानके भोज्य होनेकी व्याख्या भी मिल जाती है. प्रकृतिके सत्त्वरजस्तमोगुणोंके वैषम्यके कारण परिणत होनेवाला अन्न प्राकृत माना जाता है, जो महत्तत्त्वसे ले कर विशेष पर्यन्त है... 'सुख' 'दुःख' या 'मोह' संज्ञक यह जगत् अन्नभूत है. बीज, परन्तु, तब तक स्वादिष्ट नहीं लगता, जब तक फल या धान्य के रूपमें परिणत न हो जाये... इस तरह प्रधानके व्यक्त होनेपर ही उसकी उपलब्धि होती है. इनमें बुद्धि आदि स्वादपूर्ण होती हैं, क्योंकि बुद्धिकी विविध वृत्तियां, नामशः, अध्यवसाय संकल्प या अभिमान और इन्द्रियोंके पांच रूप रस गन्ध आदि अर्थ स्वादु होते हैं. इसी तरह अन्य भी इन्द्रियोंके और प्राणोंके सारे कर्मोके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. व्यक्त और उनके उपादानभूत अव्यक्त भी अन्नरूप कहे जाते हैं. चेतनतया प्रसिद्ध होनेके कारण भोक्ता निर्गुण होता है.

३.अब उस ज्ञेयके बारेमें बता रहा हूं, जिसे जान लेनेपर सारी अशुभताओंसे मुक्त हुवा जा सकता है. वह है अनादि परं ब्रह्म. इसे न 'सत्' और न 'असत्' कहा जा सकता है. उसके हाथ-पैर सभी जगह पहुंच पाते हैं, उसके सिर आंख और मुख सभी जगह पसरे हुवे हैं. लोकमें सब कुछ वह सुन सकता है और सबको आवृत करके रहता है. सारी इन्द्रियोंसे

ग्राह्य गुणोंका आभास उसमें होता है परन्तु वह सभी इन्द्रियोंसे विवर्जित है. कहीं भी सक्त न होनेपर भी सभीका भरण करता है, निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोग करता है... कार्य कारण और कर्ता का होना प्रकृतिके कारण सम्भव होता है, परन्तु, सुख-दुःखोंका भोक्ता पुरुष बनता है. क्योंकि प्रकृतिके भीतर रहनेवाला पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोग करता होनेके कारण सद् या असद् योनियोंमें जनमता रहता है. इसी देहमें उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्ता भोक्ता और महेश्वर परमात्मा के रूपमें एक अन्य पुरुष भी रहता है... सारेके सारे कर्म सर्वथा प्रकृतिके कारण प्रकट होते हैं, ऐसा जो देख-समझनेके कारण स्वयंको अकर्ता मान पाता है, वह सत्यद्रष्टा होता है. उत्पन्न होनेवाली सभी पृथक्-पृथक् वस्तुओंकों किसी तत्त्वमें प्रकट होती जब कोई देख पाता है तो उसका ब्राह्मिक विस्तार सम्पन्न हो जानेके कारण उसे सभीका ब्रह्मतया अनुभव होने लगता है. अनादि-अव्यय और निर्गुण होनेके कारण यह परमात्मा शरीरके भीतर अवस्थित होनेपर भी न तो किसी कर्मका कर्ता बनता है और न कर्मके फलोंमें वह लिप्त हो पाता है.

४.सत्त्व रज और तम ये प्रकृतिसे पैदा होनेवाले गुण अव्यय देहीको देहमें बांध देनेवाले बन जाते हैं...किन्तु इन गुणोंके अलावा और कोई कर्ता नहीं होता, ऐसा देख-समझ पानेवाला और स्वयंको इन गुणोंसे पर माननेके कारण भगवद्भावसे सम्पन्न हो जाता है. देहवशात् या देहोत्पादक इन तीन गुणोंका अतिक्रमण करनेपर जन्म मृत्यु वार्धक्य आदि दुःखोंसे मुक्त हो कर बद्धजीव अमृतलाभ पा लेता है... इसके अलावा भी जो अव्यभिचारी

भक्तियोगद्वारा मेरा सेवन करता है वह भी वह भी इन तीनों गुणोंसे ऊपर उठ कर ब्रह्मभूय बन जाता है.

५.जगत्की उत्पत्ति स्थिति और निरोधके वास्ते निर्गुण विभु तत्त्वने अपनी मायाके द्वारा सत्त्व-रजस्-तमोरूप तीन गुण ग्रहण किये हैं. इन गुणोंके कारण द्रव्यमें कार्य होनेका, ज्ञानमें कारण होनेका; और, क्रियामें कर्ता होनेका आभास प्रकट होने लगता है. एतावता नित्यमुक्त होनेपर भी मायी पुरुष इन गुणोंमें बंध जाता है.

६.गुणोंमें चित्त आविष्ट रहता है और गुण चित्तमें, ऐसी स्थितिमें मुक्तिकामी यदि इन गुणोंके पार जाना चाहे तो कैसे जाये?... मनसे वाणीसे दृष्टिसे या अन्य भी इन्द्रियोंसे मैं ही तो गृहीत होता हूं, मेरे अलावा और कुछ नहीं यह भलीभांति समझ जाओ. गुणोंके, परन्तु, अतिशय सेवनके कारण चित्त गुणोंमें आविष्ट हो जाता है और चित्तमें भी गुण आविष्ट हो जाते हैं. मेरे अवान्तररूप जीवके देहमें मेरे ही रूपान्तरतया ये चित्तप्रभव गुण और चैतन्य विद्यमान रहते हैं. मेरे अवान्तररूप जीवको चाहिये कि इन दोनोंका त्याग करे. जीवकी जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था और सुप्तावस्था इन बुद्धिवृत्तिओंके गुणोंके कारण ही अनुभूत होती हैं. जीव तो साक्षी होनेके रूपमें इन गुणोंसे विलक्षण निर्गुण ही होता है. जब इस जीवात्माके भीतर अविद्याकृत गुणवृत्तियां मिल जाती हैं तो वह संसारमें बंध जाता है. जब जीवात्मा जाग्रदादि अवस्थारहित तुरीय अवस्थावाले मुझमें निरुद्ध हो जाता है तो गुण और चित्त दोनोंका ही प्रभाव सहज ही निरस्त हो जाता है.

७.मैं इन सभी भूतोंकी आत्मा सुहृद् ईश्वर हूं. सारे भूतोंके रूप मैंने ही धारण किये हैं. उनके उद्‌भव स्थिति और लय भी मैं ही बनता हूं. जो गतिशील पदार्थ हैं उनमें गति मैं हूं, जिन पदार्थोंकी भूत-वर्तमान-भावी अवस्थाओंका आकलन हो पाता हो, उनमें मैं कालरूप हूं. गुणोंमें मैं उनकी साम्यावस्था हूं तथा गुणवान् पदार्थोंके जो भी स्वभावसिद्ध गुण हों वह मैं हूं.]

(उपक्रम)

उपर्युद्धृत श्रुति स्मृति और पुराण के वचनोंकी एकवाक्यता साधनेपर जो बात उभर कर सामने आती है, वह यह है कि एक-अद्वितीय ब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वरूपत: प्राकृत गुणत्रयीसे अतीत या रहित होनेपर भी स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका रूप लीलया धारण करते हैं. अत: ये गुण ब्रह्मात्मक होनेपर भी ब्रह्म स्वयं त्रिगुणात्मकतया इदमित्थतया निर्धारित नहीं हो पाता.

भागवतके नब्बे अध्यायोंवाले दशम स्कन्धके तीन अध्याय प्रक्षिप्त होनेके कारण उसके ८७ अध्यायोंका प्रारूप महाप्रभुने यों दरसाया है "**चतुर्भि: च चतुर्भि: च चतुर्भि: च त्रिभि: तथा षड्भि: विराजते यो असौ पञ्चधा हृदये मम**" (सुबो.१०।१।१). अर्थात् दशमस्कन्धके प्रारम्भके चार अध्याय श्रीकृष्णकी जन्मलीलाके वर्णनपरक हैं. उसके बाद सात-सात अध्यायोंके चार सप्तकोंवाला प्रमाण प्रमेय साधन और फल रूपी उपप्रकरणोपेत तामसप्रकरण है. क्योंकि महाप्रभु कहते हैं कि प्रकृतिके तीन गुणोंमें जकड़े जीवात्माको गुणातीत परमात्माकी ओर अग्रसर होना हो तो इन गुणोंपर संयम या उनका त्याग अपेक्षित होता है. परमात्मा, परन्तु, जब स्वयं जीवात्माओंके बीच में प्रकट

होना चाहता हो तो प्राकृत गुणोंवाली लीला प्रकट करनेमें उसकी निर्गुणता या गुणातीतता को क्षति नहीं पहुंचती. "**स्वभावस्य अन्यथाभावो न वै शक्य: कथञ्चन अत: त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृति:**" (सुबो.१०।१।१(६)). अत: तामस स्वभाववालोंके बीच भगवान्‌की तामसी लीलामें उनके ऐश्वर्यादि छह दिव्य गुणों और धर्मिरूपेण प्रकट हो कर लीलापरिकरोंका चित्त स्वयंमें निरुद्ध कर लेते हैं. अतएव भागवतमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है "**नृणां नि:श्रेयसार्थाय व्यक्ति: भगवतो, नृप!, अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन:, कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मतां हि ते**" (भाग.पुरा.१०।२६।१४-१५). इसी तरह तृतीय प्रकरण भी अतएव सात-सात अध्यायोंके प्रमाण प्रमेय साधन और फल रूपी चार सप्तकोंवाला, अर्थात् ३३वें अध्यायसे ६० अध्याय पर्यन्त कुल २८ अध्यायोंवाला राजसप्रकरण है. चतुर्थ सात्त्विकप्रकरण २८ अध्यायके बजाय २१ अध्यायोंवाला है. क्योंकि सात्त्विकी बुद्धिको पृथक् प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रहती. अत: प्रमेय साधन और फल रूपी त्रिविध लीला ही इस प्रकरणमें भगवान्‌की वर्णित हुयी हैं, शेष सब समान है. यों ६१वें अध्यायसे ८१वें अध्याय वाले सात्त्विक प्रकरणके बाद प्रस्तुत अन्तिम पांचवाँ प्रकरण छह अध्यायोंवाला गुणप्रकरण है. यह भगवान्‌के ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूपी छह दिव्य गुणोंकी लीलाके निरूपणार्थ है.

अतएव स्कन्धान्तमें इसे *"यो असौ भगवान् षड्भि: लीलाभि: विराजते"* ऐसे सन्दर्भमें महाप्रभुको यह अभिप्रेत है.

(संशय)

यहां स्वाभाविकतया मनमें एक संदेह उभरता है कि यदि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंके वैषम्यवश जीवात्माओंके भीतर पनपे स्वभाववैषम्यके प्रतिरूप भगवान्‌के दिव्य गुणोंवाली लीलाओंका निरूपण इन छह अध्यायोंमें अभिप्रेत हो तो, या तो प्रकृतिके गुणोंसे अतीत ऐसे परमात्माको

निर्गुण मान कर गुणातीतलीलाओंका वर्णन मानना जाहिये अथवा केवल 'गुणप्रकरण' संज्ञानके बजाय 'दिव्यगुणप्रकरण' अभिधान प्रयोग उचित होता.

(पूर्वपक्ष)

वस्तुत: तो उपर्युद्धृत "**सत्त्वं रजस् तम इति निर्गुणस्य गुणा: त्रय:, स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता: मायया विभो:. कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रया: बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणा:**" (भाग.पुरा.२।५।१८-१९) वचनमें निर्गुण परमात्माका गुणग्रहण *मायया* माना गया होनेके कारण पारमार्थिक नहीं हो सकता. अत: मिथ्या मानना अनिवार्य होनेके कारण जिन्हें 'दिव्यगुणों'के रूपमें बिरदाया जा रहा है, वे गुण भी भगवान्‌के 'एकमेव अद्वितीय' होनेकी श्रौत एकान्तिक अवधारणासे विपरीत होनेके कारण या तो दिव्य होनेपर भी ब्राह्मैक्यके आवरणविक्षेपाहित भान होनेसे पूर्वकी केवल व्यावहारिक कथा है अथवा उपासनार्थ आरोपित गुण ही उन्हें मानने चाहिये.

(उत्तरपक्ष)

वैसे 'माया' पद निरुक्त-निघन्टुमें तो "'**माङ्**'=**माने** '**माछाससिभ्यो य:' इति 'य'प्रत्यये मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते अनया पदार्था:**" की व्युत्पत्तिवश प्रज्ञाके वाचक ग्यारह पर्यायोंमें से अन्यतम माना गया है (द्रष्ट.निरु.३।९।९). तो प्रस्तुत सन्दर्भमें भी 'मायया'पदका प्रज्ञाविरोधी अविद्यार्थक लेनेका कोई औचित्य बुद्धिगत नहीं होता. फिर यह भी विचारणीय है कि यदि अविद्यार्थक ही आग्रहिलतया स्वीकारने हो तो 'बन्धमुक्तिरूपा लीलाओंके कर्ता निर्गुणात्मा' 'नित्यमुक्त होनेपर भी बन्धनार्ह आत्मा' और 'माया' पदोंके अर्थोंके तारतम्यकी विवेचना कैसे करनी? "**सत्त्वं रजस् तम इति निर्गुणस्य गुणा: त्रय:, स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता: मायया विभो:**" यहां 'उपासनार्थ आरोपित गुण' की कल्पना तो नितान्त अप्रासंगिक ही होगी क्योंकि 'गृहीता' पदप्रयोगके वश निर्गुणात्माद्वारा गुणोंका स्वयंगृहीत होना स्फुटतया स्वीकृत हो रहा है. और विभु तत्त्वको मायाद्वारा

गुणोंका ग्रहणकर्ता माननेपर भी उसके निर्विकल्पचेतनारूप होनेके बजाय सविकल्पबोधशाली तथा ससंकल्पक्रियाशाली होना भी पृष्ठलग्न चला आता होनेसे ऐकान्तिक अद्वैतकी अवधारणा तो निरस्त ही हो जाती है. फिरभी **"सदेव सौम्य इदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय"** (छान्दो.उप.६।२।१-३) वचनमें पूर्वप्रक्रान्त एकमेव अद्वितीय सत्का परामर्शी 'तद्'पद या तो मायाका उसके साथ तादात्म्य अथवा आत्यन्तिक अभाव को ही इंगित कर रहा है. अन्यथा निर्गुणात्माकी अद्वितीय-एकता निरस्त हो जायेगी.

यदि निर्गुणात्माको पारमार्थिक सत् और माया को सदसद्विलक्षण मान कर अद्वितीय-एकताकी उपपत्ति खोजनी हो तो उपर्युद्धृत **"ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यद् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभाद् अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते"** वचनमें निर्गुणात्माको भी सदसद्विलक्षण माना गया होनेके कारण, उसकी शक्तिरूपा मायाका भी वैसा ही होना मान्य करना चाहिये था. अतएव या तो दोनोंके बीच तादात्म्य अन्यथा दोनोंका ही मिथ्यात्व ही फलित होता है.

यदि सोचा जाये कि एक ही निर्गुणात्मा मूलतः निरुपाधिकभावसे सदसत्त्वेन अवाच्य अकर्ता और मायोपाधिकभावसे सदसत्त्वेन अनिर्वचनीय स्रष्टा भी बन जाता है, अर्थात् निर्विकल्पक स्वयंप्रकाश होनेसे अवाच्य और सविकल्पक श्रौतशब्दप्रकाश्य होनेके कारण मिथ्या सदसदनिर्वचनीय बन सकता है, तो इसमें भी यह अनुपपत्ति लगती है कि **"संयुक्तम् एतत् क्षरम् अक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वम् ईशः. अनीशः च आत्मा बध्यते भोक्तृभावाद् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः. ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ. अजा हि एका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता... क्षरं प्रधानम् अक्षरं हरः, क्षरात्मानौ ईशते देवः एकः. तस्य अभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः"**(श्वेता.उप.१।८-१०) इस वचनमें निवर्त्य क्षर(मिथ्या!) और अनिवर्त्य अक्षर(परमार्थ!) से भिन्न

तृतीय क्षराक्षरभर्ता जिसके ज्ञानसे विश्वमायाकी निवृत्ति स्वीकारी गयी है, इसे भी पुन: अग्रिम "**सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्**" (श्वेता.उप.१।१२) वचनमें ब्रह्मके ही अन्यतम प्रकारतया मान्य किया गया होनेके कारण एकको सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या ब्रह्म और अपरको सदसत्त्वेन अवाच्य पारमार्थिक ब्रह्म मानना भी ब्रह्मकी असर्वतामें पर्यवसित हो जाता है. अत: उपपन्न नहीं. अतएव पूर्वोद्धृत "**कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः उच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते, पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्, कारणं गुणसंगो अस्य सदसद्योनिजन्मसु, 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' च 'भर्ता' 'भोक्ता' 'महेश्वरः', 'परमात्मा' इति चापि उक्तो देहे अस्मिन् पुरुषः परः**" भगवद्गीताके वचनमें प्रकृति पुरुष और परमात्मा का जो त्रैविध्य है उसका "**भूमिः आपः अनलो वायुः खं मनो बुद्धिर् एव च अहंकारः इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा, अपरा इयम् इतस्तु अन्या प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगत्. एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणि इति उपधारय अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा. मत्तः परतरं न अन्यत् किञ्चिद् अस्ति, मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाइव**" (भग.गीता.७।४-७) वचनसे संवाद साधनेपर ब्रह्मत्रैविध्यमें मिथ्या और परमार्थ का प्रभेद सिद्ध नहीं हो पाता.

अत: पारमार्थिक निर्गुणात्मा द्वारा पारमार्थिक गुणग्रहणका अवशिष्ट कल्प सोचनेपर गुणसंनिरोधवश नैर्गुण्यावस्था केवल ब्रह्मता न हो कर सगुण-निर्गुण दोनोंके ईश्वररूप एक तृतीय परमार्थतम तत्त्वको स्वीकार करने बाधित होना पड़ता है. उसके बिना सर्वविध शास्त्रवचनोंके साथ न्याय नहीं हो पाता. यह उपर्युद्धृत "**सत्त्वं रजः तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनम् अव्ययम्... न अन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टा अनुपश्यति गुणेभ्यः च परं वेत्ति मद्भावं सो अधिगच्छति. गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्**

जन्ममृत्युजरादु:खै: विमुक्तो अमृतम् अश्नुते... मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते'' इस गीतावचनके आधारपर भी उपबृंहित होता ही है.

(गुणमीमांसा)

इस सन्दर्भमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यही है कि इन सत्त्वरजस्तमोगुणोंकी त्रयीकी तीन अवस्थाओंपर वैचारिक धांधलीमें दुर्लक्ष्य हो गया है. इसे यों समझा जा सकता है :

(१) निर्गुणात्मा द्वारा पारमार्थिक गुणत्रयीका अंगीकार.

(२) इनकी साम्यावस्थाघटित प्रकृति या प्रधान रूपा पारमार्थिकी जडसृष्टिकी कार्योन्मुखी अवस्था.

(३) भगवच्चेष्टारूप कालकृत क्षोभवशात् इनकी तृतीय वैषम्यावस्था. इसे 'क्षरब्रह्म' कहा जा रहा है, ब्रह्मके सगुण-निर्गुण उभयविध रूप श्रुतिप्रतिपादित होनेसे.

(१)इस विषयकी विवेचना करते हुवे महाप्रभु कहते हैं :

''यथा ऊर्णनाभि: सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणान् उद्वमते. गुणरूपत्वात् च 'गुण'शब्दव्यवहार:. (सत्+चिद्+आनन्दरूपब्रह्मण:) सद्-रूपेण निर्गतं 'सत्त्वम्' इति उच्यते. केवलचिद्-रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वाद् आनन्दाभावात् च 'रज' इति उच्यते. आनन्दांशात् च तम:. ते भगवद्रूपाएव भगवता सृष्टा:. नच भगवति ते पूर्वं स्थिता: (काशकृत्स्नमतीयोत्पत्तिपक्षानुरोधात्). तथा सति भगवदात्मका: ते न भवेयु:. यथा कार्पासे नहि सूत्रं तदेव हि पश्चात् स्वावयवै: पौर्वापर्यम् आपद्यमानं सूत्रताम् आपद्यते. अतएव भगवान् निर्गुण:.

(सुबो. २।५।१८).

इस प्रक्रियाको अस्वीकार करनेपर निर्गुणात्माके तीन गुण कहनेके बजाय मायाके ही तीन गुण कहने चाहिये थे. जबकि मायाका तो गुणग्रहण क्रियामें करणतया उपयोग निरूपित हुवा है. कर्ता तो अभीष्ट क्रियाको सम्पन्न करनेमें स्वतन्त्र होता है, करण नहीं. ऐसी स्थितिमें मायोपाधिक गुणोंको माननेपर कर्ताका स्वातन्त्र्य खण्डित हो जायेगा. और मायाको स्वतन्त्र माननेपर निर्गुणात्माकी अद्वितीय एकताका प्रत्याख्यान हो जायेगा. अतः सर्वभवनसमर्थ निर्गुणात्माका असाधारण सामर्थ्य माननेका आग्रह महाप्रभु कर रहे हैं. यों अखण्डैकरस सच्चिदानन्द निर्गुणात्माका स्वयंके सदंश चिदंश और आनन्दांश रूपी खण्डोंमें विभक्त होना सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण का आविर्भावक बनता है. और यही इनका मौलिक प्राथमिक स्वरूप है. इसे पद्मपुराणके अधोनिर्दिष्ट वचनोंके आधारपर भलीभांति जाना जा सकता है :

यद् अद्य मे त्वया दृष्टम् इदं रूपम् अलौकिकम्।
घनीभूतामलाप्रेम सच्चिदानन्दविग्रहम्॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्ति उपनिषत्संधा इदमेव मम अनघ!॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावाद् अनन्तत्वाद् तथा ईश्वरम्।
असिद्धत्वात् मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वाद् मम एतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्ति एते वेदा सर्वे महेश्वर!॥
व्यापकत्वात् चिदंशेन ब्रह्म इति विदुः बुधाः।
अकर्तृत्वात् प्रपंचस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
मया गुणैः यतो मे अंशाः कुर्वन्ति सर्जनाधिकम्।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकम् अहं शिव!

(पद्मपु.५१।६६-७१).

(२)निर्गुणात्मा स्वभावतः चेतनस्वरूप होनेपर भी लीलया जडरूप धारण करने सक्षम न हो तो बृहदारण्यकोपनिषद्के "**यथा ऊर्णनाभिः**

तन्तुना उच्चरेद् यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति. तस्य उपनिषत् प्राणाः वै सत्यं तेषाम् एषः सत्यम्'' (बृह.उप.२।१।१९) वचनमें 'एवमेव' ऐसा सावधारण प्रयोग अर्थहीन सिद्ध होगा. यहां प्रकृतिशक्तिका करणतया अनुपयोग या अनुल्लेख भी समर्थ और सामर्थ्य के बीच स्वाभाविक तादात्म्यका उपोद्बलक ही है. यह स्पष्ट हो जानेपर उपर्युद्धृत **''अहम् आत्मा, उद्धव!, अमीषां भूतानां सुहृद् ईश्वरो अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः. अहं गतिः गतिमतां कालः कलयताम् अहम्, गुणानां चापि अहं साम्यं गुणिनि औत्पत्तिको गुणः''** वचनमें भगवान् द्वारा कण्ठोक्त सर्वात्मरूपता सर्वरूपता सर्वोत्पत्तिस्थितिलयरूपता सर्वगतिरूपता सर्ववस्तुत्रैकालिकरूपता तथा सर्वोपादानभूतप्रकृतिरूपा त्रिगुणसाम्यावस्था का भगवद्रूप होना बाधितार्थसामानाधिकरण्य रूप गौण माननेका कोई कारण बच नहीं जाता है. अतएव महाप्रभु स्पष्टीकरण देते हैं :

> **''ते गुणाः पुनः स्थितिसर्गनिरोधेषु उत्पत्तिस्थितिलयार्थं गृहीताः. तेषामपि ग्रहणं मायया. एषा हि माया जगत्कर्त्री नतु व्यामोहिका. विभोरिति समर्थस्य जगत्कर्तुः. साहि तच्छक्तिः सर्वरूपभगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा. सा जगत्करणे करणरूपा''.**
>
> (सुबो.२।५।१९).

अतएव उपर्युद्धृत **''नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो, नृप!, अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः''** वचनमें 'निर्गुण' और 'गुणात्मा' पदोंका अर्थ महाप्रभु *''निर्गताः गुणाः यस्मात्—सर्वगुणानां सएव आत्मा''* करते हैं. अतएव भागवतके ऊतिस्कन्धके **''त्वं वायुरग्निर्वियदाम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वद् अस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्. नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वाम्**

एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्...एतद् वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः" (भाग.पुरा.७।१०।४८-५१) वचनमें यही विवक्षित है. प्रकृतिके घटक समप्रमाण सत्त्वरजस्तमोगुण मूलतः निर्गुण ब्रह्मात्मक ही होनेपर भी पुरुषचैतन्यके उनमें आविष्ट हानेपर अर्थात् अनुग्राहक बननेपर आवेशनकालिक क्षोभवशात् वैषम्य प्रकट होता है तथा विकृतिरूप दृश्यकोटि दर्शनकरणकोटि और द्रष्ट्रकोटि का संघात प्रकट होता है अतः ब्रह्म जो इनकी समष्टि है उसे सगुण और निर्गुण उभयरूप समझना चाहिये.

इसके निष्कर्षतया महाप्रभु यह उपपत्ति और देते हैं कि साधननिरपेक्ष हो कर मुक्तिप्रदान करना भूतलपर प्रकट होनेका अन्यतम प्रयोजन न होता तो साधनसापेक्ष मुक्तिदान तो भगवान् प्रकट हुवे बिना करते ही हैं.

(३)त्रिगुणोंके वैषम्यवशात् सारी वैकारिकी सृष्टि मिथ्या है या क्षरब्रह्मात्मिका है यह अन्तमें मीमांस्य रह जाता है. एतदर्थ **"येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातं भवति... यथा, सौम्य!, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृणमयं विज्ञातं भवति. वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्"** (छान्दो.उप.६।१।३-४) वचनमें उपादेय कार्यका उपादानकारणसे पृथक् 'विकार'के रूपमें संज्ञानको असत्य मानना और वास्तविकतया तो उपादाननाम्ना ही संज्ञानको, उदा. 'मृत्तिका'को सत्य मानना, कार्यकी कारणात्मना अनन्यताका प्रतिपादन है ; न कि सदसद्विलक्षण मिथ्यात्वका.

यद्यपि पूर्वोद्धृत **"भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः"** वचनके आधारपर त्रिगुणात्मकप्रकृति या अविद्यारूपा मायाको अनादि-सान्त माना जा सकता है. इसमें, परन्तु, कठिनाई यही है कि ब्रह्मके प्रमेयरूप प्रमाणरूप साधनरूप या फलरूप किसी भी तरहके विमर्श करनेपर *"ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वं"* व्याप्ति उपपन्न नहीं हो पाती.

बाह्यार्थैकास्तित्ववादी चिन्तनमें चेतनाके बाह्यार्थप्रसूत होनेके कारण चेतनाके विकसित रूप प्रमाका भी प्रमेयप्रसूत स्वरूपयाथार्थ्य और प्रामाण्य होना आन्तरिक संगतिकी मांग है. इसी तरह बाह्यार्थके अस्तित्वको इन्कारनेवाले चिन्तनमें बाह्यार्थकी तरह भासित होते प्रमेयका याथाभासितरूप और प्रमाका अनधिगताबाधितार्थरूप प्रामाण्य भी आन्तरिक संगतिके आधारपर उन्नेय कथा है.

इन ऐकान्तिक दृष्टिओंसे, किन्तु, पर्याप्तरूपेण भिन्न औपनिषदिक चिन्तनकी अवधारणामें कृत्स्नप्रज्ञानघन ब्रह्मके भीतर बाह्यार्थके प्रकट होनेकी कथा है : "**तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः... वायुः अग्निः आपः पृथिवी ओषधयः अन्नं पुरुषः**" (तैत्ति.उप.२।१) वचनोक्त क्रमिकताके अनुसार स्वयंके भीतर अवकाशसृजनपूर्वक उसमें बाह्यार्थका सृजन प्रतिपादित हुवा है. इस ब्रह्मोपादानक आकाशमें बाह्यार्थतया या तो तत्तद् वैकारिक परिणाम क्रमशः या सहसा व्युच्चरित होते हैं. यों उभयविध प्रक्रिया प्रतिपादित हुयी हैं.

अतः मूलतत्त्वकी अवाङ्मनोगोचरतया अप्रमेयावस्था या अखण्डैक्य में स्वप्रकाशताके ही आत्मविस्ताररूपेण [क]प्रमा [ख]प्रमेय [ग]प्रमाता [घ]प्रमाण रूपी चार खण्ड प्रकट होते माने गये हैं :

> [क] "**न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयो अमी, न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः. यथा हिरण्यं बहुधा समीयते नृभिः क्रियाभिः व्यवहारवर्त्मसु एवं वचोभिः भगवान् अधोक्षजो व्याख्यायते लौकिकवैदिकैः जनैः. यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो अर्कांशभूतस्य च चक्षुषः तमः, एवन्तु अहं ब्रह्मगुणः तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्य आत्मनः आत्मबन्धनः**".
>
> (भाग.पुरा.१२।४।२०-३२).

अतः ब्रह्मात्मक याथार्थ्यपर अज्ञानावरण या भ्रमात्मकविक्षेप भी सर्वथा अब्रह्ममूलक न होनेके कारण ब्रह्मज्ञानसे निवर्त्य मिथ्या हो नहीं सकता. मूलप्रमेयस्वरूप अपने अंशोंद्वारा अवगम्य बन पाये एतदर्थ ही नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि प्रकट हुयी है, ऐसा श्रुति और महाप्रभु दोनों स्वीकारते हैं :

''ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् देवान् असृजत्. तद् देवान् सृष्ट्वा एषु लोकेषु व्यारोहत्. अस्मिन्नेव लोके अग्निम्. अन्तरिक्षे वायुं दिव्येव सूर्यं... अथ ब्रह्मैव परार्धम् अगच्छत्. तत् परार्धं गत्वा ऐक्षत् कथन्नु इमान् प्रत्यवेयायमिति द्वाभ्यामेव प्रत्यवेद् रूपेण नाम्ना च... तएते ब्रह्मणो महती अब्भ्वे''.

''उभयात्मको हरिः वेदे निरूप्यते. ततश्च वेदानुसारेण तदभिव्यक्तौ सत्यां सर्वएव पुरुषार्थः सिद्ध्यति यतो भगवान् पुरुषार्थस्वरूपः... विचित्रो रूपप्रपञ्चः जीवाश्च अंशाः. अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः तस्मिन् निवारणार्थं श्रुतिं चकार... सात्त्विकानामेव अयम् अर्थः प्रकाशते न सर्वेषाम् इति अर्थः. ननु सर्वे भगवदंशाः तत्र कथं केचन सात्त्विकाः अन्ये न इति व्यवस्था ? 'प्रजायेय' इति भगवदिच्छया विनिर्गताः चिदंशाः जीवाः तुल्याः मा भवन्तु इति भगवन्मायागुणैः त्रिविधैः व्याप्ताः विविधरसभोगाय. अन्यथा तामसवस्तूनां भोगो न स्यात्. अतएव श्रुतौ 'त्रया ह वै प्राजापत्याः' इति देवा मनुष्याः असुराः गणिताः''.

(शतप.ब्रा.२।३।१-५, त.दी.नि.प्र.२।१७-१९).

इसमें अर्धजरती माननेका कोई योग्य हेतु सामने नहीं आता कि जगत्में अनुभूयमान अस्ति भाति प्रिय नाम और रूप के पंचकमे प्रथम तीनको ब्रह्मरूप और नामरूपद्वयीको मायिक या आविद्यक मानना.

अतएव ब्रह्मज्ञानिओंकी ब्रह्मानुभूतिमें पारमार्थिक ब्रह्मकी सत्ता चेतना और प्रियता की अनुभूति अखण्ड स्वयंप्रकाशताके वश होती है और अज्ञानियोंको ब्रह्मेतर नाम-रूपखण्डोंकी अनुभूति सदसद्विलक्षण मिथ्या अविद्याके वश होती है यह उपपन्न नहीं होता. **"प्रजापतिः प्रजाः असृजत, ताः सृष्टाः समाश्लिष्यन् ताः रूपेण अनुप्राविशत् तस्माद् आहुः 'रूपं वै प्रजापतिः' इति. ताः नाम्ना अनुप्राविशत्. तस्माद् आहुः 'नाम वै प्रजापतिः'"** (तैत्ति.ब्राह्म.२।२।८।१). अतः कृत्स्नप्रज्ञानघन निर्गुणात्माने स्वयंको नाम-रूप-कर्मोके त्रिविध खण्डोंमें विभक्त किया. श्रुति तो ऐसा ही कहती है कि **"सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते","त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा एकः सन् एतत्त्रयम्"**. (तैत्ति.आर.३।१२।७, बृह.उप.१।६।१-३) इनमें सदंश जो एक-दूसरेसे समाश्लिष्ट थे, उन्हें अनन्त रूपात्मना विभक्त किया गया. इसी तरह इतरेतर-समाश्लिष्ट चिदंशोंको अनन्त नामात्मना विभक्त किया गया :

> **"सत्त्वेव सौम्य! इदम् अग्रे आसीत् तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति तत् तेजो असृजत्... तद् अपो असृजत्... तद् अन्नम् असृजत्... तेषां खलु एषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति अण्डजम् जीवजम् उद्भिज्जम् इति. सेयं देवता ऐक्षत 'हन्त अहं तिस्रो देवताः अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति"**.
>
> (छान्दो.उप.६।२-३).

एतावता उनके मूलमें आधारिक जो कृत्स्नप्रज्ञानघनता है वह रूप एवं नाम में केवल अन्तर्निहित या ओझल हुयी है, निवृत्त या निरस्त नहीं. यहां एक आशंका उठ सकती है कि तब **"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद्**

विमुक्तः परात्परं पुरुषम् उपेति दिव्यं, स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' (मुण्ड.उप.४।२।८-९) इस वचनमें नामरूपसे विमुक्तिके बाद ही परब्रह्मकी प्राप्ति प्रतिपादित हुयी है. अतः यदि नामरूप ब्रह्मात्मक ही हों तो विमुक्तिका कोई प्रसंग उपस्थित नहीं होना चाहिये था.

यहां परन्तु यह विवेचनीय हो जाता है कि नामरूपसे विमुक्ति क्या रज्जुपर आरोपित सर्पकी तरह ब्रह्मपर मिथ्यारोपित नामरूपभ्रान्ति अधिष्ठानज्ञानके कारण ''न वहां थी न है और न रहेगी'' ऐसी त्रैकालिक निषेधप्रतियोगिता है? अथवा वस्तुतः प्रकट हुयी थी सूर्यपर उसे ढंक देनेवाले मेघकी अपगत हो जाने जैसी? अथवा तो सागरकी अगाध जलराशिमें से मेघ वर्षा नदी की तरह अनेक नामरूपात्मना विभक्त 'बाष्प' 'बिन्दु' और 'प्रवाह' तया प्रकट हुयी अनेकविधताका एकीभावापन्न हो जाना है? समाधान स्वयं श्रुतिने दे ही रखा है ''**गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति**'' (मुण्ड.उप.३।२।७) यहां 'एकीभवन्ति'पद ''अभूततद्भावे च्वी'' है अर्थात् जो पहले एक नहीं थे वे बादमें एक बन जाते हैं. अतएव केवल आत्मसायुज्य प्रतिपादित करनेके बजाय सर्वसायुज्यका प्रतिपादन कण्ठतः श्रुति कर रही है. अतएव नाम-रूप-कर्मोंकी ब्रह्मात्मना एकविधता और ब्रह्मकी नाम-रूप-कर्मात्मना त्रिविधता का कारणावस्था और कार्यावस्था के व्यवस्थाभेदसे निरूपण ही उचित है. यों त्रिविधता और एकविधता दोंनों ही पारमार्थिक ही ठहरती हैं. रूपानुभूतिमें चिदंशको नामापेक्षा निर्विकल्पानुभूतिसे आगे बढ़ कर सविकल्पकबोधार्थ रहती है. इसी तरह सदंशभूत वस्तुनिष्ठरूपको भी स्वविषयक अभिज्ञा व्यवहार प्रत्यभिज्ञा अनुमिति अभिधान राग द्वेष उपेक्षा स्मृति या भ्रान्ति आदिके हेतु नामापेक्षा रहती है. जैसे विद्यालयमें बच्चोंको अपूर्ण वाक्य लिख कर रिक्तपूर्ति करवायी जाती है तद्वत् प्रत्येक रूपवस्तुमें एक तरहकी वस्तुगत रिक्तता रहती है,

विषयात्मना विकसित होनेके वास्ते, जो नामद्वारा पूर्ण होती है.

यों त्रिगुणसाम्यावस्थापन्न प्रकृति या प्रधान को इस बंटवारेमें रूपलाभ हुवा और दैव-आसुर-चर्षणी भावात्मना विभक्त मौलिक निर्गुण चेतन पुरुषको नामलाभ हुवा. प्रमेयकी ऐसी विविधभावापत्तिके वश नामावलम्बित विविध प्रमाणव्यवस्था प्रकट हुयी. सृष्टिकी परिच्छिन्नतामें इसकी क्रियान्विति परन्तु प्रमेयमूलक प्रमाणपरिच्छित्ति नहीं प्रत्युत प्रमाणमूलक प्रमेयपरिच्छित्तिमें प्रतिफलित होती है. उदाहरणतया वृक्षोंकी प्रकाशकी दिशामें प्रत्यभिमुखी वृद्धि प्रमाणमूलक प्रमेयपरिच्छेदात्मिका प्रवृत्ति न हो कर प्रमेयमूलक प्रमापरिच्छेदकी होती है. हम नेत्रवान् प्राणियोंकी, परन्तु, चाक्षुषप्रमामूलक रूपवत्प्रमेयाभिमुखी प्रवृत्ति होती है.

मौलिक ब्रह्म तत्त्वके अनेकानेकविध स्वरूप शक्ति गुणधर्म और कार्य के बारेमें नामात्मक श्रुतिवचनोंद्वारा प्रकट होता परोक्षज्ञान, अथवा श्रुत्यादि शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित ब्रह्मकी क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति या पुष्टिशक्ति द्वारा सम्भाव्य कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप उपायोंद्वारा होता कार्यरूप ज्ञेयरूप अथवा भजनीय रूपोंका भान; अथवा भगवान्‌की अविद्याशक्ति द्वारा सम्भाव्य अज्ञेय-अस्वीकार्य उपेक्ष्य अथवा हेय या द्वेष्य होनेकी भगवान्‌के बारेमें मानसिकता ये सभी कुछ ब्रह्मकी स्वयंप्रकाशरूपताके लीलात्मक विस्तार ही हैं.

[ख] अतएव प्रमाणदृष्ट्या विमर्श करनेपर ब्रह्मकी स्वाभाविकी अप्रमेयताका भी और लीलात्मिका सर्वविधज्ञानमें एकमात्र ज्ञेयताका भी प्रतिपादन हमें इन श्रुत्यादिशास्त्रवचनोंमें उपलब्ध होता है :

“न यत्र चक्षुः गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्याद् अन्यदेव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि... यस्य अमतं तस्य

मतं मतं यस्य न वेद स अविज्ञातो विजानतां विज्ञातम् अविजानताम् (केनोप.१।३-२।३).

"**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं न इमा विद्युतो भान्ति कुतो अयम् अग्निः तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्या भासा सर्वम् इदं विभाति**" (कठोप.२।२।१५).

"**यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यद् इदम् उपासते. यद् मनसा न मनुते येन आहुः मनो मतं न इदं यद् इदम् उपासते**" (केनोप.१।१-५).

"**सर्वस्य च अहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो...**" (भग.गीता.१५।-१५).

"**स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः आत्मा**" (भाग.पुरा.२।१।३९).

यह स्वभावतः देशकालस्वरूपतः अपरिच्छिन्न प्रमेयकी लीलेच्छया देशकालस्वरूपतः परिच्छेदके अंगीकारके कारण प्रकट होनेवाली प्रमेय-प्रमाणसे जुड़ी व्यवस्था है. अतएव देशकालस्वरूपतः परिच्छिन्न रूप-नाम-कर्मप्रकारक ब्रह्मविशेष्यक ज्ञान असुलभ होनेपर भी श्रुत्यादि शास्त्रोंके प्रामाण्यवश इन परिच्छिन्न रूप-नाम-कर्मविशेष्यक ब्रह्मत्वप्रकारक परोक्ष ज्ञान सुलभ हो जाता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं "**ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद् वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः**" (पत्रावलंब.). क्योंकि जो तैत्तिरीयोपनिषद् एक ओर ब्रह्मको "**एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सो अभयं-गतो भवति, यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति... यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**" (तैत्ति.उप.२।७-९) इस तरह निरूपित करता है, वही पहले "**सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्. निरुक्तं च**

अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च, यद् इदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते" (तैत्ति.उप.२।६) ऐसा भी कह चुका है. एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकट-अप्रकट निरुक्त-अनिरुक्त, सशरीर-अशरीर, विज्ञान-अविज्ञान, सत्य-अनृत आदि भिन्न-भिन्न रूप उसने ही अपनी इच्छासे लिये हैं और ये स्वयंमें भिन्न-भिन्न भी होते हैं. फिरभी इनके कारण उस परम तत्त्वमें भेद नहीं पड़ता है और कोई पाड़ता हो तो वह महाभयका कारण बन जायेगा. अतः जिस प्रकट रूपकी हम अपने विज्ञानके बलपर निरुक्ति कर पाते हों या जिस अप्रकट रूपकी अपने अविज्ञानके वश निरुक्ति कर पाने सक्षम नहीं हो पाते, वे दोंनो ब्रह्मात्मक हैं. एतावता जिसे हम किसी आकारशरीरमें सत्य मानते हों, अन्यथा किसी भी आकारमें अविद्यमान=अनिलयन अनृत मानते हों ऐसे सारे परस्पर विरुद्ध भेदोंका भी वह एक अविरुद्ध आश्रय होता है. अर्थात् उसमें अन्तर नहीं पड़ता. अतः अकारण उस निर्गुण परमात्मतत्त्वकी अखण्ड एकतामें अन्तर डालनेवाली उससे परमार्थतः भिन्न या अपरमार्थतः भिन्न या प्रतिभासमात्रतः भिन्न भी अविद्याके वश सगुणता माननेका कोई प्रमाण उपपन्न नहीं होता है. स्वयं उसके द्वारा लिये गये अविज्ञानके स्वरूप वह गुणोंका निलयन न लगता हो और प्राकृत सत्त्व-रजस्-तमो गुण प्राकृत वैकारिक क्षर जगत्के ही गुणधर्म प्रतीत होते हों या अनिलयन=स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेधके प्रतियोगी लगते हों तो भी इन प्राकृत सगुण पदार्थोंमें *"तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं"* न्यायेन उस ब्रह्मको त्रैकालिक निषेधप्रतियोगी मानना पड़ेगा. और यों वह ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि प्राकृत सगुण पदार्थोंमें मायिक रूप-नाम-कर्मकी तरह ब्राह्मिक अस्ति भाति प्रियत्व धर्मोंका भास भी होता ही है. उसका वहां अत्यन्ताभाव माननेपर सच्चिदानन्द ब्रह्मके भी मिथ्यात्वके गर्तमें पातकी आपत्ति गलेपतित रहेगी ही. इसके अलावा प्रकृति स्वयं अप्राकृत सत्त्वरजस्तमोघटित गुणोंकी साम्यावस्था होनेके कारण अनाविद्यक भगवत्प्रकृतिरूपा है, यह तो हम देख ही

चुके हैं.

ग अतएव मूलतत्त्वकी प्राप्यता साधनलभ्य न मान कर वरणलभ्य मानी गयी है. परन्तु सृष्टिलीलामें प्रकट, भगवान्के दिव्य अवतारोंके रूपोंके अपवादको छोड़ कर, रूपोंकी प्राप्यतामें साधनानुष्ठानकी महत्ता अपरिहार्य दृष्टिगत होती है. साधनदृष्ट्या उसके सगुण या निर्गुण होनेकी मीमांसा करनेपर यह एक निरतिशय महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिसे ओझल नहीं होने देना चाहिये. क्योंकि ईशावास्योपनिषद्में समझाया गया है :

> **"अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां रताः. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते. अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ सम्भूत्यां रताः. अन्यदेव आहुः सम्भवाद् अन्यद् आहुः असम्भवात्... सम्भूतिं च विनाशं च यः तद् वेद उभयं सह विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते".**
>
> (ईशा.उप.९-१४).

अविद्योपासना-विद्योपासनामूलक या असम्भूत्युपासना-सम्भूत्युपासना-मूलक साधनोंके फलरूपतया अन्धन्तम और अमृत, मृत्यु और अमृत को गिना कर ब्रह्मको उभयोपेत प्रतिपादित करनेके अभिप्रेतार्थके बोधार्थ बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है—

> **"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैव अमूर्तञ्च मर्त्यञ्च अमृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च... अथात आदेशो 'न'इति 'न'इति, नहि एतस्माद् इति 'न'इति अन्यत् परम् अस्ति".**
>
> (बृह.उप.२।३।१-६).

यों इन दोनों श्रुतिवचनोंकी एकवाक्यता खोज पायें तो सहज

ही समझा जा सकता है कि ब्रह्मके उभयविध रूपोंमें से किसी एकतर रूपको सम्पूर्ण ब्रह्म मान लेना बड़ी वैचारिक धांधली है, जिसका श्रुति 'न'इतिद्वारा प्रतिषेध करना चाहती है. ब्रह्मसूत्रकार अतएव "**प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः**" (ब्र.सू.३।२।२२) विधानद्वारा स्पष्टीकरण भी प्रदान करते हैं. अतएव चाहे कर्मयोग हो या ज्ञानयोग हो अथवा तो भक्तियोग हो, किसी भी परप्रापक साधनाका या वर्णाश्रमधर्मका भी अनुष्ठान त्रिगुणात्मक प्राकृत देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिके साथ अप्राकृत निर्गुणात्माके आविद्यक अहन्ता-ममताके अध्यासके बिना शक्य ही नहीं रह जाता है. कोई भी सदसत् पुण्यपापात्मक कर्म भी जीवचेतनाके चित्ताहंकारबुद्धिमन पंचप्राण पंचज्ञानेन्द्रिय पंचकर्मेन्द्रिय और पांचभौतिक शरीर के साथ आविद्यक तादात्म्याध्यासके बिना शक्य नहीं. अतएव कर्मबन्धनमूलक जन्ममरण भी सम्भव नहीं है. इनके बिना अमृतोपभोग भी सम्भव नहीं बन पाता, वह जीवन्मुक्तिरूप हो दिव्यलोकानन्दरूप हो या ब्रह्मानन्दरूप हो अथवा भजनानन्दरूप हो! और तो और, निःशेषद्वैतभ्रान्तिकी निवारिका *"अहं ब्रह्मास्मि"* वृत्तिकी तरह ही शांकरवेदान्तमें आवरण-विक्षेपरूप उभयविध अज्ञानके प्रभेदके आधारपर आत्यन्तिक अद्वैतके आवरणमूलक द्वैतविक्षेपकी अनुवृत्ति, ब्रह्मज्ञानसे आवरणनिवृत्तिके बाद भी, जीवन्मुक्तिमें स्वीकारी गयी है. इसे ज्ञाननिवर्त्य मिथ्याकोटिमें रखनेके बजाय *"ज्ञान अज्ञानका ही निवर्तक होता है वस्तुका नहीं"* उपनियमके अंगीकारवश किसी वस्तुभूत होनेकी ही छद्मांगीकृतिके रूपमें देखा जाना चाहिये. जैसे अविद्याको अहैतुकी अनादि-सान्तका दरज्जा देना, अविद्याके अनाविद्यक वस्तु होनेकी छद्मांगीकृति है. केवलाद्वैतवादकी इस वैचारिक विवशताका सावधानीके साथ विमर्श करनेपर इन ईशावास्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद्के दोनों वचनोंमें श्रुतिने कितना महान् सत्य हमें समझा दिया है!

अर्थात् प्रमाणदृष्ट्या विद्या और अविद्या के इतरेतरके घनिष्ठ सहयोगद्वारा ही प्रमा प्रकट होती है जैसे, वैसे ही प्रमेयदृष्ट्या परमतत्त्व

भी प्रातिस्विक स्वभाववश परस्पर विरुद्धधर्मोंका एक अविरुद्ध आश्रय होता है. श्रीमद्भागवतपुराण इन अधोनिर्दिष्ट दो वचनोंसे अतिरिक्त भी कुछ समझाना चाहता है.

"न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन यमेयैष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्".

"अणोः अणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितो अस्य जन्तोः, तम् अक्रतुं पश्यति वीतशोकः धातुः प्रसादाद् महीमानम् ईशः".

(कठोप.१।२।२३, महानारा.उप.८।३)

ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर भगवान्‌की अगण्य शक्तियोंमें प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल वर्गमें गणनार्थ इन चतुर्विध शक्तियोंको त्रिगुणित कर बारह तरहकी शक्तियोंका उल्लेख उपलब्ध होता है : **"श्रिया *पुष्ट्या* गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्या इलया ऊर्जया विद्यया अविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्"** (भाग.पुरा.१०।३६।५५) भगवान्‌की असंख्य शक्तियोंमें से इन प्रमुख बारह शक्तियोंके अन्तर्गत प्रमाणान्तर्गत गिरा कीर्ति और कान्ति, प्रमेयान्तर्गत इच्छा माया और इला, फलान्तर्गत श्री ऊर्जा और तुष्टि की तरह स्वप्रापक साधनान्तर्गत अविद्या विद्या और पुष्टि शक्तियोंको सोचा जा सकता है.

[घ] ब्रह्मकी फलदृष्ट्या मीमांसा करनेसे पहले पुनः एक बार पूर्वोद्धृत वचनका अनुसन्धान कर लेना उपयुक्त होगा :

"पुरुषः चेता प्रधानान्तःस्थः. सएव भोक्ता प्राकृतम् अन्नं भुक्तइति. तस्य अयं भूतात्मा हि अन्नम् अस्य कर्ता प्रधानः, तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं, भोक्ता पुरुषो अन्तःस्थः...

यस्माद् बीजसम्भवा हि पशवः, तस्माद् बीजं भोज्यम्. अनेनैव प्रधानस्य भोज्यत्वं व्याख्यातम्. प्राकृतम् अन्नं त्रिगुणभेदपरिणामित्वाद् महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्... सुखदुःखमोहसंज्ञं हि अन्नभूतम् इदं जगत्, नहि बीजस्य स्वादुपरिग्रहो अस्तीति यावद् न प्रसूतिः... एवं प्रधानस्य व्यक्ततां-गतस्य उपलब्धिः भवति, तत्र बुद्ध्यादीनि स्वादुनि भवन्ति. अध्यवसायसंकल्पाभिमानाः इत्यथ इन्द्रियार्थान् पञ्च स्वादुनि भवन्ति. एवं सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि एवं; व्यक्तम् अन्नम् अव्यक्तम् अन्नम्, अस्य निर्गुणो भोक्ता, भोक्तृत्वात् चैतन्यं प्रसिद्धं तस्य."

(मैत्राय.उप.६।१०).

इसे भाष्यरूप वचन मान कर चलें तो सूत्ररूप वचन है :

"एको अवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति, वि च एति च अन्ते विश्वम् आदौ स देवः बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु. तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपः स प्रजापतिः... अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजोहि एको जुषमाणो अनुशेते जहाति एनां भुक्तभोगाम् अजो अन्यः... द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोः एकः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति"

(श्वेता.उप.४।१-६).

यहां स्पष्टतया देख सकते हैं कि एक अवर्ण स्वयं अनेक लोहित शुक्ल कृष्ण वर्णोंको धारण कर त्रिगुणात्मिका अजा भी बन रहा है और उस अजाका उपभोक्ता अज भी बन रहा और वही

भोगके बाद विमुक्त अजावस्थासे एकीभावापन्न भी हो रहा है. और इन त्रिविध ब्रह्मोंको ही "**संयुक्तम् एतत् क्षरम् अक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वम् ईशो अनीशश्च आत्मा बध्यते भोक्तृभावाद् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः... क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानौ ईशते देवः एकः. तस्य अभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः... भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्**" (श्वेता.१।८-१२) अतः निर्गुणता और सगुणता दोनों ही एक ही सिक्केके दो पहलुकी तरह कारणावस्था और कार्यावस्था केवल हैं. साथ ही साथ ऐसे भी नहीं मान लेना चाहिये कि कार्यावस्थापत्तिमें मूल कारणावस्था निःशेष हो जाती है, क्योंकि श्रुतिने खुलासा दे ही रखा है कि "**एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः**"(ऋक्संहि.१०।९०।३). अतएव चाहे गुणत्रयी और निर्गुण दोनों ही क्षराक्षरकी दृष्टिसे देखा जाये या नाम-रूप-कर्मत्रयी और उनसे परार्धंगत की दृष्टिसे निहारा जाये, औपनिषदिक सिद्धान्त "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**" (छान्दो.उप.६।८।७) श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मतादात्म्य सर्वत्र सर्वदा सर्वथा अक्षुण्ण ही रहता है.

निष्कर्षतया भगवद्गीताके १४ वे अध्यायमें भगवान्‌के सृष्ट्यर्थ परिगृहीत सात्त्विक राजस और तामस गुणोंके अतिक्रमण करनेकी एक विद्याविद्यामूलक क्रमिक प्रक्रिया है, जिसमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुणोंके अवलम्बनद्वारा गुण एवं गुणकृत बन्धनसे विमुक्ति दरसायी गयी है और दूसरी प्रक्रिया भक्ति (या आगे चल कर प्रपत्तिद्वारा भी) उपदिष्ट हुयी है : "**१.प्रकाशं**[सात्त्विक] **च प्रवृत्तिं**[राजस] **च मोहमेव**[तामस] **च पाण्डव! न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि निवृत्तानि न कांक्षति. उदासीनवद् आसीनो गुणैः यो न विचाल्यते गुणाः वर्तन्ते इत्येव यो अवतिष्ठति नेङ्गते... सर्वारम्भपरित्यागी 'गुणातीतः' स उच्यते. २.मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते**" (भग.गीता.१४।२२-२६). भगवद्गीताके गुणत्रयविभाग-योगका रहस्य तो यही है.

भगवद्गीताकी व्याख्यारूपा श्रीमद्भागवतमें इसकी विवेचना सविस्तर मिलती है जैसे कि—

१."इति एतत् कथितं गुर्वि ज्ञानं तद् ब्रह्मदर्शनम्, येन अनुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च. ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः, द्वयोरपि एकएव अर्थो 'भगवच्'छब्दलक्षणः. यथा इन्द्रियैः पृथग्द्वारैर् अर्थो बहुगुणाश्रयः, एको नाना ईयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः"

२."सत्त्वे प्रलीनाः स्वः यान्ति नरलोकं रजोलयाः तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः ... कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्, प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतं... सात्त्विकः कारको असङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः, तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः. सात्त्विकी आध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धातु राजसी, तामसी अधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा... सात्त्विकं सुखम् आत्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसं, तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्. द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः, श्रद्धा अवस्था आकृतिः निष्ठा त्रैगुण्यः सर्वएव हि... भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते... सत्त्वं च अभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः, सम्पद्यते गुणैः मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्. जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैः च आशयसम्भवैः, मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिः न आन्तरः चरेत्"

(भाग.पुरा.३।३२।३२-३४, ११।२५।२२-३६).

यहां परखा जा सकता है कि प्रथम उद्धरणमें ब्रह्मदर्शनप्रदायक ज्ञान प्राप्त हो जानेपर प्रकृति और पुरुष तत्त्वोंका अनुबोध (=मिथ्यात्वेन न तो बाध और न पार्थक्येन अस्तित्वका स्वतन्त्रबोध अपितु) ब्रह्मतादात्म्यप्रकारक बोध होने लगता है. भगवन्निष्ठ=भगवद्विषयक ज्ञानयोग

एवं निर्गुणा भक्ति, दोनोंका अर्थ=विषय या आलम्बन त्रिगुणातीत और त्रिगुणोपादानभूत एकमात्र 'भगवच्'छब्दद्वारा अभिधेय अर्थ होता है. जैसे नेत्रादि इन्द्रियां खुदके विभिन्न द्वारोंसे एक विषयको अनेक गुणोंवाला प्रकट करती हैं, ऐसे ही विभिन्न शास्त्रीय उपायोंद्वारा भगवान्‌के भी अनेक गुण प्रकट होते हैं. अतः सत्त्वगुणमें लीन होनेवाले स्वर्गलोकमें जाते हैं. रजोगुणमें लीन होनेवाले नरलोकमें. तमोगुणमें लीन होनेवाले नरकलोकमें जाते हैं. जो गुणत्रयीका अतिक्रमण कर पाता है वह भगवानको प्राप्त करता है... परन्तु सात्त्विक ज्ञान आत्मकैवल्यकी अनुभूति प्रदान करता है. राजस ज्ञानमें अनेकविध विकल्प, यथा ज्ञाता ज्ञान ज्ञानकरण और ज्ञेयार्थ सदृश अनुभूत होते हैं. तामस ज्ञान प्राकृत होता है. भगवद्‌विषयक ज्ञान, परन्तु, निर्गुण होता है... इसी तरह सात्त्विक कर्ताका कर्म अहंकार या फलकामना के संगसे रहित होता है. राजस कर्ता हर कर्म रागान्ध हो कर करता है. तामस कर्ता भूतकालीन अनुभूतियोंसे सीख नहीं ले पाता. भगवदाश्रयवाला कर्ता किन्तु गुणातीत बन जाता है. क्योंकि सात्त्विकी श्रद्धा आध्यात्मिकी होती है, कर्मश्रद्धा राजसी होती है, अधर्ममें श्रद्धा तामसी होती है परन्तु भगवत्सेवामें निष्ठा निर्गुणा होती है... अतएव आत्मानुभूतिसे मिलता सुख सात्त्विक होता है, विषयानुभूतिसे मिलता सुख राजस होता है, मोह या दैन्य के कारण मिलता सुख तामस होता है परन्तु भगवदाश्रित सुख निर्गुण होता है. यों गुणमूला और गुणातीत भगवल्लीला की विविधताके कारण द्रव्य देश फल काल ज्ञान कर्म कारक श्रद्धा अवस्था आकृति निष्ठा सभी कुछ त्रिगुणात्मक होते हैं परन्तु... भक्तियोगद्वारा भगवन्निष्ठ होनेपर भगवद्‌भावमें उनका अन्तर्भाव हो जाता है... इन सात्त्विकादि गुणोंसे मुक्त जीव जीवको छोड़ कर भगवान्‌को जब पा लेता है तो ब्रह्मभूय हो जानेके कारण न बाह्य और न आन्तर में विचरनेकी अपेक्षा रख पाता है.

मर्कटन्यायेन उपदिष्ट इन्हीं सूत्रात्मक सूक्तियोंके मार्जारन्यायेन लीलात्मक

भाष्यके रूपमें श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें भगवान्की जन्मप्रकरणसे प्रारम्भ होकर निज लीलापरिकरोंके स्वभावोंके अनुरूप चेष्टाद्वारा अर्थात् तामसादि लीलाओंद्वारा लीलापरिकरोंके स्वभावोंका स्वयंके अनुरूप निर्गुणभावमें जो भगवान्ने उन्नयन किया वही इस गुणप्रकरणमें प्रतिपादित भगवल्लीला भी है. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

"'निरोधो अस्य अनुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः शक्तिभिः दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्य' इति हि लक्षणम्. 'निरोधो' यौगिकः च अत्र रोधनात्मा सतां मतः, भक्ताः पूर्वत्र (नवमस्कन्धे) निर्दिष्टाः ते रोद्धव्याः विमुक्तये (एकादशस्कन्धीयलीलया). कृष्णे निरुद्धकरणाद् भक्ताः मुक्ताः भवन्ति हि, भक्तेः च शुद्धतासिद्ध्यै प्रपञ्चाद् (त्रिगुणात्मकाद्) विनिवारणम्. आसक्तिः आत्मनि (परमात्मनि) तथा निरोधार्थं न संशयः. प्रपञ्चविस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिः च वर्ण्यते (दशमस्कन्धे) 'शय्यासनाटनालापः (क्रीडास्नानाशनादिषु न विदुः सन्तम् आत्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः)' श्लोके फलितम् (निरोधली-लायाः) ईरितम्. रूपान्तरन्तु नटवत् स्वीकृत्य त्रिविधान् निजान् प्रपञ्चाभावकरणाद् उज्जहार इति निश्चयः. समुदायो (भगवतो भक्तेषु लीलारूपः) जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः, प्रपञ्चविस्मृति-सक्तिः भक्तानां चानियोगतः (प्रपञ्चाद् भक्तानां भगवति आसक्त्या निरोधरूपतः), प्रक्रियापञ्चकं हि अत्र जन्मार्थं प्रथमा मता, तामसानान्तु भक्तानाम् उद्धृत्यै तु ततः परा राजसानां, तृतीयातु सात्त्विकी मता. 'अन्तर्याम्यधिदैवादि'न्यायेन अत्रापि वै हरेः भगस्य (ऐश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यरूपस्य) व्यपदेशः स्याद्, अतः, तस्य निवृत्तये भगस्य सहजत्वाय पञ्चमी (एतद्गुणप्रकरणीया) मता"

(त.दी.नि.३।१०।१४-२३).

अर्थात् दशमस्कन्धमें प्रतिपाद्य लीलाका अभिधान 'निरोधलीला' है. उस निरोधलीलाका प्रयोजन यही है कि श्रीहरि अपनी दुर्विभाव्य शक्तियोंको साथ रख कर जिनको मार्जारन्यायेन भक्त बनाना है उनके बीच प्रकट हो कर ऐसी लीला करते हैं जिससे वे अपने प्राकृत स्वभावके बन्धनोंसे विमुक्त हो कर भगवान्में अनन्यासक्ततया निरुद्ध हो जाते हैं. नवमस्कन्धमें भगवान्की भक्ति करनेवालोंकी कथा कही गयी. सो ऐसे भक्त जिन्हें बनाना हों उनका निरोध (खुदमें उन्हें रोके रखना) आवश्यक हो जाता है. क्योंकि भगवान्में जो निरुद्ध हों वे ही अग्रिम ११वे स्कन्धमें अभिप्रेत भागवती मुक्ति पा सकते हैं. अतः जो भी भगवान् श्रीकृष्णमें निरुद्ध हो जाते हैं उन्हें जीवन्मुक्त ही समझना चाहिये. भगवद्भक्तिको, परन्तु, शुद्ध बनानेको त्रिगुणात्मक प्रपञ्चके विषयोंमें रही आसक्तिसे छुटकारा अपेक्षित है. अतः सभी देहधारी आत्माओंके भीतर बिराजमान परमात्मामें अनन्यासक्तिरूप निरोध जैसे भी सिद्ध हो पाये ऐसी भगवल्लीला इस दशमस्कन्धमें वर्णनार्थ अभिप्रेत है. यह "**शय्यासनाटनालापः क्रीडास्नानाशनादिषु न विदुः सन्तम् आत्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः**" (भाग.पुरा.१०।८७।४६) श्लोकमें निरोधलीलाका जो फलित निरूपित हुवा है उससे सिद्ध होता है. एतदर्थ जिसे जैसा भगवान्का स्वरूप भावाकर्षक लगे भगवान्ने वैसे-वैसे रूप धारण कर लीला उनके बीच सम्पन्न की. अतएव तामस राजस और सात्त्विक स्वभाववालोंके बीच वैसी लीला प्रकट कर भगवान्ने उनकी प्रापंचिक विषयोंमें आसक्तिका निवारण करते हुवे उन्हें स्वयंमें निरुद्ध कर लिया. भगवान्को जो लीला अपने जिन भक्तोंके साथ करनी अभीष्ट हो ऐसोंका समुदाय प्रथम जन्मप्रकरणमें निरूपित है. साथ ही साथ भक्तोंकी भी प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का भी स्वरूप = प्रपञ्चसे भक्तोंका भगवान्में आसक्तिवश सिद्ध होता निरोध भी यहां वर्ण्यविषय है ही. यहां अतएव पांच प्रक्रिया प्रतिपादित हुयी हैं. पहली भगवज्जन्मकी प्रक्रिया, दूसरी तामसस्वभाववालोंके भगवान्में निरोधकी प्रक्रिया, तीसरी राजसस्वभाववालोंके भगवान्में निरोधकी प्रक्रिया,

चौथी सात्त्विकस्वभाववालोंके भगवान्में निरोधकी प्रक्रिया. पांचवीं जिन भगवान्में इन सभी तरहके भक्तोंके निरोध हुवा उनके प्राकृत गुणोंके उपादान होनेपर भी उनसे अतीत होनेकी तथा ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूप छह गुणोंके द्योतक छह अध्यायोंमें वर्णनीय प्रक्रिया है. अन्तर्यामी अथवा प्रत्येक आधिभौतिक आध्यात्मिक तत्त्वोंके अन्तर्निहित आधिदैविक रूपोंकी तरह भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपमें भी ये छह गुण आंशिक ही हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये. अथवा तो मौलिक न हो कर केवल लीलार्थ ही प्रकट गुण हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये. ये गुण सहज एवं निरुपाधिक हैं.

(अध्यायार्थमीमांसा)

गुणप्रकरणार्थके विमर्शके बाद अब प्रस्तुत प्रकरणके छह अध्यायोंके विशेष अभिप्रेतार्थका विमर्श प्रासंगिक हो जाता है. तदनुसार दशमस्कन्धीय लीलाके कर्ता श्रीकृष्णकी भगवत्ताके ज्ञापक ८२, ८३, ८४, ८५, ८६ और ८७ (प्रक्षिप्त तीन अध्यायोंको भी जोड़ कर गणना करनी हो तो ८५-९०) तकके छह अध्याय ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य गुणोंके द्योतक हैं.

१.ऐश्वर्यद्योतक ८२ वा अध्याय :

इसमें पिता वसुदेवद्वारा पुत्रद्वयी बलराम-कृष्णकी परम भगवान् होनेके रूपमें स्तुति की गयी है. ऐसे तत्त्वरूपका ज्ञान भगवान्ने निज ऐश्वर्यबलसे अपने पिताको प्रदान किया जिससे उन्हें पुत्रभक्ति सिद्ध हो पाये. कंसद्वारा मारे गये छह पुत्रोंके पुनः आनयनसे माता देवकीको बाह्यानन्द प्रदानद्वारा अपनी भक्तिकी सिद्धि प्रदान की. इन लीलाओंमें भगवान्के ऐश्वर्य गुणकी महिमा गायी गयी है.

२.वीर्यद्योतक ८३ वा अध्याय :

इस अध्यायमें बुद्धिवीर्य और क्रियावीर्य के प्रभेदवश दो तरहके

भगवान्के वीर्य गुणका चरित निरूपित हुवा है. इसमें प्रथम बुद्धिवीर्यके निरूपणार्थ अर्जुनद्वारा सुभद्राके अपहरणादिमें किसी तरहका प्रतिबन्ध न आ पाया और न निन्दाका कोई प्रसंग उपस्थित हुवा ऐसी कथा वर्णित है. दूसरे क्रियावीर्य गुणके निरूपणार्थ श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनोंके आमन्त्रण एकसाथ स्वीकारके एक समय दोनोंके यहां भगवान्का पधारना वर्णित है.

३.यशोद्योतक ८४वा अध्याय :

श्रुतिगीता तो सुस्पष्टतया भगवान्के आधिदैविक यश गुणका श्रुतिद्वारा निरूपण है.

४.श्रीद्योतक ८५वा अध्याय :

इस अध्यायमें महादेवजीकी आपत्तिका निवारण श्री गुणका प्रतिपादन है.

५.ज्ञानद्योतक ८६वा अध्याय :

इस अध्यायमें सर्वश्रेष्ठ देवके निर्धारणार्थ भृगु ऋषिकी लात सहन करनेकी लीला ज्ञान गुणका निरूपण है.

६.वैराग्यद्योतक ८७वा अध्याय :

इस अध्यायमें यदुकुलमें अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णने धर्मार्थकाम पुरुषार्थोंके इतरेतराविरोधेन सेवनकी जो लीला की वह भगवान्के संयमरूप वैराग्य गुणका निरूपण है.

(उपसंहार)

अतएव वैदिक दृष्टिकोणकी एक सर्वधर्मविलक्षण घोषणारूप, ब्रह्मके पारमार्थिक रूपमें आत्यन्तिक निर्गुण अथवा अपारमार्थिक रूपमें सगुण

होनेके आत्यन्तिक विद्यावादी मतकी वेदानुकूलता या वेदविपरीतता का विमर्श करते समय, अथर्ववेदके अधोनिर्दिष्ट महान् उद्गारको आंखोंके सामनेसे ओझल नहीं होने देना चाहिये :

"गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषम् आविशन्।
स्वप्नो वै तन्द्रीः निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः॥
जरा खालत्यं पालित्यं शरीरम् अनुप्राविशन्।
स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रम् ओजश्च शरीरम् अनुप्राविशन्॥
भूतिश्च अभूतिश्च रातयो अरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वाः तृष्णाश्च शरीरम् अनुप्राविशन्॥
निन्दाश्च अनिन्दाश्च यच्च हन्ता इति नेति च।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च अनुप्राविशन्॥
विद्याश्च अविद्याश्च यच्च अन्यद् उपदेश्यम्।
शरीरं ब्रह्म प्राविशद् ऋचः सामा अथो यजुः॥
आनन्दा मोदा प्रमुदो अभी मोदमुदश्च ये।
....
रेतः कृत्वा आज्यं देवाः पुरुषम् आविशन्॥
शरीरं ब्रह्म प्राविशत् शरीरे अधि प्रजापतिः।
सूर्य चक्षुः वातः प्राणं पुरुषस्य विभिजिरे॥
अथ अस्य इतरम् आत्मानं देवाः प्रायच्छन् अग्नये।
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषम् 'इदं ब्रह्म' इति मन्यते॥
सर्वा हि अस्मिन् देवताः गावो गोष्ठइव आसते।"
(अथर्वसं.११।२५।४)



[१."यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य एष महिमा भुवि, दिव्ये ब्रह्मपुरे हि एष व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठितः... तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति. भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतः कुतो अयम् अग्निः, तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्या भासा सर्वम् इदं विभाति. ब्रह्मैव इदम् अमृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतः च उत्तरेण, अधश्च ऊर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैव इदं विश्वम् इदं वरिष्ठम्... तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यम् उपेति"(मुण्ड.उप.२।२।७-११, ३।१।३).

"ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकताम् आप्नोति, एतासामेव देवतानां सायुज्यं सार्ष्टिता समानलोकताम् आप्नोति, यः एतम् अग्निं चिनुते य उ च एनं वेद"(तैत्ति.आर.३।१२।५).

"तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति स इदं सर्वं भवति. तस्य ह न देवाश्च अनाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येव एषां स भवति. अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते 'अन्यो असौ अन्यो अहम् अस्मि' न स वेद यथा पशुः एवं स देवानाम्"(बृह.उप.१।४।१०).

२."अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः तस्य अहं सुलभः पार्थ! नित्ययुक्तस्य योगिनः... आब्रह्मभुवनाद् लोकात् पुनरावर्तिनो अर्जुन! माम्

उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'', ''सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वो अस्तु इष्टकामधुक्...इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः तैः दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेनएव सः. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः'', ''यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् नायं लोको अस्ति अयज्ञस्य कुतो अन्यः...'' ''सर्वतः पाणिपादं तं सर्वतो अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमद् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च... इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्च उक्तं समासतः मद्भक्तः एतद् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते... इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः सर्गेऽपि न उपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च... माञ्च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते...''(भग.गीता.८।१४-१६, ३।१०-१३, ४।३१, १३।१३-१४, १४।२६).

३.''अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणम् ऊतयो मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिः आश्रयः. दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानाम् इह लक्षणम्... अवतारानुचरितं हरेश्च अस्य अनुवर्तिनां सताम् ईशकथा प्रोक्ता, निरोधो अस्य अनुशयनम् आत्मनः सह शक्तिभिः, मुक्तिः हित्वा अन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः. आभासश्च निरोधश्च यतश्च अध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते''(भाग.पुरा.२।१०।१-७).

''अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः. विषयान्

अभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा अर्चादौ अर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः. कर्मनिर्हारम् उद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणं यजेद् यष्टव्यम् इति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः. 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये मनोगतिः अविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसो अम्बुधौ' लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य हि उदाहृतम् 'अहैतुकी अव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्य-एकत्वमपि उत दीयमानं न गृणन्ति विना मत्सेवनं जनाः', सएव 'भक्तियोगाख्यः आत्यन्तिकः' उदाहृतः, येन अतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावाय उपपद्यते'' (भाग.पुरा.३।२९।७-१४)].

भावानुवाद : १.''जो सब तरहके ज्ञानवाला और सब कुछ जाननेवाला है जिसकी महिमा इस भूतलपर है, वह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुररूप इस व्योममें प्रतिष्ठित रहता है... उस आनन्दरूप अमृतका विभान जो हो रहा है, उसे धीर पुरुष विज्ञानद्वारा भलीभांति देख पाते हैं. उस परावरके दर्शन हो जानेपर हृदयकी सारी ग्रन्थियां खुल जाती हैं, सारे संशय छितरा जाते हैं, सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं. वहां, परन्तु, न तो सूर्यका प्रकाश पहुंचता है न चन्द्रमाका या तारागणोंका भी, न बीजली चमकती हो तो यह भौम अग्नि तो कहांसे होगी? वस्तुतः तो उसके भासवश ये सभी भासित हो रहें हैं. यों सामने-पीछवाड़े दायें-बांयें, ऊपर-नीचे सर्वत्र पसरा हुवा विश्व वह अमृतरूप वरिष्ठ ब्रह्म ही है... उसे यों जान लेनेवाला पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोके धब्बोंको धो कर निरञ्जन हो कर उसके साथ परम साम्य प्राप्त कर लेता है.

''जब कोई इस अग्निका चयन करता है या उस ऐसे जान-मान लेता तो ब्रह्माके साथ सायुज्य सालोक्य प्राप्त कर लेता है, इसमें इन देवताओंके साथ सायुज्य सार्ष्टि सालोक्य प्राप्त भी

कर लेता है."

"अबभी जो कोई 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा अनुभव कर पाता हो वह यह जो कुछ है सर्वरूप हो जाता है. देवगण भी उसे अनाभूतिद्वारा अपना ऐश्वर्य उसपर जता नहीं पाते. क्योंकि इन देवगणोका भी आत्मरूप बन जाता है. जो किन्तु स्वयं भिन्न मान कर किसी देवकी उपासना करता है कि 'मेरा यह देव कोई और है और मैं कोई और' वह देवोपासनाका रहस्य जान नहीं पाया वह सो देवोंके लिये एक पशुवत् होता है."

२."जो अनन्य चित्तद्वारा नित्ययुक्त योगी सतत भगवान्का स्मरण नित्यशः करता हो उसके लिये तो भगवान् सुलभ ही होते हैं... ब्रह्मभुवन तकके सारे लोकोंसे पुनरावर्ति होती है परन्तु भगवान्को पानेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता", "प्रजापतिने प्रजाका सृजन यज्ञके साथ किया और आदेश दिया कि इस यज्ञद्वारा तुम सब जन्मो और फुलोफलो. तुम इन यज्ञोंके द्वारा देवताओंका भावन करो देवतागण तुम्हारा भावन करेंगे. उन देवताओंसे जो प्राप्त होता है उसे उन्हें दिये बिना केवल तुम भोगना चाहोगे तो वह चोरीकी वृत्ति होगी. इसलिये यज्ञशिष्टका भोग करनेवाले सारे पापोंसे छुटकारा पा लेते हैं. यज्ञशिष्ट अमृतका भोग करनेवालोंको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति होती है. जो यज्ञाचरण नहीं करता उसे तो यह लोक भी भलीभांति सिद्ध नहीं होता तो परलोककी तो कथा ही क्या?"

"उसके कर-चरण सर्वत्र हैं, उसके नेत्र-मुख और मस्तक भी सर्वत्र हैं, वह लोकमें सर्वत्र सुन पाता है वह सभीको समेट कर रहता है. जितनी भी इन्द्रियोंसे जो गुण ग्रहीत होतें है वे उसमें भासित हो रहें हैं यद्यपि उसमें कोई भी इन्द्रिय नहीं. वह कहीं आसक्त न होनेपर भी सभीका भरण करता है. स्वयं निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता भी बनता है... दृश्य-कार्य-भोग्यरूप ज्ञेयक्षेत्र तथा दर्शन-कर्म-भोगरूप ज्ञान समासविधिसे प्रतिपादित हुवा

है. जो भगवान्का भक्त इसे भलीभांति जान लेता है वह भगवद्भावसे उपपन्न हो जाता है... इस ज्ञानका उपाश्रय कर भगवान्का साधर्म्य पा जानेवाले न तो सर्गके समय जनमते हैं और न प्रलयके समय व्यथित होते हैं... जो भगवान्का अव्यभिचारी भक्तियोगद्वारा सेवन करता है वह इन गुणोंसे ऊपर उठ कर ब्रह्मभूय बन जाता है...".

३."इस भागवतपुराणमें सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निराध मुक्ति और आश्रय लीला प्रतिपादित हुयी हैं. दशम आश्रय लक्ष्यके विशोधनार्थ सर्गादि नौ लीला लक्षणरूपा हैं... अवतारोंका अनुचरित अर्थात् हरि और उनके अनुवर्ति सत्पुरुषोंकी कथा 'ईशकथा'के रूपमें निरूपित है, उसी ईश्वरका अपनी शक्तियोंके साथ अनुशयन निरोधलीला है. उसके बाद अन्यथा स्वरूपके परित्याग द्वारा स्वरूपतया व्यवस्थित होना मुक्तिलीला है. अपने अद्वैतमें अपनेसे भिन्नतया इन नवविध लीलाओंका अवभासन और उनका अनवभास जिसके कारण और जहां घटित होता है वह तत्त्व, जिसे 'ब्रह्म' 'परमात्मा' 'भगवान्' पदसे अभिहित किया जाता है, उसे आश्रयतया जानना चाहिये".

"जो भगवान्की भक्ति, हृदयमें परहिंसा दम्भ या मात्सर्य का अनुसन्धान रखते हुवे भेदभाववाले उद्यमके रूपमें करता हो, वह तामस होता है. इन्द्रियविषयोंके अभिसन्धान यश या ऐश्वर्य पानेके लिये अर्चाआदिमें पृथग्भाव रख कर जो पूजनमें तत्पर हो वह राजस होता है. कर्मके निर्हरणके उद्देश्यवश अथवा परमात्माको कर्मोंको अर्पित करनेको अथवा यज्ञादिको अपना नियत कर्तव्य मान कर जो भेदबुद्धिको निभाते हुवे कर्म करता हो, उसे सात्त्विक मानना चाहिये. भगवान्के गुणोंके श्रवणमात्रसे सर्वगुहाशय भगवान्में मनकी अविच्छिन्न गति होनी चाहिये जैसी गंगाके जलप्रवाहकी अविच्छिन्न गति सागरकी ओर होती है. इसे निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है. पुरुषोत्तममें अहैतुकी अव्यवहिता भक्ति

जिसके कारण भक्त सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य या एकत्व रूपा मुक्ति दिये जानेपर भी लेना नहीं चाहते, यदि भगवत्सेवा न मिलती हो तो, इसे ही 'आत्यन्तिक भक्तियोग' कहा जाता है. इसके कारण प्रकृतिके तीनों गुणोंसे ऊपर उठ कर भगवद्भावार्थ जीव उपपन्न हो जाता है''.

(संशय)

"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा, तत् त्वम् असि" (छान्दो.उप.६।८।७) श्रुतिवचनमें प्रतिपादित औपनिषदिक ब्रह्मतादात्म्यवादके सन्दर्भमें सम्पूर्ण जड़-जीव-ईश्वरात्मक सृष्टिका लक्ष्यभूत आश्रयरूप ब्रह्मके साथ तादात्म्य जैसे स्वाभाविक स्वरूपावस्थामें होता है वैसे ही लक्षणरूपा लीलार्थगृहीतरूपावस्थामें भी स्वीकारा गया है. दूसरे शब्दोंमें कहना हो तो कारणावस्था या कार्यावस्था का प्रभेद तो सुबोध्य है, परन्तु ब्रह्मव्युच्चरित ब्रह्मांशभूत ब्रह्मात्मक जीवोंकी बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था के प्रभेदको बुद्धिग्राह्य बनानेमें कुछ समस्या अवश्य उभरती हैं. क्योंकि दोनों अवस्थाओंमें उसकी ब्रह्मात्मकतामें तो कोई तारतम्य प्रकट होता नहीं है. सो इन उपर्युद्धृत श्रुति गीता और पुराण के वचनोंमें 'साम्य' 'साधर्म्य' 'सालोक्य' 'सार्ष्टि=समानैश्वर्य' 'सामीप्य' 'सारूप्य' अथवा 'सायुज्य=एकत्व' रूपी मुक्तिओंके जो अनेक प्रकार दरसाये गये हैं, वे जीवकी बद्धावस्थामें उपलब्ध हों ही तो मुक्तिमें कौनसी अधिकता सिद्ध होती है ?

यहां यह विवेचनीय हो जाता है कि ब्रह्मदृष्ट्या सत्ता चेतना प्रियता नाम और रूप सभी ब्रह्मवादमें ब्राह्मिक माने गये हैं. और ब्रह्मकी मूलावस्था और सृष्ट्यवस्था दोनों अवस्थाओंमें किसी न किसी तरह विद्यमान होनेके कारण साम्यको उभयावस्थानुगत सिद्ध करते हैं. इनके अंशात्मना आविर्भाव अथवा तिरोभाव की प्रतिपादित प्रक्रियाके अनुरोधवश मूलावस्थामें अविभक्त एकात्मिका तथा सृष्टिमें विभक्त

अनेकात्मिका स्वीकारनेपर भी उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्मकी सर्वातीतता और सर्वसमता भी **"न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते"**, **"स सर्वशइति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनः स्मृतः शतं च दशं च एकश्च सहस्राणि च विंशतिः"** (श्वेता.उप.६।८, छान्दो.उप.७।२६।२) इन वचनोंमें प्रतिपादित है ही.

परमात्मदृष्ट्या निहारनेपर भी उभयथा अंशिदृष्ट्या और अंशदृष्ट्या साधर्म्य तो स्वीकारा ही गया है :

१.**"तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्यो अन्तर आत्मा आनन्दमयः... तस्य प्रियमेव शिरः."**

२.**"न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियो भवति"**.

३.**"एषो अस्य परम आनन्दः एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति."**

(तैत्ति.उप.२।५, बृह.उप.२।४।५, ४।३।३२).

यदि भगवद्दृष्ट्या भी निहारना हो तो **"युक्तं भगैः स्वैः इतरत्र च अध्रुवैः"** (भाग.पुरा.२।९।१६)सदृश वचनोंमें ब्रह्म परमात्मा के भगवत्ता अर्थात् ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूपी गुणधर्म यदि भगवान्में सहज सदातन होते हैं तो जीवात्माओंमे भी कृत्रिम तथा नश्वर तो होते ही हैं. एतावता जीवात्मामें होते ही नहीं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता. अतः सादृश्य भी सिद्ध होता ही है.

ऐसी स्थितिमें सालोक्य का विचार करें तो जैसे पुरुषोत्तम **"यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः"**, **"यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति 'अव्यक्तो अक्षर' इत्युक्तः तम् आहुः परमां गतिं यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम"** (भग.गीता.१५।१८,८।२०-२१) वचनोंके आधारपर अक्षरधाममें अवस्थित है वैसे ही निखिल सृष्टि भी **"इमे यद् भूतं भविष्यत्**

च इति आचक्षते आकाशएव तद् ओतं च प्रोतं च... एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठत:... न अन्यद् अतो अस्ति द्रष्टा... एतस्मिन् खलु अक्षरे आकाश: ओतश्च प्रोतश्च'' (बृह.उप.३।८।८-१२) वचनोंके आधारपर अक्षर ब्रह्ममें अवस्थित है. अत: उभयावस्थामें सालोक्य भी तो सिद्ध ही है.

इस तरह सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य और एकत्व या सायुज्य पर्यन्त सभी प्रकार **''यो वै स: प्रजापति: षोडशकल: अयमेव स योऽयम् एवंवित् पुरुष:'',''सृष्ट्वा पुराणि विविधानि अजया आत्मशक्त्या... तैस्तै: अतुष्टहृदय: पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदम् आप देव:'', ''सहैव सन्तं न विजानन्ति देवा:'',''द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ''** (बृह.उप.१।६।१५, भाग.पुरा.११।९।२८, तैत्ति.आर.३।११।५, श्वेता.उप.४।६) सदृश श्रुति-आदि वचनोंके अवलोकन करनेपर मुक्तिके ये विविध प्रकार [१]''विस्मृतकण्ठमणि'न्यायेन केवल विभ्रमावभासित अन्यथामतिके निरासद्वारा निजताके पुन:स्मरणरूप हैं? [२]अथवा अनवगत आत्मस्वरूपका 'राधेयका कौन्तेयतया' इदंनूतन आत्मप्रत्यभिज्ञान हैं? [३]अथवा वस्तुत: अन्यथाभावापन्न पदार्थका अन्यथास्वरूपके त्यागपूर्वक नूतन स्वरूपेण अवस्थान है? [४]अथवा किसी शोकमोहग्रस्त नश्वर लोकमेंसे शोकमोहातीत अनश्वर अपरलोकमें प्रयाण हैं?

(पूर्वपक्ष)

[१]प्रथम कल्पमें ब्रह्मलीलारूपा सृष्टिमें अलीलात्मक विभ्रम तो अप्रसक्त होनेसे स्वयं जीवात्माकी अविद्यावशात् शांकर केवलाद्वैतवादसे ब्रह्मवादका पार्थक्य निरस्त हो जायेगा. [२]इस द्वितीय कल्पमें शांकर वेदान्तीय उदाहरण रहनेपर भी प्रक्रिया काश्मीरी प्रत्यभिज्ञावादमें ब्रह्मवादको पर्यवसित कर देगी. [३]तृतीय कल्पमें बन्धसत्यतावादी सांख्य-न्यायादि द्वैतवाद गलेपतित होता लगता होनेसे तादात्म्यवादका त्याग करना ही पड़ेगा. [४]चतुर्थ कल्पमें जिस शोकमोहातीत अनश्वर लोकोंमें प्रयाणतया

मुक्तिको सोचा जाये वह अक्षरब्रह्मात्मक हो तो उभयत्र व्यापक मानना पड़ेगा और अक्षरब्रह्मात्मक न हो तो लोककी नश्वरता और मुक्त्यर्थ प्रयाणकर्ता जीवात्माकी समष्टिरूपेण विभुता और व्यष्टिरूपेण अविभुता यों उभयविधताका त्याग तो करना ही पड़ेगा.

(उत्तरपक्ष)

ब्रह्मवादके हार्दको समझनेके लिये सर्वप्रथम तो बन्धकारिणी माया-अविद्या हो मुक्तिप्रदायिनी विद्या हो दोनोंको किसी विभु सर्वसमर्थकी सनातनी शक्तिके रूपमें मान्य करना अनिवार्य है क्योंकि [१] जीवात्माके केवल स्वस्वरूपके ज्ञान या अनुभव से मोक्षलाभ दरसानेके बजाय न्यूनतम निजके बारेमें पर वैसे तो वस्तुमात्रके ब्रह्मतादात्म्यके साक्षात्कारको संसारनिवर्तक माना गया है. [२] बन्धमोक्षव्यवस्था किसी एक या दो-चार जीवात्माके गुणदोषकी कथा न हो कर अगण्य जीवात्माओंकी सृष्टिव्यापी सर्वसाधारण कथा है. :

[१] **"ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् ईशं तं ज्ञात्वा अमृताः भवन्ति... तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था अयनाय विद्यते",, "तमेवं विद्वान् अमृत इह भवति"** (श्वेता.उप.३।६-८, तैत्ति.आर.३।१।३).

"ब्रह्मविद् आप्नोति परं तद् एषा अभ्युक्ता सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यो वे वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह", "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म इति" (तैत्ति.उप.२।१-३।१).

[२] **"यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति वै नराः तदा देवम् अविज्ञाय दुःखस्य अन्तो भविष्यति. तपःप्रभावात् देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वरो अथ विद्वान्", "दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति**

ते'',''दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता... द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैव आसुरएव च... तान् अहं द्विषत: क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपामि अजस्रम् अशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु.''

''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोही तमसो भवतो अज्ञानमेव च'',''ये चैव सात्त्विका भावा: राजसा: तामसा: च ये मत्तएव इति तान् विद्धि'',''सर्वस्य च अहं हृदि संनिविष्टो मत्त: स्मृति: ज्ञानम् अपोहनं च'' (भग.गीता.१४।१६,७।१२,१५।१५, श्वेता.उप.६।२०, भग.-गीता.७।१४-१६,५।१९).

''विद्याविद्ये मम तनू विद्धि उद्धव! शरीरिणां मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते. एकस्यैव मम अंशस्य जीवस्यैव महामते! बन्धो अस्य अविद्यया अनादि: विद्यया च तथा इतर'' (भाग.पुरा.११।११।३-४).

''एष ह्येव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्य: उन्निनीषते, एष उ एव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधोनिनीषते. एष लोकपाल: एष लोकाधिपति: एष सर्वेश: स मे आत्मा'' (कौषि.उप.३।८).

इन वचनोंका अवगाहन करनेपर यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि औपनिषदिक आदर्शके अनुसार न तो निजात्माके देहादि उपाधिरहित शुद्धस्वरूपकी स्मृति न साक्षात्कार और न प्रत्यभिज्ञान के कारण मुक्तिलाभ सुलभ है परन्तु या तो निजात्मविषयक ब्रह्मत्वप्रकारक अथवा ब्रह्मविषयक निजात्मत्वप्रकारक ज्ञानसे ही मुक्ति या अमृतत्व का लाभ सुलभ होता है. अतएव भगवद्गीतामें यज्ञाचरणसे इहलोकमें निष्पाप त्रैवर्गिक सिद्धिकी तरह यज्ञावशिष्ट ब्रह्मविद्यारूप अमृतोपभोगसे सनातन अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति भी स्वीकारी गयी है. अर्थात् ब्रह्मविद्याका अयज्ञात्मक लौकिक त्रैवर्गिक उपभोग, अलौकिक अपवर्गात्मक उपभोग और भगवद्भजनार्थ

भजनानन्दात्मक उपभोग भी शक्य है. अतएव जो परब्रह्म प्राप्त करनेमें समर्थ ब्रह्मविद् हो उसके लिये उसे ब्रह्मका सत्य ज्ञान और आनन्दात्मक=देश-काल-स्वरूपत: अपरिच्छिन्न अर्थात् सर्वव्यापी सनातन नाम-रूप-कर्मोंके धारक होनेपर भी उनमें परिसीमित न हो पानेवाले ज्ञानरूप सत्यको अपने हृदयमें अनुभूत करना आवश्यक माना गया है. क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषामें ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिससे यह नाम-रूप-कर्मात्मक सृष्टि कार्यात्मना या अंशात्मना प्रकट होती है, जिसके धारण करनेपर जीवित रहती है और ब्रह्मार्पित कर्मके वश ब्राह्मिक लोकोंमें सालोक्यादि रूपा मुक्ति, या ब्रह्मज्ञानवश सायुज्य=एकत्वरूपा मुक्ति अथवा तो उस ब्रह्मके निजात्मात्मतया ब्राह्मिक दिव्यकामोंके सेवन-सन्तुष्टिवश लौकिक शोकमोहसे अग्रस्त हो कर यथामनोरथ सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य या सायुज्य रूपा मुक्तिका अनुभव भूतलपर भी करने सक्षम हो पाता है उसे 'ब्रह्म' माना गया है. इसके बिना अन्यान्य प्रकारक कर्म बोध या उपासना द्वारा सारे गगनमण्डलको चर्मसे आवेष्टित कर पाने जैसा अशक्य हो जाता है सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा पाना. यह जीवात्माके तप और परमात्मा के प्रसादकी इतरेतरसंवादितावश ही शक्य माना गया है. परमात्माकी आधिदैविक गुणमयी माया भगवान्‌की प्रपत्तिके बिना लांघी नहीं जा सकती. अत: न तो बन्धन स्वयं जीवहेतुक है और न मुक्ति ही. जीवात्मा केवल स्वगत अज्ञान मोह वासना भ्रम या तत्प्रसूत कर्मसे न तो दैवसम्पत्तया मुक्तिका अधिकारी बनता है और न ही आसुरसम्पत्तया अनधिकारी... वैसे कहनेको आसुरी सम्पद्को भगवान् उनकी अशुभ वासना और कृतियों के कारण अशुभयोनिमें डालते रहते हैं परन्तु जिस सत्त्वगुणके प्रबल होनेपर मोक्षोपयिक ज्ञान उपलब्ध होता है और राजस या तामस गुणोंके कारण मुक्तिमें प्रमाद-मोह-भ्रम-अज्ञानप्रयुक्त अनधिकारिता आती है वह सभी कुछ सभीके हृदयमें बिराजमान भगवान्‌द्वारा प्रदत्त ध्रुवा-स्मृति तत्त्वज्ञान या ज्ञानके अपोहन द्वारा प्रकट होता है. ऐसी ये विद्या या अविद्या दोनों ही स्वयं भगवान्‌की स्वरूपात्मक शक्तियां

हैं और शरीरधारी जीवात्माओंकी मोक्षदायिका या बन्धकारिका बनती हैं. जीवहेतुक होती तो अविद्या अनादि हो ही नहीं सकती, विशेषत: उस स्थितिमें जबकि जीव भी अनादि आविद्यक ही माना गया है. भगवान् तो अनादि-अनन्त हैं पर जीवात्माको अविद्याग्रस्त तब तक ही रखते हैं जबतक विद्या प्रदान न करनी हो. अतएव निष्कृष्टार्थ कौषितकी उपनिषद् यों समझाता है कि यह सभी लोकोंके पालक अधिपति ईश्वर होनेसे जिसे ऊपर उठाना चाहता है उससे साधु कर्म करवाता है और जिसे नीचे गिराना चाहता है उससे असाधु कर्म करवाता है. वह एतावता न तो किसीका पक्षपात करता है और न किसीके प्रति निष्ठुर सिद्ध होता है क्योंकि जीवात्माओंके भीतर बिराजमान जो परमात्मा है वह ऐसा है कि न उसका कोई अपना है और न पराया. सभी कुछ वह स्वयं बना है, इसलिये.

अत: अवशिष्ट रह जाते हैं पूर्वपक्षमें लगाये गये आरोप कि जीवात्माके स्वरूपाज्ञान देहेन्द्रियादिके पंचपर्वा अविद्यामूलक तादात्म्याध्यासवश अनुष्ठित सदसत्कर्म या तज्जन्य वासना आदि जीवगत हेतुओंके वश सांसारिक बंधन स्वीकारनेपर अंशांशितादात्म्यवादको छोड़ना पड़ेगा और आत्यन्तिक अद्वैतवादमें पर्यवसान होगा. अथवा बन्धको भगवत्कृत मानना हो तो वैराग्य सांख्य योग तपो भक्ति रूप विद्याके पंच पर्वोंसे ध्रुवा स्मृति अथवा निजात्मस्वरूपके प्रत्यभिज्ञानरूप मुक्तिलाभ स्वीकारनेपर काश्मीर प्रत्यभिज्ञावादमें शुद्धाद्वैतवादका पर्यवसान होगा. अथवा भगवत्कृत न मान कर ब्रह्मसे भिन्न अज्ञान या तज्जन्य कर्मबन्धनोंसे आत्मस्वरूपज्ञान भगवत्स्वरूपज्ञान या भक्ति द्वारा दिव्य लोकान्तरप्राप्तिरूप मोक्षकी कल्पना करनेपर द्वैतवाद गलेपतित होगा. ऐसे आरोप औपनिषद ब्रह्मतादात्म्यवादपर लागू नहीं होते क्योंकि तादात्म्य न तो आत्यन्तिक भेदरूप होता है और न आत्यन्तिक अभेदरूप ही. वह न "द्वयो: वैलक्षण्यं पार्थक्यं प्रभेदो वा" रूप होता है और न "द्वित्वात्यन्ताभावोपलक्षित-एकत्व"रूप होता है. वह तो "अनेकेषाम् एकत्वम्" अथवा "एकस्यैव अनेकत्वम्"

रूप होता है. स्वरूपतः स्वाभाविक एकत्व और लीलया कृत्रिम परन्तु सत्य अनेकत्वरूप होता है. अतः साम्यसे प्रारम्भ कर एकत्व पर्यन्त मोक्षके सभी प्रकारोंको उपपन्न कर पाता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

> **"विद्यया अविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति— निद्रावद् अविद्यापगमे न जीवस्य जन्ममरणे. तदा तस्मिन् जन्मनि गृहीतानां देहादीनां विलयाभावम् आह— देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ताः भवन्ति हि. अध्यासएव गच्छति न स्वरूपं, प्रपञ्चमध्यपातात्— स्वबुद्ध्या लीनवत् प्रतिभानेऽपि न सर्वेषां बुद्ध्या तथा प्रतिभानम्", "ननु 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इति वाक्याद् (जीवो) व्यापको भविष्यति इति आशंक्य आह— व्यापकत्वश्रुतिः तस्य भगवत्त्वेन युज्यते, भगवदावेशे भगवद्धर्माः व्यापकत्वादयः तत्र श्रूयन्ते. नतु जीवो व्यापकः. ननु वेदे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इति वाक्याद् आराग्रमात्रत्वं न वास्तवम् इति चेत् तत्र आह— आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्— अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति कृष्णो यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सकलजगदाधारो भवति".**
>
> (त.दी.नि.प्र.१।३३,५४).

अतः ऐसी स्थितिमें **"ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद् 'अहं ब्रह्म अस्मि'. तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्... तद्ध एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेव प्रतिपेदे 'अहं मनुः अभवम् अहं सूर्यः च' इति. तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति स इदं सर्वं भवति"** (बृह.उप.१।४।१०) वचनका आशय ऐसा नहीं लिया जा सकता कि ब्रह्म सब कुछ नहीं बना प्रत्युत वामदेव ऋषि सब कुछ बने! ऋषि वामदेवकी ब्रह्मानुभूतिमें 'अहं'कारद्वारा अवभासित उद्देश्यीभूत विषय देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोमें ही यथापूर्व अवगत हो कर ब्रह्मानुभूतिकी

अनधिगताबाधितार्थविषयकताके अनुरोधसे विधेयभूत प्रकारताका बोध है. निजात्म(वामदेव)विषयक ब्रह्मत्वप्रकारक बोध है. इसे ही महाप्रभु *"प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्"* वचनांश द्वारा स्फुट कर रहे हैं. अत: सहज सम्भव है कि 'अहं ब्रह्म' एक बार अवगत होते ही सद्योऽनुभूतिका रूप त्याग कर 'विस्मृतकण्ठमणि'न्यायेन पूर्वानुभूत ब्रह्मैक्यकी स्मृति अथवा 'सोऽहम्'न्यायेन प्रत्यभिज्ञा रूप धारण कर ले. अतएव महाप्रभु कहते हैं "**ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषत: सर्वेन्द्रियैस्तथाच अन्तकरणै: आत्मनापि हि ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते**" (त.दी.नि.१।५१) अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी जीवितावस्थामें जीवनमुक्ति ब्रह्मके स्वरूपानन्दात्मिका जैसे सम्भव है अथवा विदेहमुक्ति जैसे अक्षरब्रह्मानन्दात्मिका सम्भव है वैसे ब्रह्मके साथ भजनात्मक सम्बन्धवशात् ब्रह्मकी लीला भजनात्मिका मुक्ति ब्रह्मभावरूप भी सम्भव है ही. इसी तरह ब्रह्मसूत्र(२।३।१९)के 'उत्क्रान्तिगत्यागति...'अधिकरण द्वारा निश्चायित परलोकादिगति भी ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयताके आधारपर उपपन्न हो जाती है. अनादि-अनन्त सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने सदंश चिदंश और आनन्दांश के द्वारा जनन-मरण आवागमन और प्राकट्य-तिरोधान के त्रिविध व्यापार करनेमें कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथाकर्तुं समर्थ है. अवलोकनीय : "**अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागम: नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं च इति सा त्रिधा**"(अणुभा.२।३।१).

(सिद्धान्तसंगति)

अन्तमें भाष्यकारद्वारा इस समूचे विवादके निष्कर्षतया प्रतिपादित वचन अनुसन्धेय बन जाता है :

> "**सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मज्ञानं परमपुरुषार्थसाधनम् इति तन्निर्णयार्थं भगवान् व्यास: सूत्राणि चकार. तत्र ब्रह्मसूत्रे विचारं प्रतिज्ञाय जगत्कर्तृत्वाद्यसाधारणलक्षणं ब्रह्मण: प्रतिज्ञाय समन्वयनिरूपणे जीववाक्यानि दूरीकृत्य अविरोधे ऐक्येऽपि अहितादिकरणादिदोषम् आशंक्य 'अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्' इति**

परिहृत्य जीवस्य अणुत्वम् उपचाराद् ब्रह्मत्वम् अंशत्वम् पराधीनकर्तृत्वादिकं प्रतिपाद्य तस्यैव दक्षिणमार्गेण पुनरावृत्तिम् उक्त्वा ससाधनेन ब्रह्मज्ञानेन अर्चिरादिद्वारा ब्रह्मप्राप्तिम् उक्त्वा 'न स पुनरावर्तते' इति अनावृत्तिं वदन् शास्त्रपर्यवसानेन सर्वान् वेदान्तान् अव्याकुलतया योजितवान्... तत्र वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं जीवपरत्वं वा इति यद् अत्र युक्तं तत् सद्भिः अनुसन्धेयम्''

(अणुभा. २।१।२२).

अर्थात् श्रुतिरूप तथा स्मृतिरूप सभी उपनिषदोंका उद्देश्य ऐसे ब्रह्मज्ञानसे हमें मण्डित करना है कि ब्रह्मके अनन्यसाधारण लक्षण ब्रह्मके सदंश चिदंश या आनन्दांशोमें न भी हो परन्तु एतावता उनका ब्रह्मतादात्म्य सन्दिग्ध या असम्भव नहीं बन जाता. अतएव ब्रह्मके तादात्म्यके अनुरोधवश जब ब्रह्मांशका ब्रह्मतया उल्लेख शास्त्रोंमें किया जाता है तो वह अंशत्वके निरसनार्थ न होकर अंशोंके अंशित्वका अभेदोपचार है; क्योंकि अंशात्मकरूपोंकी उत्पत्ति स्थिति तथा लय तो अंशीसे अंशीमें अंशीके आत्मरमणार्थ ही है. और उसी आत्मरमणके अनेक प्रकारोंके अन्तर्गत कभी किसी अंशसे अंशी होनेके तत्त्वानुसन्धान या भावानुसन्धान के साथ करता है. तो कभी अंशीके तत्त्वानुसन्धान या भावानुसन्धान बिना अंशोंके परस्पर तत्त्वानुसन्धान या भावानुसन्धान के साथ करता है. तो कभी अंशांशीकी तात्त्विकविस्मृतिके साथ भी करता है. यही तो एकमेव अद्वितीय तत्त्वके आत्मरमणकी अनात्मानुसन्धान या आत्मविस्मृति पर्यन्त की जाती आत्मरमणात्मिका लीलाकी बहुविधता है. इसकी फलितता संसृति मुक्ति और भक्ति का मूल है. एतावता जीवके ब्रह्मांश होनेका तात्पर्य कथमपि ब्रह्मताके अस्वीकारके साथ जीवैक्यके याथार्थ्यको ब्रह्मजिज्ञासाका विषय नहीं माना जा सकता. और न ही ब्रह्मके जड़रूप जीवरूप अंशोंकी ब्रह्मात्मकताके अस्वीकारके साथ ब्रह्मके कैवल्यको ब्रह्मजिज्ञासाका विषय माना जा सकता है.

इस एकादशस्कन्धके प्रतिपाद्य विषय मुक्तिके स्वरूपकी विवेचनाके बाद अब स्कन्धोंके अध्यायप्रतिपाद्य विषयोंके विहंगावलोकनार्थ उद्यत होना उचित होगा.

(अध्यायार्थमीमांसा)

प्रस्तुत एकादशस्कन्धमें प्रतिपाद्यविषय मुक्तिके निरूपणार्थ जीवमुक्ति तथा ब्रह्ममुक्ति के प्रमुख दो प्रकरण हैं. जीवमुक्ति प्रकरण १-२९ अध्यायोंमें निरूपित हुवा है. ब्रह्ममुक्तिका निरूपण अन्तिम ३०-३१ दो अध्यायोंमें हुवा है. जीवमुक्तिके प्रतिपादनपरक १-५ अध्यायोंमें ब्रह्मभावद्वारा प्राप्त होती मुक्तिका निरूपण है तथा द्वितीय जीवसायुज्यरूपा मुक्तिके निरूपणार्थ ६-२९ अध्याय योजित हुवे हैं.

वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति रूप भगवान्‌की विद्याशक्तिके पांच पर्वोंके अनुरूप पांच अध्यायोंमें ब्रह्मभावरूपा मुक्ति जो सिद्ध होती है तदन्तर्गत क्रमशः विद्याशक्तिके पांच पर्व यों प्रतिपादित हुवे हैं :

१.वैराग्यरूप प्रथम विद्यापर्वका निरूपक प्रथम अध्याय :

इस अध्यायमें ब्राह्मण ऋषिका उपहास करनेवाले यदुवंशी राजकुमारोंको दिये गये शापसे प्रकटे वैराग्यकी कथा कही गयी है.

२.सांख्यरूप द्वितीय विद्यापर्वका निरूपक द्वितीय अध्याय :

इस अध्यायमें देवर्षि नारदद्वारा वसुदेवजीको दिये उपदेशके अन्तर्गत नौ निमियोगिओंके उपदेशमें कवि योगीद्वारा उपदेशमें तत्त्वातत्त्वकी विवेचनारूप सांख्यविद्याका प्रतिपादन हुवा है.

३.योगरूप तृतीय विद्यापर्वका निरूपक तृतीय अध्याय :

इस अध्यायमें प्रबुद्ध योगीके उपदेशमें गुरुकी उपसत्तिद्वारा भगवद्धर्मके शिक्षणमें सर्वत: मनको नि:संग बनानेके उपदेशमें चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप योगका प्रतिपादन मिलता है.

४.तपोरूप चतुर्थ विद्यापर्वका निरूपक चतुर्थ अध्याय :

इस अध्यायमें भगवान्‌के अवतारोंके वर्णनके अन्तर्गत तपोनिरत नारायणरूप अवतारमें कामके पराभवकी लीलाका निरूपण और चित्तके कषायोंके शोषणरूप तपका वर्णन है.

५.भक्तिरूप पञ्चम विद्यापर्वका निरूपक पञ्चम अध्याय :

इस अध्यायमें भगवद्‌भजन न करनेवालोंकी निन्दाद्वारा भगवद्‌भजनकी प्रेरणा दी गयी होनेसे भक्तिका निरूपण किया गया है.

ब्रह्मभावरूप मुक्तिके निरूपणके बाद अब जीवमुक्तिके निरूपणार्थ भक्तिके कारण होते सायुज्यप्रकारके प्रतिपादनतया भक्ति सिद्ध हो जानेपर २४ तत्त्वोंका अतिक्रमण शक्य बनता होनेसे २४ अध्यायोंवाला यह प्रकरण है.

१=६.जीवसायुज्यके निरूपणतया प्रथम अध्याय :

इस प्रकरणके प्रथम अध्यायमें, वैसे स्कन्धक्रमसे छट्ठे अध्यायमें, श्रीकृष्णोद्धवसंवादके उपक्रमतया भगवान्‌को स्वधाममें पधारनेकी देवादिगणोंकी प्रार्थनाके प्रसंगमें स्वयं भगवान्‌का भी भूतलपर अवतीर्ण स्वरूप और लीला के उपरम का संकल्प सर्वमूल प्रकृतिरूप भगवान्‌रूपी तत्त्वका निरूपण है.

२=७.जीवसायुज्यके निरूपणतया द्वितीय अध्याय :

इस अध्यायमें उस मूलतत्त्वके बहुभवनके केवल संकल्पवश ही प्रकटे नानात्वको भूल कर जो भेदबुद्धि दृढतया रूढ़ हो जाती है उसे बुद्धिभ्रम माना है. अत: इन्द्रियग्रामको योगयुक्त बना कर अन्तमें चित्तको योगयुक्त करके सर्वात्मरूप भगवान्‌में ही भेदघटित सृष्टिको देखनेका जो ९वे श्लोकमें उपदेश किया वह उस भेदघटित और भेदघटक चित्तसे उभर कर मुक्त्युपाय विषयक ज्ञानोपदेश का निरूपण है.

३=८.जीवसायुज्यके निरूपणतया तृतीय अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके निरूपणार्थ अहंकाररूप तत्त्वसे उभरनेको कामको संयत करनेका उपदेश है. अतएव उपक्रममें भगवान् कहते हैं कि ऐन्द्रियक सुख-दु:ख स्वर्ग-नरक परस्पर संकीर्ण हैं अत: उनका त्याग करना चाहिये. उपसंहारमें भी पिंगला वेश्या जब तक अपने कामपूरक पुरुषकी कामनासे ग्रस्त थी वह सो नहीं पा रही थी परन्तु उस कामनाको छोड़ देनेपर वह सुखसे सो पायी ऐसा विधान है वह यह कामपूर्तिके आग्रहिल अहंकारसे उभरनेके ज्ञानोपदेशकी कथा है.

४=९.जीवसायुज्यके निरूपणतया चतुर्थ अध्याय :

इस अध्यायमें सात्त्विक बुद्धिवाले पुरुषको सात्त्विक कर्मोसे निरत हो कर गुणातीत होनेके ज्ञानोपदेशकी कथा है.

५=१०.जीवसायुज्यके निरूपणतया पञ्चम अध्याय :

भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया भगवदाश्रित वर्णाश्रमधर्म मोक्षसाधक होता है, अन्यथा देहाभिमानमूलक वर्णाश्रमधर्म भगवद्भक्तिवर्धक होनेके बजाय अन्तरायरूप भी बन सकता है. तदर्थ बाह्य त्यागके ज्ञानोपदेशकी

कथा है.

६=११.जीवसायुज्यके निरूपणतया षष्ठ अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया आत्मामें नानात्वबुद्धि भ्रान्तिरूपा होनेसे ब्रह्ममें निश्चल मनोधारणोपदेश और वह शक्य न हो तो साधुपुरुषोंके संगसे साधुपुरुषों द्वारा उपदिष्ट मर्यादाभक्तिके उपदेशकी कथा है.

७=१२.जीवसायुज्यके निरूपणतया सप्तम अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया साधुपुरुषोंमें भी मर्यादा अथवा पुष्टि के प्रभेदवश भगवान्के अनुग्रहातिशयसे पुष्टिभाववाले साधुपुरुषके साथ अथवा जैसा भी भगवत्संग प्राप्त हुवा हो इस कारणसे भगवान्में निरतिशय विशुद्ध प्रेमभाव प्रकट हो सका हो तो मर्यादामार्गीय साधनाओंके बिना भी सर्वातिशायी पुष्टिफलप्राप्ति भी संभव होनेके उपदेशकी कथा है.

८=१३.जीवसायुज्यके निरूपणतया अष्टम अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया हंसावतार ले कर ब्रह्माजीको जो उपदेश दिया उसमें प्राकृत त्रिगुणात्मक जगत्का और भगवदात्मक अप्राकृत जगत्का स्वरूपतारतम्य बताया है. प्रकृतिके सत्त्वगुणके अवलम्बनद्वारा पहले प्राकृत जगत्से उभरना आवश्यक होता है. तब भगवदात्मक प्रपञ्चमें भगवदात्मक अवस्थान शक्य हो पाता है. एतदर्थ सत्त्वादि गुणोंका निरूपण करते हुवे सर्वप्रथम इन्द्रियविषयोंको दु:खहेतुतया जान लेनेपर भी अहंकारयुक्त प्रमाद रहनेपर सर्वनाश होता है. परन्तु जो श्रद्धाशील अप्रमत्त हो कर इन्द्रियविषयोंमें दोषरूपता देख पाता है वह अपना मन भगवान्में लगा पाता है. वह लगनेपर सब कुछ सिद्ध हो जाता है. यथा निष्ठापूर्वक भगवद्भजनके कारण

ही सारे सन्देह मिट जाते हैं. बुद्धिमें भगवदावेश हो जानेपर अभगवदात्मक नानात्वके भानके बजाय स्वयं नानात्वका ही केवल भगवदात्मकतया भान होने लगता है. तब जा कर पता चलता है कि बन्धका हेतु स्वयंके अहंकारके सिवा अन्य कुछ नहीं होता. यह समझमें आ पाता हो तो जागृत् स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीनों अवस्था जीवकी न हो कर आहंकारिक हैं, यों स्वयंका याथार्थ्य तो कोई चतुर्थ प्रकारका होना चाहिये यह भी समझमें आने लगता है. तब चित्तसे अलग चिदंश जीवात्माको पहचाना जा सकता है. तब बुद्धिके शुद्ध और शान्त होनेपर ब्रह्मभाव प्रकट हो पाता है. तब सच्ची भक्ति प्रकट हो कर ब्रह्मसायुज्यद्वारा कृष्णप्राप्ति होती है. ऐसी कथा यहां है.

९=१४.जीवसायुज्यके निरूपणतया नवम अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया यह समझाया गया है कि विद्वान् वेदार्थकी व्याख्या अनेकदृष्टिओंसे करते हैं. पर भगवदुपदेशमें दृढ़ श्रद्धा हो तो वेदका तात्पर्य श्रीकृष्णमें ही है यह समझमें आ पाता है. तब श्रीकृष्णध्यानात्मिका भक्ति सिद्ध हो पाती है. सो उसके साधन यहां समझाये गये हैं.

१०=१५.जीवसायुज्यके निरूपणतया दशम अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया जो श्रीकृष्णध्यान समझाया गया है उससे मिलती कुछ सिद्धियोंमें ललचाये बिना जो ध्यान कर पाता है वही भगवान्में प्रवेश कर पाता है. ऐसी उपदेशकथा यहां है.

११=१६.जीवसायुज्यके निरूपणतया ग्यारहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया श्रीकृष्णध्यानका

जो उपदेश है वह करनेपर जगत्के सारे रूप श्रीकृष्णके ही हैं यह समझ आता है. सो ऐसी समझके कारण जो श्रीकृष्णको मूलरूपेण भजनेके बजाय विभूतिरूपोंके भजनमें फंस जाता है वह यहां पहुंच कर भी भटक जाता है अत: मूलरूपेण भजनोपदेशकी कथा यहां कही गयी है.

१२=१७.जीवसायुज्यके निरूपणतया बारहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया यह समझाना अभिप्रेत है कि वर्णाश्रमधर्मके त्यागार्थ भक्ति करनेवाले तो पाषण्डी भी हो सकते हैं. अत: आरंभिक प्रवृत्ति वर्णाश्रमधर्मानुकूल होनी चाहिये. एतदर्थ ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य धर्मोंका निरूपण किया गया है.

१३=१८.जीवसायुज्यके निरूपणतया तेरहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया अन्तत: निवृत्तिधर्मके अंगतया उत्तराश्रमके धर्म ज्ञान-वैराग्यके उपदेशकी कथा है.

१४=१९.जीवसायुज्यके निरूपणतया चौदहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया भगवद्भक्तिके लिये उपयोगी इन्द्रियविषयोंमें वितृष्णाके कारण अन्यत्र श्रद्धा मिट कर केवल भगवान्में दृढ़ हो पाती है अत: ऐसी श्रद्धाको दृढ़ करनेवाले यमनियमादि साधनका उपदेश है. ज्ञानाचरणसे सिद्ध होनेवाले ज्ञान-विज्ञानोंकी भक्तिके प्रादुर्भावमें परम्परया कारणता होती है.

१५=२०.जीवसायुज्यके निरूपणतया पंदरहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया भक्तिके हेतुभूत जागतिक विषयवस्तुओंमें अहन्ता-ममतामूलक गुण या दोष की दृष्टि मिटा कर वस्तुको केवल वस्तुदृष्ट्या देख पानेका कौशल्य सच्चा

गुण है ऐसा निरूपण है. अत: भगवन्निष्ठ कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग गुणदोषदृष्टिरूप दोषके निवर्तक होते हैं.

१६=२१.जीवसायुज्यके निरूपणतया सोलहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया इन कर्म-ज्ञान-भक्तिमार्ग रूप उपायोंको अपना पानेमें अशक्त होनेपर श्रद्धावाले जघन्य अधिकारीके वास्ते शनै:शनै: त्यागद्वारा सुकर बनानेको वेदादि शास्त्र किसी वस्तुमें कोई गुण और किसी वस्तुमें कोई दोष का निरूपण करते हैं उन्हें वस्तुगत गुणदोष न मान कर साधनासौकर्यार्थ कल्पित गुणदोषकल्पनाके रूपमें लेना चाहिये, अन्यथा वस्तुभेदक हो कर अभेदानुसन्धानमें वे प्रतिबन्धक बन जायेंगे ऐसा निरूपण है.

१७=२२.जीवसायुज्यके निरूपणतया सतरहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया अट्ठाईस तत्त्वोंके पृथक्करणके कारण भेदबुद्धि अधिक दृढ होती हो तो सांख्यशास्त्रको मुक्तिप्रापकविद्या कैसे माना जा सकता है? अत: तत्त्व तीन पांच नौ ग्यारह पच्चीस छब्बीस या अट्ठाईस हों इनका याथात्म्य कैसे समझना? इस शंकाके समाधानार्थ हरेक तत्त्व एक-दूसरेमें अनुप्रविष्ट रहता होनेके कारण जैसे जिसे गणना करनी हो वह यथार्थ लगती है ; मूलत: भगवान् स्वयं प्रकृति-पुरुषात्मना विभक्त हुवे हैं अत: इस तरहके ब्राह्मैक्यसे वक्ताकी विवक्षावश प्रकट होते संख्याप्रभेदकी कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं इस उपदेशकी कथा है.

१८=२३.जीवसायुज्यके निरूपणतया अट्ठारहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया भिक्षुगीताके निरूपणद्वारा जीवात्माको पूर्वसिद्ध वासनावशात् होते उद्वेजक कष्टोंको सहन करनेसे भक्तिभावौपयिक धैर्य निभ पाता है इस तरहकी अवन्तिकापुरीके

द्विजभिक्षुकी कथा भगवान्ने उद्धवजीको सुनाई उसका वर्णन है.

१९=२४.जीवसायुज्यके निरूपणतया उन्नीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया शुद्धसांख्य अर्थात् एकमात्र निर्विकल्प तत्त्वके अनेकविध विकल्पोंके रूपमें प्रकट होनेकी कथाद्वारा विकल्पातीत अद्वैततत्त्वके उपदेशकी कथा है.

२०=२५.जीवसायुज्यके निरूपणतया बीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया उक्त सांख्यविद्या जब तक अपरोक्षानुभूतिमें नहीं पनपती उससे पहले तो गुणोंकी प्रबलताके कारण गुण आत्ममोहक बन जाते हों तो अट्ठाईस सगुण तत्त्वोंके बजाय निर्गुण तत्त्वोंका निरूपण उपादेय होता है ऐसा निरूपण है.

२१=२६.जीवसायुज्यके निरूपणतया इक्कीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया प्राकृत गुणोंपर विजय पा लेनेके बाद भी अर्थात् मोहरहितको भी कभी दु:संग लग सकता है अत: सत्संगकी उपादेयता प्रतिपादित की गयी है.

२२=२७.जीवसायुज्यके निरूपणतया बाईसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया दु:संगवशात् मोक्षोपायोंका नाश होनेपर भी आगामी जन्ममें जातिस्मर सम्भव होनेसे ऐसे पथभ्रष्टको वैदिक और तान्त्रिक साधनाओंका संमिश्रण करके श्रीहरिकी पूजा आदिमें परायण रहनेके उपदेशकी कथा है.

२३=२८.जीवसायुज्यके निरूपणतया तेवीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया उक्त जातिस्मरका सकल साधनोंके साथ सोपपत्तिक निरूपण यहां किया गया है.

२४=२९.जीवसायुज्यके निरूपणतया चौबीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया अभी तक उपदिष्ट सारे उपायोंके अनुष्ठानमें कोई अशक्त हो फिरभी दिव्यफलाभिलाषी साधकके लिये सर्वशास्त्रीयोपायोंका संमिश्रित एक सुगम उपायका निरूपण यहां किया गया है.

इस तरह जीवमुक्तिके हेतुभूत ब्रह्मभाव और सायुज्यलाभ प्रकारोंके निरूपणके बाद अब ब्रह्मुक्तिका निरूपण आगामी दो अध्यायोंद्वारा किया जा रहा है. इसमें अहन्ता-ममतोपेत प्राकृतनररूपका त्याग सर्वमुक्तिप्रदायक भगवान्‌की ब्रह्ममुक्तिरूपतया निरूपित किया गया है.

१=३०.ब्रह्ममुक्तिके वर्णनार्थ प्रथम अध्याय :

निजेच्छासे मुक्तिलीला प्रकट करनेको इस अध्यायमें ममतास्पद यादवोंके कुलनाशद्वारा ममतात्यागरूपा लीला भगवान्‌की वर्णित हुयी है.

२=३१.ब्रह्ममुक्तिके वर्णनार्थ द्वितीय अध्याय :

ब्रह्ममुक्तिके वर्णनार्थ अहन्तास्पदतया प्रतीत होते अवतीर्णतनुके त्यागकी भगवल्लीला इस अध्यायमें वर्णित हुयी है.

इस तरह एकादशस्कन्धमें प्रतिपाद्य विषय मुक्ति, कि जिसमें प्रथम जीवके ब्रह्मभाव तथा द्वितीय ब्रह्मसायुज्य और तृतीय ब्रह्ममुक्ति रूपी तीन प्रकरण हैं और इसे इकत्तीस अध्यायोंद्वारा प्रतिपादित किया गया है.

भक्तेर्विरहिता मुक्तिः त्याज्या संसृतिवन्मता॥
संसृतिर्भक्तिसहिता चेन् मुक्तेरप्यधिका मता॥१॥
ज्ञातं तत्त्वं सर्वथेदं मुक्तौ नातो मनःस्पृहा॥
स्पृहावत्त्वेपि भक्तौ हि संसृतौ रमते मनः॥२॥
मुकुन्दरतिवर्धिन्या रतिं प्राप्यापि कामये॥
कच्चित् श्रीवल्लभोद्दिष्टा रतिः प्रादुर्भवेद् हृदि!॥३॥
गोस्वामिना श्याममनोहरेण
श्रीवल्लभोक्तेर्हि विचिन्तनेन॥
सुबोधिनीग्रन्थप्रकाशनेऽभवत्
पूर्णा मदीया खलु भूमिकेयम्॥४॥

श्रीगोपीनाथजन्मोत्सव वि.सं.२०७२

गोस्वामी श्याम मनोहर
मुंबई.



वसुदेवस्य विज्ञानं देवक्याः षड्सुतागमः ।
बलिकृष्णस्तुतिकथाः षडागमननिर्गमौ ॥६३॥
सुभद्राविजयोद्वाहो मिथिलागमनं हरेः ।
मैथिलश्रुतदेवस्य पूजनं गतिरेतयोः ॥६४॥
वेदस्तुतिः हरेर्भक्त्या दारिद्र्यविनिरूपणम् ।
आशुतोषकथा शम्भोरनर्थोऽसौ न तस्य च ॥६५॥
वृकासुरवधो बुद्ध्या मोचनं गिरिजापतेः ।
हरेरेव सुदेवत्वं भृगुवाक्यैश्च निश्चयः ॥६६॥
मृतपुत्रप्रदानं च विप्रस्य स्वालयाद्धरेः ।
क्रीडा स्त्रीभिर्हरेः पूजा विरहस्त्र्यभिभाषणम् ॥६७॥
महारथानां नामानि हरेर्वंशावलिस्तथा ।
यादवानेक इत्येवमुत्तरार्धे निरूपितम् ॥६८॥
॥ इति गुणप्रकरणम् ॥

श्रीद्वारिकेशानां सुगमबोधिनी टीका

द्व्यशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति **वसुदेवस्य** इति.

वसुदेवस्य विज्ञानं देवक्याः षड्सुतागमः ।
बलिकृष्णस्तुतिकथाः षडागमननिर्गमौ ॥६३॥

वसुदेवस्य विज्ञानं पञ्चविंशत्या. तत्र द्वे शुकवाक्ये. तत्र प्रथमे सङ्कर्षणाच्युतयोः वसुदेवसमीपगमनम्. द्वितीये मुनीनां वचः स्मृत्वा वसुदेवभाषणम्. द्व्यारभ्य अष्टादशपर्यन्तं वसुदेववचनानि.

स्तोत्रं कृत्वाऽष्टादशभिः सर्वविद्यानिरूपकैः ।
शरणागतिपर्यन्तमुभयोरात्मनस्तथा ॥
स्वरूपमाह सर्वासां विद्यानामभिवाञ्छितम् ।

तत्र आदौ भगवत्कारणता. द्वितीये जगद्रूपता. तृतीये सृष्टेषु भगवदनुप्रवेशः. चतुर्थे स्थितेः आधिदैविकं रूपम्.

कर्ता सर्वप्रविष्टात्मा नानारूपस्तथा परः ।
चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतूरूपो निरूपितः ॥

सप्तमे भगवद्विभूतिरूपनिरूपणम्. अष्टमे जलवायोः हरिरूपता. नवमे आकाशबाह्याभ्यन्तरभेदेन हरिरूपता. दशमे भगवतः इन्द्रियरूपता. एकादशे भगवतः कारणकारणता. द्वादशे हरेः कार्यस्य कार्यता. त्रयोदशे भगवतः सर्वाधारत्वम्. चतुर्दशे भगवद्व्यतिरिक्तानाम् अभावः. पञ्चदशे एतत्सिद्धान्ताज्ञानां निन्दा. षोडशे भगवति आत्मत्वेन ज्ञानं भक्त्यभावे दोषः. सप्तदशे स्नेहपाशेन सर्वजगबन्धनम्. अष्टादशे भगवति अवतारज्ञानम्. एकोनविंशे वसुदेवस्य भगवच्छरणागतिः. विंशे सूतीगृहे वार्तास्मरणम्. एकविंशे भगवद्वचनोद्यमः. चत्वारी भगवद्वचनानि. तत्र आद्ये वसुदेवोक्ताभिनन्दनम्. त्रयोविंशे बोधोपदेशः. चतुर्विंशे अखण्डात्मत्त्वबोधः. पञ्चविंशे व्यवस्थया नानात्वबोधनम्. षड्विंशे भगवदुक्तस्य वसुदेवहृदि स्थितिः.

अथ त्रयत्रिंशता **देवक्याः षट्सुतागमः**. तत्र आद्ययोः देवकीस्मरण-वचनोद्यमौ. पञ्चसु देवकीवचनानि. तत्र त्रिभिः स्तुतिः — स्वस्य याथार्थ्यज्ञानेन, भारावतारणाय अवतीर्णत्वेन, उत्पत्तिलयादिकर्तृत्वेन च. द्वाभ्यां गुरुपुत्रातिदेशेन स्वपुत्रानयनप्रार्थना. एकेन हरिबलयोः सुतलगमनम्. चतुर्भिः बलिना द्वौ समतया पूजितौ नमन-पादप्रक्षालन-समर्हण-चरणधारणादिभेदेन. ततः अष्टभिः बलिना उभौ स्तुतौ षड्गुणप्रतिपादकैः भगवत्प्रतिपादकेन प्रार्थनया च. तत्र आद्ये सप्तरूपाय भगवते नमनम्. ईश्वरो हि नमस्यः. द्वितीये भगवद्दर्शनस्य दौर्लभ्यम्. वीर्यवतां समागमः दुर्लभः. तृतीये दैत्यादिद्वादशानां नामानि. शङ्खचूड-रावणादिमारणे ते हि भगवद्यशोगायकाः. बलि-प्रह्लाद-वृषपर्वाणः नलकूबर-मणिग्रीव-विभीषण-महादेवादयः भगवद्यशोगातारः. यद्वा हिरण्यकशिपु-शम्बर-गन्धर्वा... "गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम्" (भाग.पुरा. ९।११।१३) इति

गन्धर्वाः अपि मारणीयाः. एतयोः मारणे न गन्धर्वादयः यशः गायन्ति. चत्वारः सप्तसाधारणाः. चतुर्थे स्वस्य अन्येषां च नित्यनिबद्धवैरत्वकथनेन भगवतः श्रीः निरूपिता. यस्य श्री भवति तमेव सर्वे द्विषन्ति; निःश्रीकं कोऽपि न द्वेष्टि. पञ्चमे देवज्ञानापेक्षया दैत्यज्ञानोत्कर्षः. षष्ठे प्रायः सर्वेषाम् इदमित्थतया योगमायाज्ञानाभावेन रागाभावः वैराग्यम्. सप्तमे परित्यागाज्ञाप्रार्थना. अष्टमे शिक्षाप्रार्थना. पञ्च भगवद्वचनानि. तत्र त्रिभिः अग्रजानां त्रिजन्मीनं वृत्तान्तम्. चतुर्थे स्वकर्तव्यम्. पञ्चमे नामानि— स्मरः मानसः, उद्गीथः प्राणः, परिष्वङ्गः श्रोत्रं, पतङ्गः नेत्रं, क्षुद्रभृद् जिह्वा, घृणिः स्पर्शः तेषां स्वप्रसादेन ऋषिलोकप्रापणम्. बलिश्च कृष्णश्च **बलिकृष्णौ,** स्तुतिश्च कथा च **स्तुतिकथे.** अत्र यथासङ्ख्यं **बलिकृता स्तुतिः** अष्टभिः, **कृष्णकृता कथा** पञ्चभिः. ''इत्युक्त्वा'' इत्यादिषड्भिः **षण्णां** कीर्तिमदादीनाम् **आगमननिर्गमौ.** तत्र आद्ये मात्रे स्वाग्रजदानम्. देवक्याः स्वपुत्रमूर्द्धाघ्राणं त्रिपञ्चाशति. तेभ्यः स्तनदानं चतुःपञ्चाशति. हरिपीतशेषामृतपयःपानेन तेषां ज्ञानशक्त्युदयः पञ्चपञ्चाशति. हरि-देवकी-वसुदेव-बलान् नमस्कृत्य विहायसा ऋषिधामगमनं षट्पञ्चाशति. देवक्याः विस्मयः सप्तपञ्चाशति. भगवच्चरित्रानन्त्यम् अष्टपञ्चाशति. सूतवाक्येन फलस्तुतिः नवपञ्चाशति. (एवम् एकोनषष्टिः श्लोकाः. इतिद्व्यशीतिः अध्यायसंग्रहः) ॥६३॥

त्र्यशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति **सुभद्रा** इति.

सुभद्राविजयोद्वाहो मिथिलागमनं हरेः ।
मैथिलश्रुतदेवस्य पूजनं गतिरेतयोः ॥६४॥

सुभद्राविजययोः उद्वाहः द्वादशभिः. तत्र आद्ये राजप्रश्नः. द्वितीये अर्जुनस्य प्रभासे गमनम्. तृतीये अर्जुनस्य त्रिदण्डी भूत्वा द्वारकागमनम्. तुरीये पौरैः जिष्णुसभाजनम्. पञ्चमे बलभद्रेणाजानता च यतये भैक्षभोजनम्. षष्ठे अर्जुनस्य सुभद्रादर्शनम्. सप्तमे सुभद्रायाः अर्जुनकामना. अष्टमे अर्जुनस्य चित्तभ्रमः. नवमे अर्जुनेन सुभद्रायाः हरणम्. दशमे शूरविद्रावणम्. एकादशे बलभद्रकोपः. द्वादशे अर्जुनाय पारिबर्हदानम्. **हरेः मिथिलागमनं** चतुर्दशभिः

"कृष्णस्यासीद्" इत्यादिभिः. तत्र आद्यैः त्रिभिः श्रुतदेवब्राह्मणवृत्तान्तः प्रसिद्धि-निवास-निर्वाहभेदेन. षोडशे राज्ञः भक्त्यतिदेशः. सप्तदशे भगवतः मिथिलागमनम्. अष्टादशे द्वादशमुनीनां नामानि. एकोनविंशे मार्गे पौरजानपदानाम् उपस्थानार्घ्यौ. विंशे द्वादशदेशस्थानां नृनारीणां श्रीमुखलावण्यपानं दृशिभिः. एकविंशे तेभ्यः भगवता क्षेमदान-स्वयशःश्रवणे. द्वाविंशे भगवतः विदेहगमनं, तेषां गृहीतार्हणानाम् अभिगमनं च. त्रयोविंशे विदेहानां हरिदर्शन-प्रणामौ. चतुर्विंशे मैथिल-श्रुतदेवयोः पादपातः. पञ्चविंशे उभाभ्यां भगवन्निमन्त्रणं युगपत्. षड्विंशे भगवतः सपरिकरस्य सह मुनेः द्विरूपस्य उभयगेहगमनम्. मैथिलश्च श्रुतदेवश्च तयोः समाहारः, मैथिलपूर्वकः वा, मैथिलसहितः वा. कर्तरि षष्ठी. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकं सम्बध्यते, तथाच **मैथिलकृतं** भगवत्**पूजनम्** एकादशभिः, पूजनस्य इन्द्रियावच्छिन्नसाध्यत्वात्. तत्र चतुर्भिः कायिक-मानसिके, षड्भिः वाचनिकम्. एकेन फलम्. तत्र आद्ये आसनदानम्. द्वितीये नत्वा चरणक्षालनम्. तृतीये मूर्ध्ना चरणोदकवहनं पूजनं षोडशोपचारैः. उपचारास्तु— आसनं नमनम् अङ्घ्रिक्षालनं गन्धः कुसुमानि वस्त्राणि भूषणानि धूपदीपम् अर्घ्यम् गोवृषः मधुरा वाक् नैवेद्यं पादसेवनं स्तुतिः प्रार्थना ताम्बूलं विश्रामः शयनम्. तुरीये वचनोद्यमः. स्तुतौ आद्ये ऐश्वर्यं, द्वितीये वैराग्यं, तृतीये ज्ञानं, तुर्ये यशः, पञ्चमे श्रीः, षष्ठे वीर्यं; भगवन्निवासः फलम्. **श्रुतदेवकृतं पूजनं** विंशत्या. तत्र षड्भिः कायिक-मानसिके. षड्भिः वाचनिकम्. एकेन हरिहस्तग्रहः. सप्त भगवद्वाक्यानि. तत्र कायिकषट्के प्रथमे नृत्यम्. द्वितीये आसनाङ्घ्रिक्षालने. तृतीये पादोदकवहनम्. तुरीये फलार्हणोपचाराः. पञ्चमे तर्कः. पादसेवन-स्तुत्युद्यमौ षष्ठे. स्तुतिषट्के प्रथमे सदा दर्शनाभावः. द्वितीये सृष्टेषु अनुप्रवेशः. तृतीये भक्तिपञ्चकबद्धहृदये हरेः सदा भासः. तुरीये बहिर्मुखानाम् अदर्शनम्. पञ्चमे पञ्चरूपाय नमः. षष्ठे शिक्षाप्रार्थनम्. पञ्चाशति भगवत्करग्रहः. सप्त हरिवचांसि. तत्र आद्ये मुनिमाहात्म्यम्. द्वितीये देवादीनां शनैः पावकत्वम्. तृतीये ब्राह्मणोत्कर्षः. तुर्ये द्विजानां

स्वतुल्यता. द्विजान् अवजानतां दुष्प्रज्ञत्वं पञ्चमे. (षष्ठे!) विप्रहृदये स्वस्थितिः. (सप्तमे!) द्विजपूजनाज्ञा. एकेन बहुलाश्वश्रुतदेवयोः गतिः भगवत्प्राप्तिः. चरमे भगवतः द्वारकाप्रत्यापत्तिः (एवम् एकोनषष्टिः श्लोकाः. इति त्र्यशीतिः अध्यायसंग्रहः) ॥६४॥

चतुरशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति **वेद** इति.

वेदस्तुतिः.....

वेदकृता हरेः स्तुतिः पञ्चाशता. तत्र एवं विभागः— प्रथमे राजप्रश्नः. द्वितीये कार्यचतुष्टयार्थं चतुर्धा सृष्टिः. तृतीये हृदि उपनिषद्धारिणां क्षेमगतिः. चतुर्थे पूर्वेतिहासप्रक्षेपः. पञ्चमे नारदवृत्तान्तः. षष्ठे नारायणवृत्तान्तः. सप्तमे नारदप्रश्नानुवादे नारायणस्य सुगमावस्था. अष्टमे संक्षेपेण उत्तरदानम्. नवमे तेन सन्देहानपगमे नारायणेन पुरावृत्तकथनम्. सार्धे दशमे नारदस्य अज्ञानकारणम्. एकादशे श्रोतृ-पृच्छकवक्तृत्वाधिकारः. द्वादशे भगवच्छयनम्. त्रयोदशे श्रुतिप्रबोधोद्यमः. अतः परम् अष्टाविंशतिभिः वेदस्तुतिः. तत्र आद्ये प्रकृतिप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. द्वितीये पुरुषप्रतिपादिकानाम्. तृतीये साधनव्यवस्था. तुरीये देवतान्तर-कर्मान्तरविधिनिर्णयः. पञ्चमे बहुविध-भगवदुपासकफलनिर्णयः. षष्ठे अनुप्रवेशश्रुतीनां निर्णयः. सप्तमे जीवस्वरूप-वर्णनम्. भगवत्कथया जीवानाम् आनन्दः अष्टमे. नवमे जीवानां हरिसेवाऽऽवश्यकता. दशमे भगवत्सेवाप्रकारः. एकादशे शास्त्रद्वयविरोधपरिहारः. द्वादशे भगवद्भजनासहिष्णुनिषेधः. त्रयोदशे अन्यसिद्धान्तपरिहारपूर्वक-दोषद्वयपरिहारः. चतुर्दशे भक्तदोषनिराकृतिः. पञ्चदशे अभजननिषेधः. षोडशे कार्यद्वारा प्राप्तदोषनिराकृतिः. सप्तदशे भगवदधीनत्वम्. अष्टादशे जीवसङ्घातयोः भगवदात्मकता. एकोनविंशे भगवत्सेवकानां कालभयाभावः. विंशे योगनिन्दा. एकविंशे स्वजनादित्यागपूर्वकं हरिभजनम्. द्वाविंशे भजने क्रमः. त्रयोविंशे लौकिके सत्त्वनिराकरणम्. चतुर्विंशे लौकिके असत्स्थापनं च. पञ्चविंशे लौकिके चित्त्वनिराकरणम्. षड्विंशे लोके अचित्स्थापनम्. सप्तविंशे लोके आनन्दनिराकरणम्. अष्टाविंशे लोके भगवदानन्दस्य

देशकालापरिच्छेद्यत्वम्. एतदुपसंहारः अस्य प्रवृत्तिश्च नवभिः. तत्र पञ्चभिः उपसंहारः. तत्र आद्ये गुरुपूजनम्. द्वितीये आत्मानुशासनमाहात्म्यम्. तृतीये नारदं प्रति एतद्धारणाज्ञा. एतावद् नारायणवाक्यम्. तुर्ये नारदस्य एतद्धारणम्. पञ्चमे नारदेन श्रीकृष्णाय नमनम्. द्वाभ्यां प्रवृत्तिः. तत्र आद्ये नारदस्य द्वैपायनाश्रमे गतम्. द्वितीये व्यासाग्रे एतद्वर्णनम्. एकोनपञ्चाशति श्रीशुकेन राज्ञे उत्तरदानसमर्थनम्. पञ्चशति श्रीशुकैः संक्षेपेण श्रुतिगीतार्थकथनम्. (एवं पञ्चाशत् श्लोकाः. इति चतुरशीतिः अध्यायसंग्रहः).

पञ्चशीतितमाध्यायार्थम् अनुक्राम्यन्ति **हरेर्भक्त्या दारिद्र्य** इति.

.... **हरेर्भक्त्या दारिद्र्यविनिरूपणम् ।**

आशुतोषकथा शम्भोरनर्थोऽसौ न तस्य च ॥६५॥

वृकासुरवधो बुद्ध्या मोचनं गिरिजापतेः ।

हरेः श्रीकृष्णस्य **भक्त्या** सेवाभावाभ्यां **दारिद्र्यस्य** दरिद्रभावस्य **विशेषेण निरूपणं** प्राप्तिः. यद्वा **दरिद्रस्य विनिषूदनं** नाशः. अतएव मूले 'प्रायः'पदम्. ध्रुव-अम्बरीष-प्रह्लाद-विभीषणादयः धनिनः भोजाश्च. इयं कथा एकादशभिः. तत्र आद्याभ्यां राज्ञः प्रश्नः. ततः द्वाभ्यां शिववृत्तान्तः, एकेन हरेः. ततः षड्भिः श्रीकृष्ण-युधिष्ठिरसंवादः. तत्र आद्ये युधिष्ठिरप्रश्नातिदेशः. द्वितीये उत्तरोद्यमः. चत्वारि श्रीकृष्णवाक्यानि. तत्र आद्ये हृतधनस्य स्वजनपरित्यागः. द्वितीये भगवदीयैः सह मैत्री. तृतीये अनुग्रहः. चतुर्थे बहिर्मुखानाम् अवज्ञा. **आशुतोषस्य** कथनं नारदेन वृकं प्रति एकादशभिः. तत्र आद्ये शाप-प्रसाददातृनिर्णयः. द्वितीये उपाख्यानोपक्षेपः. तृतीये नारदं प्रति वृकासुरप्रश्नः. तुरीये हरस्य आशु तोष-कोपौ. पञ्चमे दशास्य-बाणयोः वरं दत्वा हरस्य संकटकथा. षष्ठे नारदोपदेशेन वृकस्य क्रव्यहोमः. सप्तमे वृकस्य स्वमूर्द्धच्छेदोद्यमः. अष्टमे शिवेन निवारणम्. नवमे वराय अभिमन्त्रणम्. दशमे वरयाचनम्. एकादशे वरदानम्. **शम्भोः अनर्थः** सार्धाभ्याम् **असौ** आमुष्मिकः विप्रकृष्टो वा **च** पुनः **तस्य न** ईश्वरत्वाद् अनर्थः न तस्य = शिवस्य. तत्र आद्ये वरपरीक्षार्थं शिवमूर्ध्नि

वृकस्य हस्तधारणोद्यमः. द्वितीये शिवस्य कम्प-पलायनौ. अर्धे सुरेश्वराणां तूष्णीम्भावः. **वृकासुरवधः बुद्ध्या** उपायचातुर्येण एकादशभिः. तत्र आद्यसार्धे शिवस्य बदरिकाश्रमगमनम्. द्वितीये तं दृष्ट्वा भगवतः बटुवामनभावः. तृतीये रूपवर्णनाभिवादने. तुर्यपञ्चमाभ्यां वाक्पेशलेन वृकासुरबुद्धिमोहः. षष्ठे हरये वृकेण पूर्वानुष्ठानकथनम्. त्रितयेन शिवनिन्दया वृकबुद्धिभेदः. सार्धेन वृकवधः. सार्धत्रयेण **शिवमोचनम्**. सार्धेन देवादीनाम् उत्सवः. द्वाभ्यां महादेवप्रशंसा. एकेन श्रवणफलम्. (एवं चत्वारिंशत् श्लोकाः. इति पञ्चाशीतिः अध्यायसंग्रहः).

षडशीतितमाध्यायम् अनुक्राम्यन्ति **हरेरेव** इति.

हरेरेव सुदेवत्वं भृगुवाक्यैश्च निश्चयः ॥६६॥

मृतपुत्रप्रदानं च विप्रस्य स्वालयाद्धरेः ।

हरेः श्रीकृष्णस्यैव **सुदेवत्वं** पूज्यदेवत्वं, सु पूजने, सार्धविंशत्या. तत्र आद्ये ऋषीणां "त्रिषु कः महान्?" इति तर्कः. द्वितीये तद्ज्ञानाय भृगुप्रेषणम्. तृतीये ब्रह्मातिक्रमः. तुरीये क्रोधोद्भव-प्रशमौ. पञ्चमे भृगोः कैलासगमनम्. षष्ठे शिवातिक्रम-शिवक्रोधौ. सप्तमे देव्याः शिवसान्त्वन-भृगुवैकुण्ठगमने. अष्टमे भृगुणा जनार्दनवक्षसि पदा संताडनम्. नवमे विष्णुना उत्थाय भृगुक्षमापनम्. दशमे स्वपावित्र्यप्रार्थना. सार्धे एकादशे विष्णोः स्वकृतार्थत्वभावना. **भृगोः वाक्यैः** चकारेण भक्त्यनुभावेन श्रीकृष्णे महाधीशत्व**निश्चयः** नवभिः. तत्र आद्ये भक्तिप्रसारः. द्वितीये स्वसत्रे आव्रज्य स्वानुभववर्णनम्. तृतीये मुनीनां विष्णौ महत्वश्रद्धा. चतुर्भिः भगवन्माहात्म्यम्. अष्टमे मुनीनां हरिसेवया तद्गतिगमनम्. नवमे श्रीशुकोक्तिश्रवणफलम्. **मृतपुत्रप्रदानं** षट्चत्वारिंशता. **हरेः** इति कर्तरि षष्ठी ; हरिणा **स्वालयाद् विप्रस्य मृतानां** दशपुत्राणां **प्रदानम्**. इदम् अनिरुद्धचरित्रम्, "अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः" (श्लो. ६६) इति उपसंहारात्. कृष्णावतारे पूर्णे सर्वत्र भगवद्धामसु हरिदर्शनाभावात् कालपुरे पूर्वं पुरुषोत्तमः स्थित्वा अनिरुद्धांशेन अर्जुनेन सह गतवान् इति

लक्ष्यते. अतएव तत्र प्रणामाज्ञापनादि सर्वं संगच्छते, अन्यथा परात् परतमस्य श्रीकृष्णस्य अन्यत्र प्रणामादिकम् अनुपपन्नं भवेत्. तत्र एवम् अनुक्रमः — आद्ये विप्रसुतस्य स्वालयप्रापणम्. द्वितीये सुतदेहस्य विप्रेण राजद्वारि उपाधानम्. द्वाभ्यां विप्रेण राजदोषवर्णनं प्रकृताप्रकृतभेदात्. पञ्चविंशे अष्टकृत्वा अतिदेशः. षड्विंशे नवमपर्याये अर्जुनेन उत्तरदानम्. त्रीणि अर्जुनवचांसि प्रश्न-राजदोष-प्रतिज्ञाभेदात्. द्वे विप्रवचसी निषेध-प्रश्नभेदात्. द्वे फाल्गुनवाक्ये स्वश्लाघा-प्रतिज्ञाभेदात्. चतुस्त्रिंशे विप्रस्य गृहे गतिः पार्थवीर्यं कथयतः. पञ्चत्रिंशे प्रसूतिकाले विप्रेण जिष्णुप्रार्थनम्. षट्त्रिंशे अर्जुनेन अस्त्राणि स्मृत्वा गाण्डीवसज्जीकरणम्. सप्तत्रिंशे प्रसूतिस्थाने शरपञ्जरकरणम्. अष्टत्रिंशे विप्रकुमारदेहस्यापि अदर्शनम्. त्रीणि विप्रवचांसि स्वनिन्दन-प्रद्युम्नादिनिषेधा-ऽर्जुनधिक्करणभेदात्. द्विचत्वारिंशे फाल्गुनस्य संयमनीगमनम्. त्रिचत्वारिंशे अमरावत्यादिगमनम्. चतुश्चत्वारिंशे रसातलादिग-मनम्. पञ्चचत्वारिंशे अर्जुनस्य अग्निप्रवेशोद्योगः. षट्चत्वारिंशे श्रीकृष्णेन निवारणम्. सप्तचत्वारिंशे अर्जुनेन सह प्रतीच्यां गमनम्. अष्टचत्वारिंशे लोकालोकात् परं तमःप्रवेशः. नवचत्वारिंशे भगवदश्वानां गतिभ्रंशः. पञ्चाशत्तमे अग्रे सुदर्शनप्रक्षेपः. एकपञ्चाशत्तमे सुदर्शनेन तमोविदारणम्. द्विपञ्चाशत्तमे अर्जुनस्य नेत्रपिधानम्. त्रिपञ्चाशत्तमे सलिलप्रवेशः तत्र अद्भुतभवनदर्शनम्. चतुःपञ्चाशत्तमे तस्मिन् महाभीमसर्पदर्शनम्. त्रिभिः भगवद्दर्शनं तत्स्वरूपवर्णनं च. अष्टपञ्चाशत्तमे तत्र स्थितस्य वन्दनं तदाज्ञापनं च. द्वे भगवद्वाक्ये कार्यं कृत्वा शीघ्रागमन-धर्माचरणभेदात्. एकषष्टे भूमानम् आनम्य द्विजदारकाऽऽदानम्. द्विषष्टे गमनमार्गेणैव द्वारकागमन-विप्रपुत्रदाने. त्रिषष्टे पार्थस्य विस्मयः कृष्णानुकम्पया पौरुषमननं च. चतुःषष्टे अनेकवीर्याणि दर्शयतः हरेः ग्राम्यविषयभोगात्युर्जित-मखजातकरणे. पञ्चषष्टे प्रजासु कामवर्षण-श्रैष्ठ्यास्थाने. षट्षष्टे अर्जुनादिद्वारा दुष्टघातः युधिष्ठिरादिद्वारा धर्मावर्तने. (एवं षट्षष्टिः श्लोकाः. इति षडशीतिः अध्यायसंग्रहः).

सप्ताशीतितमाध्यायम् अनुक्रामन्ति **क्रीडा** इति.

क्रीडास्त्रीभिर्हरेः पूजा विरहस्त्र्यभिभाषणम् ॥६७॥

महारथानां नामानि हरेर्वंशावलिस्तथा ।

यादवानेक इत्येवमुत्तरार्धे निरूपितम् ॥६८॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता दशमस्कन्धानुक्रमणिका समाप्ता ॥

षोडशसहस्र**स्त्रीभिः** हरेः बुद्धिहर्तुः **क्रीडा** द्वादशभिः. तत्र चतुर्भिः द्वारिकावर्णनं पुरुषजुष्ट-स्त्रीजुष्ट-चतुरङ्गसेनाजुष्ट-उद्यानाद्यभेदात्. पञ्चमे प्रत्येकरमणम्. सप्तभिः समुदायेन रमणम्. तत्र आद्ये जलवर्णनम्. द्वितीये श्रीकृष्णवर्णनम्. तृतीये गीतवाद्यादिवर्णनम्. चतुर्थे हरि-महिषीणां सेक-प्रतिसेकौ. पञ्चमे महिषीभिः कृष्णोपगूहनम्. षष्ठे मुख्यं रमणम्. सप्तमे उभयैः नटादिभ्यः वस्त्रालङ्कारदानम्. **विरहस्त्र्यभिभाषणम्** अष्टादशभिः. तत्र त्रयोदशे स्त्रीणां बुद्धिहरणम्. चतुर्दशे स्त्रीणाम् उन्मत्तवचनारम्भः. दश स्त्रीणां वचांसि—

कुररी-चक्रवाकोऽब्धिश्चन्द्रमा मलयानिलः ।
मेघ-कोकिल-बालाद्रिस्तन्नद्यो हंस एव च ॥
दशधा भगवत्स्नेहैरुक्तास्त्रीभिः स्वभावतः ।
मनसैव तिरोधानमुक्तं चोक्तं न पूर्ववत् ॥

पञ्चभिः उपसंहारः. प्रथमे इतिभावेन स्त्रीणां परमगतिप्राप्तिः. द्वितीये भगवन्माहात्म्यम्. तृतीये महिषीणां माहात्म्यम्. चतुर्थे हरेः वेदोक्तधर्मानुष्ठानम्. (पञ्चमे) षोडशसहस्रस्त्रीभावः. पञ्चभिः **महारथानां नामानि**. तत्र प्रथमे पूर्वकथानुवादः. द्वितीये पुत्रसङ्ख्या. त्रिभिः महारथानां नामानि. पञ्चभिः **हरेः वंशावली** पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-प्रति(श्रुति)बाहु-सुबाहु-शान्तिसेन- श्रुतसेन-प्रशंसाभेदात्. षड्भिः **यादवानेक**त्वम्. मूले **अनेक**पदं भावप्रधानम्. तत्र आद्ये सङ्ख्यायाः अशक्यता. द्वितीये आचार्यसङ्ख्या. तृतीये भृत्यसङ्ख्या. चतुर्थे कंस-जरासन्धादीनाम् असुरत्वम्. पञ्चमे यदूनां देवत्वम्. षष्ठे तेषां प्रमाणे प्रभुत्वम्. **इत्येवमिति** पञ्चभिः उपसंहारः. तत्र आद्ये षट्कर्मसु यादवानां कृष्णचित्तता. द्वितीये श्रीकृष्णमाहात्म्यम्. तृतीये श्रीकृष्णस्य

लीलोपयोगि-पदार्थसहितस्य नित्यं वर्तमानता. तुर्ये श्रीकृष्णानुवृत्तिम् इच्छूनाम् एतत्कथाश्रवणावश्यता. पञ्चमे पूर्वभगवदीयानुचरितम् **उत्तरार्धे निरूपितम्.** (एवं पञ्चाशत् श्लोकाः. इति सप्ताशीतिः अध्यायसंग्रहः.)

श्रीमद्वल्लभविठ्ठलौ विजयतः श्रीमान्महानादिमः ।
प्रोद्यद्वंशधुरंधरो गिरिधरो दामोदरो विठ्ठलः ॥
श्रीमद्वल्लभ आदिमो गिरिधरः श्रीविठ्ठलो द्वारिका-
धीशप्रेष्ठसुतः स्वयं गिरिधरो श्रीमाथुरेशो गुरुः ॥
एतेषामनुकम्पया लघुमतिः श्रीवल्लभाचार्यजिद्-
वाचं गूढतमां सदा सुखकरीं व्याख्यातवानस्म्यहम् ॥
सा पुष्पाञ्जलिरर्पिता गिरिधराङ्घ्र्यब्जे मया चैतया ।
श्रीमद्वल्लभवंशजाः मदुपरि प्रीताः सदा सन्तु वै ॥
पञ्चोत्तरैकोनविंशे माघे शुक्लाष्टमी तिथौ ।
कुजेऽकार्षीद् द्वारिकेशो रासस्थल्यामिमां मुदा ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशीय-गोस्वामिमथुरानाथसूरिसूनु-द्वारिकेशसूरिविरचिता दशमस्कन्धानुक्रमणिकाव्याख्या सुगमबोधिनी समाप्ता ॥



॥ पुरुषोत्तमनामसहस्रे गुणप्रकरणगतानि नामानि ॥
(१००३-१०१६)

वसुदेवज्ञानदाता देवकीपुत्रदायकः ।
अर्जुनस्त्रीप्रदाता च बहुलाश्वस्वरूपदः ॥१॥
श्रुतदेवेष्टदाता च सर्वश्रुतिनिरूपितः ।
महादेवाद्यतिश्रेष्ठो भक्तिलक्षणनिर्णयः ॥२॥
वृकग्रस्तशिवत्राता नानावाक्यविशारदः ।
नरगर्वविनाशार्थहृतब्राह्मणबालकः ॥३॥
लोकालोकपरस्थानस्थितबालकदायकः ।
द्वारकास्थमहाभोगनानास्त्रीरतिवर्धनः ॥४॥
मनस्तिरोधानकृतव्यग्रस्त्रीचित्तभावितः ।

॥ पुरुषोत्तमनामसहस्रे एकादशस्कन्धगतानि नामानि ॥
(१०१७-१०४३)

मुक्तिलीलाविहरणः मौशलव्याजसंहृतिः ।
श्रीभागवतधर्मादिबोधको भक्तिनीतिकृत् ॥१॥
उद्धवज्ञानदाता च पञ्चविंशतिधा गुरुः ।
आचारभक्तिमुक्त्यादिवक्ता शब्दोद्भवस्थितिः ॥२॥
हंसो धर्मप्रवक्ता च सनकाद्युपदेशकृत् ।
भक्तिसाधनवक्ता च योगसिद्धिप्रदायकः ॥३॥
नानाविभूतिवक्ता च शुद्धधर्मावबोधकः ।
मार्गत्रयविभेदात्मा नानाशङ्कानिवारकः ॥४॥
भिक्षुगीताप्रवक्ता च शुद्धसाङ्ख्यप्रवर्तकः ।
मनोगुणविशेषात्मा ज्ञापकोक्तपुरूरवाः ॥५॥
पूजाविधिप्रवक्ता च सर्वसिद्धान्तबोधकः ।
लघुस्वमार्गवक्ता च स्वस्थानगतिबोधकः ॥६॥
यादवाङ्गोपसंहर्ता सर्वाश्चर्यगतिक्रियः ॥

।। त्रिविधनामावल्यां गुणप्रकरणगतानि नामानि।।

वसुदेवज्ञानबोधकाय नमः[१] देवकीमनःपीडापनोदकाय नमः[२] देवादिभक्तशापादिदोषनाशकाय नमः[३] देवकीमृतापत्यदात्रे नमः[४] देवकीस्तनंधयाय नमः[५] भक्ताचिन्त्यसुखहेतवे नमः[६] सुभद्राविवाहहेतवे नमः[७] जनकादिज्ञानिमनोरथपूरकाय नमः[८] श्रुतदेवाद्युपासकसन्मार्गबोधकाय नमः[९] निखिलनिगमनिजजनसंस्तुताय नमः[१०] सर्वागम्यस्वरूपाय नमः[११] ऐश्वर्यादिषड्धर्मस्थापकाय नमः[१२] भक्तदुष्टवैभवनाशकाय नमः[१३] भक्तसंकटनिवारकाय नमः[१४] वृकादिदुष्टघातकाय नमः[१५] ब्रह्मशिवादिवन्दितचरणाय नमः[१६] सर्वोत्कर्षबोधकाय नमः[१७] विप्रमृतापत्यदात्रे नमः[१८] अर्जुनादिगर्वापहारकाय नमः[१९] नानाविलासविलसन्मुखाय नमः[२०] निखिलनिजजनप्रपञ्चविस्मारकाय नमः[२१].

इत्येवं राजलीलाया नाम्नामष्टोत्तरं शतम् ।
निरोधलीलामाश्रित्य भक्त्यै भक्तेन रूपितम् ।।
बाललीलानामपाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते ।
आसक्तिप्रौढलीलाया नाम्नां पाठाद् भविष्यति ।।
व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाविधानतः ।
तस्मान्नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीच्छुभिः सदा ।।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता त्रिविधनामावली सम्पूर्णा ।।



॥ दशमोत्तरार्ध-गुणप्रकरणनिबन्धः ॥

हरिणा केवलेनैव धर्मेणैवाखिलं कृतम् ।
इति संशयनाशाय गुणानां प्रक्रियोच्यते ॥१॥
निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि ।
तदा व्यर्थं समस्तं स्यादिति षड्गुणवर्णनम् ॥२॥
येनैतावत्कृतं सर्वं स कृष्णो भगवान् परः ।
इति दर्शयितुं षड्भिरध्यायैः षड्गुणान् जगौ ॥३॥
ऐश्वर्येण समग्रेण प्रथमं ज्ञानदो हरिः ।
पश्चाद् पुत्रप्रदश्चापि बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥४॥
ज्ञानेनान्तर आनन्दः पुत्रादिभ्यस्तथा बहिः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

अतः परम् एकपञ्चाशद्भिः गुणप्रकरणं विचारयन्तः प्रकरणप्रयोजनं त्रिभिराहुः **हरिणेत्यादिना**. ननु केवलधर्मिणा करणे को दोषो येन तच्छङ्का अपाक्रियते इत्यत आहुः **निर्धर्मक** इत्यादि. तथाच निर्धर्मकेन करणे सर्वस्य मायिकत्वापत्त्या वैयर्थ्यं, भिन्नरूपेण करणे मुख्यफलाभावेन सर्ववैयर्थ्यम् अतः तदुभयनिरासाय इयं प्रक्रियेत्यर्थः. तर्हि सधर्मकः कया विधयोच्यते इति शङ्कायाम् आरम्भे प्रकरणविभागे "अन्तर्याम्यधिदैवादि" (त.दी.नि. ३।१०।२२) इत्यादिना यदुक्तं तत् स्मारयन्तः तां विधामाहुः **येनेत्यादि**. एवं त्रिभिः प्रयोजनकथनेन प्रकरणस्य आवश्यकता निरूपिता ॥१-३॥

अतः परं प्रथमार्थमैश्वर्यं विविच्य विशदयन्ति **ऐश्वर्येणेत्यादि** सार्धैर्द्वादशभिः. अत्र प्रथमं वसुदेवस्तुतिः तत उपदेशः ततो देवकीप्रार्थनं ततः पुत्रानयनं ततः तत्प्रसङ्गपतितमुक्तं; तेन कथमैश्वर्यबोध इत्याकाङ्क्षायां कार्यद्वारेत्याहुः. **बाह्याभ्यन्तरभेदत** इत्यस्य **समग्रपदेनान्वयः**. कथमवगम्यत इत्यत आहुः **ज्ञानेनेत्यादि**. तथाच द्विविधानन्दस्य विभज्य दानेन तयोस्तस्य बोधनात् तथेत्यर्थः. तत्र ज्ञानदानेन ऐश्वर्यप्रकटनम् उपपादयन्ति **गुरुत्वमित्यादि**. अयमर्थः — कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हि ईश्वरः साधनं विनापि कर्तुं फलोपधानानुकूल-सामग्रीसत्तायामपि प्रतिबन्धं विरुद्धसाधनेन कर्तुं समर्थ इति तदर्थः. एतादृशत्वम् अत्र प्रकटीकर्तव्यम्. तत्र श्रीवसुदेवैः "यत्र येन"

पितृमातृविभेदेन वैदिकं लौकिकं तथा ॥५॥
ऐश्वर्यभक्तिसिद्ध्यर्थं प्रकटीकृतवान् हरिः ।
गुरुत्वं देवतात्वं वा न स्वीकृत्य सुतत्वतः ॥६॥
तदुक्तमेव निखिलं सर्वं ब्रह्मेति बोधितम् ।
क्वचित्तु ब्रह्मभावो हि खण्डज्ञानमिहोच्यते ॥७॥
लोकेऽधुना तदेवास्ते जीवेश्वरविभेदतः ।
मायाविनस्तु मन्यन्ते जीवमात्मानमीदृशम् ॥८॥
वसुदेवोक्तमखिलं वैष्णवाः पुरुषोत्तमम् ।
वस्तुतो यादृशं सर्वं तत्कृष्णेन निरूप्यते ॥९॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

(भाग.पुरा. १०।८२।४) इत्यादिना सर्वरूपत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं सर्वकारणत्वं सर्वनियामकत्वादिकं च भगवत उक्तम्. भगवता तु तदुक्तमङ्गीकृत्य स्वस्मिन् सुतत्वस्थापनपूर्वकं सर्वेषां तथात्वं नानात्वेऽपि एकत्वेन बोधितम्. तथाच न हि एकः साधनं विना नाना भवति, न वा नानात्वसामग्रीसत्तायामपि तद्रूपे विद्यमानेऽपि एकं सर्वं भवति, न चैवं विरुद्धसाधनेन अविरुद्धं सर्वं भवति —इत्यादि साक्षात्कारितम्. तदपि फलोपहितं येन श्रीवसुदेवस्य नानाधीविनाशः. तस्मात् समग्रैश्वर्यमेव ज्ञानरूपकार्येण बोध्यमित्यर्थः ॥४-६ १/२॥

तदेतद् विशदीकुर्वन्ति सार्धैश्चतुर्भिः **क्वचिदित्यादिभिः. क्वचिदिति** उपासनासुत्रेषु जैमिनीयेषु बोधायनवृत्तौ वेति प्रतिभाति, **ब्रह्मभाव** इत्यत्र 'ब्रह्मवाद' इति पाठश्च प्रतिभाति. तयोः सूत्रवृत्त्योः इदानीमप्रसिद्धत्वात् तादृशमतसत्तायां तदनुसारिमतप्रसिद्धिं प्रमाणयन्ति **लोक** इत्यादि. **लोक** इति मध्व-रामानुजयोर्मते यथायथं, तयोर्मते जीवेश्वरयोः अत्यन्तभेदस्य, शरीरशरीरिभावेन भेदघटिताभेदस्य च प्रतिपादनादित्यर्थः. मतान्तरमाहुः **मायाविन** इति, मायावादिन इत्यर्थः ॥७-८॥

तृतीयं पञ्चरात्रमतमाहुः **वसुदेवे**त्यादि. एवं मतान्तराण्यनूद्य भगवन्मतस्वरूपमाहुः **वस्तुत** इत्यादि. वसुदेवैः यादृक्त्वं भगवतः प्रतिपादितं; भगवता तत् सर्वं स्वस्मिन्नङ्गीकृत्य "सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृष्याः सचराचरम्" (भाग.पुरा. १०।८२।२३) इति स्वातिदेशेन सर्वस्य तथात्वमुक्तम्.

अतिदेशप्रकारेण स्थापितं चापि वैष्णवम् ।
दृष्टान्तार्थं यतः साधुर्जीवोऽप्येतेन सिद्ध्यति ॥१०॥
एतेन सर्ववेदानामर्थो ज्ञानाधिकारतः ।
प्रच्युतानामीश्वरत्वबलादेव निरूपितः ॥११॥
गुरुपुत्र इवात्रापि कालग्रस्ता विमोचिताः ।
षडेते षड्गुणत्वाय देवकीसुतदेहिनः ॥१२॥
समानत्वनिवृत्त्यर्थं स्नेहस्तस्यास्तु वर्ण्यते ।
नन्दादिवदिदानीं हि देवक्यपि पुरा स्थिता ॥१३॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तेनोभयव्यपदेशन्यायेन भेदाभेद उक्तो भवति इति वस्तुस्थित्या ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते. किंच **अतिदेशेनैव** प्रकृतिविकृतिभावस्यापि सूचनाद् **वैष्णवं** मतम् आधिदैविकवादरूपम् **अपि स्थापितम्**. तस्य प्रयोजनं दृष्टान्तसिद्धिः. **यतो** हेतोर**तेन** दृष्टान्तेन **जीवोऽपि साधुः सिद्ध्यति** ईश्वरात्मकः सिद्ध्यति. तेन सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि ब्रह्म अखण्डमिति भगवन्मतस्वरूपमित्यर्थः ॥९-१०॥

एतेन ऐश्वर्यसिद्धिमाहुः **एतेनेत्यादि. अर्थ** इति अर्थज्ञानम्. एवं सार्धैश्चतुर्भिः अनधिकारेऽपि ज्ञानदानं ''तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहाद्'' इति न्यायेन बोधितं, तेन समग्रैश्वर्यं साधितम्. क्रियया तद्वत्त्वं साधयन्ति **गुरुपुत्र** इत्यादि. **समानत्वनिवृत्त्यर्थमिति**, सर्वेषां तुल्यवयस्कत्व-निवृत्त्यर्थमित्यर्थः. तथाच कालग्रस्तानां स्वस्पर्शमात्रेण आत्मदर्शनोत्पादनरूप-विमोचनक्रियया जन्मान्तरमन्तरेणैव तद्देहस्य आसुरयोनिनिवृत्तिपूर्वकं मातृस्नेहो-त्पादक-यथावस्थितपूर्वरूप-सम्पादनक्रियया च समग्रैश्वर्यं बोधितम् ॥११-१२ १/२॥

अतः परं प्रासङ्गिकं विचारयन्ति. ननु भगवान् एकादशवर्षो व्रजादागत, इदानीं च बृहद्वया इति उभयथापि स्तनपानासम्भवात् पीतशेषत्वकथनं कथं संगच्छत इत्यत आहुः **नन्दादिवदित्यादि. हि** यतो हेतो**रिदानीं नन्दादिवत्** कुरुक्षेत्रस्थदर्शन-जन्यदशायां यथा नन्दादयः निरोधपूर्णा जाताः तथा **देवक्यपि पुरा** पूर्वकाले निरोधपूर्णा **स्थिता** अतस्तथेति तथोक्तं सुखेन संगच्छत इत्यर्थः ॥१३॥

अतः स्नेहदशायां हि स्तन्यं नित्यं हरिः पपौ ।
पीतशेषमतः प्रोक्तं वैष्णवत्वाय मुक्तये ॥१४॥
प्राकृतत्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गमे ।
उच्छिष्टभोजिनो मायां तरन्त्येव न संशयः ॥१५॥
एवमैश्वर्यचरितमेकेन विनिरूपितम् ।
ततो वीर्यकथां प्राह तथैवैकेन सा त्रिधा ॥१६॥
एतेषां सङ्गतिः षण्णां न परस्परमुच्यते ।
गुणत्वाय कथापक्षः पूर्वमेव निवारितः ॥१७॥
बुद्धिवीर्यं क्रियावीर्यं क्रिया च द्विविधा मता ।
सिद्धमात्मानमेकं हि द्विरूपं कुरुते यतः ॥१८॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

ननु एवं सति तदैवमुक्तं स्यात् नात्र इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **प्राकृतत्वेत्यादि**. अर्थस्त्वतिरोहितः. एवं सार्धद्वादशभिः प्रथमाध्यायो विचारितः ॥१४-१५ १/२॥

द्वितीयं वीर्याध्यायं विचारयन्ति षोडशभिः **ततो वीर्येत्यादिभिः**. ननु तर्हि कथाद्वयं कुतः इत्यपेक्षायामाहुः **तथैवेति**. यथा पूर्वाध्याये ऐश्वर्यं कथाद्वयेन द्विविधमुक्तं तथा वीर्यमपीत्यर्थः. नन्वत्र राज्ञः प्रश्नात् सुभद्राविवाह उच्यत इति कथामात्रतैवोचिता, नतु वीर्यबोधकत्वमपि इत्याशङ्कायामाहुः **कथापक्ष** इत्यादि. **पूर्वमिति** प्रथमस्कन्धविमर्शे "कथामात्रम्" (त.दी.नि. ३।१।१५) इत्यादिभिः त्रिभिः समाध्युपलब्धत्वविचारे. तथाच न वीर्यबोधकत्वहानिरित्यर्थः. त्रैविध्यं विभजन्ति **बुद्धीत्यादि**. द्वैविध्यं मैथिलकथायां

निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

षट्त्रिंशाध्याये द्व्यशीतितमे वा पीतशेषत्वोपपादने **नन्दादिवद्** इत्यादि. इदानीं कृष्णस्य मथुरायां द्वारकायां च स्थितिसमये नन्दादीनां विरहदशा अस्ति. तद्दशायां परमस्नेहोद्रेकेण यदा बाह्यप्रपञ्चम् अननुसन्धाय अन्तर्मुखा कृष्णैकनिष्ठा भवन्ति ते नन्दादयः तदा भगवान् अपि प्रकटो भवति, सर्वां च लीलां दर्शन-स्पर्शनादि-व्यवहारविषयो भूत्वा करोति. तद्वत् पुरा भगवतो व्रजस्थितिसमये **देवक्यपि** विरहदशां प्राप्य स्थिता आसीत्. तदा परमस्नेहोद्रेकेण अन्तर्मुखत्वे भगवान् अपि प्रकटो भूत्वा **नित्यं स्तन्यं पपौ** अतः पीतशेषत्वम्. अस्य पक्षस्य केवलभावुकवेद्यत्वात् सर्वलोकवेद्यं पक्षान्तरम् आहुः **प्राकृतत्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गमे** इति ॥१३-१४॥

अतर्क्यभावमापन्नस्तथान्येषां च तान् प्रति ।
मायाविवाहे भगवान् बुद्धिवीर्यं चकार ह ॥१९॥
माया तु त्रिविधा प्रोक्ता शक्तिर्वै वासुदेवगा ।
अधिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि ॥२०॥
मायावती तु कामस्य द्वितीया विनिरूपिता ।
दैविकी त्वियमाख्याता पतिस्तस्याः स्वयं हरिः ॥२१॥
ईश्वरत्वात्तु दासी सा कन्यैव भवितुं क्षमा ।
सा पुनर्देवकीमोहात् तस्यां जाता निजेच्छया ॥२२॥
तस्या भोक्ता न वै जीवो भगवान् पुरुषोत्तमः ।
सम्बन्धान्नैव भोक्ता स्यात् लोकदोषान्न कन्यका ॥२३॥
सर्वदा स्थातुमुचिता वेदस्तस्या न युज्यते ।
अतो विवाहः कठिनो लोकोऽप्यत्र न दुष्यति ॥२४॥
अत आवेशिनं कृष्णं वरं प्राव्रजिनं तथा ।
वेषात् पाषण्डिनं कृत्वा चौर्येणैतां ददौ हरिः ॥२५॥
बलस्तु मूलवार्तां हि गृहे गुप्तांशसंयुतः ।
न जानाति ततः क्रुद्धः कृष्णेन च निवारितः ॥२६॥
एतद् बुद्धिबलं प्रोक्तं येन लोकेऽपि सम्मतिः ।
जनकः श्रुतदेवश्च भगवद्वीर्यबोधकौ ॥२७॥
प्रार्थनां चक्रतुरतो द्विरूपोऽभूत् तदिच्छया ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

सेत्स्यतीत्याशयेनाहुः **सिद्धमित्यादि**. **अन्येषामिति** मुनीनाम्. **तान् प्रतीति** मैथिलान् प्रति. बुद्धिवीर्यं व्युत्पादयन्ति **मायेत्यादि**. **मायाविवाह** इति मायाया विवाहे. सुभद्राया मायात्वादिकं व्युत्पादयन्ति **माया त्वित्यादि** ॥१६-२१॥

आधिदैविक्याः कुत उत्पत्तिरित्यत आहुः **देवकीमोहादिति**, "उपगुह्यात्मजामेवम्" (भाग.पुरा. १०।४।७) इत्यत्रोक्तात् मोहात्. **न युज्यत** इति, श्रुतिगीते हन्तव्येन प्रार्थनात् नानुकूलो भवतीत्यर्थः. **गुप्तांशसंयुत** इत्यत्र 'गुप्तामसंयुत' इति पाठः प्रतिभाति. जनक-श्रुतदेवयोः क्रियावीर्यबोधकत्वं व्युत्पादयन्ति **प्रार्थनामित्यादिना**. **अत** इति, प्रार्थनातः हरिरिति शेषः.

मुनीनां च द्विरूपत्वं तेषां स्मृत्या च सम्मतम् ॥२८॥
न च ते द्विविधा जाता नापि कृष्णस्तथाऽभवत् ।
किन्तु कृष्णेच्छया जातास्तेषां चाप्यत्र विस्मयः ॥२९॥
अतः क्रियाबलं प्रोक्तं यथा स्वप्ने तथाऽभवत् ।
एकत्रावस्थितः कालमन्यत्रैकं दिनं तथा ॥३०॥
अग्रे कालद्वयं तुल्यं तेन सर्वस्य विस्मयः ।
एतदर्थं तु मुनयः सह नीताः स्वपौरुषम् ॥३१॥
प्रदर्शिता यतः सर्वे तद्वाक्याद् वीर्यवेदिनः ।
श्रुतिगीता यशः प्राह सर्वसन्देहवारिका ॥३२॥
लौकिकं चेद् युक्तिसिद्धं कर्तृत्वादि भवेद्धरेः ।
अलौकिकस्य करणाद् यशोजातमलौकिकम् ॥३३॥
अष्टाविंशतितत्त्वानि यथारूपे हरीच्छया ।
तथैव नाम्नि यशसि तावत्यः श्रुतयो मताः ॥३४॥
तस्मात् सन्देहनिर्धारो मनसश्च निवेशनम् ।
निर्गुणे भगवद्रूपे वेदैरेवेति निश्चयः ॥३५॥
श्रीशक्तेरग्रिमाध्यायस्तत्रैवं निर्णयः कृतः ।
हरिरेव स्वयं भुङ्क्ते श्रियं नान्यस्तु कश्चन ॥३६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तदिच्छयेति भगवदिच्छया. **स्मृत्या च सम्मतमिति**, "गौतमो वृद्धगौतम" इत्यादिप्रसिद्ध्येति च प्रतिभाति. **तथाऽभवदिति**, सत्यत्वेऽपि तथाऽभवदित्यर्थः. अतः "कृत्वा तावन्तमात्मानं", "तावन्ति बिभ्रद् रूपाणि" इतिवत् रूपकरण-भरणयोः अनुक्तत्वाद् एकेनैव रूपेण परिच्छिन्नेन एककालिक-भिन्नदैशिक-कार्यकरणं क्रियावीर्यबोधकं सिद्ध्यति ॥२२-२९ १/२॥

कालमिति, "दिनानि कतिचिद् भूमन्" (भाग.पुरा. १०।८३।३६) इत्युक्तं बहुदिनात्मकं कालम्. एवं षोडशभिः वीर्याध्यायो विचारितः ॥३०-३१ १/२॥

सार्धैस्त्रिभिः यशोध्यायं विचारयन्ति **श्रुतिगीतेत्यादि**. **लौकिकमित्यादि**, **लौकिकं चेद् भवेद् युक्तिसिद्धं भवेदित्यन्वयः**. शेषं स्फुटम् ॥३२-३५॥

सार्धैस्त्रिभिरग्रेऽध्यायं विचारयन्ति **श्रीशक्तेरित्यादि**. **तदिति** दुःखे

यस्तु मोहात् क्वचिद् भुङ्क्ते तं दुःखे पातयत्यजः ।
भक्तस्य तन्न युक्तं हि तस्मात् तां विनिवारयेत् ॥३७॥
अन्ये देवाः श्रियं दत्वा तथान्यानपि वै वरान् ।
स्वयं संकटमायान्ति तस्माच्छ्रीर्नैव युज्यते ॥३८॥
शाकुनेयकथा प्रोक्ता तदर्थं हरसंकटे ।
ततः परं तु ज्ञानस्य निर्णयो हरिमेधसः ॥३९॥
क्षमा तस्योत्तमं लिङ्गं कृष्ण एव प्रतिष्ठिता ।
तस्या निर्णयसिद्ध्यर्थं भृगूपाख्यानमुच्यते ॥४०॥
तथा ब्राह्मणवार्तापि सर्वयादवसन्निधौ ।
क्षमा कृष्णे परा प्रोक्ता समर्थे ज्ञानसम्भवे ॥४१॥
उपदेशेऽपि नान्यस्य ज्ञानमस्तीति बोधितम् ।
अर्जुनस्य कथा प्रोक्ता सर्वगीतार्थवेदिनः ॥४२॥
अतः परं तु वैराग्यं कथाध्याये निरूप्यते ।
तेनैव पूर्णतां याति निरोधः सकलोऽपि हि ॥४३॥
कृष्णे विरक्तः किं वाच्यं तत्सम्बन्धात् स्त्रियोऽपि हि ।
कामैकरसपूर्णाश्च विरक्ताः सर्वथा मताः ॥४४॥
एतावदर्थनिर्धारे कथा यावत्य ईरिताः ।
तासां चात्रोपसंहारः क्रीडया विनिरूप्यते ॥४५॥
एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वरः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

पातनम्. **नैव युज्यत** इति, अन्यदत्ता न युज्यते इत्यर्थः ॥३६-३८ १/२॥

ज्ञानाध्यायं विचारयन्ति सार्धैस्त्रिभिः **ततः परं** त्वित्यादि. **प्रोक्तेति** तदर्थं प्रोक्ता. स्फुटमन्यत् ॥३९-४२॥

सप्तभिर्वैराग्याध्यायं विचारयन्ति **अतः परमि**त्यादिभिः. स्कन्धसमाप्तौ वैराग्यनिरूपणप्रयोजनमाहुः **तेनैवे**ति, इतरनैरपेक्ष्येण. नन्वत्र कथं भगवद्वैराग्य-बोधः इत्यत आहुः **कृष्ण** इत्यादि. अत्र वैराग्ये निरूप्ये क्रीडानिरूपणस्य किं प्रयोजनमत आहुः **एतावदि**त्यादि. **एतावदर्थनिर्धार** इति, करणात्मक-व्यापारात्मक-फलात्मक-निरोधस्य सपरिकरस्य निर्धारे. तथाच निरोधोपसंहारं बोधयितुं तदुक्तिरित्यर्थः. ननु संसारनिवृत्तौ किं गमकमित्यत

क्रीडायां प्राप्तसंसारः स्त्रीणामपि निवार्यते ॥४६॥
कुरर्यादिदशार्थास्तु निर्गुणेन युता गुणाः ।
महिषीहृदयापन्नाः सन्देहं वारयन्ति हि ॥४७॥
मनसा तु तिरोधानाद् विह्वलास्ता निरूपिताः ।
तेन कृष्णार्थता प्रोक्ता तासां सर्वक्रियासु हि ॥४८॥
स्कन्धार्थस्तु निरोधो हि ततस्तेनोपसंहृतिः ।
अग्रेऽपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात् तेऽपि तादृशाः ॥४९॥
प्रकरणमिह पूर्यतेऽनवद्यं त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानाम् ।
निजपदसमवाप्तये च नित्यं निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम् ॥५०॥

॥ इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे दशमस्कन्धान्तर्गत-गुणप्रकरणविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

आहुः **कुररीत्यादि.** **सन्देहमिति** संसारसन्देहम्; यदि संसारः स्याद्, एवं भगवदासक्ता न स्युः. आसक्तौ गमकमाहुः **मनसेत्यादि** ॥४३-४८॥

समाप्त्यध्याय एतन्निरूपणप्रयोजनमाहुः **स्कन्धार्थ** इति. उपसंहारप्रकारसूचितमर्थमाहुः **अग्रेऽपीत्यादि.** **त्रयमिति** इतः प्राक्तनं प्रकरणत्रयम्. **विश्वजयायेति,** "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इति श्रुत्युक्तविश्वमायानिवृत्तये ॥४९-५०॥

॥ इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य दर्शिता दशमस्कन्धान्तर्गत-गुणप्रकरणयोजना सम्पूर्णा ॥

निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

उत्तरार्धे अष्टत्रिंशेऽध्याये चतुरशीतितमे वा वेदस्तुतौ श्रुतीनां ब्रह्मपरत्वनिर्णयः. तत्राष्टाविंशतितत्त्वनिरूपिकाणां श्रुतीनामत्रत्यैः वाक्यशेषरूपैः अष्टाविंशतिभिः श्लोकैः निर्णयः — इत्थं ब्रह्मपरत्वमिति. प्राथमिकानां चतुर्णां श्लोकानां तु प्रकृति-पुरुषाहङ्कार-महत्तत्त्व-प्रतिपादक-श्रुतिनिर्णायकत्वं सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैरेव स्फुटं निरूपितम्, अनेन न्यायेनाग्रेऽपि ज्ञेयमिति सूचितं च. परं स्फुटं नोक्तमिति आधुनिकानां बुद्ध्यारूढं न भवतीति गुरुचरणप्रसादाद् यथामतिभातं लिख्यते.

तत्र "उदरमुपासत" इत्यनेन आकाशप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — आकाशशरीरस्य ब्रह्मण उपासना कर्म-योगादिभ्यः श्रेष्ठा, कर्म-योगयोः उदर-हृदयरूपत्वेन अधःस्थितत्वात् तस्य शिरोरूपत्वेन ऊर्ध्वस्थितत्वात्, साक्षाद्भगवद्धामत्वेन कृतान्तमुखे पातनिवर्तकत्वादिति. पद्यं ५ तत्त्वं ५

"स्वकृतविचित्रे"त्यनेन तेजःप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — विरजबुद्धीनां त्यक्तव्यवहाराणां

सर्वत्र स्थितो भगवान् अग्निवद् एकरसत्वात् समानप्रीतिदायक इति. पद्यं ६ तत्त्वं ६

"स्वकृतपुरेष्वि"त्यनेन वायुतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, ताः श्रुतयो वायुवद् जीवस्य विषमं प्रवेशं ज्ञापयित्वा तदर्थिनो जीवस्य भगवद्भजनं साधयन्तीति. पद्यं ७ तत्त्वं ७

"दुरवगमात्मे"त्यनेन जलतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— यथा मेघादिजलस्य सर्वानन्ददायकत्वम् एवं भगवच्चरितामृताब्धेरपीति. पद्यं ८ तत्त्वं ८

"त्वदनुपथमि"त्यनेन भूततत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— भूकार्यभूतानि शरीराणि भगवद्भजने अनुगुणत्वात् न बाधकानि किन्तु तदभिमानः, तदभिमानवतां दुष्टानां सङ्गः, तन्निष्ठानि दुष्टानि इन्द्रियाणि चेति. पद्यं ९ तत्त्वं ९

"निभृतमरुन्मनोक्षे"त्यनेन मनस्तत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— भगवच्चरणे प्रविष्टं दृढं मन एव भगवत्प्रीतिसाधनं, नतु प्रकारविशेषः प्रयोजक इति. पद्यं १० तत्त्वं १०

"क इह न्वि"त्यनेन चक्षुस्तत्त्वप्रतिपादकश्रुतीनां निर्णयः — भगवद्भजनेन भगवदावेशसहितान्येव चक्षूंषि भगवद्दर्शनसाधनानि, न केवलानीति. पद्यं ११ तत्त्वं ११

"जनिमसत" इत्यनेन श्रोत्रतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— ज्ञानैकघनपरब्रह्मप्रोक्ताद् वेदाद् भिन्नानि मतानि श्रावयित्वा जीवं भगवद्विमुखमपि करोति अतः सावधानतया स्थेयमिति. पद्यं १२ तत्त्वं १२

"सदिव मन" इत्यनेन त्वगिन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— त्वगिन्द्रियं हि परमार्थपर्यवसायि यथार्थवस्तुग्राहि स्वदृष्टान्तेन आत्मविदामनुभवस्यापि परमार्थपर्यवसायित्वं स्थापयति, दोषास्तु पश्चाद् अन्यकल्पिता एवेति. पद्यं १३ तत्त्वं १३

"तव परि य" इत्यनेन हस्तेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. तद्धि येषां सर्वात्मभावेन भगवत्परिचर्यायां व्यापृतं तेषां सर्वत्र जय एव, नतु कुतोऽपि पराजय इति. पद्यं १४ तत्त्वं १४

"त्वमकरण" इत्यनेनैव रसनेन्द्रिय-वागिन्द्रियोभयप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— स्थानैक्यात् रसनेन्द्रियं भगवद्भोगावशिष्टं चेद् भुङ्क्ते तदा स्वयं पूतं सत् स्वसम्बन्धिनं जीवमपि पुनाति, वागिन्द्रियं च भगवद्गुणगानपरं तथा इति अर्थाद् ज्ञेयम्. भगवन्निष्ठं तु भगवदंशरूपानधिकारिणः स्वस्वाधिकारे प्रवर्तयन् सर्वेषां भयेन भगवदाज्ञाधीनत्वं ज्ञापयतीति. पद्यं १५ तत्त्वे १५-१६

"स्थिरचरजातय" इत्यनेन गुदेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— गुदेन्द्रियं हि देहांशं मलं देहात् पृथक्कृत्य सदोषं करोति, नतु देहस्थितम्; तद्वत् भगवतः पृथग्भूता एव दोषभाजो भवन्ति, नतु भगवत्सम्बद्धा इति. पद्यं १६ तत्त्वं १७

"अपरिमिता ध्रुवा" इत्यनेन गन्धतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— तद्धि द्रव्याधिकदेशवृत्तित्वात् स्वदृष्टान्तेन चैतन्यगुणकं जीवमणुं बोधयित्वा तस्य भगवन्नियम्यतां ज्ञापयतीति. पद्यं १७ तत्त्वं १८

"न घटत उद्भव" इत्यनेन उपस्थेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— तद्धि उभययोगेन सर्वोत्पादकं तद्वद् भगवानपि प्रकृतिपुरुषसंयोगेन सर्वोत्पादक इति ज्ञापयतीति. पद्यं १८ तत्त्वं १९

"नृषु तवे"त्यनेन चरणेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — तद्धि सुबुद्ध्या भगवत्समीपगमने व्यापृतं जीवस्य संसारपरिभ्रमणादि-सर्वदुःखनिवारकं, दुर्बुद्ध्या अन्यत्र व्यापृतं जीवस्य सर्वदुःखहेतुरिति. पद्यं १९ तत्त्वं २०

"विजीतहृषीक" इत्यनेन स्पर्शतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — स्पर्शसुखप्रधाने संसारसिन्धौ वर्तमानाः परमार्थसुखहेतुं गुरुचरणस्पर्शं विहाय योगादिसाधनैरपि यतमाना विघ्नविहता मरणान्तदुःखहेतुमेव स्पर्शं लभन्ते, नतु सुखहेतुमिति. पद्यं २० तत्त्वं २१

"स्वजनसुते"त्यनेन रसतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — स्वजनादीनां जीवनसम्पादकत्वाद् जीवतस्तु अदनम् आवश्यकमिति लौकिको रसनेन्द्रियैकवेद्यो मधुरादिरसो अनुभवकाले सुखं च अनुभावयन्नपि परिणामे प्रायो दुःखहेतुरपि भवति, भगवद्रसस्तु सर्वेन्द्रियवेद्यो अविरतं सुखहेतुरेवेति. पद्यं २१ तत्त्वं २२

"भुवि पुरुपुण्य" इत्यनेन घ्राणेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. घ्राणेन्द्रियं हि गुप्तमपि स्वसुखहेतु-वस्तु स्वग्राह्यगुणेन जानाति, पश्चात् तत् तल्लग्नं कमले भ्रमर इव ततो न निवर्तते. एवं घ्राणसदृशबुद्धयो नराः कीर्तिगन्धेन अनुभावेन च तीर्थर्ष्यादिषु गुप्तभगवन्तं ज्ञात्वा तल्लग्नाः तत्सुखमनुभूय न ततो निवर्तन्ते, नान्यं वाञ्छन्तीति. पद्यं २२ तत्त्वं २३

"सत इदमुत्थितमि"त्यनेन शब्दतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. शब्दतन्मात्रं हि ध्वन्यात्मकम् अर्थरहितम् अनुभवकाले क्वचिद् गानादौ किञ्चित् सुखं ददाति, नतु परमार्थे. तद्वत् वेद-भगवन्मतविरुद्धानि सर्वमतानि कुतर्कबहुलानि आपातसुखजनकान्यपि ध्वनिवत् परमार्थशून्यानि न भगवत्पदप्रापकानीति. पद्यं २३ तत्त्वं २४

"न यदिदमग्र" इत्यनेन रूपतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. रूपतन्मात्रं हि द्रव्याकृतिरूपं कारणात् कार्यस्य भेदं बोधयित्वा भ्रान्तिहेतुः भवति. एवं जगन्निष्ठान् अखिलान् पदार्थान् कारणाद् ब्रह्मणो भिन्नान् बोधयित्वा भ्रान्तिजनकम्. अतो न रूपात्मकाकृतिज्ञाताः पदार्थाः सत्यत्वेन (भिन्ना) ज्ञेयाः किन्तु वेदादिशब्दबोधिता (अभिन्ना) एवेति. पद्यं २४ तत्त्वं २५

"स यदजये"त्यनेन तमोगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. तमो हि अज्ञानरूपं प्रलयहेतुः. तद्धि जीवेषु संसृष्टं स्वरूपाज्ञानं सम्पाद्य जडभावं प्रापयित्वा सर्वसुखनाशं कृत्वा अन्ते तेभ्यो मृत्युमपि प्रयच्छति. अतः सुधिया सत्सङ्गेन सत्त्वसेवनपूर्वकं निर्गुणप्रभुचरणोपसरणेन च तन्निवृत्त्यर्थं यतितव्यमिति. पद्यं २५ तत्त्वं २६

"यदि न समुद्धरन्ती"त्यनेन रजोगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. रजो विक्षेपकम् इष्टविस्मरणहेतुः, अत इष्टालाभजदुःखजनकं तदन्वेषणादि-बहुक्लेशदायकं च. अतस्तन्निवृत्त्यर्थमपि सत्सङ्गादिना सुधिया यतितव्यम्. अत्र गद्ये अनिवृत्तरजोगुणानां कामजटोद्धृतिरहितानां निर्व्यलीकं यतिधर्ममाचरतां चेत् पूर्वार्धोक्तव्यवस्था तदा किमु वक्तव्यम् उत्तरार्धोक्तानां प्राणपोषकयतीनाम् उत्तरार्धोक्तव्यवस्थायामिति! पद्यं २६ तत्त्वं २७

"त्वदवगमी"त्यनेन सत्त्वगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. अत्र "त्वदवगमी"तिकथनेन यादृशं तमोरजोभ्याम् असम्भिन्नं भगवत्प्रमितिजनकं तादृशं सत्त्वमुच्यते. तादृशे सत्त्वे सम्पन्ने भगवदनुभवजनितानन्दात् सततश्रवणादि-जनितानन्दाच्च अन्यसांसारिकसंसर्गाभावात् न कदाचिदपि दुःखं किन्तु निरन्तरं परमं सुखमेवेति. पद्यं २७ तत्त्वं २८

"द्युपतय" इत्यनेन सत्त्वस्य निर्गुणतापर्यवसायित्वनिर्णयः — सत्त्ववृद्ध्या भगवदनुभवे जाते निरन्तरं भगवत्सेवनेन श्रवणादिना च अगणित-तदानन्दोद्रेकात् सत्त्वस्यापि निवृत्तौ पूर्णानन्द एव अवशिष्यत इति. पद्यं २८. इति श्रुतिगीताया निबन्धकठिनांशविवेचनम् ॥

॥ एकादशस्कन्धनिबन्धः ॥

सप्ताशीत्या तथाध्यायैर्निरोधो दशमे त्रिधा ।
तामसादिविभेदेन भौतिकादिविभेदतः ॥१॥
अथैकत्रिंशताध्यायैर्मुक्तिरेकादशे स्फुटा ।
जीवेशयोर्द्विधा भेदाच्चतुर्धाऽपि निरूप्यते ॥२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

। श्रीबालकृष्णाय नमः । अथैकादशस्कन्धार्थं निबध्नन्तः सङ्गतिबोधनाय सर्वस्कन्धार्थमनुवदन्ति सप्तेत्यादि. तथाच दशमस्कन्धे त्रिविधानामाभीक्ष्ण्येन यन्निरोधकथनं तद् एकैकस्याधिभौतिकादिभेदेन त्रिविधनिरोधबोधनार्थम्. तेन तादृशनिरोधे जाते ततः स्वरूपावस्थानं, नतु न्यूने, अतस्तथा कार्यकारणाभावोऽत्र सङ्गतिरित्यर्थः ॥१॥

एवं सङ्गतिं बोधयित्वा प्रस्तुतं स्कन्धार्थं निरूपयन्त एकदेशे तत्प्रतिपादनव्यावृत्त्यर्थम् अध्यायसङ्ख्याकथनपूर्वकं, विशेषलक्षणत्वबोधनाय नामनिर्देशपूर्वकं च, आहुः अथेत्यादि. सङ्ख्यातात्पर्यं द्वितीयसुबोधिन्यां मुक्तिलक्षणव्याख्याने उक्तम्. 'अन्यथारूपं' तत्त्वरूपं तस्य परित्यागः. स्वरूपमेकम्, अवस्था द्विविधा, तत्त्वान्यष्टाविंशतिः —एवमेकत्रिंशद् भेदा भवन्तीति. "हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्या कर्मकारकः यं चानुशायिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे" इति द्वादशे स्कन्धे महापुराणसामान्यं नवमं लक्षणं लक्षितम्. तदर्थस्तु— 'अस्य' जगतः 'सर्गादेः अविद्या'कृतजीवाऽदृष्टजन्यतया तत्कर्मकर्ता 'जीवो हेतुरि'त्युच्यते. तं हेतुं केचन चैतन्यप्राधान्येन 'अनुशायिनमाहुः, अपर' उपाधिप्राधान्येन 'अव्याकृतमाहुः' इति. तथाच हेतुस्वरूपं जीव इति सिद्धम्. जीवस्तु "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु, भागो जीवः स विज्ञेय" इत्यादिश्रुतौ उत्क्रान्तिपादे च केवलचिदंशरूपः सिद्धः. "एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम्, एष चेतनया युक्तो 'जीव' इत्यभिधीयत" इति चतुर्थस्कन्धीय-नारदवाक्ये उपाधिसहितः सिद्धः. अत्रापि मतभेदेन द्विधोक्तः. एकादशेऽपि भगवद्वाक्येषु "जीवो जीवेन निर्मुक्तो गुणैः स्वाशयसम्भवैः" इत्यत्र तथाङ्गीकृतः. तत्र प्रकृते "मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" इतिलक्षणात् केवलो विवक्षित इति चैतन्यप्राधान्येन सोऽपि ब्रह्मात्मक इति ब्रह्मैव जगन्मूलकारणमिति

जीवमुक्तिर्द्विधा प्रोक्ता सायुज्याद् ब्रह्मभावतः ।
ब्रह्मणोऽपि द्विधा ज्ञेया नाट्यत्यागात् स्वकात् स्वतः ॥३॥
आद्या पञ्चभिरध्यायैर्द्वितीया तत्त्वसम्मितैः ।
एकैकेन तथा शिष्टावभिनेयौ परं यतः ॥४॥
विद्यया प्रथमा मुक्तिः प्रकृतेस्त्यागतः परा ।
ज्ञानेन पूर्वा भक्त्याऽन्या प्रथमे दश बोधकाः ॥५॥
गुणनिर्गुणभेदेन द्वितीये भगवान् परः ।
ब्राह्मणश्च तथा हंसो भीष्मो भिक्षुः पुरूरवाः ॥६॥
पञ्चाऽन्ये भगवाँश्चापि द्विरूपः सप्त बोधकाः ।
ऐश्वर्यादियुतः कृष्णः पूर्णो बोधक ईर्यते ॥७॥
नारदो निर्गुणस्तत्र कविप्रभृतयः परे ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

मुक्तिर्हेतुविशेषत्वेन एकादशे स्फुटा, नतु जीवत्वेन. हेतोर्द्विरूपत्वाद् अत्रोक्तरीत्या **चतुर्धा निरूप्यत** इत्यर्थः. एतेन प्रकरणविभागोऽप्युक्तः ॥२॥

चातुर्विध्यं स्फुटीकुर्वन्ति जीवेत्यादि. **सायुज्याद् ब्रह्मभावत** इत्यत्र क्रमो न विवक्षितः, एकादशीयसुबोधिन्याम् उपपत्त्या तथोक्तत्वात्. **स्वकादिति** नाट्यत्यागस्य विशेषणम्. **स्वत** इति नित्यमुक्तस्वभावत्वात् ॥३॥

प्रकरणद्वयेऽपि अध्यायान् विभजन्ते **आद्येत्यादि. आद्या** ब्रह्मभावरूपाः **द्वितीया** सायुज्यरूपा. **तत्त्वसम्मितैरिति** चतुर्विंशतिभिः. ननु तर्हि शिष्टयोर्द्वयोः किं प्रयोजनमत आहुः **एकैकेनेत्यादि. शिष्टौ** ममताहन्तानाशौ **एकैकेनाभिनेय**-वतोऽभिनयः प्रयोजनमित्यर्थः. स्वतो मुक्तिस्तु "राजन् परस्य तनुभृत्या"दिश्लो-कत्रयेण ज्ञेया. तथाच अध्यायद्वयं ब्रह्ममुक्तिबोधकमित्यर्थः ॥४॥

प्राकरणिकाध्यायसङ्ख्याबीजमाहुः **विद्ययेत्यादि.** तयोर्यथायथं साधने आहुः **ज्ञानेन पूर्वा भक्त्यान्येति.** वक्तॄनाहुः **प्रथम** इति ज्ञाने. **द्वितीय** इति भक्तिरूपे साधने. द्वितीये षड्वक्तार इति भ्रमं वारयन्ति **पञ्चेत्यादि. द्विरूप** इति, मूलरूपोऽवताररूपश्चेत्यर्थः. सप्तत्वप्रयोजनमाहुः **ऐश्वर्येत्यादि** ॥५-७॥

प्राथमिकानां दशानां प्रयोजनमाहुः **नारद** इत्यादि. **विद्यया प्रथमेत्यत्रोक्ताया** विद्यायाः पञ्चाङ्गानि बोधयितुं पञ्चाध्याया इति तदर्थानाहुः

वैराग्यं भगवद्धर्माः सर्वनिर्णय एव च ॥८॥
नित्यं कथायाः श्रवणं पूजा चेत्यङ्गपञ्चकम् ।
अभिप्रायात्तु वैराग्यं पूर्वत्राङ्गं निरूपितम् ॥९॥
प्रक्रिया बोधिका ज्ञेया शेषयोर्बीजभावतः ।
द्वितीयस्य तु मुख्याङ्गं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१०॥
चतुर्मूर्तिर्हरिः प्रोक्तस्त्रयाणां पूर्वमीरितम् ।
सङ्कर्षणस्य चरितमत्र स्पष्टं निरूप्यते ॥११॥
ज्ञानशक्तिस्तस्य मुख्या वासुदेवस्तु मोक्षदः ।
अर्थकामौ द्वितीयस्तु धर्मं यच्छति मध्यमः ॥१२॥
उपदेष्टा क्रियायां च निर्दोषत्वाय युक्तितः ।
अक्लिष्टकर्मा कालादेस्तथोपायं करोति हि ॥१३॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

वैराग्यमित्यादि. ननु प्रथमेऽध्याये यदुकुलशापमात्रमुच्यत इति कथं तत्र वैराग्यबोधकतेत्यत आहुः **अभिप्राया**दित्यादि. **शेषयोः** ज्ञानाङ्गभूतयोः अहन्ताममतानाशयोः **बीजभावतो** वैराग्यस्य बीजभूतत्वेन **पूर्वत्रा**ध्याये **अभिप्रायाद् वैराग्यम् अङ्गं निरूपितम्**. यदि नैवमभिप्रेयाद् वसुदेव-नारदसंवादोत्तरं देवस्तुत्याद्यारम्भ एव वदेद् अतः **प्रक्रिया बोधिका ज्ञेया** ज्ञानप्रकरणमेव अभिप्रायबोधकं ज्ञेयमिति तथेत्यर्थः. द्वितीयप्रकरणारम्भे भगवत्स्तुत्यादेः तात्पर्यं वदन्ति **द्वितीयस्ये**त्यादि. **द्वितीयस्ये**ति भक्त्याख्यस्य साधनस्य. **मुख्याङ्गमि**ति, विषयत्वेन तत्स्वरूपनिर्वाहकत्वात् मुख्याङ्गम्. **यत्रे**ति मूलभूते परब्रह्मणि. तथाच तद्बोधनाय स्तुत्यादिकमित्यर्थः. ननु तर्हि भक्तिस्तद्विषयं ब्रह्म च वक्तव्यं; ज्ञानाद्युपदेशकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **चतुर्मूर्तिरि**त्यादि. **ईरितमि**ति चरितमिति शेषः. **तस्ये**ति सङ्कर्षणस्य. **द्वितीय** इति, मोक्षलीलोत्तरं प्रसङ्गतः सर्गकथने विवक्षितत्वात् तत्कर्ता प्रद्युम्नो द्वितीयः. **धर्ममि**त्यादिपादत्रयेण अनिरुद्धचरित्रमुच्यते. तथाच ज्ञानादिनिरूपणस्य चतुर्मूर्तिचरित्रबोधनं प्रयोजनम्, तस्यापि प्रयोजनं भक्तिविषयनिष्कर्ष इत्यर्थः ॥१२॥

नन्वस्मिन् स्कन्धे मुक्तिस्तत्साधनं च वक्तव्यं; तत्तु अत्र संवादद्वयेनैव सिद्ध्यतीति मौसलकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **अक्लिष्टे**त्यादि. तर्हि

तदर्थं मौसलं प्रोक्तं संक्षेपेण पुरोदितम् ।
अन्ते चतुर्णां चरितं सर्वमेवोपसंहृतम् ॥१४॥
द्वयं निर्गलितं ह्यत्र भगवच्चरितेन हि ।
तदा स्थितास्तु निर्द्वन्द्वाः सुखं प्राप्य परं गताः ॥१५॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

वारद्वयं किमित्युक्तम् इत्यत आहुः **संक्षेपेणेत्यादि**. ननु भगवच्चरित्रत्वेन कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः **द्वयमित्यादिसार्धम्**. तथाच एतत्कार्यद्वयार्थं

निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

एकादशस्कन्धे चतुर्मूर्तिचरित्रनिरूपणे **वासुदेवस्तु मोक्षद** इत्यादि. दशमस्कन्धे तामसप्रकरणे फलान्तैश्चतुर्भिः प्रकरणैः बाह्याभ्यन्तरभेदेन स्वरूपसम्बन्धात्मको मोक्ष एव सम्पादितो मुख्यतया अतो वासुदेवकार्यं, तामसानां फलस्वरूपप्रधानत्वात्. तथा राजसप्रकरणे फलान्तैश्चतुर्भिः प्रकरणैः अर्थकामावेव मुख्यतया सम्पादितौ ; स्त्रीणां पुत्राद्यर्थसम्पत्तिः, पुत्रादीनां तु उषाहरणादिना कामसम्पत्तिरिति. यादवानां राजसत्वेन मध्यमत्वात् मध्यमावेव पुरुषार्थौ राजसेन प्रद्युम्नेन. यद्यपि धर्ममोक्षावपि "कर्हिचित् सुखमासीनम्" "अपश्यतां चानिरुद्धम्" इत्यध्यायद्वयेन निरूपितौ तथापि तयोः अर्थकामसाधकत्वेनैव विनियोगः. तथा सात्त्विकप्रकरणे सिद्धधर्मस्य पापफलं भुञ्जतो नृगस्य अनिरुद्धात्मकेन भगवता प्रमेयबलेन धर्मो दत्तः. अन्येभ्यश्च यादवादिभ्यो धर्म उपदिष्टः "दुर्जरं बत ब्रह्मस्वम्" इत्यादिना, धर्ममार्गे ब्रह्मस्वापहारादिना ब्राह्मणानां क्षोभो न कर्तव्य इति "मर्यादया कृतार्थोऽस्तु यदि पापं न जायत" इति सिद्धान्तात् निर्दोषत्वे सत्येव धर्मसिद्धिरिति ज्ञापनाय. तथा जरासुतरुद्धराज्ञां प्रार्थनां श्रुत्वा यादवा जरासन्धजयेप्सवो जाताः. तद्वधेन राजमोक्षणं यद्यपि धर्मस्तथापि जात्यभिमानसिद्धत्वात् न मुख्यः किन्तु वेदप्रमाणसिद्धे यज्ञात्मक एव धर्मो मुख्य इतिज्ञापनाय उद्धवोक्तिरूपया युक्त्या यज्ञसाहाय्यमेव कर्तव्यम् इत्युपदिष्टं यादवानां निर्दुष्टत्वकरणार्थम्. तथा फलप्रकरणेऽपि कुरुक्षेत्रे मुनिप्रशंसारूपया युक्त्या मुनिकृत-भगवद्भक्तिरूपया च युक्त्या वसुदेवयज्ञकरण-तदुपदेशरूपया च भगवत्प्राप्त्यर्थं पूर्वं ब्राह्मणा एव पूज्याः, ब्राह्मणवचनैश्च वेदसिद्धो यज्ञ एव कर्तव्य इत्युपदिष्टम्. सात्त्विकानां प्रमाणपरत्वात् सात्त्विकेनानिरुद्धेन प्रमाणसिद्धो धर्म एव सम्पाद्यत इत्यर्थः. दशमाध्यायान्त उद्धवप्रश्ने पूर्वाध्याये "तस्माद् जिज्ञासयात्मानम्" इतिवाक्ये आत्मज्ञानं मोक्षहेतुरित्युक्तम्. "वैशारदी से"ति वाक्ये वैशारद्या बुद्ध्या गुणकार्यप्रपञ्चस्य समूलस्य दाहे केवलात्मावशेषे मोक्ष इत्युक्तम्. स च आत्मा जीवो वा ब्रह्म वेति सन्देहः, बद्धो मुक्तो वेति च. बद्धत्वे कथं तज्ज्ञानेन मोक्षः स्यात्? मुक्तत्वे कथं देहस्थत्वं सम्भवति? यद्यपि "काल आत्मागमो लोक" इतिवाक्ये स्वस्यैव आत्मरूपत्वमप्युक्तं तथापि कालादिसमतया त्याज्यं मध्यपातित्वेनोक्तं, नतु पार्थक्येन ग्राह्यत्वेन चेत्यतः सन्देहः. तदेतदुद्धवेनोक्तं— ब्रह्मरूपत्वे कथं देही? कथं वा गुणैर्बध्यते? जीवरूपत्वे देही सन् कथं गुणैर्न बध्यते? बद्धत्वे तज्ज्ञानेन मोक्षोऽसम्भावित एव. तदुपसंहार उक्तं "नित्यबद्धो नित्यमुक्त एक एवेति मे भ्रम" इति ॥१२॥

नामारूढचरित्रस्य कीर्तनाच्चापरे तथा ।
लोकदृष्ट्या चरित्रस्य ग्रहणं बोधितं भवेत् ॥१६॥
अतो विशेषं विज्ञातुं पुनः पृच्छति तत्त्वतः ।
भगवानेव सर्वस्य कर्तेत्यत्र निरूपितम् ॥१७॥
उपक्रमेण निर्दुष्टः कथया चापि बोधितः ।
ज्ञानं पुरा भगवता वसुदेवाय बोधितम् ॥१८॥
गुरुत्वभावनाभावाद् विस्मृतस्तत्पुनर्हरिः ।
नारदं स्थापयित्वाऽऽह मन्यते तं यतः पिता ॥१९॥
गोपिकावद्बहिर्दृष्टौ व्यसनत्वं हि भासते ।
संसारे निखिले तस्य त्यागेच्छा च प्रजायते ॥२०॥
अतः सम्यक्प्रबोधाय नारदोऽत्र निरूपितः ।
पुष्टिमार्गस्थितं मत्वा कदाचिन्नैव मन्यते ॥२१॥
अतो मर्यादया सिद्धान् नव योगीश्वरान् जगौ ।
तैर्गुणातिक्रमे जाते नारदोक्तं हि भासते ॥२२॥
नवानां भूमिकाः प्रोक्ताश्चतस्रो ह्यधिकारतः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

चरित्रत्वेन कथनमित्यर्थः. अत्राद्यं पाण्डवेषु उक्तमिति तद्वदन्येष्वपि देशान्तरीयेषु अवगन्तव्यम्, निरोधस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्. द्वितीयं तु ''य एतां प्रातरुत्थाय'' इतिवाक्याद् बोध्यम्. एवं सार्धैः पञ्चदशभिः सपरिकरः स्कन्धार्थः प्रकरणार्थश्च विचारितः ॥१५ १/२॥

प्रथमाध्यायार्थं विचारयन्तो ''ब्रह्मण्यानाम्'' इति राजप्रश्नस्य ''बिभ्रद्वपुः'' इत्यादेः तदुत्तरस्य च तात्पर्यमाहुः **लोके**त्यादि. **निरूपितमिति** उत्तरग्रन्थेन निरूपितम्. **बोधित** इति **भगवानि**ति अनुषज्यते. एवं द्वाभ्यां प्रथमाध्यायो विचारितः ॥१७ १/२॥

द्वितीयाध्यायार्थं विचारयन्तो वसुदेवे ज्ञानस्य पूर्वमुपदिष्टत्वात् नारदेन किमत्र कार्यम् इत्याकाङ्क्षायामाहुः **ज्ञानमि**त्यादि सार्धचतुष्टयम्. **व्यसनित्वं** दुःखित्वम्. तथाच गुणातिक्रमेण बहिर्दृष्टिनिवृत्तिः नारदकार्यमित्यर्थः. नन्वत्र द्विविधा वक्तारो युक्ताः तथाप्येकेनैवाध्यायेन तदुक्तं कुतो नोक्तम् इत्याकाङ्क्षायामाहुः **नवानामि**त्यादि. **हि** यतो हेतोः **अधिकारतो**

अतोऽध्यायैश्चतुर्भिर्हि तदुक्तं विनिरूप्यते ॥२३॥
तत्र सर्वोत्तमो यस्तु तस्य कार्यद्वयं मतम् ।
भगवद्धर्मकरणं ततो भागवतो भवेत् ॥२४॥
अथवा भगवद्भक्तैस्तद्धर्मांस्तु समाचरेत् ।
उत्तमस्य तु चत्वारि कर्तव्यानीति रूप्यते ॥२५॥
आदौ मायापरिज्ञानाद् वैराग्यं सुदृढं मतम् ।
ततस्तत्तरणोपायं गुरुसेवादिकं चरेत् ॥२६॥
ततो ब्रह्म परं ज्ञात्वा यज्ञान् कुर्यादहर्निशम् ।
वैदिकांस्तान्त्रिकान् वापि तदर्थं वेदनिर्णयः ॥२७॥
तत्राशक्तस्य सततं कथाश्रवणमीर्यते ।
सर्वावतारैर्यज्जातं तस्मिंश्चेत्तः सुखी भवेत् ॥२८॥
ततोऽपि प्रथमो यस्तु प्राकृतः स निगद्यते ।
तस्या भजननिन्दायां सन्निवेशः पुरा भवेत् ॥२९॥
ततो युगानुरूपेण भजेत् स्वस्याधिकारतः ।
भक्तिं चाग्रे स्वयं प्राह कृतार्थत्वं च पुष्टितः ॥३०॥
ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वात् कार्यमत्र निरूपितम् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

जनकप्रश्नसिद्धः श्रोत्रधिकारविचारेण भूमिकास्तद्वृत्तयः प्रकारा वक्ष्यमाणसर्वोत्तमादिभेदेन **चतस्रः** प्रोक्ता अतस्तथेत्यर्थः. तत्र प्रथमां मुख्यां विद्यां प्रदर्शयन्ति सार्धेन **तत्रे**त्यादिना. **भगवद्भक्तै**रिति सहार्थे तृतीया. इयं प्रथमाध्यायसिद्धा. द्वितीयस्थामाहुः **उत्तमस्ये**त्यादिसार्धाभ्याम्. **रूप्यत** इति द्वितीयाध्याये रूप्यते ॥२५॥

तत्तरणोपायमिति मायातरणोपायम्. तृतीयस्थामाहुः **तत्राशक्तस्ये**त्यादि. चतुर्थस्थामाहुः **ततोऽपी**त्यादिसार्धेन. **सन्निवेश** इति अभिनिवेशः, आग्रहदार्ढ्यमिति यावत्. **स्वस्याधिकारत** इति प्राकृताधिकारानुसारेण. नन्वेवं जघन्येऽधिकारे कथं मुक्तिरित्यत आहुः **भक्ति**मित्यादि. **प्राहे**ति पदं देहलीदीपवद् उभयत्र सम्बद्ध्यते. तथाच भगवदुक्तकरणाद् भगवदनुग्रहाच्च मुक्तिरित्यर्थः. ननु इयं वसुदेवनारदसंवादकथा ब्रह्मवादबोधनाय उपन्यस्ता, तत्र श्रोतुः स चेच्छुकस्येव भवेत् तदा युज्येत; तथा त्वत्र न दृश्यते इति कथमस्याः

मोहाभावस्तु तेनैव सिद्धमेवाखिलं यतः ॥३१॥
चतुर्विंशतिभिः प्रोक्ता द्वितीया प्रक्रिया ततः ।
अतः प्रकृतिनाशाय षष्ठाध्यायो निरूप्यते ॥३२॥
आद्यो मूलेन हरिणा स्वीकृतं त्याज्यते परैः ।
त्यागस्वीकरणे जाते तदुच्छिष्टोपजीविनाम् ॥३३॥
भक्तानां तज्जिहासेच्छा तत्र ज्ञानं क्रियाऽथवा ।
बोधनीयौ हि हरिणा तत उद्धवसङ्कथा ॥३४॥
त्रयोविंशतिभिः प्रोक्ता प्राकृतो हि तथा गणः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तादर्थ्यमित्यत आहुः **ज्ञानस्येत्यादि**. **कार्यमिति** ज्ञानिनः कर्तव्यम्. **तेनेति** कार्यश्रवणेन. तथाच तच्छ्रवणेन "यतोजहतुर्मोहमात्मन" इति मोहाभाव उक्तस्तेनैवाखिलं साधनकदम्बकं सिद्धम् अतो ब्रह्मभावे कः सन्देह इत्यर्थः. तेन इतः परम् अभिमानस्थितिस्तु भगवदिच्छया विवक्षितलीलार्थमिति भावः. एवं **लोकदृष्ट्या** (का. १६) इत्यादिभिः प्रथमं प्रकरणं विचारितम् ॥२६-३१॥

अतः परं सार्धपञ्चषष्ठिभिः द्वितीयं प्रकरणं विचारयन्ति **चतुर्विंशतीत्यादि**. (अ. ६) **तत** इति ब्रह्मभावप्रक्रियोत्तरम्. तेन तस्मात् प्रकाराद् अयं प्रकार उत्कृष्यते, अत्र भगवत एव साधनत्वेन पुष्ट्याधिक्याद् इत्याशयेनाहुः **अत** इत्यादि. अत्र गमकमाहुः **आद्य** इत्यादि, सृष्ट्यादौ विभागोत्तरम्. जीवस्य मूलप्रकृतिसंसर्गः केवलया मूलेच्छया, प्राकृतसंसर्गस्तु तयाभिमानजननात्. अत **आद्यो** मूलप्रकृतिनाशो **मूलेन हरिणा** इति तद्बोधनाय ब्रह्माणं प्रति यादवान् प्रति भगवदुक्तयो बोधिताः, तेन सोऽध्यायस्तथा. ततः **स्वीकृतं** स्वत्वेनाभिमन्यमानं **परैः** अग्रिमाध्यायोक्तैः साधनैः **त्याज्यत** इति. तत्रापि गुरुत्वेन भगवानेव साधनम् इत्याशयेनाहुः **त्याग** इत्यादि. **तज्जिहासेच्छेति** प्राकृतजिहासोत्पादिका भगवदिच्छा. **बोधनीयाविति** हेतू इति शेषः. **हि**र्हेतौ. **तत** इति तथा भगवदुद्यमबोधनार्थम्. तथाच स्वकृतसाधनजन्य-प्रकृतिप्राकृतसंसर्ग-नाशापेक्षया भगवत्कृत-तन्नाशस्य विलक्षणत्वात् तत्फलेऽपि वैलक्षण्यमिति पूर्वस्माद् अयं प्रकार उत्कृष्ट इत्यर्थः. एतेन निरोधेऽपि यत्र तत्त्वातिक्रम उक्तस्तत्राप्येषैव दिगनुसन्धेयेति बोधितम्. ननु त्रयोविंशतिभिश्चेत् सा कथा

प्रश्नस्तु कृष्णवाक्यार्थस्तेनाऽऽदावेव रूपिता ॥३५॥
प्राकृताङ्कुरवत् पूर्वं हरिः सङ्क्षेपतो जगौ ।
सर्वत्र सुलभत्वाय भक्त्यै ज्ञानं निरूपितम् ॥३६॥
तदिच्छां तु पुरस्कृत्य न तु तस्याधिकारतः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

निरूप्या तदा प्रश्नस्तेष्वेव कुतो नोक्त इत्यत आहुः **प्रश्न** इत्यादि. **रूपितेति** पाठे एतस्य **कथापदेन** योजना. एवं सार्धैस्त्रिभिः प्रथमाध्यायो विचारितः ॥३२-३५॥

(अ.७) द्वितीयं विचारयन्ति **प्राकृतेत्यादि**. **प्राकृताङ्कुरवदिति** महत्तत्त्ववत्, "विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थोऽजगदङ्कुर" इतिवाक्यात्. अत्रैतद्बोध्यम्. "एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रह" इति भगवता संवादोपसंहारे वक्तव्यम्. तेनात्रोपक्रमेऽपि स एवोपक्रान्त इति ज्ञायते. तत्र भगवता "यदात्थे"त्यादिभिस्त्रिभिः उद्धवोक्तानुवादमुखेन स्वाभिप्रायमुक्त्वा "न वस्तव्यमि"तिद्वाभ्यां बाह्यं साधनमुपदिश्य "यदिदं मनसे"त्यादिद्वाभ्यां प्राकृताङ्कुरवत् सर्वमुक्तम्. ततः "तस्माद्युक्तेन्द्रियग्राम" इत्यादिभिश्चतुर्भिः प्राकृताङ्कुरनाशायान्तरं ज्ञानरूपं साधनमुपदिशता "पश्यन्मदात्मकं विश्वमि"ति ब्रह्मवादः सङ्क्षेपेणोक्तः. एवं सति "यदिदमि"त्यत्र यन्मायिकत्वमुक्तं तद् बौद्धैः प्रपञ्चे पर्यवसास्यति(/ते?). सच विषयतारूपो द्वितीयस्कन्धे "ऋतेऽर्थमि"त्यस्य सुबोधिन्यां विचारितः. श्रुतौ च "न तं विदाथे"ति मन्त्रे "माया ह्यन्यदिवे"ति ब्राह्मणे चान्तरालिकः सिद्धः. अत्र च "इन्द्रियायनसृष्ट्वे"त्यत्र "ईक्षेत विभ्रममि"त्यादौ "त्वय्युद्धवे"त्यादौ च वक्ष्यते. तस्य च प्राकृतत्वं "द्वे अस्य बीजे" इत्यत्र वक्ष्यते. सच साङ्ख्यादिस्मृतिसिद्ध एवात्र पुरःस्फूर्तिमादाय वैराग्यर्थमनूद्यते. वैदिकस्तु "स एष जीव" इत्यादिभिः सार्धैश्चतुर्भिः वेदोत्पत्तिपूर्वकं वक्ष्यते, "कालेन नष्टा प्रलय" इत्यादिना प्रपञ्चयिष्यते च. तज्ज्ञानं च प्राकृताङ्कुरनाशकमिति तेनात्र सङ्क्षिप्तज्ञानेन महत्त्वाभिमाननाशो अध्यायार्थ इति सिद्ध्यति. नन्वस्मिन् प्रकरणे भक्त्या ब्रह्मभावरूप-मुक्तौ वक्तव्यायां ज्ञानं किमिति उपदिश्यत? आहुः **सर्वत्रेत्यादि**. ज्ञाने भक्त्यर्थत्वेन मुख्यभक्तेरेव प्रकरणित्वे प्रकरणसमाप्तौ व्युत्पादयिष्यामः ॥३६॥

तदिच्छामिति. "वातरणना ये ऋषय" इतिवाक्यसूचितां ब्रह्माख्यधाम-

तथापि सेवको मुख्यः स्वाधिकारं न दृष्टवान् ॥३७॥
अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः ।
इति निश्चित्याधिकारे यदुक्तं तद्धि पृच्छति ॥३८॥
ततस्तु भगवान् प्राह स्वतः सर्वं विचिन्त्य ताम् ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदा प्रोक्तं फलिष्यति ॥३९॥
अन्वयादिदिदृक्षायाम् अशक्तिश्चेत् तदोच्यते ।
गुरुशिष्यौ सदा तुल्यौ तदा ज्ञानं फलिष्यति ॥४०॥
इदानीं यदतुल्योऽयं गुरुस्तेन जडो मतः ।
पञ्चविंशतितत्त्वानाम् अध्यासविनिवृत्तये ॥४१॥
तावन्तो गुरवः प्रोक्ता येनावस्था दृढा भवेत् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

यानेच्छां पुरस्कृत्य ज्ञानस्य भक्त्यर्थतायाः ("परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्" इति चतुर्दशाध्यायेन ज्ञानं निरूप्य पञ्चदशेऽध्याये स्वस्मिन् पुरुषोत्तमत्वज्ञानपूर्वक-भजनमुपसंहृतम्. "यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमं स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारते"त्यनेन) गीतायामुक्तत्वात् तदर्थं ज्ञानमुपदिष्टम्, अधिकारविचारेण त्वग्रे भक्तिरेवोपदेष्टव्येत्यर्थः. नन्वधिकारे उत्कृष्यमाणे कुतो ज्ञानेच्छेत्यत आहुः **तथापीत्यादि. न दृष्टवानिति** नानुसंहितवान्. तथाच अधिकाराननुसन्धानादिच्छेत्यर्थः. अननुसन्धानं कुत इत्यत आहुः **अयोग्येत्यादि.** तथाच "भगवान् भजतां मुकुन्द" इतिवाक्येन मुख्यभक्तेः अदेयत्वेन तद्दित्सासन्देहाद् अधिकाराननुसन्धानम् अतस्तत्र यद्दातुं युक्तं **हि** निश्चयेन **तद्** ज्ञानं **पृच्छतीत्यर्थः** ॥३७-३८॥

तर्हि भगवान् किमित्यधिकारमनुसृत्य नोक्तवान् इत्याकाङ्क्षायाम् अधिकारमनुसृत्यैवोक्तवानित्याहुः **तत इत्यादि. तदेति,** अनुमानैः **अन्वयव्यतिरेकाभ्यां** ज्ञायमाने मयि **प्रोक्तं फलिष्यति** तत् मदुक्तं ज्ञानं त्वदधिकारानुसारेण भक्तिं ब्रह्म वा प्रापयिष्यतीति भावः. तर्हि अवधूतसंवादं कुत उक्तवानित्यत आहुः **अन्वयादीत्यादि. इदानीमिति** अधिकाराननुसन्धानदशायाम् ॥३९-४० १/२॥

अतः परम् अवधूतप्रकरणम् अध्यायात्मकम्[१] इति तदनुसारेण विचारयन्ति **पञ्चेत्यादि. अवस्थेति** जडावस्था. अत्र "पञ्चविंशः स्वात्मोपशिक्षिताम्"

---

१. सप्तमावित्रयाध्यायात्मकमित्यर्थः.

वैराग्यं समता चैव सर्वैरेव फलिष्यति ॥४२॥
त्रिभिर्जडकथा प्रोक्ता कायवाङ्मनसां यथा ।
दोषा नष्टा भविष्यन्ति तथावस्थात्रयस्य च ॥४३॥
उभयत्र ततो युक्तिं वक्ष्यति स्नेहभावतः ।
ततोऽपि भगवान् प्रीतः पुष्टिं वक्ष्यति युक्तितः ॥४४॥
एवं षड्भिरिहाध्यायैरेकं ज्ञानं निरूप्यते ।
मर्यादापुष्टिभेदेन नाधिकारस्तदा यदि ॥४५॥
तदा तत्सिद्धये चैव प्रक्रियान्तरसङ्कथा ।
एवं सर्वत्र विज्ञेयं ब्रह्मा हंसो द्वितीयके ॥४६॥
कपोतान्ताः शरीरस्य प्रकृत्यष्टनिवृत्तये ।
मनसश्चन्द्रमाः प्रोक्तो बुद्धेश्चापि तथा रविः ॥४७॥
अहङ्कारनिवृत्त्यर्थं कपोतो विनिरूपितः ।
गुणत्रयनिवृत्त्यर्थं द्वितीये नवधोच्यते ॥४८॥
कामस्येन्द्रियवर्गस्य तथाऽऽशाया निवृत्तये ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

इत्यनेनोक्तो देहो ज्ञेयः. तस्य च तत्त्वत्वं जीवाधिष्ठितत्वेन ज्ञेयम्. त्रिभिः कथने बीजमाहुः त्रिभिरित्यादि. अवस्थात्रयस्येति जाग्रदादिबुद्ध्यवस्थात्रयस्य. एवमध्यायत्रयप्रयोजनमुक्तम्. तेनैतैः वैराग्यसमते एव, नतु तत्त्वनाशः. तत्त्वनाशस्तु भगवदुक्तत्वेनैव रूपेणेति बोधनाय अग्रिमाध्यायत्रयप्रयोजनमाहुः **उभयत्रे**त्यादि. **उभयत्रे**ति अध्यायद्वये. **प्रीत** इति, उत्कृष्टाधिकारं प्राप्यापि तदनभिमन्य दीनभावावलम्बनेन ज्ञानप्रश्नात् प्रीतः. **एक**मिति स्वरूपप्रापकं स्वरूपविषयकं ब्रह्मवादरूपम्. तर्हि एतावतैव उत्तरसिद्धेः अग्रिमग्रन्थस्य किं प्रयोजनमत आहुः **नाधिकार** इत्यादिना. तदेति तादृशः. **तदा तत्सिद्धये** इति, तादृशे न्यूनाधिकारे तादृशाधिकारसिद्ध्यर्थं "ब्रह्मा हंसो द्वितीयक" इति न्यूनेऽधिकारे ब्रह्मा प्रश्नकृद् हंस उत्तरवक्तेत्यर्थः. एवमग्रिमकथाप्रयोजनमुक्त्वा द्वितीयाध्यायार्थं विशेषेण विचारयन्ति **कपोतान्ता** इत्यादि. तेनेह पृथिव्यादयः पार्थिवाद्यध्यासनिवृत्त्यर्था इत्यर्थात् सिद्धम् ॥४१-४७ १/२॥

(अ. ८) अग्रिमं विचारयन्ति **गुणत्रये**त्यादि. त्रिवृतोऽहङ्कारस्य निवृत्त्यर्थमिति भावः. तत्र प्रकारमाहुः **कामस्ये**त्यादि. अत्र कामनिवृत्त्यर्थं पतङ्गः, इन्द्रियवर्गनिवृत्त्यर्थम् अजगर-सिन्धुप्रभृतयः, आशानिवृत्त्यर्थं पिङ्गला.

कर्ममार्गे तथाऽकर्मभावात् कर्म विशिष्यते ॥४९॥
ज्ञानमार्गे तथा कर्म क्रियातोऽपि विशिष्यते ।
गीतया न विरोधोऽत्र साध्यावस्था तु सामता ॥५०॥
सिद्धावस्था त्विह प्रोक्ता परीक्षार्थं तु भोजने ।
सोऽपि चेत् तुल्यभावः स्यादन्तरेण ततो गुणः ॥५१॥
अतः समुद्रं प्रोवाच तस्य चन्द्रेण वर्धनम् ।
दृष्ट्वा तद्विनिवृत्त्यर्थं स्त्रियं प्रोवाच तादृशीम् ॥५२॥
ततो निवृत्तोऽप्यशनाद् वशमायाति दुर्मतिः ।
ततस्तद्विनिवृत्त्यर्थं मधुकारादिरूपणम् ॥५३॥
ततो भिक्षार्थगमने स्त्रियं बाधकमाह हि ।
तया सापि परित्याज्या सर्वनाशोऽन्यथा भवेत् ॥५४॥
पौनरुक्त्यं ततो नास्ति प्रसङ्गादपि वारिता ।
सर्वस्य मूलं जिह्वेति ततः सा विनिरूपिता ॥५५॥
ततोऽप्याशा तु महती राजसोऽयं तु मध्यमः ।
सात्त्विकस्यापि सद्बुद्धेः विद्यादेः सङ्ग्रहो यदि ॥५६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

ननु अत्र अजगरेण कर्मनिवारणे किं बीजमत आहुः **कर्ममार्ग** इत्यादि. **कर्मभावादिति**, साधनत्वेन कर्मण एव विद्यमानत्वात्. **तथाऽकर्मेत्यत्र अकर्मेति** पदच्छेदः. तथाच अपकृष्टत्वमेव बीजमित्यर्थः. नन्वेवं सति "ज्यायसी चेदि"ति गीतायामर्जुनप्रश्ने भगवता "संन्यासः कर्मयोगश्चे"त्यादिना कर्मयोगस्य विशिष्टत्वं यदुक्तं तस्य विरोध इत्यत आहुः **गीतयेत्यादि**. ननु सिद्धावस्थाया अगजरेणैवोक्तत्वात् सिन्धुनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः **परीक्षार्थमित्यादि. भोजन** इति केनचित् कारिते इति शेषः. **सोऽपीति** भुक्तवानपि. **गुण** इति सिद्धावस्थोत्कर्षः. तदग्रे पतङ्गनिरूपणप्रयोजनमाहुः **तस्य चन्द्रेणेत्यादि. मधुकारादीति आदिपदेन** मीनः. ननु वारद्वयं स्त्रिया बाधकत्वं किमित्युच्यत इत्यत आहुः **ततो भिक्षेत्यादि. अयं त्विति,** एतदध्यायोक्ताधिकारी तु. एवं सार्धाष्टभिः संवाद[१] द्वितीयाध्यायो विचारितः ॥४८-५५ १/२॥

---

१. अत्र 'सपाद' इतिपाठः प्रतिभाति. 'संवाद'पाठे तु अवधूतसंवादरूप इत्यर्थः.

तदापि सर्वनाशः स्यात् कुररस्तन्निरूपितः ।
तत्सिद्धये गुरुर्बालस्तथापीष्टं न सिद्ध्यति ॥५७॥
ततस्त्वटनमेकस्य मनः कृष्णे निवेश्य च ।
अपेक्षितानां सर्वेषामन्यथा सिद्धिरुच्यते ॥५८॥
सर्वाभावे हरिः सर्वं सर्वकर्ता प्रदास्यति ।
वस्त्वन्तरत्वे जीवस्य ब्रह्मभावोऽपि साध्यते ॥५९॥
विवेकसहितो देहः सर्वत्रैव च साधकः ।
युक्तिस्तु द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥६०॥
बाह्या सर्वेऽत्र[1] लोका हि जीव आन्तर उच्यते ।
बाह्ये प्राह क्वचिद् ग्राह्यान्ना[2]न्यथाऽशक्यता भवेत् ॥६१॥
अतः साधुरिहोदिष्टः स्वयं सङ्ग्यथवा भवेत् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

(अ. ९) तृतीयं विचारयन्ति **सात्त्विकस्येत्यादि.** अत्र विद्यादिसङ्ग्रह-निवृत्तिबोधनाद् शब्दतन्मात्रनाशोऽध्यायार्थः प्रतिभाति. **तदिति** तस्मात्. कुमारीशरकृतोस्तात्पर्यमाहुः **ततस्त्वित्यादिपादद्वयेन.** सर्पोर्णनाभिपेशस्कृतां त्रिभिरर्धैराहुः **अपेक्षितानामित्यादिभिः.** स्वात्मोपशिक्षितामित्यादेराहुः **विवेके-त्यर्धेन.** एवं चतुर्भिः तृतीयो विचारितः ॥५६-५८॥

(अ. १०-१२) अतः परं पौष्टिकत्रयीं विचारयन्तो द्वाभ्यां युक्तिकथने हेतुमाहुः **युक्तिस्त्वित्यादि.** तथाच लोकजीवयोर्हेयत्वे युक्तिर्यथायथं द्वाभ्यामुच्यते. तत्र लोकानां संस्पर्शजभोगप्रधानत्वात् तद्धेयबोधनेन स्पर्शतन्मात्रनाशस्तदर्थः. एवं बद्धजीवहेयत्वबोधनेन रूपतन्मात्रनाशोऽर्थः, लिङ्गे रूपवैशिष्ट्यात् लिङ्गत्याजनस्य अत्राभिप्रेतत्वादिति. ''अन्तरायैरविहत'' (श्लो. २२) इत्यादेस्तात्पर्यमाहुः **प्राहेत्यादि. क्वचिदिति** पुरुषविशेषे. **अशक्यतेति** त्यागाशक्यता. एवं पूर्वो (दशमः) विमृष्टः ॥५९-६१॥

द्वितीयं (एकादशं) विमृशन्ति **अत** इत्यादि. **अतः** त्यागस्यावश्यकत्वात् **साधुर्वक्ष्यमाणविध इह** युक्तिप्रकरणे **उद्दिष्टो** बोधनार्थमुक्तः, अन्यथा ज्ञानं स्थिरं न स्यादिति. साधुमाहुः **स्वयमित्यादि. सङ्गीति** भगवत्सङ्गी. एकादशे **सङ्गी** द्वादशे **स्वयमिति** विभागः. नन्वत्र भक्तिं किमित्युक्तवानित्यत

---

१. सर्वत्र. २. ना-.

कदाचित् ते भक्तिमार्गं वदेयुरिति तां जगौ ॥६२॥
मार्गद्वयस्य श्रवणात् सन्देहो जायते ध्रुवम् ।
सन्देहविनिवृत्तिर्हि वचनान्नैव जायते ॥६३॥
अतो यथा न जायेत तत्र युक्तिर्निरूपिता ।
मूलमध्यावसानैश्च तत्स्वरूपनिरूपणम् ॥६४॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

आहुः **कदाचिदित्यादि.** भगवदिच्छायां सत्यां ते भगवत्सङ्गिनो **भक्तिमार्गं वदेयुरिति** हेतोस्**तां** गौणमुख्यभेदेन द्विविधां भक्तिं **जगौ** तदुक्तविश्वासार्थम् अधिकारमनुसृत्य उपदिदेशेत्यर्थः ॥६२॥

नन्वेवं गुह्यतमसुगोप्यश्रवणेऽपि कथं सन्देह इत्यत आहुः **मार्गेत्यादि.** उपक्रमे ज्ञानस्य सुगोप्यत्वेन भक्तेश्च श्रवणेन तुल्यत्वानुसन्धानात् **सन्देहः.** किञ्च **जायते ध्रुवम्.** तत्र त्यागार्थं दृश्यमानस्य मायिकत्वं, विपत्त्यभावाय विश्वस्य स्वात्मकत्वं चोक्तम्, अत्र तु बाह्यः सत्सङ्ग आन्तरभावार्थं सर्वात्मभावेन शरणगमनं चोक्तमत उभयत्र साधनयोर्विरोधात् निश्चयो **न जायते** इत्यर्थः. उत्तरप्रकारतात्पर्यमाहुः **सन्देहेत्यादि. वचनादिति,** युक्तिरहिताद् आज्ञारूपाद् वाक्यात्. **तत्रेति** तदर्थम्. **युक्तिरिति** "अयं हि जीव" इति सार्धश्लोकोक्ता. एतया एकस्य शक्तिविश्लेषात् नानात्वेऽवगते तस्य मूलैक्याबाधकत्वाद् जिज्ञासया सुखेनैव नानात्वभ्रमापोह इति. द्वितीयं साधनमाहुः **मूलेत्यादि. मूलं** स्वयं "मे व्यक्तिरि"तिकथनात्, **मध्यं** वेदवाणीप्रभृति, **अवसानं** विश्लिष्टशक्तित्वावस्था. इदं भगवदात्मके विश्वे "य एष" इत्यादिनोक्ते द्वितीये मायामये तु प्रकृतिपुरुषौ **मूलं,** "द्वे अस्य बीजे" इतिकथनात्. **मध्यं** "शतमूल" इत्यादिनोक्तम्, **अवसानं** मायामयत्वम्. एवं **मूलमध्यावसानैः तयोः** पूर्वमुपक्रान्तयोः विश्वयोः **स्वरूपनिरूपणं च** सन्देहनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः. अनेनोत्तरग्रन्थेन श्रीमदुद्धवस्य ज्ञानमार्गे एव सन्देहो, न भक्तिमार्गे इति तदधिकारोत्कर्षः सिद्धः. एतदभिसन्धायैव भगवता परमगुह्यरूपा सुगोप्या चेति द्विविधा भक्तिः "आज्ञयैवमि"त्यादिना द्विविधाः सङ्गिनः सत्तमत्वेन भक्ततमत्वेन वोपदिष्टाः. अन्यथा तु ज्ञानानुकल्परूपाम् उपासनाशेषभूतां भक्तिं "यद्यनीशो धारयितुम्" इत्यादिभिश्चतुर्भिरुक्त्वा ततः "कृपालुरकृतद्रोह" इत्यादित्रिभिः साधुं चोक्त्वा, तेन ज्ञानस्य तदनुकल्पस्य तत्साधकस्य च

तत्स्वरूपपरिज्ञाने सत्त्वादिविनिरूपणम् ।
अन्तःकरणधर्मादेरेवं दोषा निवारिताः ॥६५॥
तदात्मकत्वाद्दोषो हि न पूर्वैर्विनिवार्यते ।
अतो गुरुरिहान्यो हि वक्तव्यः पूर्वतो महान् ॥६६॥
तदर्थं प्रश्नकर्तारस्तादृशा सनकादयः ।
हंसो हि सहजं नीरं त्यक्त्वा गृह्णाति तत्पयः ॥६७॥
निर्णयस्तत्र हंसेन कृतः सर्वत्र सम्मतः ।
उभयस्य परित्यागः स तु कृष्णो यदा भवेत् ॥६८॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

स्वरूपे सपरिकरे बोधिते उपक्रान्तस्योत्तरस्य च सिद्धत्वात् न वदेत्, प्रयोजनाभावात्. "तस्मात् सत्तममा"रभ्य शरणगमनपर्यन्त उपदेशः तदधिकारानुसारेणेति निश्चयः. तेन "सर्वत्र सुलभत्वाये"त्यारभ्य "पृच्छती"त्यन्तग्रन्थे ज्ञानस्य भक्त्यर्थत्वं यदुक्तं तन्निर्विवादम्. अत्र समाप्तौ "वदन्ती"तिकथनाद् रसतन्मात्रनाशस्तत्र प्रतिभाति. एवमध्यायत्रयार्थमुक्त्वा सप्तमादिषडध्यायी विचारिता ॥६३-६४॥

(अ.१३) अतः परं त्रयोदशारम्भेऽपि एतस्यैव शेष इत्याहुः **तत्स्वरूपे**त्यादि. सप्तम्यत्र तादर्थ्ये; मायिकप्रपञ्चस्वरूप-परिज्ञानार्थमित्यर्थः. तेन सिद्धमाहुः **अन्तःकरणधर्मादे**रित्यादि. अन्तःकरणे धर्माः सङ्कल्पादयः, **आदि**पदेन बाह्यं कर्म, तस्य **दोषा** बन्धकत्वरूपाः. **एवं** तत्त्वप्रकारयोर्बोधनेन **निवारिता** इत्यर्थः. तर्हि अग्रे हंसगीताकथनं कुत इत्यत आहुः **तदात्मकत्वा**दित्यादि. अन्तःकरणस्य बोधनप्रकारस्य च सात्त्विकत्वेन गुणात्मकत्वात् **पूर्वैः** उक्तैः साधनैः **दोषो** भेदबुद्धिरूपो **न निवार्यते अत**स्तथा इत्यतः कथनमित्यर्थः. **तादृशा** इति अवतारत्वाद् अवधूततुल्याः. तथाच तद्गुरोर्हंसस्य पूर्वस्मादाधिक्यम् अर्थसिद्धमित्यर्थः. आधिक्यज्ञानप्रकारमाहुः **हंसो ही**त्यादि. विरुद्धयोर्मिश्रितयोः अनपेक्षितादपेक्षितोद्धरणं बोधनप्रकारे विशेषः. दत्तस्य देहे पारक्यबुद्धिरेव, "देहो गुरुरि"तिश्लोके तथा सिद्धत्वात्. अत्र तु देहानुसन्धानाभावः, "देहं च नश्वरमि"त्यत्र तथा बोधनात्. अतोऽपि विशेष इति प्रकार इत्यर्थः. हंसोत्कर्षमुक्त्वा तदुक्तानामुत्कर्षायाहुः **निर्णय** इत्यादि. **सर्वत्रे**ति भक्तौ ज्ञानादौ च. निर्णयस्वरूपमाहुः **उभयस्ये**त्यादि.

परमश्रद्धया भक्त्या तदावेशात् प्रवेशतः ।
चतुर्धा तद्धि भवति सर्वदोषनिवृत्तितः ॥६९॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

उभयस्येति गुणत्रयस्य स्वचित्तस्य च. **स** इति जीवः ॥६५-६८॥

कृष्णत्वभवनोपायमाहुः **परमेत्यादि.** एतैर्हेतुभिश्चतुर्धा **दोषनिवृत्तितो हि** निश्चयेन **तत्** कृष्णत्वं **भवति** तदोभयपरित्यागो भवतीत्यर्थः. अत्रेदं बोध्यम् — परमा श्रद्धा फलमुखमङ्गमिति सर्वत्रैव प्रसिद्धम्. भक्तिश्च गुणातीतत्वोत्तरं ब्रह्मभावसाधिकेति गीतायां "मां च योऽव्यभिचारेणे"त्यत्र सिद्धम्. तदत्र "इति मे छिन्नसन्देहा" इत्यादिद्वयेनोक्तम्. प्रवेशश्च भक्तेः परत्वे; तदप्यत्र 'परये'ति भक्तिविशेषणेन सिद्धम्. तत्र प्रवेशः परया भक्त्या, तादृशी भक्तिश्च ब्रह्मभावोत्तरं, सच ज्ञानस्य परमकाष्ठापन्नत्वे, ज्ञानस्य तादृशत्वं च "बुद्ध्या विशुद्धया युक्त" इत्युक्तप्रणाड्या शान्तत्वे इति तदर्थं पूर्वं बुद्धिशोधनम् आवश्यकम्. तत्रोपायश्च गुणचित्तयोरन्योन्यसंत्यागः. स च तदैव भवति यदा बुद्धौ भगवदावेशेन नानात्वनिवृत्तिः. सा च सर्वं च भगवानिति परोक्षे ज्ञाने; तदत्र युक्तिभिः साधनीयमिति तदर्थं "मनसा वचसा दृष्ट्ये"त्यनेन सर्वस्य स्वाभिन्नत्वमुपदिश्य, तत्र 'अहं'पदेन किं जीवात्मा परामृश्यत उत ब्रह्मेति सन्देहनिवृत्त्यर्थम् अग्रिमे श्लोकद्वये जीवस्य स्वात्मकत्वकथनेन पूर्वोक्ता'ऽहं'पदार्थो ब्रह्मैवेति बोधयित्वा, गुणचित्तयोस्त्यागार्थं बुद्धेर्जाग्रदादिवृत्तित्रयं जीवस्य तद्वैलक्षण्यं च वृत्तित्रयसाक्षित्वेन बोधयित्वा, त्यागोपायं "त्यागः सगुणचेतसामि"ति त्यागस्वरूपं चोक्त्वा "यावन्नानार्थधीरि"ति द्वाभ्यां भेदबुद्धेर्मिथ्यात्वं तद्वतो अज्ञत्वं चोक्त्वा जीवस्य वृत्तित्रयवैलक्षण्यज्ञानाय "यो जागर" इत्यनेन स्मृत्यन्वयादिति युक्त्या साक्षित्वं निर्णीय, अग्रिमेण शिष्टसंशयलेशनिःशेषनिवृत्त्यर्थं स्वभजनं कार्यमिति बोधयित्वा "ईक्षेत विभ्रममि"त्यनेन गुणसर्गादिमिथ्यात्वे युक्तीराह. एवं सति अत्र चित्तप्रभवगुणानाम् उपक्रान्तत्वाद् अग्रे चोपदेशस्वरूपस्य साङ्ख्ययोगगुह्यत्वेन उक्तत्वात् तत्तन्मुनिमनःकल्पित-भेदवादसिद्ध-त्रिगुणसर्गस्यैव नश्वरत्वादिधर्मकस्यैव मिथ्यात्वं, तद्बीजयोः स्वात्मभिन्नत्वाद्, इति सिद्ध्यति, नतु अभेदवादसिद्धस्य ऐच्छिकस्य. एवं च "मनसा वचसे"त्यनेन यदुक्तं तदाञ्जस्येन सिद्ध्यति. अतएव तत्र 'अञ्जसे'तिपदम्

निश्चयार्थोऽयमेवेति वक्तुं श्रेयोनिरूपणम् ।
अन्यच्चेच्छ्रेय एतादृगुपायो वा भवेत् तदा ॥७०॥
न कृष्णत्वं फलं पूर्णं नापि त्यागस्तथोभयोः ।
अतो निर्णयसिद्ध्यर्थं प्रमाणस्योच्यते गतिः ॥७१॥
प्रमेयबलमासाद्य युक्तिश्चाप्यत्र रूप्यते ।
सेवकत्वे हीनभावदोषोऽपि विनिवार्यते ॥७२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

"ईक्षेते"त्यत्र च 'इदमि'ति पदम्. एवमेव सप्तमे द्वादशे च बोध्यमित्येतदर्थमेव हंसगीताया उपक्षिप्तत्वात्. अतो गीतायामपि एतादृशमेव ज्ञानं भक्तिहेतुत्वेनाभिप्रेतं, श्रुतौ ब्रह्मसूत्रेषु च. तद् भाष्य-विद्वन्मण्डनादिभ्यो अवगन्तव्यम्. अत एवं परोक्षज्ञाने युक्तिभिर्जाते ततो भजनेन निःशेषसंशयनिवृत्तौ आवेश इति बोधनाय दृष्टिं, ततः प्रतीत्यादित्रयेण विद्यमानस्यापि भ्रमाजनकत्वमभेदनिष्ठया सिद्धस्य देहाननुसन्धानं, देहस्य कर्मवशेन स्थितिं चोवाच. एवं सर्वसाधनसम्पत्तौ संशयच्छेद इति "छिन्नसंशया" इत्यनेन आवेशस्यापि लाभ इति पूर्वोक्तम् अत्रोक्तं च अविवादम्. एवं त्रयोदशाध्यायो विचारितः ॥६९॥

(अ. १४-१५) एतस्य निर्णयस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वज्ञापनाय अग्रिमाध्याय इत्याशयेनाहुः **निश्चयेत्यादिद्वयम्**. **उपायो वेति** अन्य इति शेषः. **नापि त्याग** इति पूर्णं साधनमिति शेषः. **उभयोरिति** गुणचेतसोः. एवं द्वाभ्यां "नियमान् यमान्" इत्यन्तस्यार्थ उक्तः. अतः परम् उक्तार्थपोषार्थम् "आद्यन्तवन्त" इत्यारभ्य "मद्विनान्यद्" इत्यन्तग्रन्थ इति तस्य तात्पर्यमाहुः **प्रमेयेत्यादि**. **प्रमेयबलं** स्वस्वरूपबलम्. **युक्तिरिति**, फलान्तरस्य आद्यन्तवत्त्वादिरूपा स्वार्पितात्मनोऽन्यानिच्छारूपा च. यदि पूर्णं साधनात्मकं श्रेयोऽन्यत् स्यात् तदा तत्फलरूपा लोका आद्यन्तवत्त्वादिधर्माणो न स्युः. यदि पूर्णं फलमन्यत् स्यात्, मय्यर्पितापि अन्यदिच्छेदिति. यतो नैवमतो नैवमिति. तथाच श्रुतौ कर्मफलानां तथात्वकथनाद् आत्मलाभस्य सर्वत उत्कर्षकथनाद् वाक्यान्वयाधिकरण-विचारितरीत्या भगवत एवात्मत्वात् तत्रैव फले श्रुतेस्तात्पर्यमित्यर्थः. ननु अस्त्वेवं फलांशे तथापि भक्तौ नानात्वस्य विद्यमानत्वाद् अस्वातन्त्र्याद् ईश्वराद् भयं तु स्यादेवेति न साधनोत्कर्ष

श्रद्धा त्वेतावता सिद्धा ततो भक्तिर्निरूप्यते ।
स्वरूपतः साधनतः फलतश्चापि रूपिता ॥७३॥
तस्याश्च साधनं ध्यानं ततस्तदपि रूपितम् ।
तत्र बाधकहानाय ध्यानभेदा निवारिताः ॥७४॥
आवेशार्थं प्रवेशार्थं कृष्णात् सर्वं भवेदिति ।
एतावता द्वितीयस्तु खण्डः पूर्णो निरूपितः ॥७५॥
ज्ञानेनापि प्रवेशे हि भजेदिति पुनर्हरिम् ।
यावानित्यादि विज्ञातुं विभूतिं पृच्छते पुनः ॥७६॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

इत्यत आहुः **सेवकत्व** इत्यादि. एतेन "न तथा मे प्रियतम" इत्यादिश्लोकत्रयतात्पर्यमुक्तम्. तथाच अस्वातन्त्र्येऽपि अत्र न भयरूपो दोष इत्यर्थः. एतावता ग्रन्थेन यत् सिद्धं तदाहुः **श्रद्धेत्यादि. सिद्धेति,** पूर्वाध्याये संक्षेपेणोक्ता निर्धारिता. "बाध्यमानोऽपी"त्यादेस्तात्पर्यमाहुः **ततो भक्तिरित्यादि.** "बाध्यमान" इत्यारभ्य "भुवनं पुनाती"त्यन्तेन **स्वरूपतः,** "यथाग्निने"ति द्वाभ्यां **साधनतः,** "विषयानि"त्यादिभिः **फलतः** ॥७०-७३॥

निवारिता इति, "ममैतद्ध्यानमङ्गलम्" इतिकथनात् निवारिताः. ध्यानस्य प्रयोजनमाहुः **आवेशार्थं प्रवेशार्थमिति.** चित्तस्य भगवति आवेशार्थं भगवतश्चित्ते प्रवेशार्थमित्यर्थः. **सर्वं भवेदिति,** द्रव्य-ज्ञान-क्रिया-भ्रमनिवृत्तिर्भवेत्. अत्र द्रव्ये स्वयं पारक्यमिति, ज्ञाने विषयो मायिक इति भगवद्भिन्न इति, क्रियायां भगवद्भजनाद् अन्यत् कर्तव्यमिति भ्रमो बोद्धव्यः, सप्तमस्कन्धीय-भावाद्वैतवाक्यात्. एवं सर्वभवनोक्त्या यत् सिद्ध्यति तदाहुः **एतावतेत्यादि. एतावता** ग्रन्थेन भ्रमनिवृत्त्या कृष्णत्वे **द्वितीयः खण्डः** सुदृढस्नेहरूपो भक्तेर्विशेषांशः **पूर्णो निरूपित** इति सिद्ध्यतीत्यर्थः. तत्र प्रकारं स्फुटीकुर्वन्ति **ज्ञानेनापि प्रवेशे हि भजेदिति.** हिर्हेतौ. तथाच अत्र क्रियाभ्रमनिवारणोक्त्या भक्त्यर्थता निश्चीयत इति भावः. एतेन पञ्चदशाध्यायस्याप्यर्थ उक्तः ॥७४-७५ १/२॥

तत्रापि समाप्तौ "सर्वासामपि सिद्धीनामि"त्यादिद्वयेन सर्वप्रभुत्व-सर्वात्मत्वयोः कथनात् तेन सिद्धिषु उत्कर्षभ्रमवारणायैव अन्तरायतया तदुपस्थितिकथनमिति सोऽप्यध्यायो भक्तिबोधनस्यैव शेष इति. एवं चतुर्दशे

मनोनाशः पञ्चदश आकाशस्य वायोर्वेति प्रतिभाति.

(अ. १६) षोडशे "येष्वि"त्यनेनोक्तः प्रकाप्रश्नो विभूतिप्रश्नश्च प्रकृतानुपयुक्त इवेति तत्प्रयोजनमाहुः **पुनरि**त्यादि. **पृच्छत** इति चतुर्थ्यन्तम्. अयमर्थः— गीतायां "भक्त्या मामभिजानाती"त्यत्र यद्-यावत्त्वादिरूपेण ज्ञानं प्रवेशहेतुभूतमुक्तं तदेवात्र "ज्ञात्वाऽज्ञात्वाऽथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृश" इत्यनेन भजनात् पूर्वकालिकत्वेन परामृष्टम्. एतावान् परं विशेषः.

निबन्धकठिनांशविवेचनम् ।

अग्रे पञ्चदशाध्यायार्थोक्तौ. सत्यपि कार्यकारणभावे बाधकनिवृत्तौ सत्यामेव कारणात् कार्योत्पत्तिरिति बाधकनिवृत्तये ध्यानस्य भक्तिसाधनत्वे बाधकनिर्देशकः पञ्चदशाध्याय इत्याहुः **तत्र बाधके**त्यादि. "भूतसूक्ष्मात्मनि मयी"त्यादिना अष्टादशसिद्धिहेतुत्वेन निरूपिता **ध्यानभेदाः निवारिता** इति. ध्यानभेदेषु क्रियमाणेषु चेतसः फलान्तरविषयत्वात् न चेतसि भगवदावेशो नापि चेतसो भगवति प्रवेशः, तथा सति न भक्त्युत्पत्तिरिति बाधकत्वात् तत्फलरूपसिद्धीनामपि भगवत्प्राप्तौ अन्तरायत्वकथनाच्च **निवारिता** भक्तिफलार्थिना न कर्तव्या इति. ननु सिद्धिविषयके चित्तस्य तदभावे किं विधेयमित्याशङ्क्य तत्रोत्तररूपं "सर्वासामपि सिद्धीनामि"त्यादेरर्थमाहुः **कृष्णात् सर्वं भवेदिति**. आवेशप्रवेशव्यापारक-स्वरूपध्यानेनैव भक्तिसिद्धौ भगवत एव प्राप्तौ तेनैवानायासेन सर्वप्राप्तेर्न सिद्ध्यर्थं साधनान्तरं कर्तव्यमित्यर्थः. **एतावते**ति, "बाध्यमानोऽपि मद्भक्त" इत्यारभ्याध्यायेन **द्वितीयः खण्ड** इति परमभक्तिरूपः **पूर्णो निरूपित** इति साधकबाधक-व्यापारफलसहितो निरूपितः. एवं पञ्चदशाध्यायो विचारितः ॥७४-७५॥

अतः परं षोडशाध्यायस्यापि मुक्त्युपयोगं वक्तुं सप्रकारं तदर्थमाहुः **ज्ञानेनापी**त्यादिद्वयेन. तत्र **ज्ञानेनापि प्रवेशे हि भजेदि**ति तु प्रकारः, पुनरित्यादि **सारथिमि**त्यन्तो अध्यायार्थः, **विभूतिरि**त्यादि **भवेदि**त्यन्तं प्रयोजनम्. तत्र प्रकारे अर्थ उच्यते. भक्तिव्यापारभूते यावत्त्वादिज्ञाने अध्यायार्थभूतं विभूतिज्ञानं प्रकार इति गीतायां "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमि"त्यनेन ज्ञानस्य प्रवेशसाधनत्वमुक्तम्; "नाहं वेदैरि"त्यादिना "भक्त्या त्वनन्यये"त्यनेन चान्यनिषेधपूर्वकं भक्तेरेव साधनत्वमुक्तमिति परस्परविरोधे निर्णय उच्यते **ज्ञानेनापी**त्यादि. ज्ञानेन प्रवेशाङ्गीकारपक्षेऽपि भजनमावश्यकं, यावत्त्वादिप्रकारकस्य अभिज्ञारूपस्य ज्ञानस्य "भक्त्या मामभिजानाती"तिकथनेन भक्तिसाध्यस्य तद्व्यापारत्वेन प्रवेशहेतुत्वाद्, भक्तेश्च भजनेनैव सिद्धेः. अत्र श्रीभागवतेऽपि "ज्ञात्वाज्ञात्वे"त्यनेन अनन्यभजनकर्तुरेव भक्ततमत्वकथनेन भक्तिपूर्वकालीनस्य यतःकुतश्चिज्जातस्य अनभिज्ञारूपस्य यावत्त्वादिज्ञानस्य अप्रयोजकत्वकथनाच्च. अतो भक्तिपूर्वकालीनस्य यावत्त्वादिज्ञानस्य माहात्म्यज्ञानहेतु-त्वेन भक्तिसाधकत्वं, भक्त्यनन्तरभाविनस्तु अभिज्ञारूपस्य व्यापारत्वेन भक्तिफलप्रवेशसाधकत्वम्. यावत्त्वादिज्ञानं तु विभूतिज्ञानेनेति भक्तावुपयोगः. स्नेहरूपांशस्य तु भजनेनैव सिद्धेः भजनस्यावश्यकत्वम्. शेषं टीकान्तरे स्फुटमिति ततो ज्ञेयम् इति ॥७६-७७॥

ततः स्वात्मानमेवाह गुरुमर्जुनसारथिम् ।
विभूतिः सकला प्रोक्ता भक्त्यैवाहं भवेदिति ॥७७॥
तदर्थं धर्मसम्प्रश्नः शुद्धो भक्तो भवेदिति ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तत्र यावत्त्वादिरूपेणाभिज्ञानं भक्त्योक्तम्, अत्र तु तेन रूपेण यतःकुतश्चिज्ज्ञानमभिज्ञात्वाभावाद् अनावश्यकमिति बोधितम्. तेन तादृशज्ञानस्याभिज्ञात्वे एव प्रवेशं प्रति व्यापारता, नेतरथेति फलति. तथा "तत्त्वत" इत्यस्य तत्प्रकारवत्त्वत इति चार्थः फलति. तथाभिज्ञानं परया भक्त्या ब्रह्मभावे इति ततः पूर्वं विवक्षितज्ञानं दुर्घटमतो यादृशमभिज्ञातुं "येषु येषु च भावेषु यथा त्वां परमर्षय" इत्यनेन प्रकारविशिष्टस्वरूपं **हरिं पुनः पृच्छते,** "स्वयमेवात्मानमि"तिवाक्येन अन्यस्य तत्स्वरूपाभिज्ञत्वाभावात्. यावत्त्व-यत्त्वे च **विज्ञातुं विभूतिं पृच्छते** उद्धवाय. **ततः** तज्ज्ञापनाय **स्वात्मानमेवाह** "अहमात्मोद्धवामीषामि"तिश्लोकेनाह. **गुरुमर्जुनसारथिम्** "एवमेतदहं पृष्ट" इत्यादिना भक्तप्रियत्वाय **आह.** यच्चज्ञानाय सर्वेषामात्मत्वादिकं, यादृशत्वज्ञानाय सर्वरूपत्वादिकं, यावत्त्वज्ञानाय विभूतिं चाहेत्यर्थः. नन्वभिज्ञानाभावे केवलस्य ज्ञानस्य अनावश्यकत्वात् किमर्थं सर्वविभूतिकथनम् इत्याकाङ्क्षायामाहुः **विभूतिरित्यादि.** तथाच मुख्यभक्त्यर्थं भगवद्रूपताया विवक्षितत्वात् तस्याश्च विभूतिरूपत्वाभवनात् तन्मात्रतानिवृत्त्या भक्त्या भगवत्त्वाय तत्कथनमित्यर्थः. एवं चात्र विभूतिकथनोत्तरं "मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयत" इतिवाक्ये येन लोकसिद्धेन प्रकारेण वाचाऽभिधीयते तेन प्रकारेण "अपागादग्नेरग्नित्वमि"तिवत् मनोविकारा एव, नतु तद्रूपाः किन्तु मद्विभूतिरूपा मदंशरूपा एवेति अर्थाद् विभूतिज्ञाने यावत्त्व-यत्त्वज्ञानं भवतीति बोध्यम्. एवं षोडशाध्यायो विचारितः ॥७६-७७॥

(अ.१७-१८) सप्तदशाष्टादशावपि भक्तिशेषौ स्फुटौ इत्याहुः **तदर्थमित्येकेन.** सप्तदशस्यारम्भे "यस्त्वयाऽभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षण" इति "यथाऽनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् स्वधर्मेणे"तिकथनाद् **धर्मसम्प्रश्नो** भक्त्यर्थम्. स्वधर्मस्य भक्तावुपयोगस्तु तद्धर्मस्य सप्तमस्कन्धे दुर्वासनानिवारकतायाः स्थापितत्वेन शुद्धिजनकत्वादिति. एतदुत्तरे समाप्तौ "इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं

वर्णाश्रमवतां धर्मस्तदर्थं विनिरूपितः ॥७८॥
तथापि ज्ञानमार्गस्य परिज्ञानमिहेच्छति ।
तदा भीष्मो गुरुः प्रोक्तो धर्मराजश्च पृच्छति ॥७९॥
तत्र सर्वपदार्थानां निर्णयः सर्वकर्मणाम् ।
सत्यादीनां तथा रूपं ज्ञानार्थं विनिरूपितम् ॥८०॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

विन्दतेऽचिरादि''ति कथनाच्च भक्त्यर्थमेव निरूपित इति उभावप्यध्यायौ भक्तेरेव शेषावित्यर्थः. अत्र साध्यरूपा भक्तिः प्रेमात्मिका, साधनरूपा तु श्रवणाद्यात्मिका 'अनन्यभागि'त्यनेन सूचिता, अन्यथा साध्यसाधनभावलोपापत्तेः. स्वधर्मस्तु साधनभूताया एव भक्तेरङ्गभूतः. नच स एव भक्तिसाधनमिति शङ्क्यः, 'अनन्यभागि'ति विशेषणवैयर्थ्यापत्तेः. अतो ''भजेदनन्यभागि''त्युभयकथनाद् उक्त एवार्थः. अतएव ''धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसामि''त्यादीनि वाक्यानि. एवं सप्तदशाष्टादशौ विचारितौ ॥७७ १/२॥

(अ. १९) ऊनविंशाध्यायं विचारयन्ति. तत्र वर्णाश्रमधर्मस्य भक्तिशेषत्वकथनोत्तरम् ऊनविंशारम्भे ''यो विद्याश्रुतसम्पन्न'' इत्यादिना ''ज्ञानिनस्तपस्तीर्थे''त्यनेन ज्ञानं च प्रशस्य ''तस्माज्ज्ञानेन सहितमि''त्यनेन ज्ञानस्य भजनाङ्गत्वं पूर्वाध्यायोक्तधर्मस्येवोक्त्वा ''ज्ञानविज्ञाने''त्यनेन मुनीनां ज्ञानयज्ञेन संसिद्धिं चोक्त्वा ज्ञानिप्रशंसायां ''मायामात्रमिदं ज्ञात्वे''ति दृश्यमानस्य मायामात्रत्वं यदुक्तं तद् उद्धवदेहेऽप्यस्तीति बोधनाय ''त्वय्युद्धवाश्रयती''त्युक्तम्. तथा पूर्वाध्यायेऽपि ''नैतद्वस्तुतया पश्येदि''ति ''यदेतदात्मनि जगदि''ति द्वाभ्यां दृश्यमानस्यावस्तुत्वं, स्वात्मनि विद्यमानस्य शरीरात्मकस्य जगतो मायात्वं च विचार्य ''यतिने''त्युक्तम्. तच्छ्रुत्वात्र सन्देह उत्पन्नः— किं जगतो मायिकत्वेन ज्ञानं भजनाङ्गम् उत ब्रह्मात्मकत्वेनेति तेन पृच्छतीत्याहुः **तथापीत्यादि**. इह भगवद्वाक्ये **तथापि** मायिकत्वेन प्रकारेणापि **ज्ञानमार्गस्य परिज्ञानं** भक्त्यङ्गत्वेन सन्देहनिवर्तकं सम्यग्ज्ञानम् **इच्छतीत्यर्थः**. तदा भगवान् तत्सन्देहनिवृत्त्यर्थं सर्वर्षिसम्मतिं बोधयितुं स्वयमुत्तरमनुक्त्वा युधिष्ठिरभीष्मसंवादमुखेनाह इत्याहुः **तदेत्यादि** ॥७८-७९॥

संवादविषयमाहुः **तत्रेत्यादि**. तस्मिन् संवादे मोक्षधर्मेषु कथ्यमानेषु एतत्त्रयमुक्तं, तदनुवदति भगवान् ''नव'' (श्लो. १२-२५) इत्यादिना.

तत्र 'नवे'त्यादिकं ज्ञानस्वरूपलक्षणम्. तस्यायमर्थः — 'भूतेषु' ब्रह्मादितृणस्तम्बान्तेषु 'नवैकादशपञ्चत्रीन्'. प्रकृतिपुरुषमहदहङ्कार-पञ्चतन्मात्राणि नव, इन्द्रियाण्येकादश, भूतानि पञ्च, गुणास्त्रय — एवमष्टाविंशतिसङ्ख्याकान् 'भावां'स्तत्त्वानि 'येन' ज्ञानेन 'वै' निश्चयेनेक्षेत, अथैवमीक्षोत्तरमपि 'एषु' अष्टाविंशतिषु 'एकं' सदेवेतीक्षेत 'तज्ज्ञानं मम' मत्सम्बन्ध्येव 'निश्चितं' भीष्मेण निर्णीतम्. तथाच सदित्याकारकं कैवल्यं येन भासते तज्ज्ञानमित्यर्थः. इदमेव गीतायां "सर्वभूतेषु येनैकमि"ति सात्त्विकज्ञानत्वेनोक्तम्. अत्रापि पञ्चविंशे "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानमि"ति वक्ष्यते.

अथ "एतदेव हि विज्ञानमि"ति द्वाभ्यां विज्ञानस्वरूपं लक्षितम्. तत्रायमर्थः — 'एतद्' वक्ष्यमाणं 'हि' निश्चयेन 'विज्ञानं यद्' यस्मा'देकेन न तथा' न कारणान्तरसमवधानं विना 'स्थित्युत्पत्त्यप्ययाः' सम्भवन्ति अतो 'भावा' ब्रह्मादितृणस्तम्बान्ताः त्रिगुणात्मकाः तेषां स्थित्यादीन् 'येन पश्येद् एतदेव विज्ञानं' निश्चितमित्यर्थः. द्वितीयमाहुः "आदावि"त्यादि. यदेकं कारणं 'आदावन्ते च'काराद् अवस्थाविशेषेषु 'मध्ये च' एकस्मात् 'सृज्यात्' कार्यात् 'सृज्यं' कार्यान्तरमनुलक्षीकृत्य 'इयाद्' गच्छेत् कार्यस्य आद्यन्तमध्येषु यदनुस्यूतं भवेत् 'तत्प्रतिसङ्क्रामे' कार्यस्य प्रलये 'पुनर्यच्छिष्येत' अलीनं तिष्ठेत् 'तदेव सद्' वस्तुभूतम्, अन्यत्तु आगन्तुकमारोपितं वेति यज्ज्ञानं तदपि विज्ञानमिति भीष्मेण निश्चितमित्यर्थः. तथाच सर्वम् अष्टाविंशतितत्त्वात्मकमिति ज्ञानस्य युक्त्या त्रिगुणवैशिष्ट्यज्ञानं विज्ञानं, केवलं सदिति ज्ञानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वं सदिति ज्ञानं विज्ञानमिति फलति. उभयोर्मध्ये पूर्वस्य प्रयोजनमाह "श्रुतिरि"त्यादि. एतच्चतुष्टयरूपेषु 'प्रमाणेषु अनवस्थानात्' न विद्यतेऽवस्थानं निश्चयो यस्येति अनवस्थानः तादृशाद् 'विकल्पात् स' विचारको 'विरज्यते'. तथाच विकल्पाद् विरक्तिः प्रयोजनमित्यर्थः. द्वितीयस्य प्रयोजनमाह "कर्मणामि"त्यादि. तथाच नश्वरत्वाद् विरिञ्चिपर्यन्तम् अमङ्गलदर्शनात् तत्र श्रद्धानिवृत्त्या मूलकारणे ब्रह्मणि श्रद्धा प्रयोजनमित्यर्थः. एवमुभाभ्यां तत्र निश्चितं प्रयोजनमुक्तम्. अत्र सर्वत्र मोक्षधर्मवाक्येषु निश्चितो योऽर्थः स उक्तः. "त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यमि"त्यस्योत्तरमाह "भक्तियोग" इत्यादि. 'पुरे'ति द्वादशाध्याये.

मार्गत्रयविरोधस्य परिहारस्तथोच्यते ।
अधिकारिविभेदेन मार्गभेदो निरूप्यते ॥८१॥
सर्वाशक्तौ का कथेति शङ्कां वारयितुं पुनः ।
शुद्धिप्रकरणं प्रोक्तं तथा शास्त्रविनिर्णयः ॥८२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

'परमि'ति, अव्यभिचारित्वाद् एकादशाध्यायाद् आरभ्य एतावन्तम् उक्तेभ्योऽन्येभ्यश्च उत्कृष्टम्. एतदग्रे "यदात्मनी"ति त्रिभिः चित्तादीनां लक्षणमुक्तम्.

एवं ज्ञानमारभ्य ऐश्वर्यपर्यन्तानां स्वरूपस्य सर्वर्षिसन्निधौ भीष्मेण निश्चितस्य कथनेन विकल्पस्य मायामयत्वज्ञानं तेभ्यो वैराग्यजननाय. वैराग्यं गुणवैतृष्ण्यपर्यन्तं यदा भवति तदा तस्य ब्रह्मभावानुगुणत्वात् परमभक्त्युपयोगित्वं, नतु साक्षादिति बोधितम्. तत उद्धवप्रश्नानुरोधेन यमादीनां यत् स्वरूपमुक्तं तदपि मुख्यविज्ञानाङ्गत्वेनेत्याहुः **सत्येत्यादि.** अत्र **सत्यादीति**कथनम् एतेषां सन्निपत्युपकारकत्वं बोधयति. अतो द्विविधज्ञानस्य भक्त्यङ्गताप्रकारबोधनाय ऊनविंश इति विचारितम् ॥८०॥

(अ. २०) विंशं विचारयन्ति. तत्र विकल्पस्य अवास्तवत्वे बोधिते पूर्वकाण्डवैयर्थ्येन वेदविरोधशङ्का उत्पन्नेति तन्निवृत्त्यर्थं विंशोऽध्यायः. सोऽपि परम्परया भक्तिशेष इत्याशयेनाहुः **मार्गत्रयेत्यादि.** तथाच पूर्वकाण्डे यो भेदो नानाप्रकारेणोक्तः स जघन्याधिकारिणां वैराग्यार्थम् अतस्तस्य न भेदे तात्पर्यं किन्तु वैराग्ये इति न पूर्वकाण्डवैयर्थ्यं न वा पूर्वोत्तरकाण्डविरोध इति परम्परया भक्त्यर्थत्वात् तस्यापि भक्तिशेषत्वं निर्बाधमित्यर्थः. एवं विंशो विचारितः ॥८१॥

(अ. २१) एकविंशं विचारयन्ति. तत्रारम्भे "य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति त" इत्युपक्रम्य "स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः" इत्यनेन भक्तानां भक्तेः अधिकारे, ज्ञानिनां ज्ञानस्य, कर्मिणां कर्मणश्च या निष्ठा स गुणः ; तदभावो मार्गान्तरनिष्ठा च दोष इत्युक्त्वा शुद्धिप्रकरणमुक्तम्. ततो वेदार्थनिर्णय उक्तस्तस्य तात्पर्यमाहुः **सर्वाशक्तावित्यादि.** तथाच यो भगवदुक्तमार्गोपायानां यथावत् साधनासमर्थो अथ च तत्र श्रद्धावान् तदर्थमनुकल्पो वक्तव्य इति जघन्याधिकारिणा शुद्धिप्रकरणोक्तरीत्या तत्तच्छुद्धिमवगत्य शनैः

अन्तःकरणवज्जीवप्रकृत्योरपि संशयः ।
उभयं हरिरेवेति तत्र वै निर्णयः कृतः ॥८३॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

शनैः सङ्गः त्यक्तव्य इत्येतत्त्रितयानुकल्पत्वेनोक्तम्. तेन वेदे गुणदोषकथनम् अनुकल्पबोधनार्थं, नतु वस्तुभेदबोधनार्थमिति वेदार्थनिर्णयोऽप्युक्त इति सोऽध्यायोऽपि विप्रकृष्टपरम्परया भक्तेरेव शेष इत्यर्थः. एवमेकविंशो विचारितः ॥८२॥

(अ. २२) द्वाविंशं विचारयन्ति. तत्र पूर्वाध्यायसमाप्तौ भेदस्य मायामात्रत्वानुवादेन उत्तरकाण्डे भेदस्य निषेधाद् वेदानामभेदे एव तात्पर्यमिति श्रुते ऊनविंशाध्यायोक्ता तत्त्वानाम् अष्टाविंशतिसङ्ख्यापि मायिक्येव सिद्ध्यतीति सा कुतोऽङ्गीकृतेति ज्ञातुं कति तत्त्वानीति सङ्ख्याविषयकः प्रश्नः. तत्रापि भगवता मतान्तराणामेव यौक्तिकत्वमुक्तं नतु स्वमतस्येति भेद एव पर्यवसितो, नाभेदः. तथा सति प्रकृतिपुरुषविवेकार्थं वैराग्यं नतु साक्षाद्भक्त्यर्थम् इत्यवगत्य पृच्छतीत्याशयेनाहुः **अन्तःकरणे**त्यादि. यथा सनकादीनां "गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि चे"ति गुणचेतसोः स्वरूपभेदज्ञानेऽपि तदन्योन्यसंत्यागहेतु-सन्देहः तद्वद् अत्र जीवप्रकृत्योः स्वरूपवैलक्षण्यज्ञानेऽपि अन्योन्यसंश्लेषात् न भेदज्ञानमिति सन्देहः "प्रकृतिपुरुषश्चोभावि"त्यादिभिरुक्त इत्यर्थः. उत्तरग्रन्थस्यार्थमाहुः **उभयमि**त्यादिसार्धाभ्याम्. एवं प्रश्ने कृते भगवान् सङ्ख्यायाः सार्थकत्त्वं, वास्तवभेदस्य मायिकत्वं च समर्थयितुं "प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ" इत्यादिना प्रकृतिपुरुषभेदस्य वाचारम्भणत्वाय वैकारिकत्वं, तदर्थं स्वमायाया आध्यात्मिकादि-त्रिविधबुद्धिजनकत्वं चोक्त्वा दृग्दृष्टान्तेन उपाधितः परस्परसापेक्षतया एकस्यैवांशतः त्रैविध्यम् अंशिनः ततो भिन्नत्वं च बोधयित्वा – "आत्मा यदेषामपरोऽयमाद्यः स्वयानुभूत्याऽखिल-सिद्धसिद्धिरि"त्यर्धेन आकाशे स्थितस्य सूर्यस्येव प्रकृत्यादिभ्यो व्यतिरिक्तस्य आत्मन आद्यत्वं, स्वधर्मेणानुभवेन सर्वानुभावकत्वं चोक्त्वा – "एवं त्वगादी"त्यादिना इन्द्रियाणां त्रैविध्यं, विकारस्य प्रधानजन्यत्वं, पूर्वोक्तनानातत्त्व-प्रकारवादस्य आत्मस्वरूपाज्ञानजन्यत्वाद् व्यर्थस्यापि स्वलोकपदोक्त-स्वात्मज्ञानमात्र-पर्यवसितानां भगवतः सकाशात् परावृत्तबुद्धीनां बुद्धौ सर्वदा स्थित्या तस्य विवादस्य अनिवृत्तिमाह. तेन प्रकृतिपुरुषौ न वस्तुतो भिन्नौ किन्तु धर्मभेदेन वाचारब्धौ निवृत्त्यर्थकव्यवहारोपयोगिनौ, यथा पूर्वकाण्डोक्तो

मायया त्रिविधं भानं न प्रवृत्तिधियां भवेत् ।
तदापराधसम्बन्धाद् अन्यदापि न मुच्यते ॥८४॥
एतच्छङ्कापरित्यागो मनोदोषान्न च स्वतः ।
तस्मान्मानसदण्डे हि नापराधः कदाचन ॥८५॥
दण्डस्य च परिज्ञानं यद्यतिक्रमणं सहेत् ।
तस्य साधनविज्ञाने गुरुर्भिक्षुर्निरूप्यते ॥८६॥
तथा चेद् भावयत्येष तदा स्याद् दण्डितं मनः ।
मनसस्तु परित्यागे न किञ्चिन्मृग्यतेऽपरम् ॥८७॥
यदा पुनः साधकत्वं तस्य वाञ्छति कर्हिचित् ।
तदा साङ्ख्यप्रकारेण सर्वं ज्ञात्वा न मुह्यति ॥८८॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

भेदो वस्तूनां निवृत्त्यर्थक-व्यवहारोपयोगी तद्वदिति वस्तुत **उभयं हरिरेवेति** अपागादग्नेरग्नित्वमितिवत् **निर्णयः कृतः**. तेनोक्तरीत्या **त्रिविधं मायया** भगवद्विमुखानां भवतीत्यभेदे एव तात्पर्यमित्यर्थः. ततः "त्वत्तः परावृत्तधिय" इत्यादिना तत्संसारप्रकारप्रश्ने "मनः कर्ममयमि"त्यादिना संसारानिवृत्तिं तेषामाह. तेन भगवद्वैमुख्ये भेदबुद्ध्यनुवृत्त्या अपराधसम्बन्धात् न मुच्यत इत्युक्तम्. ततः "तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्वे"त्यादिना तन्निवृत्तिप्रकारमाह. तेन एतादृशी शङ्का मनोदोषादेव जायते इति दुष्टे मनसि सा न निवर्तते तस्मान्मनोदण्डः कर्तव्य इत्युक्तमित्यर्थः. अत्रापि प्रापञ्चिकानां मायिकत्वं वैराग्यार्थमुच्यत इति प्रकरणादेव सिद्धम्. वैराग्यं च भक्त्यर्थमिति पूर्वमुक्तम् अग्रे च वक्तव्यम्. एवं द्वाविंशो विचारितः ॥८२-८५॥

(अ. २३) अतः परं भेदो अपारमार्थिकोऽपि आगन्तुको वा आरोपितो वेति सन्देहोऽवशिष्यते. सोऽग्रे चतुर्विंशे निवारणीयः. साम्प्रतं तु प्रश्नानुरोधेन त्रयोविंशे मनोदण्डस्य दण्डितमनसश्च परिज्ञानप्रकारमेव भगवान् उक्तवान् इत्याहुः **दण्डस्य** चेत्यादिद्वाभ्याम्. तथाच अत्र मनसः परित्यागे सति न साधनान्तरापेक्षेति सिद्धेः अयमध्यायः पूर्वाध्यायस्यैव शेष इत्यर्थः. एवं त्रयोविंशो विचारितः ॥८६-८७॥

(अ. २४-२५) अतः परम् अभेददार्ढ्याय भेदस्वरूपविषयकं सन्देहं वारयितुं स्वोक्ताष्टाविंशतितत्त्व-पक्षस्य उपयोगित्वं च बोधयितुं द्वौ अध्यायौ

गुणैश्चेन्मोहमायाति तदा तेषां जयो यथा ।
तच्च तेषां स्वरूपं च तावन्मात्रनिवारणे ॥८९॥
निर्गुणानां पदार्थानां स्वरूपं विनिरूपितम् ।
एवं जातोऽपि सङ्गेन पुनश्चेन्नाशमेति हि ॥९०॥
तथा पुरूरवाः प्रोक्तः स्वात्मानं स्वयमुक्तवान् ।
सङ्गान्नष्टः पुनः सङ्गं विमुच्य लभते गतिम् ॥९१॥
जन्मान्तरे स्मृत्यभावे सङ्गान्नष्टो यदा भवेत् ।
तदा का गतिरित्यत्र हरिपूजा निरूपिता ॥९२॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

इत्याशयेन तौ विचारयन्ति **यदा पुनरिति** सार्धाभ्याम्. **तावन्मात्रनिवारण** इति अष्टाविंशतितत्त्व-मात्रत्वनिवारणार्थम्. अयमर्थः — ऊनविंशे "तस्माज्ज्ञानेन सहितमि"ति द्वाभ्यां ज्ञानसम्पत्तेः भक्तिशेषत्वमुक्तम्. ततो "नवैकादशे"ति त्रिभिः गौणमुख्यभेदेन द्विविधं ज्ञानविज्ञानयोः स्वरूपमुक्तम्. तत्र ज्ञानसम्पत्त्या यदा भजेत् तदा संन्यासी सन् विंश-त्रयोविंशोक्तरीत्या मनो दण्डयित्वा भजेत्. यदा तु न तत्राधिकारस्तदा आश्रमान्तरे चतुर्विंश-पञ्चविंशोक्तरीत्या अष्टाविंशतितत्त्व-पक्षोक्तभेदस्य आगन्तुकत्वमवगत्य आधिदैविकवादमाश्रित्य विज्ञानसम्पत्त्या भजेदिति चतुर्विंश-पञ्चविंशयोः तात्पर्यम्. "येन मे निर्जिता सौम्ये"त्यादिभिः सार्धैश्चतुर्भिः अवगन्तव्यमिति. तेन वैराग्यं श्रद्धा च साक्षात् परम्परया वा यथाधिकारं भक्तेरेव शेषौ. भजनप्रकारश्च "मल्लिङ्गमद्भक्तभजने"त्येकादशोक्तः "पुनश्च कथयिष्यामी"त्यूनविंशोक्तश्च यथाधिकारं बोध्यः. भक्तिस्वरूपादिकं च "न रोधयती"त्यादि द्वादशोक्तं बोध्यमिति बोधितम्. ततश्च मुख्याधिकारे द्वादशोक्ता शरणागतिरेव साधनं, मध्यमे ऊनविंशोक्तम् आत्मसमर्पणपूर्वकं भजनं, जघन्ये एकादशोक्तरीतिकमिति सर्वत्र भक्तिशेष एवेति. एवं चतुर्विंश-पञ्चविंशौ विचारितौ ॥८८-८९ १/२॥

(अ. २६-२७) अतः परं षड्विंशोऽप्येतस्येव शेषो वैराग्यबोधनेनेत्याहुः **एवं जातोऽपी**त्यादिसार्धेन. **प्रोक्त** इति गुरुः प्रोक्तः. सप्तविंशोऽप्येतच्छेष इत्याहुः **जन्मान्तर** इत्यादि. "दैवी सम्पद् विमोक्षाये"तिवाक्यात् दैव्यां सम्पदि विमोक्ष आवश्यकः. तादृशस्य यदि वासनावशात् सङ्गः तदा

तेन जातिस्मरो भावी तस्या ज्ञानं हरिः स्वयम् ।
जातिस्मरस्य वदति सर्वसाधनपूर्वकम् ॥९३॥
तत्रोपपत्तिर्निखिला वर्णितोद्धवबुद्धये ।
तथा रोगाद्यभावाय साधनानि हरिर्जगौ ॥९४॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

प्रतिबन्धः. तस्मिन् सत्येव यदि देहः पतति, दैव्याः सम्पदो धर्माश्च प्रारब्धनाशे पुनः उद्‌बुध्यन्ते. तदा तस्य मुमुक्षायां का गतिः कथं निस्तार इत्याशयेन प्रश्ने नानर्षिभिः नानाप्रकारेणोक्तस्य कर्मकाण्डस्य सङ्क्षेपरूपा **हरिपूजा** तादृशाधिकार्यर्थे तृतीययोगरूपं साधनमुक्तम्. तेन ज्ञानमिव तदपि भक्तेरेव शेषः परं विप्रकर्षेण प्रकारविशेषेण चेति विशेषः, उपसंहारे "भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत मामि"त्यनेन निःश्रेयसत्वप्रश्नोत्तरणाद् इत्यर्थः. एवं सप्तविंशो विचारितः ॥९०-९२॥

(अ. २८) अष्टाविंशं विचारयन्ति **तेनेत्यादिद्वाभ्याम्**. **वदतीति**, पूर्ववत् प्रतिबन्धाभावार्थं वैराग्यस्य अवश्यमपेक्षितत्वात् तदर्थं मायावादं भक्त्यर्थं ब्रह्मवादं च वदतीत्यर्थः. एतावता "निःसङ्गो विचरेदिहे"त्यन्तस्यार्थ उक्तः. **निखिलेति**, मायावादसम्बन्धिनी ब्रह्मवादसम्बन्दिनी च. अनेनार्धेन उद्धवप्रश्नस्य, "यावद्देहेन्द्रिये"त्यारभ्य "द्वयं पण्डितमानिनामि"त्यन्तस्य ग्रन्थस्य च, अर्थ उक्तः. **तथा रोगेत्यर्धेन** "योगिनोऽपक्वयोगस्ये"त्यारभ्यान्तस्यार्थ उक्तः. न च* "तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमि"ति पातञ्जलसूत्रात् प्रकृति-प्राकृतवैराग्यस्य तेषां भेदवादिनामपि अभीष्टत्वात् तदर्थं तद्विहाय मायावादस्य किमित्यादरणमिति *शङ्क्यं, जीवविषयक-वैराग्यस्याप्यत्र विवक्षितत्वेन तदादरणात्. "प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पोऽविद्यमानोऽप्यवभासते यो वैकारिको राजससर्ग एषः", "देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो जीवोऽन्तरात्मे"त्यादिवाक्यैः तथानिश्चयात्. नच मायावादे एव तात्पर्यमिति शङ्क्यं, "ज्ञानं विवेको निगम" इत्यादिवाक्यचतुष्टये "यथा हिरण्यं सुकृतमि"त्यादिभिः कार्यजातस्य ब्रह्मत्वनिरूपणविरोधप्रसङ्गात्. तस्माद् द्वैतप्रतिपन्नस्यैव मायिकत्वं नतु ऐच्छिकस्येति ब्रह्मवाद एव तात्पर्यमिति निश्चयः. तस्माद् अयमप्यध्यायो भक्तेरेव शेषः परम्परया इति बोधितम्. एवमष्टाविंशो विचारितः ॥९३-९४॥

(अ. २९) ऊनत्रिंशं विचारयन्ति **तत्राशक्तमित्यादिद्वाभ्याम्**. तथा

तत्राशक्तं तदानीं हि फलप्रेप्सुं विचार्य हि ।
उद्धवं सुगमं प्राह प्रकारं सर्वमिश्रितम् ॥९५॥
तत्राप्यशक्तं तं ज्ञात्वा बदर्यां प्रेषयत्यजः ।
साधनान्याह तत्रापि यत उक्तं हृदि स्पृशेत् ॥९६॥
एवं चतुर्विंशतिभिर्जीवमुक्तिर्निरूपिता ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

च सोऽप्यध्यायो अनुकल्पबोधकत्वाद् भक्तेरेव शेष इत्यर्थः. ननु* उपक्रमे "विद्धी"ति "पश्यन्नि"ति कथनाद् उपसंहारे च "एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः" इतिकथनाच्च ज्ञान एव तात्पर्यमवगम्यत इति तस्यैव प्रकरणित्वं, भक्तिस्तु "यद्यनीशो धारयितुमि"त्यादिना ज्ञानानुकल्पतयोक्तेति तत्र तात्पर्यस्य अशक्यत्वेन प्रकरणित्वासम्भवात् सर्वस्य भक्तिशेषत्वप्रतिपादनम् असङ्गतमिति चेत्, *अत्रोच्यते— लिङ्गान्तरैः भक्तौ तात्पर्यनिश्चयेन उपक्रमोपसंहारयोः नैर्बल्ये भक्तेरेव प्रकरणित्वस्य सिद्धत्वात् सर्वस्य तच्छेषत्वप्रतिपादनं नासङ्गतमिति. तथाहि— एकादशेऽध्याये "अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन सुगोप्यमपि वक्ष्यामी"ति प्रक्रमभेदेन सुगोप्य-परमगुह्यत्वरूपाम् अपूर्वतां प्रतिज्ञाय द्वादशाध्याये भक्तावेव तद्बोधनात्, "मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपाविदोऽबलाः ब्रह्म मां परमं प्रापुरि"ति ज्ञानं विनापि भावेन सङ्गादेव स्वप्राप्तिकथनात्, तत्रापि "शतसहस्रश" इतिकथनेन काकतालीयनिवारणात्, त्रयोदशे हंसगीतायां नानात्वभ्रमनिरूपकं ज्ञानं निरूप्य "एवं विमृश्य गुणत" इतिश्लोके नानात्वभ्रमनिवर्तकं ज्ञानं निरूप्य "भजत माखिलसंशयाधिमि"ति तस्य कण्ठत एव भजनाङ्गत्वबोधनाद्, ऊनविंशेऽपि "ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो" "भज मां भक्तिभावित" इत्युपदिश्य तदर्थमेव तयोः श्रद्धावैराग्ययोश्च कथनात्, शीघ्रं भक्तिभवनार्थं परमकारणानि उपदिश्य "एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यत" इति तत्प्रशंसावादात्, चतुर्दशे भक्तोत्कर्षस्य भक्तिबलस्य तत्फलोत्कर्षस्य साङ्गयोः धर्मविद्ययोः ततो न्यूनत्वस्य च बोधनेन, षोडशे भक्तियुक्तबुद्ध्यैव परिसमाप्तिबोधनेनोपपत्तेः, सप्तदशाष्टादशयोः भक्त्यर्थमेव धर्मकथनेन, अग्रिमेष्वपि तच्छेषस्य तदनुकल्पस्यैव बोधनेन च —सर्वत्र तस्या एव मुख्यतया अभ्यासाच्च भक्तावेव तात्पर्ये निश्चिते,

उपक्रमे ज्ञानकथनं मैत्रेयीब्राह्मणे जीवात्मोपक्रमवत् सौलभ्यार्थम्, उपसंहारे ब्रह्मवादोल्लेखश्च मायादिवादस्य परम्परया अङ्गत्वबोधनार्थम् इत्यवधेयम्. "यद्यनीश" इत्यादिना यदनुकल्पत्वकथनं तत्तु उपासनाशेषभूत-भक्तिसाधनत्वेन पर्यवस्यद् एकादशाध्यायोक्तभक्तावेव तथात्वं पर्यवसाययतीति प्रकरणादेव अवसीयते. "अथैतत्परममि"ति मुख्यभक्तिप्रक्रमभेदाच्चेति पूर्वोक्तमविवादम्. ननु* "मत्कामा रमणमि"ति श्लोके स्वस्वरूपज्ञानरहितत्वम् अन्तर्गृहगतानामेवोच्यते, 'जार'पदेन तद्‌बुद्धिविषयस्यैवोल्लेखात्, "तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता" इति शुकवाक्यसामानाधिकरण्येन तथा निश्चयात्, रासस्थानां तु सन्देशेन, कुरुक्षेत्रे साक्षादुपदेशेन च ज्ञानस्य दानात् सहकारित्वमेव समायातीति ज्ञान-कर्मसमुच्चयवद् ज्ञान-भक्तिसमुच्चये एव तात्पर्यम् नतु ज्ञानस्य अङ्गत्वे *इति चेत्, न, 'रमण'पदोक्त-विषयान्तरोल्लेख-वैयर्थ्यापातात्. "रामेण सार्धमि"त्यादिश्लोकत्रयोक्त-रासस्थलिङ्ग-विरोधापातात्. "केवलेन हि भावेने"ति श्लोकोक्तस्य 'केवल'पदस्य, गवादीनामुल्लेखस्य, "मूढधिय" इत्यन्यविशेषणस्य च विरोधात्. अतो ज्ञानोपदेशो "ज्ञात्वा पाने महान् रस" इति रसाधिक्यार्थमेव, स्रक्चन्दनाद्युपकरणवत्, नतु फलार्थमिति नात्र कोऽपि शङ्कालेश इति बुद्धिमद्‌भिः अनुसन्धेयम्. ननु यद्येवं तदा "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता" इति फलार्थं किमिति मार्गत्रयकथनमिति चेद्, अधिकारिभेदेन भिन्नफलदानार्थमिति अनुसन्धेहि. ननु तथापि "न निर्विण्णो नातिसक्तो" इति भक्तौ मध्यमस्याधिकारित्वं कथं सङ्गच्छते इति चेत्, तन्न, मुख्यभक्तिं लक्षीकृत्येति बुध्यस्व. न चात्र मानाभावः, तत्रैवाध्याये "जातश्रद्धो मत्कथासु" इत्यादिना तस्य स्वरूपमारभ्य "कथञ्चिद् यदि वाञ्छन्ती"त्यन्तेन फलान्तमुक्त्वा "न मय्येकान्तभक्तानामि"त्यादिभिः त्रिभिः मुख्याधिकारिस्वरूपकथनस्यैव मानत्वात्. अत उक्तरीत्या सर्वसामञ्जस्यात् मुख्यभक्तेः प्रकरणित्वम् अक्षुण्णमिति निश्चयः.

प्रकृतमनुसरामः. प्रकरणमुपसंहरन्ति एवमित्यादि. एवं सार्धपञ्चषष्ठिभिः सायुज्यरूप-जीवमुक्तिप्रकरणं विचारितम् ॥९५-९६ १/२॥

(अ. ३०) अतः परं ममताहन्तानाट्य-त्यागरूप-ब्रह्ममुक्तिप्रकरणं

ब्रह्ममुक्तिस्ततो द्वाभ्यां ममाहम्भावभेदतः ॥९७॥
ब्रह्म कृष्णस्तन्मयत्वं यादवादिषु संस्थितम् ।
तेषामभावकथनादभिनीतो ममक्षयः ॥९८॥
देवप्रार्थनयाहं च नटवद् वेषमन्यथा ।
त्यजतीतीश्वरस्यापि तत्र हेतुः सुरार्थना ॥९९॥
पूर्वत्र त्रितयं हेतुर्हरीच्छा पृथिवीभरः ।
उद्धूतत्वाद् देवभावः स्वपदप्रापणं ततः ॥१००॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

सार्धत्रयोविंशतिभिः विचारयन्ति **ब्रह्ममुक्तिरित्यादिभिः. ममाहम्भावभेदत** इति ममताहन्ता-नाट्यत्यागभेदतः. एतेन ब्रह्मणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वाद् बन्धाभावेन तन्मुक्तिकथनमनुपपन्नमिति शङ्का निरस्ता. अत्रैव एकादशाध्याये "बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः, गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनमि"त्यनेन स्वमते भगवता जीवबन्धस्यापि मायाकृताहङ्कारजन्यत्वेन भ्रान्तिमूलत्व-व्यवस्थापनात् सः जीवस्यापि न वास्तवः किन्तु अभिमानमात्रः, परं मायानिवृत्तिं विना (न) निवर्तत इति तन्निवृत्त्यर्थं भक्तिज्ञानोपासनानि यथाधिकारमावश्यकानि. स्वस्य तु माया शक्तिरूपा दास्यं कुर्वाणा तिष्ठतीति न तद्गुणकृतः सः किन्तु ऐच्छिक इति तदभावे तदभावादिति. तदेतद् विशदीकुर्वन्ति **ब्रह्मेत्यादिभिः. अभिनीत** इति. ब्रह्मवादे भगवता स्वस्यैव सर्वात्मकत्वम् अभीक्ष्णश उक्तमिति ममत्वस्य अभिनयमात्रत्वात् तेषामभावकथनेन ममत्वक्षयोऽपि अभिमानमात्र इति तथेत्यर्थः ॥९७-९८॥

अहन्तात्यागे विशेषमाहुः **देवेत्यादि. अहमिति, अहंभावक्षयो अभिनीत** इत्यन्वयः. एतेन "स आत्मानमेवावैदहं ब्रह्मास्मी"ति "अहं सर्वस्य प्रभवः" "अहं योगस्य साङ्ख्यस्य" इत्यादिषु यो 'अहं'प्रयोगः स नाभिमतविषयः किन्तु आत्मविषयः, उक्तश्रुतौ तथैव सिद्धत्वात्. अतो **नटवद्** यः कपटमानुषवेशे अहन्ताभिनयः तस्यात्र **देवप्रार्थनया** त्यागो **अभिनीत** इत्यर्थः. नन्वत्र सुरार्थनायाः किं प्रयोजनमत आहुः **ईश्वररस्येत्यादि.** कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य प्रकारान्तरेणापि देवादिदुःखनिवारणसमर्थत्वात् मानुषवेशग्रहणे सुरार्थनैव बीजमतोऽत्रापि सैव हेतुरुक्तेत्यर्थः. तर्हि ममताक्षये को हेतुरित्यत आहुः **पूर्वत्रेत्यादि.** अत्र हेतुद्वयं स्कन्धारम्भे एवोक्तम्, **उद्धूतत्वादिनोक्तस्तु**

यथा कृतं वदत्येष तेन जातः परीक्षितः ।
भ्रमः स्वतुल्यता तेन चैव पृष्टं तथाविधम् ॥१०१॥
तिरोधानेच्छया जाताः शकुनाभावभूमयः ।
कालः सेवकरूपाद्धि विभ्रष्टः स्वां गतिं गतः ॥१०२॥
अधिकारप्रदानेन निमित्तानि ततोऽभवन् ।
भगवांस्तत्पूर्वमेव कृतवानिति सत्यवान् ॥१०३॥
न प्रतीकार इत्याह देशो गौणोऽत्र सम्मतः ।
काले समागते तत् स्यात् स्त्रीबालानां विनाशनम् ॥१०४॥
अधर्मश्च तदा भूयाद् द्वारकाऽपि विनश्यति ।
मुक्तिश्च तेषां जायेत स्वामिकार्यं च तैः कृतम् ॥१०५॥
अतः स्वपदमेवैते प्रापणीया न संशयः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

प्रकरणबललभ्यः. तत्रापि देवभावः श्रौतः, "हरिं हरन्तमनुयन्ति देवा" इति तैत्तिरीये ब्रह्ममेधश्रुतेः. द्वितीयं तु "यत एतद् विमुच्यते" इति तदर्थं प्राकट्याद् ज्ञेयम् ॥९९-१००॥

एवं सार्धैस्त्रिभिः प्रकरणार्थं विचार्य प्रथमाध्यायार्थं दशभिर्विचारयन्तो राजप्रश्नहेतुं पूर्वमाहुः **यथे**त्यादि. **यथाकृत**मिति यथाप्रतीतिविषयीकृतम्. **स्वतुल्यते**ति जीवतुल्यता भातेति शेषः. **तथाविध**मिति तनुत्यजनं, तथाच शुकतात्पर्यानभिज्ञानाद् **भ्रम** इत्यर्थः. शुकोक्तितात्पर्यं वदन्त इच्छाकारं ज्ञापयितुं भगवत्कृतेः तात्पर्यं वदन्त उत्पातदर्शने हेतुमाहुः **तिर** इत्यादिसार्धेन. षष्ठाध्याये शापस्य दुरत्ययत्वमुक्तमिति तत्तात्पर्यमाहुः **भगवा**नित्यादि. तथाच इच्छाविषयत्वाद् अप्रतीकार्य इत्यर्थः. स्त्र्यादीनां शङ्खोद्धारे प्रेषणस्य, यादवानां प्रभासे नयनस्य च यदाज्ञापनं, तत्तात्पर्यमाहुः **देश** इत्यादि. **अत्रे**ति. अस्यामिच्छायां **देशो** द्वारकाख्य-मुक्तिक्षेत्ररूपः परमकल्याणोऽपि कालापेक्षया अप्रधानो विचारितः **तत्** तस्माद्धेतोः आधिकारिकं कार्यं कुर्वाणे **काले समागते** तथा **स्या**दतस्तथा प्रेषणं नयनं चेत्यर्थः. 'वयमि'तिपदसूचित-स्वसहनयनतात्पर्यमाहुः **मुक्ति**रित्यादि. एतेन "प्रभासं सुमहापुण्यं यास्याम" इत्यस्य व्याख्याने श्रीधरेण यदुक्तम्– "एते देवांशा अधिकारित्वात् सद्योमुक्तिं नार्हन्तीत्यतो द्वारकातस्तेषां प्रभासे नयनमि"ति – तन्निरस्तम्. अभिषेकाद्याज्ञापन-

शापदोषनिवृत्त्यर्थं मुक्तं कारितमेव च ॥१०६॥
रामस्य सत्त्वदेहस्तु पूर्वमेव निरूपितः ।
जराभिमानी यो देवः स लोके कार्यतः श्रुतः ॥१०७॥
विस्मृत्य स्वात्मरूपं हि वने चरति लुब्धकः ।
पशुपक्षिमृगासक्तः शापरूपं तु यद् बृहत् ॥१०८॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तात्पर्यमाहुः शापेत्यादि. तथाच ब्रह्मदण्डस्य दुरत्ययत्वाद् मुक्तिं प्रतिबध्नीयादिति तन्निवृत्त्यर्थं तथाकथनं करणं चेत्यर्थः. एतेन "यत्र स्नात्वा दक्षशापादि"ति ब्रह्मरूप-सरस्वतीयुक्तक्षेत्रत्वं मुक्त्यभावगमकमित्यपि शङ्का निरस्ता, "विमुक्तः किल्बिषात् सद्य" इत्यादिवाक्यशेषेण पापनिवृत्त्या पूर्वरूपसम्पादनस्यैव तत्र बोधनात्. अतः सेवाफलप्रतिबन्धनाशायैव नयनम्. एवञ्च "क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः, भ्रातापि भ्रातरं हन्यादि"ति "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते" इति "द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापौ" इत्यादिवाक्यैश्च युद्धं धर्मः तेन मृत्युश्च मुक्तिसाधनम्. अतो भगवतः षष्ठो गुणः प्रादुर्भूतस्तेषां मौढ्योत्पादनेन स्वजनान् विस्मारयन् तत्समये वैराग्यं दृढीचकारेति मुक्तिप्रतिबन्धक-दोषनिवृत्त्यर्थमेव तथाकारितमिति शापोऽपि ये एतमाशयं न जानन्ति तेषामेव अन्यथाभानहेतुरिति भावः. तेन "भगवन्मतकोविदा" इति मुनिविशेषणमपि एतादृशभगवदभिप्रायज्ञातृत्वस्य बोधकम्. किञ्च मुक्तौ दित्सितायां तदुपायकारणमावश्यकम्, उपायास्तु कायक्लेशावहा इति पुष्ट्यैव कायक्लेशानावहाभ्यस्त-साधनात्मके युद्धे तच्चित्तप्रेरणम् इतीयमपि लीला पुष्ट्यैव ; प्रकारदर्शनेनैव परम् असुराणां व्यामोहः. तेन षष्ठस्कन्धीयनिबन्धसमाप्तौ यदुक्तं "सर्वलीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मतिः" इति तदत्रापि निष्प्रत्यूहम्. एवमन्यत्रापि अनुसन्धेयमिति दिक् ॥१०१-१०६॥

"रामः समुद्रवेलायामि"त्यस्य तात्पर्यमाहुः **रामस्येत्यादि. पूर्वमिति** प्रथमस्कन्धनिबन्धे पञ्चरात्रवाक्येषु "रोहिणीनन्दन" इत्यत्र. तथाच "तत्याज लोकं मानुष्यमि"त्यनेन तस्यैव त्याग उच्यते, नतु नैसर्गिकस्येत्यर्थः. "मुशलावशेषायःखण्डे"त्यादेः तात्पर्यमाहुः **जराभीत्यादि. जरा** कालकन्या. **कार्यतः** वलीपलितादिरूपकार्यतः. **यद् बृहदिति** आधिभौतिकमक्षरांशम्.

तत्पदे योजयामास पूर्णे ब्रह्मणि सुस्थिरम् ।
अधिभूतप्रकारेण हरिणत्वमुपागतः ॥१०९॥
ब्रह्म कृष्णयाजिनमिति श्रुत्या तादृक्त्वमागतः ।
एवं बहिःस्थितं सर्वं स्वात्मन्येव निवेशयेत् ॥११०॥
तत आवरणाग्निं हि प्रकटीकृत्य तत्र वै ।
तिरोभूय स्वयं भूयस्तं च विद्युन्निभं तथा ॥१११॥
तिरोधानं कारयितुं व्यवसायात् स्थितः क्षणम् ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

पूर्णे ब्रह्मणीति आधिदैविकेऽक्षरे. **उपागत** इति अक्षरात्मकश्चरण इति शेषः. हरिणत्वप्रयोजनमाहुः **कृष्णेत्यादि**. श्रुतिस्तु "निषसादधरोपस्थ" इत्यादेस्तात्पर्यं वदन्तो अग्रिमाध्याये वक्ष्यमाणं कार्यं विचारयितुं स्थितिरित्याहुः **एवमित्यादि**. अयमर्थः— अत्र हि "एवं नष्टेषु सर्वेषु" इत्यत्रोक्तो नाशो न नैयायिकादिप्रतिपन्नो ध्वंसः किन्तु "विनाशः कारणे लय" इति कपिलोक्तः सूक्ष्मभावापन्नस्य कार्यस्य कारणान्तःश्लेषः, पुराणे प्रतिसङ्क्रमस्य श्रुतौ च "यत् प्रयन्ती"ति प्रकर्षेण गमनस्य सत्कार्यवादेनाङ्गीकारात्. अतः क्रमेण स्वस्मान्निर्गत्यैवं बहिःस्थितं सर्वं स्वात्मन्येव अनेन प्रकारेण युगपत् प्रवेशयन् **ततः** प्रवेशानन्तरं "योगधारणयाग्नेय्ये"त्यनेन वक्ष्यमाणम् **आवरणाग्निं** "रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः वह्निमध्ये स्थितं सत्यं सत्यस्यान्तःस्थितोऽच्युत" इति श्रुत्युक्तं– "तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वाव्यवस्थित" इति तैत्तिरीयसन्दर्भश्रावितं जीवकलारूपं वा, उक्तसन्दर्भे "नीलतोयद-मध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरे"त्युक्ताया उपमाया अत्र "सौदामिन्या यथे"ति दृष्टान्तेन स्मारणात्– **प्रकटीकृत्य तत्र** अग्नौ **वै** निश्चयेन **स्वयं तिरोभूय** परमात्मत्वेन अन्तःस्थित्या बहिरदृश्यो भूत्वा **तमग्निं विद्युन्निभं तथा** विद्युद्रीत्या **तिरोधानं कारयितुं व्यवसायाद्** व्यवसायं कृत्वा **क्षणं स्थित** इत्यर्थः. तथाच "बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपमि"त्यादिभिः स्वरूपवर्णनं नित्यस्य स्वरूपस्य तिरोधानेऽपि स्थितिबोधनार्थम्, अन्यथा अत्र प्रयोजनाभावाद् वृथा स्यात्. अतएव "इच्छाशरीरिणे"त्युक्तम्. अतस्तथातिरोधानमिति भावः ॥१०७-१११ १/२॥

अतः परं "भगवान् पितामहं वीक्ष्ये"ति श्लोकोक्त-नेत्रे निमीलनस्य

तदा देवा भ्रमं याता वैकुण्ठेऽद्य प्रयास्यति ॥११२॥
विष्णुः सगुण एवायं विमानेन तदा वयम् ।
सहोत्सवेन महता नेष्यामः स्वस्वमन्दिरम् ॥११३॥
भ्रमात् तत्तु तथा नाभूत् तेन तेऽप्यत्र विस्मिताः ।
दारुको विष्णुलोकाद्धि समायतो जयादिवत् ॥११४॥
तत्रैव सरथो यातः स तु भक्तो बभूव ह ।
बलवद् रुक्मिणीमुख्या नाट्यं सर्वमिहोदितम् ॥११५॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

तात्पर्यं प्रसङ्गादत्राहुः **तदेत्यादि.** तथाच भगवता सर्वेषां ज्ञानशक्तिप्रद-स्वनेत्रनिमीलनेन तेषां ज्ञानशक्तिस्तिरोधापिता. तेन तेषां सगुणत्वादिभ्रमो वृत्तः. "सलोकान् लोकपालान्नः पाही"ति प्रार्थनायां "यास्यामि भवनं ब्रह्मन् एतदन्ते तवानघे"त्युत्तारणाद् विमानेन वैकुण्ठं यास्यतीति च भ्रमो वृत्तः. भगवांस्तु गुणातीत एवाक्षरे विद्यमानो मायामुद्घाट्य (उत्पाद्य) तत्रैव प्रकटीभवतीति न तस्य यानम्. "यास्यामी"ति वाक्यं तु प्रभासस्य ब्रह्मरूप-सरस्वत्यधिष्ठितत्वात् तत्परम्. "एतदन्ते" इति सप्तमी तु 'चर्मणि' इत्यादिवत् सप्तम्यर्थे, अतस्तेषां **भ्रमात् तत्तु तथा नाभूत् तेन ते** देवा **अप्यत्र** एवं तिरोधानकरणे **विस्मिता** इत्यर्थः ॥११२-११३ १/२॥

यादववद् दारुकस्यापि सेवाकर्तृत्वात् तदाज्ञापनादितात्पर्यं वक्तुं तत्स्वरूपादिकमाहुः **दारुक** इत्यादि. तथाच सालोक्य-सामीप्ये अनुभूय सायुज्यरूपां परममुक्तिं प्राप्त इत्यर्थः. "कृष्णपत्न्यो विशन्नग्निमि"त्यादेस्तात्पर्यं वक्तुं तद्देहस्वरूपमाहुः **बलवदित्यादि.** परिहासाध्याये "क्व स्वे महिम्नि अभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादे"त्यत्र तत्स्वरूपस्य गुणप्रकृतित्वेन उक्तत्वाद् अन्यत्र मूलप्रकृतित्वेन कथनाच्च तद्देहः सत्त्वात्मकः. **मुख्या** इत्यनेन अष्टावक्रशप्ता व्यावर्तिताः. एवं चात्र सन्दर्भे भगवानेव– स्वयं गुणातीतः, परिकरस्तु मुख्यः सात्त्विकः शेषस्तु राजसस्तामसश्च, तस्य सर्वस्य– सूक्ष्मं शरीरं दशमस्कन्धोक्तप्रकारेण त्यक्तवासनं गुणातीतं ब्रह्मभूतं विधाय स्थूलं सगुणं शरीरम् अनया रीत्या त्याजितवान्. ततश्च चतुर्लक्षणीफलाध्यायोक्तरीत्या विद्वन्मण्डनोक्तरीत्या च ब्राह्मदेहस्य विद्यमानत्वाद् इदं **सर्वं नाट्यमिहोदितमित्यर्थः.** इदं यथा तथा विद्वन्मण्डनटीकासमाप्तौ

अथवैकादशे स्कन्धे मुक्तिरेकाभिधीयते ।
अहन्ताममतानाशरूपा साधनसंयुता ॥११६॥
साधनद्वितयं पूर्वं प्रक्रियाद्वितयेन हि ।
भक्तिज्ञानक्रिये चैव ततो बालकबोधने ॥११७॥
अभिनीय तमेवार्थं दर्शयामास केशवः ।

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

लीलानित्यतावादविवरणे निपुणतरमुपपादितमिति न पुनरत्रोच्यते ॥११४-११५॥

एवं चतुर्भिः प्रकरणैः चतुर्धा मुक्तिं निरूप्य पूर्वप्रकरणद्वयोक्तमुक्तेः जीवसम्बन्धित्वेन साक्षाद्ब्रह्मधर्मत्वाभावात् तदंशे स्कन्धार्थस्य ब्रह्मलक्षणत्वहानिः इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः **अथवेत्यादि. एकादशे स्कन्धे एका अहन्ताममता-नाशरूपा एका मुक्तिः** ब्रह्मधर्मरूपा **अभिधीयते.** तर्हि पूर्वप्रकरणद्वयं किमर्थमित्यत आहुः **साधनेत्यादि.** सा मुक्तिः साधनं विना न भवतीति तैः **संयुता.** तत्र साधनभक्तिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयश्चेति तदद्वयं **हि** यतो हेतोः पूर्वप्रकरणद्वयेन परम्परया साक्षाच्चोपदिश्य **ततो बालानां कबोधने** सुखेन बोधनार्थं तम् अहन्ताममतानाशरूपम् **अर्थमभिनीयैव दर्शयामास.** "अज्ञानसञ्ज्ञौ भवबन्धमोक्षौ" इति "बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः, गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनमि"तिवाक्याच्च स्वरूपस्थितेरेव वास्तवत्वेन विस्मृतकण्ठमणिन्यायेनैव मोक्ष इति जीवस्यापि तौ मायिकौ इति बोधनाय साधनस्य अहन्ताममतानाशे एव पर्यवसानात् स एव मोक्षः. ब्रह्मणि तु अहन्ता-ममते अपि न स्त इति तन्नाशोऽपि तथा इति बोधनाय च मायिकनिवारणेन **अभिनीय दर्शयामास.** यत **केशव** उत्पादकोपदेशकयोरपि ब्रह्मानन्दरूपफलदोऽतस्तथेत्यर्थः. एवं चात्र उपदेशरूपा लीला करणं, भक्त्यादिकं व्यापारः, अहन्ताममताप्रलयः फलमिति प्रलयत्वेन ब्रह्मलक्षणत्वम् अस्याः सिद्ध्यतीति भावः. अनया लीलया आसुरव्यामोहरूप-कार्यदर्शनात् निष्कर्षमाशङ्क्य "य एतां प्रातरुत्थाये"ति

एतद् भगवतो गूढं चरित्रमिह वर्णितम् ॥११८॥
(अत्र निष्णातहृदयो भगवत्पार्श्वमेति हि ।)

॥ इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपनिबन्धे
एकादशस्कन्धविवरणं सम्पूर्णम् ॥

श्रीपुरुषोत्तमानां निबन्धयोजना

''य एतद्देवदेवस्ये''त्यादीनां तात्पर्यं वदन्तो लीलास्वरूपं फलं चाहुः **एतदित्यादि.** तथाच नात्र निकर्षलेश इत्यर्थः ॥११६-११८॥

॥ इति श्रीमत्प्रभुचरणैः पुरुषोत्तमस्य दर्शिता
एकादशस्कन्धनिबन्धयोजना सम्पूर्णा ॥



अतः परं येनैतादृशं चरित्रं कृतं स कृष्णः परो भगवानिति निरूपयितुं षड्भिरध्यायैः गुणनिरूपणं क्रियते. तत्र प्रथमे वसुदेवस्तुतिः उपदेशः देवकीपुत्रनयनादिरैश्वर्यम्. द्वितीये वीर्यं द्विविधं बुद्धि-क्रियाभेदेन. तत्रार्जुनेन सुभद्राहरणादिकं कृतं तत्र प्रतिबन्धाभावो अनिन्द्यत्वं च भगवद्बुद्धिवीर्यम्. श्रुतदेवजनकयोः मुक्तिदानम् एककालावच्छेदेन एकस्वरूप एव तद्दृष्ट्या द्विरूपोऽभूदिति क्रियावीर्यम्. तृतीये श्रुतिगीतायां यशः स्फुटमेव. चतुर्थे श्रीकार्यं, शङ्करापन्निवारकत्वात्. पञ्चमे भृगुपरीक्षायां लत्ताप्रहारानन्तरं क्षमैव ज्ञानकार्यम्. षष्ठे वैराग्यकार्यं स्फुटमेव. स्त्रीभिः सह जलक्रीडायां मनस्तिरोधानं लोकशिक्षार्थमेतावद्रहस्यधर्माचरणं वैराग्यम्. एवं सप्ताशीतिभिरध्यायैः दशमस्कन्धप्रकरणविभागः.

अतः परं भक्तिसिद्ध्यनन्तरं स्वरूपाप्तिरूपा मुक्तिर्निरूपणीया ; सा चैकादशे निरूप्यते. तत्र प्रकरणविभागः जीवमुक्तिप्रकरणं ब्रह्ममुक्तिप्रकरणं च. अत्र जीवमुक्तिः ब्रह्ममुक्तिश्च निरूपणीया.

जीवन्मुक्तिप्रकरणे ब्रह्मभावप्रकरणम्. तत्र जीवमुक्तिर्द्विविधा ब्रह्मभाव-सायुज्यभेदेन. तत्र पूर्वं ब्रह्मभावप्रकरणम्. तस्य पञ्चभिरध्यायैर्निरूपणम्. विद्यया ब्रह्मभाव इति विद्यायाः कारणत्वात् विद्यायाः पञ्चपर्वाणि निरूपितानि पञ्चसु अध्यायेषु, तस्मात् पञ्चैवाध्यायाः ब्रह्मभावप्रकरणे. तत्र प्रथमे वैराग्यनिरूपणं, ब्राह्मणशापस्य वैराग्योत्पादकत्वात्. द्वितीये साङ्ख्यनिरूपणं, कविवाक्येन "भयं द्वितीयाभिनिर्वेशतः स्याद्" (श्लो. ३) इत्यादिवाक्येन निराकरणद्वारा भगवद्धर्मबोधनस्य तत्त्वातत्त्वविवेकरूप-साङ्ख्यत्वात्. तृतीये योगनिरूपणं, प्रबुद्धवाक्ये गुरूपसत्तिद्वारा भगवद्धर्मशिक्षणं "सर्वतो मनसोऽसङ्गम्" (श्लो. २३) इत्यादिना चित्तवृत्तिनिरोधरूप-योगस्योक्तत्वात्. चतुर्थे नारायणतपोनिरूपणेन अन्यावतारचरित्रनिरूपणेनापि चित्तकषायशोषकरूप-तपसो निरूपणम्. पञ्चमे भगवद्भजनाकर्तृनिन्दया अग्रे भगवद्भजनकरणनिरूपणं भक्तिः. एवं पञ्चपर्वा-विद्यासिद्ध्या पञ्चपर्वाऽविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मभावरूप-मुक्तिसिद्धिः.

जीवन्मुक्तिप्रकरणे सायुज्यप्रकरणम्. सायुज्यस्य भक्तिकारणकत्वाद्

भक्तिसिद्धौ च तत्त्वातिक्रमस्य कारणत्वात् तत्त्वानां चतुर्विंशतिसङ्ख्याकत्वात् तदतिक्रमबोधनार्थं चतुर्विंशतिभिरध्यायैः सायुज्यप्रकरणनिरूपणम्. तत्र सायुज्यप्रकरणे प्रथमेऽध्याये मूलप्रकृतिनाशो निरूपितः, ब्रह्माणं प्रति यादवान् प्रति भगवद्वाक्योक्तौ यदुकुलसंहारबोधनेन मनुष्यनाट्यत्यागबोधनेन प्रकृतिनाशस्य प्रतीतत्वात्. द्वितीये ''यदिदमनसे''त्यादिना उद्धवं प्रति निरूपितं पुंसो (युक्तस्य) नानार्थ इत्यादिना भेदस्य भ्रमत्वमुक्तम्. अग्रे ''तस्माद्युक्तेन्द्रियग्राम'' इत्यादिना आत्माधिकरणक-जगदीक्षणनिरूपणेन भेदस्य निराकृतत्वात् महत्तत्त्वस्य भेदमूलत्वात् तन्नाशो निरूपितः. अत्र तत्त्वातिक्रमे क्रमो न विवक्षित इति यस्मिन् यस्मिन्नध्याये यस्य यस्य तत्त्वस्य नाशः प्रतीयते तस्मिन् तस्मिन्नध्याये तत्तत्तत्त्वातिक्रम एवाध्यायार्थो वाच्यः. एवं चतुर्विंशत्यध्यायैः सायुज्यप्रकरणं निरूपितम्.

अग्रे अध्यायद्वयेन ब्रह्ममुक्तिनिरूपणम्. तत्र अहन्ताममतारूप-मनुष्यनाट्यत्यागस्य मोचनरूपत्वात् मुक्तिरूपत्वम्. अहन्ताममतानाशकत्वाद् अस्य प्रकरणस्य अध्यायद्वयेन निरूपणम्.

एवम् एकत्रिंशद्भिरध्यायैः एकादशस्कन्धस्य प्रकरणविभागः कृतः — एकोनत्रिंशद्भिः जीवमुक्तिनिरूपणं, द्वयेन ब्रह्ममुक्तिनिरूपणं पूर्वोक्तरीत्येति.

॥ श्रीगोकुलरायकृतो अध्यायार्थः ॥

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे ज्ञानाधिकाररहित-स्यापि पितुर्वसुदेवस्य निजैश्वर्यबलादेव आन्तरानन्ददायक-सर्ववेदार्थज्ञानदानेन भक्तिसिद्ध्यर्थं वैदिकैश्वर्यप्रकटनात्, देवक्या मातुः बाह्यानन्ददायक-पुत्रदानेन भक्तिसिद्ध्यर्थं लौकिकैश्वर्यप्रकटनात्, कालग्रस्तानां स्वस्पर्शमात्रेण आत्मदर्शनोत्पादनरूप-मोचनक्रियया जन्मान्तरमन्तरेणैव तद्देहस्य आसुरयोनिनिवृत्तिपूर्वकं मातृस्नेहोत्पादक-यथावस्थितपूर्वरूपसम्पादनक्रियया च समग्रैश्वर्यबोधनाद् ऐश्वर्यनिरूपणं द्व्यशीतितमेऽध्याये.

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे सुभद्राया आधिदैविकमायात्वेन जीवभोग्यत्वाभावात् मायातो वेदानां भीतत्वेन तस्यां वैवाहिकविध्ययोगेन विवाहस्यापि दुर्घटत्वाद् भगवतश्च भ्रातृत्वेन तद्भोक्तृत्वाभावात् लोकदोषेण सर्वदा कन्यात्वेनैव स्थितेरयुक्तत्वात् पाषण्डसन्न्यासवेषिण्य-

र्जुने नरे स्वावेशं विधाय चौर्येण तत्प्रदाने बुद्धिवीर्यप्रकटनात्, स्वस्य मुनीनां च एकेनैव रूपेण जनकश्रुतदेवयोः गेहे एकस्मिन्नेव काले प्रवेशात् मिथिलानरयोषितां कल्याणार्थं जनकगेहे बहुकालवासे श्रुतदेवे सन्मार्गोपदेशार्थं तद्गृहे एकदिनवासेऽपि अग्रे कालद्वयस्य तुल्यत्वेन स्वप्नदर्शनवज्जातविस्मयेषु मुनिषु स्वक्रियावीर्यं प्रदर्श्य सहनीतप्रदर्शितवीर्यं मुनिद्वारा अन्येषामपि वीर्यवेदित्वकरणाद् वीर्यनिरूपणं त्र्यशीतितमेऽध्याये.

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे पूर्वसृष्टं सर्वमापीय सुप्तस्य सर्वतत्त्वरूपस्य भगवतः शयनान्ते प्रबोधसमये तत्त्वनिरूपणप्रकारेण अष्टाविंशतिविधानां वेदानां ब्रह्मपरत्वनिर्णयार्थं तत्तत्प्रकरणसन्देहनिवारकैः वाक्यशेषरूपैः अष्टाविंशतिवेदवाक्यैरेव स्तुत्या प्रबोधने लौकिकयुक्त्यगोचरस्य अलौकिकस्य कर्तृत्वादिरूपस्य यशसो निरूपणात् यशोनिरूपणं चतुरशीतितमेऽ-ध्याये.

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे भगवत एव श्रीपतित्वेन श्रीभोक्तृत्वात् मोहेन जीवैः श्रीभोगे अवश्यं दुःखसम्भवाद् भगवतश्च विचार्यदातृत्वाद् भक्तेभ्यो दुःखहेतुश्रियोऽदानाद् भक्तानुग्रहार्थं भक्तेषु विद्यमानाया अपि श्रियो हरणाद्, भगवतः सकाशादेव प्राप्तश्रीणाम् अविचार्यदातॄणां शंकरादिदेवानां दानेनैव संकटागमे तत्संकटस्य भगवतैव निवारणात् श्रीनिरूपणं पञ्चाशीतितमेऽध्याये.

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे वैकुण्ठे श्रिय उत्सङ्गे शयाने भगवति सत्त्वपरीक्षार्थं भृगुणा लत्ताप्रहाररूपे क्रियापराधे उत्थाय नमनादिना ज्ञानचिह्नरूपायाः क्षमायाः निरूपणात्, सर्वगीतार्थवेदिनापि ज्ञानरहितेन स्वस्मिन् रक्षकत्वाभिमानवता अर्जुनेन द्वारकायां मृतापत्यविप्रप्रसङ्गे सर्वयादवसन्निधौ सकृष्णानां यादवानां ब्राह्मणत्व-नटत्वासुम्भरत्वकथनरूप-वचनापराधेऽपि कृतनिजात्यन्तपुरुषकारस्यापि विप्रापत्यरक्षणाशक्तस्य परिभ्रान्त-सर्वलोकस्यापि अलब्धद्विजसुतस्य अनिस्तीर्णप्रतिज्ञस्य अग्निं विवक्षोः प्रतिषेधेन क्षमाया ज्ञानचिह्नरूपाया निरूपणाद्, ज्ञानवतः समर्थस्यैव क्षमाज्ञानचिह्नत्वेन भूषणमिति ज्ञापयितुं सर्वागम्याद् अनिरुद्धस्थानादपि विप्रापत्यानयनेन सामर्थ्यज्ञानयोरपि निरूपणाद् ज्ञाननिरूपणं षडशीतितमेऽध्याये.

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे सर्वसम्पत्समृद्धायां

द्वारकायां सर्वभोगयुक्तकृष्णस्त्रीणां भगवता मानसतिरोधाने विरहव्याकुलानां कुरर्यादिदशार्थनिरूपणमुखेन भगवदतिरिक्ते अनासक्तिरूप-वैराग्यनिरूपणात् कृष्णे कैमुत्येन वैराग्यबोधनाद् वैराग्यनिरूपणं सप्ताशीतितमेऽध्याये.

॥ इति निरोधनिरूपणे दशमस्कन्धः ॥

श्रीयोगिगोपेश्वराणां उत्तरार्धसूचनिका

८२।४-६ एवं कालवेदोल्लङ्घनम्. **सर्वेषु प्रकारेषु भगवानेव कर्तेत्यादि.**

८२।९ स्फोटः **ब्रह्मवादे दिग्धर्मः आकाश** इत्यादि. **नादो वर्णस्त्वमोंकारः** वर्णोत्पत्तिः.

८२।१० कार्यतारूपत्वम्.

८२।२४-२७ अखण्डबोधः.

८२।२९ **तथापि लोको न जानाति इति** साधनान्तरेण यतनेन हि चिन्तामणिं प्राप्य पुनरन्यत्साधनमङ्गीकरोति.

८२।३४ **अष्टाविंशतितत्त्वेभ्योऽधस्ताद् योगमाया.**

८२।४४ **न लौकिका न वैदिका निषिद्धभावनया अधःपतिताः.**

८२।४५ **युष्मत्पादारविन्दे धिषणा येषां तेभ्यो ये अन्ये तेषामेव** गृहं तदन्धकारवद्भवतीत्यादि.

८२।४६ **ननु** शास्त्रीयमेव **कर्तव्यं "पुमान् यच्छ्रद्धया तिष्ठन् विधिनियोगान्निवर्तते".**

८२।५५ "पीतशेषं गदाभृत" इत्यत्र **देवैरमृतं तत्र स्थापितमिति यदैव भगवन्तं स्मरति तदामृतं भगवानेव पिबति.**

८३।१४ **अभिमानाभावे इतराश्रमेभ्योपि गृहस्थाश्रम एव मुख्य** इत्यादि. **अत एवायं कर्ममार्गानुसारी भक्तः निर्वर्तितनिजक्रियः** मूलम्.

८३।१६ **यथा कर्मनिष्ठः प्रियः** इत्यादि.

८३।१९ **निरीक्षणेनार्घ्यं गृह्णात्यपि.**

८३।२१ **फलरूपेणापि भजन** इत्यादि. तेन कीर्तनीयत्वं निरूपितम्.

८३।२२-२३ कायिकं ऐन्द्रियकं भजनम्.

८३।२४ नमनमेव कर्तव्यम्.

८३।२८ तदपो **लोकपावनीः** मूर्ध्नि बिभ्रत् ततः **पूजायोग्यो भूत्वा**

इत्यादि.

८३।३१-३२ तथापि भक्तिमार्गेण स्मरताम्. ननु दर्शनस्य क्वोपयोगः ? न हि दर्शनार्थमित्यादि.

८३।३३ ब्रह्मात्मभावे साधनत्रयमित्यादि.

८३।३४ पापवशतः बहिर्मुखतादि सर्वे दोषाः संसर्गिदोषाद् वा.

८३।३९ सिंहासनापेक्षया तान्येव प्रियाणि.

८३।४२ मानसीपूजार्थं तस्यालोचनमाह.

८३।४६ पञ्चविधभक्तयः.

८३।५० यत्कर्तव्यं तदेवोपदेक्ष्यति, नतु सेवककृत्यं स्वस्य सेवां निरूपयति. सेवायां दुर्लभत्वं द्योतितम्.

८३।५५ अर्चा ब्राह्मणयोर्व्यवस्थयैवार्चा.

८३।५८ एकान्तभावेन अनन्यभक्त्या नान्यथा. अत्रास्मत्त्वम् भेदप्रतियोगि, न प्रतिमा, अन्यथा महता प्रपञ्चेन निरूपितस्य एकादशे भगवद्भजनस्य विरोधः.

८३।५९ तस्मै सन्मार्गमादिश्येति. सतां गतिर्भगवांस्तत्र मार्गभूता ब्राह्मणा इति तेषां भजनमादिश्य.

८४।० प्रमेयमपि वै बृहत् स एव भगवान् कृष्णः ततो भजनमीरितम्. मतान्तरोक्तिरेषा हि सिद्धान्ते वैदिके तथा. अनन्तगुणपूर्णो हि हरिर्ब्रह्म श्रुतिस्तथा. फलप्रमेयमानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम्. कर्म सदिति चोच्यते इति गीता. त्रयमेकम् आत्मा तु स्वाश्रयाश्रयः. स्वशक्तिं त्रेधा स्वस्मिन्नाश्रये निधाय हि.

८४।२ अनेन वेदानामपि खण्डशोऽर्थप्रतिपादकानां बुद्ध्या महावाक्यार्थज्ञानं भवतीति तात्पर्यतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वं सेत्स्यति. आत्मने आत्मनिष्ठां भगवत्सेवां च कुर्वन्ति.

८४।३ उपनिषदर्थः उपनिषद्विचारेणैव सर्वे सन्देहा निराकर्तव्याः.

८४।५ क्व भगवतो माहात्म्यं ज्ञातं भविष्यतीति पर्यटन्.

८४।९ ब्रह्मसत्रलक्षणम्.

८४।१२ अष्टाविंशतितत्त्ववाक्यशेषाः अष्टाविंशतिश्लोकाः नैतावता सर्ववेदसन्देहनिवृत्तिः.

८४।१६ "शान्त उपासीत" "शान्तो दान्तः" इत्यादि श्रुतितात्पर्यम्. पुष्टिविचारेण कृतार्था अपि मर्यादायामकृतार्था उच्यन्ते.

८४।१७ अथ च ये भगवत्सेवकाः तेषां सर्वभावेन भजनं युक्तमिति च. भगवच्छेषतया देवतान्तरभजन इत्यादि. कृष्ण एव सदा सेव्यः इति.

८४।१८ तस्यैवाधिभौतिकरूपं ब्रह्मलोक इति.

८४।१९ अनुप्रवेशश्रुतिनिर्णयः. यत्र प्रविशति तत्र तत्समो भूत्वा प्रविशति.

८४।२० वेदानां प्रतिपाद्यो भगवदङ्घ्रिरेव. यागा अपि चरणरूपाः स्वर्गोऽपि इति मुख्यः सिद्धान्तः. अतः पण्डिता इममर्थं ज्ञात्वा भगवदङ्घ्रिमेवोपासते. आनन्दनिधिं भूमौ भगवति विश्वसिताः. गुप्तानन्दा यतो जीवा निरानन्दं यतो जगत्, पूर्णानन्दो हरिस्तस्माज्जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः.

८४।२१ मोक्षापेक्षया कथाश्रवणरसोऽधिकः.

८४।२२ कदाचिद् भजनीयो भगवान् प्रतिबन्धं कुर्यात् तदा का गतिरित्यादि. असत्सङ्गो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः. देहे ह्यनुगुणे कृष्णे नेन्द्रियाणां प्रियं चरेत्.

८४।२३ एवं भगवद्भजनमेव जीवानामवश्यकर्तव्यम्. "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेद्" इति भगवच्चरणपरतैव प्रयोजिका, नतु प्रकारविशेषः प्रयोजक इत्यादि. सर्व एव हरिर्भक्तास्तुल्या यान् मन्यते हरिः. अतः कृष्णो यथात्मीयान् मन्यते भजनं तथा.

८४।२४ ज्ञानमार्गो भ्रान्तिमूलः ततः कृष्णं भजेद् बुधः. प्रवर्तकं ज्ञानकाण्डं चित्तशुद्ध्यै यतो भवेत्.

८४।२५ एवं ज्ञानकाण्डस्यापि भगवद्भजनपरत्वमित्यादि. निर्दुष्टत्वान्मार्गस्य भगवान् सेव्यः भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तितः इत्यादि.

८४।२६ जीवानां ब्रह्मरूपत्वाद् दोषा अपि च मानसाः इत्यादि.

८४।२७ सेवामात्रेणैव मृत्योर्जयो भवतीत्यादि. ये हि निरन्तरं सेवां

कुर्वन्ति ते वैकुण्ठे अपेक्षन्त इत्यादि. वैदिकादिधर्मानुल्लङ्घ्य भगवत्सेवां कुर्वन्तीत्यादि. सर्वं मद्धिष्ण्यमीक्षध्वम् इति सगुणभक्तिमार्गनिषेधः. तवेति यथा त्वत्सम्बन्धिनं यं कञ्चित् पदार्थं परिचरन्ति भगवत्सेवका एव सेवायां तान् नियोजयन्ति. सर्वथा सर्वतः शुद्धा भक्ता एव न चापरे. अतः शुद्धिमभीप्सद्भिः सेव्या भक्ता न चापरे.

८४।२८ स्वभावरक्षका अपि प्रभुसेवां कुर्वन्ति. सर्वसेव्यो नियन्ता च सर्वसमर्थं स्वरूपमेव.

८४।३० जीवा न व्यापका; व्यापकत्वे जीवानां दासत्वं न स्यात्.

८४।३२ ये मायया मुग्धा भविष्यन्ति ते पुनर्भगवन्तं सेवन्ते तेषां पुनर्मायामोह इत्यादि. यदैव सद्बुद्धिस्तदैव भगवति भावः कर्तव्यः. नृणां दुर्गतिमालोक्य ये सेवन्ते दृढव्रताः. कृष्णं तद्भ्रुकुटिः कालः इत्यादि.

८४।३३ योगादिना भजनं न कार्यसाधकम् इत्यादि. गुरुसेवापरो भूत्वा भक्तिम्.

८४।३४ पुत्रादींश्च परित्यज्य कृष्णः सेव्यः इत्यादि.

८४।३५ भगवद्भजने क्रमः प्रथमं भूमिः तीर्थादिगुरुचरणारविन्दजलेन पापक्षयः गुरुहृदयस्थभगवच्चरणारविन्दप्राप्तिरित्यादि.

८४।३८ भगवानेव सेव्यो हि नतु जीवाः इत्यादि.

८४।३९ जीवादन्यत्र भगवद्भजने.

८४।४० नित्यकर्मणा भगवता च सर्वपापक्षयाद् आनन्दं हरिं भजेत् नतु लौकिकानन्दम्.

८४।४१ भगवदानन्दो देशकालापरिच्छिन्नः, वेदानन्त्यमपि. तेनैकस्यैव ब्रह्माण्डस्य वार्तामेको वेदो वदति इत्यादि. श्रुतय एव प्रमाणं परं पर्यवसानवृत्त्या, नतु वृत्त्येति. तस्मादेतादृशः परमानन्दरूपः कृष्ण एव सेव्यो नान्यः इति सर्वेषां वेदानां पर्यवसितोऽर्थः. अत्र मूलभूताः श्रुतयः स्वयं द्रष्टव्याः इति श्रुतिगीतम्.

८४।४३ इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः.

८४।५० संक्षेपेण श्रुतिगीतार्थः.

८५।० एवं कृष्णस्य मूलत्वे सन्दिहानस्य संशयः निवारितोऽतियत्नेन येन कृष्णः परः स्मृतः. भजनीयगुणेत्वत्र सन्देहः कश्चिदुद्गतः इत्यादि भगवद्दोषपरिहाराय अध्यायारम्भः.

८५।१ त्रिविधा जीवा उपासनासमर्थाः.

८५।३ यदि सर्पान् न धारयेत् तदा सेवकाः कुण्डलिनीव्याप्ताः तथैव हताः स्युः.

८५।५ तं भजन्निर्गुणः यथा गजेन्द्राय पूर्वावस्थितेत्यादि. उपासकानामात्मा तद्धितमेव करोति नतु तदनुरोधं, ततो यदैव यद्विना यत्कार्यं न भवतीत्यादि.

८५।८-९ यस्यानुग्रहमिच्छामीत्यादि.

८५।१२ भगवत्सेवैव पुरुषार्थः परमः.

८५।२० प्रपत्तिः प्रीतिहेतुः.

८५।२६ देवस्थानं वैकुण्ठं यत्र बदरीनाथः.

८५।४० विवेकनिधेर्भगवतः.

८६।० वरोऽत्र मूलरूपेण निरूप्यते महत्त्वलक्षणज्ञानशक्तिः. क्रिया गुरुपुत्रानयनादि तत्पर्यवसायिनी.

८६।१५ एवं षोडशकलो भगवान् मार्गे मार्गरीतिः.

८६।१६-२० संशयनिवृत्त्यर्थं स्वयं भजनं कृत्वा गन्तुं योग्यं भगवन्तं गताः.

८६।६४-६५ अत्यूर्जितैर्मखैरीजे भगवान् विषयाल्लौकिकाद् वैदिकान्यज्ञान् सर्वे प्राणिनस्तेनैव जीवन्तीत्यादि.

८७।० रागलीला स्नेहलीला आनन्दक्रीडा भक्तानां सुखसिद्धये परमोत्सवलीला.

८७।२७ प्रेम्णान्तरसम्बन्धः पादसंवाहनादिभिरिति बाह्यः.

८७।४६ अनेन प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता, तदासक्तिमाह.

८७।४८ अद्यापि द्वारकायां प्रभुः सेवकैः सह विराजते इति.

८७।५० यस्य श्रवणमात्रमपि राज्यापेक्षयापि सर्वोत्कृष्टम्. सिद्धान्ताः सत्कर्मागमाश्च वितता लोकेऽधुना सर्वतस्ते प्रायेण निरूपिताः सुबहुशो भक्त्यै मुकुन्दाङ्घ्रये इत्यादि. शुभं सर्वम्.

उत्तरार्धसूचनिकापत्रमत्र निःशेषमभूत्.

११।१।१ वाग्वै देवेभ्य इत्युपक्रम्य ते देवा वाच्यपक्रान्तायामित्यत्र तथा निर्णीतम्.

११।१।११ यज्ञेन यज्ञम् इतिन्यायेन विधिपरिपालनेन धर्मसम्पत्तिरेव नित्यैः. सुमङ्गलानि पशुपुत्रारोग्यसाधकानि भगवतो दोषारोपाभावात् शिक्षार्थं कृतानि संकीर्तनोपयोगीनि जातानि विधानकालानपेक्षतया प्रायश्चित्तानर्ह-दोषदूरीकरणसमर्थानि. भगवत्प्रेषितब्राह्मणगमनमेवेच्छापूरकमिति कार्यं सिद्धम्.

११।१।१६ मुसलम् अवघातजनकम् ''अत्ता चराचरे''त्यादि फलपाकान्तत्वम्. तस्मात् यज्ञपुरुषस्य आयुधविशेषरूपमुसले-त्यादि.



विषयानुक्रमणिका



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यामुत्तरार्धे

पञ्चमे गुणप्रकरणे

॥ प्रथमः स्कन्धादितः द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥

* * *

एवं निरोधः सर्वेषां भगवत्कृत ईरितः ।
स किं साक्षात्सर्वयुक्त्या भगवानन्यथापि वा ॥(१)॥
अन्यथा चेत् कृतोऽप्येष निरोधो निष्फलो भवेत् ।
तस्मात् कृष्णस्य सर्वोक्त्या भगवत्त्वं तु साध्यते ॥(२)॥
अतोऽग्रे भगवान् व्यासः षडध्यायीं चकार ह ।
ऐश्वर्यादिप्रसिद्ध्यर्थं सङ्गतिस्त्वियमेव हि ॥(३)॥
तत्रादौ भगवद्भावसिद्ध्यर्थं युक्तिपूर्वकम् ।
ऐश्वर्यादीन् षडर्थान् हि षडध्याय्यां निरूप्यते ॥(४)॥
षट्त्रिंशेतु तथाध्याये कृष्णस्यैश्वर्यलक्षणः ।
अलौकिको लौकिकश्च क्रियाज्ञानविभेदतः ॥(५)॥
निरूप्यते[१] यतः पित्रोरैश्वर्यं हृद्गतं भवेत् ।

श्रीविट्ठलेशरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अतोऽग्रे इति. अत्र व्यासस्य कर्तृत्वोक्त्या समाधौ पौर्वापर्येणैव लीलां दृष्टवान् इति सूचितम्. कथानुरोधमकृत्वा विमर्शप्राधान्येन निरूपणाद् व्यासस्य भगवत्त्वम् उक्तम्. **सङ्गतिस्तु** इति तुशब्देन कथासङ्गतिव्यावृत्तिः. तत्र षडध्यायेषु **आदौ** प्रथमाध्याये क्रमानुसारेण ऐश्वर्यं निरूपणीयम् —इयमेव सङ्गतिः. तथाच उपोद्घातसङ्गतिः निरूपिता, नतु अवसरसङ्गतिः. कथातो विमर्शस्य मुख्यत्वं युक्तमिति हिशब्दः. **भगवद्भावेति**, युक्तिपूर्वकं भगवत्त्व-सिद्ध्यर्थमित्यर्थः. **निरूप्यते** इति दिवादेराकृतिगणत्वपक्षेण श्यन्, व्यासो निरूपयति इत्यर्थः. **ऐश्वर्यलक्षण** इति भगवद्भाव इति शेषः (३-५).

---

१. न्यरूपयद् इति घ-सं. पाठः.

अनुभावात् पुरैश्वर्यं तयोर्हृदयसंहितम् ॥(६)॥
येन स्तुतिः कृता ताभ्यां कृष्णवाक्यात्तु निर्णयः ।
तीर्थयज्ञसदुक्त्या हि शुद्धान्तःकरणो भवेत् ॥(७)॥
ततः कृष्णगुणज्ञाने तस्येच्छाभूदितीर्यते ।
तथैव देवकी देवी ज्ञात्वा माहात्म्यमुत्तमम् ॥(८)॥
ऐश्वर्यस्य परीक्षार्थं पुत्राहृतिमुवाच ह ॥

एवम् एतावद्भिरध्यायैः त्रिविधानां निरोधो निरूपितः. अथ भगवतः षड्गुणाः षड्भिरध्यायैः निरूप्यन्ते क्रमेणैव. ऐश्वर्यं लोकवेदातिशायि ; स ईश्वरः यो अलौकिकं करोति, यो वा वेदस्यापि अशक्यं करोति सोऽत्र निरूप्यते— पित्रे पुत्रत्वं स्थापयित्वैव ज्ञानोपदेशं यत् करोति, यच्चापि अखण्डम्. तथा बाल्ये मृतानां कालेन परमाणुसात्कृतानां पुनः कालमुल्लङ्घ्य यथास्थानं प्रापयित्वा तत्समानयनं, ततोऽपि स्वपदप्रापणमपि! एवं वेदकालोल्लङ्घनं न पुरुषोत्तमादन्यस्य शक्यम्. फलप्रकरणस्य सन्निधान एव गतत्वात् पित्रोरभिलषितं च करोतीति अध्यायसङ्गतिः. कथायाः पौर्वापर्यं नाभिलषितमिति भिन्नप्रक्रमेणारभते[१] अथेति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ॥१॥

एकदा प्रसन्नसमये, स्वयमेवा**त्मजौ प्राप्तौ** लालनसमये. ततः **कृतपादाभिवन्दनौ** जातौ. ततो **वसुदेवो**ऽपि तत्कृतम**भिनन्द्य** लौकिकप्रीतियुक्त एव ज्ञानार्थमुवाच सङ्कर्षणमच्युतं च. सर्वमेतज्ज्ञाने पूर्वाङ्गं श्रुतिविरुद्धं— स्वयं गुरोर्गृहे गत्वा नमस्कारानन्तरं गुरुणाभिनन्दितः एकं स्तौतीति मर्यादा ॥१॥

लेखः

तीर्थेति. तीर्थयज्ञयोर्मध्ये या[२] सतामुक्तिः तया इत्यर्थः. **तथैवेति,** तीर्थयज्ञसदुक्त्या शुद्धान्तःकरणैव इत्यर्थः (७-८).

---

१. भिन्नक्रमेण इति मुद्रित-क-सं. पाठः. गृहीतः पाठः ग-घपाठानुरोधात् - सम्पा.

२. वा इति मुद्रितपाठः. शेषेषु एवम् - सम्पा.

तत्रापि पूर्वं तत्कामनया तदर्थं न प्रवृत्तः किन्तु प्रासङ्गिकस्मरणेन तथा कृतवान् इत्याह.

मुनीनां तद्वचः स्मृत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत ॥२॥

मुनीनां तद्वचः स्मृत्वेति, "यस्यानुभूतिः कालेन" (भाग.पुरा. १०।८१।३२) इत्यादि मुनिवाक्यं, तस्य च अकस्मात् स्मरणम्. तच्च **पुत्रयोर्धाम** तेजः स्वरूपं वा सूचयति. केवलवाक्यं, स्मृतं वा चेद् ज्ञानं वा[१] जनयेत्, तदापि न काचित् चिन्ता. किञ्च संवादात् तस्य प्रामाण्यमवधृतमित्याह **तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भ** इति. गोवर्द्धनोद्धरणादीनि वीर्याणि तैर्जातो विश्वासो ऋषिवाक्ये यस्य. ततः (**परिभाष्य!**) हे कृष्ण हे राम इत्युक्त्वा **अभ्यभाषत** स्तुतिं कृतवान् इत्यर्थः ॥२॥

स्तोत्रं चक्रेऽष्टादशभिः सर्वविद्यानिरूपकैः ॥(९)॥
शरणागतिपर्यन्तम् उभयोरात्मनस्तथा ॥
स्वरूपमाह सर्वासां विद्यानामभिवाञ्छितम् ॥(१०)॥

आदौ जगत्कारणत्वमाह.

॥ श्रीवसुदेव उवाच ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ ॥३॥

कृष्ण कृष्णेति आदरे वीप्सा. **महायोगिन्निति** महानपि ज्ञातुमशक्य इत्यत्र हेतुरुक्तः. सङ्कर्षणस्य नाममात्रेण सम्बोधनमुक्त्वा तदर्थापरिज्ञानात् तत्स्वरूपमेवाह **सनातनेति**. अनेन नित्यार्थवाचकत्वमेव तस्यापि वक्तव्यम्

लेखः

मुनीनामित्यत्र केवलवाक्यमिति, पुत्रत्वधर्मपुरस्कारं विना ब्रह्मत्वमात्रबोधकं वाक्यमित्यर्थः ॥२॥

उभयोरिति कृष्णरामयोरित्यर्थः. **आत्मन** इति जीवस्येत्यर्थः (१०).

---

१. मुद्रिते नास्ति. ज्ञानं वा च जनयेद् इति ग, ज्ञानं वा न जनयेद् इति क-सं. पाठः. घपाठः गृहीतः - सम्पा.

इति निरूपितम्. सम्यक् कर्षणात्मकं प्रकृतेरिति तं प्रकृतिदेवतां मन्यते, अत आह **जाने** **वामिति**. **अस्य** जगतः **साक्षात्** सम्पूर्णस्य, कार्यकारणाभेदोपचारेण तथात्वं वारयति. उभयोः प्रधानपुरुषत्वम्. उपचाराद् अङ्गीकारत्वं वारयति **पराविति**. अक्षराद् उत्पन्नौ मूलभूतौ इत्यर्थः ॥३॥

जगत्कारणत्वमुक्त्वा जगद्रूपताम् आह.

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान्साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥४॥

यत्रेति, लोके षट्कारकाणां प्रकारसहितसर्वविभक्तीनां यावान् वाच्योऽर्थः स सर्वोऽपि भवानेव. तत्कारणं **प्रधानपुरुषौ** च तस्यापि कारण**मीश्वरः** कालः तयोरपि नियन्ता पुरुषोत्तम एवेति कृष्ण एवोक्तः. उभयोरेकत्वेन मूलमेव सर्वं भवतीति च. एतादृशो **भगवांस्त्वमेव** इत्यर्थः ॥४॥

एवं स्वरूपकारणत्वे निरूप्य उत्पत्तिं निरूप्य स्थितिं निरूपयति.

एतन्नानाविधं विश्वम् आत्मसृष्टमधोक्षज ।
आत्मनानुप्रविश्यात्मा प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ॥५॥

एतन्नानाविधमिति, भिन्नाभिन्न-ब्रह्म-मायाद्यनेकप्रकारं **आत्मनैव सृष्टम्**. सर्वेष्वेव प्रकारेषु भगवानेव कर्ता. **अधोक्षजेति** सर्वकर्तृत्वं तस्याज्ञातं बहिर्मुखैः इति निरूपितम्. ततः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्" (तैत्ति.उप. २।६।१) इतिवद् अन्तःप्रविश्य प्रवेशे केवल**मात्मनैव प्रविश्य** पश्चात् तत्र अनेकरूपो जात इति आह. आदौ **आत्मा** तत्सर्वं व्याप्य स्थितः, पश्चाद् **जीव**रूपेण **प्राण**रूपेण च जातः. **प्राण**शब्देन इन्द्रियाण्यपि सङ्गृहीतानि.

लेखः

कृष्ण कृष्णेत्यत्र अनेनेति, सनातनत्वकथनेन 'सङ्कर्षण'पदस्यापि नित्य-सङ्कर्षणकर्तृत्वरूपार्थवाचकत्वम् इत्यर्थः. **कार्येति**. जगतः प्रधानपुरुषात्मकत्वं कार्यकारणाभेदोपचारेण तथा भगवतोऽपि **तथात्वं** प्रधानपुरुषात्मकत्वं स्यात्. तथाच जगतइव भगवतोऽपि प्राकृतत्वं शङ्क्येत. अत उभयोः पृथक्पृथक् प्रधानपुरुषत्वम् उक्तम्. एकस्य पुरुषत्वम् एकस्य प्रधानत्वम् इत्यर्थः. जगतस्तु उभयात्मकत्वम् इति भावः. **उपचारादिति**. विकृते कार्यरूपे कारणरूपप्रधानपुरुषत्वोपचारः, तथाच कार्यरूपप्रधानपुरुषात्मकत्वमेव स्याद् इत्यर्थः ॥३॥

"सच्च त्यच्चाभवद्" (तैत्ति.उप. २।६।१) इति श्रुत्यर्थो निरूपितः. ततः सर्वमेव जगत् शरीरादिकमपि बिभर्षि. धारकशक्तिमपि तत्रैव योजितवान्. अन्तर्यामी वा तदर्थम् अधिकः प्रविष्टः. सर्वे श्रुत्युक्ताः प्रकाराः अत्र सङ्गृह्यन्ते ॥५॥

एवं स्थितिमुक्त्वा तस्य आधिदैविकमपि रूपमाह.

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥६॥

प्राणादीनामिति, प्राणादयः सर्वे स्वक्रियाशक्त्या विश्वमेव सृजन्ति. कर्मेन्द्रियैरेव सर्वं सृज्यत इति **विश्वसृक्**प्रयोगः. एतेषां **याः शक्तयस्ताः परस्यैव** आधिदैविकस्यैव, नतु आध्यात्मिकस्य आधिभौतिकस्य वा. यथा आत्मप्रयत्न एव इन्द्रियाणां शरीरस्य च भवति. ननु एतेषां सहजाः शक्तयः कुतो नाङ्गीक्रियन्ते? किमिति आधिदैविकमधिकं कल्प्यते? इति शङ्कां परिहरति **पारतन्त्र्यादिति**. एते आध्यात्मिकाः परतन्त्राः कथं स्वतन्त्रतया कार्यं करिष्यन्ति? अन्यथा सर्वदैव कथं कार्यं न कुर्युः? तस्माद् यदैव शक्त्याधानं तदैव कार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति सर्ववस्तूनां वस्तुस्वरूपः आधिदैविकापरपर्यायः. "चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः" (केनोप. २) इत्यादिश्रुतिवाच्यो भगवानेव इत्यर्थः. ननु जीवोऽङ्गीकर्तव्योऽवश्यम् इति अन्तर्यामी जीवो वा स्वशक्त्याधानं करोतु; किम् अन्तर्गडुना रूपान्तरेण इति चेत्, तत्राह **वैसादृश्यादिति**. सर्ववस्तूनाम् आत्मा विसदृशः, चेतनत्वाद्, अन्येषां जडत्वात्. यदि विसदृशोऽपि स्वशक्तिम् आदध्याद्, अन्धादिषु श्रोत्रादिष्वपि चक्षुःशक्तिं कुतो नादध्यात्? अतः प्रतिनियतपदार्थसिद्ध्यर्थं तत्तत्स्वभावापन्नम् अतिरिक्तमेव रूपम् अङ्गीकर्तव्यम् इत्यर्थः. किञ्च यदेतदुक्तम् "आध्यात्मिकम् आधिभौतिकं च ताभ्यामेव कार्यं सिध्यतु"

लेखः

प्राणादीनामित्यत्र प्राणस्य विश्वकर्तृत्वम् उपपादयन्ति **कर्मेन्द्रियैरेवेति**. तथाच क्रियायाः प्राणधर्मत्वात् प्राणस्यैव कर्तृत्वं सिद्धम् इत्यर्थः. **अन्धादिषु** इति, अन्तर्यामी जीवो वा अन्धादिपुरुषेषु श्रोत्रादीन्द्रियेषु च दर्शनसामर्थ्यं कुतो न आदध्याद् इत्यर्थः ॥६॥

इति तत्र उच्यते **द्वयोरपि** तयोः **चेष्टैव** तृणादीनामिव, नतु प्रेरकत्वं कर्तृत्वं वा सम्भवति. कुतः एतद् इत्याकाङ्क्षायां देहलीप्रदीपन्यायेन अग्रे योजयित्वा निरूपयति **चेष्टैव चेष्टतामिति. चेष्टतां** क्रियावतां **चेष्टैव** धर्मो भवितुमर्हति, नतु प्रेरकत्वं कदाचिद् वा चेष्टाभावः. तस्माद् आधिदैविकरूपम् अवश्यम् अङ्गीकर्तव्यम् इति भावः.

कर्ता सर्वप्रविष्टात्मा नानारूपस्तथा परः ।
चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतूरूपो निरूपितः ॥(११)॥६॥

विभूतिरूपं निरूपयति —

कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥७॥

कान्तिस्तेज इति, सर्ववस्तुषु या **कान्तिः** सौन्दर्यं **तेजः** दीप्तिः मण्यादिष्विव **प्रभा** परप्रकाशिका **सत्ता** वस्तुस्थितिः. यद्यपि एतच्चतुष्टयं सर्ववस्तुषु विद्यमानं **भवानेव** तथापि तद्धर्मा येषु प्रसिद्धाः तान् गणयति — **कान्तिः चन्द्रे, तेजः सूर्ये, प्रभा अग्नौ ऋक्षाणां** च, **विद्युतां सत्ता.** यथा भगवद्व्यतिरेकेण विद्युतां न क्वापि स्थितिः एवम् एतेषामपि भगवतैव कान्त्यादिकं नान्यथेत्यर्थः. धर्मरूपोऽयं निरूपितः सोऽपि भगवान् इति ज्ञापयितुं षड्धर्मपूर्त्यर्थं पुनः धर्मौ आह **यद् भूभृतां स्थैर्यं यच्च भूमेः गन्धः** तदुभयमपि त्वमेव. तत्र सर्वत्र हेतुः **अर्थत** इति, कार्यतः सुखादिकार्याणि जनयन्ति. यदि सुखजनकत्वं धर्मिणि स्यात् तदा धर्माणामपि स्यात्. कारणगुणा हि कार्यगुणम् आरभन्ते इति यत् सामर्थ्यं धर्मिणो नास्ति तद्धर्माणां युक्तिबाधितमपि. अथापि धर्मेषु कार्यातिशयो दृश्यते, तेन ज्ञायते ते धर्मा भगवद्रूपा इति. एवं कार्येष्वपि कारणातिरिक्तसामर्थ्यं यत्र दृश्यते तद् भगवान् इति ज्ञातव्यम्. अनेन तेजोभूम्योः धर्मा भगवद्रूपा निरूपिताः ॥७॥

प्रसङ्गाद् अन्येषामपि महाभूतानां धर्मा भगवद्रूपा इति निरूपयति. तत्र प्रथमं जलस्याह.

तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥८॥

तर्पणमिति, यद् अकस्मात् पीते जले काचित् तृप्तिर्जायते सा तृप्तिर्न जलस्य, अन्यथा जलस्य शोषो न भवेत्. (**प्राणनमपां!**) प्राणानामपि आप्यायनं जायते, तिष्ठन्ति तेन प्राणाः. एवं सति जले मग्नः पुरुषो न म्रियेत. तस्माद् न जलस्य धर्मः प्राणनं किन्तु भगवानेव. किञ्च जलस्य **देवत्वं** श्रूयते गङ्गादिषु, "आपो वै सर्वा देवताः" (जाबालोप. ४) इति श्रुतिश्च, अन्यथा पापक्षयादिजनकत्वं न स्यात्. किञ्च **ताश्च** आपः कूप्यादिभेदभिन्नाः तासां दृष्टादृष्टादिफलभेदा दृश्यन्ते. तद् भगवत्त्व एवोपपद्यते. किञ्च **तद्रसोऽ**पि नानाविधः ; कथम् एकविधाद् जलाद् अनेकविधो रसो भवति? भूमावपि तत एव रस इति तत्रापि इदं दूषणम्. वायोः आह **ओज** इति. **ओज** इन्द्रियाणां सामर्थ्यं, **सहो**ऽन्तःकरणस्य, **बलं** शरीरस्य —एतद् वायुकार्यम् इति लोकः. तथा सति वायुव्याप्तस्य एतदाधिक्यं भवेत्. तस्माद् वायुधर्मत्वेन प्रसिद्धावपि भगवानेव इति अर्थः. किञ्च या काचित् **चेष्टा** तृणादिषु या वा जङ्गमानां **गतिः** सापि पूर्वोक्तन्यायेन भगवानेव. **वायोस्तव** इति वायुरपि त्वमेव इत्युक्तम्. वायुभेदाश्च शतशः ; **ईश्वर** इति वायोः सूत्रात्मकत्वाभावोऽपि भगवानेवेति निरूपितम् ॥८॥

आकाशस्य आह.

दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।
नादो वर्णस्त्वमोंकार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥९॥

दिशामिति, प्राग्भागे गतस्य तत्रापि महान**वकाशो** दृश्यते दिग्भेदश्च, तदाह **दिशः खमिति**. ब्रह्मवादे दिग्धर्मः आकाशः ततः उक्तम्. दिशश्च सर्वत्र नानाविधा भवन्तीति सर्वत्र सर्वं भगवत एव भवतीति **दिशोऽ**पि **त्वमेव**. तत्र यः **स्फोटः** सोऽपि, अन्यथा शब्दे अर्थस्फुरणं न स्यात्. स्फुटति अर्थोऽस्मादिति आकाशस्य श्रुतौ आश्रयः श्रूयते, दिशां च, पूर्वभागे सः दक्षिणभागे स इति. अत **आश्रयो**ऽपि भवानेव इत्यर्थः. बाह्यमुक्त्वा आन्तरमाह **नादो वर्णस्त्वमोंकार** इति. अनुरणनात्मकः आन्तरो

लेखः

तर्पणमित्यत्र वायुव्याप्तस्येति, वात्यायां स्थितस्य इत्यर्थः ॥८॥

नादः, सएव साकारत्वमापन्नो **वर्णः**, स एव अन्तःकरणे आवेष्टितः **ओंकारः**, ततो वैखरीप्रकारेण निर्गताः पञ्चाशद्वर्णाः **तेषामाकृतय** आकारा भिन्नाः. तेषां करणान्यपि भिन्नानि कण्ठादीनि. कथम् एकस्मात् कारणाद् अनेकप्रकारवर्णा अनेकस्थानप्रकारा भिन्नाः भवेयुः ? अतः **आकृतीनां** वर्णानां **पृथक्कृतिः** पृथक्क्रिया भवानेव इत्यर्थः ॥९॥

एवं महाभूतानि उक्त्वा इन्द्रियाणि आह.

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः ।
अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥१०॥

इन्द्रियमिति, सर्वेषामिन्द्रियाणां यद् **इन्द्रियं** तदेकं सर्वानुस्यूतं वर्तते इति वक्तव्यम्. तत्सम्बन्धादेव शरीरावयवविशेषाणाम् इन्द्रियत्वम्. "इन्द्रियं वीर्यं पृथिवीमनुव्यार्छद्" (तैत्ति.संहि. २।५।३।२) इति श्रुतिरपि संगच्छते. तद् **भवानेव**. अतएव तस्य ओषधिवीरुधत्वं नानारूपत्वं च संगच्छते. इन्द्रियाधिष्ठातृ**देवा** अपि त्वमेव. **च**कारात् तत्सम्बन्धः तेषाम**नुग्रहो**ऽपि इन्द्रियेषु. अन्तःकरणस्य आह **अवबोधो भवान् बुद्धे**रिति, बुद्धेः जडायाअपि योऽवबोधो विषयप्रकाशरूपः स भवानेव. **जीवस्या**पि जीवात्मनो या **अनुस्मृतिः** पूर्वापरानुसन्धानं स **भवानेव**. अनुभव एव ब्रह्मणः स्मृतिः जीवस्य[१]; इन्द्रियद्वारा अनुभवस्तु कृत्रिमः. अतएव इन्द्रियैरपि जनितो अनुभवः आत्मार्थं संस्कारमेव जनयति यथा स्मृत्युद्गमयोग्यो भवति आत्मा. सापि जीवस्य भगवानेव इत्यर्थः. सा दोषवशात् कदाचित् प्रकारान्तरेणापि स्फुरति, यथा शुक्तिका रजतत्वेन, तां वारयति **सतीति** ॥१०॥

एवं सर्वकार्यधर्माः भगवान् इति निरूप्य कारणता भगवानेव इति निरूपयति.

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः ।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥११॥

---

१. ब्रह्मणो अनुभव एव जीवस्य स्मृति (एव) इति, अथवा जीवस्य ब्रह्मणः स्मृतिः अनुभव एव – इत्यन्वयः – सम्पा.

भूतानामसि भूतादिरिति, पञ्चमहाभूतानां कारणं **भूतादिः** अहंकारः, **इन्द्रियाणामपि तैजसो** राजसः, तथा **विकल्पानां** संकल्पविकल्परूपमनसः कारणं **वैकारिकः** सात्त्विकोऽहंकारः. **अनुशायिनां** महत्तत्त्वादिजीवानां कारणं (**प्रधानं!**) प्रकृतिः भवान् ॥११॥

एवं कारणस्य कारणतामुक्त्वा कार्यस्यापि कार्यता भवानेव इत्याह.

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरः ।
यथा द्रव्यविकारेषु ह्यन्यदा व्यावहारिकः ॥१२॥

नश्वरेषु इह भावेषु इति. नाशप्रतियोगि कार्यम्. ततश्च कार्यस्य नाशे कार्यता नोपपद्येत, कार्यस्य नष्टत्वात्. अतः कश्चन पदार्थो वक्तव्यः यः कार्यः कार्येषु स्थिरो भवति; यस्य नष्टत्वं धर्मः कार्यस्य इति सम्बन्धश्च. स **अनश्वरः** सर्वदा स्थिरः स एकः सर्वकार्यानुस्यूतो वक्तव्यः. तमेव आश्रित्य कश्चिद् आह "नह्यसन् घटादिः न घटादिः" इति. ननु नश्वरेषु भावेषु कोऽपि अनश्वरो न दृश्यते, को वा भगवान् भविष्यति? इति चेत्, तत्र दृष्टान्तम् उपपादयति **यथा द्रव्यविकारेष्विति. द्रव्यविकारेषु** घटपटादिषु सोऽन्यो घटपटादिरूपो वर्तते, तद्वत् सर्वेष्वपीत्यर्थः. ननु स एव नास्ति, को दृष्टान्तेन साध्यत इति चेत्, तत्र आह **अन्यदा व्यावहारिक** इति. घटाभावसमये यस्तु घटव्यवहारं साधयति. अन्यथा सद्व्यवहारः बाधितार्थविषयकः कथं स्यात् "स घटो भग्नः, भूतले घटो नास्ति, पञ्च घटा भग्ना" इति? एवं धर्मधर्मिव्यवहारः सद्विषयकएव इति सोऽवश्यम्

लेखः

भूतानामसि इत्यत्र **भूतादिः** इति तामस इत्यर्थः ॥११॥

नश्वरेष्वित्यत्र. कारणता कारणानामेषां धर्म इत्यर्थः. **न ह्यसन्निति न घटादिः** इति, व्यवहृतोऽपि घटादिरसन्नेत्यर्थः. **द्रव्येति**, मृद्विकारे घटे पूर्वमेव मृत्तिकायां सिद्धो घटोऽन्यो वर्तते, अन्यथा असतः सत्ता स्यादिति भावः. **स एवेति**, दृष्टान्तीभूत एव नास्ति उपलब्ध्यभावात्. तथाच तस्यैवाभावात्[१] तेन साध्यः को वा भवति इत्यर्थः ॥१२॥

---

१. मुद्रितपाठे एव एवकारो नास्ति - सम्पा.

अङ्गीकर्तव्य इति हिशब्दार्थः ॥१२॥

एवं कार्यकारणरूपत्वं निरूप्य सर्वाधारत्वं निरूपयन् तत्कृतगुणदोषाभावार्थम् आह.

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥१३॥

सत्त्वमिति, सत्त्वादयो **गुणाः तद्वृत्तयो** अहिंसाद्याः एकादशस्कन्धोक्ताः ते सर्वे **त्वय्येव ब्रह्मणि परे** शब्दब्रह्मवाच्ये. तवैव **योगमायया** तत्र **कल्पिताः** अतः तदाधारत्वेऽपि न तद्दोषसम्बन्ध इत्यर्थः. **ब्रह्मणि** इति अपहतपाप्मत्वमुपपत्तिः उक्ता. उपपत्त्यन्तरं **पर** इति नियामकत्वाच्च तदाज्ञयैव तद् न स्पृशन्ति इत्यर्थः. योगमाया च तादृश्येव, यथा योगेन नाधारं स्पृशेयुः ॥१३॥

ननु विद्यमानाः कथं न स्पृशन्तीत्याशङ्कायामाह **तस्मान्न सन्त्यमी भावा** इति.

तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।
त्वं चामीषु विकारेषु येऽन्यदा व्यावहारिकाः ॥१४॥

यर्हि त्वयि विकल्पिताः त्वत्तो भिन्नतया निरूपिताः. तदा तेषां पृथक्सत्त्वाभावात् न सन्त्येव. अविकल्पितास्तु सन्ति, नतु विकल्पिता इति स्थितिः. अतो दोषाभावार्थं तेषां विकल्पो योगमायारब्धत्वं च निरूप्यते. नहि मायया छिद्यमानः पटः छिन्नो भवति, मायिकपटधर्मा वा कदाचित् सम्बन्धिषु भवन्ति. ननु तेषामभावे भगवान् कथं सर्वाश्रय इति चेत्, तत्राह **त्वं चामीषु विकारेषु** न वर्तस इत्यर्थः. विकारित्वमेव हेतुः. ननु एवं सति कथमसद्भिर्व्यवहार इति चेत्, तत्राह **येऽन्यदा व्यावहारिका** इति. यथा अन्यदा एते व्यावहारिकाः तथा विद्यमानदशायामपि व्यावहारिका भविष्यन्ति, को दोष इत्यर्थः ॥१४॥

एवं भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं निरूप्य एतत्सिद्धान्तं ये न जानन्ति तान् निन्दति यतोऽस्य ज्ञानस्य मोक्षसाधकत्वं भविष्यति इत्याशयेनाह.

गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।

गतिं सूक्ष्मां न जानन्ति[१] **संसरन्तीह कर्मभिः ॥१५॥**

गुणप्रवाह एतस्मिन्निति, गुणानामयं प्रवाहः. अनेन मायाकल्पितपक्षो निरुक्तः. तत्र[२] सत्यबुद्ध्या ये प्रवर्तन्ते ते **अबुधाः**. तुशब्दः तेषां बुधत्वपक्षं सिद्धान्तान्तरसिद्धं वारयति. ननु विषयाणामसत्यत्वे यद्यन्यः समीचीनो भवेत् तदा स आत्मार्थं गृह्येत, तदभावादगत्या विषयेष्वेव स्थातव्यमिति चेत्, तत्राह **अखिलात्मनः गतिं सूक्ष्मां न जानन्तीति**. भगवान् सर्वात्मा, स च पूर्णानन्तगुण इति पूर्वमेवोक्तम्. अत आत्मनो भगवत्त्वसिद्धौ तेनैव कृतार्थतेति किं विषयैः? किञ्च तस्य च सूक्ष्मा गतिरस्ति भक्तिमार्गानुसारिणी, सा वा ज्ञातव्या. उभयाबोधे **इह कर्मभिः संसरन्ति. अखिलात्मनः** अबोधेन **संसरन्तीति** योजना. **गतिं सूक्ष्मां** वा अबुद्ध्वेति विपरिणामः कर्तव्यः. तस्मात् स्वार्थं द्वयं निरूपितं— भगवानात्मत्वेन ज्ञातव्यः भक्तिर्वा कर्तव्येति ॥१५॥

एतदुभयाज्ञाने दोषमाह.

यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१६॥

यदृच्छया नृतां **प्राप्येति**. अज्ञानाविष्टाः बहून्येव कर्माणि कुर्वन्ति, तेन नानाविधेऽपि संसारे प्रवाहन्यायेन कदाचिद्दैवगत्या नृतामपि प्राप्नुवन्ति. तत्रापि **सुकल्पां** भगवद्भजनादिषु समर्थां **इहास्मिन्निःसारे**[३] संसारे **दुर्लभाम्**. एवं पुरुषार्थसाधनीभूतं दुर्लभशरीरं प्राप्य **स्वार्थे** ज्ञाने भक्तौ वा यः **प्रमत्तः** विघ्नैराक्रान्तः उभयविरोधिवशं गत इत्यर्थः. तादृशस्वल्पे[४] पुरुषार्थसाधनीभूते देहे वय एव प्रयोजकम्; तस्मिन् गते जरठः किं साधयिष्यति? एतादृशं **वयस्त्वन्मायया गतं** भोगेच्छया. **ईश्वरेति** समर्थत्वज्ञापनाय[५] ॥१६॥

न केवलं भोगेच्छा किन्तु अन्येऽपि दोषा जाता इत्याह.

असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत् ॥१७॥

---

१. गतिं सूक्ष्मामबोधेन. २. तत्रत्यबुद्ध्या इति क-ग-घ-सं. पाठेषु - सम्पा.

३. अस्मिन् विचारे इति क-ग-घ-सं. पाठेषु - सम्पा. ४. स्वस्य. ५. समर्थत्वाद् इति सं.पाठे - सम्पा.

असावहमिति, **असौ** देहः 'वसुदेव'वाच्यः **अहमित्यस्मिन्** या बुद्धिः, **एते च** पुत्रवित्तादयः **ममैव**, न त्वहमेतेषामपीति. एवमहंममताभ्यां व्याप्तः नाशं गच्छामीत्येको दोषः. द्वितीयमाह **देहे चास्यान्वयादिष्विति. अस्य** देहस्या**न्वयः** वंशः पुत्रादिः. **आदि**शब्देन स्त्रीश्वशुराद्याः. न केवलं तेष्वेव किन्तु **देहे च**, चकारात्तत्सम्बन्धिषु पित्रादिष्वपि **स्नेहपाशैर्निबध्नातीति**. न केवलं मामेव किन्तु **सर्वमेव जगत्** ॥१७॥

अत्रैकोऽर्थः सन्दिग्धः — अहं किं विषयत्वेन त्वां बध्नामि अथवेश्वरत्वेन ? एवं जगदपि. तत्राह **युवां न नः सुताविति**.

युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह ॥१८॥

विषयत्वेन चेद् बध्नासि तदोपकारोऽपि भवेत् वस्तुस्वभावात्, परं विषयतैव नास्ति यतो **युवां न नः सुतौ**. एवं विषयत्वेन बन्धनं दूरीकृत्य प्रकारान्तरेण बन्धने सामर्थ्यमाह **साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वराविति**, प्रधानपुरुषयोरीश्वरौ काल-पुरुषोत्तमौ. तादृशयोः कथमागमनमिति चेत्, तत्राह **भूभारक्षत्रक्षपणे अवतीर्णाविति**. किमत्र प्रमाणमिति चेत्, तत्राह **तथात्थ हेति**. यथा "ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः" (भाग.पुरा. १०।३।४८) इति ग्रन्थे अनुक्तमपि प्रेरणम् अस्मादेव वाक्यादवगम्यते. एवमत्रापि "भूभाररूपक्षत्रियहननार्थम् अवतीर्ण" इति भगवतैव कदाचिदुक्तमिति ज्ञातव्यम्. **ह**ेत्याश्चर्यजनकम्. अनेनात्र कल्पना निवर्तिता ॥१८॥

तर्हि किमद्योच्यत इत्याशङ्कायामाह.

तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्दम्
आपन्नसंसृतिभयापहम् आर्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥१९॥

तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्येति. ते पदारविन्दमहं शरणं **गतोऽस्मि**. अनेन पूर्वं भवान् बध्नातीत्यनिष्टमुक्तं तन्निवृत्तिरर्थात् सूच्यते. चरणारविन्दशरणागतेः को विशेष इत्याशङ्कायामाह **आपन्नसंसृतिभयापहमिति**. आपन्ना ये शरणागतास्तेषां भयमपहन्तीति तथा. अतस्त्वयि विलम्बमानेऽपि चरण एव

वा कृतार्थं करिष्यतीति चरणानुसृतिः. भगवतोऽपि यथा स्नेहो भवति तदाह **आर्तबन्धो** इति. एतावता स्वस्यार्तत्वं पूर्वमेवोक्तम् इत्यध्यवसीयते. ननु विषया भुज्यन्तां, किं वैराग्येणेत्यत आह **एतावतालमिति. इन्द्रियलालसेन एतावता अलम्. इन्द्रियलालसं** इन्द्रियलालसा सा पूर्यताम् इत्यर्थः. इन्द्रियलालसेन वा मया एतावता एवमवस्थां प्रापितेन अलमिति; अतः परमियमवस्था मा भवत्वित्यर्थः. किञ्च **मर्त्यात्मदृगिति** द्वितीयो दोषः, **त्वयि परे यदपत्यबुद्धिरिति** तृतीयः. भोगेच्छा, देहाभिमानः, भगवति चान्यथाबुद्धिः इति अचिकित्स्यः त्रिदोषः. एतं दूरीकुरु इत्यर्थादुक्तं भवति ॥१९॥

ननु एतत्सर्वं त्वया कुतोऽवगतमिति चेत्, तत्राह.

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ
संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नानातनूर्गगनवद् विदधद् जहासि
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥२०॥

अस्मिन्नर्थे त्वमेव गुरुरिति **सूतीगृहे ननु जगाद भवान्** इति. किं जगादेत्यत आह **नौ** आवयोः **अज** एव **संजज्ञ** इति. देवकीवसुदेवयोः पूर्वदृष्ट एवाहं जात इति. तत्र मम सन्देहः— किमस्मदर्थमेव भगवान् जातः आहोस्विदनुयुगं **निजधर्मगुप्त्यै** जायमान इति. ननु धर्मरक्षार्थं जनने त्वद्गृहे कथं जायेत? अतस्त्वदर्थमेव जात इति चेत्, तत्राह **गगनवद् विदधज्जहासीति**. आकाशो हि सर्ववस्तुभिः स्वाकारं करोति घटवत् पटवत् पुरुषवच्चेति तस्मात् स्थानात्; तस्मिंश्चापगते स्थलान्तरे[१] रूपाणि गृह्णन्नेव पूर्वरूपाणि जहाति. एवं भवानप्यविकृतः देवकीगृहे प्रादुर्भूतः तत्रत्यमायां दूरीकृत्य प्रादुर्भूतो[२] निश्चल एव. ततः प्रदेशान्तरगमने पूर्वस्थाने माया संवृता = स्थलान्तरस्थापगतेति प्रतिक्षणं रूपान्तराणि भवन्तीति गगनवदेव भगवतोऽपि देहग्रहण-परित्यागौ. इयांस्तु विशेषः— उपाधिवशात् तस्य देहग्रहणम्, भगवतस्तु मायाजवनिकापगमादिति. अत एव किमस्मदर्थमागतः

---

१. सं.पाठः गृहीतः. फलान्तरे इति इतरेषु - सम्पा. २. जात इति क-ग-घ-सं. पाठेषु - सम्पा.

अन्यार्थं वा समागत इति प्रतिक्षणं गृहीतरूपाणां प्रयोजनवत्त्वमेव दुर्निरूपं; प्रयोजनविशेषस्य का वार्तेति भावः. तर्ह्यस्मिन्नर्थे सिद्धान्तो ज्ञातव्य इति चेत्, तत्राह हे **उरुगाय** इति, सर्वैरेवं गीयत इति गानार्थमेवं[१] करोषीत्यर्थः. विशेषतो वक्तव्ये न ज्ञायत इत्याह **विभूतिरूपां मायां को वेदेति** ॥२०॥

एवं स्तुतिप्रपत्ती निरूप्य अचिन्त्यरूपत्वे निरूपिते भगवान् प्रसन्नः, खण्डज्ञानं तस्य जातमिति अखण्डबोधार्थं प्रवृत्त इत्याह **आकर्ण्येत्थमिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान् सात्वतर्षभः ।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा ॥२१॥

पितृवाक्यत्वात् स्वामिवत् लीलाप्रदर्शनमयुक्तम् अतः **प्रश्रयानम्रः** सन् अग्रेऽपि मोहार्थं **प्रहसन्** चित्तसन्तोषार्थं **श्लक्ष्णया गिरा सात्वतर्षभो** वैष्णवपतिरिति एवं प्रपत्तिकथनेऽपि तूर्ष्णीं स्थितौ वैष्णवानां दुःखं भविष्यतीति "युवां मां पुत्रभावेन" (भाग.पुरा. १०।३।४५) इति वाक्ये निर्णयस्योक्तत्वात् प्रयोजनाभावाद् वाक्येन बोधं हास्येन मोहं च कुर्वन् **आहेत्यर्थः** ॥२१॥

आदौ तदुक्तमभिनन्दति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे ।
यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥२२॥

वचो वः समवेतार्थमिति, अस्मिन् वाक्ये अर्थः समवेतोऽस्ति. एतद्वाक्यं तथा **उपमन्महे.** स कोऽर्थ इति चेत्, तत्र आह **यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्येति.** इयं स्तुतिर्न भवति किन्तूपदेशः. यथा "तत्त्वमस्या" (छान्दो.उप. ६।८।१०) दिवाक्यम् एवमिदमपि ब्रह्मात्मभावम्

लेखः

वचो वः इत्यत्र **ब्रह्मात्मभावमिति.** ब्रह्मण आत्मभावो यस्मात् तादृशं वाक्यम् इत्यर्थः. **अङ्गीकारे** इति, तत्र पितृत्वस्थापनात् तद्वाक्यस्य

---

१. गानार्थमेव इति मुद्रितपाठः. क-घ-सं.पाठः गृहीतः - सम्पा.

इत्यर्थः. अङ्गीकारे दोषः स्याद् अनङ्गीकारे च, अतोऽन्यथावर्णनम् ॥२२॥

एवम् उक्तस्य प्रकारमुक्त्वा तस्य सर्वदुःखनिवृत्त्यर्थं पूर्णं बोधमुपदिशति **अहं यूयमिति.**

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः ।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ॥२३॥

यथा मां जानासि तथा सर्वानिव जानीहि. "अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्" (त.दी.नि. २।१८२) इतिवत् सर्वस्य शुद्धभगवत्त्वे ज्ञाते न किञ्चिदवशिष्यत इति भगवांस्तदेवोपदिशति. समुदायपर्यवसानव्यावृत्त्यर्थं प्रत्येकमनुवदति. **अहमिति** दृष्टान्तानुवादः. **यूयमिति** पितुरेव बहुवचनम्. **असावार्यो** बलभद्रः. **इमे च द्वारकावासिनः**. अन्ये च ब्रह्माण्डस्थाः **सर्व** एव **एवमेव विमृश्याः** साक्षाद् भगवानेवेति. **सचराचरमिति** स्थावर-जङ्गमेऽपि यथा मयि तथा बुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः.

यथेच्छां भगवान् विष्णुः पुरस्कृत्याभवत् स्वयम् ।
एवं सर्वत्र तत्तत् स्यामिति जातः स्वयं हरिः ॥(१२)॥२३॥

ननु एवं सति ब्रह्मानन्त्यं[१] स्याद्, ब्रह्मबुद्धिपरत्वे तु आरोपितज्ञानविषयत्वेन अनित्यफलसाधकता स्यादिति शङ्कां दूरीकुर्वन् आधाराधेयभावं च दूरीकुर्वन् सर्वत्रात्मप्रतीतिसिद्ध्यर्थं च अखण्डात्मत्वं बोधयति **आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिः** इति.

लेखः

स्तुतित्वेनाङ्गीकारे **दोषः स्याद्** इत्यर्थः. **अनङ्गीकारे चेति**, पितृत्वादेवानङ्गीकारे **दोष** इत्यर्थः ॥२२॥

आत्मा ह्येक इत्यस्याभासे **ब्रह्मानन्त्यमिति**, ब्रह्मानेकत्वम् इत्यर्थः. **अनित्येति**. प्रतीकज्ञानस्यानित्यफलकत्वम् "अप्रतीकालम्बनान्नयति" (ब्रह्मसूत्र ४।३।१६) इति सूत्रे निरूपितम्, एतच्छङ्कादूरीकरणार्थं ब्रह्मण आत्मत्वमखण्डं बोधयति. प्रयोजनान्तरम् आहुः **सर्वत्रेति**. अत्रात्मपदेन जीवस्तथा च सर्वत्र स्वात्मत्वेन **प्रतीतिसिद्ध्यर्थं** जीवस्यात्मत्वमखण्डं बोधयति **अखण्डात्मत्वं**

---

१. ब्रह्मानन्दम् इति क-ग-घ-सं.पाठेषु - सम्पा.

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥२४॥

अतति व्याप्नोतीत्यात्मा, परिच्छेदे आत्मत्वमेव भज्येत. **एकेनैव** कार्यसिद्धौ द्वितीयकल्पना व्यर्था. भोगस्य तु न व्यवस्थापकत्वम्, ईश्वरेच्छयैव व्यवस्थासम्भवात्. या क्रिया यदीयव्यधिकरणगुणजन्या[1] सा तत्संयोगासमवायिकारणिकेति [2]व्याप्तिर्बाधितैव. ईश्वरेच्छायाः सर्वत्र कारणत्वात् तत्संयोगः जीवात्मसु न सङ्गच्छते, अजसंयोगस्यानङ्गीकारात्. तस्माद् भोगस्यान्यथाप्युप-

लेखः

बोधयति जीवब्रह्मणोः इति शेषः. पूर्वप्रयोजनार्थं ब्रह्मणः द्वितीयप्रयोजनार्थं जीवस्य चाखण्डमात्मत्वं बोधयति इत्यर्थः.

व्याख्याने आत्मन एकत्वाङ्गीकारे हेतुम् आहुः **एकेनैवेति**. ननु एवं सति किञ्चिदवच्छिन्ने आत्मनि सुखं किञ्चिदवच्छिन्ने दुःखमिति न स्यात्, पापपुण्यकर्तुरैकत्वाद्, अतो भोगेन हेतुनात्मनो नानात्वं [3]व्यवस्थाप्यते इत्यत आहुः **भोगस्य** तु इति. यत्र सुखं दित्सितम् ईश्वरस्य तत्र सुखं, यत्र दुःखं दित्सितं तत्र दुःखमिति व्यवस्थासम्भवाद् इत्यर्थः. ननु भोगे ईश्वरेच्छाया न हेतुत्वं वक्तुं शक्यं, क्लृप्तव्याप्तिविरोधादिति वक्तुं तां व्याप्तिम् आहुः **या क्रियेति**. या क्रिया यन्निष्ठेन स्वव्यधिकरणगुणेन यत्नादिना जन्या तत्र क्रियायां तत्संयोगोऽसमवायिकारणत्वेनापेक्षित इत्यर्थः. **बाधितैवेति** अत्रेति शेषः. अत्र हि क्रिया लक्ष्या, भोगस्तु अनुभवात्मा ज्ञानरूपः, अतस्तस्य लक्ष्यत्वाभावाद् इयं व्याप्तिः अत्र अप्राप्तैव इत्यर्थः. **ईश्वरेच्छाया** इति अन्यथा इति शेषः. भोगस्यापि लक्ष्यत्वे अनेन प्रकारेण व्याप्तिरेव न सिद्ध्येदिति भावः. **तस्मादिति**, ईश्वरेच्छाया भोगव्यवस्थापकत्वाद् भोगस्येश्वरेच्छया अप्युपपत्तिरित्यर्थः. ननु तर्हि गौतमो नानात्वं

१. गुणाजन्या इति मुद्रित-घ पाठयोः. शेषेषु एवम् -सम्पा. २. तद् यथा: या क्रिया = जलाहरणरूपा यदीयव्यधिकरणगुणजन्या = जलाहरणकर्तृ-व्यधिकरणभूतघटस्य पृथुबुध्नोदराकृतिरूप-गुणजन्या ; सा तदसमवायिकारणिका=जलाहरणकर्तृपुरुष-घटसंयोगरूपासमवायिकारणिका - सम्पा.

३. अवस्थाप्यते इति मुद्रितपाठः - सम्पा.

पत्तेः **एक एवात्मा. (हि !)** युक्तश्चायमर्थः. "एकमेवाद्वितीयम्" (छान्दो.उप. ६।२।१) "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" (भग.गीता १०।२०) "नित्यः सर्वगतः" (भग.गीता २।२४) इत्यादिवाक्यसहस्रैः आत्मन एकत्वमेव निर्णीतम्. "नानात्मानो व्यवस्थातः" (वैशेषिकसूत्र ३।२।१६) इति सूत्रमकारप्रश्लेषेणापि योजनीयम् 'अव्यवस्था' = अविचार इति. ननु जीवस्य नानात्वे परिहृतेऽपि जीवब्रह्मणोर्भेदोऽङ्गीकर्तव्यः, अन्यथा ज्ञानोपदेष्टृभावात् मोक्षो न स्याद्, अत आह **स्वयंज्योतिरिति**. स हि स्वप्रकाशः, नास्यात्मप्रकाशार्थं कश्चिदपेक्ष्यते मोक्षार्थं वा. अन्यत्तु[१] आत्मवैलक्षण्यं नास्तीत्युक्तमेव "पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि" (भाग.पुरा. ११।२२।११) इति. तस्य नानात्वाज्ञाने अग्रे निरूपयिष्यते; वास्तवस्त्वयमर्थः. कालेन स्वप्रकाशनिवृत्तिमाशङ्क्याह **नित्य** इति, सदैकरूप इत्यर्थः. तर्हि काल एवायं स्यात्, तत्र आह **अन्य** इति, कालाद् अन्यः यस्य चेष्टा कालः इति, "चेष्टामाहुः" (भाग.पुरा. १०।३।२६) इतिवाक्यात्. ननु तादृशः

लेखः

कथमवोचदित्याशङ्क्य "कणादादिमुनिश्रेष्ठाः" (त.दी.नि. २।३२५) इति वाक्यात् तद्वचनस्य व्यामोहकत्वे सिद्धान्तितेऽपि "तुष्यतु दुर्जन" न्यायेन सूत्रव्याख्यानम् आहुः **नानात्मान** इति. जीवब्रह्मणोः भेदेऽपि अखण्डात्मत्वं न सिद्ध्यतीति तद्भेदोऽपि निराकृतः. अयं ब्रह्मवादाविरोधि-साङ्ख्यसिद्धान्तः उक्तः इत्याशयेन आहुः **पुरुषेश्वरयोरिति**. अविरोधस्तु समष्टिरूपः चिति तन्मात्रेण इति पक्षे जीवप्रवेशाधिकरणत्वेनोक्तः, सच्चिदानन्देषु मध्ये चिद्रूप एकः तस्माद् व्यष्टिरूपा विस्फुलिङ्गन्यायेन निर्गलिता जीवा अणवो नानेति. तथा च विस्फुलिङ्गानां नानात्वेऽपि अग्नेरखण्डत्वमेव, तथा इति ज्ञेयम्. **तस्येति** जीवस्य इत्यर्थः. **नानात्वाज्ञाने** इति द्वितीया द्विवचनान्तम्. **निरूपयिष्यते** शुक इति शेषः. **वास्तवस्तु** इति, नानात्वाज्ञाने त्वौपाधिके इति भावः ॥२४॥

---

१. अन्यत्वात्मवैलक्षण्यम् इति कपाठे. अन्यात्मवैलक्षण्यम् इति गपाठे. घ-सं-मुद्रितपाठे एवम् - सम्पा.

परमात्मा पुरुषोत्तमो नतु जीव इति चेत्, तत्र आह **निर्गुण** इति. अयमेव जीवो गुणातीतः, नतु ततोऽन्योऽस्ति कश्चित्. ननु एवं सति नानात्वम् उच्चावचत्वं कथं घटत इति चेत्, तत्र आह **आत्मसृष्टैः गुणैः** तैरेव गुणैः **कृतेषु** देवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहेषु भूतशब्दवाच्येषु आधारवशाद् अग्निरिव **बहुधा ईयते** ॥२४॥

एवमेकस्य अनेकधा भानप्रकारमुक्त्वा नानात्वमपि व्यवस्थया आह.

खं वायुर्ज्योतिरापोभूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तारोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि ॥२५॥

खं वायुरिति, पञ्चमहाभूतानि **तत्कृतेषु** भौतिकेषु (**यथाशयं**!) आशयमनुल्लङ्घ्य **आविस्तारोऽल्प-भूर्येक** इति. एतान्येव भूतानि क्वचिद् **विस्तारं** प्राप्नुवन्ति हस्त्यादिशरीरे, क्वचिदल्पत्वं मशकादौ, क्वचिद् (**भूरि**!) बहुरूपत्वं चित्रपटमयूरादौ, क्वचिदेकत्वं कोकिलादौ धात्वादौ वा. एवं परिमाण-रूपादिवैलक्षण्यात् पृथिव्यादीनां **नानात्वम्**. एवमात्मनोऽपि तत्तदुपादा-नोपलम्भकतया नानात्वमित्यर्थः. उच्चनीचत्वं देहकृतं, नानात्वं परिमाणधर्मकृत-मिति वस्तुतः स्वरूपमेकमेवेत्यर्थः. यथा सर्वत्र भौतिकेषु पृथिव्यादिरेक एव; नतु कार्यवैलक्षण्येन कारणभूतायाः पृथिव्याः नानात्वं वैलक्षण्यं वा कल्प्यते, पृथिवीगुणत्वेनैव तत्सिद्धेः; एवं सच्चिदानन्दधर्मतारतम्येन ऐश्वर्यादितारतम्येन श्र्यादितारतम्येन वा नानात्वमात्मन उपपद्यत इति न स्वरूपे भेदस्तदनुरोधेन कल्पनीयः. उपाधिकृतवैलक्षण्यमिति सर्वं सुस्थम्. **असावपि** आत्मापि. **अपि**शब्देन भूतानि सङ्गृहीतानि. अतः स्वेच्छया स एव सर्वरूपेण तिष्ठतीति विचारप्रवणं चित्तं कृत्वा यथा मां जानासि तथैव सर्वं मां जानीहीत्युपदेशः. एष एवाखण्डाद्वैतवादः ॥२५॥

एवं भगवता उपदिष्टः ऐश्वर्यभावप्राकट्याद् बोधितमर्थं भावान्तरमापन्नो-ऽपि गृहीतवानित्याह **एवं भगवतेति**.

लेखः

खं वायुरित्यत्र. विस्तारं मर्यादीकृत्य वर्तत **इत्याविस्तारः** खं वाय्वादिरित्यर्थः ॥२५॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम् ।
श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ॥२६॥

उदाहृतं सिद्धमेव. **विनष्टा** नानाबुद्धिः पञ्चविधापि यस्य. ततो वक्तव्याभावात् स्वस्मिन्नपि तथा स्फुरणात् तूष्णीम्भूत इत्यर्थः ॥२६॥

एकमेकस्य ज्ञानोपदेशो निरूपितः स्वज्ञानशक्तिप्राकट्येन. क्रियाशक्तिप्राकट्यार्थम् उपाख्यानान्तरमारभते **अथ तत्रेति.**

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।
श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥२७॥

कुरुश्रेष्ठेति क्रियाधिक्यं तस्य हृदये समायास्यतीति सम्बोधनम्. वसुदेवः कृतार्थो जात इति स्वस्यापि हृदये भगवता कृतार्थत्वं प्राप्तापि (**देवकी!**) पूर्वसञ्जातदुःखवासनाया अनिवृत्तत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं भगवन्तं प्रार्थयते. वाक्येन तु न तन्निवर्तते. नाट्येन निवर्तनेऽपि तेषां जीवानाममुक्तत्वाद् ज्ञानोत्तरं सर्वज्ञत्वे[1] सिद्धे "भगवता वञ्चितमि"ति प्रतिभायात्, पुनस्तदुद्धारार्थं चिन्तापि स्यादिति तेष्वेव समागतेषु तद्दुःखं गच्छति नान्यथेति निश्चित्य; तदर्थं भगवतः सामर्थ्यं पुत्राणां स्वरूपप्रतिपत्तिश्च सम्भावितेति दृष्टान्तेनावगता तामेवाह **श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमिति.** स्वस्यैव**आत्मजाभ्यां** रामकृष्णाभ्यां स्वरूपं प्रापयित्वा **आनीतं श्रुत्वा सुष्ठु विस्मिता** जाता ॥२७॥

ततो वस्तुनिर्धारं ज्ञात्वा भगवन्तं याचितवतीत्याह **कृष्णरामाविति.**

लेखः

एवं भगवतेत्यत्र पञ्चविधापीति. "अहं यूयमसावार्यः इमे च द्वारकौकसः सचराचरं सर्वेऽपि" (श्लो. २३) इति पञ्चविधापि नानाबुद्धिः भगवता नाशिता इत्यर्थः ॥२६॥

अथ तत्रेत्यत्र नाट्येनेति, मायिकान् कल्पयित्वा प्रदर्शनेन दुःखनिवर्तकत्वेऽपीत्यर्थः. **तेष्वेवेति** नतु मायिकेषु इत्येवकारः. **तामेवाहेति** अवगतिमेवाहेत्यर्थः ॥२७॥

---

१. सर्वज्ञानत्वेन इति क-ग-घपाठः - सम्पा.

कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान् ।
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्याद् अश्रुलोचना ॥२८॥

सम्यगाश्राव्य "सावधानं शृण्वि"त्युक्त्वा **कंसविहिंसितान् पुत्रान् स्मरन्ती कृपणं** यथा भवति तथा **प्राह**. तेनैव स्मरणेन **वैक्लव्यादश्रुलोचना** च जाता ॥२८॥

एवं कायवाङ्मनोवैकल्यमुक्तं, तन्निराकरणार्थमादौ भगवन्तं स्तौति **राम रामेति** त्रिभिः. भगवान् शरणागतानामेव दुःखं दूरीकरोतीति प्रथमतः स्वस्यापि शरणागतिः कर्तव्या. तत्र यदि फलं न कीर्तयेत् तदा मोक्षार्थं सा भवेत्. भगवतो वा तन्निवारणे सामर्थ्यं न भवेत् स्वयं वा न जानीयात् तथापि सर्वं विशकलितं भवेदिति प्रथमतो भगवतः सामर्थ्यं स्वस्य ज्ञानं चाह. देवक्याः कृष्णरामयोः अवान्तरपरिज्ञानं नास्तीति ज्येष्ठानुक्रमेण स्तौति.

॥ देवक्युवाच ॥

राम रामाऽप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।
वेदाहं वां विश्वसृजाम् ईश्वरावादिपूरुषौ ॥२९॥

वीप्सा आदरे. **अप्रमेयात्मन्निति**. त्वं सर्वसमर्थस्तथापि लोको न जानातीति साधनान्तरे यतते. नहि कश्चित् चिन्तामणिं प्राप्य पुनरन्यत्साधनम् अङ्गीकरोति. भगवतस्तथात्वाज्ञाने हेतुः भगवत्स्वरूपधर्म एव, यथा परमाणोः अप्रत्यक्षतायाम्. एवं प्रमातुमयोग्यमेव भगवत्स्वरूपमित्यर्थः. कृष्णस्यापि सम्बोधनमाह. निकटे शृणोति सावधान इति सकृदेव सम्बोधनम्. **योगेश्वरेश्वरेति** सर्वसाधनसम्पत्तिः. एवमुभयोर्माहात्म्यमुक्त्वा अध्यारोपापवादनिराकरणार्थं स्वस्यापि याथार्थ्यज्ञानमनुवदति **वेदाहं वां विश्वसृजामिति**. वां युवामहं जाने. केन प्रकारेण जानासीत्याकाङ्क्षायामाह **विश्वसृजामीश्वराविति**, ब्रह्मादीनामपि नियन्तृत्वेन कालव्युदासार्थं (**आदिपूरुषौ!**) पुरुषोत्तमत्वेनापि जानामीत्यर्थः ॥२९॥

तादृशस्य कथमागमनमिति शङ्काव्युदासायाह **कालविध्वस्तसत्त्वाना-मिति**.

कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे ॥३०॥

भूभाररूपराज्ञां वधार्थं भगवानवतीर्ण इत्यर्थः. ननु राजानः सात्त्विकाः कथं भाररूपा जाता इत्याह **कालविध्वस्तसत्त्वानामिति**. कालो हि कदाचित् सत्पदार्थान् दूरीकरोति, कदाचिदसत्पदार्थान्. यथा पुरुषः शिष्टागमनमालक्ष्य दुष्टागमनं वा तथा कालोऽपि सर्वेषां सत्त्वगुणं विवेकादिकं च हृतवान्. अत एव **उच्छास्त्रवर्तिनो** जाताः. राजत्वेन सामर्थ्यम्. सत्त्वाभावे सामर्थ्यं सर्वेषां दुःखदमिति **भूमेर्भारायमाणा** जाताः. मशकार्थं धूमवत् तेषामर्थे भगवानवतीर्णः. **किलेति** प्रमाणम्. **मे** मत्तः ॥३०॥

ननु भूभारहरणार्थमेव जातः न त्वन्यार्थमिति तत्रैव मम सामर्थ्यमिति चेत्, तत्राह.

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥३१॥

यस्यांशांशांशभागेनेति. यस्य पुरुषोत्तमस्य अंशः अक्षरं तस्याप्यंशः प्रकृतिः तस्यांशा गुणाः तेषां **भागेन** विभागेन[१] **विश्वस्योत्पत्तिलयोदया भवन्ति**. **किलेति** प्रसिद्धे. अनेन सामर्थ्यमुक्तम्; करणावश्यकत्वायाह **विश्वात्मन्निति**, सर्वस्यापि स्वकृत्यमावश्यकमिति. अतस्तादृशं **त्वां** स्वकार्यसिद्ध्यर्थं शरणं **गता** ॥३१॥

तत्कार्यं साधकपूर्वकमाह **चिरादिति** द्वाभ्याम्. यथा गुरुवाक्यं कर्तव्यम् एवं ममापि. यथा गुरोः पुत्रः निरन्वयं गतः तथा प्रकृतेऽपि. यथा दक्षिणा अवश्यं देया एवं मत्कामनापि पूरणीया. अतो दृष्टान्तः.

चिरान्मृतसुताऽऽदाने गुरुणा किल नोदितौ ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद् गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥३२॥
तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमागतान् ॥३३॥

चिरान्मृतस्य सुतस्याऽऽदाने आदानार्थं दक्षिणात्वेन **गुरुणा** प्रेरितौ.

---

१. विभागेन इति मुद्रितपाठे नास्ति. शेषेषु एवमधिकम् - सम्पा.

किलेति प्रमाणम्. तदा **पितृस्थानं** गत्वा, यत्र पुरुषाणां जीवतां गमनागमने न स्तः, तादृशस्थानादपि **गुरवे गुरुदक्षिणां** धर्मार्थम् **आनिन्यथुः**. पदव्यत्ययश्छान्दसः; आनीतवन्तौ. **तथा मे** ममापि **कामं कुरुतम्**. अपमृत्युमृतत्वात् प्रायेण तत्रैव गताः. सामर्थ्यं सूचयति **युवां योगेश्वरेश्वराविति**. योग एव कामनां पूरयति, तत्रापि तस्येश्वरः किं वक्तव्यः! भगवांस्तु ततोऽप्यग्रे. योगश्चेत् कदाचिद् वदेत् "मत्प्रवर्तको नाज्ञापयती"ति सोऽपि चेद् वदेत् "ममान्तर्यामी न प्रेरयेदि"ति तन्निरासार्थमेतावदुक्तम्. स्वकामनामाह **भोजराजहतान् पुत्रानिति. आगतान् द्रष्टुं कामये** यस्यामवस्थायां स्थिता मत्तो गताः तादृगवस्थायुक्ता एव द्रष्टव्या इति भावः ॥३२-३३॥

ततो भगवत्कृतमाह **एवं सञ्चोदिताविति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ॥३४॥

गुर्वर्थेनान्वेषणार्थं गताविति पूर्वमप्युक्तम्, तथात्रापि सिद्धवत्कारेण जानीत इति **सुतलमेव** गतौ. गमनमार्गमाह **योगमायामुपाश्रिताविति**. अष्टाविंशतितत्त्वेभ्योऽधस्ताद् योगमाया; तस्यां प्रविष्टौ स्वगृहदेशे मध्ये व्यवधायकाभावात् सुतल एव प्रादुर्भूतौ ॥३४॥

ततो दैत्यः कदाचिदाज्ञां न करिष्यतीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं बलिकृतां पूजामाह **तस्मिन् प्रविष्टाविति** चतुर्भिः.

लेखः

चिरादित्यत्र पदव्यत्यय इति. आनपत्यस्य दक्षिणार्थत्वेन आत्मगामिफलकत्वाद् आत्मनेपदं प्राप्तं, तद्व्यत्यय इत्यर्थः. **तथा मे** इत्यत्र **योगश्चेदिति**. योगमात्ररूपश्चेद् भगवान् स्यात् तदा एवं वदेदित्यर्थः ॥३२-३३॥

एवमित्यत्र गुर्वर्थ इति. तदा समुद्रे गमनं तत्र स्थितांशग्रहणार्थं नतु अज्ञानेनान्वेषणार्थमिति तत्र निरूपितमित्यर्थः. **स्वगृहदेश** इति. गदापाणिर्भगवान् बलिद्वारि तिष्ठति; तत्प्रदेशे बलिगृहदेशे सुतल एव प्रादुर्भूतावित्यर्थः ॥३४॥

तस्मिन्प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड् विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः ।
तद्दर्शनाह्लादपरिपूताशयः सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ॥३५॥

तस्मिन् सुतले **प्रवेश**मात्र एव **दैत्यानां** स्वामी शीघ्रनिवेदकैर्दैत्यैः भगवदागमन**मुपलभ्य सद्यः समुत्थाय ननामे**ति सम्बन्धः. पूर्वं भगवता बद्ध इति कदाचिद् द्वेषाद् भयाद् वा सम्मुखो न भवेदित्याशङ्क्याह **विश्वात्मदैव**मिति, विश्वस्यात्मा दैवं च भगवान्. तेनात्मत्वान्न भयम् आराध्यत्वान्न द्वेष इत्यर्थः. यत्र भगवान् जगत एव एवंविधः, साधारणस्यापि भयद्वेषसम्भावनारहितः, तत्र स्वस्य महतः कथमेवं भविष्यतीत्यर्थः. न च वक्तव्यं ''विश्वस्य भगवान् नापकारं करोती''ति, यतः सर्वस्योत्पत्तिप्रलयकर्ता स एव. तथा ज्ञानं नास्तीति चेत्, तर्हि ज्ञानं गुणो जात इति ज्ञानवतामधिक एव पूज्य इत्याह **सुतरां तथात्मन** इति. किञ्च पूर्वं संसारव्यावृत्त्या अनिर्वृतः स्थितः, इदानीं सुतले स्वर्गाधिके सुखेन तद्भावनया तिष्ठतीति स्मृतिसञ्जातया भक्त्या पूर्णान्तःकरण एव **तद्दर्शनाह्लादेन** अधिकेन **परिपूताशयो** जातः. अत आलस्यादिधर्मेषु लीनेषु **सद्य समुत्थाय ननाम.** तत्पुत्रस्य बाणस्य बाहुच्छेदो भगवता कृत इति कदाचिदनमनं स्यात्, तत आह **सान्वय** इति, पुत्रपौत्रादिसहितः ॥३५॥

ततः पूजामाह **तयोः समानीये**ति.

तयोः समानीय वरासनं मुदा निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं सवृन्द आब्रह्मपुनद्यदम्बु ह ॥३६॥

मुदेत्युभयत्र सम्बन्धः. आसनस्याग्रहणे पुनर्भयं सम्भावितं स्याद् अत आह **निविष्टयोस्तत्रे**ति, तत्रासने उपविष्टयोः सतोः. **महात्मत्वात्** निःशङ्कतया तत्रोपवेशनम्, अन्यथा बद्धस्य गृहे प्रभुः सशङ्को भवति. तदा **तत्पादाववनिज्य** चरणोदकं **सकुटुम्बः दधार.** तस्य माहात्म्यमाह— **यदम्बु** गङ्गारूपम् **आब्रह्म** ब्रह्मलोकमारभ्य पातालपर्यन्तं पुनातीति **आब्रह्मपुनत्.** हेत्याश्चर्ये—

लेखः

तयोः समानीयेत्यस्याभासे **पूजामाहे**ति कायिकीमिति शेषः. पूर्वश्लोकेन मानसी पूजोक्ता, एताभ्यां कायिकी, अग्रिमेण वाचनिकी इति चतुर्णां श्लोकानां पूजैव वाक्यार्थ इति पूर्वश्लोकाभासे निरूपितम् ॥३६॥

कथमन्यस्य शेषभावं प्राप्तम् अन्यस्य शोधकमिति ॥३६॥

समर्हयामास स तौ विभूतिभिर्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।
स्रग्धूपदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ॥३७॥

ततः पुष्पादिभिः **समर्हयामास. महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च अनुलेपनानि** च चतुःसमादीनि, तथा **स्रग्धूपदीपाः. अमृतममृतमयानि** वा भक्ष्याणि. **आदि**शब्देन ताम्बूलाद्युपचारा गृह्यन्ते. नैतावता साधारणधर्मेण भगवांस्तुष्यतीति **स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणं** च कृतवान्. आत्मीयाः धनं देहश्चेति त्रितय एव सर्वानुप्रवेशः ॥३७॥

ननु दैत्योऽयं कथमेवं भगवद्भक्त इति चेत्, तत्राह.

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।
उवाच आनन्दकलाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप गद्‌गदाक्षरः ॥३८॥

स इन्द्रसेन इति इन्द्रस्येव सेना यस्येति. इन्द्र उत्तमसत्त्वांशः, तस्येन्द्रियादिसामग्री अत्यन्तं भगवत्परा, तथास्यापीत्यर्थः. बाह्यसेनापि तथैवेति ज्ञातव्यम्, महत्त्वमपि सूच्यते. तादृशोऽपि **भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रद्** हस्तद्वयेन पश्चान्मुहुः **प्रेमविभिन्नया धिया** च **बिभ्रदुवाच.** वचनस्यान्यानीन्द्रियाणि सहायभूतान्याह. **आनन्दकलाकुलेक्षणः, प्रहृष्टरोमा, गद्‌गदाक्षरः** — इन्द्रियाणां देहस्य वाचश्च वैकल्यं निरूपितम् ॥३८॥

एवं परमभक्तियुक्तः भगवतः षड्गुणप्रतिपादकैः भगवत्प्रतिपादकेन च सप्तभिः स्तुत्वा प्रार्थयते **नमोऽनन्तायेत्यष्टभिः** श्लोकैः. आदौ भगवत ऐश्वर्यं स्मृत्वा नमस्यति.

लेखः

स इन्द्रसेन इत्यस्याभासे **ननु दैत्योऽयमिति**. अयं पदस्यार्थ उक्तः; वाक्यार्थस्तु पूजारूपः पूर्वमुक्त एवेति भावः. **वचनस्येति, आनन्दकलाकुलेक्षणपदस्यार्थोऽयं,** नतु पदत्रयस्य. **ईक्षणपदम्** अन्येन्द्रियाणाम् उपलक्षकम् ॥३८॥

॥ बलिरुवाच ॥

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
साङ्ख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥३९॥

नमोऽनन्तायेति. ईश्वरः स एव यो न केनापि परिच्छिद्यते. अयं च देशकालापरिच्छिन्नः. किञ्च स एव समर्थो यो महान् भवति, तदाह **बृहते** इति. बलभद्रनमस्कारो वा; अयमनन्त इति शेषः प्रादुर्भूतः स एव बृहद् ब्रह्मेति. स एवेश्वरो यो नित्यानन्दः, स **कृष्णः**. यश्च जगत्कर्ता, तदाह **वेधसे** इति. जगत्कर्तृ मुख्यं ब्रह्मेति भगवत एव विशेषणम्. शास्त्रयोनित्वमपि ब्रह्मलक्षणमिति विशेषसिद्धान्तप्रतिपादकत्वेन माहात्म्यमाह **साङ्ख्ययोगयोर्वितानाय** विस्तारहेतवे. तत्र हेतुमिव वदन् सिद्धान्तान्तरकर्तृत्वमाह **ब्रह्मणे परमात्मन** इति. **ब्रह्म**त्वाद् वेद-तदर्थरूपत्वम्, **परमात्मन** इति वैष्णव-शैवसिद्धान्तप्रवर्तकत्वं तदर्थप्रतिपादकत्वं च. साङ्ख्या ज्ञानप्रधाना इति ब्रह्मपराः, योगिनस्तु परमात्मध्यानपरा इति तद्वितानकर्तृत्वं सिद्ध्यति ॥३९॥

अनेन शास्त्रदृष्ट्या ज्ञानं ध्यानेन च ज्ञानं भगवतः, नतु भगवत्साक्षात्कारः कस्यचिद् भवति. स मम जात इति केवलं भगवद्वीर्येणैव तद् भवतीति भगवद्वीर्यं समर्थयन्नाह **दर्शनं वां हि भूतानामिति.**

दर्शनं वां हि भूतानां दुःप्रापं चापि दुर्लभम् ।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥४०॥

ये उत्पद्यन्ते प्रवाहे तेषामुत्पत्तिविरोधित्वाद् भगवद्दर्शनं **दुर्लभम्**. **वां** ब्रह्म-परब्रह्मणोः. स्वक्रियया प्राप्यं दुःखेनापि यन्न भवति तद् **दुःप्रापम्**. देवादिवरेणापि यन्न लभ्यं तद् **दुर्लभम्**. **च**कारात् सर्वसाधनैरप्यलभ्यता निरूपिता. तत्र हेतुः **रजस्तमःस्वभावानामिति**. राजसानां **दुःप्रापं** तामसानां **दुर्लभम्**. राजसानामपि केषाञ्चिद् दुर्लभमिति **च**कारः. एतादृशावपि **नोऽ**स्माकं **रजस्तमःस्वभावानां** यद् अकस्मात् **प्राप्तौ**. तत्र हेतुर्यदृच्छैव ॥४०॥

कथं राजसतामसानां दुर्लभमित्यत्र हेतुमाह श्लोकद्वयेन **दैत्यदानवगन्धर्वा** इति.

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥४१॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥४२॥

दैत्यदानवगन्धर्वा इति राजसे गुणभेदः. **सिद्धविद्याध्रचारणाश्च** द्वितीयाः तामसराजसाः. **यक्षरक्षःपिशाचास्तामसाः. भूतप्रमथनायकास्तामस**-तामसाः. **प्रमथा** महादेवगणाः, तयोर्वा **नायकास्तृतीयाः**. एवं सर्वान् गणयित्वा तेषां स्वरूपमाह **विशुद्धसत्त्वधाम्नीति**. भगवत आत्मत्वेऽपि उपाधिगुणेनैव विरोधः. किञ्च भगवान् वेदादिशास्त्रं कृतवान् ते च लोकप्रधानाः अत उभयेषां विरोधो युक्त इत्याह **शास्त्रशरीरिणीति**, शास्त्रैकसमधिगम्यशरीरयुक्ते. अत एव **नित्यं निबद्धवैराः ते** पूर्वोक्ताः **वयं च**. यद्यप्यस्माकमिन्द्रियादिवर्गः सात्त्विकः तथापि देहो राजस एवेति भिन्नतया गणयति. **अन्ये च तथा** ब्राह्मणाः चकारात् तत्सम्बन्धिनश्च ॥४१-४२॥

ननु ते चेद् द्वेषिणस्तदा तेषां नरकपात इति "आसुरीं योनिमापन्नाः" (भग.गीता १६।२०) इति वाक्यानुसारेण कदाचिदप्यमुक्तौ कथं भगवान् सर्वात्मेति चेत्, तत्र मुख्यं सिद्धान्तमाह **केचनोद्बद्धवैरेणेति**.

केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः संनिकृष्टाः सुरादयः ॥४३॥
इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥४४॥

त्रिविधा लोकाः लौकिकाः. तत्र तामसाः **उद्बद्धवैरेण** त्वां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा, सात्त्विका **भक्त्या,** राजसाः **कामतः. तथा** वैदिकाः सात्त्विकाः **सत्त्वेन संरब्धाः** सत्त्वगुणेन साहंकारेण कर्मसु आविष्टचित्ताः **सुरादयोऽपि इदमित्थमिति प्रायेण ते योगमायां न विदन्ति, कुतो वयं** न लौकिका न वैदिकाः निषिद्धभावनयाऽधःपतिताः? **योगेश्वरेश्वर** इति सम्बोधनाद् भोगाभिनिविष्टाः देवा मा जानन्तु, योगेश्वरा ज्ञास्यन्तीति

तान्निषेधति **योगेशा अपि** ॥४३-४४॥

एवं भगवतो माहात्म्यं स्वस्यानधिकारं च निरूप्य अनधिकारिणा भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण परित्यागः कर्तुमशक्य इत्याज्ञां प्रार्थयते **तन्नः प्रसीदेति.**

तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्य युष्मत्-
पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निःक्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखश्चरामि ॥४५॥

ननु किमिति परित्यागः प्रार्थ्यते? तत्राह हे **निरपेक्षविमृग्येति,** निरपेक्षा ये सर्वतः तेषामेव विमृग्येति. अनेन गृहे स्थितस्य शूद्रस्येव वेदोच्चारणमिव भगवदन्वेषणं निषिद्धमिति ज्ञापितम्. साक्षादपि गृहस्थस्य भगवदन्वेषणं नास्तीत्याह **युष्मत्पादारविन्द-धिषणान्यगृहान्धकूपादिति.** युष्मत्पादारविन्दे धिषणा येषां तेभ्यो ये अन्ये तेषामेव गृहं तदन्धकूपप्रायमेव भवति, भगवच्चरणारविन्दस्मृतिप्रकाशाभावात्. अत एव तस्माद् **विनिःक्रम्य,** तादृशमस्मद्गृहं दैत्याक्रान्तमिति, **चरामीति** प्रार्थना. नन्वन्नाद्यभावात् कथं चरणं सेत्स्यतीति चेत्, तत्राह **विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिरिति.** विश्वस्यापि शरणभूते अङ्घ्री येषाम्. येषां परिभ्रमणेन सर्व एव संसारिणः, गृहं त्यक्त्वा क्षणमप्यन्यत्र गन्तुमशक्ताः, तेऽपि कृतार्था भवन्तीति सन्तो विश्वशरणाङ्घ्रयो भवन्ति. तैः कृत्वा **लब्धा उपजीविका वृत्तिर्भवति** "ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैः" (भाग.पुरा. ४।२९।४०) इतिप्रकारेण. एवं सद्भिर्बाधायां निवृत्तायामान्तरदोषोऽपि निवृत्तो भविष्यतीत्याह **शान्त** इति **यथा** यथावत्. **एकः** परमहंसो **यथेति** वा तथा भविष्यामि, बाह्याभ्यन्तरदोषस्य निवृत्तत्वात्. एवं कियत्कालं परिभ्रमणेन **उत सर्वसखोऽपि** भविष्यामि, यथा सन्. एतत्सर्वं गृहपरित्यागव्यतिरेकेण न भवतीति गृहे उद्विग्नो भगवन्तं प्रार्थयते ॥४५॥

एतत् कालान्तरकृत्यम्, साम्प्रतं किं कर्तव्यमिति विज्ञापयति.

शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो ।
पुमान् यच्छ्रद्धया तिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥४६॥

शाध्यस्मानिति. ननु यथाशास्त्रमेव कर्तव्यम्, अभ्यागता वयं

कथमाज्ञापयिष्याम इति चेत्, तत्राह हे **ईशितव्येशेति**. ईशितव्या एव वयं सर्वे जीवाः; तेषां त्वमेवेशः अतस्त्वया आज्ञापनीयाः. ननु विशेषतः किमिति प्राथ्र्यते? तत्र बीजमाह **पुमान् यच्छ्रद्धया तिष्ठन्निति. चोदनाया** विधिनियोगान्निवर्तत इत्यर्थः ॥४६॥

प्रथमवाक्ये अनङ्गीकारमिव ज्ञापयन् द्वितीयस्योत्तरं वक्तुं प्रसङ्गमाह **आसन् मरीचेः षट् पुत्रा** इति.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

आसन् मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ॥४७॥

प्रथमकल्पे अतीतब्रह्मकल्पे **मरीचेः ऊर्णा** नाम पत्नी अभूत्, यथेदानीं कला. तस्याः **षड्** इन्द्रियदेवा इव **पुत्रा** जाताः. **प्रथमकल्पे** यदन्तरं मन्वन्तरम्. त एवैत इति वक्तुं तेषामपराधमाह **देवाः कं जहसुर्वीक्ष्येति**. ''वाचं दुहितरं तन्वीम्'' (भाग.पुरा. ३।१२।३८) इति यन्निरूपितं तेन प्रकारेण **सुतां यभितुं** सम्भोक्तुमुद्यतं **कं** ब्रह्माणं **जहसुः** ॥४७॥

कामो भगवान्, तेन प्रेरितः तत्सेवार्थं वा प्रवृत्तो निःकपटः शुद्ध एव. परं ये तत्सिद्धान्तानभिज्ञाः ते तत्रोपहासं कुर्वन्तः भक्तोपहासका इवासुरीं योनिं प्राप्नुवन्ति (इत्याह!) **तेनेति**.

तेनासुरीमिमां योनिम् अधुनावद्यकर्मणा ।
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥४८॥
देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः ।
सा तान् शोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ॥४९॥

तेनेमामासुरीं योनिं प्राप्ताः. तावतापि भगवदपराधो न शान्त इति **अधुना** आसुरयोनौ उपहासफलत्वेन प्राप्तायामवद्यं **कर्म** कृतवन्तः. **तेनावद्यकर्मणा हिरण्यकशिपोर्भगवद्विमुखात्** कस्याञ्चिद् **जाताः**. ततस्ते **योगमायया देवक्या उदरे**– विद्यमानमरिषड्वर्गं दूरीकर्तुं, ''दोषेणैव दोषो हन्तव्यः'' (. । ।) इति, योगमायया देवक्या उदरे– **नीताः. राजन्निति** राजसत्वात् तवाज्ञानं न दोषाय. ततः **कंसेन विहिंसिताः** विशेषेण मारिताः. एवं तेषां वारत्रयं दण्डो जातः, त्रिसत्यो भगवानिति.

इदानीमस्मन्माता तान् दोषहारकान् अत एव **स्वान् आत्मजानिति** पुत्रा एते ममेति **तान् शोचति.** ते पुनरत्रैव हिरण्यकशिपुवंशत्वात् **ते अन्तिके आसते** ॥४८-४९॥

एवं तेषां वृत्तान्तमुक्त्वा तत्र कर्तव्यमाह **इत एतान् प्रणेष्याम** इति.

इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये ।
ततः शापविनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः ॥५०॥

प्रयोजनं **मातृशोकापनुत्तिः**. प्रसङ्गात् तेऽप्युद्धर्तव्या इत्याह **ततः शापविनिर्मुक्ता** इति. अस्मन्मातुः शोकापहरणात् तेषां शापापनोदः. ततो **विज्वराः** सन्तो ऋषि**लोकं यास्यन्ति** ॥५०॥

तेषां नामान्याह.

स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद् घृणिः ।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥५१॥

स्मरोद्गीथश्चेति एकभावापन्नौ द्वौ. **स्मरो** मानसः, **उद्गीथो** घ्राणः, **परिष्वङ्गः** श्रोत्रं, **पतङ्गो** नेत्रं, **क्षुद्रभृद्** जिह्वा. **घृणिः** स्पर्शः, ततो घृणा सञ्जायते इति. चक्षुषा वा व्यत्यासः. **षडिमे** स्वकर्मणा नष्टा अपि **मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम्** ॥५१॥

''अत एतान् देही''त्यनुक्त्वैव सेवकत्वं तस्य स्थिरीकृत्य तान् गृहीत्वा स्वयमेव निर्गत इत्याह **इत्युक्त्वेति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥५२॥

इन्द्रसेनत्वात् पूजां कृतवान्. (**पुनः!**) येन मार्गेण गतौ तेनैव **द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रान्** तान् मात्रे **अयच्छताम्** ॥५२॥

तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः ॥५३॥

ते च गुरुपुत्रन्यायेन पूर्वावस्थां प्रापयित्वा समानीता इति **तान् बालकान् दृष्ट्वा पुत्रस्नेहेन स्नुतस्तनी** जाता. ततः **परिष्वज्याङ्कमारोप्य**

मूर्ध्न्यजिघ्रत् — अत्यन्तं स्नेहोऽभिव्यक्तः. **अभीक्ष्णश** इति स्नेहे विह्वलितत्वं सूचितम् ॥५३॥

अपापयत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्नुतम् ।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥५४॥

ततः **स्तनमपाययद्** बालभावं दृढं कुर्वती **प्रीता** गतदुःखा. न केवलं दुःखनिवृत्तिरेव किन्तु सुखमपि जातमिति ज्ञापयति **सुतस्पर्शपरिस्नुतमिति,** सुतानां स्पर्शेन परितः सर्वाङ्गेभ्यः स्नुतम्. ननु भगवत्पुत्रायाः कथमेवमन्यत्र स्नेहः? तत्राह **मोहिता मायया विष्णोरिति,** कथमन्यथा सृष्टिः प्रवर्तते! केचिद् इयमेव पूर्वमूर्णेत्याहुः ; ततः पूर्ववासनया तेषु स्नेहाधिक्यम् ॥५४॥

स्तनपानानन्तरं तेषां विवेकाद्युत्पत्त्या स्वलोकगतिमाह **पीत्वामृतमयमिति** द्वाभ्याम्.

पीत्वामृतमयं तस्याः [१]पीतशेषं गदाभृतः ।
नारायणाङ्गसंस्पर्श-प्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥५५॥

अमृतमयत्वं भगवदर्थं देवैस्तत्रामृतं स्थापितमिति. **पीतशेषं गदाभृत** इति, पानं तु पूर्वं स्थापितं, यदैव भगवन्तं स्मरति तदामृतं भगवानेव पिबतीति. इत एव वा, यदा प्रथमं समागतः. एतेषां स्वपदप्राप्तौ ज्ञानं हेतुः, तस्य हेतुत्रयं— भगवदुच्छिष्टपानम्, अमृतपानं, नारायणाङ्गसंस्पर्शश्च. अत्र **नारायणपदं** धर्मावतार-नारायणांशानिरुद्धचरित्रं स्थापयति. तेन **प्रतिलब्धमात्मदर्शनं येषाम्** ॥५५॥

ततो ज्ञानशक्तिवत् क्रियाशक्तिरपि तेषामाविर्भूतेत्याह.

ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम विहायसा ॥५६॥

ते नमस्कृत्य गोविन्दमिति, आदौ स्वामिनं, पश्चान्मातापितरौ,

लेखः

पीत्वामृतमयमित्यत्र देवैरिति, स्तन्योत्पादकैः भगवद्विषयकस्नेहांशैरित्यर्थः. **पूर्वं स्थापितमिति** निबन्धे इत्यर्थः. तद् विशेषयन्ति **यदैवेति** ॥५५॥

---

१. अत्र स्वतन्त्रलेखौ वर्तेते ; द्रष्ट. पृ. ४३४ —सम्पा.

तदनु बलभद्रं भगवत्साधनभूतम्. एवं चतुर्मूर्तिमिव भगवन्तं नमस्कृत्य सर्वसाक्षिकं **विहायसा स्वधाम ययुः** एवं स्वतो गमनं जातमित्यर्थः ॥५६॥

ननु देवकीकामनापूर्त्यर्थं भगवता ते समानीताः, सा च कामना न क्षणमात्रेण पर्यवस्यति, अत एवं शीघ्रं तेषां गमने को हेतुरिति चेत्, तत्राह.

तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् ।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य चरितं नृप ॥५७॥

तं दृष्ट्वेति, तेषां पुत्राणां पूर्वमृतानामागमनं तदनन्तरमेव च **निर्गमं दृष्ट्वा विस्मिता** सती सर्वमेव **कृष्णचरितं मेने**. एतज्ज्ञानसिद्ध्यर्थमेव समानीताः नतु पुत्रतया स्थापयितुम्, अन्यथा कंसद्वारा भगवत्कृतवधो व्यर्थः स्यात्. भगवच्चरित्रज्ञानेनैव कामनापूर्तिः. मोहान्तरानुत्पत्त्यर्थं विशेषणं **देवीति**. तत्रापि **मायां मेने**, तेनासत्यतापि पदार्थानामभिज्ञाता. **नृपेति** सम्बोधनम् आश्चर्ये मनोऽभिनिवेशनार्थम् ॥५७॥

एवं चरित्रद्वयमुक्त्वा ऐश्वर्ये एतदेव द्वयमिति कदाचिद् शङ्का भवेत् तदर्थमन्यान्यपि सूचयति **एवंविधानीति**.

एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ॥५८॥

भगवच्चरित्रत्वे ज्ञापकम् **अद्भुतानीति**. यान्येवाद्भुतानि भगवच्चरित्राणीति तानि. भगवानपि किमर्थमेवं करोतीत्याशङ्क्याह **कृष्णस्येति**, अवतीर्णत्वात् करोतीत्यर्थः. प्रयोजनान्तरमप्याह **परमात्मन** इति, सर्वेषामात्मनामात्मा इति तत्सङ्ग्रहार्थमेवं करोतीत्यर्थः. अतएव **वीर्याण्यनन्तानि सन्ति.** तथाकरणे सामर्थ्य**मनन्तवीर्यस्येति**. ननु वीर्याणामनन्तत्वात् कथं सर्वसङ्ग्रह

लेखः

तं दृष्ट्वेत्यत्र तत्रापीति, वधादिकं सर्वं कृष्णचरित्रमेव नतु कंसकृतमिति मेने. कृष्णचरित्रत्वेऽपि इदं मायारूपमाश्चर्यजनकमित्यर्थः. **तेन** आश्चर्यरूपत्वज्ञानेन एते वधादि**पदार्था असत्या** निःप्रयोजनका लीलया प्रदर्शिताः, वस्तुतस्तु शापवशादेवं भावस्ततो मोक्ष इति ज्ञानमित्यर्थः ॥५७॥

इति चेत्, तत्राह **सन्तीति**. सदा सन्ति = नित्यानीत्यर्थः. **भारतेति** विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥५८॥

एवं भगवच्चरित्रस्य नित्यतां स्थापयितुं तच्छ्रवणादेः फलमाह **य इदमनुशृणोतीति.**

॥ सूत उवाच ॥

य इदमनुशृणोति श्रावयेद् वा मुरारेः ।
चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ॥
जगदघभिदलं तद् भक्तसत्कर्णपूरं ।
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥५९॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥

श्रद्धया **अनु** गुरूच्चारणमनु **यः शृणोति श्रावयेद् वा**. ननु किमर्थं शृणोति श्रावयति? तदर्थमाह **मुरारेरिति**. मुरो हि विघ्नात्मकः दोषात्मकश्च. किञ्च **अमृतकीर्तेरिति**. अमृतरूपा कीर्तिर्यस्येति चरित्रं श्रवणेऽपि सुखजनकम्. अतएव **व्यासपुत्रैर्वर्णितम्**. इदं चरित्रमनन्तरूपो भूत्वा शुको वर्णितवानतो बहुवचनम्. सर्वैरेव **व्यासशिष्यैः पुत्रैश्चेति** वा, शिष्याणामपि पुत्रत्वात्. सर्वैरेव श्रोतव्यमित्येतदर्थं बहून्येव फलान्याह. **जगदघभिदिति** सर्वपापनाशकम्. किञ्च **अलमत्यर्थं सतां कर्णपूरं** कर्णाभरणम्. अनेन सतां निरन्तरं सेव्यता निरूपिता. अतो य एव नित्यं कर्णे स्थापयति स एव सन् इत्यपि सूचितम्. प्रयोजनान्तरमप्याह **भगवति कृतचित्त** इति, भगवति तस्य चित्तं स्थिरं भवति. ऐहिकमुक्त्वा पारलौकिकमाह **याति तत् क्षेमधामेति. धाम यातीत्येव** फलं; धामप्रशंसार्थं क्षेमेति. एवं विघ्ननिवृत्तिमारभ्य

लेखः

य इदमित्यत्र क्षेमेति धामविशेषणं न व्यावर्तकं, तथा सति अक्षेमरूपमपि किञ्चिद् धाम स्यात्, किन्तु स्वरूपबोधकमित्याशयेनाहुः **धामप्रशंसार्थमिति** ॥५९॥ इति षट्त्रिंशाध्यायव्याख्या समाप्ता ॥

भगवत्स्वरूपप्राप्तिपर्यन्तं भगवद्वीर्यश्रवणफलानि उक्तानि भगवत ऐश्वर्यं स्थापयन्ति. अतो भगवान् कृष्णः सर्वेश्वर इति स्थितम् ॥५९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे षट्त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥

सप्तत्रिंशे हरेर्वीर्यं त्रेधा प्राह सुनिश्चितम् ।
सर्वेषां सर्वकार्याणि कृतवानित्युदीर्यते ॥(१)॥
तदेव भगवद्वीर्यं यन्न शक्यं हि लौकिकैः ।
नह्यन्यो भगिनीं दातुमेवं शक्तो हरिं विना ॥(२)॥
नापि स्वयं यस्य कस्य गृहे स्थातुं विभूतये ।
नापि धर्मं स्वहीनार्थमन्यः कथयितुं प्रभुः ॥(३)॥
अनाहूतः स्वयं क्वापि गच्छतीत्यपि नो मतम् ।
यथा ग्रन्थानुसारेण [१]प्रसङ्गोऽत्र विचारितः ॥(४)॥
क्रमपाठादिभेदेषु तथा व्याख्यानमिष्यते ।
उदासीनो हरिर्व्यासः फलसिद्धेरशक्यतः ॥(५)॥

लेखः

[२]सप्तत्रिंशे कारिकासु गृहे **स्थातुमिति, स्वयं** महान् **यस्य कस्य**चिदल्पस्य **गृहे स्थातुं न शक्त** इति पूर्वेणान्वयः. **स्व**रूपस्य **हीन**त्व**मर्थः** प्रतिपाद्यं (/ द्यः !) यत्र तादृशं **धर्मं विभूतये** स्वविभूतिरूपाय ब्राह्मणाय "न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्" (श्लो. ५४) इत्यादिवाक्यैः **कथयितुमन्यो न प्रभुः** शक्तः (२-३).

ननु व्यासेन विमर्शार्थं व्युत्क्रमेण निरूपणेऽपि स्वयं व्याख्यानं कथाक्रमेणैव कर्तव्यम्– यथा तैत्तिरीयशाखीय-मन्त्रब्राह्मणानाम् ऋषिग्रहणक्रमेणैव पाठेऽपि वेदभाष्ये व्याख्यानं पूर्वक्रममनुसृत्यैव तथा– इत्याशङ्क्याहुः **यथे**ति. कथा**क्रमः**, शुकाध्यापनं **पाठः**, **आदि**पदेन लीलाक्रमः —एतद्**भेदेषु** सत्सु **व्यासेनात्र प्रसङ्गो यथा विचारितस्तथा ग्रन्थानुसारेण व्याख्यानमपीष्यते.** व्यासस्यैवं निरूपणे हेतुमाहुः **उदासीन** इति. **अशक्यत** इति भावप्रधानं, फलसिद्धिर्न स्वशक्त्या किन्तु भगवदधीनेति फलसम्पादन उदासीनो व्यासः. अतः "साधनं

---

१. स्वधर्मः इति कपाठः - सम्पा.

२. 'सप्तत्रिंशे कारिकासु' इति आ-एपाठानुसारेण अधिकम्. अन्यत्र नोपलभ्यते - सम्पा.

ग्रन्थारम्भे तथैवास्मान् बोधयामास माधवः ।

राजा परीक्षित् पूर्वाध्यायान्ते भगवद्वीर्याणामुपसंहृतत्वात् स्वसन्दिग्धानर्थान् पृच्छति, तत्प्रसङ्गात् शुकोऽन्यदपि वक्ष्यति. व्यवहारे भगवद्वीर्यान्यथाभावो यत्र प्रतीयते स प्रष्टव्यः, वैदिकविरोधः सोऽपि, भजनीयविरोधश्च. एतत्क्रमेणाध्यायत्रयेण प्रष्टव्यम्. यादृशश्च प्रसङ्गः शुकोक्तौ हेतुः स तत्र तत्र वक्ष्यते. कथापक्षे त्वियं सङ्गतिः, विचारे तु पूर्वोक्त इति. क्षत्रियो हि बलादेव विवाहं करोति, "गान्धर्वो राक्षसश्च" (मनुस्मृति ३।२१) इतिवाक्यात्. भगवांश्च सर्वाजेयः, अतो विरुद्धत्वात् सुभद्राया विवाहं पृच्छति **ब्रह्मन्वेदितुमिच्छाम** इति.

॥ राजोवाच ॥

ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः ।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही ॥१॥

रामकृष्णयोः स्वसारमिति अजेयत्वे हेतुः. **यथा** यथावच्च शास्त्रोक्तप्रकारेणो**पयेमे**. दैन्येन विवाहं वारयति **विजय** इति. **या ममासीत् पितामहीति** सैव वंशजननी जाता. तादृश्या विवाहः नान्यथा भवितुमर्हतीति भावः ॥१॥

उभयसमर्थनार्थं शुकः प्रकारमाह **अर्जुनस्तीर्थयात्रायामिति.**

लेखः

च फलं चैव सर्वस्याह श्रुतिः स्फुटं, न प्रवर्तयितुं शक्ता" (त.दी.नि. २।१७) इतिन्यायेन लीलास्वरूपं विमृश्याह. फलसम्पादनाग्रहे तु शिष्याणां बोधाय कथाक्रममेव वदेदिति भावः. पूर्वोक्तदृष्टान्तरीतिमपहाय स्वस्य व्यासोक्तरीत्या व्याख्याने हेतुमाहुः **ग्रन्थारम्भे** इति. "अर्थं तस्य विवेचितुम्" (सुबो. १।१।१) इतिश्लोके "व्यासवदाज्ञां दत्वा" इत्युक्त्या व्यासोक्तक्रमेणैव व्याख्यानं कर्तव्यमित्याज्ञापनसूचनादिति भावः (४-५ १/२).

तत्प्रसङ्गादिति, अपृष्टं जनक-श्रुतदेवप्रसङ्गमपि वक्ष्यतीत्यर्थः. **स प्रष्टव्य** इति, **सः** अर्थ इति शेषः. यत्र **वैदिकविरोधः सोप्यर्थः प्रष्टव्यो भजनीयविरोधश्च** यत्र **सोप्यर्थः प्रष्टव्य** इत्यर्थः ॥१॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः ।
गतः प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥२॥
दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे ।
तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् ॥३॥

वस्तुतः स्वयं नरः जीवकलात्मकः, सा च मायाशक्तिः. या पूर्वं यशोदायां जाता सा देवक्या स्नेहात् परिगृहीतेति देवकीस्नेहवशात् कंसहस्ताद् विनिर्मुक्ता स्थानाष्टकमिव देवकीमपि प्राप्ता 'सुभद्रे'ति व्याख्याता. स्त्रीभावेनैव मोहः सम्भवतीति अर्जुनस्यैव स्त्री भवितुमर्हति. अत एव तया व्यामोहितः, कलौ तस्या एव वंशः स्थास्यतीति, प्रव्राजं स्वीकृत्य वञ्चयित्वा कन्यां हृतवान्. चौर्याधर्मवेषौ क्षत्रियस्य निषिद्धौ तथापि हृतेति पितृभ्यां च दत्तेति तीर्थयात्रायां कृत्रिमवेषो न निषिद्ध इत्युभयात्मकत्वात् द्वयं समर्थितं भवति.

अत्र तीर्थयात्राप्रसङ्गो भारते निरूपितः. द्रौपदीविवाहानन्तरं पञ्चानामेका वैषम्यहेतुर्भवतीति प्रचेतसामिवैक्यभावाभावात् कामो दुर्लङ्घः उद्यतः क्षणमात्रमपि प्रतिबद्धश्चेत् प्रतिबन्धकर्तारं हन्तीति नारदः सुन्दोपसुन्दकथामुक्त्वा प्रत्येकं वर्षमात्रभोगाय कालव्यवस्थां निरूपितवान्. तन्मध्ये यद्यन्येन भुज्यमानामन्यः पश्येत् तदा स वर्षमात्रं तीर्थयात्रां कुर्यादिति. ततः कदाचित् कश्चिद् ब्राह्मणः चौरैरपहृतगोधनः अर्जुनं प्रोवाच "मदीया गावः संरक्ष्या" इति. ततः शस्त्रागारे युधिष्ठिरो द्रौपद्या सह स्थितः. ततः कार्यस्यावश्यकत्वात् विलम्बासहिष्णुत्वाच्च व्यवस्थां जानन्नपि शस्त्रगृहे प्रविष्टः रममाणौ दृष्ट्वापि शस्त्राणि गृहीत्वा चोरान् हत्वा ब्राह्मणाय गा दत्तवान्. ततो युधिष्ठिरेण निवारितोऽपि कामादेव दर्शने दोषः इति सत्यवाक्यत्वाद् भगवदिच्छया

लेखः

अर्जुन इत्यत्र **द्वयमिति**, चौर्यान्निषिद्धत्वं पितृभ्यां दानाद् विहितत्वं चेत्यर्थः. एवं करणे हेतुः **उभयात्मकत्वादिति**. नरो हि ऋषिः भगवदंशधारकश्चेति ऋषित्वात् पित्रोरनुमत्या ग्रहणं, भगवत्त्वात् निषिद्धप्रकारेण, ब्रह्मणि विधिनिषेधस्पर्शाभावाद् इति भावः ॥२॥

तीर्थयात्रार्थं प्रवृत्तः.

तदाह **अर्जुनस्तीर्थयात्रायामिति**. ततः **अवनीं पर्यटन्. प्रभुः** समर्थः हरणे एकाकिपर्यटने वा. **प्रभासं गतः किञ्चिदशृणोत्** तदाह **मातुलेयीमिति**. "मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव" (निरुक्त १४।३१०) इतिश्रुतेः स्वभागमन्यो नेष्यतीति **आत्मनो मातुलेयीं रामो दुर्योधनाय दास्यतीति** सोऽपि कलित्वाद् अधर्महेतुरिति तस्यापि लौकिक एव भविष्यतीति प्रसह्य कन्याहरणत्वे शुद्धधर्मत्वं च भविष्यतीति भोगार्थमेव **तां लिप्सुः यतिर्भूत्वा,** यत्र कस्यापि कामसम्भावनैव न भवति. पर्वणि क्षौरं विधाय पीठादिद्वात्रिंशत्पदार्थपरिग्रहं कृत्वा **त्रिदण्डी सन् द्वारकामगात्** ॥२-३॥

तत्र वै वार्षिकान् मासान् अवात्सीत् स्वार्थसाधकः ।
पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः ॥४॥

ततो वर्षाकाले यतेः पर्यटनं निषिद्धमिति **वार्षिकान्मासानवात्सीत्**. ननु कृत्रिमे वेषे किं धर्मकरणेनेत्यत आह **स्वार्थसाधक** इति, यथैव तस्याः हरणं सम्भवति. ततः अज्ञैरेव सर्वैः **पौरैः सभाजितः अभीक्ष्णम्** एक एव बहुवारं भिक्षार्थं कथयति. **रामेण च** नरमायया मोहितेन भगवदिच्छया च **अजानता सभाजितः**. लौकिके चक्षुःप्रीतिः प्रथमम् इति तदर्थं परिचयार्थं पश्चाद् हरणसिद्ध्यर्थं च तस्याज्ञानं निरूप्यते. बलभद्रो हि परमहंसं तं ज्ञात्वा तत्र हेतुभिर्विचारो न कर्तव्य इति शास्त्रमेवावलम्ब्य तूष्णीं स्थितः, अतस्तत्राधर्मजिज्ञासा नोत्पन्ना. सादृश्यं प्रतिभातमपि धर्मज्ञानस्य बलिष्ठत्वात्

लेखः

दुर्योधनायेत्यत्र तस्यापीति. कलिरूपत्वाद् दुर्योधनस्यापि विवाहो लौकिक एव भविष्यति, नतु प्रसह्य हरणरूपः क्षात्रधर्मसिद्धः. अतोऽविशेषात् मयैव लौकिको विवाहः कर्तव्यः इत्यर्जुनस्याशयः. स्वयं प्रसह्य कन्याहरणाभावे हेतुमाहुः **प्रसह्येति** ॥३॥

तत्र वै वार्षिकान् इत्यत्र **अजानतेत्यस्य** वचनं विपरिणामेन **पौर**विशेषणत्वमपीत्याशयेनाहुः **अज्ञैरेवेति**. **लौकिके** इति, निःकपटवेषे ज्ञाते महतां चक्षुः कथमनुरज्येतेत्यर्थः. **तदर्थमिति** चक्षुःप्रीत्यर्थमित्यर्थः. **तस्येति** बलस्येत्यर्थः ॥४॥

न प्रत्यभिज्ञासाधकं जातम् ॥४॥

अत एव तस्य भक्त्या सभाजनमाह **एकदा गृहमानीयेति.**

एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् ।
श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥५॥

निकटे गच्छन्तं प्रसङ्गाद् गृहे **समानीय** पश्चा**दातिथ्येन** निमन्त्रणं कृत्वा = पाकसिद्धिपर्यन्तं बहुकालं स्थापयित्वा; यथा निलीय दर्शनं भवति कन्यायाः स्थित इत्यर्थात्. **तमातिथ्येन निमन्त्र्य** स्थित इति ततस्तेनैव **बलभद्रेण श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बुभुजे.** अयमर्थो महतः वक्तुमनुचित इति **किले**त्युक्तम् ॥५॥

तत एतस्यापि दर्शनमाह **सोऽपश्यदि**ति.

सोऽपश्यत् तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् ।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ॥६॥

महतीं स्थूलाम्, अर्जुनाद् वर्षमात्रन्यूनाम्. यस्या रूपेण वीराः प्राणानपि त्यजन्ति सा **वीरमनोहरा.** ततस्तस्या दर्शनेन तद्दर्शनसहितेन **प्रीत्या** कृत्वा **उत्फुल्लेक्षणो** जातः. तावता कामवशं गतः **भावक्षुब्धं मनो दधे** ॥६॥

अकामाया ग्रहणं न सम्भवति इति तस्या अपि भावो निरूप्यते **सापि तं चकम** इति.

सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयंगमम् ।
हसन्ती व्रीडितापाङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥७॥

सौन्दर्येणैव तस्या मनोहरणम्. प्रथमतो **हसन्ती** ततो **व्रीडितापाङ्गी तस्मिन्नेव न्यस्तं हृदयमीक्षणं च यया.** एवं तया वृतः ॥७॥

लेखः

सोऽपश्यदित्यत्र वर्षमात्रन्यूनामिति. "कन्यां चैवानुवत्सरम्" (भाग. पुरा. १०।१।५६) इतिवाक्याद् भगवदपेक्षया वर्षमात्रन्यूनामिति भगवानर्जुनश्च वयसा समानौ अत एवमुक्तम्. **तद्दर्शनसहितेनेति.** वीरमनोहरत्वात् साप्येनं पश्यति; तथाच सुभद्राकर्तृकदर्शनसहितेन सुभद्राकर्मकदर्शनेनेत्यर्थः. एवमन्योन्य-दर्शनेन प्रीतिर्जातेति भावः ॥६॥

तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः ।
न लेभे सम्भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥८॥
महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥९॥
रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान् ।
विद्राव्याक्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ॥१०॥

ततो भिक्षां विस्मृत्य **तामेव ध्यायन्** हरणार्थ**मन्तरप्रेप्सु**र्जातः. तादृशोऽप्य**न्तरं न लेभे,** अप्रमत्तैः संरक्ष्यमाणत्वात्. अत्र भारतोक्तमधिकमपि ज्ञातव्यम्— भगवता नीतो देवकीवसुदेवसमक्षं, ततस्ताभ्यां सा कन्या दत्ता. ततः **अतिबलीयसा कामेन सम्भ्रमच्चित्तो** जातः. ततो भगवान् दयालुः **यात्रां** कल्पयित्वा पुराद् बहिस्तां निःसारितवान्. ततो **महत्यां** सर्वेषामुत्सववैयग्र्ये पूर्वोक्तन्यायेन **पित्रोरनुमतः कृष्णस्य च** ततो **महारथः** अज्ञनिराकरणे समर्थः **दुर्गनिर्गतां रथस्थां** तामहरत्. ततो हरणार्थं तस्य पराक्रममाह **रथस्थ** इति. आसमन्तात् **रुन्धतः** रक्षकभटान् **विद्राव्य** सह समागतानां (**स्वानां!**) बन्धूनाम् **आक्रोशतां** सतामेव. अज्ञानादाक्रोशं कुर्वन्तीति **स्वभाग**त्वादुपेक्षा निषिद्धेति **मृगराडिव** समर्थः **जहारेति** पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥८-१०॥

ततो हृतायां तस्यां बलभद्रेण श्रुतो वृत्तान्तः. पारिबर्हप्रेषणार्थमयमुद्यमो निरूप्यते.

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः ।
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत ॥११॥

ततो **रामः** तद्वञ्चनादिकं **श्रुत्वा क्षुभित**स्तद्वधार्थमेव प्रवृत्तः. (**पर्वणीव महार्णव** इति!) दृष्टान्तेन तस्य महत्त्वं समयश्च तादृश इति सूचयति. ततो भगवता परिसान्त्वितः वाक्यैरनेकविधैः—

अस्माकं सर्वथा देया हृता नान्यैश्च गृह्यते ॥(६)॥
वधे भर्तृविहीना स्यात् योग्यश्चायं विशेषतः ।

कार्यार्थं वञ्चनं तस्य न दोषायेति मे मतिः ॥(७)॥
अज्ञानं स्वस्य दोषो हि कृत्रिमो न हि बाधकः ।
ततो गृहीतपादश्च तेनैवाभूद् बलः स्वयम् ॥(८)॥

तथा **सुहृद्भिरपि गृहीतपादोऽन्वशाम्यत** ॥११॥

प्राहिणोत् पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ।
महाधनोपस्करेभ - रथाश्वनरयोषितः ॥१२॥

ततो भगिन्यां स्नेहात्[१] **पारिबर्हाणि प्राहिणोत्**. तान्याह **महाधनेति**. गृहोपकरणानि चतुरङ्गिणी सेना दास्यश्च प्रस्थापितवान्.

भक्ताय भगवान् कृष्णो भगिनीं दत्तवानिति ।
किमाश्चर्यं यतः कर्मज्ञाननिष्ठामवाप्तयोः ॥(९)॥
स्वयं गत्वातिमहता समाजेन समावृतः ।
विप्रक्षत्रिययोः प्रीत्या स्वात्मानं दत्तवान् स्वयम् ॥(१०)॥
यथाभिलषितं ताभ्यां सुखं प्राप्तं हरेर्महत् ।
कृतार्थावपि सञ्जातौ पुनरागमनं ततः ॥(११)॥१२॥

अतोपमाननप्रस्तावे भगवान् भक्तार्थमेवागतः ज्ञात्वैव अमानी मानद इति सर्वं करोतीति कैमुत्यन्यायेन मार्गान्तरभक्तयोरपि स्वापमानेनापि हितं करोतीति निरूपयति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः ।
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः ॥१३॥

लेखः

तच्छ्रुत्वेत्यत्र कार्यार्थमिति. ''स्वकार्यं साधयेत् प्राज्ञः'' (शुक्रनीति ४।-७।३९) इतिन्यायेन **कार्यार्थं** कृतं **वञ्चनम**र्जुनस्य **न दोषाय** किन्त्वस्माभिरर्जुनो न ज्ञात इत्यस्माकमेव दोष इत्यर्थः. ननु त्रिदण्डिना हृतेति दोष इत्याशङ्क्याह **कृत्रिम** इति. अयं वेषः **कृत्रिमो** भवति अतो **न बाधकः**. उभयत्र सम्मत्यर्थं **हि**शब्दौ (७-८).

---

१. स्नेहातिशयाद् इति क-ख-ग-घ-संपाठेषु - सम्पा.

कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठ इति. ब्राह्मणत्वादयं प्रकरणी, क्षत्रियस्तु प्रासङ्गिकः. अत एव मध्ये निरूपितः. अतो नोपक्रान्तक्रमविरोधः. **कृष्णस्य** सम्बन्धी **आसीद्** भगवदीय आसीदित्यर्थः. तथाभवने तस्य साधनमाह **द्विजश्रेष्ठ** इति. तदेवोपपादयति **श्रुतदेवः** श्रवणे देववत् प्रज्ञावान् तत्त्वेन च विख्यातः. ततः **कृष्ण एव** या **एका भक्तिः** तयैव **पूर्णार्थः** —एतत् तस्य दारिद्र्यदोषाभावाय निरूप्यते. विद्यमानायाम् इच्छायां भक्त्या विषयाभावो न युक्तः अत आह **शान्त** इति. आन्तरोऽयं गुणः. **कविर्विचारकश्च.** स्वभावतोऽपि तस्येन्द्रियाणि न बहिर्मुखानीत्याह **अलम्पट** इति. भगवत्सम्बन्धे तस्य षड्गुणा निरूपिताः. तत्र द्विजश्रेष्ठत्वमैश्वर्यं, नाम कीर्तिः, भक्तिः श्रीः, शान्तिर्ज्ञानं, कविर्बलम्, अलम्पटो वैराग्यमिति तदीयस्तत्तुल्यो भवति इति निरूपितम् ॥१३॥

ततस्तादृशस्य सात्त्विकदेशे स्थितिर्युक्तेति मिथिलायां स्थितिमाह **स उवास विदेहेष्विति.**

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी ।
अनीहयाऽऽगताहार्य - निवर्तितनिजक्रियः ॥१४॥

विदेहाः देशाः यत्र स्थितानां देहाभिमानो न भवति. तत्रापि **मिथिलायां** गतदेहाभिमानकृतायाम्. अभिमानाभावे इतराश्रमेभ्योऽपि गृहस्थाश्रम एव मुख्यः, तत्र दोषाणां निरभिमानस्यासम्भवात्. अतः **गृहाश्रमी.** तत्र वृत्त्यभावे धर्मो न फलतीति तस्य मुख्यां वृत्तिमाह **अनीहयाऽऽगताहार्य** इति. स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण **आगतमाहार्यं** भैक्ष्यादिकं यस्य. तेनैव **निवर्तिता क्रिया** येन. ताश्च

लेखः

कृष्णस्यासीदित्यत्र अतो नोपक्रान्तेति. अध्यायारम्भे यत्र वीर्यान्यथाभावः प्रतीयते तत्कथनं प्रतिज्ञातम्. वीर्यान्यथाभावस्तु ब्राह्मणगृहगमने प्रतीयेत नतु राजगृहगमन इति विरोधः क्षत्रियस्य प्रासङ्गिकत्वान्नेत्यर्थः ॥१३॥

स उवासेत्यत्र गतदेहाभिमानकृतायामिति. "मिथिलो मथनाज्जातः" (भाग.पुरा. ९।१३।१३) इतिवाक्यादिति भावः. **तत्रेति, तत्र** गृहस्थाश्रमे **निरभिमानस्य** पुरुषस्य **दोषाणामसम्भवादित्यर्थः** ॥१४॥

क्रिया: निजाः न परधर्माः. अत एवायं कर्ममार्गानुसारी भक्तः ॥१४॥

अनीहया कदाचिद् अन्नाभावात् क्रियाविच्छेदः स्यादित्याशङ्क्याह **यात्रामात्रमिति.**

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत ।
नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः ॥१५॥

यात्रा शरीरनिर्वाहः सकुटुम्बस्य, तच्चाहरहः तदपि **दैवादुपनमति.** ईश्वरेच्छया कदाचिच्छरीरे बले विद्यमाने एकादश्युपवासादौ वा नोपनमयतीत्यपि सूचयति **उतेति. अधिकं** तु **नोपनमति** कदाचिदपि **तावतैवं सन्तुष्टः,** अन्यथा दोषः स्यात्. अत एव **यथोचिताः क्रियाश्च चक्रे** ॥१५॥

एवं ब्राह्मणं निरूप्य क्षत्रियं निरूपयति.

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ।
मैथिलो निरहंमान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥१६॥

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्गेति, भगवद्भक्तवासात् सोऽपि भक्त्यङ्गे प्रविष्ट इति **तथेत्युक्तम्.** यतस्तस्य **विदेहराष्ट्रस्य पालः. अङ्गे**त्यप्रतारणार्थं सम्बोधनम्. **बहुला अश्वा यस्येति** क्रियाशक्तिर्निरूपिता. स तु मिथिलवंशोद्भवत्वात् **मैथिलः.** (**निरहंमान** इति!) अस्य[१] तु षड्गुणाः, राज्ञस्तु अभिमानाभाव एव. यथा कर्मनिष्ठः प्रियः तथा ज्ञाननिष्ठोऽपि भगवत्प्रियः अत आह **उभावप्यच्युतप्रियाविति.** यथा धर्मनिष्ठः प्रियः एवं ज्ञाननिष्ठोऽपि. एतावद्वर्णनं भगवता तथाभूतौ तौ स्मृताविति भगवन्मानसक्रियाविषयत्वाद् भगवच्चरित्रत्वेन निरूपितौ ॥१६॥

अत एव तद्गुणान् स्मृत्वा भगवान् तयोरिष्टसिद्ध्यर्थं तद्गृहं गत इत्याह **तयोः प्रसन्नो भगवानिति.**

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम् ।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः ॥१७॥
नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः ।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥१८॥

पूर्वं गमनबोधनाभावात् लौकिकाभावेनोत्सवाभावाच्च कदाचित्समागम-

१. श्रुतदेवस्य इत्यर्थः - सम्पा.

नार्थं **दारुकेण** समानीतं **रथमारुह्य विदेहानेव प्रययौ**. नन्वेकाकी सर्वाननुक्त्वा च कथं प्रस्थित इति चेत्, तत्राह **प्रभुरि**ति. **मुनिभिः साकमारुह्य विदेहान् प्रययौ**. तौ हि भगवन्तं मुनिसहितं भावयतः. तत्रापि राजा मुनीनपि भगवद्रूपानेव जानाति, ब्राह्मणस्तु मुनिरूपान्. अत एव स्वयं मुनिरूपधारी राजगृहे गमिष्यति, मुनिभिः सहितस्तु ब्राह्मणगृहे. उभावपि कालात् परभूतं भगवन्तं ज्ञात्वा कालावयवभूतान् मुनीन् जानीतः, अतो द्वादशमुनीन् नाम्ना परिगणयति. प्रकारपरत्वाय च **आदि**पदप्रयोगः. **कृष्णो** वेदव्यासः **रामः** परशुरामः **अहं** शुकः **आदि**शब्देन गौतमादयः ॥१७-१८॥

गुप्ततया अलौकिकन्यायेन गमनं व्यावर्तयितुं सर्वानुभवार्थं मध्ये पूजामाह **तत्र तत्रे**ति.

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।
उपतस्थुः सार्घ्यहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥१९॥

सार्घ्यहस्ता उपतस्थुः. प्रत्येकं पूजाग्रहणे कालविलम्बो भवेद्, अग्रहणे तु दोषः स्यादित्युभयथापि दोषं व्यावर्तयितुं दृष्टान्तमाह **ग्रहैः सूर्यमिवोदितमि**ति. ग्रहस्थानीया ऋषयः. नहि सूर्यः सर्वेषामर्घ्यं गृह्णाति, निरीक्षणेन च गृह्णात्यपि ; एवं भगवानपीत्यर्थः ॥१९॥

मध्यस्थान् देशान् द्वादशनाम्ना निरूपयति **आनर्ते**ति.

आनर्त-धन्व-कुरु-जाङ्गल-कङ्क-मत्स्य-
पाञ्चाल-कुन्ति-मधु-केकय-कोसलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-
स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः ॥२०॥

अन्ये च अप्रसिद्धाः प्रसिद्धाश्च. भगवतो **मुखसरोजं पपु**रिति तेषामुपासनाफलं निरूपितम्. **सरोज**त्वेनामृतपानं दृष्टमेव प्रयोजनं स्यादिति मुखं विशिनष्टि **उदारहास-स्निग्धेक्षणमि**ति. **उदारः** सर्वपुरुषार्थदायी **हासः स्निग्धं चेक्षणं** माया. बहिर्मुखत्वेऽपि सम्पादिते सर्वपुरुषार्थान् साधयति,

---

लेखः

आनर्तेत्यत्र हासः ईक्षणम् उभयत्रापि 'यत्रे'ति शेषः ; बहुव्रीहिद्वयानन्तरं कर्मधारयः ॥२०॥

ज्ञानं तु भगवत्सम्बन्धिनं करोति, अतः अदृष्टमपि फलं प्रयच्छतीति निरूपितम्. एतादृशं **नरा नार्यश्च** "सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र" (पद्म.पुरा. स्वर्गखण्ड २९।४१) इतिन्यायेन **पपुः** ॥२०॥

ततो भगवान् फलरूपेणापि भजने फलान्तरं प्रयच्छन्, ततोऽप्यग्रे फलपरम्परासिद्ध्यर्थम्, उपायं कृतवानित्याह **तेभ्य** इति.

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः
क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।
शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ॥२१॥

भगवद्वीक्षणेन **विनष्टं** तमः अज्ञानं यस्य. तादृशदृष्टियुक्तेभ्यः वस्तुसामर्थ्यादिव दोषे निवृत्ते स्वयमधिकं **क्षेमं** दत्तवान्. लब्धस्य परिपालनं **क्षेमः**. यथेयं मूर्तिः सर्वदा दृष्टौ सन्निहिता भवति तथा वरं दत्तवानित्यर्थः. तदैवेदानीं प्राप्तस्य परिपालनं भवति. ननु मध्ये विषयान्तरदर्शनस्यावश्यकत्वात् कथमेतस्यैव दर्शनं निरन्तरं भवेदित्याशङ्क्याह **त्रिलोकगुरुरिति**. त्रिलोकस्य स एव गुरुः, यत्रान्तर्यामिप्रेरणया सर्वेषां सद्बुद्धिरुत्पद्यते. बहिर्वाक्यं त्वप्रयोजकं, व्यभिचारात्. अतो यदैवान्यदर्शनं प्राप्नोति तदैव तन्निषेधार्थमुपदेशं करोतीत्यर्थः. किञ्च **अर्थदृशं च यच्छन्** सर्वत्र ते यथा अर्थरूपं भगवन्तमेव पश्यन्ति सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपम्. अतो यत्किञ्चिदपि ते पश्यन्तो भगवन्तमेव पश्यन्तीति पूर्वदत्तक्षेमस्य न कापि प्रच्युतिः. चकारात् तत्र स्थितमपि भगवन्तं द्रष्टुं सामर्थ्यं दत्तवानित्यर्थः. नन्वकस्मात् कथमेतावत्फलं प्रयच्छतीति शङ्कां व्यावर्तयन् तेन दत्तं फलं सर्वदैव स्थास्यतीत्यपि ज्ञापयति **शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयश** इति. तेषां मुखेभ्य एव शृण्वन्. मध्ये कालादिवशाद् जाताधर्मेण प्रतिबन्धमाशङ्क्याह **अशुभघ्नमिति**. कदाचित् तत्कीर्तिविस्मरणे साधनाभावमाशङ्क्याह **गीतं सुरैर्नृभिरिति**. ये देवरूपा मनुष्याः तैर्गीतं, सुरैर्नृभिश्च

लेखः

तेभ्य इत्यत्र **यत्रेति**. **यत्रो**पदेशे कृते **सत्यन्तर्यामिप्रेरणया सर्वेषां सद्बुद्धिरुत्पद्यते** तादृशोपदेशकर्तेत्यर्थः. **तत्र स्थितमपीति**, "तदेवानुप्राविशद्" (तैत्ति.उप. २।६।१) इति श्रुतेः सर्वत्रानुप्रविष्टमित्यर्थः ॥२१॥

गीतमिति वा. तेन कीर्तेरक्षयत्वं निरूपितम्. एवं मध्यस्थेभ्य एतावत् प्रयच्छति, यदर्थं तु गच्छति तेभ्यः किं दास्यतीति शङ्कामुत्पादयन्नेव उद्देश्यदेशान् गतः. **शनकैरिति** मध्ये तेषु स्नेहो निरूपितः ॥२१॥

उद्देश्यदेशस्थानां भगवति स्नेहादिकमाह **तेऽच्युतं प्राप्तमिति.**

तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप ।
आभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥२२॥

(**पौरा जानपदा!**) पुरवासिनो देशवासिनश्च. **नृपा** इति पाठे भगवांस्तत्र गच्छतीति भगवद्दर्शनार्थं प्रथमत एव सर्वे गताः तेऽपि भगवति पुरवासिवज्जाता इति त्रिविधा निरूपिताः. तेषां कायिकादिभावमाह. **आभिमुख्येन ईयुरिति** कायिकं, **मुदिता** इति मानसं, **गृहीतार्हणपाणय** इति धनद्वारा ममतास्पदेनापि भजनमुक्तम् ॥२२॥

तत ऐन्द्रियकमाह **दृष्ट्वा तमिति.**

दृष्ट्वा तमुत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः ।
कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन् ॥२३॥

प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजा इति. भगवद्दर्शनं तादृशं येन भगवान् अन्तःप्रविशति ; प्रविष्टोऽति**प्रीति**मुत्पाद्य **उत्फुल्लान्याननानि** बहिः **आशयांश्च** अन्तः करोति. ततः **कैर्मस्तकैर्धृताञ्जलिभिः** सर्वापराधक्षमापकैः भगवन्तं **नेमुः मुनींश्च.** विशेषानभिज्ञत्वात् तथा नमनमिति शङ्कां व्यावर्तयति **श्रुतपूर्वानिति** ॥२३॥

साधारणानां प्रतिपत्तिमुक्त्वा मुख्ययोराह **स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तमिति.**

स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ॥२४॥

ननु सर्वदा भगवान् दृश्यत एव, सेव्यते च, तथा सति को विशेष इति शङ्कां वारयति **जगद्गुरुमिति.** किमस्माभिर्यत्क्रियते तदेव कर्तव्यमाहोस्विदन्यद्वा —एतन्निर्णयं भगवानेव करिष्यतीति विशेषतः समागमनमित्यर्थः. अत एव **पादयोः पेततुः.** अनेन ब्राह्मणस्यापि नमस्कारः अनिषिद्ध इति निरूपितम्. **प्रभोः** समर्थस्य ; चरणनमनमात्रेणैव सर्वमेव स्वहितं करिष्यति, नाधिकं स्वार्थमपेक्षते फलदानार्थं वेति सूचितम् ॥२४॥

तत उभावपि स्वस्वगृहे समानयनार्थं निमत्रणं कृतवन्तावित्याह **न्यमन्त्रयेतामिति.**

न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली ॥२५॥
भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया ।
उभयोराविशद् गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥२६॥

स्वगृहे समायास्यतीत्यत्र हेतुः **दाशार्हमिति. सह द्विजैरिति** भागशो निमन्त्रणं वारयति. उभयोस्तु कर्तव्यमेव तत्. लोके त्वशक्त्या[१] कालभेदेन भागभेदेन वा लौकिकास्तथा कुर्वन्ति, भगवांस्तु प्रभुरिति सर्वं सम्पादयिष्यति. राजत्वान्**मैथिलः** प्रथमं निर्दिष्टः. चकारः राज-समत्वं बोधयति. **श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली** इति कालभेदव्यावृत्त्यर्थमुक्तम्. ततो भगवान् तयोरभिप्रायं ज्ञात्वा– भगवतो वैभवं च ज्ञातुं, भगवतोऽशक्यं किमपि नास्तीति– तत्तथैव सम्पादनीयमिति भगवानुभयोरपि गृहे गतः. तत्र प्रकारमाह **उभाभ्यां तदलक्षित** इति. भगवान् समूहद्वयं जातः तत उभयोर्गृहे गतः यस्मिन् देशे मार्गभेदोऽस्ति. ततो भगवन्माहात्म्ये तथावगते तथा रसो न भविष्यतीति **ताभ्यामलक्षित** एव गतः (जनकगृहे स्वस्वांशेन आगतः)[२]. मुनीनामपि तथात्वं जातमिति केचित्. राजनि मुनीनां विशेषाभावात् सर्वत्र

लेखः

न्यमन्त्रयेतामित्यत्र उभयोस्त्विति हितमिति शेषः. **स्वशक्त्येति,** स्वस्य शक्तिभूतं मुख्यसेवकम् एकस्य गृहे प्रेषयन्तीत्यर्थः. **ततो भगवानिति.** अग्रिमश्लोकस्य प्रतीकमिदं; **ततस्तदनन्तरं भगवानिति** श्लोक उच्यत इति शेषः. व्याख्यानमाहुः **तयोरिति. भगवतो वैभवं, चकारात्** सामर्थ्यं च **ज्ञातुं तयोरभिप्रायो** वर्तते इति **ज्ञात्वेत्यर्थः.** मूले **उभाभ्यां स्वरूपाभ्यामित्यर्थः. राजनि मुनीनामिति,** राज्ञो ज्ञाननिष्ठत्वान्मार्गे च "विद्याविनयसम्पन्ने" (भग.-गीता ५।१८) इतिवाक्यात् सर्वत्र तुल्यदृष्ट्या मुनिसम्बन्धिविशेषो राजनि

---

१. स्वशक्त्या इति लेखकृतां पाठः - सम्पा.

२. मुद्रितपाठे अन्तःश्लिष्टो अयम् अंशः इतरेषु नोपलभ्यते - सम्पा.

भगवद्बुद्धेस्तुल्यत्वात् "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" (भग.गीता ४।११) इतिवाक्याच्च श्रुतदेवगृह एव मुनिभिः सहितो गतः, राजगृहे तु स्वयमेव गतस्तादृग्रूप इति विमर्शः ॥२५-२६॥

ततस्तस्मिन् देशे राजा मुख्य इति प्रासङ्गिकत्वाच्च राजवृत्तान्तमाह.

श्रोतुमप्यसतां दूराज्जनकः स्वगृहागतान् ।
आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान् महामनाः ॥२७॥
प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः ।
नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥२८॥
सकुटुम्बोऽवहन्मूर्ध्ना पूजयाञ्चक्र ईश्वरान् ।
गन्धमाल्याम्बराकल्प - धूपदीपार्घगोवृषैः ॥२९॥
वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान् ।
पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशन् शनकैर्मुदा ॥३०॥

श्रोतुमप्यसतामिति, ये **असन्त**स्तेषां **श्रोतुमपि दूरे**. एते मुनिभावापन्नाः भगवन्तः ; तादृशाः स्वगृहे समागता इति महदन्तरम्. असत्त्वं तु देहाभिमानात् सर्वेषामविशिष्टम्. अतः **स्वगृहागतान्** दृष्ट्वा स्वस्य सिंहासनसदृशानि आसनानि स्वमित्रेभ्यः समानीतवान्. ततस्तेष्वा**सनाग्र्येषु सुखासीनान्** कृत्वा "कथमेतावतीं पूजां करिष्यामी"ति चिन्तां परित्यज्य **महामना** भूत्वा तेषु या **प्रवृद्धा भक्तिः** तया **उद्धर्षम्** ऊर्ध्वहर्षयुक्तं यत् **हृदयं तेनास्रयुक्ते आविले अक्षिणी यस्य** तादृशो जातः. अनेन देहे (न !) पूजा निरूपिता. ततो बाह्यद्रव्यैः पूजामाह **नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्ये**ति. **नत्वे**ति पूर्वेण सम्बध्यते ; तेन पूजासमाप्तिः आन्तरेण सूचिता. बाह्यार्थमनुज्ञां च प्रार्थयते.

लेखः

नास्तीत्यर्थः. **तादृग्रूप** इति, तावन्मुनिरूप इत्यर्थः ॥२५-२६॥

प्रासङ्गिकत्वाच्चेति, उपक्रमोपसंहारयोः प्रकरणनिर्णायकत्वात् प्रासङ्गिकस्य मध्ये कथनमित्यर्थः. **श्रोतुमप्यसतामित्यत्र**. नन्वसतां दूरे, अयं तु सन्नतः, एतद्गृहागमने किमाश्चर्यमित्यत आहुः **असत्त्वं त्विति**. जडस्य देहस्यात्मत्वेन स्वीकारात् सर्वैरेव तैरात्माऽविद्यमानः कृत इति सर्वेषामेव देहाभिमानिनामसत्त्वमित्यर्थः ॥२७-३०॥

आदौ **तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनी**र्गङ्गारूपत्वात् **सकुटुम्बो मूर्ध्ना अवहत्**. ततः पूजायोग्यो भूत्वा **पूजयाञ्चक्रे** सर्वानेव **ईश्वरान्** नतु जीवेश्वरान्. पूजासाधनानि **गन्धमाल्यादीनि. गोवृषैरि**ति शास्त्रार्थसिद्धये. स हि मर्यादया प्रवृत्तो नतु भक्त्या, अतो यथावाक्यमेव करोति. गोनिवेदनं च मुख्यम्. ततो **मधुरया वाचा इदमग्रे** वक्ष्यमाणमाह. **अन्नतर्पिताः**निति, भोजन-ताम्बूल-विश्राम-शयनान्तं कृत्वा पश्चात् स्तोत्रं कृतवान्. अन्नेन तृप्तिस्तदैव भवति यद्यन्नमुद्वेजकं न भवेत्, तत् ताम्बूलविश्रामशयनसहितमेव. तत्रापि विशेषमाह **पादावङ्कगता**विति. **विष्णो**र्मुख्यत्वेन समागतस्य, सर्वत्र विष्णुबुद्धिरैक्यबुद्धिश्चेति विशेषाभावात् वा. **शनकैः संस्पर्शः** अभ्यनुज्ञार्थः. (**मुदा** इति!) जाते स्पर्शे सन्तोषाविर्भावः ॥२७-३०॥

स हि यादृशं भावयति तादृशं वदन् भगवत्त्वज्ञापनाय षड्भिः स्तौति **भवा**निति.

॥ राजोवाच ॥

भवान् हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग् विभो ।
अद्य नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥३१॥

स हि सर्वदा सर्वं भगवत्कार्यमेवेति मन्यते, सर्वं च भगवद्रूपमिति. तादृशस्य कथमिदानीं विशेषतो वाक्यं सम्भवति? विरुद्धं च न वक्तव्यम्. अतः पूर्वावस्थामनूद्य विशेषं बोधयति — यद्यपि भगवान् सर्वरूपेण आत्मरूपेण च दृष्टः तथापि भक्तिमार्गानुसारेण यादृशो भाव्यते तादृशोऽ**द्यैव** दृष्ट इति. (हि!) युक्तश्चायमर्थः. **सर्वभूतानामात्मत्वात्**[१] सर्वं भगवानेव, **साक्षित्वात्** स्वात्मा साक्षिचैतन्यं वा. तत्रापि **स्वदृक्** स्वप्रकाशः. अनेन तत्प्रकाशार्थमपि नान्यापेक्षेति निरूपितम्. **विभो** इति सम्बोधनं सर्वसामर्थ्यं सूचयति; तेनास्माकं हृदये तथाप्रतीतिजननं, नान्येषामिति सर्वं सम्पद्यते.

लेखः

भवान् हीत्यत्र **स्वात्मत्वा**दिति, सुष्ठु आत्मरूपत्वादित्यर्थः. तत्र हेतुः **सत्त्वा**दिति ॥३१॥

---

१. सर्वभूतानां स्वात्मत्वात् सत्त्वाद् इति लेखकृतां पाठः - सम्पा.

तथापि त्वत्पदाम्भोजं भक्तिमार्गेण त्वां स्मरतामद्यैव दर्शनं गतः ॥३१॥

नन्वस्य दर्शनस्य क्वोपयोगः? न हि दर्शनार्थं चिन्तनं करोति किन्तु स्वतःपुरुषार्थत्वेनैव, तत्राह.

स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजःप्रियः ॥३२॥
को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद् विसृजेत् पुमान् ।
निःकिञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥३३॥

स्ववचस्तदृतं कर्तुमिति. तद् भगवतः प्रसिद्धं **वचः ऋतं** सत्यं **कर्तुं भवानस्मद्दृग्गोचरः.** ननु किं तद्वच इति चेत्, तत्राह **यदात्थेति.** "न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः, न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्" (भाग.पुरा. ११।१४।२५) इति —एतद् भगवद्वाक्यम्. अत्र[१] 'यथा एकान्तभक्तो मम प्रिय' इति वक्तव्ये दृष्टान्तार्थं 'यथा भवानि'ति उक्तवान्. अत्राजशब्देनैव शङ्करोऽपि गृहीतः, गुणावतारत्वेन तस्याप्यजत्वात्. आत्मापि तत एव. अत एतत् सङ्गच्छते **एकान्तभक्तादिति.** प्रियत्वं तदैव भवति यदि गत्वा दृश्यते, अतः प्रियत्वान्यथानुपपत्त्या भगवान् स्वयमागत्य दृष्टवानित्यर्थः. एवं भगवद्गुणं ज्ञात्वा आत्मत्व-साक्षित्वयोरपि सिद्धत्वादधिकमेवं करोतीति सुगमत्वाद् उत्तमत्वाच्च **एवंवित्को** वा त्वां **विसृजेत्?** ननु प्राप्तात्मभावस्य भक्त्या सर्वं सिद्ध्यति; यस्य त्वात्मभावो न जातः तस्य तदर्थं परित्याग इति चेत्, तत्राह **निःकिञ्चनानां शान्तानामिति.** ब्रह्मात्मभावे साधनत्रयम्— आदौ निःकिञ्चनत्वं सर्वपरित्यागः, तदनन्तरं शमः, एवमन्तर्बहिर्विक्षेपरहितः मननं कुर्यात्; ततो ब्रह्मभावः. तदुक्तं **निःकिञ्चनानां शान्तानां मुनीनां त्वमात्मद** इति ॥३२-३३॥

नन्वेतादृशो भगवान्नाहमित्याशङ्क्याह **योऽवतीर्येति.**

योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥३४॥

स एव भगवान् सर्वेषां मोक्षार्थमेव **यदोर्वंशे अवतीर्य संसरतां**

---

१. उद्धृतभगवद्वाक्ये इत्यर्थः - सम्पा.

नृणां संसारदुःखदर्शनेन जातकरुणः तन्निवृत्त्यर्थं **यशो वितेने**. तस्य कथं संसारनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्य स्पष्टमेव द्वारमाह **त्रैलोक्यवृजिनापहमिति**. पापवशाद् बहिर्मुखतादि सर्वे दोषाः, संसर्गिदोषाद् वा, यशस्तु सर्वेषामेव दोषनिवर्तकम् अतः स्पष्टमेव तस्य संसारनिवर्तकत्वमित्यर्थः ॥३४॥

एवं जगत्कृतार्थत्वायावतीर्णः स्वकृतार्थत्वाय च समागत इति निरूप्य कर्तव्यान्तराभावात् नमस्यति **नमस्तुभ्यमिति**.

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये संशान्ततपईयुषे ॥३५॥

तुभ्यमित्यपरोक्षत्वाय. अन्यो भगवान् भविष्यतीति उपचारव्यावृत्त्यर्थं **कृष्णायेति**. साक्षाद्भगवत्त्वे हेतुः **अकुण्ठमेधस** इति, न कुण्ठा = कुण्ठिता मेधा यस्येति, सर्वस्यापि भगवत्त्वे एतेनैव वैलक्षण्येन अस्य तथात्वात्. साम्प्रतं येन रूपेण समागतस्तन्निर्दिशति **नारायणाय ऋषय** इति. नारायण एवायं तृतीयलीलां[१] करोतीति स एव ऋषिः. अनेन ब्रह्माण्डविग्रहो नारायणः तदंशो वेति पक्षो निराकृतः. विशेषरूपनिर्वचने य उत्कर्षहेतुस्तन्निर्दिशति **संशान्ततपईयुषे** इति, सर्वप्राणिनां सुखजनकं स्वस्याप्यक्षोभकम् एतादृशं तपः तन्नारायण एव करोतीति ॥३५॥

एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा कर्तव्यं च कृत्वा किञ्चित् प्रार्थयते.

दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहान्नो निवसद् द्विजैः ।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥३६॥

दिनानि कतिचिद् भूमन्निति, द्विजैरेतैः सह **पादरजसा निमेः कुलं पुनीहि**. यद्यपि सेवा कापि नास्ति तथापि पादरजः निमिकुलसंचारस्थाने पतिष्यतीति कुलपावित्र्यार्थमेव तदुच्यते. तेन सर्व एव कुलोत्पन्नाः कृतार्था

लेखः

नमस्तुभ्यमित्यत्र एतेनैवेति. यद्यपि **सर्वस्यैव भगवत्त्वं** तथाप्यकुण्ठमेधस्त्वेनैव **वैलक्षण्येन** भगवतस्तथात्वं मुख्यतया नमस्यत्वमित्यर्थः ॥३५॥

---

१. द्रष्ट. : "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यानि अथो विदु, प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयन्तु अण्डसंस्थितं, तृतीयं सर्वभूतस्थं" (सात्त्वतन्त्र) - सम्पा.

भविष्यन्तीति तद्वंशसम्बन्धनिःकृत्यै स्थितिप्रार्थनेति सूचितम् ॥३६॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः ।
उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिला-नर-योषिताम् ॥३७॥

तथैव भगवान् कृतवानित्याह **इत्युपामन्त्रित** इति. तत्र हेतुः **लोकभावन** इति, लोकानेवानुभावयति तत्र निमिकुलानुभावने कः प्रयास इत्यर्थः. **भगवान्** स्वयं स्थितः स्वधर्मं तत्र योजयति अतोऽनुभावः सम्पद्यते. तदर्थमत्रापि स्थितः. प्रयोजनान्तरमप्याह **मिथिलानरयोषितां कल्याणं कुर्वन्निति**. ज्ञानिनस्ते नात्यन्तमुत्सवं जानन्ति, अतस्तेषामुत्सवसिद्ध्यर्थं कियत्कालं तत्र स्थितः ॥३७॥

प्रासङ्गिकं निरूप्य प्रस्तुतं निरूपयति **श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तमिति**.

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाज्जनको यथा ।
नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह ॥३८॥

नन्वहं दरिद्रः कथं भगवन्तं नयामीति न विचारितवान् किन्तु **यथा जनकः** तथैव जातः. किञ्च अधिकोऽपि जात इत्याह **मुनीन् नत्वा** मुनींश्च प्राप्तान् दृष्ट्वा **वासो धुन्वन् ननर्त** आनन्दात्. स्वस्यात्युपकारो जात इति ज्ञापयितुं नमनम्. आगमनेनैवान्तः परमानन्दश्च प्रवृत्तः. इदं भक्तानां कार्यं शास्त्रानुसारिणाम् ॥३८॥

ततो यथासम्भवं पूजां कृतवानित्याह **तृणपीठवृषीष्विति**.

तृणपीठवृषीष्वेतान् आनीतान् उपवेश्य सः ।
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन् सभार्योऽवनिजे मुदा ॥३९॥

भगवदासने स्वहृदयमेव मन्यते. मुनीनां च सिंहासनापेक्षया तादृशान्येव प्रियाणि. न हि तपोयुक्तानां ग्राम्याः पदार्थाः प्रियहेतवो भवन्ति. अतस्तृणपीठादिकमेव तेषां प्रियम्. केषाञ्चिदर्थे तृणान्येव दत्तवान्, केषाञ्चित् पीठानि, केषाञ्चित् वृषीः. ऋषीणामासनं वृषीति कोमलकुशैः चतुरस्रं

लेखः

तृणपीठेत्यत्र अवनिजे इति. 'निनिजे' इति वक्तव्ये सवर्णे वर्णलोपो व्याकरणान्तरसिद्धः ॥३९॥

पश्चाल्लम्बमानपुच्छाकारं क्रियते. तेषु **आनीतानुपवेश्य** ततः **स्वागतेनाभिनन्द्य सभार्यः अङ्घ्रीन् अवनिजे** ॥३९॥

राजवदुपचारं कदाचिन्न करिष्यतीत्याशङ्कया पुनरुच्यते, ब्राह्मणत्वात्. अतः पुनराह **तदम्भसेति.**

तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।
स्नापयांचक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥४०॥

(सगृहान्वयं!) स्त्रीपुत्रादिसहितमात्मानं **स्नापयांचक्रे.** तस्य धर्मजनकत्वात् सन्तोषजनकत्वं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **उद्धर्ष** इति, उद्गतो हर्षो यस्येति. फलार्थमेवं करोतीति चेत्, तत्राह **लब्धसर्वमनोरथ** इति, चरणोदकप्राप्त्यैव सर्वे मनोरथाः प्राप्ता इति ॥४०॥

ततःसमाराधनमाह **फलार्हणेति.**

फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-
मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुजैः ।
आराधयामास यथोपपन्नया
सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ॥४१॥

फलान्यर्हणसाधनानि तानि **फलार्हणानीत्युच्यन्ते**; उत्तमानि फलानीत्यर्थः. **उशीराणि** च सुगन्धानि तत्सहितं **शिवामृताम्बु** पर्यवसानसुखदम् **अमृतं** मिष्टं च. ततो हस्तपादप्रक्षालनार्थं **मृत्सुरभिः** परिमलयुक्ता. ततः पूजार्थं **तुलसीकुशाम्बुजानि** तैः यथाशास्त्र**माराधयामास** पूजां कृतवान्. **यथोपपन्नया सपर्ययेति,** एतत्साधनमपि न क्लेशेन कृतवान् किन्त्वनायासेनैव सिद्धैव सामग्री. किञ्च पूजानन्तरं तादृश**मन्धः** अन्नं दत्तवान् येन **सत्त्वगुणो** वर्धते. शिलोञ्छवृत्त्या सम्पादित-नीवाराद्योदनम् ॥४१॥

एवं पूजां कृत्वा दुर्लभं भगवद्दर्शनं मम कथं जातमिति मानसिकपूजार्थं तस्यालोचनमाह **स तर्कयामासेति.**

स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत्
गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः ।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः
कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥४२॥

साधने सति साध्यं भवति; **गृहान्धकूपे पतितस्य** मम साधनसम्पत्तिः? सुवर्णशृङ्खलावत् सात्त्विकमपि गृहमन्धकूपप्रायमेव, स्वपरासद्ग्रहात्. तदेव निस्तारकं यद् भेदबुद्धिनिवर्तकम्. अतो **गृहान्धकूपे पतितस्य** कृष्णेन मुनिभिर्वा कथं **सङ्गमः**! कृष्णस्य दुर्लभत्वं सर्ववादिसम्मतं; मुनीनामपि तथात्वमाह **यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिरिति**, ब्राह्मणपादरेणुषु सर्वाणि तीर्थानि वसन्तीति. न केवलम् एतावानेवोत्कर्षः किन्तु **अस्य** भगवतः **आत्मनः निकेतनरू**पाः आश्रयभूता ये **भूसुराः** ब्राह्मणाः भूमावेव देवभावं प्राप्ता इति फलम्. भगवत्स्थानत्वेन साध्योत्कर्षः तीर्थत्वेन साधनोत्कर्षश्चेति ॥४२॥

ततो भगवन्तं स्तोतुं उपक्रान्तवानित्याह.

सूपविष्टान् कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः ।
सभार्यः स्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यवमर्षणः ॥४३॥

सूपविष्टानिति, सत्त्वसाधकत्वाद् अस्यान्नस्याग्रे दुःखजनकत्वाभावात् सम्यगुपवेशनमात्रेणैव पूजासमाप्तिः सूचिता. तदेवाह **कृतातिथ्यानिति**, कृतमातिथ्यं येभ्यः तान् **उप** समीपे **स्थितः सभार्यः** सर्वथाप्यरक्षितसूक्ष्मांशः[१] **स्वजनाः अपत्यानि** च यस्येति भार्यास्वजनापत्यसहितः. ततो भगवतः **अङ्घ्र्यवमर्षणः** चरणं स्पृशन् वाचा स्तोत्रं कृतवानित्याह ॥४३॥

राजवदयमपि षड्भिर्भगवन्तं स्तौति **अद्य नो दर्शनं प्राप्त** इत्यादिभिः षड्भिः.

॥ श्रुतदेव उवाच ॥

अद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।

लेखः

सूपविष्टानित्यत्र स्वजना इति. यस्य स्वजना अपत्यानि च अपरक्षितानीति शेषः. भगवतः सकाशान्न गोपितानि इत्यर्थकथनं, नतु बहुब्रीहिः. **चरणमिति**, चरणं कायेन स्पृशन् स्तोत्रं वाचा कृतवान् इति शुक **उवाचेति** पदेनाह. एतस्यैव पदस्यार्थकथनं नतु अग्रिमश्लोकाभासः ॥४३॥

---

१. -अपरक्षित- इति क-ग-घ पाठेषु —सम्पा.

यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥४४॥

यथा राजा निरूपितवान् तथैव प्रथममयं निरूपयति. **दर्शनं त्वद्यैव प्राप्तवानसि. नाद्य नो दर्शनं प्राप्त** इति पाठः क्वचित्. **अद्यैव दर्शनं प्राप्तः** नोऽस्माकम्. किन्तु यदैवा**त्मसत्तया** सर्वत्र **प्रविष्टः** तदैव सर्ववस्तुषु **दर्शनं प्राप्तवान्. हि** युक्तश्चायमर्थः, एतादृशमेव सर्वत्र त्वां पश्यामीति. अथवा **दर्शनं** चक्षुषा **अद्यैव**. शास्त्रतस्तु यः **शक्तिभिः सृष्ट्वा आत्मसत्तया प्रविष्टः** स कीदृश इति मनोरथ एव स्थितः, नतु कदाचिद् दृष्टः. अद्यैव परं स दृष्ट इति ॥४४॥

नन्वेकस्य सर्वत्र कथमनुप्रवेशः सम्भवति? सूर्य-किरणवदनुप्रवेशे वा कथमन्योन्याननुसन्धानम्? तादृशस्य वा कथं सत्यत्वमिति शङ्काव्युदासार्थमाह **यथा शयानः पुरुष** इति.

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नम् अनुविश्यावभासते ॥४५॥

एकं स्वप्नमेव एक एव पश्यति; यानपि जीवतः स्वप्ने पश्यति तेषामप्यनुसंधानं नास्ति. स्वप्नश्च मायिक इति सिद्धम्. ततश्च स्वप्ने यावन्तो गज-तुरगादयो दृश्यन्ते तेषामपि चैतन्यान्तराभावाद् द्रष्टुरेव चैतन्यं संक्रान्तमिति मन्तव्यम्. श्रुतौ भगवच्चैतन्यमित्युक्तम्; प्रकृते जीवब्रह्मणोर्वैलक्षण्यं न निरूप्यत इति पदार्थनिरूपणे जीववादो वा ब्रह्मवादो वा नातिरिच्यते, दोषनिरास-गुणाधानभेदेन मतद्वयस्य समर्थितत्वात्. अतो जीवः स्वयमेव **स्वाप्नं सृष्ट्वा** तत्रानुप्रविष्टः स्वात्मानमेकदेशस्थं मन्यते, अन्योन्यानभिज्ञश्च

लेखः

यथा शयान इत्यस्याभासे **अन्योन्याननुसंधानमिति**. मत्प्रविष्टमेव भगवद्रूपं यज्ञदत्ते प्रविष्टमिति देवदत्तो न जानाति; तथा देवदत्ते प्रविष्टं यज्ञदत्त इत्यर्थः. **तादृशस्य वेति**, अन्योन्यमज्ञातस्य[१] प्रवेशस्येत्यर्थः. व्याख्याने **तेषामपीति**, स्वाप्निकदेवदत्तादिषु अन्योन्यं चैतन्यैक्यानुसंधानं नास्तीत्यर्थः. चैतन्यैक्यं विवृण्वन्ति **स्वप्नश्चेत्या**रभ्य **अन्योन्यानभिज्ञश्च भवतीत्यन्तम्** ॥४५॥

१. -अज्ञानस्य इति मुद्रितः पाठः ; शेषेषु एवम् –सम्पा.

भवति. परमेतावान् विशेषः— तदज्ञानसृष्टम् इदं ज्ञानसृष्टमिति. अतो भगवान् जानाति जीवस्तु न जानातीति प्रकारस्तुल्य एव. तदाह **यथा शयानः पुरुषः आत्ममायया** सामग्र्या **मनसैव** करणेन इमं च **लोकं परं च सृष्ट्वा** अस्माल्लोकात् **परं** भिन्नं **स्वाप्नं** ततस्तमेवानुविश्य **अवभासते** देव-तिर्यगादिरूपेण. अनेनैक एव भगवान् सर्वत्र भासते परं सोऽद्यैव दृष्ट इति ॥४५॥

ननु दर्शनसाधनानि बहूनि श्रूयन्ते; को विशेष इति चेत्, तत्राह.

शृण्वतां गृणतां शश्वदर्चतां त्वाऽभिवन्दताम् ।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥४६॥

शृण्वतां गृणतामिति, ये पञ्चविधां भक्तिं कुर्वन्ति तेषां हृदये भासते नतु बहिः, मम तु बहिरपीत्याधिक्यम्. **संवदतामिति** स्मरणम्. सम्यग्वदतामिति कीर्तनं वा ; तदा **गृणन्** = उच्चारयन्, सर्वदा भगवन्नामोच्चारणं कर्तव्यमिति. **शश्वदित्युभयत्र** सम्बध्यते. नाम्नि द्वयं रूपे च द्वयमिति उभयविधस्य संवदनं पञ्चमी. तेषां **हृदि अन्तः** तत्रापि सूक्ष्मतया **भासि.** ननु को विशेषः सर्वत्र वर्तसे तथापि तेषामेव हृदये भासीति? तत्राह **अमलात्मनामिति**. विद्यमानोऽपि मलिनदर्पण इव न प्रकाशसे. श्रवणादीनां तु चक्षुःसंस्कारकत्वं चित्तसंस्कारकत्वं च, यथा केचन गुणाः दर्पणशोधकाः केचन दृष्टिशोधका इति. तदुभयमत्रोक्तम् **अमलात्मनामिति**. रूपस्य दृष्टिशोधकत्वं नाम्नोऽन्तःकरणशोधकत्वमिति निर्णयः ॥४६॥

अन्येषां तु हृदये वर्तमानोऽपि न भासस इत्याह **हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थ** इति.

लेखः

शृण्वतामित्यत्र श्रवणादीनां त्विति. दर्पणस्थानीये चित्ते स्थितं भगवन्तमावृत्तचक्षुषा पश्यति अत उभयसंस्कारकत्वमुक्तम्. **तदुभयमिति**. चित्त-चक्षुषोः शोधनम् **अमलात्मनामिति** पदेनोक्तम्. तथाच **अमलात्मनाम्** इत्यत्र **आत्मपदेन** चित्तम् आत्मगामि परावृत्तं चक्षुश्चोच्यत इति भावः ॥४६॥

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यभ्युपेतगुणात्मनाम् ।।४७।।

कर्मणा विक्षिप्तं चित्तं येषाम्. न हि जलप्रतिबिम्बो जले चलति दृश्यते. यथातिदूरस्थो न दृश्यते तथा न दृश्यत इति धर्मसाम्यार्थं **दूरस्थत्वम्**, अन्यथा दूरस्थोऽपि दृश्यत इति भगवद्दर्शनमुक्तं स्यात्. ननु कर्मविक्षेपे को दोषः सम्पद्यते येन हृदिस्थो न दृश्यत इति चेत्, तत्राह **आत्मशक्तिभिरग्राह्य** इति. यद्यपि अन्तःकरणादिषु भगवच्छक्तय एव भगवद्ग्राहिकाः सन्ति, ताश्चेत् स्थिरा भवन्ति तदा भगवन्तं पश्यन्ति. कर्मविक्षेपे तु शक्तीनामन्यत्र विनियोगाद् भगवद्दर्शनं बाधितमित्यर्थः. तदा[१] आत्मशक्तिभिरग्राह्यो भवतीति हेतुः. शुद्धानामपि कर्मविक्षेपे भगवददर्शनमुक्तम्. नन्वेवं सति जडानां कर्मविक्षेपरहितानां भगवद्दर्शनं स्यादित्याह **अभ्युपेतगुणात्मनामिति**. आभिमुख्येन**ाभितः** सर्वतो **वोपेताः** स्वीकृताः **गुणा एव आत्मा** येन. भगवान् गुणाश्चेति कोटिद्वयम्. सत्त्वादीनामात्मत्वे जडो भवति, जडात्मस्वीकारात्. भगवत आत्मत्वग्रहणे चेतनो भवति. अतो यैर्जडात्मता स्वीकृता तेषामप्यग्राह्य इत्यर्थः ।।४७।।

एवं भगवतो दुर्लभं दर्शनमिति समर्थयित्वा तस्मिन् जाते प्रत्युपकारार्थं

लेखः

हृदिस्थ इत्यत्र **न** हीति. चञ्चले जले प्रतिबिम्बो न दृश्यते तथा कर्मणा चित्तस्य विक्षिप्तत्वात् चित्ते स्थितोऽपि न दृश्यते. **धर्मसाम्यार्थमिति**. यथा दूरस्थोऽदृश्यस्तथा भगवानपीत्यदृश्यत्वधर्मेण भगवतो दूरस्थपुरुषस्य च साम्यं वर्तत इति एतावन्मात्रबोधनार्थं **दूरस्थत्वमुक्तम्**. तथाच भगवान् अदृश्यत्वधर्मेण **दूरस्थमप्यतिक्रान्तो** दूरस्थादप्यधिकोऽदृश्य इत्यर्थः. **अन्यथेति**, **अतिदूरस्थपदस्य** अदृश्यत्वपर्यायार्थकत्वाभावे इत्यर्थः. **आत्मशक्तिभिरिति**, **विक्षिप्तचेतसाम् आत्मनो** विक्षिप्तस्यान्तःकरणस्य याः **शक्तयस्ताभिरग्राह्य** इत्यर्थः. **तदाहेति**, **आत्मशक्तिभिरग्राह्यो भवति** इत्यदर्शने **हेतुः** कर्ता **(तद्!)** भगवद्दर्शनस्याबाधितत्वं **कर्माहे**त्यन्वयः ।।४७।।

---

१. तदाह इति लेखकृतां पाठः - सम्पा.

बहु कर्तव्यमिति विचार्य अन्यस्याशक्यत्वात् नमस्कारमेव करोति.

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे
स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये ॥४८॥

नमोऽस्तु त इति. कीदृशो भगवानिति सन्देहे नमस्करणीयनिर्द्धारमाह **अध्यात्मविदां परात्मन** इति. ये **अध्यात्मविदः** ब्रह्मात्मैकत्वविदः[१] तेषामात्मानुभवयुक्तानां **पर** उत्कृष्टः **आत्मा** आत्मनामात्मेति. ननु ब्रह्मविदामात्मनामात्मा चेद् भगवान् तदा भगवतोऽप्यन्य आत्मा स्यादत आह **अनात्मन** इति, न विद्यते अन्यः आत्मा यस्य. एवं ये ज्ञाननिष्ठाः तेषामात्मत्वेन प्रकाशमानत्वमुक्त्वा ये न ज्ञानिनः तेषामयमेव कालरूपेण मृत्युं प्रयच्छतीत्याह **स्वात्मविभक्तमृत्यव** इति. **स्वात्मन्येव** ये **विभक्ताः** आत्मभेदं कृत्वा स्थिताः तेषां **मृत्युः**. "ब्रह्म तं परादाद्" (बृहदा.उप. ४।५।७) इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मक्षत्रादिरूपत्वाद् आत्मनः आत्मघाती दण्ड्य इति तादृशस्य वधं करोतीति युक्तमेव. ज्ञानिनां तु ज्ञानोत्तरं पूर्वकृतदोषनिवृत्तिः ; भक्तावपि भगवत्स्मरणादिना तन्नाशः. ननु भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तथाङ्गीकर्तुः को दोष इति चेत्, तत्राह **सकारणाकारणलिङ्गमीयुष** इति. एक एव भगवान् नित्यमनित्यं च जगद्रूपं शरीरं गृह्णाति, कालादयो नित्याः घटादयो अनित्या इति. उभयमपि भगवच्छरीरम्. नन्वेवं सति कथं सर्वो न प्रतिजानीते, तत्राह **स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टय** इति. **स्वमायया** कृत्वा उभयशक्तिरूपया कृत्वा आत्मा संवृतः ज्ञानशक्तिश्च रुद्धा. यथेन्द्रियं पिधत्ते घटं चाच्छादयति. अन्यथा आत्मप्रकाशेनैवातिपुष्टेन पिहितेऽपि ज्ञाने प्रकाशः स्यात्, ज्ञानापिधाने वा पिहितमप्यात्मानं पश्येत्. अत उभयं मायाकार्यम् ॥४८॥

लेखः

नमोस्तु त इत्यत्र **स्वमायया संवृतेति**. **स्वमायया** कृत्वा **संवृता रुद्धा** दृष्टिर्येनेति मूले विग्रहः. **संवृते** आत्मनीति शेषः. **स्वमायये**त्यस्य संवरणे रोधे चान्वयः ॥४८॥

---

१. ब्रह्मात्मत्वैकत्वविदः इति मुद्रितः पाठः. शेषेषु एवम् –सम्पा.

एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा नमस्कृत्य तादृशं प्रार्थयते **स त्वं शाधीति.**

स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम ते ।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद् भवानक्षगोचरः ॥४९॥

स्वभृत्यानित्याज्ञापनावश्यकत्वम्. शास्त्रद्वारा कर्तव्यमुपदिष्टमिति चेत्, तत्राह **किं देव करवाम त** इति. तुभ्यं किं करवाम; शास्त्रे तु स्वार्थं[१] निरूपितम्. ननु स्वार्थमेव क्रियतां, किं मदर्थेनेत्याशङ्क्याह **एतदन्तो नृणां क्लेश** इति. एतादृशदर्शनान्त एव प्राणिनां दुःखानुभवः; न हि प्रसन्ने भगवति दृष्टे कस्यचिद् दुःखं सम्भवति. अतः स्वार्थं नापेक्ष्यत इति दासत्वात् स्वामिकार्यमेव कर्तव्यमत आज्ञापयेत्यर्थः ॥४९॥

भगवांस्तु तस्येच्छालक्षणदुःखदूरीकरणार्थं स्वस्य सेवां निरूपयतीत्याह **तदुक्त**मिति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्तिहा ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ॥५०॥

गृहीत्वा पाणिना पाणिमिति स्वतुल्यता निरूपिता. ततो यत् स्वकर्तव्यं तदेवोपदेक्ष्यति, न सेवककर्तव्यमिति लक्ष्यते. **प्रहसन्निति,** कृतकृत्यत्वात् न तव किञ्चित् कर्तव्यं येनैतावत्त्वं जातम्. कर्तव्यं चेत्

लेखः

तदुक्तमित्यस्याभासे **इच्छालक्षणे**ति. यस्मात् सुखं मन्यते तं इच्छतीत्याशयेन इच्छायाः सुखधर्मत्वमुक्तम्. परमार्थविचारे तु विषयासम्पत्तौ जायमानत्वाद् इच्छापि दुःखमेव; न ह्याप्तकामः किञ्चिदिच्छति. अत एव श्रुतौ अकामरूपस्य शोकान्तरत्वमुक्तम्. येन सेवेच्छा लक्ष्यते तादृशं दुःखं मुनिसेवया दूरीभविष्यतीत्यर्थः. **स्वस्ये**ति, स्वकीयस्य मुन्यादेरित्यर्थः ॥५०॥

---

१. निरूप्यते इति गपाठः —सम्पा.

तदेव कर्तव्यम्, इदं च फलम्. तथापि यत् पृच्छति तदा यथा मया लोकसङ्ग्रहार्थं क्रियते व्यामोहार्थं वा तथायमपि करोत्विति भावः. हेत्याश्चर्ये, एतादृशमपि भगवान् स्वसेवायां न प्रेरयतीति स्वसेवाया दुर्लभत्वं द्योतितम् ॥५०॥

अत्र भगवानिति मन्यते— समागता ब्राह्मणाः, तांश्चायमात्मतुल्यान् मत्वा तथा न मन्यते तदा समागतानां क्षोभो भवेत्. स मा भवत्विति तेषां [१]सम्बोधयति. समता तु स्वस्मिन्नेव स्थापिता, अतोऽहं परं तथा न पूजनीयः किन्त्वेत एव पूजनीया इत्युपदिशति **ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थायेति** सप्तभिः. यावान् धर्मः स्वस्य सर्वश्रुतिप्रतिपाद्यः तावान् ब्राह्मणेषु निरूप्यते. तद्रूपोऽपि भगवानिति वाक्यं न बाधितविषयम्.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्धीमान् मुनीन् ।
सञ्चरन्ति मया लोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ॥५१॥

इमान् मुनीन् तेऽनुग्रहार्थाय समागतान् **विद्धि** नतु प्रसङ्गात्. अन्यार्थं ते वा समागताः, ननूभयोः समागमनं प्राधान्येन कथमेकस्मिन्कार्ये सम्भवतीति चेत्, तत्राह **सञ्चरन्ति मया लोकानिति**, मया सह एते लोकान् सञ्चरन्ति. तेन सहभावो मम, प्राधान्यमेतेषामेवेति निरुक्तम्. एतेषां पावनप्रकारमाह **पादरेणुभिरिति** ॥५१॥

नन्वन्यान्यपि लोके पावनानि सन्ति, क एतेषामेवाग्रह[२] इति चेत्, तत्राह **देवाः क्षेत्राणीति**.

---

१. तेषां पूजनीयत्वं सम्यक्तया सोपपत्तिकं बोधयति इत्यर्थः - सम्पा.

२. अनुग्रह इति मुद्रितेतरपाठेषु –सम्पा.

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥५२॥

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि च त्रयो लोके पावनहेतवः. कालस्याप्येतच्छेषेणैव पावनजनकत्वम्, स्नानान्त एव सूतकादावपि शुद्धेः. द्रव्याणां देश एवान्तर्भावः. कर्तारस्तु प्र(/प्रा!)कृताः. मन्त्र-कर्मणोरपि देवतास्वन्तर्भावः, तादर्थ्यात्. एवं शुद्धिहेतूनां षण्णामपि अत्रैवान्तर्भावात् त्रय एव निरुक्ताः. ते **दर्शनस्पर्शनार्चनैः पुनन्ति**. दर्शनं सर्वेषां, दर्शन-स्पर्शने तीर्थस्य, त्रितयं देवतायाः. एवमप्येते **शनैरेव पुनन्ति**. तत्र हेतुः **कालेनेति**. कालो हि पृथक् शुद्धिहेतुः, अन्यथा दशाहाद् अर्वागपि तीर्थस्नानादिना पुरुषः शुद्धो भवेत्. तस्मात् यावता कालेन शुद्धिर्भवति तावत्कालेनैव तीर्थादिना शुद्धो भवति. ब्राह्मणास्तु सद्यः शुद्धिहेतवः; तेषां वाक्याद् अत्यन्तनिकृष्टमपि शुद्धं भवति. "आकरस्थं सदा शुचिः" (. - । ।), "स्नेहपक्वं न दुष्यति" (. । ।), "प्रयतेन शूद्रेणाप्याहृतं भोज्यम्" (. । ।) इत्यादिवाक्यानि निर्विचि-कित्सं सर्वेषां शुद्धिप्रतिपादकानि. तस्मात् क्षेत्रादिभ्यो ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः. किञ्च **तदपि** तीर्थादिकृतमपि **अर्हत्तमस्येक्षया** दृष्ट्यैव भवति. सर्वत्र ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् "अभ्यनुज्ञाविहीनं हि ब्राह्मणानां विशेषतः, सर्वं निःफलतां याति व्रतदानार्चनादिकम्" (। ।) इति ॥५२॥

ननु ब्राह्मणस्योत्कर्षहेतुर्यः स चेदन्यत्रापि भवेत्, किं ब्राह्मणेनेत्याशङ्क्याह.

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥५३॥

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयानिति, उत्पन्न एव ब्राह्मणः सर्वेभ्यो वर्णेभ्योऽतिरिच्यते. **सर्वेषां प्राणिनां** पूज्यो भवति. तत्रापि **तपसा विद्यया तुष्ट्या** इति. एवं त्रिभिरेव महत्त्वं सिद्ध्यति— तपसा देहमाहात्म्यं, विद्यया चेन्द्रियाणां, तुष्ट्या त्वन्तःकरणस्येति. अनेन गुणत्रयमपगच्छति. सर्वोत्कृष्टमपरं हेतुमाह **किमु मत्कलयेति**. **मत्कला** भगवदीयत्वं भक्तिर्वा. तद्युक्तः श्रेयान् भवति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥५३॥

ननु तथापि त्वत्सेवकाः त्वामेव भजन्ते, उत्कर्षापकर्षं न मन्यन्ते. यथा स्त्री स्वपतिमेवोत्कृष्टमपकृष्टं मन्यते, न त्वन्यं महान्तमपि. तस्मात् कथं ब्राह्मणा भक्तानां सेव्या इति चेत्, तत्राह.

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥५४॥

न ब्राह्मणान्मे दयितमिति. मत्सेवकैर्मद्धितं कर्तव्यं, मम तु प्रीतिः स्वस्माद् ब्राह्मण एवाधिका. तत्र हेतुः **सर्वदेवमयो** विष्णुः **सर्ववेदमयो विप्र** इति. सर्वे वेदा ब्राह्मणे तिष्ठन्ति, देवास्तु मयि. प्रमेयाच्च प्रमाणमधिकम्, मानाधीना मेयसिद्धिरिति. अनेनान्तर्हृदयमपि ज्ञापितम्— प्रमेयबलं मया क्व क्व प्रकटीकर्तव्यम्? अतः प्रमाणभूता एत इत्येतदनुरोधः क्रियत इति (हि!) युक्तश्चायमर्थः ॥५४॥

ये तु पुनर्ब्राह्मणातिक्रमं कृत्वा गुरूपदेशं विनैव स्वतः पूजां कर्तुं वाञ्छन्ति तेऽतिदुर्बुद्धय इत्याह **दुःप्रज्ञा** इति.

दुःप्रज्ञा अविदित्वैवम् अवजानन्त्यसूयवः ।
गुरुं मां विप्रमात्मानम् अर्चादाविज्यदृष्टयः ॥५५॥

एवं मदभिप्रायं सिद्धान्तं **चाविदित्वा** ब्राह्मणवाक्येष्व**सूयां** कृत्वा तान**वजानन्ति.** तत्रापि मुख्यो **गुरुः**. तदवज्ञाने न पूजा फलति, यतः सोऽहमेव अहं च पूजकस्यात्मस्वरूपम् तेनात्मैवावज्ञात इति. स्वार्थत्वात् सर्वस्य कथं तत्कर्तारः उत्तमा भवेयुः? **अर्चादौ** अर्चा तीर्थक्षेत्रादिषु **इज्यदृष्टयः** पूज्यदृष्टयः. व्यवस्थयैवार्चादिषु पूजा कर्तव्या, नत्वव्यवस्थयेति भावः. "स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव" (भाग.पुरा. ११।२७।१६) इति व्यवस्था ॥५५॥

ननु तथापि भगवत्सान्निध्यलक्षणो गुणः अर्चादावेव वर्तत इति जीवान्तरसम्बन्धेनाभिमानश्च नास्ति इति दोषाभावसहितगुणस्य विद्यमानत्वाद् अर्चैव ब्राह्मणादुत्कृष्टेति चेत्, तत्राह.

चराचरामिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥५६॥

चराचरमिति, ब्राह्मणे सर्वमस्ति. स हि स्वात्मनि सर्वं विश्वं ज्ञानेन मन्यते— "मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्, मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माक्षरमव्ययम्" (कैवल्योप. १९), "अणोरणीयानहमेव विष्णुः" (. । ।) इत्यादिश्रुतेः 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति" (तैत्ति.आर. २।१६) इति च. तदाह **इदं चराचरं विश्वं अस्य च** मूलभूताः **ये भावाः** एतत्कार्याणि वा **ये चास्य हेतवः** कारणभूतानि तत्त्वान्येतानि सर्वाण्येव भगवद्**रूपाणीति चेतसि विप्रः आधत्ते**. अत एव **विप्रः**, विशेषेणाऽऽत्मानं पूरयतीति प्रा पूरण इति. तत्रापि **मदीक्षया** मम ईक्षा भगवत्साक्षात्कारः. भगवन्तं स्थापयित्वा भगवद्रूपाण्यपि स्थापयति. अथवा आदौ मत्साक्षात्कारे जाते स्वात्मनि यन्मां पश्यति तत्र मयि चराचरं च पश्यतीति ब्राह्मणे चराचरं सर्वमेव वर्तत इत्यर्थः ॥५६॥

एवं ब्राह्मणोत्कर्षमुक्त्वा कर्तव्यमाह **तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतानिति**.

तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयाऽर्चय ।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥५७॥

एते च तादृशा ब्राह्मणाः काण्डद्वयनिष्णाता इति ज्ञापयितुं **ब्रह्मर्षिपदम्**. **ब्रह्मन्निति** त्वमपि तादृश एव, अतस्त्वया चेन्नाङ्गीक्रियते तदान्योऽपि नाङ्गीकरिष्यतीत्यपि ज्ञापितम्. किञ्च एकस्मिन् ब्राह्मणे यथाकथञ्चिदर्चिते अहं नानाविभूतिभिः अर्चितो भविष्यामि ॥५७॥

एवमुपदिष्टस्तथैव कृतवानित्याह.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

स इत्थं प्रभुणादिष्टः सहकृष्णान् द्विजोत्तमान् ।
आराध्यैकान्तभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम् ॥५८॥

स इत्थं प्रभुणादिष्ट इति, प्रभुत्वान्नान्यथा कर्तुं शक्यम्. ततः **सहकृष्णान्** भगवत्सहितान् तान् अधिष्ठानरूपान् स्वभावतोऽप्युत्तमान् **द्विजोत्तमान् एकान्तभावेन** अनन्यभक्त्या **आराध्य सद्गतिमवाप** सतां या गतिस्तां भगवत्सायुज्यं प्राप्तवान्. तदानीमेवान्यदा वा **मैथिलश्च** देहान्ते भगवत्सायुज्यं प्राप्तवान्. चकारात् तत्सम्बन्धिनोऽपि तथा तथा प्रवृत्ताः ॥५८॥

एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा चरित्रान्तरकथनार्थं पुनर्भगवतः प्रत्यापत्तिमाह **एवं स्वभक्तयोरि**ति.

एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान् ।
उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥५९॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥

राजन् इति विश्वासार्थम्. **भक्तेषु भक्तिमान्** इति स्वतो गत्वा करणे हेतुः. मैथिलवाक्यात् मैथिलगृहे **उषित्वा** श्रुतदेववाक्यात् तस्मै **सन्मार्गम् आदिश्य** सतां गतिः भगवान् तत्र मार्गभूता ब्राह्मणा इति तेषां भजनम् आदिश्य **पुनः** स्वस्थानम् आगत इत्यर्थः ॥५९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे सप्तत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयः स्कन्धादितः चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥

शब्दार्थयोरुत्तमयोः सम्बन्धो यादृशो मतः ।
तं विवेचयितुं कृष्णः श्रुतिगीतं चकार ह ॥(१)॥
प्रमाणं ब्राह्मणः प्रोक्तः प्रमेयमपि वै बृहत् ।
स एव भगवान् कृष्णस्ततो भजनमीरितम् ॥(२)॥
तत्रोपपत्तिः प्रष्टव्या वाच्यवाचकनिर्णये ।

लेखः

अष्टत्रिंशेऽध्याये कारिकासु **शब्दार्थयोरिति. उत्तमयोः** वेद-ब्रह्मरूपयोः **शब्दार्थयोः सम्बन्धो** वाच्य-वाचकभावलक्षणो **यादृशो मतः** शक्ति-गौणी-तात्पर्येति प्रकारत्रये यत्प्रकारको मतो महतां सम्मतः **तं**[१] तत्प्रकारकं सम्बन्धं **विवेचयितुं** प्रकारान्तरसम्बन्धेभ्यः पृथक्कारयितुं **कृष्णो** व्यासः **श्रुतिगीतं चकार.** एतदध्यायग्रन्थस्य **श्रुतिगीतम्** इति नाम. श्रुतिभिर्भगवतो रमणान्ते स्वस्यापि तथादर्शनेनानन्दोद्रेकात् प्रकटीकृतमित्यर्थः. **विवेचयितुमिति** हेतुमण्णिच्. अस्मदादिर्विविनक्ति ; व्यासो विवेचयति. एतेन व्यासस्य विवेकः सिद्ध एव किन्तु अस्मदादीनां विवेकसिद्ध्यर्थमिदं चकारेत्यर्थः. ईक्षत्यधिकरणमत्र समर्थितं भविष्यति (१).

संगतिमाहुः **प्रमाणमिति. ब्राह्मणः** श्रुतदेवः "सर्ववेदमयो विप्रः" (भाग.पुरा. १०।८३।५४) इत्युक्तत्वात् प्रमाणप्रधानत्वात् **प्रमाणरूपः** स पूर्वाध्याये **प्रोक्तः. प्रमेयं** बृहत् "यावतीर्वै देवताः" (तैत्ति.आर. २।१६) इति श्रुतेः ब्राह्मणस्य प्रमेयत्वमपि इत्यपिशब्दः. तदस्मिन्नध्याये निरूप्यते इति वाक्यशेषः. तथाच "मानाधीना मेयसिद्धिः" (. । ।) इतिन्यायेन प्रमेयस्य प्रमाणोपजीवकत्वाद् उपजीव्योपजीवकभावसंगत्येदं निरूपितमित्यर्थः. अन्त्यश्लोके भजननिरूपणे हेतुमाहुः **स एवेति. तत्रेति.** तेषु प्रमाण-प्रमेय-भजनेषु मध्ये **वाच्ये** प्रमेये ब्रह्मणि **वाचकस्य** प्रमाणस्य यो **निर्णयस्तत्रोपपत्तिः प्रष्टव्या** इत्यर्थः (२-३).

---

१. तम् इति मुद्रितपाठे नास्ति. शेषेषु एवम् - सम्पा.

अतो राजा श्रुतीनां वै निर्णयार्थमपृच्छत ॥(३)॥
सगुणं चेद् वेदवाक्यं ब्राह्मणास्तत्र च स्थिताः ।
ततोऽत्र भगवानेव पूज्यो नान्यः कथञ्चन ॥(४)॥
मतान्तरोक्तिरेषा हि सिद्धान्ते वैदिके तथा ।
अनन्तगुणपूर्णो हि हरिर्ब्रह्म श्रुतिस्तथा ॥(५)॥
त्रयमेकं स्वशक्तिं हि त्रेधा स्वस्मिन्निधाय हि ।
फल-प्रमेय-मानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम् ॥(६)॥
तथापि साङ्ख्यसिद्धान्ते तथा तदुपजीवके ।
वैष्णवेऽन्यत्र वा वाच्यं श्रुतिसङ्ग्रहणं यथा ॥(७)॥

लेखः

एतन्निर्णयस्य प्रयोजनमाहुः **सगुणं चेदि**ति. **वेदवाक्यं** भगवतोऽनन्तगुण-प्रतिपादकं चेद् भवेद् **ब्राह्मणाश्च तत्र** भगवत्येव **स्थिताः** परिनिष्ठिता भवेयुः. **ततो भगवानेव पूज्यो** भवेदित्यर्थः (४).

मतान्तरोक्तिरिति. **हि** युक्तोऽयमर्थः. गूढार्थकथने महतां सम्मतिर्युक्तेति सनन्दनमतत्वेनोक्तिः, नत्वियं मतान्तरभाषा, "इत्याद्यमृषिम्" (श्लो. ४७) इतिश्लोके व्याससम्मतेः वक्ष्यमाणत्वादिति भावः. **वैदिके सिद्धान्ते तथा**भूतै**षा मतान्तरोक्तिः हि** युक्तैवेत्यर्थः. **अनन्ते**ति. **हि** यतः **अनन्तगुणपूर्णः** सर्वसमर्थो **हरिः** अतो **हरिः** कृष्णः **ब्रह्म** अक्षरं **श्रुति**श्चेति **त्रयमेक**मेव. कर्तृफल-प्रमेय-प्रमाणभेदेन सच्चिदानन्दभेदेन च **त्रेधा** स्थितां **स्वशक्तिं स्वस्मिन्निधाय** स्वीकृत्य **फलप्रमेयमानत्वं सच्चिदानन्दतां** च कर्म **गतम्. गतमि**ति कर्तरि क्तः. एकमेव स्वरूपं फलत्वं गतं सत् कृष्णः, प्रमेयत्वं गतं सद् ब्रह्म, मानत्वं गतं सच्छ्रुतिः. **सच्चिदानन्दतामि**ति प्रतिलोमक्रमः — आनन्दांशस्य प्राधान्येन स्वीकारे कृष्णः, चिदंशस्य प्राधान्येन स्वीकारे ब्रह्म, सदंशस्य प्राधान्येन स्वीकारे श्रुतिः. सच्चिदानन्दानां स्वरूपधर्मत्वेन मुख्यत्वात् शक्तित्वं युक्तमिति **हि**शब्दः. स्वरूपधर्मत्वादेव तत्स्वीकारोऽपि युक्त इति द्वितीयो **हि**शब्दः (५-६).

नन्वेवं स्वरूपैक्ये श्रुतिषु बन्दिदृष्टान्तकथनं न युक्तमित्यत आहुः **तथापी**ति. **साङ्ख्यसिद्धान्ते तदुपजीवके** सगुणे **वैष्णवे सिद्धान्ते अन्यत्र**

अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद् भवेत् ।
तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलमीर्यते ॥(८)॥

राजा भगवद्गुणविरोधे परिहृते प्रमाणविरोधमाशङ्कते **ब्रह्मन्निति.**

॥ परीक्षिदुवाच ॥

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे? ॥१॥

ब्रह्मणि साक्षात्कथं श्रुतयश्चरन्तीति प्रश्नः. अत्र श्रुतीनामेकवाक्यताम-ङ्गीकृत्य पृच्छति, "अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्" (जैमि.पू.मी.सूत्र २।१।१५।४६) इति. तत्र किं बृहद् वेदानां तात्पर्यार्थः आहोस्विद् वाक्यार्थ इति– अखण्ड एव वाक्यार्थ इति मतमज्ञात्वा– पृच्छति. पदार्थाः करणतामापन्नाः

लेखः

मुख्यभक्तिसिद्धान्ते **वा श्रुतीनां सङ्ग्रहणं** तथा भक्तत्वेन वाच्यम्, साङ्ख्यस्य सगुणपक्षस्य च भेदसहिष्णुत्वाद्, भक्तिसिद्धान्तेऽपि "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्रह्मसूत्र ३।३।११) इति सूत्रे आनन्दादीनां भगवत्येव व्यवस्थापितत्वात्. अत एव श्रुतीनां गोपिकात्वमिति भावः. ज्ञानमार्ग एव तुल्यत्वेन व्यवहारः. अतोऽत्र बन्दिदृष्टान्तो युक्त इति भावः (७).

पूर्वपक्षादीति पूर्वपक्ष आदिर्यस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः. तादृशः **सिद्धान्तः फलं चेर्यते** तेन वाच्यत्वप्रकारनिर्णयः सेत्स्यतीत्यर्थः (८).

भगवद्गुणेति. पूर्वाध्याये वीर्यवतो भगिन्या हरणं न सम्भवतीत्याशङ्-कायां भगवतो वीर्यं न लोकप्रकारकं किन्त्वलौकिकमिति समाहितम्. ततोऽलौकिकवीर्यकथनेन भगवतः अलौकिकत्वे ज्ञाते तादृशे प्रमाणानां चक्षुरादीनां श्रुतीनां च सगुणत्वात् प्रवृत्तिः कथमित्याशङ्का भवतीत्यर्थः.

ब्रह्मन्नित्यत्र. ननु न सर्वासां श्रुतीनां धर्मप्रतिपादकत्वं किन्तु कासाञ्चित् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप. २।१) इत्यादीनां स्वरूपप्रतिपादकत्वमपि. अतः सर्वासां गुणवृत्तित्वमङ्गीकृत्य प्रश्नो नोपपद्यते इत्याशङ्क्याहुस्त्रेति. एकवाक्यता तु प्रतिपाद्यैक्ये भवति अतः सर्वासामेव गुणप्रतिपादकत्वमिति भावः. **तत्रेति,** एकवाक्यत्वे सतीत्यर्थः. वाक्यार्थत्वमाद्यविशेषणयोः तात्पर्यार्थत्वं चान्त्यविशेषणे निराकरिष्यते. **पदार्था** इति स्मर्यमाणा इति शेषः,

स्वसंसर्गं वाक्यार्थं बोधयन्तीति मन्यते. "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (भग.गीता ५।१६) इति "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठोप. १।२।१५) इति च श्रुति-स्मृतिभ्यां सर्ववेदानामेकार्थप्रतिपादकत्वं च श्रूयते. श्रुतयश्च भगवतः क्रियाशक्तिं ज्ञानशक्तिं च प्रतिपादयन्ति नानाविधाम्, शक्तिं च गुणमयीं मन्यन्ते, अतः सगुणाः श्रुतयः. पदानां सङ्केतः लौकिक एवेति अलौकिके सङ्केताभावात् तैर्भगवत्सम्बन्धिनः पदार्थाः अलौकिकाः कथं स्मारयितव्याः ? लौकिकत्वे ब्रह्मणो लौकिकत्वापत्तिस्तत्सम्बन्धात्. अतः पूर्वपक्षे साधनपरत्वमेव वेदानाम्. अतः स्वप्रकाशमेव ब्रह्म स्वानुभववेद्यं प्रसन्नं सत् कृतार्थतां करिष्यतीति प्रमेयबलेनैव कार्यसिद्धिः, न प्रमाणबलेनेति पूर्वपक्षः. ब्रह्मणोऽलौकिकत्वार्थं हेतुमाह **अनिर्देश्य** इति. निर्देशो लौकिकबुद्धिविषयीकरणम् "अयं घटोऽयं पट" इतिवत्. बृहत्त्वबृंहणत्वयोगोऽपि विचारे क्रियमाणे लौकिकधर्मातिरिक्तत्वेन ब्रह्मणि फलिष्यतीति न 'ब्रह्म'पदानुपपत्तिः.

लेखः

"पदार्थास्तत्स्मृतिर्वा स्याद्" (.   । ।) इतिवाक्यादिति भावः. **स्वसंसर्गमिति**, स्वेषां पदार्थानां संसर्गं वाक्यप्रतिपाद्यमित्यर्थः. तथा चाखण्डवाक्यार्थमतमज्ञात्वा पृच्छति, यतः पदार्थसंसर्गं सखण्डमेव वाक्यार्थं मन्यत इत्यर्थः. पूर्वपक्षहेतोः संशयस्यैकां कोटिमाहुः **वेदैश्चेति**. तथा च ब्रह्मण एव वाक्यार्थत्वमित्यर्थः. इतरां कोटिमाहुः **श्रुतयश्चेति**. तथाच सगुणत्वात् निर्गुणप्रतिपादनेऽसमर्था इत्यर्थः. शक्तेर्गुणमयत्वे उपपत्तिमाहुः **पदानामिति**. वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं करणम्. भगवदीयाः पदार्थाः लोकविलक्षणाः, यथा पूर्वाध्याये एवं भगिनीदानलक्षणं वीर्यं सर्वथा लोकविरुद्धमुक्तम्. अतो**ऽलौकिकाः पदार्थास्तै**र्गृहीतलौकिकसङ्केतैः पदैः **कथं स्मारयितव्याः**, सदृशस्यैव स्मारकत्वादतो वेदप्रतिपाद्याः शक्तयो गुणमय्यो लौकिक्य इत्यर्थः. **लौकिकत्व** इति भगवत्सम्बन्धिपदार्थानामिति शेषः. **साधनपरत्वमेवेति**, गुणमयशक्तिप्रतिपादकत्वमेवेत्यर्थः. पूर्वपक्षे ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वात् न लोकवद्धर्मनिरूपणेन धर्मिसिद्धिरिति भावः. **अत** इति, वेदप्रतिपाद्यत्वाभावादित्यर्थः. **कार्यसिद्धिरिति**, ब्रह्मज्ञानसिद्धिरित्यर्थः.

अवाच्यः सर्वशब्दानां बुद्ध्या वाच्यो निगद्यते ।
ततः समानधर्मेण व्यवहारो निरूप्यते ॥(९)॥

इति. किञ्च **निर्गुणे** निर्धर्मके **श्रुतयश्च** पदशो **गुणवृत्तयः**, धर्मप्रतिपादकत्वात्. अन्यथा संसर्गप्रत्यायकत्वं न स्यात्, सर्वत्रैकार्थत्वप्रत्यायकत्वात्. ब्रह्मणश्च धर्माङ्गीकारे अद्वैतहानिः. अतः **साक्षान्निर्धर्मके ब्रह्मणि कथं श्रुतयश्चरन्ति ?** ननु कार्यकारणभावं स एवापन्न इति तत्प्रतिपादनद्वारा तत्र पर्यवसितास्तद्द्वारा धर्मिणि पर्यवस्यन्तीति लक्षणया गौण्या तात्पर्यवृत्त्या वा ब्रह्मपरत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **सदसतः पर** इति. कार्यकारणवार्तानभिज्ञे; किं तस्य स्वानन्दपूर्णस्य कार्येण कारणेन वा प्रयोजनम्! अतः सम्बन्धाभावाद् गुणाभावादज्ञानादेव तात्पर्याभावाच्च न केनापि प्रकारेण श्रुतिप्रतिपाद्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥१॥

सिद्धान्तमाह **बुद्धीन्द्रियेति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥२॥

अत्र पूर्वपक्षवादी प्रष्टव्यः — किं ब्रह्म श्रुतिसिद्धं = श्रुतिद्वारा त्वया अवगतं विचार्यत्वेन निर्दिश्यते आहोस्वित् स्वबुद्ध्या परिकल्पितम्? आद्ये प्रतिपाद्यत्वे न सन्देहः; प्रकारश्चिन्तयिष्यते. द्वितीयपक्षस्त्वप्रामाणिकः सद्भिरुपेक्ष्यः; ब्रह्म च यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्. तत्र मूलभूतं सर्वव्यवहारातीतमपि स्वयमेव स्वशक्तिरूपेण स्वधर्मरूपेण स्वकार्यरूपेण

लेखः

अन्यथेति, पदशो ब्रह्मप्रतिपादकत्व इत्यर्थः. **सम्बन्धाभावादिति**, अनिर्देश्यत्वेन घटादिवद् वाच्यवाचकभावाभावादित्यर्थः. **अज्ञानादिति**, कार्यकारणवार्तानभिज्ञत्वादित्यर्थः ॥१॥

बुद्धीन्द्रियेत्यत्र. उत्तरे बुद्धिसर्गकथनेन बुद्ध्यैव वेदमालोचनीयमिति सूचितत्वात् आलोचनमाहुः **अत्रेति**. **प्रकार** इति, खण्डशो वाक्यानां तात्पर्यवृत्त्या ब्रह्मप्रतिपादकत्वम् अभिधया भगवद्भावप्रतिपादकत्वम्, एवं महावाक्यस्य भगवत्प्रतिपादकत्वमिति प्रकार इत्यर्थः. **तत्रेति**, वेदान्तेष्वित्यर्थः. **अनिर्देश्यादि-**

च जातमिति श्रुतिः प्रतिपादयति, स्वयमेव च वक्ति. अतः सर्वस्यैव श्रुत्यैकसमधिगम्यत्वात्, सङ्केतश्चादूरविप्रकर्षेण लोकधर्मसाम्येन वैदिकपरम्परयैव जायत इति सर्वस्यैव भगवद्भावस्य खण्डशः प्रतिपादकत्वात् सम्पूर्णवाक्यस्य, तादृशं ब्रह्मेति ब्रह्मपरत्वं सेत्स्यति. स च वाक्यार्थः अपूर्वः. यथा लोके

लेखः

विशेषणत्रयं निराकुर्वन्ति **स्वशक्तीति** त्रयेण. व्यवहाराविषयत्वं स्वस्य ज्ञात्वा **स्वशक्तिरूपेण स्वयं जातं,** तथाच अलौकिकज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वेन वैदिकशब्दैः निर्देशसम्भवात् न अनिर्देश्यं ब्रह्म. तथा "पूर्ववद् वा" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२९) इतिन्यायेन **स्वधर्मरूपेण स्वयं जातम्,** अतो न निर्गुणं ब्रह्म. द्वैतदोषस्तु "उभयव्यपदेशादहिकुण्डलवद्" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२७) इति सूत्रत्रयप्रकारेण स्वस्यैव धर्मरूपत्वात् परिहर्तव्यः. तथा लोकरीत्या व्यवहार्यो भविष्यामीति ईक्षया **स्वकार्यरूपेण जातमतो** न सदसद्वार्तातीतं ब्रह्म. त्रिष्वपि **स्वपदेन** ब्रह्मण एव ज्ञानक्रियाशक्तिर्ब्रह्मरूपा, नतु अस्मदादीनां जन्या व्यावहारिकी. ब्रह्मण एव धर्मा ब्रह्मरूपाः नतु अस्मद्धर्मा अनीशत्वादयः. ब्रह्मण एव कार्यं ब्रह्मरूपं, नतु अविद्याकार्यं मरुमरीचिका-स्वप्नसृष्ट्यादिकम्. एवं ब्रह्मस्वरूपविचारेण निराकृत्य श्रुतिस्वरूपविचारेण निराकुर्वन्ति **स्वयमेव चेति.** "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठोप. १।२।१५) "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (भग.गीता ५।१६) इत्यादिवाक्यैः **स्वयमेव** श्रुतीनां ब्रह्मप्रतिपादकत्वं **वक्ति.** अतः श्रुतयो न "गुणवृत्तयः". **अत** इति, श्रुतीनां ब्रह्मप्रतिपादकत्वश्रवणात् **सर्वस्यैव** शक्त्यादिरूपत्रयस्य मूलरूपस्य च **श्रुत्यैकया** तर्करहितया समधिगन्तुं योग्यत्वात् **यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव ब्रह्म मन्तव्यमिति** पूर्वेणान्वयः. "पदानां सङ्केत" (पूर्वश्लोकसुबोधिन्याम्) इत्यनेन शक्तेर्गुणमयत्वे उपपत्तिरुक्ता तत्राहुः **सङ्केतश्चेति.** लोकधर्मसाम्याददूरं सामीप्यमित्यर्थः. साम्यस्य भेदसहिष्णुत्वात् लोकभिन्नत्वेन **विप्रकर्षो** दूरमित्यर्थः. तथाच **लोकधर्मसाम्येन** हेतुना **अदूरविप्रकर्षेण सङ्केतो वैदिकपरम्परयैव जायत** इत्यर्थः. **सर्वस्यैवेति** कर्तरि षष्ठी; वेदस्येत्यर्थः. **भगवद्भावस्येति** कर्मणि षष्ठी. तथाच **सङ्केतो वैदिकपरम्परयैव जायते इतिहेतोः** सर्व एव वेदः **खण्डशो भगवद्भावं** भगवद्धर्मं प्रतिपादयति, अतो महावाक्यार्थो

लौकिकबुद्धिविषयः पश्चात् तद्वाक्यविषयः तदभिप्रेप्सोर्ज्ञापकः एवमीश्वरबुद्धिविषयः तद्वाक्यप्रतिपाद्यः तज्ज्ञानेच्छुं बोधयति — इत्येवं निश्चित्य शुको भगवता कृतां चतुर्धा सृष्टिं प्रतिपादयति. भगवानादौ **बुद्धिमुत्पादयति**, तत **इन्द्रियाणि**, ततो **मनः**, ततः **प्राणानिति** सर्वेषां **जनानां** करणचतुष्टयं जनयति. जीवसम्बन्धित्वेन तच्चतुष्टयमुत्पादयतीत्यर्थः. तत्र सामर्थ्यं **प्रभुरिति**. प्रत्येकं चतुर्णामुत्पादने प्रयोजनमाह. तत्र बुद्धेः प्रयोजनं **मात्रार्थमिति**. मीयन्ते त्रायन्त इति **मात्राः** ज्ञानक्रियोपयोगिनो विषयाः सर्वमेव जगत्. ते विशकलिताः शब्देनापि बोधिताः पुरुषस्य ज्ञानक्रियाविषयोपयोगिनो न भविष्यन्तीति बुद्धिमुत्पादितवान्. सा बुद्धिः सर्वानेव सङ्गृह्णाति, यथा चित्रे सर्वपदार्थस्फूर्तिः

लेखः

ब्रह्मैवेत्यर्थः. **अपूर्व** इति, वेदोक्तो भगवद्भावो ब्रह्म च **वाक्यार्थोऽपूर्वः**, नतु तत्र लोकसिद्धानुवादः, "शब्दादेव प्रमितः" (ब्रह्मसूत्र १।३।२४) इत्यधिकरणे तथोक्तेः. अनुवादत्वे लौकिकप्रतिपादकत्वेन श्रुतीनां सगुणत्वं स्यादिति भावः. ननु वाक्यार्थस्यापूर्वत्वे तद्बोधः कथं स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन साधयन्ति **यथेति**. "चैत्रो घटं करोती"त्यत्र घटकृतिरूपो वाक्यार्थः **लौकिकस्य** वक्तुर्**बुद्धिविषयः पश्चात् तद्वाक्यविषयः** सन् घटकर्तृजिज्ञासुं पुरुषं घटकर्तारं बोधयति. तथा वैदिको जगत्कृतिरूपो वाक्यार्थः प्रलये वेदस्येश्वरबुद्धिस्थत्वाद् **ईश्वरबुद्धिविषयः** पश्चादीश्वरवाक्यविषयः सन् जगत्कर्तृजिज्ञासुं पुरुषं जगत्कर्तारं **बोधयतीत्यर्थः. एवं निश्चित्य शुक** इति, अत्र **पूर्वपक्षवादीत्यारभ्य बोधयतीत्यन्तोक्तं** सिद्धान्तं निश्चित्येत्यर्थः. यतोऽयमेव सिद्धान्तः "स्वसृष्टमिदमापीय" (श्लो. १२) इति विशेषोत्तरे सनन्दनेन वक्तव्यः. प्रलये अन्याभावात् सर्वव्यवहारातीतविषयत्वेन अनिर्देश्यादिरूपमेव ब्रह्म. ततः सर्वभवनेच्छया स्वशक्त्यादित्रिरूपभवनात् निर्देश्यं सधर्मकं सदसद्रूपं च जातं तदा बोधयाञ्चक्रुरिति तदर्थः. **जीवसम्बन्धित्वेनेति**, तथाच जीवानामालोचनसिद्ध्यर्थं तथेत्यर्थः. **तत्रेति**, चतुर्णां जीवसम्बन्धित्वकरणे इत्यर्थः. **मात्रा** इति. मीयन्ते इति माः, त्रायन्त इति त्राः, उभयत्रापि बाहुलकात् कर्मणि क्विप्, आकारान्तौ शब्दौ, ततो माश्च त्राश्चेति द्वन्द्वः. **ज्ञानक्रियेति**, ज्ञाने क्रियायां च विषयत्वेनोपयोगिन इत्यर्थः. **फलत्वेनेति**,

तथा बुद्धौ सर्वजगत्स्फूर्तिरिति. ततस्तया बुद्ध्या यत्किञ्चित् ज्ञेयं कार्यं वा तत् सर्वं कर्तुं शक्यत इति **मात्रार्थं बुद्धिनिर्माणम्**, अनेन वेदानामपि खण्डशोऽर्थप्रतिपादकानां बुद्ध्या महावाक्यार्थज्ञानं भवतीति तात्पर्यतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वं सेत्स्यति. चकारादग्रे यत् त्रयं प्रतिपाद्यं फलत्वेन तदर्थं च बुद्धेर्निर्माणं निरूपितम्. **भव** उद्भवः. सर्वे प्राणिनः बुद्ध्यैव [१]उत्कर्षं प्राप्नुवन्ति. तथै**वात्मने** बुद्ध्यैव भगवन्निष्ठा आत्मनिष्ठाश्च भवन्ति भगवत्सेवां च कुर्वन्ति. **अकल्पनाय च** बुद्ध्यैव ज्ञाननिष्ठा भवन्ति, नानाविधपदार्थध्यानार्थं कल्पनामपि कुर्वन्ति. तस्मात् सर्वं यथा सेत्स्यति, सर्वा चानुपपत्तिः सर्वेषां परिहृता भवति तदर्थं बुद्धिमुत्पादितवान्. अनेनायं पूर्वपक्षोऽपि बुद्ध्यैव परिहर्तव्य इति सूचितम्. तथा **भवार्थ**मुद्भवार्थं जन्मान्तरसिद्ध्यर्थं वा इन्द्रियाणि कृतवान्. बुद्धिसिद्ध्यर्थमिति विमर्शः ; यथा बुद्धेः उद्भवो भवति तदर्थमिन्द्रियाणि सृष्टवान्. इन्द्रियैः कर्मकरणे च तैः कर्मभिरुद्भवो जन्मान्तरं च भवति. चकारादन्यान्यपि प्रयोजनानि इन्द्रियाणां सूचयति— विषयास्तैरेव ज्ञायन्ते क्रियन्ते च, इन्द्रियैरेव भगवत्सेवा भवति, इन्द्रियैरेव च नानाविधकल्पना भवति, मोक्षश्च योगादिद्वारा. तथा **आत्मने** आत्मार्थं मनः सृजति,

लेखः

भवादित्रयं बुद्धेः फलं मात्रासङ्ग्रहणकार्यमित्यर्थः. **कल्पनाय** चेत्यत्र अकारप्रश्लेषाभावमाश्रित्याहुः **नानाविधेति**. **बुद्धिसिद्ध्यर्थमिति**. इन्द्रियसृष्टेः केवलं भवार्थत्वेऽत्र कथनमप्रयोजनकं स्याद् अत उत्तरोत्तरं सापेक्षत्वं ज्ञायते. तथाहि [२]बुद्धिविचारार्थं बुद्धिसृष्टिः, बुद्धेर्ज्ञानेन्द्रियजन्यत्वेन इन्द्रियसापेक्षत्वादिन्द्रियसृष्टिः, इन्द्रियाणां मनःसहकृतानामेव कार्यक्षमत्वेन मनःसापेक्षत्वात् मनःसृष्टिः, "अन्नेन प्राणाः" (महाना.उप. २३।१) इति श्रुतौ मनसः परम्परया प्राणपोषितत्वकथनेन प्राणसापेक्षत्वात् प्राणसृष्टिः. अतो बुद्धिसिद्ध्यर्थमिति विमर्शे इन्द्रियादिविमर्श इत्यर्थः. अस्मिन् पक्षे भवार्थं = बुद्ध्युद्भवार्थमित्यर्थः. इन्द्रियाणाम् उद्भवार्थकत्वं जन्मान्तरसिद्ध्यर्थकत्वं चोक्तं तद् विशदयन्ति **इन्द्रियैरिति**. **अन्यान्यपीति**, मात्रासङ्ग्रहः, आत्मरूपभगवत्सेवा, अकाराप्रश्ले-

१. सर्वोत्कर्षम् इति मुद्रित-खपाठयोः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

२. बुद्ध्या इति मुद्रितेतरेषु सर्वेषु - सम्पा.

"मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन" (बृहदा.उप. ४।४।१९) इति श्रुतेः. इन्द्रियाणां च प्रवृत्त्यर्थं मनसः सृष्टिः. प्राणानां प्रयोजनमाह **अकल्पनायेति**. प्राणा हि कल्पनां दूरीकुर्वन्ति सर्वमेकतामापादयन्ति. यदि प्राणा न भवेयुः तदाऽन्नादिपरिणामप्रदर्शनेन सर्वस्यापि जगतः प्रलये एकताबुद्धिर्न स्यात्. [१]क्रियाशक्तिश्च तत एवेति सर्वत्र हेतुभूताश्च. "अन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलम्" (महाना.उप. २३।१) इत्यत्र "प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः" इति निरूपितं स क्रमोऽत्रापि ग्राह्यः. एवं सर्वोपयोगार्थं यतो भगवांश्चतुष्टयमुत्पादितवान्. अनेनैव सर्वानुपपत्तिः परिहर्तव्येति शुकहृदयम् ॥२॥

लेखः

षप्रश्लेषाभ्यां नानाविधकल्पना मोक्षश्चेत्यर्थः. **इन्द्रियाणां च प्रवृत्त्यर्थमिति** अयमपि विमर्श इत्यर्थः. तस्मिन् पक्षे आत्मना इन्द्रियाणामावृतचक्षुषां बुद्धिद्वारा स्वात्मनि प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थमित्यर्थः. एवं मनःपोषार्थं प्राणसृष्टिः आत्मदर्शनार्थं मनःसृष्टिरुक्ता. तच्चात्ममात्रगामित्वे भवति, अतो मनसः आत्ममात्रगामित्वार्थं प्राणसृष्टिरित्याशयेनाहुः **प्राणा हीति**. एकतापादनेन मनसः कल्पनां दूरीकुर्वन्ति. तदा बलादिक्रमेण मनीषासिद्ध्या मनः सर्वकल्पनारहितं पुष्टं सद् आत्मगामि भवति. तदा **अकल्पनाय** कल्पनाराहित्यायेत्यर्थः. **सर्वमिति**. **सर्वं** सर्वगामि मनः **एकतामापादयन्ति** आत्मगामि कुर्वन्तीत्यर्थः. **अन्नादीति**. **अन्नं** पृथिवी. तथाच पृथिव्यादीनां ये **परिणामा** घटपटादयस्तेषां **प्रदर्शनेन** तत्तद्विषयकमनोवृत्त्या मोक्षदशायां **सर्वस्यापि जगतः** आत्यन्तिक**प्रलये** सति **एकताबुद्धिः** आत्ममात्रविषयिणी बुद्धिर्न **स्यादित्यर्थः**. **सर्वत्रेति**, भुक्तौ मुक्तौ चेत्यर्थः. भुक्तिसाधकत्वं व्युत्पादयन्ति **क्रियाशक्तिश्चेति**. प्राणेभ्य एव क्रियाशक्तिरतो भोगसाधका इत्यर्थः. अस्मिन् पक्षे अकारप्रश्लेषाभावेन **कल्पनाय** सामर्थ्यायेत्यर्थः. मुक्तिसाधकत्वं प्रमाणेनाहुः **अन्नेनेति**. अस्मिन् पक्षे **अकल्पनाय** न कल्पना यत्र तादृशाय मोक्षायेत्यर्थः. **अनेनैवेति**, प्राणपोषित-मनःप्रवृत्तेन्द्रियोद्भूत-बुद्ध्या पर्यालोचनेनेत्यर्थः. आलोचनं तु **अत्र**

१. "चकारार्थमाहुः क्रियेत्यादिना" इति सं.पाठे पादटिप्पणी.

अयमर्थः स्वेनैव परिहृत इति कदाचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारार्थमाह.

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥३॥

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मीति. इयमुपनिषद् ब्रह्मविद्याप्रतिपादिका श्रुतिः **ब्राह्मी** ब्रह्मणैव प्रतिपादिता. अत्र प्रमाणं **सा** प्रसिद्धा. (हि!) युक्तश्चायमर्थः ; न ह्यन्य इममर्थं परब्रह्मणो निर्वक्तुं शक्नोति. उपनिषच्छब्देन च ब्रह्मविद्या निरूप्यते, "उपोपसर्गः सामीप्ये तत् प्रतीचि समाप्यते, त्रिविधस्य षदर्थस्य

लेखः

पूर्वपक्षवादीत्यारभ्य बोधयतीत्यन्तेनोक्तमेव. युक्तिस्तु लौकिकत्वान्न वक्तव्येत्येवकारः. इदमेव निबन्धे निरूपितं— "लौकिकं चेद्युक्तिसिद्धं कर्तृत्वादि भवेद्धरेः, अलौकिकस्य करणाद्यशो जातमलौकिकम्" (त.दी.नि. ३।१०।४५०) इति. 'हरेः कर्तृत्वादि लौकिकं' लोकसिद्धप्रकारकं 'चेद् भवेत्' तदा 'युक्तिसिद्धं' युक्तिगम्यं भवेत्, तदा तत्र युक्तिर्वक्तव्या भवेद् इत्यर्थः. 'अलौकिकस्य' स्वरूपस्यैव सर्वरूपेण भवनरूपालौकिकप्रकार-कस्य जगतः 'करणादलौकिकं' वेदातिरिक्तप्रमाणागम्यं 'यशो जातम्.' लौकिकप्रकारेण करणाल्लौकिकं यशः स्यात्तदा युक्त्या काव्यवत्तन्निरूपणं स्यात्. अलौकिकप्रकारेण करणादलौकिकं यशो जातम्. तच्च वेदातिरिक्तप्रमाणागम्यमतो यशोनिरूपकेऽस्मिन्नध्याये श्रुतिवाक्यशेषा एव "जय जय जह्यजाम्" (श्लो. १४) इत्यादयोऽष्टाविंशतिः निरूपिता इतिभावः ॥२॥

सैषेत्यस्याभासे आहेति, परम्पराकथनपूर्वकमस्य क्षेमप्राप्तिसाधनत्वमाहे-त्यर्थः. स्वकपोलकल्पितत्वेऽनेन क्षेमप्राप्तिर्न स्यादितिभावः. **सैषेत्यत्र इयमिति.** पूर्वश्लोके "अत्र पूर्वपक्षवादी"त्यारभ्य "बोधयती"त्यन्तार्थसूचकं शुकस्यान्यस्य वा वाक्यमित्यर्थः. **उपनिषद्**विशेषणत्वात् स्त्रीत्वम्. **अत्रेति,** ब्रह्मणा प्रतिपादितत्वे इत्यर्थः. **अयमर्थ इति,** ब्रह्मप्रतिपादितत्वरूपोऽर्थो **युक्तश्च.** तत्र हेतुः **न ह्यन्य इति,** ब्रह्मणोऽन्य इत्यर्थः. **उपनिषच्छब्देन चेति,** उपनिषत्त्वेन ब्रह्मविद्यात्वमपि पूर्वोक्ते प्रमाणमिति चकारः. तथाच तच्छब्देन **हिशब्देन उपनिषच्छब्देन** च ब्राह्मीत्वे प्रमाणमुक्तमित्यर्थः. **तत्प्रतीचीति, तत्** सामीप्यं **प्रतीचि** प्रत्यगात्मनि **समाप्यते** तत्र पर्यवसन्नं भवति प्रत्यगात्मनः समीपे

निशब्दोऽपि विशेषणम्'' (. । ।) ''षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु'' (पाणि.धा.पा.भ्वा. ३४८) इत्यनुशासनात्. जीवात्मानं परब्रह्मनयनार्थं पूर्वभावाद् विशीर्णं कृत्वा ततः सङ्घातात् केवलमुद्धृत्य ब्रह्म प्रापयित्वा तत्रैव तमवसादयतीति. यथा सर्वोऽप्यंशः विशीर्णो भवति, यथा वा सर्वभावेन तं प्राप्नोति, यथा वा कदाचिदपि ततो न निवर्तते स निशब्दार्थः. एतादृशी ब्रह्मविद्यैव भवति. तथात्रापि सर्वानुपपत्तिपरिहारं कृत्वा वेदान् ब्रह्मप्रतिपादकान् कृत्वा ब्रह्मणि संयोज्य तत्रैव पर्यवसितान् करोतीति इदं वाक्यं तादृशार्थप्रतिपादकत्वेन अनुपपत्तिं परिहृत्य सिद्धान्तं स्थापयतीति उपनिषत्प्रतिपादकत्वाद् **उपनिषत्**. तर्हि मदन्तःकरणस्थिता इयमनुपपत्तिः कथं गच्छतीत्याकाङ्क्षायामाह **पूर्वेषां पूर्वजैर्धृतेति** धारणे सम्मतिः. एतादृशीं

लेखः

इत्यर्थः, ''कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्'' (कठोप. २।१।१) इति कठश्रुतेरितिभावः. **परब्रह्मनयनार्थमिति**, परब्रह्मणि = तत्समीपे नयनार्थमित्यर्थः. ''सप्तमी शौण्डैरि'' (पाणि.सू. २।१।४०) ति योगविभागात् समासः. **तथात्रापीति**. श्रुत्यर्थरूपा श्रुतिषु विद्यमाना ब्रह्मविद्या जीवस्य षद्धात्वर्थत्रयं करोति तथास्मद्वाक्येऽपि विद्यमानो वाक्यार्थो वेदानां षद्धात्वर्थत्रयं करोति. अनुपपत्तिपरिहारादिकमस्मान् बोधयतीति ज्ञानकर्मा करोति. ''घटं करोती''त्यत्रापि ''नासतो विद्यते भावः'' (भग.गीता २।१६) इतिवाक्यात् मृत्तिकायां विद्यमानमेव घटमस्मद (/ज्!) ज्ञानविषयं करोतीत्यर्थः. तथाच घटज्ञानं करोतीत्येव पर्यवसन्नमिति भावः. वाक्यस्योपनिषत्त्वमुक्तं साधयन्ति **इदं वाक्यमिति. सिद्धान्तमिति**, वेदानां ब्रह्मणि संयोजनं तत्रैव पर्यवसानं चेत्यर्थः. **तर्हीति**. उपनिषदो ब्रह्मप्रतिपादितत्वे ब्रह्मण एवान्तःकरणे स्थिता सती तदन्तःकरणस्थितामनुपपत्तिं परिहरिष्यति, मदन्तःकरणस्थितानुपपतिस्तु ब्रह्मणोपदिष्टत्वाभावात् कथं गच्छतीत्याशङ्क्य ब्रह्मणः सकाशादन्येषामपि धारणमाहेत्यर्थः. तथाच पूर्वं ब्राह्मी, ततोऽन्यैर्धृता —एवं परम्परया त्वय्यपि सैवागताऽनुपपत्तिपरिहारं करिष्यतीति भावः. **धारण** इति, एतदुपनिषद्धा**रणे** सति श्रुतीनां **सम्मतिर्भवति** एकवाक्यता ज्ञाता भवतीत्यर्थः. एवमुपनिषदः परम्परासिद्धत्वमवान्तरवाक्यार्थ उक्तः, महावाक्यार्थमाहुः **एतादृशीमिति**. स

श्रद्धया यो धारयेत् स त्वकिञ्चनः सन् क्षेमं गच्छेत् सर्वसन्देहनिवृत्त्या भगवन्तं प्राप्नुयात्. अतः सर्वे सन्देहाः उपनिषदर्थविचारेणैव निराकर्तव्या इति सिद्धान्त उक्तः ॥३॥

स विचारो राज्ञा कर्तुमशक्य इति सर्वश्रुत्यालोडनं महतामपि दुर्घटमिति कृपया स्वयमेव पूर्वं विस्तरेण निर्णीतमिममर्थं वक्तुं प्रतिजानीते **अत्र ते वर्णयिष्यामीति.**

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥४॥

गाथा पूर्ववृत्तान्तप्रतिपादिका वाक्यपरम्परा, सा श्रुतिगीतारूपा. तत्रापि प्रमाणमाह **नारायणान्वितामिति.** आदिनारायणेन लक्ष्मीभुजान्तरगतेन उदारगुणवारिधिना संस्थापितोदरजगता शयानेनान्विता, तत्प्रबोधनार्थमेव प्रवृत्तेति. अयमप्यर्थः कुतो ज्ञात इत्याकाङ्क्षायामाह **नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य**

लेखः

त्विति, धारकः **अकिञ्चनो** न विद्यते भगवद्व्यतिरिक्तं किञ्चन यस्य तादृशः सिद्धान्तपरिज्ञानाद् भवति अतः **क्षेमं गच्छेत्.** अधारकस्तु बुद्धिपरिभ्रमणात्तथा न भवति इति तद्व्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः. **अत इति,** धारकस्य सन्देहनिवृत्तिद्वारा क्षेमप्राप्तिकथनादित्यर्थः ॥३॥

स्वयमेवेति प्रतिजानीत इत्यनेनान्वयः. **विस्तरेण निर्णीतं** सनन्दनादिभिरिति शेषः.

अत्र ते इत्यत्र. **तत्रापीति.** वक्ष्यमाणश्रुतिगीताया गाथात्वे प्रमाणं भगवद्बोधनार्थं प्रवृत्तत्वं; पूर्ववृत्तान्तबोधकवाक्यैरेव भगवत्प्रबोधो भवतीति भावः. वक्ष्यमाणग्रन्थस्य **श्रुतिगीतेति** रूढं नाम ज्ञेयम्. **लक्ष्मीति,** "स्वसृष्टमिदमि" (श्लो. १२) तिश्लोके शक्तिसाहित्य-गुणकरणकबोधन-जगत्पानशयनानाम्[१] उक्तत्वाद् विशेषणचतुष्टयमुक्तम्. **संस्थापितेति,** संस्थां लयं प्रापितं उदरस्थितं जगद्येनेति समासः. उदरस्थं जगत् = सूक्ष्मरूपं कृतमित्यर्थः ॥४॥

---

१. जगत्यान- इति सर्वेषु उपलब्धो पाठः अशुद्धो भाति - सम्पा.

चेति. **अत्र ते वर्णयिष्यामीति** पूर्वेणैव सम्बन्धः. महता कृते निर्णये निरुक्ते च सर्वेषां सन्देहनिवृत्तिर्भवति, नतु येन केनचिदुदाहृते. अत एतदर्थं संवादं च कथयिष्यामि. **चकारात्** तेन प्रोक्तं जनलोकसंवादं चोदाहरिष्यामीति ज्ञापितम् ॥४॥

संवादार्थं कथाप्रस्तावनामाह **एकदा नारदो लोकानिति.**

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन् भगवत्प्रियः ।
नारायणमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥५॥

लोकपर्यटनेनास्याः श्रवणे अधिकारनिरूपिका शुद्धिर्भवतीति सूचितम्. **एकदेति** कालस्तत्र न नियामकः. नारदस्य पर्यटने हेतुमाह **भगवत्प्रिय** इति. क्व भगवतो माहात्म्यं ज्ञातं भवति क्व भगवानिति प्रियान्वेषणार्थं परिभ्रमतीत्यर्थः. एवमेव च परिभ्रमणं कर्तव्यं यथा कौण्डिन्येन कृतम्. ततो भगवद्रूपं भगवत्प्रतिपादकं[१] च **नारायणमृषिं** बदरीनाथं **द्रष्टुं नारायणाश्रमं ययौ** बदरीस्थाने समागतः ॥५॥

स्थानस्याप्युत्कर्षमाह **यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्निति.**

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्म-ज्ञान-शमोपेतम् आकल्पाद् आस्थितस्तपः ॥६॥

अस्मिन् भारते कर्मभूमौ एकेनापि तादृशं कर्म क्रियते येन जगदेव प्रलयं याति अतस्तस्य रक्षा दुर्लभेति स्वयं **तत्क्षेमाय** उत्तरोत्तरकल्याणसिद्धये च सर्वेषामेव **नृणाम् आकल्पात्** कल्पप्रभृति **तप आस्थितः** ॥६॥

लेखः

एकदेत्यत्र. भगवत्प्रतिपादकमिति, भगवान् वेदस्तत्प्रतिपादकम्. **मन्त्रद्रष्टारमिति ऋषिपदस्यार्थ** उक्तः ॥५॥

यो वै इत्यस्याभासे **स्थानस्यापीति.** दृश्यस्य नारायणस्य तदाश्रमस्य स्थानस्य **चेत्यपिशब्दः. तत्क्षेमायेति,** तादृशकर्मणः सकाशाद् रक्षा **क्षेमः** उत्तरोत्तरकल्याणसिद्धिः **स्वस्तिरिति** मूलोक्तक्षेम-स्वस्त्योर्विभेद इति भावः. एतादृशनारायणस्याश्रम इति स्थानोत्कर्षो वाक्यतात्पर्यार्थः आभासे उक्तः

---

१. अत्र 'मन्त्रद्रष्टारम्' इति लेखकृतां पाठे अधिकः - सम्पा.

तत्रापि तपःकुर्वाणं कार्यान्तरव्यग्रम् एकान्तस्थितं प्रष्टुमशक्त इति सुगमावस्थां निरूपयति **तत्रोपविष्टमृषिभिरिति.**

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥७॥

उपविष्टत्वादवैयग्र्यम्. **कलापग्रामः** सर्वविद्यानिधानभूतः कलाः पातीति ग्रामः = तेषामपि समूहरूपः सर्व एव कलापा इति तैर्वेष्टित इति बहिःसत्त्वावस्था प्रतिपादिता. ततः स्वयं **प्रणतः सन्नपृच्छद् इदमेव** यत्त्वया पृष्टम्. **कुरूद्वहेति** विश्वासार्थं माहात्म्यम् ॥७॥

तस्मै ह्यवोचद् भगवान् ऋषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥८॥

अत एव **तस्मै** (**भगवान्!**) नारायणो वृत्तान्तमवोचत्. **ऋषीणां शृण्वतामिति** अतिप्राकट्यात् निःसन्दिग्धता निरूपिता. तस्माअपि भगवानिदमेव पूर्वं निरूपितवान्. ततः संक्षिप्तत्वात् यदा नारदस्यापि सन्देहो न गतः तदा नारायणः पुरावृत्तमाह ॥८॥

लेखः

सोऽनूद्यते **तत्रापीति.** स्थानोत्कर्षेऽपि सतीत्यर्थः. **कार्यान्तरव्यग्रमिति,** लोकानां क्षेम-स्वस्तिसम्पादने व्यग्रमित्यर्थः. **तत्रोपविष्टमित्यत्र उपविष्टत्वादवैयग्र्यम् ऋषिभिः परीतत्वादेकान्ताभावः.** ऋषीणां कलापग्रामवासित्वकथनात् तादृशवेष्टितत्वकथनेन सत्त्वस्य बहिःप्राकट्यप्रतिपादनात् तपोवस्थाभाव उक्तः. सत्त्वस्यान्तःस्थितावुपदेशादिकं रजःकार्यं न स्यादत एव तपोवस्थायां नोपदेशादिकमिति भावः. **कुरूद्वहेतीति.** विवक्षितार्थविश्वासार्थं राज्ञो माहात्म्यं **कुरूद्वहेतिपदेनोक्तमित्यर्थः** ॥६-७॥

अत एवेति, विश्वासस्य दुर्लभत्वादेवेत्यर्थः. उत्तरार्धार्थमाहुः **तत** इत्यारभ्य **आह** इत्यन्तेन. ब्रह्मणो निर्द्धारार्थं वादो यत्र तादृशो विचारः **पुरावृत्तस्तमाहेत्यर्थः.** तथाच मूले **भगवानिदमवोचत्** तावता सन्देहानिवृत्तौ **यो ब्रह्मवादः** पुरावृत्तस्तमवोचदित्यर्थः ॥८॥

।। श्रीभगवानुवाच ।।

स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत् पुरा ।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।।१।।

स्वायम्भुवेति. पूर्वं **जनलोके ब्रह्मसत्रमासीत्.** यथा कर्मसत्रं सप्तदशावरास्तुल्यफलास्तुल्यसाधनाश्च अहमहमिकया प्रधानगुणभावमाश्रित्य कर्म कुर्वन्ति एवं निःसन्दिग्धब्रह्मज्ञानार्थं सर्व एव निर्णयार्थं प्रवृत्ताः तेषां विचारो **ब्रह्मसत्रम्.** तज्जन**लोके** आसीत्. महःपर्यन्तं कर्मफलमेवेति शुद्धब्रह्मविचारो न भवतीति **जनलोक**ग्रहणम्. **स्वायम्भुवेति** सम्बोधनं विश्वासार्थम्. न स्थानोत्कर्षमात्रेण विचारः समीचीनो भवतीति विचारकाणां जन्म-कर्माद्युत्कर्षमाह **तत्रस्थानामिति.** तत्रैव तिष्ठन्तीति कर्मसम्बन्धिदोषाभाव-स्तेषामुक्तः. **मानसानामिति** ब्रह्मणो मनसा उत्पन्नानां सनकादीनाम्. अनेन जन्मोत्कर्षः सूचितः. तेषां कर्माह **मुनीनामिति,** मननशीलानाम्. **ऊर्ध्वरेतसामिति** ब्रह्मविद्याया अधिकारः ।।१।।

नन्वहं कथमिममर्थं न ज्ञातवान्? तत्राह.

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।।
तत्र हायमभूत् प्रश्नस्त्वं मां यं परिपृच्छसि ।।१०।।

श्वेतद्वीपं गतवतीति. क्षीरोदस्थानं भगवतोऽनिरुद्धस्य क्रीडासाधनम्. तत्र श्वेतद्वीपपतिं **द्रष्टुं त्वयि गते ब्रह्मवादः सुसंवृत्त** इति सम्बन्धः. अनेन सर्वे स्वस्वस्थाने यदा स्थिताः तदा ब्रह्मवादोऽजायत इत्यपि सूचितम्. पूर्वलोकानां स्थितत्वात् कर्मिणः सुखिनः भक्ता अपि भगवद्दर्शनं कुर्वाणाः

लेखः

स्वायम्भुवेत्यत्र सप्तदशेति. "चतुर्विंशतिपरमाः सप्तदशावरौ" (. । ।) इति श्रुतेरिति भावः. **जन्मकर्माद्युत्कर्षमिति,** जन्मकर्मणोरादिभूतं दोषाभावरूपमुत्कर्षमित्यर्थः ।।१।।

श्वेतद्वीपमित्यत्र पूर्वलोकानामिति. "यो वै भारतवर्षे" (श्लो. ६) इत्यनेन लोकानां स्थितिसूचनात् भगवत्सम्पादितक्षेमेण **पूर्वलोकानां स्थितत्वाद्** रक्षितत्वात् तत्र कर्मकुर्वाणाः **सुखिन** उत्तरोत्तरस्वस्तिमन्त इत्यर्थः. **भक्ता**

यदा सुखिनः तदा **ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः** ब्रह्मनिरूपणार्थं वादो = वीतरागा कथा यत्र तादृशो विचारः सम्यङ्निष्पन्न इत्यर्थः. ननु तदपि स्थानं स्थानान्तरतुल्यमिति कथं तत्र निर्णय इति चेत्, तत्राह **श्रुतयो यत्र शेरत** इति. श्रुतयः सर्वत्र भ्रमणं कृत्वा शयनार्थं तत्र[१] गच्छन्ति अतस्तासामपि विश्रामस्थानमिति तत्र स्थिताः श्रुतयः स्वाभिप्रायं निवेदयन्तीति श्रुत्यभिमानिनीनां देवतानां मूर्तिधराणां श्रुतीनां वा विचारे वाक्यं संवादीति तत्रत्यो निर्णयः अबाधितः. ननु तत्रत्यानां श्रुत्यभिप्रायपरिज्ञानान्निःसन्देहानां विचार एव कथं घटत इति चेत्, तत्राह **तत्र हायमभूत्प्रश्न** इति. **तत्रैव ह** निश्चयेन **अयं प्रश्नोऽभूत्** तत्राप्ययं विचारः अपेक्षित इति विचारस्योत्तमत्वमुक्तम्. **यन्मां त्वं परिपृच्छसि** "कथं चरन्ति श्रुतयः" (श्लो. १) इति. अत एव प्रश्नो न निरूपितः ॥१०॥

ननु प्रश्ने अज्ञोऽधिकारी उत्तरे च सर्वज्ञ इति कथं तत्र संवाद इति चेत्, तत्राह.

तुल्यश्रुत-तपःशीलाः तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥११॥

लेखः

अपीति, एतच्छ्लोके नारदस्य भगवद्दर्शनकथनादिति भावः. ज्ञानिनां त्वधुना निर्णयस्याजातत्वान्न सुखमिति द्वयोरेव सुखमुक्तम्. **वीतेति** "तत्त्वबुभुत्सोः कथावाद" (. । ।) इत्युक्तेरिति भावः. **तत्र हायमित्यस्याभासे तत्राहेति. तत्र** इति सन्देहे सति तादृशानां विचार**माह**. तेन तादृशानां विचाराधिकारसूचनेन विचारस्योत्तमत्वमुक्तं भविष्यतीति भावः ॥१०॥

तुल्येत्यस्याभासे तत्रेति, तुल्येष्वित्यर्थः. व्याख्याने **अदृष्टजनकमिति**, अग्रिमविशेषणोक्तभावजनकमित्यर्थः. तथाच विशेषणयोर्हेतुहेतुमद्भाव इति भावः. **आवृत्तिरिति**. कथं संवादः सम्भवतीत्याभासोक्ताशङ्कायाम् इतिन्यायोक्तप्रकारेण सम्भवतीत्युत्तरं पर्यवसन्नम्. तथाच मूल एवं **चक्रुः** आवृत्त्यर्थमिति शेषः ॥११॥

---

१. यत्र इति क-ग-घ-सं. पाठः - सम्पा.

तुल्यश्रुततपःशीला इति, तुल्यमेव श्रुतमध्ययनं तपःशीलं च येषाम्. त्रयं समानमदृष्टजनकम्; एकतराभावेऽपि शिष्टमप्रयोजकं स्यात्. **तुल्यस्वीयारि-मध्यमा** इति अन्तःकरणशुद्धिर्ब्रह्मज्ञानौपयिकी. एवं दृष्टादृष्टप्रकारेण येऽधिकारिणः तेषां मध्ये **एकं प्रवचनकर्तारं चक्रुः. प्रकर्षेण वचनं** सिद्धान्तनिरूपणरूपं वचनं यस्येति. **अपरे च शुश्रूषवो** जाताः "आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्" (ब्रह्मसूत्र ४।१।१) इतिन्यायेन ब्रह्मविचारावृत्तिं कुर्वन्तो जाता इत्यर्थः ॥११॥

तत्र सनन्दनो वक्ता सनकादयः श्रोतार इति सनन्दन आह सन्दिग्धार्थनिर्णयार्थं श्रुतीनां वचनानि. तत्तस्य[1] च प्रसङ्गार्थं स्वयमाह द्वाभ्याम्. वेदवाक्यैरेव वेदार्थनिर्णय इति मतम्. "सन्दिग्धेषु वाक्यशेषाद्" (जैमि.सू. १।४।२९) इतिन्यायात् सर्वेषु वेदेषु तत्त्वनिरूपणप्रकारेण अष्टाविंशतिधा भिन्नेषु तत्तत्सन्देहनिवृत्त्यर्थं वाक्यशेषरूपाः एतेऽष्टाविंशतिश्लो-काः. तेषां प्रकरणं नास्तीति तत्तत्प्रकरणेषु न पठिता इति अनारभ्याधीतानामपि निर्णायकत्वात् सर्वतत्त्वरूपे भगवति शयाने शुद्धरूपेणास्फुरणदशायां मुख्यस्फुरणार्थं तत्त्वभेदनिर्णयान् वदन्तः प्रकृते[2] तात्पर्यरहिता बोधनमेव

लेखः

तत्तस्य चेति. तदस्मदुक्तमेव सिद्धान्तमाहेत्यन्वयः. **तस्य** निर्णयस्य **प्रसङ्गार्थं** चेत्यर्थः. **तत्त्वेति.** तत्त्वानि भगवद्भावरूपाणि भगवत्कारणतारूपा-णीति व्यवस्थापितम्. तथाच भगवत्कर्तृत्वनिरूपकत्वाद् वेदा अष्टाविंशतिविधा इत्यर्थः. **तेषां प्रकरणमिति, तत्प्रकरणं तेषां नास्ति,** तद्देशे पाठे प्रयोजनं नास्तीति यावत्. अतस्तद्देशे **न पठिता** इत्यर्थः. असन्निहितानां कथं तच्छेषत्वमित्यत आहुः **अनारभ्येति.** प्रकरणे पाठाभावेऽपि तत्तत्सन्देहनिवृत्त्यर्थ-त्वेन तत्तद्वाक्यशेषत्वं वर्णताया इव क्रत्वर्थत्वमित्यर्थः. **सर्वेति, सर्वाणि तत्त्वानि रूपे** स्वरूपे यस्य तादृशे **शयाने** सतीत्यर्थः. अधुना तत्त्वानि स्वरूपनिष्ठान्येव जातानीति भावः. **शुद्धेति,** कारणरूपेणेत्यर्थः. हेतौ तृतीया; कार्यरूपमापीयकारणरूप एव जात इति हेतुना अस्फुरणमित्यर्थः. **मुख्येति,** जगत्कर्तृत्वस्य **मुख्य**लक्षणस्य **स्फुरणार्थ**मुद्बोधार्थं **तत्त्वभेदनिर्णयान् वदन्तो**

१. "तस्य तस्य इत्यर्थः" इति सं.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

२. तत्त्वभेदनिर्णये इति सं.पाठे पादटिप्पणी –सम्पा.

तात्पर्यविषयं ज्ञातवन्तः. नटा इव रसाभिनयेन अर्थनिरूपकौ शब्दार्थरूपौ वेद-भगवन्तौ यथोचतुः तन्निरूपयितुं तादृशीमवस्थां निरूपयति.

नाप्येतावता सर्ववेदसन्देहनिवृत्तिः किन्तु केषाञ्चिदेव, परार्थं प्रवृत्तानां वेदानां बोधकमेतदिति, ज्ञापनार्थं वेदानां वैतालिकत्त्वं भगवतो राजत्वं च दृष्टान्तेन निरूप्यते. तेन निर्णायका अपि अदूरविप्रकर्षेणैव स्वप्रकरणसन्देहं वारयन्ति, नतु भगवन्तं दृष्ट्वेति सूचितम्. वेदतत्त्वानां निवृत्तिरूपत्वं वक्तुं भगवतः पूर्वावस्था निरूप्यते **स्वसृष्टमिदमापीयेति**.

लेखः

वाक्यशेषाद् एवं **ज्ञातवन्तः** इत्यन्वयः. **प्रकृते** इति, विधेरिव स्वार्थे तात्पर्यासम्भवाद् बोधन एव तात्पर्यं जानन्ति— अस्माभिरेवं तद्धर्मनिरूपणेनोद्-बोधितो भगवान् सृष्टिं करिष्यति. तदर्थं स्वप्रतिपाद्या कारणता भगवते बोधनीया. श्रुतिषु तु सा प्रतिपाद्यत्वेन सिद्धैवास्ति इति स्वार्थे तात्पर्यरहिता इत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तः **नटा इवेति**. यथा नटा रसाभिनयेन द्रष्टुर्नटनिष्ठरसबोधने तात्पर्ययुक्ता, नतु स्वस्य रसानुभवे तेषां तात्पर्यं, तथा वाक्यशेषा अपि भगवतः स्वप्रतिपाद्यार्थबोधने तात्पर्ययुक्ता, नतु स्वार्थे इत्यर्थः. **वेदभगवन्ताविति**, वेदानां सदंशत्वात् केवलानां वचनासम्भवेन तत्प्रतिपाद्यरूपो भगवानपि "अभिमानिव्यपदेश" (ब्रह्मसूत्र २।१।५) इतिन्यायेन वाक्यानि उक्तवानिति भावः. **तन्निरूपयितुमिति**, वेद-भगवतोर्वाक्यं निरूपयितुमित्यर्थः.

अग्रिमश्लोकार्थमाहुः **नापीति**. **परार्थमिति**, स्वार्थे तात्पर्यरहितानां सिद्धार्थप्रतिपादकानाम् उपनिषदामित्यर्थः. **बोधकमिति**, राजा प्रबुद्ध्य जगत्पालनं करोत्वित्याशयेन वैतालिकाः प्रबोधयन्ति, पालनं तु राजाधीनमित्यर्थः. **निवृत्तिरूपत्वमिति**. सृष्टिर्बन्धमोक्षभेदेन द्विविधा[१] इति तृतीयस्कन्धे व्यवस्थापितम्. शक्तिभिः सह शयानो भक्तसहितो भगवान् मोक्षोपयोगिनीं सृष्टिं करिष्यतीति **वेदप्रतिपादितानामेषां तत्त्वानां निवृत्तिरूपत्वं** मोक्षोपयोगिसृष्टिनिरूपकत्वमित्यर्थः.

---

१. द्विधा इति मुद्रितेतरेषु - सम्पा.

॥ सनन्दन उवाच ॥

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।
तदन्ते बोधयांचक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥१२॥

सृष्टेरनादित्वं वक्तुं **स्वसृष्टमिति**. **इदं** जगत् परिदृश्यमानं, तस्य **(आ!)** सर्वतः पानम्. पूर्वसृष्टान् सर्वान् मुक्तान् विधाय अग्रे स्वस्य कर्तव्याभावमिव ज्ञापयन् **शयान** एव भगवान् स्थितः. ततो वेदाः सृष्टौ तत्त्वभेदं विस्मृत्य तिष्ठन्तीति सदुक्तिभिः निःसन्देहप्रतिपादकैः बोधयन्त इव जाताः. ननु कालात्मिकैव शक्तिः प्रबोधिका वर्तते, किं वेदैरिति चेत्, तत्राह **शक्तिभिः सहेति**. ततस्**तदन्ते** शयनान्ते प्रबोधसमये, अन्यथा बोधनमपराधायेति. **तत्तल्लिङ्गैः** तत्त्वान्येव भगवतो लिङ्गानि, तानि वीर्यापरनामानि भगवन्तं लीनमर्थं गमयन्तीति, तैरेव **बोधयांचक्रुः**. यत एताः **श्रुतयः** श्रवणमात्ररूपाः, नतु प्रत्यक्षदर्शिन्यः. तत्रापि न साक्षाद्बोधनं किन्तु बोधकमेवोपस्थापयन्ति ॥१२॥

लेखः

स्वसृष्टमिदमित्यत्र नन्विति. तत्राहेति, शक्तिसाहित्यमाहेत्यर्थः. शक्तिभिः सहितो लक्ष्मीभुजान्तरगतो भगवान् कालेन प्रबोधयितुमशक्यः किन्तु "श्रुतयो यथा ययुरि" (भाग.पुरा. १०।२९।१३) त्यत्र श्रुतीनां मनोरथान्तानन्दप्राप्तिकथनाद् अत्यन्तरङ्गैर्वेदैरेव बन्दिभिरिव प्रबोधनीय इति भावः. कालस्यापि प्रलयकथने तदा वेदानामपि स्थितिर्न स्यात्, **तदन्ते प्रबोधसमय** इत्यनेन कालस्य स्थितिकथनाच्च. **तानीति. वीर्यापरनामानि तत्त्वानि** प्रयोजककर्तृणि ब्रह्मणि **लीनं** जगद्रूप**मर्थं** प्रयोज्यकर्तारं **भगवन्तं** कर्म **गमयन्ति.** भगवद्वीर्यैरेव जगतो भगवत्प्राप्तिर्भवतीति यावत्. **इति** हेतोर्मोक्षसृष्ट्यर्थं **तैरेव** प्रबोधनमित्यर्थः. **श्रवणेति**. भगवतो गुणश्रवणमात्रनिरूप-कास्तत्सम्पादिका इत्यर्थः. **मात्रपदव्यावर्त्यमाहुः नत्विति**. प्रत्यक्षदर्शनेन साक्षात्सेवाकर्त्र्यो नत्वित्यर्थः. तथा सति चरणसंवाहनादिना प्रबोधं कुर्युरिति भावः. **बोधकमिति**, भगवद्वीर्यगुणम् उपस्थापयन्ति उद्बोधयन्तीत्यर्थः. एतेन श्रुतयस्तल्लिङ्गैर्भगवन्तं बोधयन्ति अतो "नानिर्देश्यादिविशेषणकं ब्रह्म नापि श्रुतयो गुणवृत्तयः" इत्युत्तरं पर्यवसन्नम् ॥१२॥

एतासां श्रुतीनां पुनः स्वतन्त्रतयान्यार्थप्रतिपादकत्वे एतद्विचारोऽपि कर्तव्यो भवेदिति नैषां प्रकरणरूपेण बोधनमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **यथा शयानमिति.**

यथा शयानं सम्राजं बन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥१३॥

तेषामनुवादकत्वात् न स्वातन्त्र्येण प्रतिपादकत्वम्. तथैताः श्रुतयो भगवन्तमेव तत्कृतान् पराक्रमान् श्रावयन्ति. तत्र हेतुमाह **बन्दिन** इति, प्रबोधनाधिकारिणस्ते विद्योपजीविनश्च; तत्त्वविद्या[१] उपजीव्यैव अधिकफल-निर्णयार्थं प्रवृत्ता. प्रबुद्धो भगवान् कदाचित् साक्षात्कृतो भवेत् कदाचित् स्वानन्दं वा प्रयच्छेदिति तासामप्यभिलाषा. ताः पूर्ववृत्तान्तमेव जानन्ति नाग्रिमवृत्तान्तमिति ज्ञापयितुं (**प्रत्यूषे अभ्येत्य**!) त्रिंशन्मुहूर्ते अहोरात्रे मुहूर्तद्वयात्पूर्वमेव समागताः तावदेव **बोधयन्ति.** यतस्ते **अनुजीविनः** सेवकाः; तदप्रबोधे तासां स्वरूपनाश एव स्यादिति सूचितम्. श्रुतयश्च प्रथमनिःश्वासोद्गता इति केचित्. तद्[२] दृष्टान्तादिना विरुध्यते परं ताः पृथगेव तिष्ठन्ति. दृष्टान्तानुरोधेन निरूप्यते ॥१३॥

एवं प्रसङ्गमुक्त्वा वाक्शेषरूपेषु प्रथमं प्रकृतिप्रतिपादिकाः श्रुतयः किं (१)स्वतन्त्रतया प्रकृतिं प्रतिपादयन्ति– तथा सति शक्तेर्देवताया वा प्राधान्यं स्याद्– आहोस्विद् (२)भगवद्रूपां भगवत्त्वेन निरूपयन्ति आहोस्विद् (३)जीवधर्मरूपेयं प्रकृतिरिति तेषामेव प्रयत्नेन स्वरूपज्ञानेन वा निवर्तनीयेति निरूपयन्ति आहोस्विद् (४)निःस्वभावा शशविषाणवत् प्रतिभासत इति आहोस्विद्

लेखः

स्वतन्त्रतयेति. एतासां वाक्यशेषत्वमेवेति भावः.

यथा शयानमित्यत्र तेषामिति, बन्दिनामित्यर्थः. श्रुतीनां विद्योपजीवित्वं विशदयन्ति **तत्त्वेति. उपजीव्यैव** श्रुतीनामिति शेषः. **अधिकेति.** यथा बन्दिनोऽधिकद्रव्यादिग्रहणार्थं प्रबोधयन्ति तथैता अपीत्यर्थः. **अत्राधिकफलस्व-रूपमाहुः प्रबुद्ध** इति ॥१३॥

---

१. "अष्टाविंशतितत्त्वानां विद्या इत्यर्थः" इति सं.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

२. न इति मुद्रितपाठः ; शेषेषु एवम् - सम्पा.

[५]अन्तरङ्गा इयं भगवच्छक्तिर्लक्ष्मीरूपा सत्या अतस्तस्यामेव स्थितिर्युक्तेति प्रपञ्चनिःप्रपञ्चयोस्तुल्यतया प्रतिपादयन्ति —एवमनेकविधसन्देहोत्पत्तौ प्रकृतिप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयार्थमाह **जय जयेति.**

॥ श्रुतयः ऊचुः ॥

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१४॥

(सूक्ष्मटीका) **जय जय जह्यजाम्** इति, हे **अजित!** न केनापि जितः, त्वं **जय जय** सर्वोत्कर्षेण विराजमानो भव. अथच **अजां** निद्रां **जहि** त्यज. अथवा **अगजगदोकसां** जीवानां **अजां** मायां **जहि.** कथम्भूताम्? **दोषगृभीतगुणां अगजगदोकसां** जीवानां स्वरूपाज्ञानार्थं गृभीता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपाः यया ताम्. कथम्भूतः त्वम्? **यत्** यस्मात् कारणात् **त्वम् आत्मनैव** स्वरूपेणैव **समवरुद्धाः** अन्तर्निहिताः **समस्ताः भगाः** ऐश्वर्यादयो येन एतादृशो **असि. अगजगदोकसां हे अखिलशक्त्यवबोधक!** स्थावरजङ्गमजीवानाम् **अखिलानि** इन्द्रियाणि तेषां **शक्त्यवबोधकः** शक्तिप्रकाशकः इति अर्थः. **आत्मना चरतः** स्वरूपेणैव क्रीडतः **ते**

लेखः

जय जयेत्यस्याभासे आहेति. एको वाक्यशेषः प्रकृतिप्रतिपादकश्रुति-निर्णयार्थं प्रकृतिस्वरूपमाहेत्यर्थः.

श्रुतिगीतार्थः

उत्तरार्धे अष्टत्रिंशेऽध्याये चतुरशीतितमे वा वेदस्तुतौ श्रुतीनां ब्रह्मपरत्वनिर्णयः. तत्राष्टाविंशतितत्त्वनिरूपिकाणां श्रुतीनामत्रत्यैः वाक्यशेषरूपैः अष्टाविंशतिभिः श्लोकैः निर्णयः — इत्थं ब्रह्मपरत्वमिति. प्राथमिकानां चतुर्णां श्लोकानां तु प्रकृति-पुरुषाहङ्कार-महत्तत्त्व-प्रतिपादक-श्रुतिनिर्णायकत्वं सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैरेव स्फुटं निरूपितम्, अनेन न्यायेनाग्रेऽपि ज्ञेयमिति सूचितं च. परं स्फुटं नोक्तमिति आधुनिकानां बुद्ध्यारूढं न भवतीति गुरुचरणप्रसादाद् यथामतिभातं लिख्यते.

तव **निगमो** अस्मल्लक्षणः **अनुचरेत्** सेवनं करोति इति अर्थः. कथम्भूतस्य ते? **क्वचिद् अजया च चरतः** ॥१४॥

(सुबो.) यथा "शर्करा अक्ताः उपदध्यात् तेजो घृतम्" (तैत्ति.ब्राह्म. ३।१२।५।१२) इति 'घृत'पदश्रवणेनैव तैल-मधु-क्षीरादिनिवृत्तिः एवं भगवत्समीपे मायास्वरूपगुण-प्रतिपादनश्रवणेनैव सन्देहो निवृत्तइति न पुनः तत्तत्पक्षनिराकरणार्थं युक्तयो वक्तव्याः, तथापि उच्यन्ते. तत्र आदौ प्रकृतिनिराकरणार्थं भगवतः स्वरूपेण स्थितिं प्रार्थयन्ते **जय जय** सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व इति. वीप्सया सर्वदा सर्वोत्कर्षप्रार्थना, अन्यथा अस्मान् तत्सम्बन्धिनो हन्युः. अन्यदपि प्रार्थयन्ते **जह्यजाम्** इति निद्रां त्यज. ततः तां मूलतो नाशय येन सम्यक् प्रबोधो भवति इति भावः. ननु तयैव अहं एतावत्कालं वशे नीतः, कथं हन्तुं शक्या इति चेत्, तत्र आहुः हे **अजित**! इति, त्वं न केनापि जितो; योगनिद्रा त्वया लीलयैव गृहीता, नतु जीवइव निद्रया अभिभूतः. भगवन्निद्रा माया सैव प्रकृतिः इति स्वरूपत्रयम् एकमेव. [१]अतएव मार्कण्डेयपुराणे ब्रह्मणा योगनिद्रा स्तुता. अनेन तस्याः जगत्कर्तृत्वं सुतरामेव निवारितम्. स्वप्नसृष्टिः परं तया सृज्यते नतु सत्या. अग्रे सत्यसृष्टेः उत्पत्तिप्रकारं वक्ष्यति. ननु एषा कथं हन्तव्या यतो गुणवती, सुषुप्तौ परमानन्दलक्षणं गुणं प्रयच्छतीति चेत्, तत्र आह **दोषगृभीतगुणाम्**

लेखः

व्याख्याने **यथेति**. शर्करास्तैलाद्यन्यतमेन केनचिदक्ताः कर्तव्याः इतिप्राप्तावनुक्तोऽपि तैलादिनिरासः "तेजो घृतमि"तिवाक्यशेषे 'घृत'पदश्रवणेनैव सिद्धस्तथा प्रकृतिस्वरूपं पूर्वोक्तेष्वन्यतममिति प्राप्तौ अनुक्तोऽपि पक्षान्तरनिरासो भगवत्समीपे प्रकृतिस्वरूपगुणप्रतिपादनश्रवणेनैव सिद्ध इत्यर्थः. **अन्यथेति**, कालान्तरे भगवदुत्कर्षाभावे प्रकृतिसम्बन्धिनो जना उच्छृङ्खला वेदान्न मन्येरन्नित्यर्थः. शयनान्तस्योक्तत्वात् यत्किञ्चिन्निद्रात्यागस्तु सिद्ध एवेत्यत आहुः **मूलतो नाशयेति**. **अनेनेति**. सृष्टेः पूर्वमेव तत्त्यागप्रार्थनया करणत्वस्यैवासम्मतत्वे कर्तृत्वं सुतरामेव निराकृतमित्यर्थः. **दोषेति** पदस्याभासे

१. "यतो भगवतापि लीलया गृह्यते अत इत्यर्थः" इति सं.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

इति, दोषार्थमेव स्वरूपाज्ञानार्थमेव गृहीताः गुणाः यया. इयमेव स्वशक्तिद्वारा जीवान् व्यामोहयति. तेषामपि निद्रालस्यादिरूपेण व्यामोहिका वर्तते. ततः आह **अगजगदोकसाम्** इति, स्थावरजङ्गमदेहस्थितानां जीवानाम् अर्थे जीवानां सम्बन्धिनीं वा. ननु ममापि एषा सुखदायिनी अतः तिष्ठतु इति चेत्, तत्र आहुः **त्वमसि** इति. **यद्** यस्मात् कारणात् **त्वम् आत्मनैव समवरुद्धसमस्तभगो असि.** सएव क्षुद्रादिसुखम् अपेक्षते निद्रालस्यप्रमादोत्थं यस्य स्वरूपानन्दः सात्त्विकानन्दो न सम्भवति. बाधकत्वन्तु तस्याः निवर्तितमेव (**अजित** इति पदेन!), इष्टसाधकत्वन्तु निराक्रियते. **त्वम् आत्मनैव** तदपेक्षाव्यतिरेकेणैव **सम्यग् अवरुद्धाः समस्तभगाः** अणिमादिसुखानि स्वरूपानन्दाः च यस्य. अतएव तदपेक्षा का? इति अर्थः. ननु सेवार्थं जीवाः अपेक्ष्यन्ते, तेषां च इन्द्रियवर्गः प्राकृतो भवति, तत्प्रकृतिविनाशे सर्वमेव विनश्येतेति बाधकम् इति चेत्, तत्र आह **अगजगदोकसाम्** इति, स्थावरजङ्गमानाम् **अखिलेन्द्रियाणां शक्त्यवबोधकः** त्वमेव न प्रकृतिरिति. किञ्च सुतरां ये **ते** स्थावरजङ्गमाः त्वदीयाः तेषां त्वमेव उद्बोधकः. प्राकृतानान्तु न विचारोऽपि अस्ति. ननु प्रकृतेः

लेखः

गुणं प्रयच्छति जीवानामिति शेषः. अतः सर्वानन्ददातृत्वात् तिष्ठत्विति भावः. व्याख्याने **स्वरूपाज्ञानार्थं** जीवानामिति शेषः. ननु जीवेषु क्षुद्रा जीवशक्तयो दोषमुत्पादयन्ति नत्वियं मायेत्यत आहुः **इयमेवेति**. ता अपि व्यष्टिरूपा एतस्या एव शक्तयः इति भावः. इयं माया चिदंशस्य समष्टिरूपस्य शक्तिरत्र श्लोके प्रतिपादितेति ज्ञेयम्. **क्षुद्रादिसुखमिति**. क्षुद्रादिभिः शक्तिभिः कृतं निद्राद्युत्थं तामसम्, **आदिपदेन** विषयकृतं विषयेन्द्रियसंयोगजनितं राजसं सुखमित्यर्थः. भगवति मायया[१] दोषोत्पादनासामर्थ्याद् **अगजगदोकसामितिपदं** देहलीदीपन्यायेन उभयत्राप्यन्वेति नतु उत्तरत्रैवेत्याशयेनेदं पदं **पूर्वान्वयेन** व्याख्यातम्. अगजगदोकसामर्थे तत्सम्बन्धिनीं वा तेषु दोषोत्पादकत्वात् त्यजेत्यर्थः. अग्रेऽप्यन्वयार्थमाभासमाहुः **नन्विति**. अगानि जगन्ति च शरीराण्योको

---

१. मायायाः इति मुद्रितेतरेषु - सम्पा.

नाशे तत्पुरःसरतया वेदा मद्बोधने प्रवृत्ताः कथं प्रवर्तिष्यन्ते इति चेत्, तत्र आह **क्वचिद्** इति. **निगमो** वेदः **त्वाम् अनुचरेद्** एव. **क्वचिद्** एव **अजया चरतः** सर्वदा **आत्मनैव चरतः**. **चकाराद्** अजया चरणदशायामपि आत्मनैव चरसि इति सूचितम्. अतः एतदर्थमपि अजा न संरक्ष्या. **निगमः** इति एकवचनात् कश्चिदेव वेदो अजासम्बन्धपुरःसरं बोधयति, तत्रापि स्वरूपस्थितस्यैव. ननु एतादृशमेव वेदो बोधयति इति कुतो नोच्यते? मैवम्, "अरूपम् अस्पर्शम्" (कठोप. ३।१५) इत्यादिश्रुतयः तत्सम्बन्धाभावमेव प्रतिपादयन्ति. तथा अन्याअपि श्रुतयः स्वरूपानन्दबोधिकाः सृष्टिप्रतिपादकाः च केवलब्रह्मपरा इति अग्रे वक्ष्यते. अतो मोहिकां शक्तिं नाशय इति प्रार्थना.

प्राकृताः श्रुतयः सर्वा भगवन्तमधोक्षजम् ।
स्तुवन्ति दोषनाशाय[१] तत्राविष्टो भवेद् यथा ॥(१०)॥१४॥

ततो ब्रह्मप्रतिपादनार्थं प्रवृत्ताः श्रुतयो "यतो वा इमानि भूतानि

लेखः

येषामिति विग्रहः. तादृशजीवा इति पूर्वान्वयेऽर्थः, तादृशानीन्द्रियाणीत्युत्तरान्वयेऽर्थः. एवमत्र श्लोके भगवतः सर्वोत्कर्षेण स्थितिरजात्यागश्च वाक्यार्थः. त्यागावश्यकत्वाय दोषोत्पादकत्वमजाया निरूपितम् ॥१४॥

तात्पर्यार्थं कारिकयाहुः **प्राकृता** इति. अजात्यागकथनेन तत्स्वीकारस्य कादाचित्कत्वबोधनाद् वेदस्य सर्वस्य चैकार्थप्रतिपादकत्वात् प्रकृतिप्रतिपादिका अपि **श्रुतयः** तथाभूतं **भगवन्तमेव स्तुवन्ति**. साक्षात्स्वरूपं विहाय तथाभूतस्तुतौ हेतुमाहुः **अधोक्षजमिति**. साक्षात्स्वरूपं श्रुतीनामपि स्वसामर्थ्येन ज्ञातुमशक्यमित्यर्थः. **दोषनाशायेति**, अजात्यागायेत्यर्थः. यथा अजात्यागेन तत्र जगति आविष्टोऽनुप्रविष्टो भवेद् अतो अजात्यागार्थं भगवन्तं स्तुवन्तीत्यर्थः. अस्मिन् वाक्यशेषे अजात्यागकथनाद् एतच्छेषिभूतास्वपि श्रुतिष्वजात्याग एव तात्पर्यविषयः. "तेजो घृतमि"ति वाक्यशेषेणाञ्जननिर्णयवदत्रापि निर्णय इति भावः (१०).

---

१. "भगवदीयेषु स्थिरजंगमादिषु इत्यर्थः" इति सं.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

जायन्ते", "तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उप.३।१।१, तत्रैव २।१।१) इति मध्ये भूतभौतिकसृष्टिं प्रतिपादयन्ति[1] ब्रह्मनिरूपणार्थम्. तासां किं ब्रह्मपरत्वं, सृष्टिपरत्वं, जगतो वा ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वम् – अध्यारोपापवादेन ब्रह्मावबोधस्थिरीकरणार्थं माहात्म्य-प्रतिपादनार्थं वा – ? इत्यादि नानासन्देहे तन्निर्धारार्थम् आह —

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाऽविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥१५॥

(सूक्ष्म.) **बृहद् उपलब्धम् एतद्** इति. अवशेषतया उपलब्धं = समधिगतम् एतत् चराचरं जगद् **ऋषयो** ब्रह्मविदो वेदाः च बृहद् इत्येव **अवयन्ति** अक्षरब्रह्मत्वेन जानन्ति इति अर्थः. **यतो** ब्रह्मणः सकाशाद् **उदयास्तमयौ** जगतः उत्पत्तिप्रलयौ भवतः. तत्र दृष्टान्तः **विकृतेर् मृदिव अविकृताद्** घटशरावादेः यदा सम्भवः प्रलयः च तदा **अविकृताद्** हेतोः मृदेव अवशिष्यते **अवशेषतया** तिष्ठति इति अर्थः. **अतः** कारणाद् **ऋषयो** वेदद्रष्टारो वेदा वा **मनोवचनाचरितं** यत्किञ्चिद् मनसा विभाव्यं यत्किञ्चिद् वाचा अनूद्यं तत् सर्वं **त्वयि** एव **दधुः** अवधारयन्ति इति अर्थः. यथा **नृणां भुवि दत्तपदानि अयथा** अन्यथा **कथं भवन्ति**? न भवन्ति इति अर्थो, भूमावेव पतन्ति ॥१५॥

(सुबो.) **बृहद् उपलब्धम् एतद्** इति. यदा विश्वस्य ब्रह्मत्वं सिद्धं[2] श्रुत्यनुभावाभ्यां तदा अन्याः श्रुतयः तदेकवाक्यतया योजिताएव भवन्तीति

लेखः

ब्रह्मपरत्वमिति, जगत्कर्तृत्वेन मुख्यलक्षणेनाभिधयैव ब्रह्मप्रतिपादकत्व-मित्यर्थः. तेन निमित्तकारणत्वं सिद्ध्यति. विवर्तपक्षमाहुः **सृष्टिपरत्वमिति**, अभिधया सृष्टिप्रतिपादकत्वं तन्निषेधद्वारा ब्रह्मप्रतिपादकत्वमित्यर्थः. सृष्टिकथनप्र-योजनसन्देहमाहुः **अध्यारोपेति**.

---

१. खपाठानुरोधेन. सम्पादयन्ति इति शेषेषु - सम्पा. २. शुद्धम् इति घपाठः - सम्पा.

भगवन्माहात्म्यप्रतिपादनद्वारा सिद्धार्थप्रामाण्याः साक्षाद् भगवत्प्रतिपादिका इति फलिष्यति. तदर्थं प्रथमं जगतो ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते. **एतद् उपलब्धं** चराचरं जगत् **बृहद्** इत्येव **अवयन्ति** ब्रह्मविदो वेदाः च. ननु *एतद् अनित्यानात्म-दुःखात्मकं, ब्रह्मतु तद्विपरीतम् इति युक्त्या बाधात् प्रत्यक्षविरोधात् च कथं ब्रह्मत्वम्?* इति चेत्, तत्र आह **अवशेषतया** इति. अवशिष्यते इति अवशेषः तस्य भावः तत्ता. लोके यद् अवशिष्यते तस्यैव व्यपदेशः. यथा काचादिसहिते सुवर्णे यदेव अवशिष्यते तस्यैव मूल्यादौ व्यपदेशः. यथा वा घृतार्थिनः तन्दुलार्थिनो वा दुग्धधान्यादिषु यदेव अवशिष्यते तत्त्वेनैव व्यवहारः क्रयविक्रयादिः. तथा विकारसहिते जगति विकारेषु अपगतेषु ब्रह्मैव अवशिष्यतइति ब्रह्मत्वेनैव व्यपदिशन्ति, धान्यम् अन्नत्वेनैव. ननु अवशेषएव कथं ब्रह्मणो, निरवशेषतयापि नाशसम्भवात्? नहि अग्निना जले आवर्त्यमाने सर्वशोषे किञ्चिद् अवशिष्यते. तस्मात् कथं ब्रह्म? इति चेत्, तत्र आह **यतः उदयास्तमयौ** इति. "यतो वा इमानि" (तैत्ति.उप.३।१।१) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मणएव जगद् उत्पद्यते ब्रह्मणि च लीयते. अतो मृदादिदृष्टान्तेन ब्रह्म अवशेषो अङ्गीकर्तव्यः. यथा सुवर्णाद् जाते कुण्डले सुवर्णे च लीने अवश्यं सुवर्णमेव अवशिष्यते. अतः सुवर्णमेव कुण्डलम् इति लोके जानन्ति. ननु *जगतः उदयास्तमयावेव

लेखः

बृहदुपलब्धमित्यत्र सिद्धार्थेति. सिद्धोऽर्थः प्रतिपाद्यो भगवान् यत्र तादृशत्वेन **प्रामाण्यमासामित्यर्थः. तद्विपरीतमिति**, सच्चिदानन्दात्मकमित्य-र्थः. विकारयुक्तस्य जगतो निरवशेषतामाशङ्क्याहुः **यत** इति. **यतो** हेतोः विकारयुक्तस्य जगतो ब्रह्मण एवोदयस्तस्मिन्नेव **चास्तमयः अतो मृदादिदृष्टान्तेन ब्रह्मावशेष** इत्यर्थः. अस्तं गच्छति अस्तमयति अस्तमयनम् अस्तमयः. [१]'अस्तम्' इति न्यन्ताद् नामधातो "एरच्" (पाणि.सू. ३।३।५१) इत्यनेन अच्प्रत्ययः.[१] विकारयुक्तस्योत्पत्तिलयकथने विशेषणस्योत्पत्तिनाशौ, पदार्थस्य ब्रह्मत्वमिति वदिष्यन्त आहुः **नन्विति**. यथा घटस्य लये विकारस्य

१-१. अयमंशो इ-एपाठानुरोधात्. इतरेषु नोपलभ्यते - सम्पा.

न स्तः, "'जनी' प्रादुर्भावे" इति जननस्य आविर्भावात्मकत्वात् "'णश' अदर्शने" इति नाशस्य अदर्शनरूपत्वात् च दर्शनादर्शनरूपत्वम् आविर्भावतिरोभावरूपत्वं वा जगतो अवगन्तव्यम् उत्पत्तिप्रलययोः. ननु असतः सत्ता ध्वंसो वा अङ्गीकर्तुं शक्यः* इति चेत्, तत्र आह **विकृतेः** इति. अस्तु धर्मिणो वार्ता, विकाराः सर्वे पूर्वम् अविद्यमानाएव आश्रयम् आश्रित्य उत्पद्यन्ते इति अवगन्तव्यम्. अन्यथा ते अविकृताएव स्युः, ब्रह्मत्वात्. अतः उदयास्तमयावेव विकारजातस्य अङ्गीकर्तव्यौ. तथा विकारेषु गतेषु ब्रह्मैव अवशिष्यते इति. तत्र दृष्टान्तम् आह **मृदिव** इति. यथा मृद् अवशिष्यते यथावा पार्थिवम् उपलब्धं मृदेव. ननु मृदेव कथम् अवशिष्यते, कपालादीनाम् अवशेषदर्शनाद् इति चेत्, तत्र आह **अविकृताद्** इति, अविकाराद् हेतोः. नहि विकृतं स्थिरं भवति. ततः

लेखः

नाशः, पदार्थस्य मृतत्वं, तथेति भावः. मूले **विकृति**पदेन विविधा कृतिर्यस्येति व्युत्पत्त्या परिच्छेदविशिष्टं जगदुच्यते. तथाच यतो हेतोः विकृतेरेवोत्पत्तिनाशावतः पदार्थस्यावशेष इत्यर्थः. **ध्वंसो** वेति सत इति शेषः. **तत्राहेति**. अङ्गीकृत्योत्तरमाह सत्यं, परंतु विकारस्योत्पत्तिनाशौ स्त इत्यर्थः. **अस्त्विति**, **धर्मिणः** कार्यभूतस्याविर्भावतिरोभावावेव. परन्तु कार्ये प्रतीयमानस्य विकारस्योत्पत्तिनाशावेवेत्याहुः **विकारा** इति. लोके मृदो विकारानन्तरं कार्यभावः, ब्रह्मणस्त्वविकृतत्वात् स्वत एव धर्मरूपजगद्भावस्ततो जगति कार्ये विकाराः परिच्छेदादयः कालकृताः प्रतीयन्ते इति विशेषो धर्मिग्राहकप्रमाणादवगन्तव्यः. अत एव निबन्धे निरूपितं "सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात् परिच्छेदकरः स्वयम्, इदं कालस्य कालत्वमाविर्भावादिकं स्वतः" (त.दी.नि. ३।३।८७) इति. **पूर्वमिति**, कार्यभावात्पूर्वमित्यर्थः. **आश्रयमिति**, कार्यमित्यर्थः. **अन्यथेति**, विकाराभावे ते आश्रयाः कार्यरूपाः **अविकृताः स्युः**. तथाच कार्यभावानन्तरं परिच्छेदादिविकारा जायन्ते इति कार्यस्य विकृतत्वं, कारणभूतस्याविकृतत्वमिति भावः. **अत** इति, कार्यभावानन्तरं जातत्वादित्यर्थः. **तथेति**, परिच्छेदे गते अपरिच्छिन्नं ब्रह्मैव तदित्यर्थः. **यथेति**, बृहत्त्वे अवशेषत्वे च मृदो दृष्टान्तः. **अविकृता मृदेवेति**, परिच्छेदे गते निवृत्तकपालादिविकारा सती

कपालस्यापि विकृतत्वाद् अविकृता मृदेव अवशिष्यते इति अर्थः. कुण्डले द्रव्यान्तरसम्बन्धोऽपि कदाचिद् भवेदिति मृदेव दृष्टान्तीकृता. ननु किमतो यदि एवमेवम् एतद्? इति आह अतः **ऋषयो दधुः** इति, **ऋषयो** वेदाः तद्द्रष्टारो वा **त्वयि** एव **मनोवचनाचरितं दधुः** यत्किञ्चिन् मनसा विभाव्यं यत्किञ्चिद् वाचा अनूद्यं तत् सर्वं त्वय्येव विषये भवतीति त्वय्येव **दधुः**. मनस्तु मनोरथं भावयतीति मिथ्याविषयमेव भवति. तथा वागपि, ''अत्यन्तासत्यपि ज्ञानम् अर्थे शब्दः करोति'' (श्लो.वा. १।१।२।६) इति ''अनृतं वै वाचा वदति अनृतं मनसा ध्यायति'' (तैत्ति.ब्रा. १।१।४।४) इति श्रुतेः. यत्र वाङ्मनोविषयस्यापि ब्रह्मत्वं तत्र कात्स्र्न्येन अभिव्यक्तस्य जगतो ब्रह्मत्वे कः सन्देहः! इति अर्थः. तेन ब्रह्मविदां सर्वे व्यवहाराः ब्रह्मपराएवेति न केनापि कर्मणा तेषां लेपः इति सिद्ध्यति. ननु असत्यस्य कथं ब्रह्मत्वम् इति चेत्, तत्र आह **कथम् अयथा भवन्ति** इति. यत्र क्वचित् स्थापितानि पदानि भुवि कथम् अयथा भवन्ति? भूमिं न व्यभिचरन्ति इति अर्थः. भूमावेव पतन्ति. भ्रमादपि स्वीकृतो विषयः

लेखः

मृदवशिष्यते इत्यर्थः. **अविकृतादित्यत्र** मृत्पक्षे ध्वंसो नञर्थः. भावे क्तः; ध्वस्तो यो विकारस्तस्माद् विकारनाशादित्यर्थः. नहि कपाले सर्वथा विकारराहित्यं भवतीति भावः. **कुण्डले** इति, कुण्डले रत्नादिसम्बन्धोऽपि जायत इति रत्नादिकमप्यवशेषः स्यान्नतु सुवर्णमेवेत्यर्थः. **नन्विति**. विकारविशिष्टस्यापि ब्रह्मत्वमवशेषेण साधितमतः **किमित्याशङ्क्य** विकृतविषयकस्यापि ब्रह्मविद्-व्यवहारस्य ब्रह्मविषयकत्वं सिद्ध्यतीत्याहेत्यर्थः. मूले **अत** इति, यतो हेतोर्विकारविशिष्टमपि वस्तुतो ब्रह्मैवातः सर्वं विकृतविषयकं **मनोवचनाचरितं** ब्रह्मण्येव **दधुः** तत्रैव पर्यवसितं जानन्तीत्यर्थः. मनोवचनाचरितस्य विकृतविषयकत्वं साधयन्ति **मनस्त्विति**. आभासे **एवमेतदित्यनेनोक्तमर्थं** स्पष्टयन्ति **तेनेति**. विकारवैशिष्ट्येऽपि अवशेषाद्धेतोर्विषयस्य ब्रह्मत्वेनेत्यर्थः. **ब्रह्मपरा एवेति**, ब्रह्मपरत्वेन ज्ञाता इत्यर्थः. ननु उपलब्धं सर्वमेव बृहदिति प्रतिज्ञातम्, तत्र प्रमाविषयस्य घटादेरवशेषेण ब्रह्मत्वं साधितम्, भ्रमविषयस्य रजतादेस्तु कथं ब्रह्मत्वमित्याहुः **नन्वसत्यस्येति**. **तत्त्वेनैवेति**, ब्रह्मत्वेनैव

परमार्थतो भगवानेव भवति इति अर्थः. भ्रमप्रतीतपदार्थानामपि ब्रह्मत्वात् तत्त्वेनैव तस्य भानात्. नहि ब्रह्मातिरिक्तो भासते. तन्तुभ्यः पटरूपेण आविर्भावे शुक्तिकायां वा रजतरूपेण आविर्भावे भगवदिच्छायां न कश्चन विशेषो अस्ति, कार्यस्यापि प्रावरणस्य सुखस्य वा तुल्यत्वात्. अतो मूलभूतस्य सत्यत्वाद् अन्यथाबुद्ध्यापि मनोवचनस्थापनं ब्रह्मविषयमेव भवति इति अर्थः.

सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः ।
अतः सन्तः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते ॥(११)॥१५॥

एवं प्रकृतिप्रतिपादिका पुरुषप्रतिपादिकाश्च श्रुतयो निरूपिताः. साधनप्रतिपादिकास्तु "शान्त उपासीत" (छान्दो.उप. ३।१४।१) इत्याद्याः किम् अहङ्कारप्रतिपादिकाः तद्द्वारा आत्मप्रतिपादिका वा? इत्यादिसन्देहे निर्णयम् आह—

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल
क्षपणकथामृताब्धिम् अवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम! भजन्ति ये पदम् अजस्रसुखानुभवम् ॥१६॥

लेखः

हेतुना भ्रमप्रतिपन्नस्य भानमित्यर्थः. नहीति, ब्रह्मातिरिक्तत्वे न भासेत, भानस्य ब्रह्मधर्मत्वादिति भावः. **भगवदिच्छायामिति**, परिच्छिन्नपटरूपेण रजतरूपेणाविर्भावे भगवदिच्छायां कोऽपि विशेषो नास्तीत्यर्थः. कार्याव्यभिचारो भगवदिच्छाया लक्षणं, स तूभयत्रापि तुल्य इत्याहुः **कार्यस्यापीति**. कारिकायां **समस्तार्थे** इति. भ्रमविषये प्रमाविषयेऽप्यर्थे वस्तुत्वेन कृष्णमेव जानन्तीत्यर्थः. कृष्णस्यैव वस्तुत्वेन कथनाद् एतस्य वाक्यशेषस्य ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकश्रुति-निर्णायकत्वं प्रतिज्ञातं सिद्धमितिभावः ॥१५॥

अहंकारप्रतिपादिका इति. विधानपक्षे साहंकारस्यैव कर्तृत्वसम्भवाद् अहंकारप्रतिपादकत्वमित्यर्थः. अनुवादपक्षे साहंकारस्य शान्त्यादिकं बहुकर्तव्यं पततीति तत्क्लेशानुवादेन निरभिमानस्य स्वत एवात्मस्फूर्तिर्भवतीति स्वप्रकाशत्वरूपात्मस्वरूप-प्रतिपादकत्वमित्याहुः **तद्द्वारेति**. अहंकारानुवादद्वारा इत्यर्थः. **आदिपदेन** पूर्वमीमांसासिद्धान्तेन अर्थवादत्वमित्यर्थः.

(सूक्ष्म.) **इति तव** इति. हे **अधिपते! इति** एवं निश्चित्य **सूरयः** तव **अखिललोक-मलक्षपण-कथामृताब्धिम् अवगाह्य तपांसि** साधनक्लेशान् जहुः. हे **परम! ये अजस्रसुखानुभवं पदं तव** चरणारविन्दं **भजन्ति** ते **पुनः किमुत?** कथम्भूताः ते? **स्वधामविधुताशयकालगुणाः** = **स्वस्य धाम** स्फूर्तिः तेनैव **विधुताः** दूरीकृताः **आशयगुणाः** कामादयः **कालगुणा** ज्वरादयो यैः ते ॥१६॥

(सुबो.) **इति तव सूरय** इति. "शान्तो दान्तः उपरतः तितिक्षुः आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्" (बृहदा.उप. ४।४।२३) इत्यादिश्रुतयः अहङ्कार-मेव प्रतिपादयन्ति, अन्यथा जीवस्य कर्तृत्वाभावात्. एकस्य कर्मकर्त्रभावाद्[1] आत्मनः स्वप्रकाशत्वात् च यो ब्रह्मविदम् आत्मानं मन्यते तस्य अहङ्काराविष्टस्य वाक्यार्थध्यानकर्तुः मनोव्यापारो अनूद्यते. "शान्त" इत्यत्रापि मनश्चाञ्चल्य-निराकरणं प्रयत्नसाध्यमपि साहङ्कारस्यैव तत् कृत्यम्. नहि निरहङ्कारः शान्तो भवति दान्तो वा, अन्तःकरणादौ अध्यासाभावात्. नहि पुत्ररहितः पण्डितपुत्रवान् भवति. तस्माद् एतासां श्रुतीनां न शमादिविधौ तात्पर्यं

लेखः

इतीत्यत्र अनुवादपक्ष एव सिद्धान्त इत्याशयेनाहुः **शान्त** इति. **प्रतिपादयन्त्यनुवदन्तीत्यर्थः**. विशिष्टस्य कर्तृत्वकथनेऽपि तत्कर्तृत्वं विशेषण एव पर्यवस्यतीत्येवकारः. दर्शनांशेऽप्यनुवाद एवेति साधयन्तस्तत्र हेतुमाहुः **एकस्येति. कर्मकर्त्रिति** भावप्रधानम्. कर्मत्वं कर्तृत्वं चैकस्य न भवति, अतो द्वितीयान्तात्मपदेन भगवान्. तस्यापि स्वप्रकाशत्वाद् दर्शनं विधातुं न शक्यमित्याहुः **आत्मन** इति. अतोऽनूद्यत एवेत्यर्थः. **मनोव्यापार** इति. दर्शनं मनोव्यापार इत्यर्थः. **शान्त इत्यत्रापीति**, शान्तिरनूद्यत इति पूर्वेणान्वयः. **प्रयत्नेति**. पूर्वोक्तहेतुना दर्शनस्याविधानेऽपि शान्तिः प्रयत्नसाध्यत्वाद् विधातुं युक्ता, तथापि **साहंकारस्य कृत्यं तद्** भवति, अतस्तस्या अप्यनुवाद एवेति शेषः. **अध्यासाभावात्** निरहंकारस्येति शेषः. इदं दृष्टान्तेन साधयन्ति **नहीति**. तथान्तःकरणरहितः शान्तान्तःकरणो न भवतीत्यर्थः. **तस्मादिति**. यतः शान्त्यादिकमपि साहंकारस्य कृत्यम्. साहंकारस्य तु भगवद्दर्शनं साधनबलेन

१. कर्मकर्त्र्भावाद् इति सं.पाठः, कर्तृभावाभावाद् इति पादटिप्पणी च – सम्पा.

किन्तु साहङ्कारस्य महान् क्लेशइति तत्क्लेशम् अनूद्य निरभिमानस्य स्वतएव आत्मस्फूर्तिरिति साधनश्रुतीनामपि भगवत्परत्वमेव. अस्मिन् अर्थे हेतुम् आह **इति** एवं विनिश्चित्य **सूरयः तपांसि जहुः** इति, साधनक्लेशान् त्यक्तवन्तः इति अर्थः. तर्हि कथं मोक्षसिद्धिः? इति चेत्, तत्र आह **अखिललोकमलक्षपण-कथामृताब्धिम् अवगाह्य** इति. ननु कथावगाहन-मात्रेणैव कथं कार्यसिद्धिः, तत्तदंशभागिनां देवानां प्रीत्यभावाद्? अतो विघ्नाभावाय तेषां प्रीत्यर्थं साधनानुष्ठानमपि कर्तव्यम् इति चेत्, तत्र आह **त्र्यधिपते** इति. ननु वेदेन शमादिविधयः प्रतिपादिताइति अपेक्षाभावेऽपि विधिबलादपि शमादयः कर्तव्याः इति चेत्, तत्र आह **सूरय** इति. ये अविद्यावन्तः तानेव उद्दिश्य श्रुतिः शमादिकं विधत्ते, नतु सूरीन्. अतः सूरयः परमानन्दरूपं साधनं गृहीत्वा साधनदशायामेव कृतार्थाः सन्तः, दुःखसाधनेभ्यो निवर्तन्त इति. ननु विद्वांसोऽपि साधनेषु प्रवर्तन्ते इति चेत्, तत्र आह **तव सूरय** इति. त्वदीयास्तु न प्रवर्तन्ते इति अर्थः. **इति** इति, पूर्वोक्तसर्वब्रह्मत्वपक्षेऽपि साधनादीनां ब्रह्मत्वाद् यदि "सर्वम्

लेखः

न सम्भवतीति तदनुवादेन शमो विधातुं न शक्यः किन्तु कृपया तादृशमप्युद्धरेदिति तस्याप्यनुवाद इत्यर्थः. **अस्मिन्नर्थे** इति, शमादीनामविधेयत्वनिर्णये सूरीणां साधनत्यागो हेतुः. शमादीनां विधाने सूरयः शमादीन्न त्यजेयुरिति भावः. **इत्येवमिति**, साहंकारस्य क्लेशसूचनार्थं साधनान्यनूद्यन्ते नतु विधीयन्ते **इति निश्चित्येत्यर्थः**. तथाचैतेषां साधनत्यागेनायमर्थो निर्णीत इति भावः. **अखिलेति. अखिललोकमलः** संसारः, तस्य कथामृतेन क्षपणे मोक्षः सिद्ध एवेति भावः. **तत्तदंशेति**, तमआद्यंशभागिनामित्यर्थः. **वेदेनेति**, "शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति" (महाना.उप. १७।४, याज्ञिक्युप. ७९।५) इत्यादिनेत्यर्थः. **ये अविद्यावन्त** इति. अविद्यावतां तावान् क्लेश आवश्यक इति तानुद्दिश्य तत्र विधानम्, सूरीनुद्दिश्य त्वत्रानुवाद एवेति भावः. **दुःखसाधनेभ्य** इति, दुःखयन्तीति दुःखानि तादृशेभ्यः साधनेभ्य इत्यर्थः. **शान्तो दान्त** इत्यारभ्य **भगवत्परत्वमेवेत्यन्तेन** उक्तो निर्णय **इतिशब्दस्यार्थ** उक्तः. **इतिशब्दस्य** पूर्वोक्तवाचकत्वपक्षमाहुः **इतीति पूर्वोक्तेति**. अत्रारुचिमाहुः **तस्मिन्निति**.

आत्मैव अभूद्" (बृहदा.उप. २।४।१४) इति न्यायेन साधननिवृत्तिः युक्ता. तस्मिन् पक्षेतु उत्तरत्र असङ्गतिः, तापाभावात्. तव च पण्डिताः त्वं च त्रिलोकाधिपतिरिति तेषां निर्भयत्वम् उक्तम्. भगवत्सम्बन्धिनाम् अपहतपाप्मत्वात् यएव कथादिषु सम्बध्यते तस्यैव पापं दूरीकरोति इति **अखिल-लोक-मल-क्षपणत्वं तव** इत्यत्रापि सम्बध्यते. **कथैव अमृताब्धिः.** कथायाः अमृतत्वं "तव कथामृतम्" (भाग.पुरा. १०।२९।९) इत्यत्र निरूपितम्. कथायास्तु अब्धित्वम्— एकस्यां कथायां हृदि स्थितायां ततो [१]भगवदीयाः कथाः सहस्रं भवन्ति, ततएव उत्पद्यन्ते. यथा एकस्य वाक्यस्य बुद्धिमतां सहस्रार्थस्य स्फूर्तिः. यथा कस्यचिद् वचनं "यस्य कस्यापि पद्यस्य शतम् अर्थान् प्रचक्ष्महे हठाद् उक्तस्य तस्यैव सहस्रं संप्रचक्ष्महे" (. - । ।). एवं यस्य हृदये सहस्रशो भगवत्कथास्फूर्तिः स समुद्रो विवक्षितः.

लेखः

तादृशज्ञानिनां तापासम्भवात् **तपांसि जहुरित्यनेन** तापजनकत्वात् साधनत्यागकथनमसंगतं स्यात्. भक्तानां तु सेवोपयोग्यध्यासस्थापनात् तापसम्भावनेति भावः. "तावत्कर्माणि कुर्वीत" (भाग.पुरा. ११।२०।९) इतिवाक्येन साधनत्यागो मार्गद्वयेऽप्युक्तः परन्तु ज्ञानमार्गेऽनावश्यकत्वात् [२]तत्त्यागः, भक्तिमार्गे तापजनकत्वात् तत्त्याग इति विभागः. तथाच **तव सूरय** इत्यनेन भगवति समर्पितसर्वत्वेन स्वत्वाभिमानरहिता भक्ता उच्यन्ते. स्वार्थमध्यासाऽस्थापनात् तानुद्दिश्यापि न विधिरिति भावः. कथाया लोकमलक्षपणत्वं साधयन्ति **भगवत्सम्बन्धिनामिति**, पदार्थानामिति शेषः. अतः कथाया अपि अपहतः पाप्मा यया तादृशत्वमतः स्वसंबद्धस्य **पापं** कथा **दूरीकरोतीति** हेतोः कथाया **अखिललोकमलक्षपणत्वमित्यर्थः. तवेत्यत्रापीति. तवेतिपदं सूरिपदेन** सम्बद्धमुक्त**मखिलेत्यत्रापि** सम्बध्यते. तव यः कथामृताब्धिरित्यर्थः. **स समुद्र** इति, तस्य हृदय इति शेषः. यस्य हृदये अनन्तकथारूपतरङ्गस्फूर्तिस्तस्यैव हृदये तादृशतरङ्गजनकः पूर्वोक्तः कथासमुद्रोऽपि विवक्षित इत्यर्थः. यथैका गोचारणकथा स समुद्रः; ततस्तदवान्तरभूता अनन्ताः

१. भगवदर्थम् इति गपाठे अत्राधिकम् उपलभ्यते - सम्पा.

२. त्यागः इति मुद्रितपाठः ; शेषेषु एवम् - सम्पा.

तत्र अवगाहनं = निरन्तरं येषां हृदये भगवत्कथानन्त्यं स्फुरति तयैव निर्वृत्या पूर्णाः क्लेशान् जहुः इति उक्तम्. एतादृशाएव गुरवो भवन्तीति "अथ ह तव वाव महिमासमुद्रविप्रुषा" (भाग.पुरा. ६।९।३९) इत्यत्रापि गुरूपदेशलक्षणः विप्रुट् वर्णितः. अत्रतु कथामात्रम् इति समुद्रावगाहनोक्तिः न विरुद्ध्यते, सिद्धान्तान्तराद् वा. अत्र तापनिवृत्तिः आत्यन्तिकी, ततोऽपि क्लेशोक्तिः न दोषाय. तपःप्रभृतिसाधनानि इति विमर्शः. अयं भगवत्परोक्षे स्थितस्य साधनविचारः उक्तः. यः पुनः अपरोक्षे तिष्ठति वैकुण्ठस्थइव उद्धवइव वा तस्य किं वक्तव्यम् इति आह **किमुत** इति. प्रसङ्गाद् अनवगतमाहात्म्याः यथा यादवाः समागताः. ते चरणसेवकाअपि पुष्टिविचारेण कृतार्थाः मर्यादायाम् अकृतार्थाः उच्यन्ते "यथा यदवो नितराम्" (भाग.पुरा. ३।२।८) इति. तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **स्वधामविधुताशयकालगुणाः** इति. **स्वस्यैव धाम स्फूर्तिः**, तेनैव **विधुताः** दूरीकृताः **आशयगुणाः कालगुणाः**

लेखः

कथा भवन्ति ते तरङ्गा इति ज्ञेयम्. **स्फुरतीति**, येषां हृदये तत्स्फुरति तेषां तत्स्फुरणमेवावगाहनमित्यर्थः. **क्लेशानिति**, साधनक्लेशानित्यर्थः. **एतादृशा एवेति**, स्फुरत्कथानन्त्यहृदया इत्यर्थः. **इति** हेतो**रुपदेशो विप्रुट्**. हृदये समुद्रः ; उपदेशस्तु विप्रुडेवेत्यर्थः. **कथामात्रमिति** **मात्रपदं** कार्त्स्न्ये इति ज्ञेयम्. अत एव तत्र "विस्मारिते"त्युक्तम् ; शिष्यस्य विस्मारितेत्यर्थः. **सिद्धान्तान्तरादिति**. तत्र विप्रुषोपि तादृशत्वे अधिकस्य किं वाच्यमिति कैमुत्येन सिद्धान्तः समर्थितः, अत्र तु स्वरूपतः सिद्धान्त उक्त इति सिद्धान्तान्तरत्वम्. अन्यदप्याहुः **अत्रेति**. **तपांसि जहुरित्यत्र** तापजनकत्वात् साधनत्यागकथनेन उक्ता **तापनिवृत्तिरात्यन्तिकी** पुनस्तापो नोत्पद्यते इत्येवंरूपा, अतस्तदर्थं समुद्रावगाहनमुक्तम्. तत्र तु "विप्रुषा विस्मारित-दृष्टश्रुत-सुखलेशाभासा" इत्यनेन विस्मारणोक्त्या कदाचित् तत्सुखस्मरणे सांसारिक-तापोपि भवेदित्याहुः **ततोपीति**. तत्रेति शेषः. विप्रुडास्वादनानन्तरमपि **क्लेशोक्तिर्दोषाय न** भवति, बिन्दोः समुद्रान्न्यूनकार्यजनकताया युक्तत्वादिति भावः. **तपांसीत्युपलक्षणमित्याहुः** **तपःप्रभृतीति**. **स्वधामेति** विशेषणं यादवादिव्यावृत्त्यर्थमित्याहुः **प्रसङ्गादिति**. **यथा भगवत्कृपयेति**, "तत्र

च यैः. **आशयगुणाः** कामादयः **कालगुणाः** जरादयः. यथा भगवत्कृपया कालगुणाभावो निरूपितः तथा स्वस्फूर्त्यैव येषाम् आशयकालगुणनिवृत्तिः ते मुख्या भगवत्सेवकाः, मुक्तोपसृप्यो भगवानिति. ननु किं तेषां भजनेन! इति आशङ्क्य आह **परम** इति. तेषामपि उत्तमः, यथा तेषामपि फलं भवति तादृश इति अर्थः. अतएव ते **अजस्रसुखानुभवरूपं पदं भजन्ति** अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमिति अन्तरेव तं ब्रह्मानन्दम् अनुभवन्ति इति अर्थः.

कथानन्त्योक्तिहृदयाः साधनानि न कुर्वते ।
साक्षाद्ये पादसंश्लिष्टास्ते किं वाच्या महाशयाः ॥(१२)॥१६॥

एवं साधनविधीनां निर्णयम् उक्त्वा ये देवतान्तरोपासनादिविधयः कर्मविधयो वा तेषां निर्णयो निरूप्यते. सूत्रात्मको महानिति, तेषां करणं किं विधिसामर्थ्यात् नियोगन्यायेन ? आहोस्वित् कामनायां सत्याम् अभ्यनुज्ञामात्रं

लेखः

प्रवयसोप्यासन् युवानोऽतिबलीयसः" (भाग.पुरा. १०।४५।१९) इत्यत्र भगवत्कृपया कालगुणजराभावो निरूपितः. तथैतेषां ज्ञानेनैव तन्निवृत्तिः, नतु भगवत्कृपा तदर्थमुपक्षीणा. अतोऽनुपक्षीणा कृपा मुख्यफले अकुण्ठशक्तिर्भवत्यतो मुख्या इत्यर्थः. कृपैव सर्वसम्पादिका इति तु पुष्टिमार्गे इति न स्वसिद्धान्तविरोधः. मुख्यभक्तिमार्गे मुक्तेरनभिलषितत्वकथनाद् जरादिनिवृत्तिरपि नापेक्षितेत्याशङ्क्याहुः **मुक्तोपसृप्य** इति. भगवान् मुख्यतया मुक्तैरेवोपसृप्यः इति स्वरूपयोग्यतार्थं मुक्तिरपेक्षितैव ; परमफलत्वेन नापेक्षितेति भावः. कारिकायां **कथानन्त्येति**, कथाया आनन्त्येनोक्तिः तस्यां हृदयं येषामित्यर्थः ॥१६॥

अग्रिमवाक्यशेषस्य महत्तत्त्वप्रतिपादकत्वं साधयन्ति **सूत्रात्मक** इति. देवाः सर्वे वायुभेदा इति त्रिदेवतानिर्णये निरूपितम्. कर्माण्यपि प्राणकार्याण्येव. प्राण एव नामसृष्टिहेतुभूतः. सूत्रं तदेव रूपसृष्टिहेतुभूतं महत्तत्त्वम्. अत एव "सूत्रं महांस्तथा प्राण" (त.दी.नि. २।९७) इत्यनेन त्रयाणामेकत्वं निबन्धे निरूपितम्. अतो देवान्तरोपासनविधीनां कर्मविधीनां च महत्तत्त्वप्रतिपादकत्वमित्यर्थः. **तेषामिति**, आत्मातिरिक्तदेवोपासनानां कर्मणां

क्रियते ? आहोस्विद् निषेधार्थम् अनुवादः इति– "अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते" (बृहदा.उप. १।४।१०) इत्यादिषु ? तेषां निर्णयार्थम् आह—

दृतयइव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१७॥

(सूक्ष्म.) **दृतयइव** इति. **यदि** ये जीवाः **ते अनुविधाः** त्वत्सेवायां सन्मुखाः तदा तएव **असुभृताः** सफलप्राणाः, अन्यथा **दृतयइव** भस्त्राइव **श्वसन्ति** परोपद्रवार्थमेव जीवन्ति इति अर्थः. **यदनुग्रहतो महदहमादयो ब्रह्माण्डम् असृजन्. अन्नमयादिषु यः चरमो** अन्त्यः आनन्दमयः सो **अत्र** देहेषु **पुरुषविधो अन्वयः** च. **सदसतः परं** कार्यकारणतः परं यत् त्वमेव. **अथ यद् एषु** कार्यकारणात्मकसर्ववस्तुषु **अवशेषं ऋतं** सत्यं तत् त्वमेव इति अर्थः ॥१७॥

(सुबो.) **दृतयइव श्वसन्ति** इति. ये लौकिकाः कामनया प्रवृत्ताः (च!)– तदर्थं श्रुतिः व्यर्थेति, साधनसम्बन्धमात्रसार्थकत्वेऽपि इतरवैयर्थ्यापत्तेः– नियोगपरतया तत्करणं मन्यन्ते, ते उभयेऽपि **दृतयइव श्वसन्ति.** एके

लेखः

चेत्यर्थः. **इत्यादिष्विति, इत्यादिषु निषेधार्थमिति** पूर्वेणान्वयः. **आदिपदेन** 'पूर्वविद्वांसो अग्निहोत्रं न जुहवांचक्रुरि'त्यादिषु कर्मनिषेधार्थं कर्मणामनुवाद इति.

दृतय इत्यत्र **ये लौकिका** इति. पशुपुत्रस्वर्गादिकामनया **ये** सन्मार्गे **प्रवृत्तास्तेषां तदर्थं** स्वकामनापूर्त्यर्थं **तत्करणमु**पासनायाः कर्मणो वा करणं **ये मन्यन्ते** इत्युत्तरेणान्वयः. एतेन द्वितीयपक्षस्था उक्ताः. प्रथमपक्षस्थानाहुः **श्रुतिर्व्यर्थेति**. तथा सतीति शेषः ; कामनाया अधिकारिविशेषणत्वे सति श्रुतिर्व्यर्था स्यात्. वैयर्थ्यं साधयन्ति **साधनेति**. यद्यपि कामिमात्रे साधनसम्बन्धबोधेन सार्थकत्वं तथापीतरस्मिन् निःकामे पुरुषे वैयर्थ्यं स्यादेव अतस्तथाकथने **श्रुतिर्व्यर्था** स्यादिति हेतोर्ये **नियोगपरतया** सर्वथाकर्तव्यत्वेन उपासनाकर्म**करणं मन्यन्ते** इत्यर्थः. तृतीयपक्षस्तु सिद्धान्तः. पूर्वं

प्राणपोषकाः, तत्पोषार्थं श्रुत्युक्तं कुर्वन्ति. अत्र केवललौकिकाः[१] प्रकरणेनैव निषिद्धाः अतएव नोच्यन्ते, ब्रह्मविदामेव विचारविषयत्वात्. वैदिकाः सर्वएव ब्रह्मवादिनो भवन्तीति[२] कामनापरत्वं विधिपरत्वं वा ये मन्यन्ते वेदानां ते निन्द्यन्ते, 'प्राणपोषकाः' इति प्राणोपाधिग्रस्ताः इति च. दृतयोहि अतप्तानेव सर्वानेव धातून् तप्तान् कुर्वन्ति. अतः ते परतापकर्तारः[३] बहिर्मुखाः समर्थाः सन्तः अन्यानेव पीडयन्तीति सुतरां पशुघातकाः. "यो नः शपाद् अशपतः" (भाग.पुरा. ३।२९।३८) "यो नः सपत्नः" (भाग.पुरा. ३।२९।३८) "यो मां द्वेष्टि जातवेद" (तैत्ति.ब्रा. ३।६।७१) इत्यादिश्रुतिभिः अलौकिकप्रकारेणापि सर्वोपद्रवकर्तारः ते मृतप्रायाएव इहामुत्रार्थफलरहिताः परोपद्रवार्थमेव जीवन्ति इति अर्थः. ये पुनः "यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त" (ऋक्संहि.

लेखः

कामनानुवादेनोपासनां कर्म चाभ्यनुज्ञाय निन्दया तन्निषेधेन निःकामतया यज्ञं भगवद्रूपं ज्ञात्वा तत्सेवाभावनया कर्म कर्तव्यं; देवांश्च भगवदावरणानि ज्ञात्वोपासना कर्तव्येति बोधयतीति भावः. वैदिकाः कर्मिणोऽपि स्वर्गात् पञ्चाग्निप्रकारेणागत्य ब्रह्मवादिनो भवन्तीत्याशयेनाहुः **सर्व एवेति**. उभयोर्दृतिसाम्यमाहुः **बहिर्मुखा** इति. कर्मिण उपासकाश्चेत्यर्थः. एते उपासनया समर्था भूत्वा स्वैश्वर्यबलेनान्यान् **पीडयन्त्येव**, कर्मिणस्तु पशुघातकत्वात् सुतरां पीडयन्त्यत उभयेऽपि दृतिसमाना इत्यर्थः. **मृतप्राया** इति, चर्मसाम्यकथनादिति भावः. **इहामुत्रेति**, **अर्थतः** परमार्थतो यत् **फलं** तद्रहिता लोकद्वयेऽपीत्यर्थः. **जीवन्तीत्यर्थ** इति. यथा दृतयः परोपद्रवार्थं वायुधारकास्तथैतेऽपि प्राणधारकाः "जीव प्राणधारणे" (भ्वा.धा.पा. ५६३)

१. वेदादिरहिताः इति सं.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

२. "वेदनिष्ठाः सर्व एव वेदतात्पर्याभिज्ञा अनभिज्ञाश्च निष्कामा सकामाश्च ब्रह्मवादित्वेन उच्यन्ते इत्यर्थः. तत्र तात्पर्यानभिज्ञाः कामनया प्रवृत्ता लौकिका इत्युच्यन्ते. वेदस्य ब्रह्मरूपत्वात् तन्निष्ठात्वमात्रेण ब्रह्मवादित्वं, पशुपुत्रादिलौकिकार्थपरत्वाद् लौकिकत्वमिति" इति सं.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

३. "सर्वात्मत्वेन भगवन्तम् अजानन्तः पृथक्त्वेन केवलम् आत्महितेप्सवः" इति सं.पाठे पादटिप्पणी - सम्पा.

१०।११।१६) इतिप्रकारेण यज्ञादिभिः त्वदावरणत्वेन देवतान्तरोपासनां च कुर्वन्ति ते **त्वदनुविधाः**. ये **त्वदनुविधाः** अनु विदधति इति अनुविधाः भक्ताः तएव **असुभृतः** सफलप्राणाः, न तैः परोपद्रवः सम्भवतीति. किञ्च ये पूर्वोक्ताः तेषां दूषणान्तरम् उच्यते **महदहमादयः** इति. "कृतघ्ने नास्ति निःकृतिः" (महाभा.शां.पर्व.अ. १७२।२६) इति भगवदाज्ञया महदादिभिः कृते ब्रह्माण्डे तत्र स्थित्वा तैरेव निष्पादितं शरीरं परिगृह्य तेषां तत्स्वामिनो वा ये अनुविधानं न कुर्वन्ति ते कृतघ्नाः. अथच ये भगवत्सेवकाः तेषां सर्वभावेन भगवद्भजनं युक्तम् इति वक्तुं **महदादयोऽपि** भगवत्सेवार्थं भगवत्क्रीडाभाण्डं **ब्रह्माण्डं ससृजुः** इति निरूपितम्. करणेऽपि तेषां न स्वतःसामर्थ्यं किन्तु **यदनुग्रहादेव**, अतो भगवच्छेषतया देवतान्तरभजने न कोऽपि दोषः इत्यपि सूचितम्. प्रकारान्तरेणापि उभयेषां निन्दा-स्तुती निरूप्येते **पुरुषविधो अन्वयो अत्र चरमो अन्नमयादिषु यः** इति. **अत्र** देहे **पुरुषविधो अन्वयः यः** च भगवान् **अन्नमयादिषु चरमः**. यथा भाण्डकर्तारः प्रथमतः आकृतिं कृत्वा पश्चाद् धातून् पूरयन्ति, अन्यथा पूरितभाण्डनिर्माणं न भवति, तादृशो देहः. अन्येतु घटादयः कृतिसाध्याः. ततो अत्र देहे कश्चिद् आन्तरो वर्तते यः एवंविधः; यदुपरि समागताः अन्नरसादयो भवन्ति. अन्यथा भस्मोत्करइव राशीभूताः स्युः. अतो यो अन्तःस्थितः प्रत्यहं तादृग्भावं सम्पादयति सो अत्यन्तं मान्यो भवति. "तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः" (तैत्ति.उप. २।२) इति श्रुतौ तस्य भगवतः पुरुषप्रकारमेव लक्षीकृत्य अयम् अन्नमयादिः पुरुषविधइति

लेखः

इति पाठादिति भावः. **यज्ञादिभिरिति**, त्वत्सेवामिति शेषः; **कुर्वन्तीत्यग्रिमेणा-न्वयः**. **तेषामिति**, भगवदावरणत्वं ज्ञात्वाभासोक्तप्रकारेण महत्तत्त्वभेदानां देवानामित्यर्थः. **तत्स्वामिन** इति, भगवत्त्वं ज्ञात्वाऽवयवभूतदेवविशिष्टस्य यज्ञस्येत्यर्थः. **अथ चेति**. एतेनैव तृतीयस्य स्तुतिरपीति चकारः. **प्रकारान्तरेणापीति**, पुरुषविधः सन्नन्वयः, एवमुपकारकस्यासेवायां कृतघ्नता सेवायां चोचितत्वम्; अन्नमयाद्यन्तरश्च अतोऽप्यसेवा-सेवाभ्यां निन्दास्तुती इत्यर्थः. **यथेति**. मृदादीनामन्तर्बहिश्च तदाकृतिं विधाय मध्येऽवकाशं स्थापयित्वा

अस्य पुरुषविधत्वं भगवदन्वयेनैव निरूपितम्. **पुरुषविधस्तु अन्वयो** वंशन्यायेन समागतः इति अर्थः. ननु अन्नमयान्वयएव भगवतो भवतु, को विशेषः ? इति चेत्, तत्र आह **अत्र अन्नमयादिषु य चरमः** इति. अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयेषु चरम आनन्दमयः. सतु सर्वान्तरः. आनन्दमयत्वादेव न तस्य प्रयोजनम् अन्यद् अस्ति, अन्यं च नापेक्षते इति सूचितम्. अन्तःस्थितोहि आकारसमर्पको भवति. "तस्य पुरुषविधताम्" इत्यत्र प्रकृतः षष्ठ्यन्तेन उच्यते. तस्यैव[१] पूर्वोक्तत्वात् पूर्वोक्तएव हि परामृश्यते. "स वा एष पुरुषविधएव" (तैत्ति.उप. २।२) इति पूर्ववाक्यम्. 'अयम्' इति सर्वत्र अन्नमयएव ग्राह्यो, अनन्तरोक्तो वा. नतु पूर्वपुरुषविधत्वेन उत्तरस्य पुरुषविधत्वम् इति कदाचिदपि मन्तव्यम्. भगवाँश्च आनन्दमयः. अत्र केचित् कोशप्रतिपादकाः स्वार्थं शोकप्रतिपादकाएव, आनन्दमयस्य त्यागे शोकस्यैव अवशेषात्. 'मयट्'प्रत्ययानुपपत्तिः च सूत्रकारेणैव परिहृता "प्राचुर्याद्" (ब्रह्मसूत्र १।१।१२) इति. "द्व्यचश्छन्दसि" (पाणि. सूत्र. ४।३।१५०) इति व्याकरणेऽपि विकारे 'आनन्द'शब्दात् त्र्यचः 'मयड्'विधानाभावः. तस्मात् साकारब्रह्मद्वेषादेव कैश्चित् तथा व्याख्यातम्. 'ब्रह्म'पदश्रद्धया वा, "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" (तैत्ति.उप. २।५) इति आनन्दमयस्य

लेखः

तत्र धातून् पूरयन्तीत्यर्थः. **वंशन्यायेनेति,** यथा मनुष्यवंशो मनुष्याकार एव तथानन्दमयोपर्युपरि विद्यमानः पुरुषाकार एवेत्यर्थः. **नन्विति.** अन्नमये एवान्वयोऽस्तु, तत्तदन्तरन्वये को विशेष इत्यर्थः. सर्वान्तरान्वयाभावे तस्य पुरुषविधत्वाभावेनान्येषामपि पुरुषविधत्वं न स्यादित्याहुः **अन्तःस्थितो हीति. कोशप्रतिपादका** इति, आनन्दमयोऽपि कोश एव नतु भगवानिति प्रतिपादका इत्यर्थः. **शोकस्यैवेति.** अधिकान्वेषणाय आनन्दमयोऽपि त्यक्तः तदा

१. षष्ठ्यन्तेन प्रकृतपरामर्शे युक्तिम् आहुः **तस्यैव** इत्यादि. अग्रिमार्थम् आहुः **पूर्व...**इत्यादि. तथाच तत्र-तत्र प्रकृतस्य प्राणमयादेरेव अन्यो अन्तरात्मा इति निर्दिश्य "तेन एष पूर्णः" (तैत्ति.उप. २।२) इति अन्नमयादेः पूर्णत्वाय 'तेन' इत्यनेन प्रकृतं प्राणमयादिं परामृश्य तदाकारः उच्यते "स वा" इत्यादिना. अतः तथा इति अर्थः. (श्रीपुरुषोत्तमानां हस्ताक्षरेण लिखिता इयं टिप्पणी).

पुच्छत्वेन ब्रह्मनिरूपणात्. "हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वं परमात्मनः" (त.दी.नि. २।१०३) इति सिद्धान्तापरिज्ञानात्. अन्यथा ज्ञानभक्तिमार्गयोः एकफलत्वं न स्याद् भगवच्चरणस्य अब्रह्मत्वाद् इति अलं विस्तरेण, भाष्ये विस्तरस्य उक्तत्वात्. अतो यो अन्तःस्थितः आनन्दं सम्पादयति पुरुषत्वं च एतादृशं ये न मन्यन्ते ते कृतघ्नाः इति किं वक्तव्यम्! ये वा भजन्ते तेषां युक्तम् इति वा किं वक्तव्यम् इति अर्थः. किञ्च यत्किञ्चिद् जगति कार्यं तस्य सर्वस्य त्वमेव नियन्ता तद् आह **सदसतः परं त्वम्** इति. यत् **सदसतः** कार्यकारणयोः **परं** नियन्तृत्वेन विचारितं ब्रह्म तत् **त्वमेव** इति अर्थः. किञ्च न केवलं नियामकत्वमात्रं किन्तु (**अथ!**) भिन्नप्रक्रमेण भेदं परिहृत्य एतद्रूपत्वेनैव उत्तरम् उच्यते **यदेषु अवशेषम्** इति. अवशिष्यते इति अवशेषः. एतत् पूर्वम् उपपादितं यथा सर्ववस्तुषु अयं भगवान् अवशिष्यते इति. अतः पर्यवसानन्यायेन तस्यैव अनुसरणं कर्तव्यं सर्वत्र, नान्यस्य नश्वरस्येति हेतुः उक्तः उभयत्रापि. किञ्च **यद् एषु ऋतं** तद् भगवानेव इति अर्थः. अवशेषमात्रेण न कार्यं सेत्स्यति, तस्यापि कालान्तरे नाशसम्भवात् घृतादिवत्. अतो हेत्वन्तरम् उच्यते **ऋतम्** इति. एवं पञ्चहेतवो निरूपिताः स्तुतौ निन्दायां च.

कृष्णएव सदा सेव्यो निर्णीतः पञ्चधा(१-५) बुधैः ।
(१)शरीरदः (२)प्रेरकश्च (३)सुखदः (४)शेष(५)सत्-पदः ॥(१३)॥१७॥

एवं देवतान्तर-कर्मान्तरविधीनां निर्णयम् उक्त्वा भगवदुपासकानामेव बहुविधानां तारतम्येन फलनिर्णयम् आह—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।

लेखः

तदभावरूपस्तु शोक एवेति स एव तेषामर्थेऽवशिष्ट इत्यर्थः. **अन्यथेति**, परमात्मनः पादत्व-पुच्छत्वाभावे इत्यर्थः. **उत्तरमुच्यत** इति, सदसतोऽवशेषरूप-**मुत्तरं स्वरूपं भेदं परिहृत्यैतद्रूपत्वेनैवोच्यते. उभयत्रापीति**, स्तुतौ निन्दायां चेत्यर्थः. अनुसर्तव्यमनुसरन्तीति स्तुतिः, नानुसरन्तीति निन्दा. अननुसर्तव्यं नानुसरन्तीति स्तुतिः, अनुसरन्तीति निन्दा ॥१७॥

तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१८॥

(सूक्ष्म.) **उदरम् उपासते य** इति. **ये ऋषिवर्त्मसु** वेदोक्तमार्गेषु **उदरं** कर्म **उपासते ते कूर्पदृशो** रजोपिहितदृष्टयः. **ये दहरं हृदयम् उपासते ते आरुणयो** अरुणवंशजाः अल्पप्रकाशयुक्ताः. कथम्भूतं हृदयम्? **परिसरपद्धतिं** परितः सरन्ति इति **परिसराः** नाड्यः तासां **पद्धतिः** मार्गो यत्र. हे **अनन्त! परमं तव धाम,** अतः त्रैलोक्यात् कालादपि **शिरः** ऊर्ध्वमेव **उदगात् यत् समेत्य, यद्** भगवत्स्वरूपं प्राप्य प्राणिनः **इह** संसारे **कृतान्तमुखे न पतन्ति** ॥१८॥

(सुबो.) **उदरम् उपासते** इति. भगवदुपासकाः त्रिविधाः— कर्मिणो योगिनो ज्ञानिनः च इति. तत्र ज्ञानिनः श्रेष्ठाः, अन्येतु प्रथम-मध्यमाः इति. "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्" (भग.गीता ९।१५) इतिवाक्याद् भगवद्भजनं बहुधा सम्भवति. केचिद् इदं पद्यं योगपरत्वेनैव योजयन्ति; तच्छ्रुतिनिर्णये विरुद्धमिव प्रतिभाति. **ऋषिवर्त्मसु** वेदोक्तमार्गेषु **ये उदरम् उपासते** कर्म उपासते इति अर्थः, वेदस्य उदरं कर्मेति, उदरपर्यवसानात् च. 'उदर'शब्दस्य उभयथापि लक्षणा. मणिपूरकचक्रपरत्वे कर्मपरत्वे वा षण्णां चक्राणाम् अत्र अनिरूपणात् प्राप्त्यभावः च. पञ्चात्मकविचारेऽपि उदरं सोमो भवति. निन्दार्थञ्च 'उदर'पदं, शिश्नोदरपरायणा लोके निन्दिता भवन्तीति. ते **कूर्पदृशः** स्थूलदृष्टयः. शर्कराः 'कूर्प'शब्देन उच्यन्ते; अतिस्थूलदृष्टयः इति अर्थः. कूर्पापेक्षया न्यूनं न पश्यन्ति. अथवा कच्छपपृष्ठं कूर्पम्; तत्र रेखाकारा भवन्ति ता दृष्टिवद् निरूप्यन्ते. तेन किमपि न पश्यन्ति इति उक्तं भवति, "एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते" (भग.गीता ९।२१) इतिवचनात् निन्दा श्रूयते इति. एवं प्रथमस्थितान् उक्त्वा मध्यमान् आह **परिसरपद्धतिं हृदयम्** इति.

श्रुतिगीतार्थः

तत्र "उदरमुपासत" इत्यनेन आकाशप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— आकाशशरीरस्य ब्रह्मण उपासना कर्म-योगादिभ्यः श्रेष्ठा, कर्म-योगयोः उदर-हृदयरूपत्वेन अधःस्थित्वात् तस्य शिरोरूपत्वेन ऊर्ध्वस्थितत्वात्, साक्षाद्भगवद्धामत्वेन कृतान्तमुखे पातनिवर्तकत्वादिति. पद्यं ५ तत्त्वं ५

परितः सरन्ति इति **परिसराः** नाड्यः, तासां **पद्धतिः** मार्गो **हृदयम्**, अनेन तत्र स्थिता योगाभ्यासेन अधः च ऊर्ध्वं च सर्वानेव मार्गान् शोधयन्ति. एवं योगिनो हृदये भगवच्चिन्तकाः निरुक्ताः. ते **आरुणयः** अरुणवद् अल्पप्रकाशयुक्ताः. अरुणस्य पुत्रः आरुणिः. "'दहरम्' इति अल्पं छिद्रम्" इति केचित्. 'दहर'शब्दो अल्पवाचको वेदे निरुक्तः "दहरं वै सा पराभ्यां दोहाभ्यां दुहः" (. । ।) इति. अल्पप्रकाशाः स्वल्पं च उपासते इति अर्थः. एवं सर्वात्मकस्य भगवतः केचन उदरं, केचन हृदयं च उपासते; कर्म-योगौ. गीतायां योगप्रशंसातु योगशास्त्रत्वात् बहिर्मुखोद्देश्यत्वाद् वा. तर्हि मुख्याः के? इति जिज्ञासायाम् आह **तत उदगाद्** इति. **तव धाम शिरः परमं,** "तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोः धाम" (भाग.पुरा. ३।११।४१) इतिवाक्यात्. भगवतो बहूनि स्थानानि, तेषु अपि अक्षरं परमम्. 'अक्षर'पदप्रयोगादेव परमत्वं ज्ञातव्यम्. अतः त्रैलोक्यात् कालादपि **शिरः** ऊर्ध्वमेव **उदगात्.** तस्यैव आधिभौतिकं रूपं ब्रह्मलोकः इति तस्य शिरस्त्वम्. पूर्वात् फलतः तस्य उत्कर्षम् आह **पुनरिह यत् समेत्य** इति, यद् भगवत्स्वरूपं प्राप्य प्राणिनः **कृतान्तमुखे न पतन्ति,** "मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" (भग.गीता. ८।१६) इति. अतो ज्ञानिनएव उत्कृष्टाः इति अर्थः.

कर्मरूपं हरिं केचित् सेवन्ते योगरूपिणम् ।
तेभ्योऽप्यक्षररूपस्य सेवकाः सम्मताः सताम् ॥(१४)॥१८॥

एवम् उपासनाभेदनिर्णयम् उक्त्वा अनुप्रवेशश्रुतीनां निर्णयम् आह—

लेखः

उदरमित्यत्र आरुणय इति. अरुणसदृशत्वात् तत्पुत्रा इवेत्यर्थः. **केचिदिति** अभियुक्ता इत्यर्थः. अतोऽयं पक्षः स्वसम्मत इत्याशयेन दृढीकुर्वन्ति **दहरशब्द** इति ॥१८॥

श्रुतिगीतार्थः

"स्वकृतविचित्रे"त्यनेन तेजःप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — विरजबुद्धीनां त्यक्तव्यवहाराणां सर्वत्र स्थितो भगवान् अग्निवद् एकरसत्वात् समानप्रीतिदायक इति. पद्यं ६ तत्त्वं ६

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥१९॥

(सूक्ष्म.) **स्वकृतविचित्रयोनिषु** इति, स्वेनैव कृतासु देवमनुष्यादि-शरीरानुरूप-विचित्रयोनिषु **हेतुतया** कारणरूपतया तत्र स्थितः त्वं **विशन्निव** प्रवेशं कुर्वन्निव **तरतमतः** देवतिर्यङ्मनुष्यादिभावेन राजादिभावेन च **चकास्सि** दीप्यसे. अत्र दृष्टान्तो **अनलो** अग्निः तद्वद्, यथा अग्निः सर्वत्र काष्ठेषु स्थितएव पुनः तत्र प्रविशन् वर्णभेदं दीर्घवक्रादिकं च तनुते तथा भगवानपि **स्वकृतानुकृतिः** स्वकृतम् अनुकरोति. **अथ वितथासु** मिथ्याभूतासु **अमूषु** योनिषु **तव अवितथं** सत्यं **धाम विरजधियो अन्वयन्ति** जानन्ति इति अर्थः. कथम्भूतं धाम? **समम् एकरसं** च. कथम्भूताः विरजधियः? **अभिविपण्यवः, अभितः** सर्वत इह लोके परलोके च **विशेषेण गताः पण्यवो** व्यवहारा येषां ते ॥१९॥

(सुबो.) **स्वकृतविचित्रयोनिषु** इति. "तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्" (तैत्ति.उप. २।६) "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" (बृहदा.उप. १।४।७) इत्यादिश्रुतिषु प्रवेशः श्रूयते. "गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनाद्" (ब्रह्मसूत्र - १।२।११) इति न्यायेनापि निर्णीतः. सच प्रवेशः सर्वथा बहिःस्थितस्य आहोस्विद् अन्तरेव स्थितस्य– प्रकाशे लोकाः तत्र पश्यन्तीति लोकप्रतीतिम् आश्रित्य प्रवेशो अनूद्यत– इति भवति विचारः. तत्र बहिःस्थितस्यैव प्रवेशे आत्मसृष्टिविरोधः अद्वैतविरोधः च, 'निरवयवत्व'शब्दकोपः च. प्रवेशेऽपि उभयोः प्रवेशो न्यायेन निरूपितः. क्वचित् प्रविष्टस्य जीवब्रह्मभावः. पूर्वन्तु भेदे कारणाभावात्. अतो द्वयं निर्णेतव्यम्— किं बहिःस्थितः प्रविशति, उभौ वा प्रविशतः? इत्येतद् अत्र क्रमेण श्लोकद्वयेन निर्णयं करिष्यति.

लेखः

स्वकृतेत्यत्र क्वचिदिति. उक्ते प्रवेशपक्ष एव पक्षद्वयमिदम्. प्रवेशानन्तरं तथाभावे हेतुमाहुः **पूर्वं त्विति. उभौ वेति** तुल्यतयेति शेषः. यथा भगवान् तत्तत्समः प्रविशति तथैव जीवः प्रविशति उताणुरित्यर्थः. एतेन

स्वेनैव कृतेषु विचित्रयोनिषु भगवान् **हेतुतया** तत्र स्थितएव **विशन्निव चकास्ति**. अनेन दृष्टानुवादिका प्रवेशश्रुतिः इति निरूपितम्. कार्ये कारणस्य अनुप्रवेशः पृथग् वर्तते इति केचिद्, अन्यथा तत्र प्रतीतिः न स्याद् इति. अतः उभयसङ्ग्रहार्थं **इव** इति उक्तवान्. "परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयाद्" (भाग.पुरा. ३।२६।२९) इति भागवतेऽपि कारणस्य कार्ये प्रवेश उक्तः. अतो **हेतुतया** उपादानत्वेन स्थितोऽपि पुनः प्रविशति. एवं प्रवेशम् उक्त्वा "सत् च त्यत् च अभवद्" (तैत्ति.उप. २।६) इत्यादिभिः प्रविष्टस्य वैलक्षण्यश्रुतेः तस्यापि निर्णयम् आह **तरतमतः चकास्सि** इति, देवतिर्यङ्मनुष्यादिभावेन राजसादिभावेन च. ननु एकएव अन्तःप्रविष्टः कथं नाना भासते? तत्र आह **अनलवद्** इति. अनेन जीवकृतं वैलक्षण्यम् इति पक्षो निराकृतः, भगवाँस्तु अन्तर्यामी सर्वत्र एकविधएव, जीववैलक्षण्येन देवादिभेदइति. यथाग्निः सर्वत्र काष्ठेषु स्थितएव पुनः तत्र प्रविशन् वर्णभेदं स्थूलसूक्ष्मभेदं दीर्घवक्रादिकं च तनुते, नतु अन्येन तस्य वैलक्षण्यम् इति अर्थः. ननु दृष्टान्तमात्रम् उक्तं नतु उपपत्तिः इति चेत्, तत्र आह **स्वकृतानुकृतिः**

लेखः

जीवप्रवेशविचार उक्तः. **किं बहिःस्थितः प्रविशतीत्यनेन** पक्षद्वयविशिष्टः प्रवेशपक्षो अन्तःस्थितिपक्षश्चेत्येवं ब्रह्मप्रवेशविचार उक्त इति ज्ञेयम्. **एतदित्यव्ययम्. प्रतीतिर्न स्यादिति**, प्रविष्टत्वेन प्रतीतिरित्यर्थः. कारणानां जलादितन्मात्राणां रसादीनां पृथिव्यां प्रतीतिराधाराधेयभावेन "पृथिव्यां रसादिरि"ति अतस्तथेति भावः. **अनेनेति**, अनलदृष्टान्तकथनेनेत्यर्थः. तस्य यथा स्वयोनिदारुकृतमेव वैलक्षण्यं तथान्तर्यामिणोऽपि स्वाधिष्ठानभूत-देवादियोनिकृतमेव वैलक्षण्यं, नतु जीवकृतम्. तत्तद्देहे प्रविष्टोऽन्तर्यामी तत्तदनुरूपतयैव तत्तज्जीवं प्रेरयतीत्यर्थः. अन्यथा तस्यैव देहान्तर्गतौ तदनुरूपत्वं न स्यादिति भावः. निराक्रियमाणं पक्षं विशदयन्ति **भगवाँस्त्विति भेद इतीत्यन्तेन. देवादिषु भेदस्तत्तदनुरूपप्रेरणं जीववैलक्षण्येन** जीवानामेव तथातथाविधत्वेन तथातथा प्रेरणं सम्पद्यते, अन्तर्यामी त्वेकविध एवेत्यर्थः. देहकृतत्वकथने जीवानां समत्वेनान्तर्यामिण एव विशेषतो नानाविधप्रेरणकथनात् नानाविधत्वं स्यादिति भावः. **न त्वन्येनेति**, स्वयोनितोऽन्येनेत्यर्थः. **तव**

इति, सर्वत्र भगवान् स्वकृतम् अनुकरोति. यथा शिक्षकः शिष्यविद्याम् अनुकरोति एवं जगद्रूपेण भगवान् क्रीडितुं सर्वत्र अनुप्रविष्टः तत्तद्रूपो जातः इति उक्तम्. तथा सति ये दोषाः तान् वारयति **अथ** इति. **अमूषु वितथास्वपि अवितथं तव धाम.** पाञ्चभौतिकानां वितथत्वे स्वस्य च अवितथत्वे हेतुम् आह **समम्** इति. विषमाः पृथिव्यादयः; उत्तरोत्तरदशगुणत्वात् प्रवेशे तेषां न समता सम्भवति, कठिनविरलावयवत्वेन वैषम्यावश्यम्भावात्. आकाशस्यापि अनित्यत्वाद् वैषम्यमेव, परं सूक्ष्मत्वात् तद् आकलयितुं न शक्यते. भगवाँस्तु समएव सर्वत्र प्रविष्टः, "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (भग.गीता. ५।१९) इति. ज्ञानादितारतम्यन्तु जीवनिष्ठम् इति उत्तरश्लोके वक्ष्यते. सर्वसमत्वम् अत्र विवक्षितम्. यत्र प्रविशति तत्समो भूत्वा तत्र प्रविशति, "समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन" (बृहदा.उप. १।३।२२) इत्यादिश्रुतेः. भगवतः तुल्यांशप्रवेशेतु सर्वसमत्वं न उपपद्येत. ननु एवं सति कथं समता न प्रतीयते? – अन्यथा भगवत्कार्येष्वपि वैषम्यप्रतीतिः न स्यात्. भगवत्कार्याणि च "यो अन्तःप्रविश्य मम वाचम् इमां प्रसुप्ताम्" (भाग.पुरा. ४।९।६) इत्यादिना निरूपितानि. –तत्र आह **विरजधियो अन्वयन्ति** इति, ये **विरजधियो** रजोगुणरहिताः ब्रह्मदृष्टयः तएव तद्वैलक्षण्यं जानन्ति. यथा यो रत्नपरीक्षकः सएव कृत्रिमं सहजं

लेखः

धामेति, धाम तेजः स्वरूपमित्यर्थः. **भगवत** इति. नागे यावानंशः तावान् मशके इति न किन्तु नागे नागसमः मशके मशकसम इत्यर्थः. तत्तत्स्वभावगुणैः साम्यं तत्तत्समत्वेन प्रवेशे हेतुरित्याशयेन पृथिव्यादीनां विषमत्वमुक्तमिति ज्ञेयम्. **नन्विति,** समतायां सत्यां तत्प्रतीत्यभावः कथमित्यर्थः. तदभावं साधयन्ति **अन्यथेति.** भगवतः समताप्रतीतौ भगवत्कार्ये वैषम्यं न प्रतीयेत. तेनार्थापत्त्या समताऽभावः साधितः. उदाहरणमाहुः **भगवत्कार्याणि चेति.** अन्तःप्रवेशेन वाक्संजीवनं भगवत्कार्यम्. तत्तत्समत्वेनैव प्रवेशे तद्धेतुस्वभावगुणैरपि साम्यं स्यात्. तथाच प्रसुप्तवाचि पुरुषे प्रसुप्तवाक्येनैव प्रवेशः स्यान्न तु वाक्संजीवनमित्यर्थः. **तद्वैलक्षण्यमिति,** प्रवेशेऽपि क्वचित्तथैव स्थितिः क्वचिदधिककार्यकरणमिति वैलक्षण्यम्. तदनुभवगम्यमतो नात्र युक्तिर्वक्तव्येति

च जानाति. अनु भगवत्स्वरूपम् **अन्वयन्ति** जानन्ति इति अर्थः. ननु तेषामेव तदभिज्ञाने को हेतुः? तत्र आह **अभिविपण्यवः** इति. **अभितः** सर्वतः इहलोके परलोके च **विगतपणयुक्ताः** सर्वव्यवहारातीताः. योहि यदभ्यासं करोति स तं पश्यति, यथा व्यवहारनिपुणाः तोलनादिना दृष्ट्या वा पदार्थसमतां विषमतां वा जानन्ति. तथा ये व्यवहारं परित्यज्य सर्वथा ब्रह्मानुचिन्तकाः ते सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यन्ति, नतु विकारजातं; तच्च सममेव. ननु ब्रह्मैव पश्यन्तु नाम, सममेव पश्यन्ति इत्यत्र को हेतुः? ब्रह्म सममेव इति चेद्, एतदेव विचार्यते समं विषमं वा इति. तस्मात् समतायां हेतुः अतिरिक्तो वक्तव्यः इति चेत्, तत्र आह **एकरसम्** इति. रसस्तु अनुभवगम्यः. सर्वत्रैव च तेषां रतिः समा, अन्यथा अनुभवविरोधे दृष्टिः समा न स्यात्. लोके रसवैलक्षण्याभिज्ञाः विलक्षणरसेषु पदार्थेषु तुल्यरूपेष्वपि विषमदृष्टयएव भवन्ति, "ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने" (भाग.पुरा. ११।२९।१४) इतिवाक्ये समदृष्टेः निरूपितत्वात्. अतो भगवान् सर्वसमएव सर्वानुस्यूतः प्रविष्टइति जगद्रूपेण प्रविश्य क्रीडन्नपि निर्दुष्टः इति निरूपितम्.

सर्वत्र भगवाँस्तुल्यः सर्वदोषविवर्जितः ।
क्रीडार्थमनुकुर्वन् हि सर्वत्रैव विराजते ॥(१५)॥१९॥

एवं प्रवेशप्रसङ्गेन भगवतो दोषान् परिहृत्य द्वयोः प्रवेशस्य श्रुतत्वाद् द्वितीयस्य का वार्ता? इति शङ्कां वारयितुम् आह—

लेखः

भावः. एवमनुपपत्तिः परिहृता, **एकरसमित्यनेनोपपत्तिरुक्तेति** ज्ञेयम्. **पश्यन्तीत्यत्रेति**, ते **समं पश्यन्तीत्येवमस्माकमभिज्ञाने को हेतुरित्यर्थः**. "ब्राह्मणे पुल्कसे" (भाग.पुरा. ११।२९।१४) इतिवाक्यं तेषां समदृष्टौ प्रमाणत्वेन वक्ष्यन्तीति ज्ञेयम्. **विलक्षणरसेष्विति**, न्यूनाधिकरसेष्वित्यर्थः ॥१९॥

श्रुतिगीतार्थः

"स्वकृतपुरेष्वि"त्यनेन वायुतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः, ताः श्रुतयो वायुवद् जीवस्य विषमं प्रवेशं ज्ञापयित्वा तदर्थिनो जीवस्य भगवद्भजनं साधयन्तीति. पद्यं ७ तत्त्वं ७

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥२०॥

(सूक्ष्म.) **स्वकृतपुरेषु** इति, भवत्कृतेषु पुरेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरेषु **अखिलशक्तिधृतः तव पुरुषं** जीवम् **अंशकृतं** अंशेन कृतं त्वदंशं ये **वदन्ति**. कथम्भूतम्? **अबहिरन्तरसंवरणं**, न विद्यते बाह्याभ्यन्तरभेदेन **संवरणम्** आवरणं यस्य तम्. **इति नृगतिं विविच्य** एवम्प्रकारेण जीवगतिं ज्ञात्वा **कवयो** निपुणाः **भवतो अङ्घ्रिं** चरणम् **अभवं** जन्मादिनिवर्तकम् **उपासते**. कथम्भूतं? **निगमावपनं, निगमाः** वेदाः आसमन्ताद् **उप्यन्ते** अस्मिन् तम्. यथा सकलबीजानाम् **आवपनं** स्थानं क्षेत्रं तथा सकलवेदोक्तकर्मफलानां सफलत्वम् अत्रैव इति अर्थः. कथम्भूताः कवयः? **भुवि विश्वसिताः** भूमावेव भगवति विश्वासं कुर्वन्तः ॥२०॥

(सुबो.) **स्वकृतपुरेषु** इति, भगवत्कृतेष्वेव देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरेषु भगवदंशः **पुरुषो** जीवः **बहिरन्तःसंवरणरहितएव** तत्कृतगुणदोषरहितएव **अंशेन कृत** इति विषमो भवति. अयम् अर्थः— जीवो नाम भगवतः चिदंशो अत्यन्तं विरलात्मा. स सर्वेषु पुरेषु प्रविशन् अन्तर्बहिः चैतन्यगुणपूर्ण[1]एव तिष्ठति; तेन स्वभावतः सोऽपि अविषमएव. तथापि **अंशेन** विषमभावापन्नेन तिरोहितानन्देन **कृत** इति स्वानन्दापेक्षार्थं पुरेषु प्रवर्तते तत्रच सुखम् अप्राप्नुवन् विषमइव[2] भवति इति. इयानेव अर्थो अत्र निर्णीतो भगवति जीवे

लेखः

स्वकृतेत्यत्र विरलात्मेति, विरलः सर्वदेहव्यापिचैतन्यगुण **आत्मा** स्वरूपं यस्येत्यर्थः. **अबहिरन्तरसंवरणमित्यस्यार्थमाहुः चिदंशपूर्णा** इति, चिद्रूपा एवेति यावत्. देहनिष्ठगुणदोषसम्बन्धाभावाय **एवकारः. स्वभावत** इति, स्वचैतन्यगुणत इत्यर्थः. **अविषमो** देहसम एवेत्यर्थः. **विषम एवेति**, सुखार्थं देहापेक्षाया विद्यमानत्वात् स्वरूपतस्ततो न्यूनोऽणुरेवेत्यर्थः. **अंशेनेत्यभेदे**

१. चिदंशपूर्ण इति लेखकृतां, क-ख पाठः –सम्पा. २. एव इति लेखकृतां पाठः –सम्पा.

च वैलक्षण्यहेतुः — भगवांस्तु आनन्दपूर्णः कस्मादपि आनन्दं न वाञ्छति, जीवस्तु तिरोहितानन्द इति यतःकुतश्चिद् आनन्दम् अपेक्षते तेन विषमइव भवति इति. **अंशकृतपदेनच** अयम् अर्थः सूचितः. एवं जीववैलक्षण्यं ये (/न!) जानन्ति ते भगवन्तं भजन्ते नतु अन्ये इति आह **इति नृगतिं विविच्य** इति. आनन्दार्थमेव जीवस्य प्रवृत्तिः. आनन्दः च भगवत्येव अस्ति, न अन्यत्र, "को ह्येव अन्यात् कः प्राण्यात् यद् एष आकाश आनन्दो न स्याद्, एष ह्येव आनन्दयाति" (तैत्ति.उप. २।७।१) इतिश्रुतेः. यत्र जीवानामेव आनन्दः तिरोहितः तत्र जडानाम् आनन्दगन्धोऽपि नास्ति; परं मरुमरीचिकावद् अत्यन्तनिर्जलभूमौ यथा जलप्रतीतिः भ्रान्तानाम् एवं स्रक्चन्दनादिष्वपि आनन्दो अस्तीति भ्राम्यति लोकः. सर्वोहि स्वस्मिन् विद्यमानं प्रयच्छति, नतु अविद्यमानम्. अतः पण्डिता इमम् अर्थं ज्ञात्वा भगवतएव **अङ्घ्रिम् उपासते** आनन्दनिधिम्. ननु परमानन्दो भगवति भवतु नाम, स्वर्गाद्यानन्दस्तु अन्यत्रापि भविष्यति इति आशङ्क्य आह **निगमावपनम्** इति, **निगमाः आसमन्ताद् उप्यन्ते** अस्मिन् अङ्घ्रौ इति. "सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति" (कठोप. १।२।१५) इतिश्रुतेः वेदानां प्रतिपाद्यो भगवदङ्घ्रिरेव. सच फलसाधनरूपो, अतो यागाअपि चरणरूपाः स्वर्गोऽपि इति मुख्यः सिद्धान्तः, "अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृहदा.उप. ४।३।३२) इतिश्रुतेः. तथा सति "एषएव आनन्दयाति" (तैत्ति.उप. २।७।१) इति 'एव'कारोऽपि सङ्गच्छते. अतो वेदोक्त्यापि भगवच्चरणारविन्दाद् अन्यत्र न आनन्दः इति अर्थः. ननु अस्यापि उत्पत्त्यादिना विरुद्धधर्मसमवायाद् जीववद् आनन्दतिरोभावो भविष्यति

लेखः

तृतीया, अंशप्रकारेण कृतः अंशरूपः कृत इति यावत्. अयं तु देहात् सुखाकाङ्क्षी. देहसमत्वे तु देहे सर्वांशे अयं भृतः स्यात् नतु देहसुखमस्मिन्नागच्छेद्, अतस्ततो न्यूनोऽणुरेवेति भावः. **अखिलशक्तिधृत** इत्यस्यार्थमाहुः **भगवांस्त्विति** ॥२०॥

इति चेत्, तत्र आह **अभवम्** इति. कदाचिदपि[१] उत्पत्त्यादिरहितं प्रत्युत अन्येषामपि तन्निवर्तकम् इत्यर्थः. स्वर्गादौ सामग्रीदर्शनात् विशेषादर्शनात् च आनन्दशङ्कापि भवेद्, भुवि तु सम्भावनापि नास्ति इति आह **भुवि विश्वसिता** इति. तीर्थादिसम्भावनया वा शुद्धान्तःकरणाः सन्तः भूमौ भगवति विश्वासं कुर्वन्ति. अन्यत्र भोगाभिनिवेशाद् न विश्वासो जायते इति अर्थः.

गुप्तानन्दा यतो जीवा निरानन्दं जगद् यतः ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्माज्जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः ॥(१६)॥२०॥

एवं प्रवेशश्रुतिप्रसङ्गविचारेण जीवानां स्वरूपम् उक्त्वा तेषाम् आनन्दाकाङ्क्षायां भगवत्सेवैव कर्तव्या इति निश्चित्य तत्र असम्भावना-विपरीतभावनाव्युदासार्थं भगवत्यपि कदाचिद् आनन्दो न भवेद्? इति(१) को वा भगवान् यः पूर्णानन्दः? इति(२) च सन्देहद्वयं वारयितुम् आह—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धि-परिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥२१॥

(सूक्ष्म.) **दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय** इति, दुःखेनापि अवगतो ज्ञानं **गमो** यस्य स **आत्मा** केनापि ज्ञातुम् अशक्यः तस्य च **तत्त्वमपि** दुर्ज्ञेयं तस्य **निगमाय** ज्ञानाय **आत्ततनोः** स्वीकृतदेहस्य **तव** **चरित्ररूपो** यो **महामृतसमुद्रः** तत्र **परिवर्तो** बहुधा लोडनं तदर्थं **परिश्रमणाः** परितः श्रमो येषां ते. हे **ईश्वर**! एतादृशाः केचिद् विरला भक्ताः **अपवर्गमपि** मोक्षसुखमपि **न परिलषन्ति** न वाञ्छन्ति इति अर्थः. कथम्भूता भक्ताः? **ते** तव **चरणसरोजै**काश्रया ये **हंसाः** तेषां **कुलं** समूहः तत्सङ्गार्थं

श्रुतिगीतार्थः

"दुरवगमात्मे"त्यनेन जलतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— यथा मेघादिजलस्य सर्वानन्ददायकत्वम् एवं भगवच्चरितामृताब्धेरपीति. पद्यं ८ तत्त्वं ८

१. कदाचिद् इति मुद्रितेतरेषु. 'अपि' सम्भावनार्थकः सम्भाव्यते - सम्पा.

विसृष्टं गृहं यैः ते ॥२१॥

(सुबो.) **दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय** इति. भगवति आनन्दो अस्ति न वा? इति शङ्कापि न कर्तव्या. नापि को वा भगवान्? इति. नापि जीववज्जनने आनन्दतिरोभावः शङ्कनीयः. यतो अवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रश्रवणेऽपि तादृश आनन्दो जायते येन विचारकाः **अपवर्गमपि** परमानन्दप्रापकं **न परिलषन्ति** कदाचिदपि न वाञ्छन्ति. नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम, व्याघातात्. एतस्यापि अभिज्ञापकम् अन्यद् अस्ति इति आह **चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः** इति. गृहे हि महत् सुखं भवति, तत् सिद्धं विद्यमानं; तदपि परित्यजन्ति. यदि भगवति सहस्रांशेनापि आनन्दसन्देहो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत्! अतो भगवति आनन्दे कोऽपि सन्देहो न कर्तव्य इति अर्थः. अवतारोऽपि भगवतो ज्ञानार्थइति विपरीतार्थतां वदन् संव्यवहार्यस्यापि पूर्णानन्दत्वम् इति स्थापयति **दुरवगमो य आत्मा** केनापि ज्ञातुम् अशक्यः. यं चक्षुष्मान् न पश्यति तत्र उपायः कठिनः. यः स्वात्मानमेव न जानाति तं को वा बोधयेत्? तथापि न बुध्यते स्वात्मा. एवं सति कीदृशो अयम् आत्मा? इति भवति[१] सन्देहः; तस्य च **तत्त्वमपि** दुर्ज्ञेयं, किंरूपं तस्य परमार्थभूतम्

लेखः

दुरवगमेत्यत्र. "तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन्" इति पूर्वाध्याय (श्लो. २१) उक्तत्वात् तदात्मतत्त्वनिगमाय आत्ततनुत्वं कृष्णस्य इत्याशयेनाहुः **अवतीर्णस्य कृष्णस्येति. एतस्यापीति,** वाञ्छाभावस्य **अपिशब्दात्** सन्देहाभावस्येत्यर्थः. गृहत्यागः सन्देहाभावस्य अभिज्ञापकः, चरणसरोजहंसकुलसङ्गो अपवर्गवाञ्छाभावस्य अभिज्ञापक इति विभेदः. पूर्णानन्दो भगवान् कः, कृष्णोऽन्यो वा? इति सन्देहं निराकरोति **अवतारोपीति.** ज्ञानार्थम् अज्ञानकार्यसदृशग्रहणमिति वैपरीत्यं कथयन् **व्यवहार्यस्य** निरानन्दत्वेन प्रतीयमानस्य **पूर्णानन्दत्वं** महामृतचरित्रकरणमित्यपि वैपरीत्यं स्थापयन्तीत्यर्थः. **तथापीति,** यद्यपि **स्वात्मा तथापि न बुद्ध्यत**

१. भगवति इति क-ग-घपाठेषु - सम्पा.

इति. एतादृशस्य (**निगमं!**) ज्ञानं यदि लोके प्रसिद्धं स्यात् तदा एतावता कालेन सर्वे मुक्ताः स्युः! अत आत्मतत्त्वज्ञानार्थं लोकावगतं कारणं नास्तीति भगवान् आविर्भूतः. (**निगमं!**) नितरां **गमो** ज्ञानं, देहग्रहणम् अज्ञानकार्यं; भगवतः च इदम् अद्भुतचरित्रम्— अज्ञानकार्यसदृशं गृह्णन् प्रकटीकुर्वन् सर्वेषां ज्ञानं सम्पादयति इति. अतो अद्भुतकर्मणो भगवतः चरित्रमेव **महामृताब्धिः**. **महत्**त्वं लोकसिद्धसमुद्रापेक्षयाप्यधिकम् इति. अयं समुद्रः कथञ्चिच्छोषं पानं बन्धनम् उल्लङ्घनं वा प्राप्नोति, सतु न केनापि एतत् कर्तुं शक्यः इति. अब्धित्वन्तु उपपादितमेव, अमृतत्वं च. तत्र परिवर्तनं **परिवर्तः** बहुधा आलोडनं तदर्थं **परितः श्रमो** येषाम्. येषां तादृशचरित्रालोडने सामर्थ्यं भवति ते महारसपानमत्ताइव स्वयं प्राप्तं केनचिद् दीयमानं वा अपवर्गं न गृह्णन्ति इति किं वक्तव्यम्! बहुधा प्ररोचनायामपि तेषाम् इच्छापि न उत्पद्यते इति अर्थः. (**ईश्वर** इति!) सम्बोधनात् त्वया दीयमानमपि न गृह्णन्ति इति सूचितम्. ननु परमानन्दस्य उभयत्रापि तुल्यत्वात् कथासमुद्रे अवगाहनक्लेशाधिक्यात् किमिति अपवर्गं न वाञ्छन्ति इति चेत्, तत्र आह **ते चरण...** इति. यथा लोके एकाकी यथा रसानुभवं करोति इति तदपेक्षया सर्वैः योग्यैः सह रसानुभवः सुखाधिक्यहेतुः भवति एवं परमानन्दोऽपि. **ते चरणसरोजैकाश्रयाः** ये **हंसाः** तेषां **कुलं** समूहः **तेषां** सङ्गार्थं विसृष्टं **स्वगृहं** यैः, तैः सह परमानन्दो बहुधा भोक्तव्य इति. मोक्षापेक्षयापि भगवत्कथाश्रवणरसो अधिको निरूपितः.

लेखः

इत्यर्थः. **एवं सतीति**, अबोधे सतीत्यर्थः. **तदर्थं परित** इति. यैस्तदवगाहनार्थं साधनाश्रयः[1] कृतः, साधनश्रमेण यैश्चरितामृतावगाहनं फलत्वेन सम्पादितं, "दानव्रततपोहोम" (भाग.पुरा. १०।४४।२४) इतिवाक्याद् इति भावः. **परिलषन्तीत्युपसर्गस्य** अर्थमाहुः **बहुधेति**. **तैः सहेति** हंसैः सहेत्यर्थः. कारिकायाम् **नियामिकेति**, अभिज्ञापिकेत्यर्थः. भगवति परमानन्दाभावे तत्कथायां परमानन्दो न स्यादिति भावः ॥२१॥

---

१. साधनश्रमः इति पाठः मुद्रितेतरेषु सर्वेषु - सम्पा.

गृहस्य प्रतिबन्धकत्वाद् भगवत्सेवकानां च सम्मत्यभावात् त्यागः.

कृष्णे हरौ भगवति परमानन्दसागरः ।
वर्तते नात्र सन्देहः कथा तत्र नियामिका ॥(१७)॥२१॥

एवं जीवानां परमानन्देप्सूनां भगवानेव सेव्यः इति निरूप्य तत्सिद्ध्यर्थं तत्प्रतिबन्धकं विशेषतो निर्दिशति—

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवत्-
चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥२२॥

(सूक्ष्म.) **त्वदनुपथम्** इति. **कुलायः** पक्षिणां नीडं; तथा जीवस्य नीडं शरीरम्. इदं **कुलायं** नीडरूपं शरीरं **त्वदनुपथं** त्वदनुगुणसेवकरूपम् **आत्मवत् सुहृद्वत् प्रियवत् चरति** जीवस्य हितमेव करोति. **तथा उन्मुखे त्वयि** स्वसेवार्थं ब्राह्मणादिदेहदानेन सम्मुखे त्वयि सति अथ **च प्रिये आत्मनि** आत्मरूपे च **न रमन्ति असदुपासनया** क्षुद्रदेवतोपासनया इन्द्रियाणां वा उपासनया ये **यदनुशयाः** सन्तः = **यस्मिन्** असत्सङ्गे **अनुशयो** अन्तःकरणं येषां, ते **आत्महनः** आत्मघातिनः. **अहो** आश्चर्ये. **बत** इति खेदे. सकलेन्द्रियसामर्थ्ययुक्तं भगवद्-वैदिकधर्मौपयिकं सर्वानुगुणं शरीरं प्राप्य अथच सर्वात्मना **उन्मुखे त्वयि न रमन्ति** सेवाद्यासक्तिं न कुर्वन्ति ते **कुशरीरभृतः** कुशरीरं मोक्षानुपयोगि मुहुर्मुहुः जन्ममरणस्वभावरूपं भृत्वा वर्तमानाः **उरुभये** महद्भययुक्ते संसारे परि**भ्रमन्ति** इति अर्थः ॥२२॥

लेखः

त्वदनुपथमित्यत्र तत्प्रतिबन्धकमिति, असत्सङ्गमित्यर्थः. प्रतिबन्धक-ज्ञाने ततः सावधानो भवेदिति भावः. **स्वाभिलषितस्यैवेति**, असत्सङ्गस्येत्यर्थः.

श्रुतिगीतार्थः

"त्वदनुपथमि"त्यनेन भूततत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— भूकार्यभूतानि शरीराणि भगवद्भजने अनुगुणत्वात् न बाधकानि किन्तु तदभिमानः, तदभिमानवतां दुष्टानां सङ्गः, तन्निष्ठानि दुष्टानि इन्द्रियाणि चेति. पद्यं ९ तत्त्वं ९

(सुबो.) **त्वदनुपथम्** इति. स्वाभिलषितस्यैव प्रतिबन्धकत्वं, न अन्येषाम् इति वक्तुम् अन्येषां प्रतिबन्धकतां निराकरोति. तत्र प्रथमं शरीरप्रतिबन्धकता निराक्रियते. शरीरं हि सर्वदोषदुष्टम् असमर्थम् आलस्ययुक्तं च अतो भगवद्भजने इदं प्रतिबन्धकं भविष्यतीति शङ्का निराक्रियते. **तव अनुपथम्** अनुगुणं = सेवकरूपं सर्वेन्द्रिययुक्तं बलविवेकादियुक्तं च. इन्द्रियवत्त्वमेव अधिकारिविशेषणमिति तादृशे चेद् अहन्ता ममता दृढा वा स्यात् तदा[१] भगवदर्थं व्यापृतं न कुर्यादिति तदर्थम् आह **कुलायम्** इति. **कुलायः** पक्षिणां नीडं; पक्षयोः समागतयोः तत्र ते न तिष्ठन्ति. शरीरं पुत्रादिभ्यः च भिन्नम्. तथा यैः स्वशरीरं ज्ञातम् अस्ति केवलम् इदं गृहरूपम्. तत्रापि अविवेकिनामेव हितकारीन्द्रियादिभ्योऽपि भिन्नं; विवेके जाते सर्वदा त्यक्तव्यमिति यैः अवगतम्. तत्रापि स्त्रीदेहः चेत्, सेवकदेहो वा, भिन्नस्वभावेन द्वेषिदेहो वा भवेत्, तदा कार्यं न सिद्ध्यति इति आह **आत्मसुहृत्प्रियवत् चरति** इति. आत्मवत् सुहृद्वत् प्रियवत् च इति. **आत्मा** स्वाधीनो भवति. तेन अस्य स्त्रीदेहवत् सेवकदेहवद् वा न भवतीति निरूपितम्; तत्तु पराधीनम्. तथापि धर्मकार्ये चेद् असहिष्णुः न क्षमं भवेत् तथापि कार्यं न सेत्स्यति, तदर्थम् आह **सुहृद्वत्** मित्रवत्. मित्रं हि स्वस्य हितमेव करोति. तथा इदमपि धर्मकार्यादिसमर्थम्. किञ्च **प्रियो** यथा स्नेहविषयो भवति एवं स्नेहपात्रं, नतु महापातकयुक्तमिव द्विष्टं चण्डालादिदेहवद् मनःपीडाजनकम्. एवं देहस्य प्रतिबन्धकता निवारिता. कदाचिद् भजनीयो भगवान् प्रतिबन्धं कुर्यात् तदा का गतिः ? इति चेत्, तत्र आह **तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च** इति. भगवानपि ब्राह्मणादिदेहम् उत्पाद्य स्वसेवार्थं "कदा मत्सेवां करिष्यति" इति उन्मुखो अस्ति. किञ्च हितकारी;

लेखः

तत्रापि स्त्रीदेहश्चेदिति. स्त्रियाः सेवकस्य च देहो भर्त्रधीनोऽपि भर्तुरात्मरूपो न भवतीत्यर्थः. **भिन्नेति.** समानस्वभावेन सुहृद्, अयं **भिन्नस्वभावेन** धर्मकार्यविमुखो **भवेदित्यर्थः. द्वेषीति,** अशुचित्त्वेनात्मनो **द्वेषिदेहो भवेदित्यर्थः.**

१. तया इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

यदा तस्य देहस्य विघातकं किञ्चिद् आपतति प्रमादात् तदा पालयति —**सुहृत्कृत्यम्** एतत्. तथा भगवान् **प्रियः** प्रीतिविषयः; नहि प्रियकार्यं कुर्वन् कश्चित् खिन्नो भवति. **आत्मा** च अस्य देहस्य, सर्वेषाम् आत्मा आवश्यकइति. एवं साधने सेव्ये च अनुगुणे यो न सेवते तत्र हेतुः **असदुपासनया** इति, असताम् उपासनया = दुष्टसङ्गाद् न भजति इति अर्थः. **उपासना**पदेन च बाह्यदेवताः परिगृहीताः, तेषामपि सकृदपि सङ्गे भगवद्भजनं नश्यति इति ज्ञापितम्. ननु [१]असत्सङ्गं सर्वपुरुषार्थनाशकं किमिति कुर्वन्ति इति आशङ्क्य आह **आत्महन** इति. ते पूर्वकृतपापाद् आत्महनो जाताः यद्वशाद् असत्सङ्गः तेषां जातः इति. **असताम्** इन्द्रियाणां वा **उपासना**. ततः किम् अतः आह **यदनुशयाः** यस्मिन् असत्सङ्गे अनुशययुक्ताः **उरुभये संसारे कुशरीरं** प्राप्य अनेकजन्मसु **परिभ्रमन्ति**, नतु कदाचिदपि सुखलेशं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः.

असत्सङ्गो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः ।
देहे ह्यनुगुणे कृष्णे नेन्द्रियाणां प्रियं चरेत् ॥(१८)॥२२॥

एवं भगवद्भजनमेव जीवानाम् अवश्यकर्तव्यम् इति निरूपितम्. तत्र केन प्रकारेण भगवान् भजनीयः? इति विशेषजिज्ञासायां निर्णयार्थम् आह—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोग-भुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२३॥

लेखः

पराधीनमिति, भार्याजीवाधीनमित्यर्थः. **अनुशययुक्ता** इति, स्थितियुक्ताः तन्निष्ठा इत्यर्थः ॥२२॥

श्रुतिगीतार्थः

"निभृतमरुन्मनोक्षे"त्यनेन मनस्तत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— भगवच्चरणे प्रविष्टं दृढं मन एव भगवत्प्रीतिसाधनं, नतु प्रकारविशेषः प्रयोजक इति. पद्यं १० तत्त्वं १०

---

१. तत्संगम् इति क-ग-घ-संपाठेषु - सम्पा.

(सूक्ष्म.) **निभृत...**इति. **मुनयो यद्** भगवत्स्वरूपं **हृदि** मानसपूजादिना **उपासते तदेव** भगवत्स्वरूपं **तदरयोपि** शिशुपालादयोऽपि **स्मरणाद् ययुः**. कथम्भूताः मुनयः? **निभृतमरुन्मनोक्षदृढयोगयुजः**. नितरां भृतो **मरुद्** वायुः **मनो अक्षाणि** इन्द्रियाणि च, तैः कृत्वा ये **दृढं योगं युञ्जते**. अथच **स्त्रियो** गोप्योऽपि **तदेव** भगवत्स्वरूपं **ययुः**. कथम्भूताः स्त्रियः? **उरगेन्द्रभोग-भुजदण्डविषक्तधियः**. **उरगेन्द्रस्य भोगः** कायइव यो बाहुदण्डः तत्र **विषक्ता धीः** यासां तादृश्यः. **वयं** च श्रुतयः सर्वादरणीयाः तदेव प्राप्ताः. एवं स्त्रियः पुरुषाः च सर्वएव **ते** तव **समाः**. यतो भवान् **समदृक्** सर्वानिव स्वकीयान् समत्वेन मन्यते. कथम्भूताः सर्वे? **अङ्घ्रिसरोजसुधाः**. अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धारयन्ति इति तथा ॥२३॥

(सुबो.) **निभृतमरुन्मनोक्षदृढयोगयुज** इति. "तस्मात् केनापि उपायेन मनः कृष्णे निवेशयेद्" (भाग.पुरा. ७।१।३१) इति भगवच्चरणपरतैव प्रयोजिका, नतु प्रकारविशेषः प्रयोजकः इति वक्तुं– मर्यादामार्गेण(१), निषिद्धमार्गेण(२), पुष्टिमार्गेण(३), प्रवर्तकमार्गेण(४) वा ये भगवदुपासकाः ते सर्वे भगवद्विचारेण समाएव, साधारणधर्मस्य प्रयोजकस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात् –तत्र विहितमर्यादामार्गेण ये सेवन्ते तान् प्रथमतो निर्दिशति. **नितरां भृतः मरुद्** वायुः **मनो अक्षाणि** च —प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं च उक्तम्. एवं त्रिभिः कृत्वा ये **दृढयोगयुजो** योगेन निरन्तरं भगवच्चिन्तकाः **हृदि** भगवन्तं मानसपूजादिना **उपासते** भगवति दृढं मनः स्थापयन्ति. तदेव भगवत्स्वरूपं **तदरयोऽपि स्मरणाद् ययुः**. सर्वात्मना यत्रैव मनो निविशते तदेव प्राप्नुवन्तीति विहितानां निषिद्धानां च तुल्यैव गतिः उक्ताः. अनेन भगवति प्रमेयबलमेव मुख्यं, न प्रमाणबलम् इत्यपि सूचितम्. उभयेषाम् एषाम् अन्तर्मुखता वर्तत इति बहिर्मुखानपि आह **स्त्रिय** इति. **उरगेन्द्रस्य** शेषस्य **भोग इव** कायइव यौ बाहू तत्र च **विषक्ता धीः** यासां तादृश्यो गोप्यः अतिबहिर्मुखाः. **वयं** च श्रुतयो अन्तर्मुखाः सर्वादरणीयाः. एवं पुरुषाः स्त्रियः च सर्वे एव **ते समाः**. यतो भगवान् **समदृक्**

लेखः

निभृतेत्यत्र **साधारणधर्मस्येति**, अङ्घ्रिसरोजसुधात्वस्येत्यर्थः.

सर्वानेव स्वकीयान् समत्वेन मन्यते. साधारणं तेषां धर्मम् आह— **अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धारयन्ति** इति. मुनीनां चरणधारणं स्पष्टम्. द्वेषिणान्तु "मारणार्थं समायाती"ति भावनायां[१] चरणदर्शनमेव दृढं भवति, समागमनमेव तेषां भावनीयमिति. गोपिकानामपि तथा अभिसारप्रेप्सूनाम्. वयं च श्रुतयः, "सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति" (कठोप. १।२।१५) इति.

सर्वएव हरेर्भक्तास् तुल्या यान् मन्यते हरिः ।
अतः कृष्णो यथात्मीयान् मन्यते भजनं तथा ॥(१९)॥२३॥

एवं भक्तानां तुल्यता निरूपिता. तत्र शास्त्रविरोधम् आशङ्क्य परिहरति—

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगाद् ऋषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन् न चासद् उभयं नच कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यर्हि (/ यदा!) ॥२४॥

(सूक्ष्म.) **क इह** इति. इह संसारे, **बत** इति खेदे, **अग्रसरं** सर्वप्राणिनां पूर्वमेव सिद्धं त्वां, **नु** इति वितर्के, **अवरजन्मलयः** पश्चाद् जन्मलयौ यस्य तादृशः **को वेद** जानाति? न कोपि इति अर्थः. **यतः** सकाशाद् **ऋषिः** ब्रह्मा **उदगाद्** उत्पन्नो जातः इति अर्थः. **यम् अनु** ब्रह्माणम् अनु = पश्चाद् **उभये** देवगणा उत्पन्नाः. **(यदा!) यर्हि** भगवान् सर्वम् **अवकृष्य शयीत** शयनं करोति **तर्हि न सत्** कार्यं **नच असत्** कारणं **नच उभयं** मनः **कालजवः** कालवेगोऽपि **न. नवा तत्र** तस्मिन् समये **किमपि शास्त्रं** वेदपुराणादि ॥२४॥

लेखः

धारयन्तीति. इदं धाञोऽर्थकथनं, विग्रहस्तु सुष्ठु दधतीति ज्ञेयः ॥२३॥

श्रुतिगीतार्थः

"क इह न्वि"त्यनेन चक्षुस्तत्त्वप्रतिपादकश्रुतीनां निर्णयः — भगवद्भजनेन भगवदावेशसहितान्येव चक्षूंषि भगवद्दर्शनसाधनानि, न केवलानीति. पद्यं ११ तत्त्वं ११

---

१. भावनया इति पाठः मुद्रितेतरेषु - सम्पा.

(सुबो.) **क इह नु वेद** इति. ननु "ज्ञानी प्रियतमो अतो मे ज्ञानेन असौ बिभर्ति माम्" (भाग.पुरा. ११।१९।३), "चतुर्विधाः भजन्ते माम्" (भग.गीता ७।१६) इति उपक्रम्य "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिः विशिष्यते" (भग.गीता ७।१७) इति ज्ञानिनः प्रशंसाश्रवणाद् मुनीनां स्त्रीणां द्विष्टानां श्रुतीनां च कथं तुल्यता इति चेत्, तत्र आह **क इह नु वेद** इति. इयं ज्ञानप्रशंसा यो "जानामि" इति मन्यते तद्बुद्धिम् आश्रित्य निरूपिता, नतु परमार्थतः कश्चिद् जानाति. तत्र हेतुः **इह** अस्मिन् संसारे को वा भगवन्तं जानाति! यतो वयमपि न जानीमो, अतएव श्रुतिः "यस्य अमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः" (केनोप. ११) इति. ननु कथम् अज्ञानं, प्रमाणस्य विद्यमानत्वाद्? इति आशङ्क्य आह **अग्रसरं** सर्वप्रमाणात् पूर्वमेव सिद्धम्. ज्ञाता च **अवरजन्मलयो** मध्यएव उत्पद्य गतः– भगवान् प्रथमतएव सृष्टिम् उत्पाद्य तिरोहितो जातो मध्ये सृष्टौ जीवा उत्पन्नाः श्रान्ताः च –पश्चात् प्रलयार्थं समायास्यति. यदि वा अयं प्रथमतएव स्थितः स्यात्, प्रलयपर्यन्तं वा तिष्ठेत्, तदा सृष्टेः व्यवधायकत्वाभावाद् भगवन्तं जानीयात् "न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव" (तैत्ति.संहि. ४।६।२२) इति श्रुतेः. अतः सृष्टेः व्यवधायकत्वाद् न कश्चित् सृष्टौ उत्पन्नो भगवन्तं ज्ञातुं शक्तः. **यत उदगाद्** इति, **यतः** त्वत्तः **ऋषिः** ब्रह्मा उत्पन्नः, तं ब्रह्माणम् **अनु उभये** आध्यात्मिकाः आधिदैविकाः **देवगणाः** उत्पन्नाः.

लेखः

क इह नु इत्यत्र **कथं तुल्यते**ति. अशेषविशेषज्ञानं न कस्यापि, यत्किञ्चिज्ज्ञानं तु मुन्यादिचतुर्णामपि अतस्तुल्यतेति समाधानं भविष्यतीति ज्ञेयम्. **प्रथमत एवे**ति, सृष्टिमुत्पाद्य सृष्टानां प्रमाणसम्बन्धात् प्रथमत इत्यर्थः. **उत्पन्ना** इति, देहसम्बन्धेन प्रमाणसम्बद्धा इत्यर्थः. **श्रान्ता** इति, प्रमाणवियुक्ता इत्यर्थः. **पश्चादि**ति, प्रमाणवियोगानन्तरं तेषां स्वस्मिन् **प्रकर्षेण लयार्थं समायास्यति** आविर्भविष्यतीत्यर्थः. पूर्वार्धार्थमाहुः **यदि वे**ति. **स्थितः स्याद्** देहसम्बन्धेन प्रमाणसम्बद्धः स्यादित्यर्थः. ब्रह्मणोऽप्युत्पादकत्वात् सर्वाग्रसरोऽत अवरजन्मा न जानातीत्यर्थः. उत्तरार्धार्थमाहुः **प्रलये**ति. तर्हि **न सन्नि**त्यनेन

ननु प्रलयानन्तरं व्यवधायकत्वाभावात् कथं न ज्ञायते? इति चेत्, तत्र आह **तर्हि न सद् नच असद्** इति. (यदा!) **यर्हि** भगवान् सर्वमेव **अवकृष्य शयीत** तर्हि ज्ञानसामग्री कापि नास्ति. प्रथमतो **न सत्** सन् वा ज्ञाता, **न असद्** ज्ञापकम् इन्द्रियादि, कार्यं वा हेतुभूतम्. **नापि उभयम्** इन्द्रियसंनिकर्षो व्यापारो वा. "उभौ यातीति उभयं" सदसदात्मकं मनो वा. "न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीम्" (तैत्ति.ब्रा. २।८।९।३) इति मन्त्रव्याख्याने उभयात्मकं मनो निरूपितम्. तथैव अग्निरहस्ये उभयात्मकं मनो निरूपितम्. केचिद् उभयात्मकं जगद् इति आहुः. "मनसैव अनुद्रष्टव्यम्" (बृहदा.उप. ४।४।१९) इति प्रयोजकस्य मनसो निषेधः. **कालवेगो**ऽपि मात्रास्वरादिनियामकः सत्त्वगुणप्रेरको वा (**न!**), यो ज्ञानम् उत्पादयति. न वा **किमपि शास्त्रं** वेदपुराणादि यतः सर्वम् **अवकृष्य** शयनं करोति. अतो ज्ञानसामग्र्याः सर्वस्याएव अभावात् कस्यापि न अपरोक्षं भगवज्ज्ञानम् इति अर्थः. कदाचिद् भगवत्साक्षात्कारस्तु तावन्मात्रज्ञापको; न अशेषविशेषं बोधयति. अवतारेतु मर्यादावादी आनन्दमयं

लेखः

प्रलयानन्तरं ज्ञात्रभावकथनेनापि[१] प्रलयान्न जानातीत्यर्थः. **व्यवधायकत्वाभावाद्** इति. सृष्टिस्तु ब्रह्मरूपा कारणरूपेण तिष्ठत्येव किन्तु तस्या व्यवधायकत्वं नास्तीत्यर्थः. **अत** इति, सृष्ट्युत्पत्त्या भगवत्तिरोभावात् **सृष्टेर्व्यवधायकत्वं** तिरोधायकत्वमित्यर्थः. **प्रलयपर्यन्तमि**त्यनेनोक्तमेवार्थं विशदयन्ति **ननु प्रलयानन्तरमि**ति. **मात्रास्वरादी**ति, एतेषां मूलकालत्वेनाभिज्ञानकथनादिति भावः. **यो ज्ञानमि**ति, सत्त्वस्यैव ज्ञानजनकत्वमिति निबन्धे व्युत्पादितम्. ननु तर्हि "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्" (कठोप. २।१।१) इति कथमित्यत आहुः **कदाचिदि**ति. अशेषविशेषज्ञानं न भवतीत्यर्थः. **आनन्दमयमि**ति, सत्त्वरूपं **देहं** पुरुषोत्तमावेशा**दानन्दमयं मन्यते**. तथा च सत्त्वस्यैव प्रमाणावेद्यत्वं जातं, न भगवत इति भावः. निरावृत्तप्राकट्यं तु पुष्ट्या भवतीति **मर्यादावादी**त्युक्तम्. **आत्मे**ति, जीवसाक्षात्कारे इत्यर्थः. ननु शास्त्रमालोड्य

१. कथनेन अवरलयत्वाद् इति मुद्रितेतरेषु सर्वेष्वपि - सम्पा.

देहं मन्यते. आत्मसाक्षात्कारे तु न भगवद्वैभवपरिज्ञानं; योगजधर्मजनितत्वात् च स्वप्नवद् न तस्य वस्तुनियामकत्वम्. प्रमाणसंवादस्तु[1] नानाविधानुभवाद् न निर्विचिकित्सं ज्ञानम् उपपादयति. तस्मात् सृष्टिदशायां प्रलयदशायां वा सर्वथा ज्ञानसामग्र्यभावाद् न कोऽपि ज्ञाता. प्रशंसातु प्रवर्तिका; यथाकथञ्चित् चित्तशुद्ध्यर्थं प्रवर्तयति. ततः शुद्धो भगवद्भजनं कुर्याद् इति भावः.

ज्ञानमार्गो भ्रान्तिमूलस्ततः कृष्णं भजेद् बुधः ।
प्रवर्तकं ज्ञानकाण्डं चित्तशुद्ध्यै यतो भवेत् ॥(२०)॥२४॥

एवं ज्ञानकाण्डस्यापि भगवद्भजनपरत्वं निरूप्य ये अन्ये वादिनः भगवद्भजनं न सहन्ते अन्यथा च शास्त्रं वदन्ति तान् निषेधति **जनिम् असतः** इति द्वाभ्याम्. ते प्रतिकूलाः द्विविधाः — अर्धवैनाशिकाः सर्ववैनाशिकाः च. तत्र प्रथमम् अर्धवैनाशिकान् निराकरोति. ते चत्वारो वादिनो — (१)नैयायिकाः, (२)वैशेषिकाः, (३)मीमांसकाः, (४)साङ्ख्यैकदेशिनः (५,६)च इति. तन्मतं हसन्त्यइव श्रुतयो निरूपयन्ति.

लेखः

निर्द्धारः कर्तव्य इत्यत आहुः **प्रमाणेति. प्रमाणस्य संवादः** कथनमित्यर्थः. **तस्मादिति,** सृष्टेर्व्यवधायकत्वादित्यर्थः. कारिकायां **भ्रान्तिमूलेति.** "वयं सर्वथा भगवन्तं ज्ञास्याम" इतिबुद्ध्या प्रवृत्तिरतो भ्रान्तिरूपं[2] तादृशं ज्ञानं मूलं यस्यैतादृशो ज्ञानस्य मार्गस्तत्प्रापक आत्मानुचिन्तनादित्यर्थः ॥२४॥

श्रुतिगीतार्थः

"जनिमसत" इत्यनेन श्रोत्रतत्त्वप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — ज्ञानैकघनपरब्रह्मप्रोक्ताद् वेदाद् भिन्नानि मतानि श्रावयित्वा जीवं भगवद्विमुखमपि करोति अतः सावधानतया स्थेयमिति.
पद्यं १२ तत्त्वं १२

---

१. अयं प्रमाणसंवादो न अनधिगताबाधितार्थविषयकत्वरूपो नापि फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वरूपः किन्तु निश्चयाकारको यथार्थानुभवरूपः, यथा सुबोधिन्यां (३।२६।३०) निरूपितम् - सम्पा.

२. भ्रान्तिः इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥२५॥

(सूक्ष्म.) **जनिम् असतः** इति. नैयायिकाः **असतो** घटादेः **जनिम्** उत्पत्तिं, वैशेषिकादयस्तु **सतः** आत्मनो **मृतिं** मरणं च आहुः. तथा मीमांसकादयः **आत्मनि भिदां** जीवानां भेदम् अङ्गीकुर्वन्ति. अन्ये पुनः साङ्ख्यैकदेशिनो योगिनः च **विपणम् ऋतं** कर्मफलं सत्यं मन्यन्ते. **ते** सर्वे **आरुपितैः** आरोपितैः भ्रमैः कृत्वा **स्मरन्ति** निरूपयन्ति अथच शिष्येभ्यः **उपदिशन्ति. त्रिगुणमयः पुमान् इति भिदा** भेदो **यत्** यस्माद् **अबोधकृता** अज्ञानकृता भगवत्स्वरूपाज्ञानादेव जायते. तदेव आह **ततः परत्र** इति, त्रिगुणरूपात् परे **त्वयि अवबोधरसे** ज्ञानैकघने **स न भवेद्** अबोधो न भवेत् ॥२५॥

(सुबो.) तत्र [१]नैयायिकाः **असतएव** घटादेः **जनिं** वदन्ति, असन्नेव पश्चाद् जननेन सद् भवति इति. एतद् असङ्गतं, सत्तायाः सम्बन्धस्य च नित्यत्वे कथं घटस्य असत्त्वं स्यात्, सत्त्वासत्त्वयोः विरोधात्? नापि असत्त्वस्य जातित्वं तत्समवायो वा अङ्गीक्रियते येन कालव्यवस्थया घटः उभयं प्राप्नुयात्. अतः केवलम् अदर्शनमात्रेण असत्त्वं वदन्तो भ्रान्ताएव नैयायिकाः. एवं सति भक्तिमार्गो विरुध्यते– भगवत्कृपादीनां नित्यत्वे भजनेन कृपा न स्यात्, इच्छादीनामपि नित्यत्वाद् इच्छया अवतारो न स्यात्, परमानन्दस्य च सुखत्वेन अनित्यत्वात् पूर्णानन्दो भगवान् न स्याद् –अतः इदं मतं निराक्रियते.

लेखः

जनिमसत इत्यत्र. **केवलमिति**, आविर्भावतिरोभावास्वीकारेणेत्यर्थः. एतन्मतनिराकरणस्य आवश्यकत्वमाहुः **एवं सतीति**, शक्तिद्वयास्वीकारे सतीत्यर्थः. विरोधं विशदयन्ति **भगवत्कृपादीनामिति**. भगवद्धर्माणां नित्यत्वमनित्यत्वं वा. नित्यत्वपक्षे कृपाया नित्यसिद्धत्वाद् भजनेन सा न स्यात्. तथा सति भजनं निःप्रयोजनकं स्यात्, कृपायाः स्वतःसिद्धत्वात्.

(२) वैशेषिकादयस्तु **सतो मृतिम्** आहुः. सङ्घातः सन्नेव पश्चाद् म्रियते. तथा सति तस्य अग्रे परलोकचिन्ता न कर्तव्या, सङ्घातस्यैव 'देवदत्त'शब्दवाच्यत्वात्. बाह्यानां मुख्यो अयं सिद्धान्तः. भोगव्यवस्थातु— तादृशान्येव तानि भूतानि स्वभावादेव भवन्ति. एतत्पक्षेतु ज्ञानभक्त्यादिमार्गाः सर्वएव तिलापःकृताः अतः एतद् निराकर्तव्यम्. सङ्घाताद् इन्द्रियवर्गसहितः आत्मा उत्क्रामति, "उत्क्रामन्तं स्थितं वापि" (भग.गीता १५।१०) इति वाक्यात्. ब्रह्मविदाम् अनुभवो अस्त्येव. जातिस्मराणामपि लोके सम्भवाद्, अन्यथा तेषामपि अहिंसादिविधिः व्यर्थः स्याद्. ज्योतिःशास्त्रप्रामाण्यात् च संवादित्वेनापि तन्मतं व्यर्थं स्यात्. "अनन्तं नाम" (.   । ।) इति श्रुतेः अर्थाश्रयत्वश्रवणात् च नित्यसिद्धो अर्थो देवतारूपो वा आधिदैविको

लेखः

इच्छाया अपि नित्यत्वात् सर्वदैवावतारः स्यात्. तथा सत्यवतारार्थं भक्तानां प्रार्थना न स्यात्. अनित्यत्वपक्षे तु परमानन्दस्यापि सुखत्वेन धर्मरूपत्वेन भगवतः पूर्णानन्दत्वं न स्यात् किन्तु कालपरिच्छिन्न आनन्दः स्यात्. अत इदं मतं निराकर्तव्यम्. आविर्भाव-तिरोभावौ स्वीकर्तव्यौ. तथा सति कृपाया नित्यत्वेऽपि सा भजनेनाविर्भवति, अतो भजनं कर्तव्यम्. इच्छाया नित्यत्वेऽपि सा भक्तानां प्रार्थनयाऽऽविर्भवति तदा भगवानवतीर्णो भवति, अतः प्रार्थना कर्तव्या. परमानन्दो धर्मरूपोऽपि नित्य एवातः पूर्णानन्दो भगवान्. तथा च शक्तिद्वयस्वीकारे जगतोऽप्याविर्भावतिरोभावौ स्वीकर्तव्यौ, न त्वसतो जननं स्वीकर्तव्यं, बहुदोषग्रस्तत्वादिति भावः. **सङ्घातादिति**, स्थूलदेहादित्यर्थः. वैशेषिकनिराकरणे **अन्यथेति**, परलोकाभावे इत्यर्थः. **ज्योतिःशास्त्रेति**. तत्रैतादृशेषु ग्रहेषु एतादृशे लोके गच्छतीति फलस्योक्तत्वादित्यर्थः. **संवादित्वेनापीति**. अङ्गत्वेन ज्योतिःशास्त्रस्य प्रामाण्यं सिद्धमेवास्ति परन्तु बाह्यानां तन्नादर्तव्यं भवति इति **संवादित्वेन** दृग्गणितेनैक्येन **अपि** हेतुना प्रमाणत्वेन स्वीकृतं ज्योतिःशास्त्रमतं तदुक्तार्थानङ्गीकारे **व्यर्थं स्यादि**त्यर्थः. **श्रवणाच्चेति**. "नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे" (.   । ।) इत्यादिषु नाम्नोऽर्थाश्रयत्वं श्रूयतेऽतः पूर्वोक्तश्रुते च **नित्यो** योऽर्थसङ्घाताभिमानिदेवतारूप **आधिदैविकः** सूक्ष्मसङ्घातो वा स तद्वाच्य इत्यर्थः.

वा 'देवदत्त'शब्दवाच्यः. एतद् उपपादितं चतुर्थे कर्मनिर्णये— देहस्य उपलक्षकत्वमेव नतु विशेषणत्वम् इति. यथा अवस्थान्तरेण पाकादिसाधनम् उत्पाद्य पुनः अन्यावस्थापन्नः पुनः अन्यद्भोगं करोति इति सिद्धम्. नामकरणं च तत्रत्य आत्मनएव, नतु देहसहितस्यैव, शास्त्रीयत्वात्. केशादिवद् वस्त्रादिवद् वा देहस्यापि सहभावमात्रत्वात्. अतः सतः आत्मनः मुख्यसङ्घातस्य वा परलोकाद्यन्यथानुपपत्त्या न मृतिः. तस्मिन् सति पूर्वोक्तन्यायेन भक्तिमार्गः सेत्स्यति.

(३) मीमांसकादयः आत्मनां जीवानां भेदम् अङ्गीकुर्वन्ति, **आत्मनि** ईश्वरे यज्ञादिरूपे वा. तथा सति एकः ईश्वरः इति पक्षो न सङ्गच्छते, अन्यथा एकः चेद् ईश्चरः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः स कथं विषमं जीवेभ्यः फलं दद्यात्? कुतो वा विषमं कर्म कारयेत्? कारयिष्यन् वा वैषम्य-नैर्घृण्ये वा कथं न प्राप्नुयात्? तस्माद् ईश्वरएव नास्ति कर्मातिरिक्तः. सच अनेकः इति प्रतिनियतं कर्मैव कर्तव्यम् इति मन्यन्ते. तन्मतमपि निराकर्तव्यम्, अन्यथा ईश्वराभावे कस्य प्रणिधानं स्यात्?

लेखः

उपलक्षकत्वमिति, सूक्ष्मदेहरूपं धर्मान्तरमुत्थाप्य व्यावर्तकत्वमित्यर्थः. **नामकरणं चेति**, आत्मन एव देवदत्तादिनामकरणमित्यर्थः. **देहेति**, देहविशिष्टस्यैव न. तत्र हेतुः **शास्त्रीयत्वादिति**, नाम्न इति शेषः. तथा सति देहे गते तन्नाम तस्य न स्यात्, तदा श्राद्धादिषु तदुच्चारो न स्यात्. जन्मान्तरे तथाव्यवहाराभावस्तु तस्यैवेदं जन्मान्तरमित्यज्ञानादिति भावः. **मुख्यसङ्घातस्येति**, सूक्ष्मसङ्घातस्येत्यर्थः. **तस्मिन् सतीति**, आत्मनो लिङ्गस्य वा मरणाभावे सतीत्यर्थः. **पूर्वोक्तेति**. परलोकस्य विद्यमानत्वात् तच्चिन्तया भक्त्यादिकं कर्तव्यं भवेदित्यर्थः. मीमांसकादिनिराकरणे[१] **जीवानां भेदमिति**, भगवतः सकाशाद् भेदमित्यर्थः. **आत्मनीत्यस्यार्थान्तरमाहुः आत्मनीति**. यज्ञादिरूप एवेश्वर **आत्मपदेनोच्यते** इत्यर्थः. **तथा सतीति**, कर्मरूप ईश्वरे सतीत्यर्थः. भिन्नेश्वरपक्षं दूषयन्ति **अन्यथेति**. **न पश्यन्तीति**,

१. उपाठानुरोधेन अधिकमिदं मुद्रिते अन्यत्र च नोपलभ्यते - सम्पा.

तेऽपि आरोपादेव तथा मन्यन्ते — कर्म कुर्वाणाः फलं प्राप्नुवन्ति, दातारन्तु न पश्यन्ति इति. अन्याधीने फले अवश्यं दातुः अपेक्षा, साक्षाद् अजन्यफलेषु राजभित्तिनिर्माणादिषु तथा दर्शनात्. नहि यागः स्वर्गं, पाकः ओदनमिव, साधयति येन ईश्वरापेक्षा न स्यात्. स्वर्गश्च ब्रह्माण्डाधिपत्यधीनो लोकात्मकः. सुखसाधनान्यपि तदधीनानि, अन्यथा तदानीमेव स्वर्गः कुतो न भवेत्? अतः ईश्वरे अवश्याङ्गीकर्तव्ये एकेनैव महाराजवत् कार्यसिद्धौ प्रतिनियतेश्वरकल्पना व्यर्था, गौरवात्. जीवानान्तु भेदो न अत्र उद्दिष्टइति प्रतिभाति, एकवचनप्रयोगात् प्रकृतानुपयोगात् च. जीवभेदः प्रत्युत भक्तिसाधको, नतु बाधकः. सोऽपि बहुधा निराकृतो, निराकरिष्यते च.

अन्ये पुनः (४)साङ्ख्यैकदेशिनो योगिनश्च **विपणं** कर्मफलं नित्यं मन्यन्ते — "योगेन साधितो यो अर्थः स नित्यो हि निगद्यते, वैदिकेनापि अक्षयात्मा लोकः स्याद् नित्यकर्मणा" (.   । ।). तस्मिन्नपि पक्षे न ईश्वरप्रयोजनं, स्वसाध्येनैव कार्यसिद्धेः. तदपि निराकर्तव्यम् आरोपैरेव प्रशंसावाचकशब्दानां, सत्यत्वारोपकबुद्ध्यैव तत्सम्भवात्. "अपाम सोमम् अमृता अभूम" (ऋक्संहि. ८।४८।२) इति सोमप्रशंसावाक्यम्. "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्" (शतप.ब्रा. १।६।१) इति तु सुकृतप्रशंसा. तस्माद् भ्रमसिद्धान्ताः एते इति न एतद्वाक्यानुरोधेन पूर्वोक्तसिद्धान्ते दूषणम् आशङ्कनीयम् इति भावः.

ननु भक्तिमार्गोऽपि त्वदुक्तन्यायेन न सङ्गच्छते. विष्णुर्हि सेव्यः, शिवो, ब्रह्मा वा. एते गुणाभिमानिनः प्रतिनियतकार्यकर्तारः स्वस्वाधीनमेव स्वभक्ताय कार्यं कुर्वन्ति. अतः त्रिगुणमयो अयं पुरुषो नारायणो ब्रह्माण्डाभिमानी गुणैः कृत्वा सत्त्वरजस्तमोभिः भिन्नः सन् उपाधिभेदेन जीवभेदेन वा

लेखः

अतः कर्मण्येवेश्वरत्वमारोपयन्तीत्यर्थः. भिन्नेश्वरपक्षं साधयन्ति **अन्याधीने** इति. **आत्मनां जीवानामित्यनेनोक्तं** प्रथमपक्षं निराकुर्वन्ति **जीवानां त्विति. सोपीति,** द्वैतपक्षोपीत्यर्थः. साङ्ख्यैकदेशिनिराकरणे[1] **उपाधिभेदेनेति**. विष्णुः

१. उपाठानुरोधेन अधिकमिदं मुद्रिते अन्यत्र च नोपलभ्यते - सम्पा.

स्थित्यादिकं करोति इति अल्पदातृत्वात् किं भक्तिमार्गेणापि? गुणमयत्वात् च सोऽपि तिरोहितानन्द इति राजसेवकवद् अन्योन्योपधावनम् अपेक्षते. दृश्यते च तथा पुराणे लोके च —इति यत् (५)स्मार्तानां मतं तदपि निराकर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वोक्तमार्गो न सिद्ध्येदिति. **त्रिगुणमयः पुमान्** इति यो भजनीयभेदः सोऽपि **यदबोधकृतः** भगवत्स्वरूपाज्ञानादेव जायते यतः. " 'स्म' = प्रसिद्ध्या + 'आर्ताः' = 'स्मार्त'शब्दवाच्याः ". ते यम् आचक्षते सातु एका भगवद्विभूतिः, नतु तावन्मात्रो भगवान् भक्तिमार्गप्रतिपाद्यः किन्तु पुरुषोत्तमः इति बहुधा निरूपितम्.

ननु पुरुषोत्तमत्वपक्षेऽपि यदि अज्ञानं स्यात् मूलभूतस्य तदा स दोषः तदवस्थः. अतएव (६)केचिन् मूलभूतमेव ब्रह्म अज्ञानाश्रयो विषयः च इति आहुः — "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः" (संक्षे.शारी. १।३१९) इति. अयमपि पक्षो निराकर्तव्यः, अन्यथा भक्तिमार्गः परमार्थपर्यवसायी न स्यात्. अतो निषेधति **त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे** इति. त्वयि पुरुषोत्तमे स अबोधः कथमपि न प्रवर्तते. तत्र हेतुद्वयं— (१)**ततः परत्र** इति, (२)**अवबोधरसे** इति च. (१)"आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद्" (श्वेता.उप. ३।८), "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" (मुण्डकोप. १।९) इति, "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप. २।१) इति, "स्वप्रकाशः चिदात्मा" (. । ।) इत्यादिश्रुतिसहस्रैः अज्ञानसम्बन्धो निराक्रियते. (२)ज्ञानस्यापि यो रसः परमानुभवरूपः सएव आत्मा स्वरूपं यस्येति. अतो मतान्तराणां भ्रान्तिमूलत्वात्, निर्दुष्टत्वात् च भगवन्मार्गस्य, भगवान् सेव्यः इति सिद्धम्.

भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तितः ।
न तद्विरोधात् 'कृष्णा'ख्यं परं ब्रह्म त्यजेद् बुधः ॥(२१)॥२५॥

लेखः

स्थितिं, रुद्रः संहारं, ब्रह्मा सृष्टिं करोतीत्यर्थः. **जीवभेदेनेति.** सात्त्विकानां स्थित्यादिकं विष्णुस्तामसानां रुद्रो राजसानां ब्रह्मा करोतीत्यर्थः. **मूलभूतस्येति,** कर्तरि षष्ठीयम् ॥२५॥

एवं सिद्धान्तान्तराणि परिहृत्य भक्तिमार्गे स्थापितेऽपि जगत्कर्तृत्व-सर्वाश्रयत्वादिधर्माणां माहात्म्यार्थम् अङ्गीकरणे तद्गतो दोषः प्रसज्येत. तत्र परःसहस्रं दूषणानां सम्भवेऽपि दूषणद्वयं मुख्यं— (१)जगदाश्रयत्वेन जगत्सम्बन्धिदोषसमूहः उपादानत्वात् च भगवत्येव भवति, (२)जीवस्य च भगवत्त्वे कामक्रोधादिसर्वे दोषाः भगवति भवन्ति. एतदुभयपरिहारार्थम् आह—

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥२६॥

(सूक्ष्म.) **सदिव मनः** इति. **आमनुजाद्** ब्रह्मतृणस्तम्बम् आरभ्य मनुष्यपर्यन्ताद् **असन् मनः त्वयि सदिव विभाति.** कथम्भूतं मनः? **त्रिवृद्** गुणत्रयवेष्टितम्. **आत्मविदो** ज्ञानिनः **इदं** जगद् **अशेषं** सम्पूर्णम् **आत्मतया** ब्रह्मतया **सद् अभिमृशन्ति** "सर्वं ब्रह्म" इति जानन्ति. यथा कनकार्थिनो वणिजः कनकात्मतया **कनकस्य विकृतिं** कुण्डलादिकं **नहि त्यजन्ति** तथा **स्वकृतं** भगवता कृतम् **अनुप्रविष्टं** सर्जनानन्तरं भगवतो अनुप्रवेशो यस्मिन् तथाविधम् **इदं** जगद् ब्रह्मतया आत्मविद्भिः **अवसितं** निर्धारितम् इत्यर्थः ॥२६॥

(सुबो.) **सदिव मनः** इति. (२)आदौ जीवभावे यानि दूषणानि तानि परिह्रियन्ते. मनसएव ते दोषाः, नतु जीवस्य, तच्च **असदेव**, विशेषतो निरूपयितुं न शक्यत इति. "न असद् आसीद् नो सद्

लेखः

सदिवेत्यस्याभासे जगदाश्रयत्वेनेति. सर्वाश्रयत्वे शरीरोपादानत्वं (जीवोपादानत्वं!) च सिद्धम्. तत्र शरीरोपादानत्वे इदं दूषणमुक्तं, जीवोपादानत्वे दूषणमाहुः **जीवस्य चेति.** व्याख्याने असतोऽविद्यमानस्य भावकमतोऽसदित्यर्थः.

श्रुतिगीतार्थः

"सदिव मन" इत्यनेन त्वगिन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— त्वगिन्द्रियं हि परमार्थपर्यवसायि यथार्थवस्तुग्राहि स्वदृष्टान्तेन आत्मविदामनुभवस्यापि परमार्थपर्यवसायित्वं स्थापयति, दोषास्तु पश्चाद् अन्यकल्पिता एवेति. पद्यं १३ तत्त्वं १३

आसीद्'' (तैत्ति.ब्रा. २।८।९।३) इति मनसः तादृशं रूपं, सदसदात्मकम् इति. तत्रापि तस्य असत्त्वं सहजं, सत्त्वं तु आगन्तुकम् इति श्रुत्यादिना ज्ञायतइति **सदिव** इति उपमया निरूपितम्. तस्य उभयात्मकत्त्वे हेतुम् आह **त्रिवृद्** इति, गुणत्रयवेष्टितम्. तत्र सत्त्वांशे सत्त्वं सम्भवति, अंशद्वये[१] तु असत्त्वम् इति. एतादृशस्य प्रकाशो न जीवसम्बन्धात् किन्तु **त्वयिएव विभाति.** ''मनसो वशे सर्वम् इदं बभूव न अन्यस्य मनो वशम् अन्वियाय. भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्'' (तैत्ति.ब्रा. ३।१२।३।१३) इति श्रुतिः मनसो माहात्म्यम् आह. नहि एतन् माहात्म्यं जीवाश्रयत्वे घटते. ननु अस्तु भगवदाश्रयत्वेनैव तस्य माहात्म्यं, तथापि तद्दोषसम्बन्धः स्यादेव इति चेत्, तत्र आह **आमनुजाद्** इति, मनुष्यपर्यन्तमेव परिभ्रमणे तस्य मनसः स स्वभावः. तृणस्तम्बम् आरभ्य महत्तत्त्वपर्यन्तं जीवगणाः, तत्र मनुष्यो मध्यस्थः. मनः च सर्वेषाम् अर्थे भगवता नियुक्तं सर्वत्र परिभ्रमति. यथा तस्य परिभ्रमणं सम्भवति तथा अंशभेदाः सामर्थ्यं वा कल्पनीयम्, उत्पत्तौ तस्य एकत्वप्रतिपादनात्. अतो मनुष्यपर्यन्तमेव यावत् परिभमति तावद् असत् सदिव प्रतिभाति. अग्रेतु सदिव क्वचिद् असदिव

लेखः

मनुष्यपर्यन्तभावने तथा. देवादिभावने तु तेषां सर्वत्र सन्निधानसामर्थ्येन भावनायां विद्यमानत्वात् नाविद्यमानभावकत्वेन असत्त्वमिति वक्ष्यन्ति. कदाचिद् विद्यमानमपि भावयतीति सत्त्वमपि आगन्तुकत्वेन उक्तम्. कदाचिद् देवादयोऽपि सन्निहिता न भवन्तीति तदा असत्त्वमित्याशयेन तदा क्वचिदसदिवेति वक्ष्यन्ति. **असत्त्वं सहजमिति**, असद्भावकत्वादित्यर्थः. **तृणस्तम्बमिति**. देहजीवाभेदविवक्षया तृणादयोऽपि जीवाः, परं स्थावराः. महत्तत्त्वमपि ''चित्तेन हृदयं चैत्यः'' (भाग.पुरा. ३।२६।७०) इत्युक्तजीवप्रवेशाज्जीव एव इत्यर्थः. **एकत्वप्रतिपादनाद्** इति. मनो दूरदेशे गच्छति तत्र[२] तदंशास्तावत्पर्यन्तं गच्छन्तीति वक्तव्यम्. मनसोऽणुत्वात् तावतोंऽशाः कथमिति चेत्, तादृशं सामर्थ्यं कल्पनीयं, नतु तद्देशपर्यन्तं पूरितानि यावन्ति भवन्ति तावन्ति मनांसि कल्पनीयानीत्यर्थः. **अग्रे त्विति**, मनुष्यादग्रे यदा देवादीन्

१. रजःतमोरूपांशद्वये - सम्पा. २. तदा इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

प्रतिभाति. तस्मात् कामादिदोषाणां मनोमूलत्वात् मनसः च तत्स्वाभाविकं न भवतीति न तद्दोषेण भगवति दोषः. (१) द्वितीयं परिहरति **सद् अभिमृशन्ति** इति. **अभिमर्शो** ज्ञानम्. **आत्मविदो** अत्यन्तं प्रमाणभूताः. **इदम् अशेषं** जगत् सर्वं नानाप्रकारेण भ्रान्तदृष्ट्या भासमानमपि **आत्मतयैव सदेव इति अभिमृशन्ति** "सर्वं ब्रह्म" इत्येव जानन्ति. मनसोऽपि अत्र दोषः परिहृतः. यथा इन्द्रजालिकस्य अन्यथाप्रदर्शनसामर्थ्यं गुणो, नतु दोषो भवति, तथा मनसोऽपि कामादिभासनं गुणएव, कौतुकार्थत्वात्, वस्तुतस्तु ब्रह्मैव. **आत्मविदः** इति वचनात् तेषां ज्ञानम् आत्मनि पर्यवसितम्, अतः आत्मा परमार्थसत्यः. सएव यदि सर्वं (तदा!) कथम् असत्यता आशङ्क्येत? इति अर्थः. तथापि युक्तिः वक्तव्या इति चेत्, तत्र आह **नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया** इति. **कनकस्य विकृतिं** कुण्डलादिकं कनकार्थिनो वणिजः किं त्यजन्ति? अपि तु गृहणन्त्येव. तत्रापि हेतुः **तदात्मतया** इति, कनकात्मतया. ननु कनकम् उपादानमिति मध्ये द्रव्यान्तरापूरिते विकृते कनकतया ग्रहणं युक्तं, जगत्तु जडोपादानकं जीवसामग्र्या पूरितं कथं भगवान् इति चेत्, तत्र आह **स्वकृतम् अनुप्रविष्टम् इदम्** इति. **स्वेनैव कृतम्** आत्मोपादानकं "स आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुतेः, **स्वेनैव च अनुप्रविष्टं** "तत्सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशद्" (तैत्ति.उप. २।६।१) इति. अतो जगत् तत्र स्थिता च सामग्री भगवान् इति. **इदं** सर्वम् **आत्मतयैव अवसितं**, ततः सर्वस्यापि ब्रह्मत्वात् कस्य दोषः कुत्र भवेत्! मतान्तरएव दोषाणां दोषत्वं, ब्रह्मवादेतु ब्रह्मत्वमेव इति सर्वम् अविरुद्धम्.

लेखः

भावयति तदेत्यर्थः. **मनसश्च तदिति**, कामादिदोषवत्त्वमित्यर्थः. **प्रमाणभूता** इति, प्रमातार इत्यर्थः. द्वितीयस्कन्धे "अत्र प्रमाणं भगवान् परमेष्ठी" (भाग.पुरा. २।९।२५) इतिश्लोके 'प्रमाण'शब्दः प्रमातृवाचको निरूपितः. **जगत्त्विति**. शरीरं तु **जडोपादानकं** जडः = समष्टिरूपो विराट्देहः उपादानं यस्येत्यर्थः. **आत्मोपादानकम्** इति, ब्रह्माण्डमपि भगवद्रूपमेवेति भावः ॥२६॥

जीवानां ब्रह्मरूपत्वाद् दोषाअपि च मानसाः ।
जगच्च सकलं ब्रह्म ततो दोषः कथं हरौ ? ॥(२२)॥२६॥

एवं भगवति दोषान् परिहृत्य– भक्तिमार्गे भगवान् निर्दुष्टो निरूपितः, इदानीं फलतो दोषं परिहरन्त्यो –भक्तानां दोषं निराकुर्वन्ति—

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२७॥

(सूक्ष्म.) **तव परि ये चरन्ति** इति. **ये तव** त्वाम् **अखिलसत्त्वनिकेततया** अखिलसत्त्वेषु = प्राणिमात्रेषु निकेतं = स्थानं यस्य सः तस्य भावः तत्ता तथा **परिचरन्ति** सेवां कुर्वन्ति **उत** तएव **निर्ऋतेः** मृत्योः **शिरो** अव (/वि ?) **गणय्य** अवगणनां कृत्वा **पदा आक्रमन्ति. तान्** प्रसिद्धान् मृत्योरपि उत्कृष्टान् **विबुधानपि** त्वं **पशूनिव गिरा** वाचा **परिवयसे** बध्नासि. **त्वयि कृतसौहृदाः** ते **खलु** निश्चयेन **पुनन्ति** अर्थाद् जगत् पुनन्ति इति अर्थः. **न ये विमुखाः** नतु तपस्विनो वा धार्मिकाः, यतः त्वयि विमुखाः ॥२७॥

(सुबो.) **तव परि ये चरन्ति** इति. **ये** त्वां **परिचरन्ति उत तएव निर्ऋतेः** मृत्योः **शिरः पदा आक्रमन्ति.** तत्रापि न अज्ञानात् किन्तु ज्ञात्वैव **अविगणय्य.** अनेन भगवतो दानं तिष्ठतु, सेवामात्रेणैव मृत्योः जयो भवति इति उक्तम्. सर्वस्यापि द्वयम् अभीष्टं— दुःखहानिः सुखावाप्तिः

लेखः

तव परीत्यस्याभासे फलत इति. अन्येषामपि मृत्य्वतिक्रमणफलसाधकः स्वयं निर्दुष्ट एवेत्यर्थः. **दोषं निराकुर्वन्ति** दुःखाभावं प्रतिपादयन्तीत्यर्थः. **अनेनेति,** स्वत एवाक्रमणकथनेनेत्यर्थः. **निरूपितमिति,** "इति नृगतिम्"

श्रुतिगीतार्थः

"तव परि य" इत्यनेन हस्तेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. तद्धि येषां सर्वात्मभावेन भगवत्परिचर्यायां व्यापृतं तेषां सर्वत्र जय एव, नतु कुतोऽपि पराजय इति. पद्यं १४ तत्त्वं १४

च इति. तत्र सुखं भगवतैव सिद्ध्यति, न अन्यथा इति निरूपितम्. दुःखहानिरपि भगवत्सेवयैव, न अन्यथा इति निरूप्यते. दुःखानाम् अवधिः मृत्युः. स कर्मानुसारेण प्राणिभ्यो दुःखं प्रयच्छति. सर्वकर्मापेक्षयापि दुःखदातुः अवज्ञा महान् च अतिक्रमः शिरोमर्दनरूपः बह्वेव दुःखं प्रयच्छति. तदपि चेत् तेषां भगवद्भजनसाधनं, ततः कुतः तेषां दुःखम्! स्पष्टमेव मृत्योः मूर्ध्नि पददानं ध्रुवे निरूपितम्. येहि निरन्तरं सेवां कुर्वन्ति ते सेवार्थं वैकुण्ठेऽपि अपेक्ष्यन्तइति देहान्तरादिनिर्माणे कदाचित् संस्कारनाशो विलम्बः च भवेदिति तदेव शरीरं गृहीत्वा ते सेवार्थं द्रुतं गच्छन्ति. तदा मध्ये प्रतिबन्धकत्वेन मृत्युः चेद् आयाति तदा तं दृष्ट्वा अभीताएव तस्य अवगणनां कृत्वा आरोहे निःश्रेणिकामिव तच्छिरसः आक्रमणं कुर्वन्ति. मृत्योः शिरो महासाहसानि, तेषां करणं = पदा शिरसो अधिरोहणम् —आधिभौतिकव्यवस्था एषा. आध्यात्मिकेतु देह-दैहिक[१]-वैदिकादिधर्मान् सर्वान् उल्लङ्घ्य विरुद्धानपि कृत्वा भगवत्सेवां कुर्वन्ति इति अर्थः. सेवायां विशेषम् आह **अखिलसत्त्वनिकेततया** इति, बहिर्मुखानां सेवा निवारिता. **अखिलसत्त्वेषु निकेतः** स्थानं यस्य, सर्वत्र भगवान् अस्ति इति ज्ञात्वा सर्वाविरोधेन ये परिचरन्ति इति अर्थः. “सर्वं तद्धिष्ण्यम् ईक्षध्वम् एवं वः तोषितो ह्यसौ” (भाग.पुरा. ३।२९।२२) इति वाक्यात् तथादर्शनमपि तोषहेतुः भवति, अन्यथा दोषश्रवणात् च “कुरुते

लेखः

(श्लो. २०) इत्यादिनेति शेषः. **अवज्ञेति**, दुःखप्राप्तौ महान् हेतुरिति शेषः. ध्रुवे साक्षान्मूर्ध्नि पददानमाधिदैविकव्यवस्थोक्ता. आधिभौतिकव्यवस्थायां **शिरःपदार्थमाहुः महासाहसानीति**. महासाहसानि कर्माणि = मृत्योः शिरः, तादृशकर्मकरणं = तदधिरोहणं, तथाच महासाहसानि कर्माणि कुर्वन्ति तथापि तेषां समीचीनमेव भवतीत्यर्थः. आध्यात्मिकव्यवस्थायां **दैहिकेत्यादि**. विरुद्धकर्माणि = मृत्योः शिरः, तादृशकर्मकरणं = तदधिरोहणमित्यर्थः. **परिचरन्तीति** बहुवचनेन त्रयोऽपि भक्ता उक्ता इति त्रयाणां व्यवस्थोक्तेति भावः.

---

१. देहेन चरन्तीति दैहिकाः प्राणेन्द्रियादयः.

अर्चाविडम्बनम्'' (भाग.पुरा. ३।२९।२१), ''भस्मन्येव जुहोति सः'' (भाग.-पुरा. ३।२९।२२) इत्यादिवत्. **तव** इति षष्ठ्या त्वत्सम्बन्धिनं पदार्थं यं कञ्चन परिचरन्ति. परं सर्वात्मभावो अपेक्ष्यते, ''मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति'' (कठोप. ४।१०) इति भेददर्शनएव मृत्युपराक्रमश्रवणात्. ननु सर्वातिक्रमे कथं दोषो न स्यात्, तेषां वा क्रोधो धर्मरक्षकाणां ? तत्र आहुः **परिवयसे** इति. **तान्** प्रसिद्धानपि **विबुधान् पशून् इव परिवयसे** बध्नासि. यत्र स्वस्वामी मृत्योरपि श्रेष्ठान् देवान् बध्नाति तत्र तत्सेवकानां मृत्योः अवगणनायां का शङ्का! इति अर्थः. किञ्च **गिरा** भगवान् बध्नाति, साक्षात्तु बन्धनं तत्सेवकाएव कुर्वन्ति, यथा राजाज्ञया राजसेवकाः. अतः तेषां तदतिक्रमः अभ्यासप्राप्तइति न शङ्काम् उत्पादयति. किञ्च[१] **पशूनिव** इति, यथा पशवः शकटादिषु योजनार्थं निरूप्यन्ते. तत्र सेवकाएव निरूपकाः. तान् भगवत्सेवायां योजयन्ति अतः सेवां प्राप्य कृतार्थाएव ते भविष्यन्ति इति न तेषां कोऽपि मनःक्लेशः. अतः सेवकानां देवापेक्षयापि उत्कर्षो निरूपितः. ननु तथापि सेवकानाम् अमर्यादत्वाद् निन्दितत्वम् अशुद्धत्वं च स्याद् इति आशङ्क्य आह **त्वयि कृतसौहृदाः** इति. **त्वय्येव कृतसौहृदाः** जगत् **पुनन्ति,** नतु तपस्विनो अन्ये वा धार्मिकाः यतः त्वयि **विमुखाः**. अयम् अर्थः : शुद्धिः द्विविधा— दोषनिर्हरणात्मिका गुणाधानकर्त्री च. तत्र गुणानाम् उत्कर्षो भगवत्सेवावधिः ''यस्य अस्ति भक्तिर् भगवति अकिञ्चना सर्वैः गुणैस् तत्र समासते सुराः'' (भाग.पुरा. ५।१८।१२) इत्यत्र निरूपितम्. दोषाणाम् अवधिः भगवदवज्ञा, ''ब्रह्महत्यासहस्रस्य पापं शाम्येत् कथञ्चन न पुनः त्वयि अवज्ञाते कल्पकोटिशतैरपि''

लेखः

सर्वातिक्रम इति, त्रिविधस्यापि मृत्योः शिरसोऽतिक्रमे इत्यर्थः. **तानिति**, त्रिविधानपि मृत्यूनित्यर्थः. महासाहसं च कर्म विरुद्धं च कर्म भगवत्सेवार्थं कुर्वन्तीति भावः ॥२७॥

१. ख-सं.पाठमनुसारेण गृहीतमिदं मुद्रितपाठे अन्यत्र च नोपलभ्यते - सम्पा.

(.   । ।) इति वाक्यात्. ततः च ये गुणवन्तो भवन्ति तैरेव गुणलेशैः निवर्तितदोषाभासाः च तएव अन्येषां दोषान् दूरीकृत्य गुणाधाने समर्थाः भवन्ति, नतु ये दोषपूर्णाः तदंशैरेव निवर्तितसर्वगुणाः ते शुद्धिं कर्तुं शक्नुवन्ति इति अर्थः. **खलु** इति प्रमाणम्.

सर्वथा सर्वतः शुद्धा भक्ताएव न चापरे ।
अतः शुद्धिम् अभीप्सद्भिः सेव्या भक्ता न चापरे ॥(२३)॥२७॥

एवं भजनीयदोषान् भक्तदोषान् परिहृत्य भजने स्थिरीकृतेऽपि प्रातीतिकदोषैः अभजनम् आशङ्क्य निराकरोति—

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयाऽनिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥२८॥

(सूक्ष्म.) **त्वम् अकरणः** इति. **त्वम् अकरणः** करणम् = इन्द्रियं तद्रहितः. पुनः **स्वराट्**. स्वेनैव रूपेण राजतइति तथा. अथच **अखिलकारकशक्तिधरः**. सकलक्रियाकलापानां शक्तिं = सामर्थ्यं धरतीति तथा. अतो **अनिमिषाः** देवाः **अजया** मायया **तव बलिम् उद्वहन्ति समदन्ति** च. भगवते बलिं दत्वा तच्छेषं स्वयं गृह्णन्ति. यथा **अखिलक्षितिपतेः** सार्वभौमस्य राज्ञो **वर्षभुजो** नववर्षाद्यधिपतयः खण्डमण्डलपतयो **बलिं** करं **वहन्ति**. किञ्च **येतु विश्वसृजो यत्र** यस्मिन् कार्ये त्वया **अधिकृताः** स्थापिताः **भवतः** त्वत्तः **चकिताः** भीताः सन्तः तत्तद् **विदधति** तत्तत् कार्यं कुर्वन्ति इति अर्थः ॥२८॥

(सुबो.) **त्वम् अकरण** इति. ननु* भगवान् अवतारे इन्द्रियवान्

श्रुतिगीतार्थः

"त्वमकरण" इत्यनेनैव रसनेन्द्रिय-वागिन्द्रियोभयप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — स्थानैक्यात् रसनेन्द्रियं भगवद्भोगावशिष्टं चेद् भुङ्क्ते तदा स्वयं पूतं सत् स्वसम्बन्धिनं जीवमपि पुनाति, वागिन्द्रियं च भगवद्गुणगानपरं तथा इति अर्थाद् ज्ञेयम्. भगवन्निष्ठं तु भगवदंशरूपानधिकारिणः स्वस्वाधिकारे प्रवर्तयन् सर्वेषां भयेन भगवदाज्ञाधीनत्वं ज्ञापयतीति. पद्यं १५ तत्त्वे १५-१६

प्रतीयते. तानि च इन्द्रियाणि न [१]अन्यार्थक्लृप्तानि भवन्ति; तथा सति अन्यधर्मत्वं[२] तत्कार्यबाधः च स्यात्. नापि मुक्तानां जीवानां न्यायसिद्धान्तइव तानि स्वीकर्तुं शक्यानि, "वाङ् मनसि सम्पद्यते" (छान्दो.उप. ६।५।३) इत्यादिश्रुतिभिः लयश्रवणात्, "वाग् अग्निः अभवद्" (तत्रैव) इति आधिदैविकभावात् च. तस्माद् अवैदिकैरेव तादृशः सिद्धान्तः श्रोतुं शक्यः. अतः ईश्वरस्य इन्द्रियाणि तन्नियतानि नित्यानि. जीवानाम् अदृष्टैः वा कृतानि सर्वथा तानि इन्द्रियाणि भगवदीयानि भगवदर्थमेव कृतानि प्रतिनियतानि इति मन्तव्यम्. ततः तैः सह स्वाभाविको वा आध्यासिको वा सम्बन्धो वक्तव्यः. ततः तद्द्वारा दोषसम्भवः *इति चेत्, तत्र आह **त्वम् अकरणः** इति. तव करणानि = इन्द्रियाणि कथमपि न सन्ति इति अर्थः. ननु तथा सति कथम् इन्द्रियकार्याणि इति चेत्, तत्र आह **स्वराड्** इति, स्वेनैव राजते. सर्वसमर्थं स्वरूपमेव तस्य, अन्यथा इन्द्रियाणां तत्सामर्थ्यं कुतः आगच्छेत्? मूलभूतेन्द्रियकल्पनायान्तु अद्वैतविरोधः. किञ्च **अखिलकारकशक्तिधरः** त्वम्. सर्वेषां कारकाणां षण्णामपि आधारादिशक्तयः –

लेखः

त्वमकरण इत्यत्र **नान्यार्थमि**ति, जीवादृष्टजनितत्वाद् जीवफलसम्पादनार्थं नेत्यर्थः. **तत्कार्ये**ति. इन्द्रियाणां कार्यं स्वाधारे ज्ञानक्रियाजननं, न त्वन्यत्र. तस्य कार्यस्य बाधः स्यादित्यर्थः. **नापी**ति. मुक्तानां जीवानामिन्द्रियाणि भगवति प्रतीयन्ते इत्यपि नेत्यर्थः. निषेधे दृष्टान्तः **न्याये**ति. तेषामपि मते मुक्तौ इन्द्रियाणां ध्वंस इत्यर्थः. **वाङ्मनसी**ति. तेषां तु इन्द्रियाणां लयो वर्तते, नतु स्थितिः. अत इन्द्रियसत्त्वे विषयभोगः स्यादेव, तथा सति दोषसम्बन्ध इति भावः. **नियतानी**ति, स्वस्वकार्यकर्तॄणीत्यर्थः. **मूलभूतेन्द्रिये**ति. इन्द्रियाणि मूलभूतानि = स्वत एव समर्थानि, नतु स्वरूपसापेक्षाणीत्यर्थः. एवं स्वराट्त्वेन स्वरूपस्यैव इन्द्रियकार्यकर्तृत्वमुक्तम्, कैमुत्येनाप्याहुः **किञ्चे**ति. कारककार्यमपि स्वयं करोति तत्रेन्द्रियकार्यकरणे कः संशय इति भावः. **आधारादी**ति, भावेऽत्र घञ्. आधारादिकारकाणां

१. अन्यार्थम् इति लेखकृतां पाठः - सम्पा. २. अधर्मत्वम् इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

तेषां शब्दाश्रयत्वाद् अनित्यत्वाद्, जातिवद् नियतशक्तिमत्त्वे कार्यान्तरानुदयात्, सर्वशक्तिमत्त्वे एकेनैव सर्वकार्यसम्भवात् शुद्धब्रह्मत्वापत्तेः अनेककृतिवैयर्थ्यात् च, सर्वाः शक्तीः कारकाणां –भगवानेव सर्वदा बिभर्ति, तत्तदवसरे तां-तां तत्र स्थापयति इति च मन्तव्यम्. अस्मिन् अर्थे अन्यथानुपपत्तिरूपं हेतुम् आह **तव बलिम् उद्वहन्ति समदन्ति अजया अनिमिषाः** इति. यदि अनिमिषाणां स्वतःशक्तिः स्यात्, स्वाधीना वा, तदा भगवते बलिं दत्त्वा तच्छेषं स्वयं न गृह्णीयुः. सृष्टौ तथा प्रार्थना च श्रूयते "यावद् बलिं ते अज! हराम काले" (भाग.पुरा. ३।५।४८) इति वाक्ये. किञ्च अजया व्याप्ताः = ते प्रकृत्या वशीकृताः कथं स्वतन्त्राः भवेयुः? लोकेहि अजारक्षकाअपि स्वामिने सेवां कुर्वन्ति. अजामात्रपरिग्रहा वा एते अत्यल्पाः. यत्र इन्द्रियस्वामिनामपि एषा गतिः तत्र इन्द्रियशक्तयः कथम् इन्द्रियेषु स्थास्यन्ति इति अर्थः. एतदल्पानां कृत्यम् इति आशङ्क्य **विश्वसृजां** महतामपि एतद् इति ज्ञापयितुम् अल्पान्तररूपं दृष्टान्तम् आहुः **वर्षभुजो अखिलक्षितिपतेरिव** इति. नव वर्षाणि जम्बूद्वीपे, तथा अन्येषु सप्त-सप्त वर्षाणि. तत्र एकैको अधिपतिः भवति. ते सार्वभौमस्य सेवां कुर्वन्ति स्वनिर्वाहार्थम्. तथा एकैकेन्द्रियस्वामिनः सर्वसङ्घाताधिपतेः सेवां कुर्वन्ति.

लेखः

स्वस्मिन् धारणादिशक्तय इत्यर्थः. **तेषामिति.** करणत्वादयः शब्दनिष्ठाः, शब्दस्तु न क्रियाकारी, अतस्त्वमेव तथेत्यर्थः. अर्थाश्रयत्वमाशङ्क्य उभयसाधारणं दूषणमाहुः **अनित्यत्वादिति.** एकत्र कर्मणोऽन्यत्र [१]करणत्वाद् इत्यर्थः. **नियतेति.** यथा जातिर्नियता तथाधारादिशक्तयोऽपि तत्र तत्र नियता इत्यर्थः. **एकेनैवेति.** सर्वेषां सर्वशक्तिमत्त्वे गौरवम् अतः एकस्यैव तावच्छक्तिमत्त्वं बोध्यम्[२], तदा तदेव ब्रह्मेत्यर्थः. **अस्मिन्नर्थ** इति, स्वरूपस्यैव सर्वशक्तिरूपेऽर्थे इत्यर्थः. **विश्वसृजामिति. विश्वसृज** इतिपदेन विश्वसृजां कृत्यमुक्तं, तदल्पानां तेषां भविष्यतीत्याशङ्क्य महतामप्येतत्कृत्यमिति ज्ञापनार्थम् (**अल्पान्तररूपं!**) अल्पेभ्यो यदन्तरं = भेदस्तन्निरूपकं **दृष्टान्तमाहुरित्यर्थः.**

१. कर्मत्वाद् इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा. २. वाच्यम् इति मुद्रितेतरेषु - सम्पा.

नापि एते अप्रयोजकाः किन्तु विश्वसृजः. किञ्च वर्षाधिपतयः कदाचित् स्वतन्त्राअपि भवन्ति, एतेतु केवलं त्वदधीनाएव इति आहुः **विदधति यत्र येतु अधिकृताः** इति. सुतरां भगवतः सकाशाद् भीताः सन्तः तथा तथा कुर्वन्ति. अन्यथा अनभिप्रेते न प्रवर्तेरन्. "दुर्गन्धे दुष्टशब्दे च विरसे च भयानके, खरस्पर्शे दुःखपुञ्जे वर्तन्ते खानि यद्भयात्" (. । ।). सुतरां मलोत्सर्गादौ लोकनिन्दिते अधिकारं न गृह्णीयुः.

सुवर्णप्रतिमेवासौ सर्वानन्दमयोऽधिराट् ।
सर्वसेव्यो नियन्ता च निर्दुष्टः सर्वथैव हि ॥(२४)॥२८॥

एवं धर्मधर्मिप्रकारेण भजनार्थं दोषाभावम् उक्त्वा कार्यद्वारा प्राप्तं दोषं निराकुर्वन्ति —

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥

(सूक्ष्म.) **स्थिरचरजातय** इति. हे **ततो विमुक्त**! मायासम्बन्धरहित. **यदि परस्य तव उदीक्षया** उद्गतेच्छया **विहरो** विहारः क्रीडा तदा **स्थिरचरजातयः** स्थावरजङ्गमभेदाः **स्युः** स्वयमेव उत्पद्यन्ते. कथम्भूताः? **अजयोत्थनिमित्तयुजो**. **अजया** प्रकृत्या **उत्थिताः** सत्यः तयैव उत्थितं निमित्तं कर्मापि युञ्जते इति तथा. **नहि परमस्य** अक्षरादपि अग्रे स्थितस्य

लेखः

कारिकायां **सर्वानन्दमय** इति. सर्वत्र सर्वांशे सच्चितोर्विद्यमानत्वेऽपि आनन्दः प्रचुर इत्यर्थः ॥२८॥

श्रुतिगीतार्थः

"स्थिरचरजातय" इत्यनेन गुदेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — गुदेन्द्रियं हि देहांशं मलं देहात् पृथक्कृत्य सदोषं करोति, नतु देहस्थितम्; तद्वत् भगवतः पृथग्भूता एव दोषभाजो भवन्ति, नतु भगवत्सम्बद्धा इति. पद्यं १६ तत्त्वं १७

तव परः च अपरः च कश्चिद् भवेद् वियतइव आकाशस्येव. कथम्भूतस्य? **अपदस्य** स्थानरहितस्य; अथ **च शून्यतुलां** शून्यसमतां **दधतः** ॥२९॥

(सुबो.) **स्थिरचरजातयः स्युः** इति. ननु यदि भगवान् पूर्णानन्दः सर्वदोषविवर्जितः तर्हि किमर्थं तदंशाः नानाविधां योनिं प्राप्नुवन्ति? अतो ज्ञायते भगवानेव तान् उत्पादयति स्वहितार्थम्, अन्यथा तेषाम् उत्पत्तिः न घटेत इति चेत्, तत्र उच्यते. **यदि तव विहरो** विहारः स्वानन्देन क्रीडा. यथा राज्ञः स्वगृहे रममाणस्यापि[1] तदा आनन्दोद्रेकाद् बहिर्गमनेच्छा भवति तथा भगवतोऽपि कदाचिद् विहारः. तदा **स्थिरचरजातयः** स्थावरजङ्गमभेदाः स्वयमेव उत्पद्यन्ते; यथा वर्षाकाले जीवाः. नहि पर्जन्यः वर्षणाद् अधिकं किञ्चित् कार्यं करोति जीवानाम् उत्पत्त्यर्थं; तथा भगवानपि केवलएव विहरति. ततः चेष्टायाम् उद्गतायां स काल इति तेन प्रकृत्यादिशक्तयः प्रेरिताः भवन्ति. यथा राजनि निर्गते सेवका अप्रेरिताअपि कार्येषु प्रवर्तन्ते तथा कालो गुणक्षोभं कृतवान्. तथा प्रबलाग्नौ उद्गते विस्फुलिङ्गाइव जीवाअपि निःसरन्ति. ततः कालेन क्षुब्धाः गुणाः साक्षात् परम्परया च सर्वमेव कार्यजातम् उत्पादयन्ति. ततः ते जीवाः भगवतः सकाशाद् निर्गताः प्रकृतिम् उपगूह्य, यत्र क्वचित् कामवशात् निमित्तं कर्म अज्ञानं वा[2] समाश्रित्य, नानाविधयोनीः प्राप्नुवन्ति. यथा विस्फुलिङ्गा अग्नेः निर्गताः वायुम् आलिङ्ग्य तेन यतःकुतश्चिद् नीयमानाः तृणादिषु पतिता उद्भवं प्राप्नुवन्ति, जले पतिताः निर्वीर्याः भवन्ति, भूमौ पतिताः मध्यभावेन तिष्ठन्ति. नतु अत्र मूलभूतो वह्निः कमपि विस्फुलिङ्गं क्वचिद् योजयति.

लेखः

स्थिरचरेत्यत्र अत इति. तादृशस्यांशानां स्वतो योनिप्राप्तेः प्रयोजनाभावादसम्भवो[3] **अतो भगवानेव** स्वक्रीडार्थं **तानुत्पादयति** तथा च वैषम्य-नैर्घृण्ये इति भावः. **अज्ञानं चेति**, निर्गमनानन्तरं धर्मरूपचित्तिरोभावाद्

१. रमतोऽपि इति मुद्रितेतरेषु - सम्पा. २. च इति लेखकृतां पाठः - सम्पा.

३. असम्भवतः इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

तथा इदम् इति निरूपयन्ति— **अजया** प्रकृत्या **उत्थिताः** सत्यः[१] तयैव उत्थितं कर्मापि **निमित्तं युञ्जत** इति. विहारएव तत्र निमित्तम्. केवलक्रियाशक्तेः निमित्तत्वम् आशङ्क्य ज्ञानशक्तिमपि आहुः **उदीक्षया** इति. यदा उद्गता ईक्षा भवति तया सहितः च विहारः; ज्ञानपूर्विका क्रीडा इति अर्थः. ननु विहारोऽपि अजया भवतु, तथा सति प्रकारान्तरेणापि दोषः स्याद्, अतः आह **परस्य** इति, अजायाः परो नियामकः. ननु भार्ययैव तया मोहो अस्तु, आसक्तिः वा तस्याम्; हे **ततो विमुक्त**! इति. तया सह सम्बन्धएव नास्ति यतः सा किञ्चिदपि कार्यं कुर्यात्. यथा राज्ञः प्रेरिकाः क्षुद्रा दास्यो न भवन्ति क्वापि विहारे. ननु मा भवतु प्रकृतिगुणाः कालो वा, अन्याएव अन्तरङ्गाः शक्तयः तत्प्रेरिकाः भवन्तु, ताभिरेव दोषसम्बन्धः स्याद्, अतः आह **नहि परमस्य** इति. **परमस्य** अतिपरस्य अक्षरादपि अग्रे स्थितस्य लोकवार्तानभिज्ञस्य **कश्चिद**पि पदार्थः **अपरो** हीनः **परः** उत्कृष्टो वा **न भवेत्**. विहारार्थमेव राजदृष्टान्तो, नतु प्रेरणार्थः. तं प्रेरयति कश्चित् यस्य प्रेर्यो विषयो भवति; यथा अन्तःकरणं चक्षुःश्रोत्रे बोधनार्थं ततो अश्वशस्त्रादिक्रियार्थं तत्र अन्तरङ्गः सामग्रीसम्पादकः प्रेरको

लेखः

अज्ञानाश्रयणमित्यर्थः. **कर्मापीति अपिशब्देन** अज्ञानम्. **तया सहितश्चेति** चकारात् तया जनितश्च. **लोकवार्तानभिज्ञस्येति**. जगत्कर्तृत्वेऽप्येकं भगवद्रूपं, नतु तावानेव भगवानिति भावः. **न भवेदिति**. हीन उत्कृष्टो वा प्रेरकः स्याद्, भगवतस्तदभावात् को वा प्रेरको भवेदित्यर्थः. नहि सार्वभौमापेक्षया क्षुद्रतमस्य हीनत्वमपि वक्तुं शक्यमिति भावः. **तं प्रेरयतीति**. भोग्यविषयो यस्य प्रेर्यो = भोगार्थमुपगमनीयो भवति तं कश्चित् प्रेरयतीत्यर्थः. **यथेति**. यथा राजा, विषयस्य बोधनार्थं दर्शन-श्रवणरूपज्ञानार्थम् अन्तःकरणं (तच्च !) चक्षुः-श्रोत्रे प्रेरयति, सम्पादयति समीचीनविषयं, द्रष्टुं श्रोतुं वा उद्युक्तो भवतीति यावत्; तादृशे राज्ञि अन्तरङ्गसेवको वाटिका-गानादिरूप-सामग्रीसम्पादको भवति. ततोऽश्वारोहण-शस्त्रग्रहणादिक्रियार्थम् अन्तःकरणं

१. मुद्रितामुद्रितेषु सर्वेषु उपलब्धो सन्तः इति पाठः सूक्ष्मटीकापाठानुरोधात् शोधितः - सम्पा.

वा भवति. यस्तु केवलएव आनन्दः सर्वसम्बन्धरहितो भवति तं कथं कश्चित् प्रेरको भवेत्? तत्र भगवतः सामग्र्यभावम् आह. सामग्री पञ्चविधा — (१) स्वरूपं, (२) स्थानं, (३) विशेषाकृतिः, (४-५) उत्कर्षापकर्षभावापन्नाः पदार्थाः च. ते केऽपि भगवति न सन्ति. यतः सर्वेभ्यः (४-५) **परम** उत्कर्षापकर्षभावरहितः सर्वविलक्षणः. अतएव तस्य कोऽपि **नापरः, परोपि न.** नकारद्वयं पृथगेव निर्दिशति. सर्वनिषेधानां स्वतःसिद्ध्यर्थम् (२) **अपदः च** स्थानरहितोऽपि भवति. चकारात् तत्सामग्रीरहितः च. ननु पदार्थः सर्वोऽपि साधारो भवतीति कथम् अयं निराधारः? इति चेत्, तत्र दृष्टान्तम् आह (३) **वियत इव** इति. आकाशसदृशस्य, कयापि क्रियया अव्यापृतस्य. अनेन सर्वविशेषरहितः उक्तः. स्वरूपमपि न कस्यचित् प्रत्यक्षम् इति आह (१) **शून्यतुलां दधत** इति. शून्यवादव्युदासाय तुलापदम्. एतदेव आहुः "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृहदा.उप. ४।३।१५), "अरूपम् अस्पर्शम्" (कठोप. ३।१५) इत्यादिश्रुतयः. केवलम् "अस्ति इत्येव उपलब्धव्यः" (कठोप. ६।१३). अतः एतादृशं को वा जानीयाद् यतः प्रेरयेत्!

सर्वभावविनिर्मुक्तः पूर्णः क्रीडार्थम् उद्गतः ।
निमित्तं तं समाश्रित्य जायन्ते जीवराशयः ॥(२५)॥२९॥

लेखः

प्रेरयति, सम्पादयति, तत्क्रियार्थमुद्युक्तो भवतीति यावत्. तादृशोऽ**न्तरङ्गो** अश्व-शस्त्रादिरूप**सामग्रीसम्पादको भवति.** सामग्री सिद्धा चेत् **प्रेरको वा भवति.** भगवतस्तु विषयो भोग्यो न भवतीति न काप्यन्तरङ्गा शक्तिस्तस्य विहारे प्रेरिकेत्यर्थः. **केवल एवेति**, इन्द्रियरहित एवेत्यर्थः. **सर्वेति**, सर्वविषयसम्बन्धरहित इत्यर्थः. **तमिति** प्रति इति शेषः; तं प्रति प्रेरकः कथं भवेदित्यर्थः. **तत्रेति** निमित्तसप्तमी, प्रेरणाभावसाधनार्थमित्यर्थः. **सामग्रीति**, प्रेरणहेतुभूत-भोगसम्पादिका सामग्रीत्यर्थः. **सर्वेति**. पञ्चविधसामग्रीतोऽन्येषामपि पदार्थानां निषेधाः स्वतःसिद्धा नकारद्वयेनोक्ता इत्यर्थः. **अनेनेति**, दृष्टान्तेन निराधारत्वमुपपादितं पञ्चसामग्र्युक्त-विशेषाकृतिनिषेधश्च कृत इत्यर्थः. **केवलमिति**. अस्तित्वमेव मन्तव्यं, नतु स्वरूपं तद्धर्मा वा पराग्भिरिन्द्रियैर्ज्ञातुं शक्या इत्यर्थः. कारिकायां **निमित्तं तमिति**. क्रीडारूपकालकृतं गुणक्षोभ**माश्रित्य**

एवं जीवानां नानाविधयोनिसम्बन्धेन प्राप्तो दोषः परिहृतः. अधुना प्रसङ्गाद् भगवतो माहात्म्यसिद्ध्यर्थं जीवानां भगवदधीनत्वं स्थापयितुं स्वातन्त्र्यपक्षम् अनूद्य निराकुर्वन्ति—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥३०॥

(सूक्ष्म.) **अपरिमिता** इति. **अपरिमिताः** असङ्ख्याता **ध्रुवाः** नित्याः **तनुभृतो** जीवाः, हे **ध्रुव! यदि सर्वगताः** व्यापका भवेयुः, **न तर्हि शास्यतेति** कृत्वा त्वया **नियमो** नियमनञ्च न सिद्ध्येद् इति अर्थः. जीवस्य अव्यापकत्वे नियम्यनियामकभावो भवेद् इति अर्थः. **नेतरथा** जीवस्य व्यापकत्वे भगवतो अणुत्वे नियम्य-नियामकभावो न उपपद्यते इति भावः. **अजनि च यन्मयम्** इति. **च** पुनः **यन्मयं** ब्रह्ममयं ब्रह्मात्मकम् **अजनि** जीवाख्यं जातं **तद् अविमुच्य** ब्रह्मात्मकत्वम् अपरित्यज्य भगवत्स्वरूपं **नियन्तृ** जीवस्य नियामकं **भवेद्** इति अर्थः. **समं** सर्वं समं ब्रह्म इति एवम् **अनुजानतां** ज्ञानिनां **मतं दुष्टतया यद्** यस्माद् **अमतम्** अननुमतं; न सम्मतम् इति अर्थः ॥३०॥

(सुबो.) **अपरिमिता ध्रुवा** इति. जीवानां व्यापकत्वे स्वरूपतो भगवन्नियम्या न भवेयुः. भोग-मोक्ष-दुःखाभावार्थं तदपेक्षा व्यापकत्वे न भविष्यतीति अग्रे वक्तव्यम्. अतो यदि श्रौतएव न्यायो विस्फुलिङ्गरूपो अङ्गीक्रियते तदैव नियम्य-नियामकभावो भवति, न स्मार्तपक्षे व्यापकत्वे; तदर्थं व्यापकता

लेखः

जीवराशयो जायन्ते विस्फुलिङ्गवदुद्गच्छन्तीत्यर्थः ॥२९॥

अपरिमिता इत्यस्याभासे **प्रसङ्गादिति**. दोषाभावे निरूपिते माहात्म्यमपि

श्रुतिगीतार्थः

"अपरिमिता ध्रुवा" इत्यनेन गन्धतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— तद्धि द्रव्याधिकदेशवृत्तित्वात् स्वदृष्टान्तेन चैतन्यगुणकं जीवमणुं बोधयित्वा तस्य भगवन्नियम्यतां ज्ञापयतीति. पद्यं १७ तत्त्वं १८

निराक्रियते. केचन नैयायिकादयो जीवं व्यापकं मन्यन्ते. तेषाम् अयम् अभिप्रायो — *नित्यो अणुः वा व्यापको वा भवति, न अवान्तरपरिमाणवान्. अवान्तरपरिमाणम् अनित्यत्वेन व्याप्तम्. अणुपरिमाणत्वे सर्वशरीरव्यापिचैतन्योपलम्भो न स्यात्. किञ्च देशान्तरे यद्द्रव्यम् अस्मद्भोगाय उत्पद्यते तत्र अस्मद् अदृष्टं कारणत्वेन वक्तव्यम्, अतः उत्पत्तिदेशे अदृष्टवदात्मसंयोगः कारणं वर्ततइति आत्मनो व्यापकत्वसिद्धिः. तेन आत्मानो देशपरिच्छेदरहिताः, **ध्रुवाः** इति कालपरिच्छेदरहिताः. यदि आत्मा अनित्यः स्याद्, अनिर्मोक्षः स्यात्. व्यापकस्य च अनित्यत्वम् असिद्धम्. किञ्च **सर्वगताः** ते. सर्वत्र तेषां सकलमूर्तद्रव्यसंयोगो वक्तव्यो, अन्यथा तेषां भोगसाधनाय तानि द्रव्याणि न भवेयुः. नहि अनादिसंसारे कश्चित् पदार्थः कस्यचिद् न भवति इति सिद्धम्. एवम् आत्मनः परिच्छेदद्वयाभावः सकलमूर्तद्रव्यसंयोगः च अवश्यम् अङ्गीकर्तव्यः इति.* तन्मतम् अनूद्य परिहरति **तनुभृतो यदि सर्वगताः तर्हि न शास्यतेति नियमो.** अत्र शासनं न कर्मनिमित्तं; तत्तु यमादिकार्यं, किन्तु दास-स्वामिवत् नियम्य-नियामकभावः. व्यापकत्वे जीवानां दासत्वं न स्याद् इति अर्थः. तथा सति न ईश्वरः च सेत्स्यति,

---

लेखः

स्मृतं भवतीत्यर्थः. **व्यापकस्य चेति**, परममहत्परिमाणवत इत्यर्थः. **किञ्चेति. अपरिमिता** इतिपदे परिमाणम्[१] इयत्ता तद्राहित्येन परममहत्परिमाणमुक्तं, **सर्वगता** इतिपदेन[२] सर्वसंयोग उक्त इति विभेदः. स्वमते व्यापकस्य नित्यस्यापि ब्रह्मणः संयोगः केनापि नास्ति, निर्लेपत्वाद् असङ्गश्रुतेश्च, अतः स्वमतवासनया सकलमूर्तद्रव्यसंयोगो भिन्नतया साधितः. तन्मतरीत्या तु परममहत्परिमाणसाधनेनैव स सिद्धो भवतीति ज्ञेयम्. **न भवेयुरिति**, तददृष्टजन्यत्वाभावादित्यर्थः. ननु यः पदार्थः कस्यापि भोगाय न भवति तस्य किमदृष्टेनोत्पत्तिरित्याशङ्क्य तादृशः पदार्थो नास्तीत्याहुः नहीति. **कर्मनिमित्तमिति.** यादृशं कर्म तादृशं शासनमतः **कर्म निमित्तं यत्र** तादृशं **शासनं नात्र** विवक्षितमित्यर्थः. **तथा सतीति**, व्यापकत्वे सतीत्यर्थः.

---

१. शेषेषु अधिकमिदं मुद्रितपाठे नास्ति - सम्पा. २. पदे इति मुद्रितेतरेषु पाठः - सम्पा.

प्रयोजनाभावात्. सर्वत्र आत्मनः कारणत्वेन विद्यमानत्वात् स्वभोगः तेनैव सम्पादयितुं शक्यते. अदृष्टनियामकन्तु कर्मैव, भोगस्तु अदृष्टनियम्यः, कर्म प्रयत्ननियम्यम्. अतो जीवार्थम् ईश्वरापेक्षायाः अभावाद् न ईश्वरोऽपि सेत्स्यति, नियम्य-नियामकभावो दूरे. यत् श्रुतयः एवम् आहुः "नियम्य-नियामकभावो न सेत्स्यति" इति तासाम् अयम् अभिप्रायो— ❋भोगनियामकः परमेश्वरएव, अन्यथा भोगनियमो न स्यात्. दृश्यते च भोगनियमो– बहुषु विद्यमानेषु एकस्मिन् शरीरे सर्वेषामेव सम्बन्धस्य तुल्यत्वाद् एकशरीरे आम्रफले भक्षिते कथमेकस्यैव सुखं भवेत्? तददृष्टेन जनितमिति चेत्, "तस्यैव तददृष्टं, न अन्यस्य" इत्यत्र को नियमः? आत्मसंयोगस्य तुल्यत्वाद् ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामपि तुल्यत्वापत्तिः. नच ईश्वरव्यतिरेकेण कश्चिद् अन्यो नियामको अस्ति येन प्रतिनियतभोगदर्शनस्य नियमः सिद्ध्येत्. ईश्वरेतु नियामके अङ्गीक्रियमाणे "एकएव भुङ्क्तां, न अन्य" इति ईश्वरनियमनात् नियमः सङ्गच्छते. तथा अदृष्टेऽपि –अतो अवश्यं भोगनियमार्थम् ईश्वरो नियामको वक्तव्यः.❋ तच्च व्यापकत्वे न सङ्गच्छते. महत्त्वेन तस्य अभिमानात् तुल्यत्वात् च न भगवन्तं मन्यते. ईश्वरेणैव चेद् भोगः सेत्स्यति प्रतिनियतः तर्हि व्यापकता न वक्तव्या. अणुपरिमाणस्यापि आदेहव्यापी चैतन्यगुणः सम्भवति गन्धवद्. आश्रयाविच्छेदएव गन्धस्य युक्तो, दृष्टत्वात्;

लेखः

ननु तर्हि मूले ईश्वरसिद्ध्यभाव एव दूषणं कुतो नोक्तमित्यत आहुः **यच्छ्रुतय** इति. अणुत्वपक्षः साधनीयो, नतु वितण्डा कर्तव्येति ईश्वरमङ्गीकृत्य तन्नियम्यत्वेन व्यापकतां दूषयित्वाऽणुत्वं स्थापयन्तीत्यर्थः. **अयमभिप्राय** इति, **नियामको वक्तव्य** इत्यन्तोक्तो अभिप्राय इत्यर्थः. ननु अणुत्वे सर्वदेहव्यापिचैतन्योपलम्भः कथमित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन साधयन्ति **गन्धवदिति**. **यत्र** देशेऽन्यैर्वादिभिः गन्धस्य दूरदेशगमनाय गन्धवतोऽवयवानां तावद्देशपर्यन्तम् अन्तररहितोत्पत्तिर्मृग्यते तत्र देशे गन्धस्य आश्रयाविच्छेदमात्रं मन्तव्यम्. आश्रयाविच्छिन्नः सन् तं विहाय दूरदेशपर्यन्तं गन्ध एव गच्छतीत्यर्थः. तथाच गुणो गुणिनं विहाय न [१]गच्छतीति नियमे

१. तिष्ठति इति मुद्रितेतरेषु पाठः –सम्पा.

यत्र निरन्तरोत्पत्तिः मृग्यते. अन्यथा आश्रयमपि परित्यज्य पत्रपुष्पादिवद् अन्यत्र गच्छति इत्येव मन्तव्यं वायोः गन्धवाहत्वप्रसिद्ध्यै. "यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति" (महाना.उप. ८।२) इति श्रुतेः च. अवयवगतिकल्पनातु योजनगन्धायां बाधिता ;

यादृशः प्रकटो गन्धः पुष्पाणां सन्निधौ भवेद् ।
एकस्मिन्नपि तत्पुष्पे तथा घ्राणगते नहि ॥(२६)॥

तस्माद् गन्धवत् चैतन्यमपि सर्वदेहव्यापि तिष्ठति. लोकेच परिच्छिन्नएव नियम्य-नियामकभावः. ननु नियामकोऽपि परिच्छिन्नो अस्तु, को दोषः! इति चेत्, तत्र आह हे **ध्रुव** इति. यो निश्चलः स व्यापकएव भवति. प्रकारान्तरेण ध्रुवतातु भूम्यादावपि न दृश्यतइति ईश्वरो व्यापकएव. "तस्मिन् आकाश ओतः च प्रोतः च" (बृहदा.उप. ३।८।११) इतिश्रुतेः, "आराग्रमात्रो

लेखः

गुण्यविच्छिन्नस्तिष्ठति इत्यर्थो ज्ञेयः. **अन्यथे**ति, अवयवोत्पत्तिस्वीकारे यथा वृक्षादुत्पन्नं पत्रपुष्पादिकं स्वाश्रयं वृक्षं परित्यज्य ग्रामान्तरं गच्छति तथावयवास्तत्सङ्गेन गन्धोऽपि वायोर्गन्धिवहनस्य प्रकर्षेण सिद्ध्यर्थं स्वाश्रयं विहाय ग्रामान्तरं गच्छतीति मन्तव्यं स्यात्. तथाच प्रत्यक्षविरोध इति भावः. अवयवोत्पत्तिकल्पनाभावे श्रुतेरपि सम्मतिमाहुः **यथे**ति. ननु अवयवानामुत्पत्तिर्मास्तु ; सिद्धा एवावयवास्तावद् दूरं गच्छन्तामित्याशङ्क्याहुः **अवयवे**ति. नहि द्रष्टुमप्यशक्याः सूक्ष्मावयवा योजनपर्यन्तं गन्तुं शक्नुवन्तीत्यर्थः. दूषणान्तरमाहुः **यादृश** इति. **पुष्पाणां** बहूनां सन्निधिमात्रेण **यादृशो गन्धो भवेत्** तादृशो गन्धो घ्राणसंलग्न एकस्मिन्नपि **पुष्पे** सति न जायते चेत् तदा तदवयवेषु अतिसूक्ष्मेषु गन्धः कुतः स्यादित्यर्थः. **नन्वि**ति. लोकदृष्टान्तेन नियम्यस्य परिच्छिन्नत्वे साधिते लोके नियामकस्यापि परिच्छिन्नत्वदर्शनाद् इयमाशङ्केति ज्ञेयम्. **यो निश्चल** इति. भगवान् निश्चलो नियामकः, लौकिकराजादिस्तु अध्रुव इति नियामके न तद्दृष्टान्त इति भावः. ननु ध्रुवत्वमपि लौकिकराजवत् कादाचित्कमस्तीत्यत आहुः **प्रकारान्तरेणे**ति. कादाचित्की **ध्रुवता तु भूम्यादावपि नास्ति**, भूमिरपि नित्यं ध्रुवा. तथाच लोकदृष्टपदार्थस्य नित्यध्रुवत्वं चेद् भगवतस्तु

ह्यपरोऽपि दृष्टः'' (श्वेता.उप. ५।८) इति, ''न अणुः अतच्छ्रुतेः इति चेद् न इतराधिकाराद्'' (ब्रह्मसूत्र २।३।२१) इति न्यायात् च. **इतरथा** जीवस्य व्यापकत्वे भगवतो अणुत्वे एकदेशस्यापि अन्यथात्वे वा नियम्य-नियामकभावो न उपपद्यते इति भावः. ननु अत्र न काचिद् दृढा उपपत्तिः – व्यापकत्वमपि अस्तु नियम्यत्वमपि अस्तु, को दोषः? अल्पेनापि बालकेन सिंहेन महागजो नियम्यते, सूक्ष्मेणापि राज्ञा सर्वे लोका नियम्यन्ते, सूक्ष्मेणापि अग्निकणेन सर्वे गृहाः दह्यन्ते इति न स्थूलपरिमाणवान् नियामकइति नापि सूक्ष्मपरिमाणवान् नियम्यइति –अतो व्यर्थः आग्रहः इति चेत्, तत्र आह **अजनि च यन्मयं तद् अविमुच्य नियन्तृ भवेद्** इति. यद् **यन्मयम् अजनि तद् अविमुच्य** तद् अत्यक्त्वा **नियन्तृ** किं **भवेत्**! अपितु न भवेदेव इति अर्थः. बाध्यबाधकभावो दाह्यदाहकभावः च अन्यो, नियम्यनियामकभावस्तु अन्यः. राज्योत्पन्नाः प्रजा राज्यमयाः भवन्ति, राज्यञ्च राज्ञो अङ्गमिति राजमयाएव प्रजाः. तथा जीवाअपि भगवन्मयाः. व्यापकाः चेत् कथमपि न तन्मयाः भवन्ति. नियतान्वये विद्यमानेऽपि अप्रयोजकत्वं वदन् साहसी भवति. तस्मात् तन्मयत्वान्यथानुपपत्त्या न व्यापकत्वं जीवस्य इति सिद्धम्. ननु वेदान्तिनोऽपि आत्मैकत्वं वदन्तो नियम्यनियामकभावं न अङ्गीकुर्वन्ति, सर्वत्र तुल्यदर्शनाद्, अतो वेदान्ते नियम्यनियामकभावो न अस्तीति ये वदन्ति, तद् अनूद्य परिहरन्ति **सममनुजानतां यदमतम्** इति. ये सर्वत्र ब्रह्म समम् अनुजानन्ति, ''ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः'' (भाग.पुरा. ११।२९।१४) इति ब्रह्मविदः समदृश इति, तेषामपि

लेखः

नित्यध्रुवत्वं ततोऽधिकं व्यापकत्वं च वाच्यमिति भावः. **यद्यन्मयमिति**, **यद्यन्मयं भवेत् तद् अत्यक्त्वा नियन्तृ भवेत्** तदेव नियन्तृ भवेदित्यर्थः. तथाच भगवन्मयत्वाद् भगवन्नियम्यत्वमुच्यते; भगवन्मयत्वं तु व्यापकत्वे न सम्भवत्यतोऽणव इत्यर्थः. **नियतान्वय** इति. ''नियतमीश्वरेण समन्वयो वर्तते तथापि भोगेऽदृष्टमेव प्रयोजकं न त्वीश्वर'' इतिकथने तु पूर्वोक्तप्रकारेणेश्वर एव न सेत्स्यति. अत इदं कथनं वादिनः साहसकार्यमित्यर्थः.

एतद् अननुमतं; तेऽपि नियम्यनियामकभावम् अङ्गीकुर्वन्त्येव. अन्यथा भगवान् मुक्तोपसृप्यो न स्यात्, "चतुर्विधा भजन्ते माम्" (भग.गीता ७।१६) इति ज्ञानिनोऽपि भजनश्रवणात् च. ननु अस्तु अनियम्यता ज्ञानमार्गे, को दोषः? इति चेत्, तत्र आह **मतदुष्टतया** इति. **मते** ब्रह्मवादे अयम् अर्थो **दुष्टः** इति, "एष सर्वेश्वरः एष लोकपालः एष भूताधिपतिः" (बृहदा.उप. ४।४।२२) इति सर्वत्र उपनिषत्सु भगवतो नियामकत्वश्रवणात्. "एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने, गार्गि!, द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः" (बृहदा.उप. ३।८।९) इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टमेव प्रशासनं दृश्यते. "साच प्रशासनाद्" (ब्रह्मसूत्र १।३।११) इति न्यायेन च निर्णीतः. तस्माद् भगवतः प्रशासनं सर्ववादिसम्मतं, तच्च व्यापकत्वे न घटते, अतन्मयत्वप्रसङ्गाद् इति.

नियन्ता जीवसंघस्य हरिस्तेनाणवो मताः ।
जीवा न व्यापकाः क्वापि चिन्मया ज्ञानिनां मताः ॥(२७)॥३०॥

एवं भक्तिसिद्ध्यर्थं नियम्य-नियामकभावो निरूपितः. तत्र हेतुः च तन्मयत्वम् उक्तं, तेन यन्मयं यत् तत् तस्य नियम्यं भवति इति फलति. एवं सति देहादिसङ्घाताविष्टे जीवे जडांशस्य प्रकृतिमयत्वात् चिदंशस्य पुरुषमयत्वात् च प्रकृति-पुरुष-नियम्यतैव युक्ता, न पुरुषोत्तमनियम्यता, इति आशङ्क्य परिहरति—

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥३१॥

लेखः

एतदननुमतमिति, एतद् व्यापकत्वं ब्रह्मविदामप्यननुमतम् असम्मतमित्यर्थः. तत्र हेतुः **तेऽपीति. निर्णीत** इति, भगवतो नियामकभाव इति शेषः ॥३०॥

श्रुतिगीतार्थः

"न घटत उद्भव" इत्यनेन उपस्थेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः— तद्धि उभययोगेन सर्वोत्पादकं तद्वद् भगवानपि प्रकृतिपुरुषसंयोगेन सर्वोत्पादक इति ज्ञापयतीति. पद्यं १८ तत्त्वं १९

(सूक्ष्म.) **न घटत उद्भव** इति. **अजयोः प्रकृतिपूरुषयोः उद्भवः** उत्पत्तिः **न घटते** इति. **उभययुजा** प्रकुतिपुरुषसंयोगेन **असुभृतो** जीवा भवन्ति, यथा जल-वायुसंयोगेन **बुद्बुदा** भवन्ति तद्वत्. यतः सर्वकारणं त्वमेव **ततः** कारणात् **त्वयि त इमे** जीवाः **परस्य** तव **विविधनामगुणैः** सह **निलिल्युः** निलीना भवन्ति **अर्णवे सरितइव**. अथ च **मधुनि अशेषरसाः** यथा लीना भवन्ति तद्वद् इति अर्थः ॥३१॥

(सुबो.) **न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोः अजयोः** इति. तदात्मकता तदा घटते यद् यद्रूपेण आविर्भवितुम् अर्हति, जीवास्तु विस्फुलिङ्गन्यायेन भवन्तीति तदात्मकता युक्ता. सङ्घातस्तु न प्रकृत्यात्मको, नापि पुरुषात्मको, नापि उभयात्मकः, उभयोरपि अजत्वेन कार्यरूपाविर्भावाभावात्. तद् आह **न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोः अजयोः** इति. तर्हि कथं सङ्घातोत्पत्तिः ? इति चेत्, तत्र आह **उभययुजा भवन्ति असुभृत** इति. **उभययुजा** उभययोगेन प्रकृति-पुरुषसम्बन्धेन **असुभृतः** सङ्घाताः देव-तिर्यगादयो **भवन्ति.** ननु यत् केवलाभ्यां न जायते तत् तत्संयोगे सति कथं जायते इति? तत्र आह **जलबुद्बुदवद्** इति. न केवलं जलेन वायुना वा बुद्बुदा जायन्ते, उभययोगेन तु जायन्तइति. तथा प्रकृति-पुरुषसंयोगेन सङ्घाता

लेखः

न घटत इत्यत्र **यद्रूपेणेति**. मृत्स्वरूपेण घट आविर्भवति अतो मृदात्मको घट इत्यर्थः. ब्रह्मवादे ब्रह्मात्मकमेव जगत्, प्रकृतिस्तु योनिरूपा निमित्तकारणमिति भावः. **तदात्मकतेति**, पुरुषात्मकता युक्ता भवेदपीति शेषः. सङ्घातस्य प्रकृत्युपादानकतानिराकरणे इदमपि निराकृतं भविष्यति. **प्रकृत्यात्मक** इति, प्रकृत्युपादानक इत्यर्थः. यदि सङ्घातः प्रकृतिरूपेणाविर्भवेत् तदा प्रकृत्यात्मकः स्यात्, तथाविर्भावस्तु न सम्भवति प्रकृतेरजत्वादित्याहुः **कार्यरूपेति**. ब्रह्मणस्त्वजत्वेऽपि अचिन्त्यशक्तित्वेन[१] समाधानं वक्ष्यन्ति. **तर्हीति**. प्रकृतेस्तत्त्वरूपत्वात् सा सृष्टौ प्रकारभूता. तथाच तदुपादानकत्वाभावे केन प्रकारेण सङ्घातोत्पत्तिरित्यर्थः. **प्रकृतीति**, अनेन प्रकार उक्तः—

१. -शक्तिमत्त्वेन इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

जायन्तइति न कापि अनुपपत्तिः. किम् अतो यदि एवम्? एवम् एतद् इति आह **त्वयि त इम** इति. ते[1] **असुभृतः इमे** परिदृश्यमानाः सर्वे **ततः** कारणात् **त्वयि** एव. अयम् अभिप्रायः— अजयोः संयोगो न इष्यते. उभयोरपि अजत्वेन व्यापकत्वेन च क्रियावत्त्वाभावात् संयोगाभावः. तादृशयोः संयोगो अघटमानः सन् भगवद्रूपो वा भगवता वा सिद्धो भवति, अद्भुतकर्मा भगवानेव भवतीति. अतो भगवदात्मकतैव सर्वेषां सङ्घातानाम्. अतो भगवत्येव ते सर्वे पर्यवसिताः भवन्ति न अन्यत्र इति निर्णयः. किञ्च **विविधनामगुणैः** इति. एकरूपाः चेत् सङ्घाताः भवेयुः तदा कथञ्चित् प्रकृति-पुरुषात्मकतापि कल्प्येत, तत्तु नास्ति. किञ्च विविधानि नामानि रूपाणि गुणाः च परस्परविलक्षणाः सर्वेषां भवन्ति,

लेखः

यथा भूमि-जलसंयोगेन धान्यमुत्पद्यते, परं तत् स्वबीजोपादानकमेव, नतु तदन्यतरोपादानकं, तथा प्रकृति-पुरुषसंयोगेन ब्रह्मोपादानकः सङ्घातो जायते, नतु स तदन्यतरोपादानकः, तयोरजत्वाद् इत्युक्तमेव. भूमेर्निर्गतस्य[2] धान्यस्य भौमत्वमिव प्रकृतेर्निर्गतस्य सङ्घातस्य प्राकृतत्वं, प्रकृतिराहित्येन ब्रह्मण एव सकाशात् निर्गतस्याप्राकृतत्वम् —इति विवेकः. जलबुद्बुददृष्टान्तः संयोगांशे, नतु बुद्बुदस्य जलोपादानकत्वांशे इति ज्ञेयम्. **किमत** इति. प्रकृत्यात्मकतानिराकरणात् **किं** सिद्धमित्याशङ्क्य भगवदात्मकता सिद्धा इत्याहेत्यर्थः. त्वय्येवेति, त्वदुपादानका इत्यर्थः. **भगवद्रूप** इति, भगवति रूपं = स्वरूपं यस्येत्यर्थः. भगवतो विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वादिति भावः. तथाप्यन्योन्यं तेषां सामानाधिकरण्यं भवतु, नतु संयोग इत्यत आहुः **भगवता वेति**. ननु तयोरेव स्वसंयोगसम्पादनसामर्थ्यं कल्पनीयमित्याशङ्कां परिहरन्ति, ब्रह्मणोऽप्यजत्वात् कार्यरूपेणाविर्भावः कथमित्याशङ्कामपि परिहरन्ति **अद्भुतकर्मेति**. तथात्वं नान्यस्येति **भगवानेवेति** एवकारः. अन्यस्य तथात्वस्वीकारे सर्वेऽपि ब्रह्मधर्मास्तत्रैव स्वीकर्तव्याः, तदा तदेव ब्रह्मेति

१. मुद्रिते नास्ति, शेषेषु एवम् - सम्पा.

२. इह 'सङ्घातस्य' इति अधिकः इ-मुद्रितपाठयोः, इतरेषु नोपलभ्यते - सम्पा.

अतः तैः ज्ञायते— भगवतएव भवन्ति, अचिन्त्यशक्तिः अनन्तमूर्तिः च भगवानेवेति. ननु अर्वाचीनयोरपि प्रकृतिपुरुषयोः कथं न अनन्तशक्तिता इति आशङ्क्य आह **परम** इति. परमएव[१] ते धर्मा, नान्यस्य इति सिद्धान्ताद् इति अर्थः. किञ्च तएव तदात्मका भवन्ति ये यत्र एकताम् आपद्यन्ते. यथा सर्वाः **सरितो अर्णवे भवन्ति** अर्णवादेव मेघद्वारा उत्पद्यन्ते, अर्णवे च प्रविशन्ति. ततो अर्णवस्य जलात्मकस्य नद्योऽपि जलात्मिकाः तदामिका भवन्ति, नतु पर्वतात्मिका भूम्यात्मिका वा. अतः सच्चिदात्मका एते सच्चिदात्मके भगवत्येव प्रतिष्ठिताः भवितुम् अर्हन्ति, न अन्यत्र इति अर्थः. ननु यदि भगवदात्मकं विश्वं भवेत् तर्हि भगवति विश्वं प्रतीयेत ; यस्य-यस्य भगवत्साक्षात्कारो भवति तस्य-तस्य अनुभवे विश्वस्फूर्तिः स्यात् , ततश्च अनीक्षापि प्रसज्येत इति चेत् , तत्र आह **मधुनि लिल्युरशेषरसा** इति. यथा अशेषरसाः मधुनि लीना भवन्ति तथापि भिन्नतया न प्रतीयन्ते– "अयम् अमुकपुष्पस्य रसो अयम् अमुकपुष्पस्य रसः" इति– किन्तु एकताम् आपन्ना मधुत्वेनैव प्रतीयन्ते, तथा भगवत्यपि सर्वे सूक्ष्मरूपेण तिष्ठन्ति, नतु भिन्नतया प्रतीयन्ते इति अर्थः.

नामरूपप्रपञ्चं हि देव-तिर्यङ्-नरात्मकम् ।
कृष्णादेव समुद्भूतं लीनं तत्रैव तन्मयम् ॥(२८)॥३१॥

एवं नियम्यत्वाय भगवदात्मकता प्रत्येकसमुदायाभ्यां जीवसङ्घातयोः निरूपिता. तेन अवश्यं भजनीयत्वं निरूपितम्. एवं भजनीयत्वे ज्ञातेऽपि भजनार्थं प्रवृत्तावपि भक्त्युन्मुखान् कालः चेद् भक्षयेत् तदा भजनं कथं सिद्ध्येद् इति शङ्कां निराकर्तुम् आह—

लेखः

भावः. **अनीक्षापीति**. विश्वस्य सिद्धत्वात् "स ईक्षाञ्चक्रे" (प्रश्नोप. ६।३) इत्यनेनोक्ता ईक्षा न स्यादित्यर्थः ॥३१॥

---

१. परस्यैव इति मुद्रितेतरेषु सर्वेषु. परमएव इति सं.पाठे श्रीपुरुषोत्तमैः संशोधितः. परमस्यैव इति प्रातिस्विको भाति - सम्पा.

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

(सूक्ष्म.) **नृषु तव** इति. **सुधियः अमीषु तव मायया भ्रमं** दुःखरूपकालादिग्रासम् **अवगत्य** ज्ञात्वा **अभवे त्वयि भावं दधति**. कथम्भूतं भावम्? **अनुप्रभवम्**. तेषां **भवभयं** संसारभयं **कथम् अनुवर्ततां** कथं भवेद् इति अर्थः. कथम्भूतः कालः? **त्रिणेमिः** शीतातपवर्षाख्याः त्रयो नेमयो यस्य सः ॥३२॥

(सुबो.) **नृषु तव मायया** इति. भगवान् सृष्ट्यादौ कालं मायां च सृष्टवान्. ये मायया मुग्धाः भविष्यन्ति तान् कालो ग्रसिष्यति. येतु लोकान् भगवन्मायया[१] ग्रस्तान् ततः कालेन ग्रस्तान् आलोक्य– मायापगमे निस्तारे च भगवद्भजनमेव गतिरिति– ये भगवन्तं सेवन्ते तेषां पुनः मायामोहः सर्वथा न सङ्गच्छते. ततः कालग्रासाभावोऽपि सिद्धः. यदि

लेखः

नृषु तवेत्यत्र ये त्विति. मूले **भ्रमो**=भ्रमणं, नानाविधयोनिषु भ्रमणमित्यर्थः. तत् मायामोहजनितकालग्रासेन भवतीति व्याख्याने **ग्रस्तानालोक्येत्युक्तम्. भृशमित्यस्य अवगत्येत्यनेनान्वयः**, तथाच भ्रमणं यथा न भवति तथावगत्येत्यर्थः. तं प्रकारमाहुः **मायापगम** इति. **तत** इति, मायामोहाभावादित्यर्थः. "एवमवगत्य भजनं कुर्वन्ती"त्येतावत्कथनेनैव भजनस्य कालग्रासनिवर्तकत्वं सिद्धं भवतीति कथम् "अनुवर्तताम्इ"त्यनेन पुनस्तत्साधनमप्रयोजनकम् इत्याशङ्क्य किञ्चिदधिकसूचनार्थमित्याहुः **यदीति.**

श्रुतिगीतार्थः

"नृषु तवे"त्यनेन चरणेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — तद्धि सुबुद्ध्या भगवत्समीपगमने व्यापृतं जीवस्य संसारपरिभ्रमणादि-सर्वदुःखनिवारकं, दुर्बुद्ध्या अन्यत्र व्यापृतं जीवस्य सर्वदुःखहेतुरिति.
पद्यं १९ तत्त्वं २०

---

१. ख-गपाठानुरोधाद्. मायाग्रस्तान् इति मुद्रिताविशेषेषु - सम्पा.

कथञ्चिद् भक्तिमार्गे विषयाणां विद्यमानत्वात् कदाचिद् मोहः स्यादपि तदापि कालग्रासो न भवेत्. तत्र हेतुः **कथम् अनुवर्ततां भवभयम्** इति. तत्रापि हेतुः **(यत्!)** यस्मात् कारणात् **तवएव भ्रुकुटिः अभवच्छरणेषु भयं सृजति.** अतो भक्तिमार्गस्य सर्वथा कालनाशकत्वं, मनुष्याधिकारित्वात् शास्त्रस्य कर्माधिकाराद्– अन्येषां भोगदेहित्वाद् मनुष्यशरीरानन्तरमेव पुनः नानाविधयोनिसम्बन्धः, "स्वर्गापवर्गयोः द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च" (भाग.पुरा. ७।१३।२४) इति वाक्याद्, अतो– **नृणां भ्रमम्** इति उक्तम्. अतो ये **सुधियः** स्वयमपि नरत्वं प्राप्ताः – यदि प्रमत्ताः भवेयुः तदा पुनः कालचक्रेण हीनत्वम् उत्तमत्वं वा प्राप्ताः कृतार्था न भविष्यामइति निस्तारार्थं यतमानाः – तादृशं गुरुमेव भजन्ते. सच गुरुः भगवानेव; भगवानेव वा गुरुः, शक्तिद्वयं तत्रैव ज्ञातमिति, प्रवर्तकत्वं भजनीयत्वं च. ननु "यो यच्छ्रद्धः सएव सः" (भग.गीता १७।४) इतिन्यायेन

लेखः

[१]**स्यादपि** इत्यस्याग्रे **तथापि** इति शेषः.[१] **भवभयं** कालग्रास इत्यर्थः. चतुर्थचरणे तथा व्युत्पादनादिति भावः. भ्रमणस्य तिर्यगादिसाधारण्येऽपि **नृष्विति** कथने हेतुमाहुः **मनुष्येति. नृणामिति** सप्तम्यर्थ एव षष्ठ्यन्तेन विवृतः. तथाच पूर्वं नरस्यैव जातत्वात् नरस्यैवान्यत्र भ्रमणमित्यर्थः. **अत** इति. **ये सुधियस्तेऽतो** नृणां भ्रमणावगमाद्धेतोर्**गुरुं भजन्त** इत्यग्रेऽन्वयः. **भवेयुरित्यस्य** पूर्वेणाप्यन्वयः — **यदि प्रमत्ता भवेयुस्तदा स्वयमपि नरत्वं प्राप्ता भवेयुर्न** त्वभवः सिद्ध्येत्. **तदेति**, नरत्वप्राप्तावित्यर्थः **भविष्याम** इत्यन्तेन यत्नहेतुभूतज्ञानं विवृतम्, **इति** ज्ञात्वेति शेषः. **तादृशमिति**, अभवमित्यर्थः. भजनेन "यो यच्छ्रद्धः" (भग.गीता १७।४) इति वाक्यात् तत्त्वे सिद्धे वयमप्यभवा भविष्याम इति भावः. मूले **त्वयीतिपदस्य** गुरुवाचकत्वं व्युत्पादयन्ति **स च गुरुरिति**. अयं भिन्नगुरुपक्षः ; गुरुमुद्दिश्य भगवत्त्वमनेनोच्यते, अग्रे भगवन्तमुद्दिश्य गुरुत्वं विधीयत इति विभेदः. भिन्नगुरुपक्ष आहुः **नन्विति. तत्त्वं** गुरुत्वम्. **सोपि चेदिति**, गुरुरपि सन्नित्यर्थः. गुरोर्भगवत्त्वं

१-१. इदमधिकं मुद्रितेतरेषु सर्वेषु - सम्पा.

कालान्तरे तत्त्वं सिद्ध्यति, सोऽपि चेत् पुनः उत्पद्येत तदा को विशेषः? इति शङ्कायाम् आह **अभवः** इति. भिन्नगुरुपक्षेऽपि भगवदीयत्वाद् न तस्यापि भवः. ननु कियत्प्रभृति भगवद्भजनं कर्तव्यम्? इति चेत्, तत्र आह **अनुप्रभवम्** इति. प्रकृष्टो भवो = बुद्धिसहितं जन्म; यदैव भगवति सद्बुद्धिः भवति ततः आरभ्यैव भगवति भावः कर्तव्यः इति अर्थः. अनुवृत्तिः च कर्तव्या. कालो हि बाह्यः न केवलम् आन्तरेण भावेन पीडातो निवर्तते अपितु पीडयत्येव. अतएव ज्ञानिनाम् आन्तरभक्तानां बहिर्मुखात्[१] क्लेशः. स च जडभरते वर्णितः. तेन क्लिष्टाः कदाचिद् मुग्धाअपि भवेयुरिति प्रथमतएव बाह्यापि अनुवृत्तिः कर्तव्या. एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन अनुवर्तमानान् वस्तुतः सेवकभूतान् जीवान् कामात् सेवाम् अकुर्वतः शिक्षार्थमेव दण्डं कुर्वाणः कालः कथं भयं तेषां कुर्याद् हन्याद् वा! कालस्य भ्रूरूपत्वं पूर्वं वर्णितम्. ननु कालेन अल्पो दण्डः कर्तव्यः, ततो लौकिकभयवत् सोऽपि अल्पमिति कथं भजनं सिद्ध्येद्? इति आशङ्क्य आह **मुहुः** इति. ननु कालो न दृश्यते; दृष्टादेव हि लोका बिभ्यति, इत्यतः आह **त्रिणेमिः** इति. संवत्सरात्मकः प्रत्यक्षएव कालः यस्य शीतातपवर्षाख्याः त्रयो नेमयः. तल्लोके प्रकटीकुर्वन् स्वपराक्रमं ज्ञापयति इति अर्थः. (**अभवच्छरणाः!**) न विद्यते भवान् शरणं येषां; "ये

लेखः

"सम्बन्धादेवमन्यत्रापि" (ब्रह्मसूत्र ३।३।२०) इति सूत्रे अन्यत्र च निरूपितम्. **कियत्प्रभृतीति**, कियदारभ्येत्यर्थः. **बुद्धिसहितं जन्मेत्यस्य** "जन्मनो बुद्धिसाहित्यं यदवधी"त्यर्थ इत्याशयेनाहुः **यदैवेति**. "सविशेषणे हि" (लौ.न्या.सा. १५६) इतिन्यायादिति भावः. उत्तरार्धार्थमाहुः **अनुवृत्तिश्चेति**. **पीडात** इति, पीडासम्पादनादित्यर्थः. **सेवामकुर्वत** इत्यस्याग्रे वीक्ष्येति शेषः. **सोप्यल्पमिति**, कालोऽप्यल्पभयं कुर्यादिति शेषः. **ये यथेति**. भगवतः शरणभावनाभावे तत्कृतस्वीकाराभावो हेतुरित्यत्र इयं प्रतिज्ञाहेतुरित्यर्थः ॥३२॥

१. बहिर्महान् इति आद्यसम्पादकीया टिप्पणी. वस्तुतस्तु बाहिर्मुख्याद् इति पाठः सम्भाव्यते - सम्पा.

यथा मां प्रपद्यन्ते" (भग.गीता ४।११) इति शरणत्वेन न स्वीकृतवन्तः इति अर्थः.

नृणां दुर्गतिमालोक्य ये सेवन्ते दृढव्रताः ।
कृष्णं तद्भ्रुकुटिः कालो न तान् हन्ति कदाचन॥(२९)॥३२॥

एवं भजनम् उपपाद्य योगादिना भजनं न कार्यसाधकं, योगशेषत्वादिति स्वतन्त्रमेव भक्तिमार्गानुसारेण भजनं कर्तव्यम् इति अभिप्रायेण योगपक्षं निन्दति —

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समपहाय गुरोश्चरणं
वणिजइवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

(सूक्ष्म.) **विजितहृषीकवायुभिः** इति. विशेषेण **जितानि** स्वाधीनीकृतानि **हृषीकाणि** इन्द्रियाणि **वायुः** च यैः तैरपि **अदान्तमनस्तुरगम् अतिलोलं ये** संसारिणः स्वेनैव **यन्तुं** निग्रहीतुं **यतन्ति** यत्नं कुर्वन्ति ते **उपायखिदः** साधनेष्वेव क्लेशं प्राप्नुवन्तः **इह** संसारे **सन्ति** तिष्ठन्ति इति अर्थः. हे **अज**! किं कृत्वा क्लेशं प्राप्नुवन्ति? **व्यसनशतान्विताः** सन्तो **गुरोः चरणं समवहाय**[1]. कस्मिन् क इव? **अकृतकर्णधराः वणिजो**

लेखः

विजितेत्यस्य आभासे **योगादिनेति**, तन्मार्गानुसारेणेत्यर्थः. **योगशेषत्वाद्** इति. तन्मार्गे भजनस्य योगार्थत्वात् तच्छेषत्वं, "शेषः परार्थत्वाद्" (जैमि.सूत्र. ३।१।२) इति लक्षणादित्यर्थः. अत एव चित्तवृत्तिनिरोधसिद्धौ "तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते" (भाग.पुरा. ३।२८।३४) इत्यनेन

श्रुतिगीतार्थः

"विजीतहृषीक" इत्यनेन स्पर्शतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — स्पर्शसुखप्रधाने संसारसिन्धौ वर्तमानाः परमार्थसुखहेतुं गुरुचरणस्पर्शं विहाय योगादिसाधनैरपि यतमाना विघ्नविहता मरणान्तदुःखहेतुमेव स्पर्शं लभन्ते, नतु सुखहेतुमिति. पद्यं २० तत्त्वं २१

---

१. इह सूक्ष्मटीकायां पूर्वं 'समवहाय' इति पाठम् अंगीकृत्य पश्चात् सुबोधिन्यां 'समपहाय' इति पाठः अंगीकृतो भाति - सम्पा.

जलधाविव ॥२३॥

(सुबो.) **विजितहृषीकवायुभिः** इति. पूर्वश्लोके गुरुद्वारा भजनं निरूपितं तदेव फलपर्यवसायि. योगस्तु सर्वथा न कस्यापि सेत्स्यति– स्वतःप्रवृत्तस्य मनसः प्रतिबन्धकत्वात्, मनो हि असद्, भगवता लब्धशक्तिः. ईश्वर-गुरु-प्रसादयुक्तः चेत् किं योगेन, साधनेनैव कृतार्थत्वसम्भवाद् –अतो लौकिकाइव योगिनोऽपि संसारएव परिभ्रमन्ति, न कृतार्था भवन्ति इति निरूप्यते. ननु योगमार्गः कथं कृतः ? इति चेद्, उच्यते—

अणिमादिसुखार्था ये ये चात्यन्तबहिर्मुखाः ।
क्लेशकार्यरता ये च तदर्थं योग उच्यते ॥(३०)॥
परम्परासाधनं वा फलार्थं वा निरूपितः ।
योगः साक्षान्न मोक्षाय निषेधाद् व्याससूत्रतः ॥(३१)॥
"एतेन योगः प्रत्युक्तः" (ब्रह्मसूत्र २।१।३) प्रशंसार्था फलश्रुतिः ॥

लेखः

भजनत्याग उक्तः. व्याख्याने **फलेति**, अभवपर्यवसायीत्यर्थः. **स्वतःप्रवृत्तस्येति** कर्मणि षष्ठी. गुरूपदेशमात्रे जातेऽपि पूर्वश्लोकोक्तरीत्या गुरुं भगवन्तं, भगवन्तं गुरुं वा अप्रसाद्य प्रवृत्तस्येत्यर्थः. **मनस** इति कर्तरि षष्ठी. प्रतिबन्धो = विसामग्री, तद्धेतुः **प्रतिबन्धकः**. अतो विसामग्रीं स्पष्टयन्ति **मनो ह्यसदिति**, असद्भावकं; तथाच असद्भावनं चित्तवृत्तिनिरोधे विसामग्रीत्यर्थः. तर्हि भगवत्प्रसादे कथं तदसम्पादकत्वमित्यत आहुः **भगवतेति**. तत्सामर्थ्यं भगवद्दत्तमिति "सदिव मनः" (श्लो. २६) इतिश्लोके निरूपितम् अतो भगवत्प्रसादेन प्रभवतीत्यर्थः. तर्हि प्रसाद्य योगः कर्तव्य इत्याशङ्क्य तदा सोऽन्यथासिद्ध इति आहुः **ईश्वरेति**. **साधनेनैवेति**, अभवसाधनेन पूर्वश्लोकोक्तभजनेन इत्यर्थः. **उच्यत** इति. नेदं मूलव्याख्यानं किन्तु अस्माभिः समाधानमुच्यत इत्यर्थः. **परम्परेति** अत इति शेषः. प्रथमेषु **परम्परासाधनं योगः** अणिमादिसिद्धौ सर्वत्र गमनसामर्थ्यं, न महतां ऋषीणां सङ्गे सति ज्ञानेन भक्त्या वा मोक्षः सिद्ध्यतीत्यर्थः. द्वितीयतृतीयेषु **फलार्थं निरूपितः** तादृशेषु किञ्चित्सुखमन्ते जनयन्तीत्यर्थः. तदुक्तं "योगसाङ्ख्ये धर्महीने विमार्गपरिपोषिते नरकायैव भवतः पश्चात् किञ्चित् सुखं भवेद्" (त.दी.नि.

अतः स्वतन्त्रयोगस्य निषेधार्थम् इदम् उच्यते. **विशेषेण जितानि हृषीकाणि** इन्द्रियाणि **वायुः** च यैः. अनेन प्रत्याहारपर्यन्तं सिद्ध्यति इति निरूपितम्. अन्यथा योगाङ्गेषु प्राथमिकेषु असिद्ध्यमानेषु प्रवर्तमानस्य शङ्का स्याद् अतो बोध्यते. पञ्चाङ्गान्येव सेत्स्यन्ति, न अधिकानि, इति बोधयति. मनसो निग्रहाशक्यत्वे हेतुम् आह **अदान्त** इति, स्वभावतएव अदान्तम्. प्रतिनियतेन्द्रियपक्षे येषां मनः स्वभावतो दान्तं = सात्त्विकप्रकृति तेषां योगः सिद्ध्येदपि इति ज्ञापितम्. येषान्तु **अदान्तमेव मनः** तदपि **तुरगरूपं**, तस्मिन् आरूढो जीवो भवति मनोविलासाकाङ्क्षी तस्यतु अशक्यएव निग्रहः इति ज्ञापितम्. स्वयञ्च **इह** लोकानुसारेण एव स्थितो **यन्तुं** वाञ्छति. ननु तुरगोऽपि कथञ्चिद् नियम्यते, तद्वद् मनोनियमनमपि भविष्यति इति चेत्, तत्र आह **अतिलोलम्** इति, प्रयत्नेन ग्रहीतुम् एव अशक्यम्. ननु उक्तं "यतो-यतो निःसरति मनः चञ्चलम् अस्थिरम्" (भग.गीता ६।२६) इति चञ्चलस्यापि निग्रहे साधनम् उक्तम् इति चेत्, तत्र आह **उपायखिद** इति, उपाय एव खेदं प्राप्नुवन्ति. योगशास्त्रे ततः पूर्वं पञ्चाङ्गानि निरूपितानि तान्येव मनसो अतिचाञ्चल्ये साधयितुम् अशक्यानि; नहि विक्षिप्ते मनसि आसनं सिद्ध्यति, यमादिकं वा. अतः सर्वथा अदान्ते योगारम्भएव न कर्तव्यः. किञ्च महता कालेन यमादिसाधनानुष्ठाने चित्तशुद्धौ सत्यां कदाचित् साधनान्तरं सिद्ध्येदपि, तदपि नास्ति इति आह **व्यसनशतान्विता** इति. उत्पन्नस्य प्राणिनो विक्षिप्तमनसो प्रतिक्षणम् अनेकानि व्यसनानि भवन्ति. ननु प्रथमं व्यसननिराकरणाय साधनान्तरं कर्तव्यम् इति

लेखः

२।२०७) इति. **अनेनेति**, विजितहृषीकत्वकथनेनेत्यर्थः, इन्द्रियनिग्रहस्य 'प्रत्याहार'पदार्थत्वादिति भावः. **विजितहृषीकवायुभिः** पुरुषैः हेतुभिः **यतन्ति** तान् दृष्ट्वा यतन्तीत्यर्थः. **अन्यथेति**, प्रत्याहारपर्यन्तं सिद्धनिरूपणाभावे श्रुतिषु अनाप्तत्वशङ्का स्यादित्यर्थः. **प्रतीति**. उत्तरमीमांसामते इन्द्रियाणि मनश्च प्रतिजीवं भिन्नानि, तत्पक्ष इत्यर्थः. **तस्य त्विति** कर्तरि षष्ठी. अनारूढो निगृहणात्यपि, आरूढो हि विलासाकाङ्क्षी सर्वत्र गमनार्थं प्रेरयत्येव, नतु निगृहणातीत्यर्थः. **पञ्चाङ्गानीति**, यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहारा

चेत्, तत्र आह **समपहाय गुरोः चरणम्** इति. आदौ व्यसनापगमे गुरुरेव एकं साधनम्, "एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या" (भाग.पुरा. ७।१५।२५) इति वाक्यात्. सम्यक् त्यागः साधनत्वेनापि. गुरुसेवायां तु तेनैव कृतार्थत्वाद् योगो व्यर्थः इति भावः. ततः तेषाम् उभयभ्रंशम् आह **वणिजइवाज सन्ति** इति. सांयात्रिकाः कर्णधारमपि अकृत्वा जलधावेव सीद्यमानाः भवन्ति, नतु कार्येऽपि असिद्धे गृहम् आगच्छन्ति. जलधित्वात् तत्र महान् क्लेशः सूचितः. तथा योगे शरीरशोधनं कृत्वा स्थितो महान्तं क्लेशमेव प्राप्नोति इति अर्थः.

अदान्ते मनसि ज्ञाते योगार्थं न यतेद् बुधः ॥(३२)॥
गुरुसेवापरो भूत्वा भक्तिमेव सदाभ्यसेत् ॥३३॥

एवं भजने प्रकारान्तरं निराकृत्य वैराग्य-मोहापगमाभावे भक्तिः न सेत्स्यतीति वैराग्यम् उपदिशन्त्यः आहुः —

स्वजनसुतात्मदारधनधामधराऽसुरथैः
त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति कोऽन्विह स्वविहते सुनिरस्तभगे ॥३४॥

(सूक्ष्म.) **स्वजनसुत** इति. **श्रयतः** त्वदाश्रयं कुर्वतः पुरुषस्य **सर्वरसे आत्मनि** आत्मत्वेन स्फुरिते त्वयि सति **नृणां स्वजनादिभिः किं?**

लेखः

इत्यर्थः. **गुरुसेवायां** त्विति. योगसाधनत्वेनापि[१] गुरुसेवा आवश्यकी, तस्यां सत्यां तु योगो व्यर्थः ॥३३॥

श्रुतिगीतार्थः

"स्वजनसुते"त्यनेन रसतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः — स्वजनादीनां जीवनसम्पादकत्वाद् जीवतस्तु अदनम् आवश्यकमिति लौकिको रसनेन्द्रियैकवेद्यो मधुरादिरसो अनुभवकाले सुखं च अनुभावयन्नपि परिणामे प्रायो दुःखहेतुरपि भवति, भगवद्रसस्तु सर्वेन्द्रियवेद्यो अविरतं सुखहेतुरेवेति. पद्यं २१ तत्त्वं २२

---

१. योगसाधनेनापि इति मुद्रितपाठः. गृहीतस्तु आ-इ-ए पाठानुरोधाद् - सम्पा.

न किमपि इति अर्थः. असुशब्देन प्राणाः. **इति सद्** एवम्प्रकारकं परमार्थवस्तु **तद् अजानताम् इह** संसारे **नु** इति वितर्के **कः सुखयति** सुखं ददाति? न कोऽपि इति अर्थः. कथम्भूतानाम्? **अजानतां रतये** ग्राम्यसुखाय **मिथुनतो** मिथुनीभूय **चरताम्**. कथम्भूते संसारे? **स्वविहते** स्वत एव विशेषेण हते पतितगृह इव विशीर्णे. तत्रापि **सुष्ठु निरस्ता भगा** ऐश्वर्यादयो यस्मिन्नेतादृशे ॥३४॥

(सुबो.) **स्वजनसुतात्म** इति. स्वजनानां प्रयोजनम् आवश्यकं, तदर्थं स्वजनानाम् अपेक्षा कर्तव्यैव. अपेक्षापरित्यागस्तु स्वात्मस्थितिव्यतिरेकेण न भवति, अतो ज्ञानोत्तरमेव वैराग्यम्. स पक्षः प्रकृते न उपपद्यते. अतः प्रयोजनम् अङ्गीकृत्यैव साधानान्तरेण तत् सेत्स्यतीति पूर्वसिद्धसाधनान्येव निराकुर्वन्ति. यथाकथञ्चिद् लोकसिद्धसाधननिवृत्तौ प्रयोजनं भगवता क्रियमाणम् अलौकिकमेव भवतीति मुख्यतुल्यमेव[१] एतदपि वैराग्यम्[२]. **स्वजनानाम्** इहलोके उपयोगः, ऐहिकप्रतिष्ठादिः तैरेव सिद्ध्यतीति. **सुतस्य** परलोकोपयोगः. **आत्मनो** देहस्यतु परलोकसाधककर्मकरणार्थम् ऐहिकभोगार्थं च उपयोगः. **दाराणां** बाधककामनिवृत्त्यर्थं सुखार्थं च उपयोगः. ततो **धन-धाम-धराः** धन-गृह-भूमयः सुख-स्थिति-निर्वाहकाः. एतएव **असवः** प्राणभूताः, एतद्विघाते प्राणान् त्यजन्तीति. **अश्वरथैः** इति वा पाठः; गतिसाधनानि एतानि सुखकरणानि. अष्टविधानि एतानि यावन्तम् उपकारं करिष्यन्ति स सर्वोऽपि उपकारः कोटिगुणितो भगवता क्रियते. यदि सुखमेव अपेक्षते तदा स्वयमेव सुखं प्रयच्छति, यदि साधनपुरःसरम् अपेक्ष्यते तदा हि अलौकिकानि

लेखः

स्वजनेत्यत्र. स्वजनानामिति, स्वजनकृतं **प्रयोजनं** फलं तत्कृतोपकार इत्यर्थः. **सुखेति**, सुखसाधकाः स्थितिसाधका निर्वाहकाश्च एते त्रय इत्यर्थः. सुखस्थितिभ्यां सह निर्वाहो यैरिति विग्रहः. **गतीति**, एतान्येव सप्ताश्वरूपाणि **गतिसाधनानी**त्यर्थः. रथरूपाणि च **सुखकरणानी**त्यर्थः. **कीर्त्यादय** इति, स्वजनानां कीर्तिसाधकत्वस्य पूर्वमुक्तत्वादिति भावः ॥३४॥

१. ज्ञानोत्तरवैराग्यतुल्यम् इत्यर्थः - सम्पा.   २. सवैराग्यम् इति कपाठः - सम्पा.

साधनान्यपि प्रयच्छति इति भावः. **नृणाम्** इति काममयत्वं विवेकवत्त्वं च प्रतिपादितम्. ननु कदाचिद् भगवान् न कुर्यात् तदा का गतिः? इति चेत्, तत्र आह **श्रयत आत्मनि** इति, यस्तु आश्रयते तस्य आत्मत्वेनैव प्रकाशते. यथा स्वस्य हितं स्वयं करोति तथा भगवानपि करोति इति अर्थः. ननु विषयान् चेद् भगवानपि दद्यात् तदा उपस्थितपरित्यागे किं कारणम् इति चेत्, तत्र आह **सर्वरस** इति. सर्वे रसाः कीर्त्यादयो भगवत्येव भवन्ति. एतेच रसाः प्रकटाएव, नतु मधुनीव अव्यक्ताः. ननु किम् अत्र युक्तं— भगवति विद्यमानाः रसाः किं भोक्तव्याः, स्वसिद्धाः वा इति? तत्र आवश्यकत्वात् लाघवाद् भार्यादिभिः सहैव भगवद्भजनं कर्तव्यं, नतु सर्वपरित्यागेन इति चेत्, तत्र आह **इति सदजानताम्** इति. अत्र पूर्वोक्तौ न भगवान् स्वजनाः च समतया निरूपिताः. किन्तु एते दुःखदाः भ्रमादेव सुखाभाससम्पादकाः, भगवांस्तु निर्दोषानन्दसम्पादक इति. एवं वैलक्षण्ये ज्ञाते सन्देहएव न उत्पद्यते. अतो वैलक्षण्यज्ञानार्थं सुतादीनां स्वरूपं निरूपयन्ति. **इति** एवम्प्रकारेण **सत्** परमार्थतत्त्वं ये न जानन्ति स्वजनादेः भगवतः च तारतम्यं, **रतये** च **मिथुनतः** चरन्ति ग्रामसुखाय सर्वत्र मिथुनीभूय चरन्ति. यथा स्वोपवेशनार्थं कश्चित् स्थूलं मञ्चकं नयति पथिकः तथा इमे निमिषार्धमात्ररत्यर्थं सर्वथा शृङ्खलाबद्धाइव तया सह चरन्ति. एवम् अतिक्लिष्टानां **को** वा अर्थः सुखयेत्! नहि अत्यन्तपीडितं विषयाः सुखयन्ति; स्वजनानान्तु सुखजनितवार्तापि दूरे. साधनान्तरेणापि भगवतापि तेषां सुखं न भवति इति अर्थः. **नु** इति वितर्के— अस्माभिः सर्वम् अन्विष्टं, तादृशस्य क्वापि न सुखदाता उपलब्धः. किञ्च कश्चित् सुखं दास्यति इति शङ्का न कर्तव्या, यतो अस्मिन् जगति **स्वतएव विहते** पतितगृहइव विशीर्णे, तत्रापि **निरस्तभगे** उत्कृष्टपदार्थरहिते शून्ये अमेध्यादियुक्तइव **को** वा सुखदातापि तादृशे स्थाने सुखं ददाति इति अर्थः. अत्र परित्यागावस्था अधिकरणत्वेन विवक्षिता. जगत्पक्षेऽपि भगवत्सेवकः यत्र क्वचिदपि सेवमानो वैकुण्ठएव सेवते, नतु जगति इति ज्ञातव्यम्.

पुत्रादीन् सम्परित्यज्य कृष्णः सेव्यो न तैः सह ॥(३३)॥

तत्सुखं भगवान् दाता तेतु क्लिष्टेऽतिदुःखदाः ॥३४॥

एवं सर्वपरित्यागेन भगवद्भजनं कर्तव्यम् इति निरूपितम्. तत्र प्रथमं किं कर्तव्यम् इति आकाङ्क्षायां क्रमं निरूपयन्त्यः आहुः —

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदाः
त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥३५॥

(सूक्ष्म.) **भुवि पुरुपुण्यतीर्थ** इति. ये **विमदा ऋषयो भुवि पुरूणि** बहूनि **पुण्यतीर्थानि** गङ्गा-कुरुक्षेत्रादीनि अथच **तीर्थानां** गुरूणां (**सदनानि** !) गृहाणि ये सेवन्ते. कथम्भूताः ? **अघभिदङ्घ्रिजलाः**. अघं पापं भिनत्ति विदारयति इति **अघभिद्** एतादृशं **अङ्घ्रयोः जलं** येषां ते तथा. अथच ते पुनः **भवत्पदाम्बुजहृदः** भवच्चरणारविन्दं हृदि येषां ते. ये **नित्यसुखे आत्मनि त्वयि सकृद् मनो दधति** ते **पुनः पुरुषसारहरावसथान्** पुरुषाणां सारं विवेकादिकं हरन्ति एतादृश आवसथान् गृहान् **न उपासते** ॥३५॥

(सुबो.) **भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनानि** इति. आदौ भूमिसमाश्रयणं कर्तव्यं; भूमिर्हि भगवच्चरणारविन्दरूपा. तत्र मञ्चक-पादुकादिपरित्यागेन भूमावेव निरन्तरं तिष्ठेद्. अनेन सर्वएव भोगाः व्यावर्तिताः. ततः तीर्थाश्रयणं कर्तव्यं विशेषतः चरणारविन्दस्फूर्त्यर्थम्. गङ्गा सर्वतीर्थानां मुख्या, चरणारविन्दएव तिष्ठतीति, गङ्गातीरे चरणारविन्दस्फूर्तिः आधिदैविकपक्षे आवेशपक्षे च

लेखः

भुवि पुरुपुण्येत्यत्र आधिदैविकेति. "तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या

श्रुतिगीतार्थः

"भुवि पुरुपुण्य" इत्यनेन घ्राणेन्द्रियप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. घ्राणेन्द्रियं हि गुप्तमपि स्वसुखहेतु-वस्तु स्वग्राह्यगुणेन जानाति, पश्चात् तत् तल्लग्नं कमले भ्रमर इव ततो न निवर्तते. एवं घ्राणसदृशबुद्धयो नराः कीर्तिगन्धेन अनुभावेन च तीर्थर्ष्यादिषु गुप्तभगवन्तं ज्ञात्वा तल्लग्नाः तत्सुखमनुभूय न ततो निवर्तन्ते, नान्यं वाञ्छन्तीति. पद्यं २२ तत्त्वं २३

स्फुटा. तत्रापि **पुरुपुण्यानि तीर्थानि** सेव्यानि कुरुक्षेत्रादीनि. न केवलं तान्येव तीर्थानि सेव्यानि किन्तु गुरुरूपाण्यपि इति आह **तीर्थसदनानि** इति. **तीर्थानां** गुरूणां **सदनानि** गृहाणि **भुवि** वर्तन्ते अतः तानि सेव्यानि इति अर्थः. ननु के ते इति आकाङ्क्षायाम् आह **ऋषयः** इति. तेहि मन्त्रदृष्टारः तदुद्धारकालौकिकप्रकारं जानन्ति अतः तेषु गत्वा मन्त्राद्यलौकिकं भगवद्भजनसाधनं शिक्षणीयम् इति अर्थः. ननु तेषु को विशेषः? इति चेत्, तत्र आह **विमदाः** इति. मदो गर्वो, येन स्व-परज्ञानं न भवति. अनेन ऋषीणाम् अभिज्ञानमपि निरूपितम्. ननु केवलं मदाभावे सात्त्विकाः कर्मिणोऽपि सेव्याः भवेयुः, देवतान्तरोपासकाः वा, तत्र आह **ते** पुनः **भवत्पदाम्बुजहृदो** भवन्ति. तेषाम् अन्तर्बहिः माहात्म्यं निरूप्यते— अन्तः तेषां हृदये भगवान् भवति, भक्तिमार्गप्रकारेण बहिश्च ते भगवदाज्ञाकारिणो भवन्ति.

सर्वलोकोपकारार्थं कृष्णेन सहितास्तु ते ॥(३४)॥
परिभ्रमन्ति लोकानां निस्ताराय महाशयाः ॥

अतएव सर्वेषाम् **अघं भिनत्ति यदङ्घ्रिजलं** तादृशं येषाम्. ततः तच्चरणारविन्दजलेन पापक्षयः, तदुपदेशेन तद्धृदयस्थ-भगवच्चरणारविन्दं सङ्क्रामति इति सूचितम्. ननु तत्सेवायां कृतायां भगवति च हृदये निविष्टे यदि शीघ्रमेव देहपातो भवेत् तदा न काचित् चिन्ता; यदि विलम्बः तदा कालदिना बुद्धिभ्रंशे पुनः गृहासक्तिः स्यात्, ततः कृतं सर्वं व्यर्थं भवेद् इति आशङ्क्य आह **दधति सकृन्मन** इति. ये गुरूपदेशादिना **त्वयि सकृदपि मनो दधति**. यथा कामिनां स्त्रीविशेषे

लेखः

दृश्यते क्वचिद्'' (सिद्धा. मुक्ता. ७) इत्यत्र तथानिरूपणाद् आधिदैविकी भगवद्रूपा तस्यास्तीरे तच्चरणप्राकट्यं भवत्येवेत्यर्थः. **आवेशेति,** कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बु गङ्गायामाविष्टमिति पक्षे इत्यर्थः. **तीर्थपदस्यावृत्तिर-**भिप्रेता. **तत्रापीति,** भुव्यपीत्यर्थः. **ऋषय** इति. ते गुरवो **विमदा ऋषयः उत** पुनः **भवत्पदाम्बुजहृदो अघभिदङ्घ्रिजलाश्चेति** मूलेऽन्वयः. अतस्तत्सदनानि समाश्रयणीयानीति शेषः. **अत** इति, अलौकिकप्रकारज्ञातृत्वाद्

सकृत् चित्तं तत् सर्वथा अननुभूय न निवर्तते, तथा स्नेहे जाते भगवद्रसाभिनिवेशे यदा भगवति चित्तं भवति तादृशः कदाचिदपि गृहं न सेवते. अदृष्टपूर्वः सेवेतापि, दृष्टपूर्वस्तु न सेवतएव इति अर्थः. ननु तादृशः पूर्णार्थः गृहेऽपि समागतः भगवन्तं न त्यक्ष्यतीति गृहे समागते को दोष इति चेत्, तत्राह **पुरुषसारहरावसथान्** इति. विवेकधैर्यादिकं पूर्वावस्थां च सर्वमेव गृहा हरन्ति इति अर्थः.

परिभ्रमन् तीर्थनिष्ठो गुरुलब्धहरिस्मृतिः ॥(३५)॥
न सेवते गृहान् दुष्टान् सद्धर्मात्यन्तनाशकान् ॥३५॥

एवं सर्वप्रकारैः भगवद्भजनं निरूप्य सम्यङ्मार्गानुसारेण स्थिरीकृत्य भजनीयनिर्धारार्थं यतमानाः सच्चिदानन्दो भगवान् भजनीयइति वक्तुं लोके सच्चिदानन्दाः धर्माः – एकत्र न सन्तीति किं वक्तव्यं, प्रत्येकमपि क्वचिदपि धर्माः न सन्ति! इति कथनार्थं षड्भिः श्लोकैः, द्वाभ्याम् एकैकस्य, लोके जडे सत्त्वं चेतने चित्त्वं स्वर्गादौ आनन्दत्वं च नास्ति इति – निराकुर्वन्ति. तत्र प्रथमं द्वाभ्यां जगति सत्त्वं निराक्रियते. अन्यथा भगवानेव सन् इति अर्थो न उपपद्येत, भजनीयनिर्धारे गौणसत्त्वस्य अप्रयोजकत्वात्. ज्ञानार्थं दोषाभावार्थं वा तदुपयोगः. असत्सेवया पूर्वं नाशो निरूपितः, सत्सेवया कृतार्थता च. यदि जगत्यपि सत्त्वं स्यात् तदा तत्रापि भजनं भवेद्, भजने वा दोषो न स्यादिति तद् अवश्यं निराकर्तव्यम्. तत्र जगतो

लेखः

इत्यर्थः. **अदृष्टपूर्व** इति न दृष्टः पूर्वं येनेति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः. येन पूर्वं भगवान् न दृष्टो = मनसा न ध्यातस्तादृश इत्यर्थः ॥३५॥

सत इदमुत्थितमित्यस्याभासे जडे सत्त्वमिति. यथा ज्ञानस्वरूपस्य जीवस्य ज्ञानधर्मज्ञानतिरोभावादज्ञत्वं तथा सत्स्वरूपे जडे सत्त्वतिरोभावादसत्त्व-मिति ज्ञेयम्. **आनन्दत्वमिति,** धर्मरूप आनन्द इत्यर्थः. लोकपक्षे **स्वर्गादौ** स्वर्गादिस्त्रीषु भोग्ये उपस्थविषये इत्यर्थः. **गौणसत्त्वस्येति.** ब्राह्मणादिः सन् शूद्रादिरसन्निति ब्राह्मण्यादिगुणयोगाज्जातस्य सत्त्वस्येत्यर्थः. **ज्ञानार्थमिति,** तादृशस्य सेवया ज्ञानदोषाभावो वा भवतीत्यर्थः. उत्कृष्टत्वं धर्मरूप 'सत्त्व' पदार्थ इत्याशयेनाहुः **असत्सेवयेति. वादमुद्रयेति,** वाद-प्रतिवादरीत्येत्यर्थः.

ये सत्त्वं वदन्ति तन्मतं वादमुद्रया निराकुर्वन्ति—

सत इदमुत्थितं सदिति चेद् न नु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥३६॥

(सूक्ष्म.) **सत इदम् उत्थितम्** इति. **सतो** ब्रह्मणः सकाशाद् **इदम् उत्थितम्** उत्पन्नं जगत् **सद्** भवति ब्रह्म भवति **इति चेद् न, नु** इति वितर्के. **तर्केण** युक्त्या **हतं** बाधितम्. **सतः उत्थितं सद्** इति पक्षः **क्वचिद् व्यभिचरति** यथा 'अङ्ग'नाम्नो राज्ञः सकाशाद् वेनः. शुक्तिकायां रजतं **क्वचिद् मृषा** भवति. **न तथा उभययुक्** सदसदात्मकं जगत् तथा व्यभिचारादिदोषग्रस्तं न भवति. **व्यवहृतये** व्यवहाराय **अन्धपरम्परया विकल्पः इषितः** इष्टः. **ते** तव **भारती** वेदरूपा वाणी **उरुवृत्तिभिः** रूढि-लक्षणादिवृत्तिभिः **उक्थपरान्** कर्मपरायणान् **भ्रमयति** ॥३६॥

(सुबो.) तत्र एवं संशयः— यद् अस्य जगतः सत्त्वम् उच्यते तत् किं प्रतीत्यनुरोधाद् आहोस्विद् व्यवस्थापकं कारणम् अस्ति आहोस्वित् प्रमाणम् अस्ति? इति आशङ्क्य निराकुर्वन्ति. प्रथमतः कारणवशाद् अस्य सत्त्वम् इति पक्षो निराक्रियते. तदा जगतः सत्त्वम् अनुमानात् सेत्स्यति. तत्र पूर्वपक्षे अनुमानम्— *इदं जगत् सदेव, सतः उत्पन्नत्वात्. यो

लेखः

आशङ्क्येति, पूर्वमत इति शेषो ज्ञेयः. एवं संशयः अत आशङ्क्य निराकुर्वन्तीत्यर्थः. **कारणवशादिति** द्वितीयः **पक्षः** प्रथमतो **निराक्रियत** इत्यर्थः. **सदेवेति**, सत्त्वयुक्तमित्यर्थः. **सत** इति, सत्त्वयुक्तादित्यर्थः.

श्रुतिगीतार्थः

"सत इदमुत्थितमि"त्यनेन शब्दतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. शब्दतन्मात्रं हि ध्वन्यात्मकम् अर्थरहितम् अनुभवकाले क्वचिद् गानादौ किञ्चित् सुखं ददाति, नतु परमार्थे. तद्वत् वेद-भगवन्मतविरुद्धानि सर्वमतानि कुतर्कबहुलानि आपातसुखजनकान्यपि ध्वनिवत् परमार्थशून्यानि न भगवत्पदप्रापकानीति. पद्यं २३ तत्त्वं २४

यादृशाद् उत्पद्यते स तादृशएव भवति, यथा सुवर्णाद् उत्पन्नं कुण्डलं सुवर्णमेव भवति. तथा ब्रह्मणोऽपि उत्पन्नं जगत् सदेव.* "कथम् असतः सद् जायेत" (छान्दो.उप. ६।२।२) इतिश्रुत्या सतः कारणत्वे कार्यमपि सदेव भवतीति निरूपितम्. तद् दूषयति[१] **इति चेद् न** इति. दूषणे प्रमाणं दूषणं च आह. **नु** इति वितर्के, अनेन तर्कबाधः उक्तः. यतः पूर्वपक्षिणापि व्याप्तिबलं प्राप्तेन तर्केणैव पदार्थो निर्णीयते, "तर्कः शङ्कावधिः" (न्या.कुसु. ३।७) इति. तदेव आह **तर्कहतम्** इति. अयम् अर्थो— यद् जगति सत्त्वं साध्यते तत् किं कारणसत्त्वमेव कार्ये

लेखः

सुवर्णादिति, सुष्ठु वर्णो यस्य तादृशाद् हेम्न **उत्पन्नं कुण्डलं** समीचीनवर्णयुक्तमेव **भवती**त्यर्थः. **ब्रह्मणोपी**ति, सत्त्वयुक्तादिति शेषः. सदुत्पन्नत्वप्रमापिकां[२] श्रुतिमाहुः **कथमि**ति. **तद्दूषयन्ती**ति, तन्मतम् असम्भावनादोषयुक्तं करोतीत्यर्थः. **इति चेन्न** न सम्भवतीत्यर्थः. **दूषण** इति पदद्वयस्याभ्यासो अयं असम्भावनारूपद**ूषणे** (**प्रमाणं**!) प्रमाजनकं विरुद्धतर्कं **नु** इतिपदेना**ह**. तेन विरुद्धतर्केण पूर्वतर्कस्य बाधः. तन्मते **दूषणं तर्कहत**पदेनाहेत्यर्थः. **वितर्क** इति, विरुद्धतर्के इत्यर्थः. **अनेने**ति. **तर्कहत**पदेनोक्त**स्तर्कबाधो अनेन नु** इतिपदोक्तविरुद्धतर्केण भवतीत्यर्थः. विरुद्धतर्केण "यदि कार्ये सत्त्वमागच्छेत् तदा कारणम् असत् स्याद्" इत्याकारकेण पूर्वपक्षिणो अभिमतस्य तर्कस्य "यदि सन्न स्यात्तर्हि सदुत्पन्नं न स्याद्" इत्याकारकस्य बाध इत्यर्थः. ननु प्रमाणमार्गे तर्केण कथं निर्णयः क्रियते इत्यत आहुः **यत** इति. **तर्कः शङ्कायाः अवधिः** शङ्कानिवर्तक **इति** हेतोः पूर्वपक्षिणापि **तर्केणैव** निर्णयः क्रियते अतोऽस्माभिरपि कण्टकन्यायेन तर्केण निर्णय उक्तः. वस्तुतस्तु प्रमाणसिद्धत्वादेव तथोच्यत इति भावः. **तदेवाहे**ति, तर्केण पूर्वतर्कबाधनं तन्मते दूषणमाहेत्यर्थः. प्रमाणं **नु** इतिपदेनोक्तमिति एवकारः. **अयमर्थ** इति. मूले तर्कबाधो व्यभिचारश्चेति दूषणद्वयमुक्तम्. तत्र पक्षद्वयं सम्भाव्य प्रथमपक्षे तर्कबाधोऽपि दूषणं, व्यभिचारस्तु पक्षद्वयेऽपि

१. दूषयन्ति इति लेखकृतां पाठः - सम्पा. २. -प्रमाणिकाम् इति मुद्रितपाठः ; शेषेषु एवम् - सम्पा.

समायाति इति उच्यते, आहोस्विद् आरम्भन्यायेन कार्ये सत्त्वान्तरं जन्यते? तत्र न आद्यः पक्षः साधीयान्, यतः तर्केण हन्यते. यदि कारणसत्त्वं कार्ये समागच्छेत्, कारणम् असत् स्यात्. स्वनाशे आशङ्क्यमाने कार्यमपि न जनयेत्. अतः स्वसत्त्वनाशशङ्कया भगवान् जगदपि न कुर्यात्. नापि सत्त्वलक्षणो गुणः क्वचित् कारणे स्थितः कार्ये समागतः इति आवयोः सम्प्रतिपत्तिः अस्ति. तस्माद् बहुतर्कपराहतत्वात् न कारणसत्त्वं कार्ये समायाति इति अर्थः. अथ द्वितीयः पक्षः, सत्त्वान्तरम् आरभ्यत इति. तदपि असत्, व्यभिचारित्वात्. सतोऽपि अङ्गाद् वेनः असन्नेव जातः. नच वक्तव्यं "तत्र असदंशः सङ्घाते स्थितः" इति, तथा सति तावन्मात्रमेव कार्येऽपि असत् स्यात्, नतु स्वभावादिः अतिरिक्तोऽपि. ननु बीजे सएव सङ्क्रान्त इति चेत्, तर्हि ततः पृथोः आविर्भावो न स्यात्. तस्मात् कार्यकारणयोः वैलक्षण्यात् न कारणसत्त्वेन नियमेन कार्ये सत्त्वम् उत्पाद्यते. ननु *न कारणमात्रं कार्ये सत्त्वम् उत्पादयति किन्तु समवायिकारणमेव; बीजन्तु निमित्तकारणम्. तत्र योनिदोषात् स्वभावदोषाच्च स तथा जातः. बीजन्तु गुणभूतमपि बलवता दोषेण तिरोहितम्. समवायिकारणन्तु तत्तदवयवाः

लेखः

दूषणमिति व्याख्येयमित्यर्थः. तर्कमाहुः **यदीति**. तेन तर्कान्तरमाहुः **स्वनाश इति**. ननु प्रत्यक्षत एव सत्त्वमुपलभ्यते, का तर्कापेक्षा इत्यत आहुः **नापीति**. सत्त्वमात्रं प्रत्यक्षसिद्धं; तदेव सत्त्वमत्रागतमिति तु प्रत्यक्षमपि नास्तीत्यर्थः. **बहुतर्केति**. तर्को नाम स्वोत्प्रेक्षिता युक्तिः. तथाच तादृशप्रत्यक्षाभावात् तन्मतस्य युक्तिभिः पराहतत्वमित्यर्थः. **बीजं त्विति**, रेत इत्यर्थः. रेतोऽन्तस्थितास्तत्तदवयवाः तददृष्टवशादागताः समवायिकारणम्. अन्यथा योनौ पतितात् सर्वस्मादेव रेतसः कार्योत्पत्तिः स्याद्, एकस्मादेव रेतसः कश्चिद् गौरः कश्चिच्छ्याम इति च न स्यात्. अत एव "पुंसो रेतःकणाश्रयः" (भाग.पुरा. ३।३१।१) इतिवाक्यम्. तथाच समवाय्यसमवायि-भिन्नत्वात् निमित्तकारणमेव रेत इत्यर्थः. ननु यथा योनिदोषः सङ्क्रान्तस्तथा तुल्यत्वाद् बीजगुण एव कुतो न सङ्क्रान्तः? तत्राहुः **बीजं त्विति**. **गुणा भूताः** स्थिता यत्र तादृशं **बीजं**, तथापि योनिदोषस्य ततो **बलवत्**त्वात्

भिन्नाएवेति *न व्यभिचारः इति चेत्, तत्र आह **क्व च मृषा** इति. शुक्तिकातः भ्रान्तप्रतिपन्नं रजतम् उत्पद्यते. शुक्तिकायाः सत्त्वेऽपि न तत् सत्यं भवति. शुक्तिकाश्रयत्वात् तद्रजतस्य शुक्तिकैव समवायिकारणम्. तस्माद् व्यभिचारः सिद्धः. ननु न केवला शुक्तिः तत्र उपादानं किन्तु दोषसहिता; चाकचक्यादिदोषाद् विशेषादर्शनसहकृतात् तद् रजतं जायते, नतु केवलाश्रयात्. ननु तथापि एकांशेन रजतं सत्यं स्यात्, नतु सर्वथा असत्यं, तद् आह **न** इति. ननु सदंशो दोषवशात् तत्र तिरोहितः इति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि तथा प्रतीयतां, मनोदोषेण जगद् अन्यथा प्रतीयते इति. अन्यथा जगत् सच्चिदानन्दरूपेण कथं न भासते? किञ्च न केवलं ब्रह्मकारणवादएव सर्वत्र वक्तव्यः किन्तु प्रकृतिपुरुषकारणवादोऽपि, अतः **उभययोगात्** जगत् सदसदात्मकं, न केवलं सद् इति अर्थः. एवं हेतुं स्वरूपासिद्ध्या व्यवहारेण च दूषयित्वा हेत्वन्तरम् आशङ्क्य

लेखः

तेन **तिरोहितं** तिरोहितशक्तीत्यर्थः. **तत्राहेति.** अत्र व्यभिचारनिराकृतिं सम्भाव्य तत्सम्भावनारहितम् उदाहरणमाहेत्यर्थः. द्वेधा हि वेदान्तानां बोधनप्रकार इति निबन्धे (त.दी.नि. १।९२) निरूपितम्. तत्र विकाराणां वाचारब्धत्वपक्षमाश्रित्येदं सर्वमुच्यते. विकाराणां ब्रह्मत्वपक्षे शुद्धब्रह्मवादे त्वन्यख्यातिस्वीकारान्नेदं दूषणमिति भावः. वादी समाधत्ते **नन्विति.** अर्धाङ्गीकारेण तन्मतं दूषयन्ति **ननु तथापीति. तदाहेति,** सत्त्वासत्त्वयोरंशभेदो नास्ति किन्तु मृषैवेत्याहेत्यर्थः. मूले **न तथा** अतः सत्यं नेत्यर्थः. **तत्रेति,** रजत इत्यर्थः. **प्रकृतेपीति,** सत्त्वस्य भगवदिच्छया तिरोभावादसत्त्वेन **प्रतीयतामित्यर्थः.** तर्हि सत्त्वं कथं प्रतीयते इत्यत आहुः **मनोदोषेणेति. अन्यथा प्रतीयत** इति, भिन्नसत्तया प्रतीयत इत्यर्थः. मनोदोषाभावे भिन्नसत्ता न प्रतीयेत, अत एव ज्ञानिनां तथेति भावः. मनोदोषसत्त्वे प्रमाणमाहुः **अन्यथेति. उभययुगित्यस्यार्थमाहुः किञ्चेति.** उभययोगात् सत्त्वमात्रं साधयितुमशक्यमित्यर्थः. एतदन्तेन द्वितीयपक्षो निराकृतः. प्रथमपक्षे प्रतीत्यनुरोधात् सत्त्वमुक्तं; तस्य निराकरणमधुनोच्यते इत्याशयेनाहुः **एवं हेतुं स्वरूपासिद्ध्येति.** उभयोत्पन्नत्वात् सदुत्पन्नं हेतुः स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः. शुक्तिकातो रजतोत्पत्तेर्दृष्टत्वाद् व्यवहारेण साध्यव्याप्तिरहित

निराकुर्वन्ति **व्यवहृतये विकल्प इषितः** इति. "इदं जगत् सत्, सत्त्वेन प्रतीयमानत्वाद्, ब्रह्मवद्" इति अनुमानं, तदपि दूषयन्ति. अयं **विकल्पो** विशिष्टकल्पना— जगतः सत्त्वरूपा— प्रातीतिकी नतु परमार्थरूपा, व्यवहारमात्रत्वेनापि प्रतीतिसिद्धौ वास्तवसत्यत्वकल्पनायां प्रयोजनाभावात्. ननु अनादिः अयं संसारः, सर्वेषां च अत्र सद्-बुद्धिः, अतो ज्ञायते सदेव इति, तत्र आह **अन्धपरम्परया** इति. अन्धपरम्परापि परम्परा. नच अत्र चक्षुष्मत्परम्परा इति प्रमाणम् अस्ति, प्रत्युत महतां बुद्ध्या असदेव इदम् इति आभासते. ननु वेदानुरोधाद् जगतः सत्त्वम् अङ्गीक्रियते, तत्र आह **भ्रमयति भारती** इति. **भारती** वेदरूपा त्वदीया वाणी **उक्थजडान्** कर्मपरान् भ्रामयति. भ्रामणप्रकारस्तु द्वितीयस्कन्धे निरूपितो— वेदो हि ब्रह्मगतमेव सर्वमाह, लोकः परं भ्राम्यति जगद्गतम् (द्रष्ट. भाग.पुरा. २।२।२) इति. क्रियासक्ताः पदार्थान् न विचारयन्तीति **उक्थजडाः** उक्ताः.

सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिः न सेव्यमखिलं जगत् ॥(३६)॥
भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद् बुधः ॥३६॥

ननु जगतः सत्यत्वं मास्तु, तेन विशेषतः सेवमानाः न सेविष्यन्ति; येतु पुनः स्वभावतः सेवन्ते तेषां निषेधः केन वा सिद्ध्येत्— सत्त्ववद् असत्त्वस्यापि जगति अभावात् यथा सत्त्वम् अस्य साधयितुं न शक्यं तथा असत्त्वमपि तैरेव हेतुभिः, तस्माद् जगत् सदसद्विलक्षणमेव अस्तु! ततः तत्सेवायां न गुणो नापि दोषः, ततो जगत्परित्यागः कथं सिद्ध्येद्? —इति आशङ्क्य आह—

लेखः

इत्यर्थः. **प्रयोजनाभावादिति.** तथाच प्रतीतिरूपो हेतुः सत्त्वसाधनेऽप्रयोजकः, रजते तथाप्रतीतावपि सत्त्वाभावात् तेन विनापि भवन्नित्यर्थः. **न चात्रेति.** इयं चक्षुष्मत्परम्परेत्यत्र प्रमाणं नास्ति. अन्धपरम्परात्वे तु प्रमाणं वर्तते इत्याहुः **प्रत्युतेति. सर्वमाहेति,** पदार्थजातं ब्रह्मगतं कर्मोपयोगित्वेनाह. "तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यद्" (त.दी.नि. २।३) इति सिद्धान्ताज्ञानाद् जडा भ्राम्यन्तीत्यर्थः ॥३६॥

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनाद्
अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैः
वितथमनोविलासम् ऋतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

(सूक्ष्म.) **न यद् इदम्** इति. **यत्** यस्माद् **इदं** जगद् **अग्रे** सृष्टेः पूर्वं **न आस अतो निधनाद्** अनु प्रलयानन्तरं च **न भविष्यति** किन्तु **एकरसे त्वयि अन्तरा** मध्ये **अनुमितम्** अनुमित्या सिद्धं **मृषा विभाति. अतो द्रविणजातिविकल्पपथैः** द्रविणानां गवादीनां या जातिः गोत्वादिः तस्याः विकल्पाः अवान्तरभेदाः तएव उपमाने मार्गाः तैः यथा "गोसदृशो गवयः" तथा "ब्रह्मसदृशं जगत् नतु ब्रह्मरूपम्" इति अर्थः. एतादृशं **वितथमनोविलासम्** असन्मनोविलासरूपं जगत् **ऋतं** सत्यं ब्रह्म इति ये **अवयन्ति** जानन्ति ते **अबुधाः** ॥३७॥

(सुबो.) **न यद् इदम् अग्र आस** इति. यदि असत्त्वसाधकम् अत्र न भवेत् तदा एवं वक्तुं शक्येतापि, असत्त्वसाधकं तु वर्तते. इदं जगद् असत्, कादाचित्कत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा ब्रह्म —इति केवलव्यतिरेकी हेतुरस्तीति निरूपयति **न यदिति**. कादाचित्कत्वमेव निरूप्यते. **यद्** यस्माद् **इदं जगदग्रे** सृष्टेः पूर्वं **नास**, न वा **अतो निधनात्** प्रलयानन्तरं च **भविष्यति**. अतो मध्ये कदाचिदेव जातं; तेन ज्ञायते असदिति. यद्धि सत् तत् कालत्रयेऽपि भवति. न हि सत् कदाचिद् असद् भवति,

---

लेखः

न यदिदमित्यत्र. अतो निधनादित्यत्र विद्यमानावस्था **इदंपदवाच्या** ज्ञेया. **भवतीति**, सदेवेति शेषः. **अन्यथेति**, स्वरूपस्य कालभेदेन भिन्नत्वे

श्रुतिगीतार्थः

"न यदिदमग्र" इत्यनेन रूपतन्मात्रप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. रूपतन्मात्रं हि द्रव्याकृतिरूपं कारणात् कार्यस्य भेदं बोधयित्वा भ्रान्तिहेतुः भवति. एवं जगन्निष्ठान् अखिलान् पदार्थान् कारणाद् ब्रह्मणो भिन्नान् बोधयित्वा भ्रान्तिजनकम्. अतो न रूपात्मकाकृतिज्ञाताः पदार्थाः सत्यत्वेन (भिन्ना) ज्ञेयाः किन्तु वेदादिशब्दबोधिता (अभिन्ना) एवेति. पद्यं २४ तत्त्वं २५

अन्यथा कदाचिद् घटोऽपि पटः स्यात्. तस्माद् आन्तरालिकत्वाद् असद् जगत्. ननु अनेन हेतुना सत्त्वाभाव एव सेत्स्यति, नतु असत्त्वम्; व्यतिरेकिणापि तदभाव एव साध्यते, नतु धर्मान्तरमिति चेत्, तत्राह **अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषेति.** इदं जगन्मृषैव भाति. तत्र हेतुः **त्वयीति.** यद्धि यस्मिन् विद्यमाने अतिरिक्तं भासते तत्त्वेन तन्मिथ्येति सिद्धम्, यथा शुक्तिकायां रजतम्. तथा सर्वमिदं ब्रह्म श्रुत्या ब्रह्मविद्भिश्च निर्णीतं तथापि यदन्यथा भासते जगत्त्वेन तन्मृषैव भवितुम् अर्हतीत्यर्थः. हेत्वन्तरमपि आह **अनुमितमन्तरेति.** प्रत्यक्षे तु रजतं न दृश्यते, इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य शुक्तिविषयत्वात्. न हि रजतेन सह सन्निकर्षोऽस्ति, सतोरेव संयोगात्. "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" (जैमि.सूत्र ४।१७) इति प्रत्यक्षलक्षणम्. रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते, विषयीक्रियते च. तत्र सा बुद्धिरेव करणम्. तेन ज्ञानकरणकं ज्ञानम् अनुमानमिति रजतम् अनुमितिविषयं[१] भवति. किञ्च **अन्तरा विभाति** इन्द्रियार्थयोः

लेखः

इत्यर्थः. [२]**व्यतिरेकिणेति.** धर्मान्तरसाधने तु असत्त्वरूपधर्माभाववति कादाचित्काभावो अपेक्षितः. स च नास्ति, असत्त्वाभाववति सदसद्विलक्षणे कादाचित्कत्वाभावाभावाद्. अतः सत्त्वाभाव एव साधनीयः. तदा सत्त्वाभावाभाववति ब्रह्मणि कादाचित्कत्वाभावस्य सत्त्वाद् व्याप्तिः सम्भवति. तथाच जगतः सदसद्विलक्षणत्वमेव सेत्स्यति, रजतवदिति भावः. **तत्त्वेनेति.** तथाच विकाराणां वाचारब्धत्वपक्षे अन्यथाख्यातिरेव स्वीकर्तव्या, नतु अनिर्वचनीयख्यातिः, अतः सदसद्विलक्षणपदार्थ एव नास्तीति भावः.

---

१. अनुमितिविषयो इति मुद्रितपाठः, लेखे शेषेषु च एवम् -सम्पा. २-२. एपाठे तु एतत्स्थाने एवम्— "नत्वसत्त्वमिति. सदसद्विलक्षणत्वं भविष्यतीत्यर्थः. तत्राहेति मृषात्वमिति शेषः. इदं जगदिति, कार्यरूपमित्यर्थः. हेत्वन्तरमिति, अनुमितं विभाति, अन्तरा विभाति, त्वयि विभाति अतो मृषा इत्यन्वयेन मृषात्वे हेतुत्रयमिति भावः. इदं रजतं, रजताकारबुद्धिविषयत्वात्. यद्यदाकारबुद्धिविषयः तत्तत्, यथा घट —इत्यनुमानं ज्ञेयम्. तृतीयं हेतुमाहुः **किञ्चेति.** मृषात्वहेत्वन्तरमपि विशेषणेनोक्तमित्याहुः **किञ्चेति.** न ह्यसत इति. रजतस्य तु अनिर्वचनीयत्वं वादिमते इति भावः." —सम्पा.

मध्ये भाति तत् **मृषा**. तथा अत्रापि प्रमातृचैतन्य-ब्रह्मचैतन्ययोः मध्ये जगद् भातीति यावद् एतयोः न सम्यक् परीक्षा तावत् प्रतिभासते. अतो अन्तरैव विभाति. एतस्मिन् उभयस्मिन् विचारिते "तत्त्वमसि" (छान्दो.उप. ६।८।७) इतिवाक्ये अवगते पश्चात् सर्वत्र ब्रह्मैव भासते. किञ्च **एकरसे त्वयि** यत् नानाप्रकारेण **भाति** तत् **मृषैव** इति ज्ञातव्यम्. यथा एकस्मिन् चन्द्रे द्वैतप्रतीतिः भ्रान्त्या. ननु तथापि असत्त्वं कथं सेत्स्यति? न हि असतः प्रतीतिः अस्ति इति चेद्, अत आह **अत उपमीयत** इति. असत्सादृश्याद् जगद् असद् इति उपमीयते. यथा **द्रविणजातिविकल्पमार्गैः** पदार्था उपमीयन्ते. यथा "गोसदृशो गवय" इतिवाक्यं श्रुत्वा अरण्ये गवयं पश्यन् सादृश्यं वाक्यावगतं स्मृत्वा तद् गवये पश्यन् "गवयोऽयं, गोसदृशत्वाद्" इति मन्यते. **द्रविणानां** गवादीनां या **जातिः** गोत्वादिः तासां **विकल्पो** अवान्तरभेदः स एव उपमाने मार्गः, अन्यथा गौः इत्येव प्रतीयेत. एतस्मादेव विशेषात् न अनुमानविषयता. वह्निस्तु व्याप्त्यादौ सर्वत्र एकजातिरेव. सादृश्यज्ञानं तु भिन्नजातीयं ज्ञापयति. तथा ये असन्तो दृष्टाः ते विचारे क्रियमाणे न सम्भवन्ति इति एतद्धर्मसाम्याद् जगदपि

लेखः

अनुमितिविषयमिति, ब्रह्मवादे परोक्षज्ञाने अनुमानव्यवहारस्योक्तत्वात् परोक्षज्ञानविषयमित्यर्थः. **विषयपदाद्** "अर्श आद्यचि" (पाणि.सूत्र. ५।२।१२७) टापि कृते 'विषया'पदं भवति; विषयिणीत्यर्थः. अनुमितिविषया विषयिणी यस्येति विग्रहः. **न ह्यसत** इति. विचारे कृते यथा रजतस्यासत्त्वेन प्रतीतिस्तथा जगतोऽसत्त्वेन प्रतीतिर्नास्तीत्यर्थः. **अत आहेति**, विचारे कृते असत्त्वेन प्रतीतिमाहेत्यर्थः. तं विचारमाहुः **असत्सादृश्याद्** इत्यारभ्य **निश्चीयत** इत्यन्तेन. विचारे कृतेऽसत्त्वेन प्रतीतिविषयत्वं 'सादृश्य'पदार्थ इत्यग्रे वक्ष्यन्ति. साध्यमसत्त्वं धर्मान्तररूपं; यत्र रजतादौ सादृश्यं गृहीतं तत्रासत्त्वं सत्त्वाभावरूपम्, अतो वैजात्याद् उपमितित्वम्. हेतौ साध्यव्याप्तिग्रहस्तु सदसद्विलक्षणपदार्थनिराकरणेन सिद्ध इति ज्ञेयम्.[२] **वह्निस्त्विति**. व्याप्तेरादौ महानसीयवह्निज्ञानेऽपि वह्निरेव, उपमाने तु व्याप्तेरादौ गोज्ञानं तत्र गवयाद् भिन्नजातीया

असदेव इति निश्चीयते. भानं तु शशशृङ्गस्यापि भवति इति न असत्त्वं निराकरोति. सत्त्वमपि भासते असत्त्वमपि भासते, परं विचारसहिष्णुगुणयुक्त-प्रमाणेन सद् भासते, विचारासहिष्णुदोषसहित-करणेन असद् इति विशेषः. ननु वैदिकानां महतामपि जगति सद्बुद्धिः, अन्यथा अस्य असत्त्वे स्थैर्याभावाद् विश्रम्भेण सर्वे व्यवहारा न भवेयुः, तस्मात् सत्त्वं सदसद्विलक्षणत्वं वा वक्तव्यमिति चेत्, तत्राह **वितथमनोविलासमिति. इदं** जगत् सर्वं **वितथमेव** मिथ्याभूतमेव, यतो **मनोविलासम्.** यो हि जगति मनसा यद् यथा मन्यते तं प्रति तत् तथा प्रतिभाति— इष्टं द्विष्टं शुद्धम् अशुद्धम् आत्मीयं परकीयं च इति. नहि निसर्गतः जगति कश्चित् पदार्थः एवम्भूतो अस्ति यः सर्वान् प्रति प्रियो भवति. अतो मनोविलासकृतमेव एतदिति मनोरथवत् मिथ्याभूतमेव. एतादृशमपि ये सत्यमिति मन्यन्ते ते **अबुधाः** न पण्डिताः, विचाररहिता इत्यर्थः.

खपुष्पादिसमत्वाद्धि मिथ्याभूतं जगद् यतः ॥(३७)॥
अधिष्ठानाच्च सद्भानं तं कृष्णं नियतं भजेत् ॥३७॥

लेखः

गौरिति विभेदः. **असन्त** इति, रजतादय इत्यर्थः. **न सम्भवन्तीति**, सत्त्वेनेति शेषः. **एतद्धर्मेति**, विचारसत्यत्वेन प्रतीतिविषयत्वरूपधर्मेण साम्यादित्यर्थः. **सत्त्वमपीति** अर्शआद्यच्, सत्त्वयुक्तं शुक्त्यादीत्यर्थः. असत्त्वयुक्तं रजतादीत्यर्थः. इदमेवाग्रे **सद्-असत्**पदेनोच्यते. तथाच अस्मदिन्द्रियाणाम् अविद्यादोषयुक्तत्वात् तद्भानविषयस्य असत्त्वमेव युक्तमित्यर्थः. **नन्विति.** यथा चास्मदिन्द्रियैः दुष्टैः सत्त्वेन भानविषयत्वादसत्त्वं तथा महतामिन्द्रियैर्गुणयुक्तै-रपि सत्त्वेन भानविषयत्वात् **सत्त्वं** भवेदुभयसाधने **सदसद्विलक्षणत्वं वा** भवेदित्यर्थः. **अन्यथेत्य**स्यैव विवरण**मस्यासत्त्व** इति. कारिकायां **खपुष्पादीति.** रजतं वादिमते अनिर्वचनीयं, खपुष्पं तु तन्मतेऽपि असदित्ययं दृष्टान्त उक्तः. **मिथ्याभूतमिति**, एतस्माद्धेतो**र्मिथ्या** स्वयं सत्त्वरहितं तथापि **भूतं** जातम्. यथा खपुष्पं खाद् भिन्नसत्ताकं न, तथा जगदपि ब्रह्मणो भिन्नसत्ताकं न, वाचारम्भणवाक्यादित्यर्थः. स्वाधिष्ठाने सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्यम् आकाशे नास्ति, अतीन्द्रियत्वात्. भगवतस्तु अतीन्द्रियत्वेऽपि भगवति

एवं द्वाभ्यां भजनार्थम् अन्यत्र सत्यत्वं निराकृत्य– तत्त्वेन[१] सत्यत्वे तदेव भजनीयमिति– सदंशं विचार्य द्वाभ्यां चिदंशं विचारयन्ति—

लेखः

सर्वसामर्थ्यमस्तीति स्वाधिष्ठेयं भगवानेव सत्त्वेन प्रत्याययतीत्यर्थः. भेदवादे जगद् भिन्नसत्ताकमतः सद्, ब्रह्मवादे कारणगतैव सत्ता अतो जगत् सत्, मायावादेऽनिर्वचनीयं जगदिति विभेदः. ननु तर्हि असतः सत्त्वेन भानं कथं? नहि खपुष्पं सत्त्वेन भासते, तत्राहुः **अधिष्ठानादिति**. यथा कलशत्वमपि सत्तैव तथापि घटत्वाद् भिन्ना न भवतीति कलशत्वं न 'जातिः' इत्युच्यते, तथा जगदपि सदेव परं ब्रह्मणः सकाशाद् भिन्नसत्ताकं न भवतीति 'असद्' उच्यते. यद्यप्येतद्दृष्टान्तेन ब्रह्मणोऽसत्त्वं जगतः सत्त्वम् [२]इत्यपि सम्भवति तथापि ब्रह्मणः सत्त्वस्य प्रमाणसिद्धत्वाद् जगदेवासद् ब्रह्माभिन्नसत्ताकमिति भावः. खपुष्पाधिष्ठानं खमपि परमार्थतोऽसद्, जगदधिष्ठानं ब्रह्म तु प्रमाणवाक्यैः परमार्थतः सद्, अतस्तदधिष्ठेयस्यापि सत्त्वेन भानमित्यर्थः. मायावादिनां व्यावहारिकी सत्तास्तीति रजतदृष्टान्तः, स्वमते तु व्यवहारेऽपि कारणगतैव सत्ता. यथा व्यवहारेऽपि घटसत्तापि मृत्सत्तैव तथेति. यद्यपि श्रौतो घटदृष्टान्त एव वक्तव्यः तथाप्यविवेकिनां तत्र घटसत्तैव प्रतीयते इति स्पष्टार्थं खपुष्पदृष्टान्त उक्तः. सत्त्वभानसमाधानं तु **अधिष्ठानादित्यनेन** कृतमेव. पूर्वश्लोकेन भेदवादो जगतः सत्त्वसाधको निराकृतः, अनेन मायावादो जगतोऽनिर्वचनीयत्वसाधको निराकृत इति ज्ञेयम्. **यतः** कृष्णादेतादृशं **जगद्** जातं, **यतः** कृष्णा**दधिष्ठानाच्च सद्भानं** तमुभयविधसामर्थ्यवन्तं **कृष्णं भजेदित्यन्वयः** ॥३७॥

श्रुतिगीतार्थः

"स यदजये"त्यनेन तमोगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. तमो हि अज्ञानरूपं प्रलयहेतुः. तद्धि जीवेषु संसृष्टं स्वरूपाज्ञानं सम्पाद्य जडभावं प्रापयित्वा सर्वसुखनाशं कृत्वा अन्ते तेभ्यो मृत्युमपि प्रयच्छति. अतः सुधिया सत्सङ्गेन सत्त्वसेवनपूर्वकं निर्गुणप्रभुचरणोपसरणेन च तन्निवृत्त्यर्थं यतितव्यमिति. पद्यं २५ तत्त्वं २६

---

१. "परमार्थेन सत्यत्वेन" इति सं.पाठे पौरुषोत्तमी टिप्पणी - सम्पा.

२. सत्त्वमपि इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्

भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।

त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो

महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥३८॥

(सूक्ष्म.) **स यदजया** इति. स एव भगवद्रूपो जीवो **यत्** यस्मात् कारणाद् **अजया** भगवन्मायया कृत्वा **अजाम्** अविद्यां प्रकृतिं वा **अनुशयीत** ताम् अनुसृत्य जीवभावं प्राप्नुयात् तदा तस्या **गुणान् जुषन्** सेवमानः सन् स्वचैतन्यं परिभूय **सरूपतां** जडभावं **भजति. तदनु** जडताम् अनु **मृत्युम्** अपि प्राप्नोति. कथम्भूतः? **अपेतभगः** अपेता निरस्ता ऐश्वर्यादिभगा यस्य. त्वन्तु तां मोहिकां **जहासि. अहिः** सर्पः **त्वचं** यथा जहाति तद्वत्. अथ च **आत्तभगः** स्वीकृतभगः **अष्टगुणिते** अणिमाद्यैश्वर्यसहिते **महसि** पूर्णतेजोरूपे **महीयसे** विराजसे. **अपरिमेयभगः** असङ्ख्याता भगा यस्य तादृशः त्वम् ॥२५॥

(सुबो.) **स यदजया** इति. चित् सेव्येति पक्षेऽपि भगवानेव सेव्यो, नतु जीवाः. स्वरूपस्थितो हि सेव्यः; जीवास्तु स्वरूपात् प्रच्युताः. तत्र हेतुमाह **स** एव भगवद्रूपोऽपि जीवः यदा **यत्** यस्मात्कारणाद्वा **अजया** भगवन्मायया कृत्वा **अजाम्** अविद्यां प्रकृतिं वा **अनुशयीत** तामनुसृत्य जीवभावं प्राप्नुयात् तदा तस्या **गुणान् जुषन्** स्वानन्दं परित्यज्य ''जडेभ्यः आनन्दं प्राप्स्यामी''ति यदा जडानुभवं करोति तदा स्वयमपि स्वचैतन्यं परित्यज्य **सरूपतां भजति** जडभावं प्राप्नोतीत्यर्थः. एवम् अविद्यासम्बन्धाद् आनन्दांशः चिदंशोऽपि अपगच्छति; केवलं जडताम् आपद्यते. जडस्य उपास्यता पूर्वमेव निषिद्धा. ननु जडभावे को दोषः, रत्नादेः महतोऽपि जडभावात्? तत्राह **तदनु मृत्युमपेतभग** इति. कालो हि जडान् गुणान् क्षोभयति, अन्नप्रायांश्च भक्षयति. तथा एनमपि कालो भक्षयतीति तदनु

लेखः

स यदजयेत्यत्र जडभावमिति, देहभावमित्यर्थः. **केवलमिति**, चित्त्वमपि विस्मृत्य ''देह एवाहमि''ति जानातीत्यर्थः. **अन्नप्रायानिति**, गुणक्षोभेण प्रशिथिलावयवान् ओदनसदृशान् देहानित्यर्थः. **एनमपीति**,

जडतामनु **मृत्युम्** अपि प्राप्नोति. नापि एतावदेव अनिष्टम्– यथा राजा यावज्जीवं सुखं जीवति अन्ते मृत्युं प्राप्नोति– ततोऽपि अस्य जीवस्य अधिकं किं[१] दुःखम् इत्याह **अपेता भगा** ऐश्वर्यादिभाग्यानि यस्य. एवं लोष्टप्रायो मृत्युग्रस्तश्च यो जातः स कथं सेव्यो भवेदित्यर्थः. ननु भगवतोऽपि मायासम्बन्धो अस्ति, "मम माया दुरत्यया" (भग.गीता ७।१४) इति वाक्यात्, ततः सोऽपि तथा भवेद् इत्याशङ्क्याह **त्वमुत जहासि तामिति.** त्वं तु तां मोहिकां जहासि, "जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः" (श्वेता.उप. ४।५) इति श्रुतेः. इदमेव जीवाद् वैलक्षण्यम्. एतन्मूलकम् अन्यद् आह **आत्तभग** इति. ऐश्वर्यादिभगाश्च स्वीकृता एव भवन्ति, नाशककारणाभावात्. ननु तया सह किर्मीरितः स्थितः तां चेत् त्यजेद्, विशिष्टं तस्य स्वरूपमेव अपगच्छेदिति कथं तां जह्यात्? तत्राह **अहिरिव त्वचमिति.** सर्पाः कालेन कृत्वा जीर्यन्तो मन्यन्ते. ततः कसर्णीरः तेषां मुख्यः काद्रवेयः कांश्चिन्मन्त्रान् "भूमिर्भूम्ना" (वैखानसमन्त्रप्रश्नाष्टक ५।१।३३।९) इत्यादीन् दृष्ट्वा तैः सर्वे सर्पा जरातो विमोचिताः. ततः सर्वे सर्पा जीर्णाः तनूः अपाघ्नत. तथा भगवानपि सहजसम्बद्धामपि त्वग्रूपाम् अखण्ड एव स्वैश्वर्येण स्थितपूर्वावस्थः तां जहातीत्यर्थः. ननु सर्पाणां त्वक्परित्यागेऽपि न कोऽपि विशेषो जायते, तथा भगवतोऽपि मायाग्रहण-परित्यागावस्थयोः कोऽपि विशेषो न स्यात्, ततः परित्यागो व्यर्थ इति चेत्, तत्राह **महसि महीयस** इति. **महसि** पूर्णे तेजोरूपे अष्टैश्वर्यसहिते **महीयसे** विराजसे. सत्यं तस्यां विद्यमानायाम् अविद्यमानायां वा न[२] कोऽपि उपचयापचयो वा, सर्वदैव स्वरूपानन्दे परमप्रकाशमाने अष्टैश्वर्ययुक्ते विराजस्येव, तथापि लोकदृष्ट्या

लेखः

देहभावापन्नं जीवमपीत्यर्थः. **एतन्मूलकमिति**, अजात्यागो मूलं यस्येत्यर्थः. अजात्यागे सति भगाः स्थिताः, अन्यथा जीववद् अपेता भवेयुरिति भावः. **दृष्ट्वेति**, स्वत्वचं त्यक्तवानिति शेषः. तदनन्तरं तैर्मन्त्रैः **सर्वेऽपि विमोचिता**

१. कम् इति क-घ-संपाठेषु, मुद्रिते नोपलभ्यते, खपाठे एवम् - सम्पा.

२. मुद्रिते असन्नपि ग-घ-संपाठानुरोधाद् गृहीतः - सम्पा.

तत्सम्बन्धे दोषप्रतिभाने एतदुच्यते **तां जहासीति.** वस्तुतस्तु ताः सर्वा भगवत्येव वर्तन्ते, न ताभिः काऽपि क्षतिः, पृथग्भूतानामेव ताभिः अनिष्टश्रवणात्. त्वं तु **अपरिमेयभगः.** मातुं[१] योग्या हि क्रियया निवर्त्यन्ते, अमेयास्तु क्रियाशक्त्यापि किं नष्टा भवेयुः! तस्मात्

सर्वसद्गुणमाहात्म्यः सर्वदोषविवर्जितः ॥(३८)॥
भगवानेव सेव्यो हि न तु जीवाः कदाचन ॥

इत्यर्थः.

कालादितृणपर्यन्ता न सेव्या मुक्तिमिच्छता ॥(३९)॥
दोषत्याजनशक्तो हि सेव्यो दाता गुणस्य च ॥३८॥

ननु भगवत्सेवापेक्षया जीवभजनमेव मुख्यं, जीवे भगवानप्यस्ति जीवोऽप्यस्ति अतः सांशो भगवांस्तत्र वर्तत इति, तं परित्यज्य निरंशः केवलः कथं सेव्य इति चेत्, तत्राहुः —

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्
अनपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः ॥३९॥

(सूक्ष्म.) **यदि न समुद्धरन्तीति.** यतयोऽपि हृदि स्थिताः **कामजटा** कामवासना **यदि न समुद्धरन्ति** दूरीकुर्वन्ति तर्हि तेषामपि भगवान् **हृदि गतोऽपि दुरधिगमो** दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यः, **असतां** तु सुतरामेव.

लेखः

इत्यर्थः. **पृथग्भूतानामिति,** भगवतः सकाशात् पृथग्भूतानां जीवानामित्यर्थः. **कालादीति.** तृतीयस्कन्धे कालसृष्ट्यनन्तरं मुक्तजीवसृष्टिर्निरूपिता. तथाच काल आदिर्येषां मुक्तजीवानाम् इति अतद्गुणसंविज्ञानः. तथाच मुक्तजीवानारभ्य तृणपर्यन्ता जीवा इत्यर्थः ॥३८॥

यदि न समुद्धरन्तीत्यस्याभासे निरंश इति. विस्फुलिङ्गवत् निर्गता अंशा = जीवा यस्मात् तादृश इत्यर्थः. **केवल इति,** जीवरूपांशरहित इत्यर्थः.

१. न अवगमार्थकः प्रयोगो अयं किमुत परिमाणार्थक इत्यतो न परिमातुं योग्या इति तात्पर्यम् – सम्पा.

अस्मृतकण्ठमणिः अस्मृतश्चासौ कण्ठमणिरिव च यो भगवान्. यथा कण्ठमणिः कण्ठे स्थितोऽपि तं न सुखयति प्रत्युत विस्मृत्या दुःखमेव प्रयच्छति तथा हे **भगवन्, असुतृपयोगिनां** प्राणपोषणार्थं य उपायवन्तस्तेषां **तूभयतोप्यसुखम्**. तदुभयं निर्दिशन्ति **अनपगतान्तकाद् भवतश्चे**ति. नापगतो यमो यस्मात् स एतादृशः कालः, तस्माद् यमसहितः कालोऽपि तेभ्यो दुःखं प्रयच्छति, तेन जीवनदशायामपि दुःखम्. ननु भवान् कथं दुःखं प्रयच्छेद्, अप्राप्तः परं भवेद्? इत्याशङ्क्याहुः **अनधिरूढपदा**दिति. नाधिरूढं पदं यस्येति भगवत्पदं नाधिरूढमिति चिन्ताकुलः क्लिश्यन्तीत्यर्थः ॥२६॥

(सुबो.) **यदि न समुद्धरन्ती**ति. यत्रांशः प्रकटः भगवांश्च प्रकटः तत्र तथैव, अत एव पूर्वं पुरुषेष्वेव भगवदाराधनमुक्तम्. यत्र पुनः स्वरूपं जडतामापन्नं, भगवांश्च सर्वथा न प्रकटः, तत्र किं स्यात्? न हि काष्ठे वह्निरस्तीति शीतनिवृत्त्यर्थं होमार्थं वा काष्ठं सेव्यते. तस्माद् अप्रकटभगवत्स्वरूपाः सर्वथैव न सेव्याः. ननु कथं हृदि विद्यमानः स्वप्रकाशो भगवान् न प्रकाशते? तत्राह **यतयोऽपि यदि हृदि** स्थिताः **कामजटा न समुद्धरन्ति** तर्हि तेषामपि **दुरधिगमः**. यथा निखातोपरि वृक्षेषु आरोपितेषु तदुन्मूलनव्यतिरेकेण यथा खाता उद्घाटयितुं न शक्यन्ते एवम् अन्तःस्थितो भगवान् मायाजवनिकाच्छन्नः तदुपरि अविद्यया आच्छादितः ततो

लेखः

व्याख्याने **पुरुषेष्विति**, "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः" (सात्त्वततन्त्रे) इत्यत्रोक्तेषु इत्यर्थः. एतानि 'त्रीणि पुरुषाख्यानि रूपाणि' प्रकटांशरूपाणि प्रकटभगवन्ति च अवताररूपाणीति यावत्.

श्रुतिगीतार्थः

"यदि न समुद्धरन्ती"त्यनेन रजोगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. रजो विक्षेपकम् इष्टविस्मरणहेतुः, अत इष्टालाभजदुःखजनकं तदन्वेषणादि-बहुक्लेशदायकं च. अतस्तन्निवृत्त्यर्थमपि सत्सङ्गादिना सुधिया यतितव्यम्. अत्र गद्ये अनिवृत्तरजोगुणानां कामजटोद्धृतिरहितानां निर्व्यलीकं यतिधर्ममाचरतां चेत् पूर्वार्धोक्तव्यवस्था तदा किमु वक्तव्यम् उत्तरार्धोक्तानां प्राणपोषकयतीनाम् उत्तरार्धोक्तव्यवस्थायामिति! पद्यं २६ तत्त्वं २७

वासना-काम-क्रोधादिवृक्षैः सर्वथा लुप्ताभिज्ञानः कथं दृश्येत? तत्रापि **असतां** देहाभिमानिनाम्. ननु तथापि वस्तुसामर्थ्यात् तत्र भगवान् अस्तीति फलं भविष्यतीति चेत्, तत्राह **अस्मृतकण्ठमणिरि**ति. न स्मृतश्चासौ कण्ठमणिश्च तद्रूपो भगवानित्यर्थः. यथा कण्ठमणिः कण्ठे स्थितोऽपि तं न सुखयति, प्रत्युत विस्मृत्या स्वरूपमात्रे स्मृते दुःखमेव प्रयच्छति, तथा भगवानपि तमेव न सुखयति, तत्पूजकं कुतः सुखयेत्! प्रत्युत यतीनां दुःखदोऽपि जातः. यथा विस्मृतमणेः तदन्वेषणपरस्य दुःखं भवति तथा आत्मान्वेषणार्थं सर्वस्वपरित्यागं कृत्वा गतानां यतीनां परमदुःखदो भवति. एतद् आमरणान्तं परित्यागधर्मपरिपालकानाम्, ये तु पुनः बहिरात्मोपलम्भाभावाद् अतिदुःखसाधनैः क्लिष्टाः यथाकथञ्चित् प्राणपोषणं कुर्वन्ति ते **ह्यसुतृपाः पूर्वं योगिनश्च**, असुतर्पणार्थमेव योगिनो वा, कृतेन सर्वेणापि जीवनमेव सम्पादयन्तीत्यर्थः. तेषाम् **उभयतोऽप्यसुखम्**. तदुभयं निर्दिशन्ति **अनपगतान्तकाद् भवतश्चे**ति. धर्मपरित्यागाद् यमसहितः कालोऽपि तेभ्यो दुःखं प्रयच्छति, नरकं मृत्युं च प्रयच्छतीत्यर्थः. अस्मृत्या भगवांश्च दुःखं प्रयच्छति. तेन जीवनदशायामपि दुःखम्. ननु भगवान् कथं दुःखं प्रयच्छेद्, अप्राप्तः परं भवेद्? इत्याशङ्क्याह **अनधिरूढपदादि**ति. अनधिरूढं पदं यस्येति भगवत्पदं तैः नारूढमिति चिन्ताकुलाः क्लिश्यन्तीत्यर्थः.

जीवेषु भगवानात्मा सञ्छन्नस्तेन तत्र न ॥(४०)॥
भजनं सर्वथा कार्यं ततोऽन्यत्रैव पूजयेत् ॥३९॥

लेखः

कथं दृश्येतेति. स्वप्रकाशकस्य प्रकाशापेक्षा नास्ति; प्रतिबन्धकाभावस्तु अपेक्षित एव. नहि स्वप्रकाशोऽपि सूर्यादिः मेघाच्छादितो दृश्यते. भगवांस्तु ततोऽपि बहुधाच्छादितोऽतः कथं दृश्येतेत्यर्थः. **ननु तथापी**ति. काष्ठ-वह्निदृष्टान्तो बोधनार्थं स्वयमुक्तो, मूलव्याख्याने त्वाशङ्का स्थितैव इत्यत उच्यते. **एतदि**ति. मरणान्तं दुःखं, ततो भगवत्प्राप्तिरित्यर्थः. **कालोपी**ति. पूर्वोक्तेषु कालो न प्रभवति किन्तु भगवानेव अस्मृत्या मरणान्तं दुःखं सम्पाद्य ततः प्राप्तो भवति, एतेषु तु सोऽपीत्यपिशब्दः. **जीवनदशायामपी**ति. **अपिशब्दात्** मरणानन्तरमपि भगवान् दुःखद एवेति पूर्वेभ्यो विशेषः.

एवं चिदंशा न पूज्या इति निरूप्य लौकिका आनन्दा अपि न सेव्याः किन्तु भगवदानन्द एव सेव्य इति निरूपयति द्वाभ्यां—

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं स गुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥

(सूक्ष्म.) **त्वदवगमीति. त्वदवगमी** त्वत्स्वरूपाभिज्ञो **भवदुत्थशुभाशुभयोः** भवदर्थम् उत्थिते ये शुभाशुभे कर्मणी तयोः **गुणः** सुखं **विगुणो** दुःखं तयोः **अन्वयाः** सम्बन्धाः तान् **न वेत्ति** न जानाति यदि **तर्हि देहभृतां** देहाभिमानिनां **च गिरो न वेत्ति** विधि-निषेध-चिन्तापकीर्त्यादि-प्रतिपादक-वाक्यान्यपि नानुवेत्ति इत्यर्थः. कुतः? **मनुजैः** श्रवणाद्यधिकारिपुरुषैः **सः** प्रसिद्धो भक्तहितकारी **अपवर्गगतिः त्वम् अनुयुगं** प्रतियुगम् **अन्वहं** प्रतिदिवसं **गुणगीतपरम्परया यतः श्रवणभृतः** श्रवणेन भृतः ॥२७॥

(सुबो.) **त्वदवगमीति.** स्वभावत एव स्मृत्यादिषु सर्व एव आनन्दा निषिद्धाः. यथा इह साधारणस्त्रियो न सेव्यास्तथा अप्सरसोऽपि. यथा अत्र कालादिनियमव्यतिरेकेण भोगेषु भुज्यमानेषु सर्वश्रुति-स्मृतिविरोधो भवति एवं स्वर्गलोकेषु[1] अपि ज्ञातव्यम्. यथा अत्र अपकीर्तिः तथा तत्रापि. अतः सर्व एव सुखानुभवो निषिद्धः. ततो निषिद्धाचरणे सर्वथा दुःखमिति सर्वमेव सुखं दुःखानुविद्धम् अतः कथं सेव्यं स्यात्? भगवदानन्दस्तु सर्वैः सेव्यः[2]; न तत्र पूर्वोक्ता दोषाः सम्भवन्ति, यतो अत्रैव भगवत्स्वरूपज्ञाने भोगादिनापि न दुःख-निन्दा-चिन्तादयो भवन्ति. तदाह **त्वदवगमी** त्वत्स्वरूपाभिज्ञः **भवदुत्थशुभाशुभयोः** त्वन्निमित्तं प्राप्तसुखदुःखयोः यदि

लेखः

कारिकायां **अन्यत्रैवेति**, प्रकटांशांशिषु अवतारेष्वित्यर्थः ॥३९॥

त्वदवगमीत्यत्र भगवत्स्वरूपेति. सेवायां **भगवत्स्वरूपा**नुभवे सति तदुपभुक्त**भोगादिनापि दुःखादयो न भवन्ती**त्यर्थः. **अनुयुगमित्यस्य**

१. स्वर्लोकेषु इति ग-घपाठः - सम्पा. २. मुद्रितेतरेषु नोपलभ्यते - सम्पा.

गुणविगुणान्वयान् **न** वेद. यथा (१)परमस्निग्धे जारे तदर्थं क्लिष्टापि कामिनी न क्लेशं बुद्ध्यते, यथा वा (२)राजसेवकः कस्तूर्यादिना राजोद्वर्तने स्वयं लिप्तोऽपि न सुखं मन्यते. एवं (२)भगवतो महावैभवं सह सेवकत्वेन अनुभवं कुर्वन्नपि तत् सुखं न मन्यते, यथा (१)सेवार्थं महदपि दुःखं प्राप्नुवन् तदपि न मन्यते यदि, तदा विधि-निषेध-चिन्तापकीर्त्यादि-प्रतिपादक-वाक्यान्यपि न प्राप्नोति. वस्तुतः तानि वाक्यानि **देहभृतां** भवन्ति. अत इहलोक एव भगवत्सम्बन्धे तस्य सर्वोपद्रवनिवृत्तिः उक्ता. अन्यस्य तु साधारणेऽपि सुखदुःखानुभवे रागद्वेषयोः जायमानत्वात् प्राणिनां सम्बन्धि विधि-निषेधवाक्यान्यपि तस्य भवन्तीति स्पष्ट एव[१]. भगवत्सम्बन्धे एव सुखं नान्यथा इति स्पष्टम्. ननु कथं वा त्वदवगमी सुखदुःखयोः रागद्वेषौ न प्राप्नोति, कथं वा तस्य अपकीर्त्यादिकं न भवति? इत्याशङ्कायामाहुः **अनुयुगमन्वहमिति.** **मनुजैः अनुयुगमन्वहं त्वं श्रवणभृतः यतः त्वम् अपवर्गगतिः**. अयमर्थः — भगवद्‌गुणानुश्रवणं नित्यं कर्म, देशकालविशेष-नियमाभावात्. यत् कालोपाधिना प्रवर्तते तत् सर्वं काम्यं कर्मेति पूर्वमेव उक्तम्. अतो भगवतः **गुणगीतपरम्परा (/ रया !)** गुणानां यानि गीतानि व्यासादिभिः कृतानि तेषां परम्परया तच्छ्रवणद्वारा भगवान् **श्रवणे भृतः** तेन अन्यं निषेधादिकं न शृणोति, भगवतैव श्रवणस्य पूरितत्वात्. नित्यकर्मणा भगवता च सर्वपापक्षयात् न दुःखजनकम् अपकीर्त्यादिकं प्राप्नोति. **यतो (त्वम् अपवर्गगतिः !)** भगवान् मोक्षद इति मोक्षः तस्य सिद्ध एव.

श्रुतिगीतार्थः

"त्वदवगमी"त्यनेन सत्त्वगुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः. अत्र "त्वदवगमी"तिकथनेन यादृशं तमोरजोभ्याम् असम्भिन्नं भगवत्प्रमितिजनकं तादृशं सत्त्वमुच्यते. तादृशे सत्त्वे सम्पन्ने भगवदनुभवजनितानन्दात् सततश्रवणादि-जनितानन्दाच्च अन्यसांसारिकसंसर्गाभावात् न कदाचिदपि दुःखं किन्तु निरन्तरं परमं सुखमेवेति. पद्यं २७ तत्त्वं २८

---

१. इह "सुखानुभवो दुःखानुभवविद्धः इति शेषम्" इति सं.पाठे पौरुषोत्तमी पार्श्वटिप्पणी - सम्पा.

सर्वदैव अयं धर्म इति न कालधर्मा बाधन्ते. भगवांश्च (स!) सुप्रसिद्धो भक्तहितकर्ता. मनुजैः सर्वैरेव भगवान् धृत इति भगवत्सेवका भगवदैक्यं प्राप्ता इति न कोऽपि निन्दां करिष्यतीति. अतो भगवत्सेवक एव निर्दोषसुखभोक्ता, न तु अन्य इति निरूपितम्.

सुखसेवापरो यस्तु स आनन्दं हरिं भजेत् ॥(४१)॥
अन्यथा सुखसंप्रेप्सुः सर्वथा दुःखमाप्नुयात् ॥४०॥

किञ्च तदेव सुखं सेव्यं यत् नश्वरं न भवति, सुतरां देशकालपरिच्छिन्नं न सेव्यमिति वक्तुं भगवदानन्दस्य देशकालापरिच्छेदमाह—

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयः
त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥४१॥

(सूक्ष्म.) **द्युपतय** एवेति. **द्युपतयः** स्वर्गपतयः सुरेन्द्रादयः तेऽपि ते तव स्वरूपानन्दस्य **अनन्ततया अन्तं न ययुः**. एवकारेण त एव न ययुरिति न किन्तु **त्वमपि** न यासि = स्वस्वरूपस्य पारं न अधिगतवान् असि इत्यर्थः. **यदन्तरा** यस्य = भगवतो अन्तः = मध्ये **अण्डनिचया** अण्डसमूहाः. तेऽपि **सावरणाः** प्रकृतिपर्यन्तम् उत्तरोत्तरं दशगुणावरणयुक्ताः.

लेखः

तात्पर्यमाहुः **सर्वदैवेति**. नात्र कृतादियुगनियम इत्यर्थः. **अन्वहमित्यस्य** तात्पर्यं **नित्यं कर्मेत्यनेनोक्तम्**. गीतपदतात्पर्यमाहुः **सुप्रसिद्ध** इति. भगवद्गुण-प्रतिपादकवाक्यानां व्यासादिभिः कृतत्वाद् भगवान् सुप्रसिद्ध इत्यर्थः ॥४०॥

द्युपतय एवेत्यस्याभासे सुतरामिति पूर्वमत इति शेषः. अनश्वरस्यैव सेवितुमर्हत्वात् एतादृशं सुतरां न सेव्यमित्यर्थः. **केचिदिति**. एतन्मते

श्रुतिगीतार्थः

"द्युपतय" इत्यनेन सत्त्वस्य निर्गुणतापर्यवसायित्वनिर्णयः, सत्त्ववृद्ध्या भगवदनुभवे जाते निरन्तरं भगवत्सेवनेन श्रवणादिना च अगणित-तदानन्दोद्रेकात् सत्त्वस्यापि निवृत्तौ पूर्णानन्द एव अवशिष्यत इति. पद्यं २८ ॥ इति श्रुतिगीतार्थः ॥

ननु निश्चये. **वयसा** कालेन सह **वान्ति** परिभ्रमन्ति. **यत्** यस्मात् **श्रुतयोऽपि** तत्र **वान्ति**. कथम्भूताः श्रुतयः? **अतन्निरसनेन** निषेधमुखेन **भवन्निधनाः** भवानेव निधनं = विश्रामस्थानं यासाम्. एतादृश्यः सत्यः **हि** निश्चयेन **त्वयि फलन्ति** त्वामेव प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ॥४१॥

(सुबो.) **द्युपतय एव ते न ययुरिति. द्युपतयः** स्वर्गपतयो देवेन्द्रादयः; ते सुखतारतम्यं जानन्ति. तेऽपि भगवतः स्वरूपानन्दस्य **अन्तं न ययुः**. ब्रह्मानन्दपर्यन्तस्यापि शतसङ्ख्या, आनन्दपरिमाणस्य ज्ञातत्वात्. आनन्दमयस्यैव परम् अन्तो न ज्ञायते. ननु अन्तो अस्ति चेत्, किम् अज्ञानेन? ज्ञातो वा अज्ञातो वा विद्यमानः स्वसमाप्तौ दुःखानुभवं कारयत्येव — इत्याशङ्क्याह **अनन्ततयेति**. विद्यमाने अन्ते यदि न जानीयुः तदैव इदं दूषणं तेषाम् असार्वज्ञं (/ ज्ञ्यं!)[१] च, तदेव तु नास्ति. किञ्च **त्वमपि न** वेत्सि. नापि सर्वज्ञो भगवान् कथं न जानातीति मन्तव्यम्, विद्यमानस्यैव अज्ञानं सार्वज्ञ (/ ज्ञ्य !) प्रतिबन्धकं, नतु अविद्यमानस्य[२]. एवं कालापरिच्छेदम् उक्त्वा देशापरिच्छेदमाह **यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा** इति. **यस्य** भगवतः **अन्तः** मध्ये **आण्डनिचया** अण्डसमूहाः, **अन्तरा अण्डनिचया** वा. तेऽपि **सावरणाः** प्रकृतिपर्यन्तम् उत्तरोत्तरं दशगुणावरणयुक्ताः. अनेन एकस्य ब्रह्माण्डाधिपतेः ब्रह्मानन्दो गणित इति भगवदानन्दस्य अनन्तता समर्थिता. ननु तथापि ब्रह्माण्डानां सङ्ख्यावत्त्वे आनन्त्यं नोपपद्यत इति चेत्, तत्राह **ख इव रजांसि वान्तीति**. यथा जालार्करश्मिषु कोटिशो रेणव उत्पतन्ति एवं भगवद्रोमकूपेषु ब्रह्माण्डानीति केचित्. वस्तुतस्तु एकं रोमकूपस्थानम्

लेखः

'ख'पदेन[३] जालान्तर्वर्त्याकाशं तदिव रोमकूपः. तदा रोमकूपो ब्रह्माण्डैः पूरित इव भवति, **वस्तुतस्त्विति** मते तु रोमकूपस्य अतिविशालत्वम्

---

१. असर्वज्ञता इत्यर्थः - सम्पा. २. आविर्भावतिरोभावांगीकारेण चतुर्विधाभावानंगीकारेण अत्र अविद्यमानता न अभावरूपा किन्तु अपरिसंख्यातानां नामरूपकर्मणाम् अनाद्यानन्त्येन आविर्भूयतिरोभूयमाणानाम् एकदा अविद्यमानानां कालापरिच्छेदः - सम्पा. ३. खपदेन इति मुद्रिते नास्ति, शेषेषु एवम् - सम्पा.

अतिविशालम् आकाशवत्. तत्र यथा भूरेणवः कोटिशो वान्ति तथा ब्रह्माण्डानि परिभ्रमन्तीत्यर्थः. ननु तर्हि कालो महान् भविष्यति इत्याशङ्क्याह **वयसा सहेति**. काला अपि तत्र कोटिशः परिभ्रमन्तीत्यर्थः. वायुस्थानीयो वा कालः. ननु तथापि प्रमाणेन परिच्छेदो भविष्यति, 'अनन्ता'दिशब्दवाच्याद्, इत्याह **यदन्तरा श्रुतयोऽपि यत्** यस्माद् **वान्ति**. ब्रह्माण्डानन्त्यवद् वेदानन्त्यमपि. तेन एकस्यैव ब्रह्माण्डस्य वार्ताम् एको वेदो वदतीति न वेदैरपि परिच्छेत्तुं शक्यते. ननु एवं सति सर्वप्रमाणानाम् अगम्ये भगवति तादृशानन्दे किं प्रमाणमिति चेत्, तत्राह **त्वयि हि फलन्तीति श्रुतय** एव प्रमाणं, परं पर्यवसानवृत्त्या, नतु वाच्यवृत्त्या. यथा अनन्तवृक्षा भूमौ फलन्ति, तत उच्चस्थितान्यपि फलानि भूमावेव पतन्ति. एवं सर्वे वेदाः स्व-स्वरीत्या स्वशक्यं माहात्म्यं भगवतो वदन्ति, तानि ज्ञानानि 'फलानि' उच्यन्ते. तेषां क्वापि पर्यवसानाभावाद् भगवत्येव पतन्ति = पर्यवसिता भवन्ति. एवम् अनन्तवृक्षाणाम् अनन्तानि फलानि भूमौ पतन्त्यपि भूमेः सहस्रांशमपि न पूरयन्तीति मेरुसर्षपन्यायेन अर्थाद् भगवन्माहात्म्यं ज्ञापयन्तीत्यर्थः. एवं विधिमुखतया भगवत्स्वरूपबोधकत्वम् उक्त्वा निषेधमुखेनापि भगवद्बोधकत्व-माहुः **अतन्निरसनेन भवन्निधना** इति. यत्किञ्चिद् वेदप्रतिपाद्यं तत्सर्वम् अनूद्य योऽस्मात् सर्वस्मात् पर इति भगवतः तदतिरिक्ततां बोधयन्ति "न तदश्नोति कश्चन" (बृहदा.उप. ३।८।८), "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति.उप. २।४।१) इत्यादिश्रुतिसहस्रैः प्रतिपाद्यपदार्थनिषेधकैः; निषेधस्य सावधित्वेन पर्यवसानाभावात् पदार्थस्य च अवधिभूतस्य परिज्ञानाभावात्

लेखः

आयातीति भावः. **ननु तथापीति**. **शब्दवाच्यादिति** भावप्रधानम्. तथाच **प्रमाणेन** वेदेन ब्रह्मणो **अनन्तशब्दवाच्यत्वात्** शब्देन **परिच्छेदो भविष्यतीति** हेतोः **आह** श्रुत्यगम्यत्वमिति शेषः. **तदतिरिक्ततामिति**. नहि तावानेव भगवान् किन्तु ततः सहस्रगुणाधिक इति **बोधयन्तीत्यर्थः**. **पदार्थनिषेधकैरिति**, तावन्मात्रनिषेधकैरित्यर्थः. **निषेधस्येति**. निषेधस्तु सावधिर्भवति, अतो अवधिज्ञानमपेक्षते. अत्र चावधिभूतस्य पदार्थस्य परिज्ञानाभावः अतो **निषेधस्य**

वाचकशक्तौ कुण्ठितायाम्, अप्रमाणभावमिव प्राप्नुवत्यः[१] (श्रुतयः!) भगवत्येव निधनं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः. तस्माद् एतादृशः परमानन्दरूपः कृष्ण एव सेव्यो, नान्य इति सर्वेषां वेदानां पर्यवसितोऽर्थ इति सूचितम्. वेदाश्च तमेवं बोधयन्ति, एवं ज्ञातुं भगवता बुद्धिरुत्पाद्यत इति. सूक्ष्मेक्षिकया सर्वे वेदा एवं भगवन्तं प्रतिपादयन्तीति जानीयादिति अनिर्देश्येऽपि ब्रह्मणि गुणवृत्तीनामपि साक्षात्प्रतिपादनमिति निरूपितम्. अत्र सर्वत्र श्रुतयो मूलभूताः स्वयं द्रष्टव्याः. विवादविषयाश्च अतिविस्तरशङ्कया[२] न लिखिताः. एवं श्रुतिभिः प्रतिपादितोऽर्थः गूढोऽपि उपनिबद्धः.

कृष्णानन्दः परानन्दो नान्यानन्दस्तथाविधः ॥(४२)॥
वेदा अपि न तच्छक्ताः प्रतिपादयितुं स्वतः ॥४१॥
इत्येवं श्रुतिगीतायाः संक्षेपेण निरूपितः ॥(४३)॥
अर्थराशिः समुद्रो हि यथाङ्गुल्या निरूप्यते ॥

श्रुतिभिः उक्तानि वाक्यानि; सनन्दनो अनुवादमात्रं कृतवान्. ततो व्याख्यानव्यतिरेकेण तदर्थावगतिः अस्ति न वा इति सन्दिह्य औत्पत्तिकमनीषया एतज्ज्ञायत इति ज्ञापयितुं तस्य अर्थस्य अवबोधमाह—

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥४२॥

इत्येतदिति नारदं प्रति नारायणवाक्यम्. श्रोतारो **ब्रह्मणः पुत्राः**. सम्पूर्णश्रुतिगीतायाः संक्षेपेण अर्थमाह **आत्मानुशासनमिति**. **आत्मनां** जीवानाम्

लेखः

पर्यवसानाभावादित्यर्थः. अनिर्देश्येपीति. पूर्वमनिर्देश्यमपि शक्तिरूपेण आविर्भावानन्तरम् अंशतो निर्देश्यम्. श्रुतयश्च गुणवृत्तयो भगवद्गुणमात्रवृत्तित्वेन यावत्स्वरूप-प्रतिपादनासमर्था अपि तेषां गुणानामपि सगुणत्वाभावान्न सगुणवृत्तयः किन्तु निर्गुणप्रतिपादका एव. अतो अंशतो भगवद्गुणान् पर्यवसानवृत्त्या च स्वरूपं बोधयन्तीत्यर्थः ॥४१॥

---

१. प्राप्नुवन्तः इति क-ग-घ-सं.पाठः - सम्पा. २. -विस्तार- इति क-ग-घ-सं. पाठः - सम्पा.

अनुशासनम् उपदेशः — भगवानेव सेव्य एवेति च. एतावानेव श्रुतिगीतार्थः. स तेषां हृदये समागत इति गुरोः पूजनं कृतवन्त इत्याह **सनन्दनमिति. अथेति** भिन्नप्रक्रमेण. पूर्वं समाः स्थिताः, "तुल्यश्रुततपःशीला" (श्लो. ११) इति वाक्याद्, इदानीं तु श्रुतिगीतारूपो अर्थः तेनैव विशेषतो ज्ञायत इति प्रवचनाधिकारे दत्ते यत्सर्वैः न ज्ञायते तदेव वक्तव्यम् इति इदम् उपाख्यानम् उक्तवान्. यदि तेषाम् अयमर्थो न ज्ञातः स्याद् विशेषाकारेण तदा "श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चिद्" (भग.गीता २।२९) इतिन्यायेन विशेषाज्ञानात् विशेषतः पूजां न कुर्युः. अतोऽयमर्थः अपूर्वः जनवासिनामपि दुर्लभः केवलम् इदानीमेव प्रकट इति ज्ञापितम्. ततः **सिद्धाश्च** जाताः; नातः परं श्रोतव्यम् अस्ति. पूर्वमपि तैः **आत्मा** ज्ञातः, परं तस्य **गतिः** एतादृशी "केवलं भगवानेव सेव्यो नान्यो अस्ति [१]उपाय" इति इदानीमेव **ज्ञातवन्तः**. अतः सिद्धा इत्यर्थः ॥४२॥

नारदस्य अत्र एवं जिज्ञासा उत्पन्ना — एतादृशो अर्थो अन्योऽपि भविष्यतीति. तत्राह **इत्यशेषसमाम्नायेति.**

इत्यशेषसमाम्नाय - पुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥४३॥

अर्थः स्थलत्रये गूढः पुराणोपनिषच्छ्रुतौ ॥(४४)॥
सर्वतः सारमेतद्धि समुद्धृतमिहोच्यते ॥

अतो नान्यो अस्ति सारांश इति वक्तुं निरूपयति. **अशेषाः** सर्व एव वेदाः **पुराणानि उपनिषदश्च** तेषां निर्मथनेन अयमर्थो निर्गलित

लेखः

इत्येतदित्यत्र आभासोक्तं वाक्यार्थं व्युत्पादयन्ति **यदि तेषामिति.** पूजाकथनस्य प्रकृतोपयोगमाहुः **अत** इति. विशेषपूजाकथनादित्यर्थः ॥४२॥

इत्यशेषेत्यत्र सर्व एव वेदा इति, त्रिविधा अपि मन्त्रा इत्यर्थः. उपनिषदो ब्राह्मणभागे. अन्येषु ब्राह्मणेषु मन्त्राणामेव विनियोगकथनात् तदकथनमिति भावः ॥४३॥

१. उपास्यः इति ग-घ पाठयोः - सम्पा.

इति **रसः**. स पूर्वं तत्रैव स्थितः पश्चात् **पूर्वजातैः महात्मभिः व्योमयानैः** सनकादिभिः ततः **समृद्धृत्य** पृथक् स्थापितः. ननु एतत्समुद्धारे किं प्रयोजनमिति चेत्, तत्राह **महात्मभिरिति**. महान्तस्ते सर्वोपकारकाः ॥४३॥

एवं श्रुतिगीताया माहात्म्यमुक्त्वा नारदे विशेषमुपदिशति **त्वं चैतद् ब्रह्मदायादेति**.

त्वं चैतद् ब्रह्मदायाद श्रद्धयाऽत्मानुशासनम् ।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥४४॥

ब्रह्मणः पुत्रो **ब्रह्मदायादो** भवति. अत्र तु ब्रह्मण्येव दायं प्राप्तवानिति विशेषतो वचनम्. [१]अधिकारनिरूपणार्थं वा— यस्तु ब्रह्मणि दायभाक् तस्य हृदये अयमर्थः स्फुरति. अतः **श्रद्धया आत्मानुशासनं** तवात्यन्तोपदेशपूर्वकं रूपम् अतो **धारयन्** इममर्थं सर्वदा विचारयन् **गां चर** सर्वत्र परिभ्रमणं कुरु. परित्यागेनैव अस्य शास्त्रार्थस्य सम्भवाद् आत्मानुशासनेनैव [२]निरन्तरं भगवत्स्मरणं[२] प्राप्तम्. नारदस्य सिद्धमपि अस्ति. एकमेव बाधकं महतो भगवत्स्मरणे, काम इति, "कश्चिन्महान् तस्य न कामनिर्जयः[३] " (भाग.पुरा. ८।८।२०) इति वाक्यात्. तस्य एतत् **कामभर्जनसाधनम्**. **कामानामिति** बहुवचनं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकम् इदमिति सूचयति. **नृणामिति** मनुष्याणां विशेषतो[४] हितकारि इत्युक्तम् ॥४४॥

लेखः

त्वं चैतदित्यत्र ब्रह्मदायादेत्यस्य ब्रह्मरूपं दायमादत्ते इति विग्रहो ज्ञेयः. **आत्मानुशासनमित्यस्य** आत्मनः =स्वस्य नारदस्य अनुशासनमित्यर्थ इत्याशयेनाहुः **तवात्यन्तेति**. **शास्त्रार्थस्येति**, एतच्छास्त्रप्रतिपाद्यभजनस्येत्यर्थः ॥४४॥

---

१. अधिकारी- इति ग-घपाठयोः - सम्पा.

२-२. मुद्रितेतरेषु नोपलभ्यते - सम्पा.

३. कामेन निर्जयः कामनिर्जयः. यः कामेन अपराजितः स महान् इत्यर्थः - सम्पा.

४. विशेषहितकारि इति मुद्रितपाठः, क-ग-घपाठानुरोधाद् एवम् - सम्पा.

अयमुपदेशो नारदस्य हृदये समागत इति ज्ञापयितुं तस्य कथामाह **एवं स गुरुणादिष्टमिति.**

।। श्रीशुक उवाच ।।

एवं स गुरुणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ।।४५।।

यद्यपि बहून्येव व्याख्यानानि श्रुतानि तथाप्यत्र विशेषतः **श्रद्धावान्** जातः. **आत्मवानित्यधिकारी. पूर्ण** इति तस्य अर्थावबोधो जात इति सूचितम्. **श्रुतधर** इति श्रवणमात्रेणैव शब्दतो अर्थतश्च धारयतीति नित्यस्मरणम् उक्तम् अभ्यासापेक्षा च निवारिता. **राजन्निति** अयमर्थो ग्राह्य इति बोधनार्थम्. सोऽर्थः तेनेति ज्ञात इति ज्ञापयितुं गुरुं प्रति किञ्चिदाह. यतो **वीरव्रतः** वीरवद् व्रतं यस्येति. वीरः सकृदेव कार्यं करोति, नतु विलम्बं सहत इति. एवं क्रियाशक्त्याधिक्यम् उक्त्वा ज्ञानशक्त्याधिक्यमाह **मुनिरिति** ।।४५।।

स्वगुरुं नमस्यति **नमस्तस्मै भगवत** इति.

।। नारद उवाच ।।

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलमूर्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ।।४६।।

नारायणस्य स्वरूपं कृष्णः. कृष्ण एव नारायणरूपेण अवतीर्ण इति **कृष्णो** मूलं भवति. यद्यपि लोके नारायणस्यैव अंशः कृष्ण इति प्रसिद्धिः, "ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ" (भाग.पुरा. ४।१।५९) इति वाक्यात्, तथापि श्रुतिगीताशिक्षया विपरीतं ज्ञातवान्. तत्र हि "स्त्रिय उरगेन्द्रभोग-भुजदण्डविषक्तधियः" (श्लो. २३) इति श्रुतितुल्या निरूपिताः. तादृश्यः कृष्ण एव भवन्ति गोपिकाद्याः नान्यावतारेषु, इति स एव भजनीयः श्रुतिगीतासु निरूपित इति ज्ञातवान्.

माहात्म्यं बहुधा ज्ञात्वा जीवानां च गतिं पराम् ।।(४५)।।
सर्वं त्यक्त्वा विधार्यैतन् नित्यं कृष्णं स्मरंश्चरेत् ।।

एतावानेव उपाख्यानार्थ इति ज्ञात्वा कृष्णमेव नमस्यति. अवतारेण दोषप्रतिभानं वारयति **अमलमूर्तय** इति. अमलेषु वा मूर्तिः यस्येति भगवत्प्राप्त्युपायो वा निरूपितः. ननु अयं साक्षाद्गुरुः नारायणः तस्य चावतारः, तं प्रत्यक्षं

विहाय **तस्मै** इति परोक्षः कृष्णः कथं नमस्कृत इति चेत्, तत्राह **यो धत्ते सर्वभूतानामिति.** स एव भगवान् अस्मदादिसर्वभूतमोक्षार्थम् **उशतीः कला धत्ते.** स एव एतद्रूपेण अस्मदुद्धारार्थं समागतः. तथा सति अयं मूलभूतो न भवतीति, तस्यैव च अयमुपकार इति, स एव नमस्कृत इत्यर्थः ॥४६॥

ननु गुरोः नमस्कारः कर्तव्यः, स कथं न कृत इति चेत्, तत्राह.

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४७॥

इत्याद्यमृषिमानम्येति. इत्येव स नमस्कृतः, यतः स **आद्यो ऋषिः** स्वस्वरूपं जानाति "कृष्णोऽहमि"ति. **तच्छिष्याश्च** तं जानन्ति यतो **महात्मानः** वस्तुस्वरूपं जानन्ति, नतु बहिर्मुखा इत्यर्थः. केवलपरमतत्व-व्युदासाय व्याससम्बन्धमाह **ततोऽगादाश्रममिति.** यद्यपि व्यासस्य बहून्येव स्थानानि सन्ति तथापि **साक्षात्** तदेव स्थानम्. ननु व्यासः साक्षाद् भगवान्; कथं स्वतो न ज्ञातवान्? तत्राह **द्वैपायनस्येति** ॥४७॥

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद् वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥४८॥

ततस्तेन **सभाजितः** महता पूजितः सन् **आसनं** च तद्दत्तं गृहीत्वा **नारायणमुखाच्छ्रुतं** यद् गूढं **तद् वर्णयामास.** ततः परम्परया प्राप्तं मयापि ते वर्णितमिति. एतद् विचारप्रकारेणैव यथा निर्गुणे मनः प्रविशति तथा कर्तव्यम्. भगवता चेत् तादृशी बुद्धिः त्वयि कृता तदा तया मनः प्रवेक्ष्यतीति भावः ॥४८॥

लेखः

इत्याद्यमित्यत्र केवलेति. यद्यपि सनन्दनोक्तत्वात् परमतं भवति तथापि व्याससम्मतम् अतो न मतान्तरभाषेति भावः. **द्वैपायनस्येतीति.** द्विर्गता आपो यस्मिन् तादृशमयनं यस्येति बुद्धेरपि कदाचिद् द्विधाभावः सूच्यते इति भावः ॥४७॥

इत्येतद् वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥४९॥

एतदर्थानवबोधात् "पृष्टम् अन्यद् उत्तरं च अन्यद् दत्तवानि"ति न मन्तव्यम् इत्येतदर्थमाह **यः प्रश्नः** नोऽस्मान् प्रति **त्वया कृतः** तस्यैव एतद् उत्तरमिति. "वेदास्तु निर्गुणं प्रतिपादयन्ति तत् केन प्रकारेण" इति सन्देहे "अनेनैव प्रकारेण प्रतिपादयन्ती"ति ज्ञातवतः **निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि मनश्चरेत्** ॥४९॥

शुकोऽपि श्रुतिगीताप्रतिपाद्यम् अर्थं पुनः स्वयं संक्षेपेणाह प्रतिपत्तिसौकर्याय, **योस्योत्प्रेक्षक** इति.

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शासिताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥५०॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥

माहात्म्यं ज्ञात्वा भगवन्तं भजेदिति अर्थद्वयम्. श्रुतिगीतार्थः — माहात्म्यं भजनं चेति. तत्र भजनप्रतिपादिकाः सर्वा एकीकृत्याह **ध्यायेदजस्रमिति,** अन्तर्भगवन्तं स्थापयित्वा तत्र सेवां कुर्यादित्यर्थः. तस्य फलत्वाय आह **अजस्रं** सुखरूपं सर्वदुःखहर्तारं चेति. तत्र भगवतो माहात्म्यं (१)गुणरूपं (२)दोषाभावरूपं च. तत्र (१)गुणरूपं द्वादशधा निरूपयति. **यो** भगवान् **अस्य** सर्वस्यापि जगतः **उत्प्रेक्षकः** ऊर्ध्वं प्रेक्षते = "कथमेते जीवसङ्घा निस्तीर्णा भविष्यन्ती"ति विचार्य "एवं भविष्यन्ती"ति तेषां हितं चिन्तयतीत्यर्थः. अयम् एको भजनीयगुणः. आवश्यकत्वाय गुणत्रयमाह **अस्य** जगतः **आदिमध्यावसानरूपः**. एवं चतुष्टयम् एकम्. सृष्टिकारणरूपं माहात्म्यत्रयमाह

लेखः

योस्योत्प्रेक्षक इत्यत्र **सेवां कुर्यादिति.** "चेतस्तत्प्रवणं सेवा" (सिद्धा.-मुक्ता. २) इत्यनेन चेतसो भगवद्गामित्वं सेवालक्षणम् उक्तमतो ध्यानं सेवेति भावः. **चतुष्टयमेकमिति,** भजनीयत्वसाधकमित्यर्थः. **योनिरधिकेति.**

यः **अव्यक्तं** प्रकृतिः **जीवः** पुरुषः **ईश्वरः** कालो नियन्ता त्रितयरूप इत्यर्थः. एवं सप्त गुणा निरूपिताः. अवशिष्टान् पञ्च गुणानाह. **यो** भगवान् **इदं सृष्ट्वा** इत्येकम्. **अनुप्रवेशो** द्वितीयः, ब्रह्माण्डं सृष्ट्वा ब्रह्माण्डमध्ये प्रविष्ट इत्यर्थः. ततो **ऋषिणा** वेदेन मुख्यजीवेन वा सहितो जात इत्यर्थः. ततो देव-तिर्यगादि**पुरश्चक्रे** चतुर्थोऽयं, **शासिता** इति पञ्चमः. (२)दोषत्रयाभावमाह **यं सम्पद्य**ेति. जीवा अपि यं प्राप्य मनसा भावनयापि लब्ध्वा **अजां** जहति = अविद्यां दूरीकुर्वन्ति. ननु स्मरणेनैव तर्हि मुक्ताः स्युः, तथा सति पुनः देहग्रहणं न स्यात्, तत्राह **सुप्तः कुलायं यथे**ति. नहि सर्वात्मना अजापरित्यागः किन्तु एवं भगवतो माहात्म्यं निरूप्यते यत् सम्बन्धमात्रेणैव अजां सकार्यां पुरुषो जहाति; सर्वथा न स्मरतीत्यर्थः. **यथा सुप्तः** पुरुषः शरीरं न स्मरति. एवं परम्परयापि दोषाभावो निरुक्तः, साक्षादाह— **कैवल्येन** केवलभावेन **निरस्ता योनिः** कारणभूता येनेति. सर्वमेव भगवानिति योनिरधिका कुतः स्यात्! **अभयमिति अभयमिति** तृतीयो दोषो निवार्यते, स्वयं भयरहितः सर्वेषामपि भयनिवर्तक इति. एवं निर्दोषपूर्णगुणरूपो भगवानिति स्वत एव परमानन्दं प्रयच्छति दुःखं च दूरीकरोतीति तमेव सर्वोऽपि भजेदित्यर्थः ॥५०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्द्धविवरणे अष्टत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

प्रकृतिस्वीकारपक्षे सापि भगवद्रूपैव अतो नाधिकेति भावः ॥५०॥

॥ इति अष्टत्रिंशाध्यायः ॥

॥ इति चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥

॥ चतुर्थः स्कन्धादितः पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥

एवं कृष्णस्य मूलत्वे सन्दिहानस्य संशयः ।
निवारितोऽतियत्नेन येन कृष्णः परः स्मृतः ॥(१)॥
व्यवहारस्तथैवात्र कृष्णे पर्यवसानतः ।
सर्वेन्द्रियाणां ग्राह्यत्वं श्रुतीनां हि[१] यथोदितम् ॥(२)॥
भजनीयगुणे त्वत्र सन्देहः कश्चिदुद्गतः ।
तन्निवारयितुं प्रश्नः पुना राज्ञा निरूप्यते ॥(३)॥

लेखः

एकोनचत्वारिंशे कारिकासु **एवं कृष्णस्येति**. पूर्वाध्याये सुभद्राहरणादिकार्याणां वीर्यविरुद्धानां दर्शनात् कथं कृष्णस्य मूलत्वमिति संशयोऽलौकिकत्वकथनेन निवारितः. ततस्तादृशे श्रुतयोपि न चरन्ति, कुतस्तरां चक्षुरादिग्राह्यत्वम् ? अत्र तु प्रमाणानि चक्षुरादीनि सञ्चरन्त्यतः कथं मूलत्वमिति प्रमाणद्वारा **संशयः**, सोऽपि श्रुतिप्रतिपाद्यत्वकथनेन **निवारितः**. **अतियत्नेन** अतिसूक्ष्मेक्षिकयेत्यर्थः. **येन** सन्देहनिवारणेन **कृष्णः परत्वेन स्मृतः** मानसानुभवपूर्वकं ज्ञातो भवतीत्यर्थः. सिद्धमर्थमाहुः **व्यवहार** इति. **अत्र कृष्णे** चक्षुरादिभिर्व्य**वहारस्तथैव** तद्रूप एवेत्यर्थः. ननु श्रुतिप्रतिपाद्यत्वकथनेन चक्षुरादिव्यवहार्यत्वं कथं सिद्धं भवतीत्यत आहुः **पर्यवसानत** इति. **यथा पर्यवसानतो** हेतोः **श्रुतीनां ग्राह्यत्वं** भगवत्युदितं **तथा** पर्यवसानादेव हेतोः इन्द्रियग्राह्यत्वमप्युदितम्. यथाऽलौकिकः शब्दो भगवत्येव पर्यवसन्नः तथाऽलौकिकानीन्द्रियाण्यपि भगवत्येव पर्यवसन्नानीत्यर्थः. अत एव गोपिकानां चक्षुंषि परिभ्रमन्ति सर्वत्र, विषयीकुर्वन्ति भगवन्मुख-लावण्यामृतमेवेति निरूपितम्. तथाच श्रुतिप्रतिपाद्यत्वम् अलौकिकप्रमाणमात्र-ग्राह्यत्वोपलक्षकमिति भावः. **इन्द्रियाणां श्रुतीनामिति** कर्तरि षष्ठी. आवृत्तचक्षुषा दर्शनस्य श्रुतिसिद्धत्वाद् अलौकिकप्रमाणग्राह्यत्वं युक्तमेवेति **हिशब्दः** (१-२).

एवं पूर्वाध्यायार्थमनूद्य विवक्षितमर्थमाहुः **भजनीयेति**. **क्वचिदिति**

१. तु इति मुद्रितेतरेषु सर्वेषु - सम्पा.

पूर्वाध्यायो यशोव्यक्त्यै श्रियै चायमुदीरितः ।
अतः श्रियं सदा कृष्णे नित्यामाहाव्ययां क्वचित् ॥(४)॥
यथानन्दो न सर्वत्र तथा श्रीरपि देवता ।
तथात्वं दूषणं लोके भ्रान्तबुद्धौ निरूपितम् ॥(५)॥
अतोऽत्र भजनीयार्थं लक्ष्मीनिर्णय उच्यते[१] ।
एकोनचत्वारिंशे च तत्प्रसङ्गात् कथान्तरम् ॥(६)॥
शिवादिसर्वदेवानां दातृत्वमविचारतः ।
विचारेण तु दातृत्वं कृष्णस्यैव विशेषतः ॥(७)॥
अविचारितदानेन स्वयं दातापि नश्यति ।
सम्प्रदानस्य का वार्ता तस्माच्छ्रीशो न तत्प्रदः ॥(८)॥
दुष्टैव श्रीरन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा ।
कृष्णमेव ततो वाञ्छेत् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित् ॥(९)॥

पूर्वाध्याये परब्रह्मरूपे भगवति प्रमाणविषयदोषान् परिहृत्य प्रमेयविषये भगवद्दोषपरिहारार्थम् अध्यायान्तरमारभते. तत्र राजा भगवति दातृत्वे सन्दिहानः – अदातृत्वस्य च लोके निन्दाश्रवणात् निर्णयार्थं– पृच्छति **देवासुरमनुष्येष्विति**

लेखः

अपीति शेषः ; क्वचिदपि व्ययरहितामित्यर्थः. **देवतेति न सर्वत्रेति** पूर्वेणैवान्वयः. **तथात्वमिति.** श्रियः चाञ्चल्यादि-दोषयुक्तत्वात् तत्सम्बन्धित्वं भगवत्यपि दूषणमित्यर्थः. श्रीनिर्णयमाहुः **दुष्टैवेति. शुद्धा** चाञ्चल्यादिदोषरहिता. तथाच भगवन्निष्ठायाः श्रियोऽदुष्टत्वात् तत्सम्बन्धित्वं भगवति न दूषणम् , अन्यनिष्ठायास्तु चाञ्चल्यादि-दोषयुक्तत्वात् तत्सम्बन्धित्वमन्यत्र दूषणं भवत्येव. अतो न ददातीति भावः (३-९).

प्रमाणेति. कृष्णस्य **प्रमाणविषयत्वे** ये **दोषाः** सगुणत्वादयः प्राप्ताः तान् निर्गुणस्यैव प्रमाणविषयत्वकथनेन **परिहृत्येत्यर्थः**. तदा **प्रमेयरूपविषयत्वे** सति प्रमाणगम्यश्चेद् दोषपरिहारार्थं विचारोऽपि कर्तव्य इति **भगवति** प्रतीता ये **दोषा** अदातृत्वादयः **तत्परिहारार्थमित्यर्थः**.

---

१. रूप्यते इति क-ग-घपाठेषु - सम्पा.

द्वाभ्याम्.

॥ राजोवाच ॥

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥१॥

त्रिविधा जीवा उपासनसमर्थाः. तेषां भगवदुपासनं विधीयते अन्योपासनव्यावृत्तिपूर्वकम्. तत्रान्येषाम् ऐहिकदातृत्वे कथं व्यावृत्तिः स्यादिति महादेव उपक्षिप्यते. त्रिविधेषु जीवेषु ये **अशिवं** लक्ष्मीकृतशोभारहितं नाम्ना **शिवं** कल्याणरूपं वा **ये भजन्ति ते प्रायेण धनिनः**– ज्ञानार्थिनस्तु ततो धनं न वाञ्छन्ति इति **प्रायेणोक्तं– भोजा** भोक्तारश्च, दान-भोगक्षमं धनं शिवः प्रयच्छतीति. यदि भगवानपि प्रयच्छेत् तदोक्तं दूषणं न सङ्गच्छत इति प्रकृते निषेधति **न तु लक्ष्म्याः पतिमिति**. विद्यते लक्ष्मीः, स्वयं (**हरिः !**) परदुःखहर्ता च. ये लक्ष्मीपतिमुपासते न ते धनिनो न वा भोजा इत्यर्थः. गुणानां तारतम्यमत्र विचार्यते इति तुल्यता ॥१॥

नन्वेवमेव स्वभाव इति चेत्, तत्राह **एतद् वेदितुमिच्छाम** इति.

लेखः

देवासुरेत्यत्र. पश्वादीनामकथने हेतुमाहुः **उपासनसमर्था** इति. अत एव श्रुतौ "त्रया ह प्राजापत्याः" (बृहदा.उप. ५।२।१) इत्यत्र त्रयाणामेव प्रजापतिसमीपे गमनमुक्तम्. **तेषामिति**, अत्राध्याय इति शेषः. **तत्रेति**, अन्योपासनव्यावृत्तौ वक्तव्यायामित्यर्थः. **दानभोगेति**. भुजन्तीति भोजाः, पचाद्यच्. भुज पालनाभ्यवहारयोः. तथाच धनदानेन सर्वान् पालयन्ति, स्वयं च धनमभ्यवहरन्ति = तद्भोगं कुर्वन्तीत्यर्थः. ननु भगवाननन्तगुणपूर्णः, शिवस्तु तामसस्तदंशो भक्त इति का तुल्यत्वशङ्का? तत्राहुः **गुणानामिति**. सात्त्विककल्पे भगवदाविष्टस्य विष्णोः सत्त्वगुण, इतरयोश्च रजस्तमसी इति **गुणानां तारतम्यं विचार्यत** इत्यर्थः. कृष्णचरित्रप्रसङ्गे तत्स्वरूपविचारस्य गुणप्रकरणार्थत्वेन विष्णोरप्रसङ्गेऽपि सात्त्विककल्पे विष्णोर्भगवदाविष्टत्वेन भगवत्त्वमभिप्रेत्य प्रश्नोत्तरे उक्ते तुल्यता तु गुणमात्रविचारेणेति भावः ॥१॥

एतद् वेदितुमिच्छामः सन्देहोऽत्र महान् हि नः ।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ॥२॥

एतदत्रत्यं सन्देहनिवर्तकं, यतोऽत्र **महान् सन्देहः**. हि युक्तश्चायमर्थः, भक्तत्वाद् भजनीयगुणसन्देहो वारणीय इति. नोऽस्माकं सर्वेषामेव, यतोऽत्र कौतुकाविष्टानामपि सन्देहनिवृत्त्यर्थं प्रयत्न, इति ज्ञापयितुमाह **विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोरि**ति. एको लक्ष्म्या सहितः, अपरो विहीनः ; तत्सेवकस्तु लक्ष्मीरहितः सहितश्चेति. यस्य हि यद् रोचते स स्वभक्ताय तत् प्रयच्छति, प्रकृते तु तदभाव इत्यर्थः ॥२॥

अत्र सन्दिग्धः प्रष्टव्यः "शिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते ; कथं प्रयच्छतीति ? अत्र किं विषया राज्यादय उत्कृष्टाः आहोस्विदपकृष्टा ?" इति. "उत्कृष्टाश्चेच्छिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते ? अपकृष्टाश्चेत् कथं प्रयच्छती"ति. तत्रोत्तरम् "अपकृष्टा एवे"ति. अतस्तस्य भोगाभावः समर्थितः. तादृशं कथं ददातीति चेद्, उपासकानामेव दोषादिति वक्तुं ये धनार्थं शिवमुपासते ते साहंकाराः सन्तः अहंकाराभिमानिनमेव शिवमुपासते, नतु शैवतन्त्रसिद्धं सदाशिवं वा, साधारणत्वाद् ज्ञानाधिकाराभावाच्च. अतस्तान् प्रति शिवस्तादृशमेवेति तन्निरूपयति **शिवः शक्तियुत** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥३॥

अहंकाराभिमानेऽपि शिवस्य तादृशत्वे हेतुः **शक्तियुत** इति, "शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः" (भाग.पुरा. ४।२४।१८) इति वाक्यात्. प्रलयकर्त्रीं शक्तिं यदि शिवः शान्तात्मा क्षणमपि परित्यजेत् तदा सा प्रलयं कुर्यात् ! यदि वा कण्ठे कालकूटं न स्थापयेत् तदा सर्ववस्तूनां

लेखः

शिव इत्यत्र **अहंकाराभिमानेपीति**. अहंकाराध्यासो जीववन्नास्ति किन्तु अभिमानमात्रमेव, तथापि शक्तिसाहित्यात् **तादृशत्वम्** उपासकानुरूप-फलदातृत्वमित्यर्थः. शक्तिसाहित्येन स्थितौ हेतुमाहुः **प्रलयेति**. प्रसङ्गादन्यद-प्याहुः **यदि** वेत्यादि. **सापीति**. गङ्गाया निरोधाभावे सापि सर्वेषामेव

दोषस्याधिदैविकं रूपमिति तत्परित्यागे सर्ववस्तुषु दोषोद्गमे सर्वोऽपि अन्नादिभक्षणेन म्रियेत! यदि वा सर्पान्न धारयेत् तदा सर्व एव पुरुषाः कुण्डलिनीव्याप्ताः तयैव हताः स्युः! तदाधिदैविकान् निरुद्ध्य स्थापयतीति न कुण्डलिनी कमपि हन्तीति सूचितम्. एवमग्नेर्धारणम्, अन्यथा सर्वं दहेदिति. एवं चन्द्रमसोऽपि, अन्यथा सर्वं क्षीणं कुर्यादिति. वस्त्राणां सर्वदेवतामयत्वात् न बाधकत्वमिति न तद्धारणम्. शार्दूलचर्म तु "मृत्योर्वा एष वर्णो यच्छार्दूलम्" (तैत्ति.ब्रा. १।७।८) इति श्रुतेः प्राणिनां मृत्युनिवारणार्थं बिभर्ति. गङ्गां च बिभर्ति; सापि स्पर्शमात्रेणैव पूर्वदेहं दोषरूपं निवर्त्य भगवदीयं देहं सम्पादयति. जटाश्च बिभर्ति, अन्यथा वायुना हृता मेघा गच्छेयुरेव, नत्वागत्य वृष्टिं कुर्युः. एवं सर्वेषां प्रयोजनानि शैवतन्त्रे निरूपितानि निर्दोषपूर्णगुणविग्रह-निरूपणप्रस्तावे. एवं परमकृपालुरपि उपासकानुरोधात् **त्रिलिङ्गो** जातः. ततो **गुणैरपि** सत्त्वरजस्तमोभिः संवेष्टितः. ननु तस्य त्रिलिङ्गत्वे वा गुणवेष्टनत्वे वा को हेतुरिति चेत्, तत्राह **वैकारिकस्तैजसश्चे**ति. **वैकारिकः** सात्त्विकः. **तैजसो** राजसः. **अहमहंकार**स्तदधिष्ठाता जात इति तस्य त्रिलिङ्गत्वाद् गुणसंवृतत्वाच्च स्वयं चापि तथा जातः ॥३॥

ततः सहिता शक्तिः पुरुषसम्बन्धात् प्रलयकर्तृत्वं परित्यज्य सृष्टिं कृतवतीत्याह **ततो विकारा अभवन्नि**ति.

ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कञ्चन ।
उपाधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥४॥

भूतानीन्द्रियाणि च **विकाराः षोडश.** महादेवः षोडशरूपो जात इत्यर्थः, "षोडशकलोऽयं पुरुषः" (तैत्ति.उप. २।६।१) इति श्रुतेः. **ततः**

लेखः

भगवदीयदेहं सम्पादयेद्; अधिकारिनियमो न स्यादित्यर्थः. **जटाश्चेति.** "अम्बुवाहाः केशा" (. । ।) इतिवाक्याद् जटानां मेघरूपत्व-मित्यर्थः. एतेषां सर्वेषामेव नियमे ईश्वरेच्छानुरूपं नियतमेव कार्यं कुर्युरिति भावः. **निर्दोषेति.** भगवद्धर्मा अपि निर्दोषपूर्णगुणा इति आनन्दधर्म-तमोरूप-शिवोऽपि निर्दोषपूर्णगुणविग्रह इति भावः. **वैकारिक** इति. अहंकारस्य त्रिविधत्वात् तत्तदधिष्ठातापि त्रिविध इत्यर्थः ॥३॥

अमीषु भगवन्मूर्तिषु **कञ्चनापि** महादेवम् **उपाधावन् सर्वासामेव विभूतीनां गतिमश्नुते,** यतः स विभूतिपतिः ऐश्वर्याणि [१]अक्षयरूपाणि कृत्वा बिभर्तीति. अनेन तस्य विभूत्यभावो निराकृतः ॥४॥

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत् ॥५॥

एवं महादेवे दोषं निराकृत्य भक्तानुरोधेन विकारजातं प्रयच्छतीति निरूपितम्. भगवति च वादी प्रष्टव्यः "किं लक्ष्मीरूपा विषया उत्तमा अधमा वे"ति. उत्तमत्वे कथं न प्रयच्छति, अधमत्वे कथं स्वयं भुङ्क्त इति सन्देहः. तत्र **हि**शब्दः पूर्वपक्षोक्तं प्रकारं वारयति. लक्ष्मीरूपविषया उत्तमाः अतो भगवान् बिभर्तीति युक्तम्. दोषरूपपक्षस्थापनार्थं भगवता शिवरूपमेव कृतमिति नात्र पुनः तत्पूर्वपक्षाः समायान्ति. तत्र भक्तेभ्यः कथं न प्रयच्छतीत्याशङ्कायामाह **हरि**रिति. प्रयच्छत्येव, नतु दुःखरूपान्. यथा हरिर्गजेन्द्राय पूर्वावस्थास्थित-देह-भार्यैश्वर्यादिकं त्याजयित्वा परमानन्द-रूपान् तानेव दत्तवान्. **हि** युक्तश्चायमर्थः. ननु शिववत् कथं न प्रयच्छतीति चेत्, तत्राह **निर्गुण** इति. गुणार्थं तदेव रूपं जातमिति तेनैव रूपेण तत्कार्यं सिद्ध्यतीति स्वयं गुणातीतः स्थितः. अत्र रूपे गुणग्रहणे प्रयोजनं नास्तीत्याह **साक्षात्पुरुष** इति. अयं सर्वेषामुपासकानाम् आत्मा अतस्तद्धितमेव विचारयति, नतु उपासनानुरोधं करोति. किञ्च अस्य तादृशी कापि शक्तिर्नास्ति

लेखः

ततो विकारा इत्यत्र **भूतानी**ति. तामसाहंकारकार्याणि भूतानि पञ्च, राजसाहंकारकार्याणि दशेन्द्रियाणि, सात्त्विकाहंकारकार्यं मन एकम् —एवं षोडशेत्यर्थः. **ऐश्वर्याणी**ति. विभूतिपतित्वाद् ऐश्वर्याणि पोषयतीत्यर्थः. अपकृष्टत्वात् स्वयं न भुङ्क्ते इति भावः ॥३॥

हरिर्हीत्यत्र **गुणातीत** इति. विष्णुः सात्त्विकोऽपि आवेशेन भगवत्त्वात् तथेति भावः. आवेशमभिप्रेत्यैवाहुः **साक्षा**दित्यादि. **अस्ये**ति, पुरुषोत्तमस्येत्यर्थः. लक्ष्मीस्तु निर्दुष्टा स्वरूपभूतैवेति भावः ॥५॥

१. अल्पक्षय- इति क-गपाठयोः - सम्पा.

यदनुरोधात् तां परिगृह्य सगुणो भवेत्. ननु पुरुषत्वात् प्रकृतिरायातीति चेद्, अत आह **प्रकृतेः पर** इति. ननु तथापि भक्तक्लेशं दृष्ट्वा कथं न सम्पादयतीति चेत्, तत्राह **स सर्वदृगिति. स** प्रसिद्धः आत्मा हितकारी सर्वस्यापि **सर्वं** पश्यति. किञ्च **(उपद्रष्टा !)** अन्तर्यामित्वान्निकटेऽपि स्थितः पश्यति. ततो यदैव यद्विना कार्यं न भवतीति जानाति तदैव तत् प्रयच्छतीति भावः. अत एवैतादृशं परमविचक्षणं **(तं !) भजन्** स्वयमपि **निर्गुण एव भवेद्**, गुणप्रयोजनाभावात् ॥५॥

भगवांश्च तेनैव रूपेण प्रकट इति न भक्तोऽपेक्षते, नापि भगवान् प्रयच्छतीत्यर्थः. प्रत्युत दोषरूपान् विषयान् भक्तेषु पश्यन्नपहरतीति वक्तुमुपाख्यानमाह **निवृत्तेष्वश्वमेधेष्विति.**

निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत् पितामहः ।
शृण्वन् भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥६॥
स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः ।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥७॥

अश्वमेधत्रयं कृत्वा पश्चादन्ते धर्मश्रवणस्य विहितत्वाद् **भगवद्धर्मान् शृण्वन्**– भगवान् भक्तानां सम्पदो न प्रवर्धयतीति– तत्र सन्दिहानः इममेवार्थं **अच्युतमपृच्छत्. स** च **भगवांस्**तत्रैव स्थितः स्वधर्मान् शृणोतीति **प्रीतः** सन् गुह्यमपि सिद्धान्तं **शुश्रूषवे प्रभु**त्वात् तन्निःशङ्क**माह.** ननु व्यासादयोऽपि भगवद्रूपास्तिष्ठन्ति इत्यतः कथमेवमुक्तवान्? इत्याशङ्क्याह **नृणां निःश्रेयसार्थायेति.** व्यासस्यापि शास्त्रद्वारा निःश्रेयससाधकत्वमाशङ्क्य **योऽवतीर्ण** इति. रामव्यावृत्त्यर्थं पूर्वपदम् ॥६-७॥

भगवानाह **यस्याहमनुगृह्णामीति.**

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
अतोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥८॥

केवलं **यमनुगृह्णामि** तं तु ततोऽन्यत्र नीत्वा भक्तैः संयोज्य कृतार्थमेव मुख्यं करोमि, न तत्र हरणादिप्रयासः. **यस्य** तु सम्बन्धिनः सर्वानेवानुगृह्णामि सर्वापकारित्वात् **तस्य धनं हरिष्ये.** क्षिप्रवचने लृट्.

तत्रापि **शनैः** यदि अल्पे ह्रियमाणे विवेको भवेत् तदा न हरिष्यामीति ज्ञापयन्. ननु धने हृते किं स्यादत आह **अतोऽधनं** तस्य **जनाः** सम्बन्धिनः **त्यजन्ति**. तत्र हेतुः **दुःखदुःखितमिति**. अधनत्वेऽपि समर्थश्चेन्न त्यजन्ति; तदीया दुःखिता तेभ्योऽपि अयमत्यन्तं दुःखित इति तेभ्यश्चेदन्नादिकं वाञ्छतीत्यर्थः. सर्वथा अप्रवृत्तस्येयं व्यवस्था; बीजसंस्कारश्च यस्य जातः ॥८॥

ननु बन्धुपरित्यागे किं स्याद्? अत आह **स यदा वितथोद्योग** इति.

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥९॥

यदा स त्यक्तबन्धुस्तदा "धनमुपार्ज्य बन्धून् वशीकरिष्यामी"ति निश्चित्य धनार्थं यतते ततस्तस्य धनवद् धनकारणमपि नाशयामीत्याह **वितथोद्योग** इति. **वितथा उद्योगाः** धनार्जनोपायाः यस्य. तदा केवल**धनेहया** उपायरहितया क्लिष्टः सन् **निर्विण्णो** भवति विरक्तो भवति. तदा योग्यं योग्येन सम्बद्ध्यत इति **मत्परैः कृतमैत्रो** भवति. तदा मत् मत्त एव स्वत एवाहम् **अनुग्रहं करिष्ये** ॥९॥

कोऽनुग्रह इति चेत्, तत्राह **तद् ब्रह्मेति**.

तद् ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान् भजते जनः ॥१०॥

ममानुग्रहो, ब्रह्मभावः, पश्चान्मत्सेवया सर्वसुखमिति. अत्रायं क्रमः— प्रथमतः सेवकैः सह मैत्र्या सेवकसमानशीलव्यसनत्वे सेवकतुल्यता. ततस्तैर्मया अन्येन वा तस्य ज्ञानोदयः. ततो ज्ञानपूर्णः केवल एव **मां भजते**. शब्दब्रह्मव्यावृत्त्यर्थं **परमं** कार्यव्यावृत्त्यर्थं **सूक्ष्मं** सगुणव्यावृत्त्यर्थं **चिन्मात्रम्** असज्जीवभावव्यावृत्त्यर्थं **सदिति** सज्जीवव्यावृत्त्यर्थम् **अनन्तमिति**. एवं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप. २।१) इति यल्लक्षणमुक्तं तत्त्वं करोमीत्यर्थः.

लेखः

तद्ब्रह्मेत्यत्र ब्रह्मभावः "ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्" (सिद्धा.मुक्ता. २) इतिन्यायो भवतीत्यर्थः ॥१०॥

नन्वेवं कृते कः पुरुषार्थः सिद्ध्येत्; कथं ज्ञानमेव प्रथमतो नोपदिश्यते? सत्यम्, अन्यदपि प्रयोजनमस्तीत्याह **अतो मां सुदुराराध्यमिति.** स्वयं न प्रयच्छति, स्थितमपि हरति; मुक्तिमेव प्रयच्छति, नतु ऐहिकं प्रार्थ्यमानमपि, इति दुराराध्यता. **अत** एव ऐहिका **मां हित्वा अन्यान् भजन्ते.** अन्यथा मद्भक्ता नानाविधाः दुष्टाः शिष्टा अपि भवेयुरिति तद्व्यावृत्त्यर्थं तथाकरणमित्यर्थः ॥१०॥

अन्योऽप्येवं चेत्, को विशेष इत्यत आह **तत** इति.

ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ॥११॥

सर्वे बाह्या **आशुतोषाः.** यथा यथा सूक्ष्मो बाह्यस्तथा तथा शीघ्रं परितुष्यतीति लोकसिद्धोऽयमर्थः. ततस्तेभ्यो राज्यादिकं **लब्ध्वा राज्यश्रिया उद्धताः** सन्तः आदौ **मत्ता** भवन्ति स्वात्मानमेव न जानन्ति. ततः **प्रमत्ताः** असावधानाः सन्तः धर्मादिकार्येषु विमुखा भवन्ति. तत उपजीव्यानपि न गणयन्तीत्याह **वरदान् विस्मरन्तीति,** स्मरन्त्येव न. अथ यदि प्रसादात्[१] स्वयमेव स्मृतिपथारूढा भवेयुः वरदास्तदाप्यवजानते. तस्माद‍ग्रे अनर्थः पर्यवस्यतीति भगवान् प्रथमत एव निवर्तत इत्यर्थः ॥११॥

आस्तां धनादिवार्ता; शाप-प्रसादावेव भगवान् न करोति, आत्मत्वाद्, दानवार्ता दूर इति निरूपयितुम् उपाख्यानान्तरमारभते **शापप्रसादयोरिति.**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
सद्यः शापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥१२॥

अत्यन्तापराधेऽपि कृते भगवान् शापं न प्रयच्छति, यथा शिशुपालाय. आत्मत्वं तत्र हेतुः. अत्यन्तसेवायां वरमपि न प्रयच्छति; सुखरूपत्वं तत्र हेतुः. न हि कामिनी उपभोगेन सेवमाना कदाचिदपि वरं प्रयच्छति. तस्माद् भगवत्सेवैव परमपुरुषार्थरूपेति. ननु असमर्थो भविष्यतीति चेत्, तत्राह **शापप्रसादयोः ब्रह्मविष्णुशिवादयः** सर्व एव **ईशाः.** आदिशब्देन

---

१. प्रमादाद् इति क-ग-घपाठेषु. सं.पाठे तत् श्रीपुरुषोत्तमैः संशोधितः, तदेव मुद्रिते गृहीतः -सम्पा.

दुर्गा-गणेशादयोऽपि. सामर्थ्येऽपि विद्यमाने **सद्यः शापप्रसाददः शिवो ब्रह्मा** च. अत्र एकस्य दकारस्य लोपश्छान्दसः अङ्गेति पाठे. अन्यदा तु **शापप्रसाददस्तु शिवो ब्रह्मेत्येव. अच्युतस्तु नैवंविधः.** स हि पुरुषस्य स्वरूपं, स्वभावम्, अग्रे कार्यं —सर्वं विचार्यैव शापं वरं वा प्रयच्छति, नतु अन्यथा ॥१२॥

अत्र अविचारदानं वक्तुम् उपाख्यानमुपक्षिपति **अत्र चोदाहरन्तीममिति.**

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुराविदः ।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्वाऽऽप सङ्कटम् ॥१३॥

इयमपि परमतभाषा, अत आह **पुराविद** इति. अविचारदानस्य संक्षेपेण फलमाह **वृकासुरायेति. गिरिशो** महादेवः स्वयमेव **वरं दत्वा** पश्चात् **सङ्कटं** परमक्लेशं (**आप!**) प्राप्तवान् ॥१३॥

कथमित्याकाङ्क्षायां सर्वमेव वृत्तान्तमाह **वृको नामेति.**

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।
दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥१४॥
स आदिदेश गिरिशमुपाधावाशु सिद्ध्यति ।
सोऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति ॥१५॥

कर्मणापि वृक इति तस्य **वृक** एव **नाम. शकुनेः** हिरण्याक्षपुत्रस्य **पुत्रः.** स हि (**असुरः!**) दुरात्मा– "सर्वान् देवान् मूलतो नाशयिष्यामी"ति विचार्य, तेषां मूलभूतास्त्रय इति तन्निराकरणव्यतिरेकेण निराकर्तुमशक्या इति, ते च एकस्यापि वाक्यं सर्वे मन्यन्त इति तत्कृतोपायेनैव ते मारणीया इति निश्चित्य, तेषामन्यतरं प्रसाद्य एतमर्थं साधयिष्यामि इति– तदभिज्ञं **नारदं पप्रच्छ. सोऽपि नारदो** देवसूत्रकर्ता **पथि** दैवगत्या मिलितः "त्रयाणां मध्ये क **आशुतोष**?" इति पृष्टः सन् **गिरिशमादिदेश. स** च **दुर्मतिर्वृकः.** न हि नारदः कदाचिदपि देवनाशोपायम् उपदेक्ष्यति,

---

लेखः

अत्र चोदाहरन्तीममित्यत्र इयमपीति. पूर्वाध्याये सनन्दनोक्तापि कथा मतान्तरोक्तिरित्यपिशब्दः. परम् अध्यायान्ते तस्याः व्याससम्मतत्वमप्युक्तमिति विशेषः ॥१३॥

नाप्यज्ञः — एवं ज्ञात्वापि पृष्टवानिति दुर्मतिरेव. नारदस्य वाक्यम् "**उपाधाव, आशु सिद्ध्यती**"ति. सेवां कुरु, शीघ्रमेव फलसिद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः. तत्र हेतुमाह **सोऽल्पाभ्यामिति. स** शिवः **अल्पाभ्यामेव गुणदोषाभ्यामल्पेन** गुणेन **तुष्यति** अल्पेनापि दोषेण **कुप्यति** ॥१४-१५॥

"त्वदभिलषितं जानामी"ति ज्ञापयन् दृष्टान्तमाह **दशास्यबाणयोस्तुष्ट** इति.

दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्बन्दिनोरिव ।
ऐश्वर्यमतुलं दत्वा तत आप सुसङ्कटम् ॥१६॥

"का तेषामुपासना?" इत्याकाङ्क्षायामाह **स्तुवतोरिति**, स्तोत्रमात्रेणैव सन्तुष्टः. तदपि स्तोत्रं नैव भक्त्या किन्तु जिघृक्षयेति वक्तुं दृष्टान्तमाह **बन्दिनोरिवेति**, यथा वैतालिकाः स्तुवन्ति. ततस्तयो**रैश्वर्यमतुलं दत्वा ततः** स्वदत्तैश्वर्येणैव **सङ्कटमाप** तयोः पुरपालो जात इत्यर्थः ॥१६॥

एवं स्वहितं श्रुत्वा तथा कृतवानित्याह **इत्यादिष्ट** इति.

इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत् स्वगात्रतः ।
केदार आत्मक्रव्येण जुहानोऽग्निमुखं हरम् ॥१७॥

तं महादेवम् **असुरः** स **उपाधावत्**. उपाधावनमेवाह **स्वगात्रतः** स्वशरीरादेव (**आत्मनः!**) स्वस्य **क्रव्यं** मांसमुद्धृत्य. अग्नौ महादेवं मन्त्रेण भावयित्वा **केदारे** अतिशुद्धे हिमालये **अग्निमुखं क्रव्येणोपाधावदित्यनेन** महादेवोद्देशेन स्वमांसमजुहोदिति ज्ञापितम्. एवं सप्तदिनपर्यन्तं कृतवान्. महादेवः, वृकोऽपि, भगवत्प्रतीक्षया सप्तदिवसान् अङ्गीकृतवन्तौ ॥१७॥

देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात् सप्तमेऽहनि ।
शिरोऽवृश्चत् स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ॥१८॥

ततो भगवान् फलदो जात इति निश्चित्य **देवस्याप्युपलब्धिमप्राप्य सप्तमेऽहनि** "मरणं वा फलं वा साधयिष्यामी"ति निश्चित्य **स्वधितिना स्वशिरः अवृश्चत्**. संकल्पपूर्वकं तथा कृतवानिति ज्ञापयितुमाह

लेखः

देवोपलब्धिमित्यत्र अवृश्चदिति. अग्रे निवारणेन फलस्यासम्पत्तावपि व्यापारस्तु सम्पन्न एवेति भावः ॥१८॥

तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजमिति. तत्र केदारोदकतीर्थं प्रसिद्धं, यस्मिन् पीते उदरे लिङ्गानि भवन्ति. तेन क्लिन्ना **मूर्धजाः** केशा यस्य ॥१८॥

एवं तस्य साहसं दृष्ट्वा महादेवो मूलकारणात् शङ्कितमनाः प्रसन्नो जात इत्याह **तदा महाकारुणिक** इत्यादि.

तदा महाकारुणिकः स धूर्जटि-
र्यथाह्वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्
तत्स्पर्शनाद् भूय उपस्कृताकृतिः ॥१९॥

परदुःखं दृष्ट्वा यो दुःखितो भवति स कारुणिक इति, भगवांस्तु परमकारुणिकः दुःखोत्पत्तिसम्भावनायामपि दुःखितो भवति. तत्र हेतुभूतं विशेषणमाह **स धूर्जटिरिति**, स्मशाने वृथा मृतान् दृष्ट्वा दुःखितः तत्पांशुषु लोटनाद् धूसरवर्णा जटा जाता इति. **यथाह्वयमिति. आह्वयमाह्वानम्.** "आगच्छ रुद्र इमं बलिं गृहाण, स्वाहा" इत्यत्र यदैव "शीघ्रमागच्छ" इत्याह्वानं कृतं तदैव समागतः. सन्देहाभावाय प्रत्यक्षदृष्टं दृष्टान्तीकरोति **अग्निरिवेति. चकारात्** मनसा आह्वानसम्भावनेनैव समागत इति ज्ञापितम्. तदा भगवान् **(दोर्भ्यां भुजयोः निगृह्य!)** आलिङ्गनेन निष्पीड्य **न्यवारयत्** शिरश्छेदनं न कर्तव्यमिति. नन्वेवं चेद् दया, प्रथमं गात्रच्छेद एव कथं न निवारित इति चेत्, तत्राह **तत्स्पर्शनाद् भूय उपस्कृताकृतिरिति.** महादेवस्य **स्पर्शमात्रेण भूयः उपस्कृता** पूर्ववत् पुष्टा **आकृतिर्देहो** यस्य. स्पर्शमात्रेणैव पूर्ववद् जात इत्यर्थः. एवं सति तस्य प्रत्यापत्तिरुक्ता ॥१९॥

अधिकं दातुमाह **तमाहेति.** वचनेनापि निराकृतवानित्यर्थः.

तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे
यथानिकामं वितरामि ते वरम् ।
प्रीये यतो येन नृणां प्रपद्यतां
अहो त्वयात्मा परितप्यते वृथा ॥२०॥

तदेव वचनमाह हे **अङ्ग अलम् अलम्** इति. **मे** मत्तो **वृणीष्व; यथानिकामं** यथेच्छं **ते** तुभ्यं **वरं वितरामि** दास्यामि. ननु किमिति दास्यसीति चेत्, तत्राह **यतः प्रीये** प्रीतो भवामि. प्रीतावेव किं कारणमिति

चेत्, तत्राह **नृणां प्रपद्यतामिति**. येन कारणेन प्रपन्ना भवन्ति प्राणिनस्ततस्तेन कारणेन प्रीय इत्यर्थः. प्रपत्तिः प्रीतिहेतुः निरूपिता. ननु प्रपत्तिमात्रेण कथं वाञ्छितं दास्यसीत्याशङ्कायामाह **अहो** इति. नहि एतादृशी प्रपत्तिः क्वचिद् दृष्टा वर्तते, अत आश्चर्यरूपत्वात् प्रीत इत्यर्थः. एवं प्रसादानन्तरमपि क्लेशं कुर्वन् **वृथैव आत्मा त्वया परितप्यते** आत्मा = देहो वृथैव खेदं प्राप्यते. आत्मपदेन "आत्महानमपुरुषार्थं" (. । ।) इतिवद्[१] ज्ञापितम्. त्वयैव केवलमेवं क्रियते, नतु अन्येनेति ॥२०॥

एवं स्वाभिलषितं सिद्धमिति वरं याचितवानित्याह **देवं स वव्रे** इति.

देवं स वव्रे पापीयान् वरं भूतभयावहम् ।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥२१॥

नन्वत्र न स्वस्य सुखं नापि दुःखाभावः, किमित्येवं प्रार्थयतीति चेत्, तत्राह **पापीयानिति**. पापिष्ठः पापमेव निरन्तरं कर्तुं वाञ्छति. तत्र वधादिरूपं पापं क्लेशेनैव सिद्ध्यतीति अक्लेशार्थं मारणजनित-दोषसम्पादनाय तादृशं वरं याचितवानित्यर्थः. वरस्य श्रवणमात्रेणैव **भूतानां भयमावहति**. वरस्य स्वरूपमाह **यस्य यस्य करं शीर्ष्णि** इति, स्थापनमात्रेणैव प्रयत्नान्तरव्यतिरेकेणापि **स म्रियतामिति** ॥२१॥

ततो महादेवस्य शङ्का उत्पन्नेत्याह **तच्छ्रुत्वेति**.

तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्मना इव भारत ।
ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ॥२२॥

यतो **रुद्रः** प्राणिनो दुःखं दृष्ट्वा रोदितीति ततो **दुर्मना इव** जातः. ततः किं कर्तव्यमिति विचार्य वरे दत्ते किं भविष्यतीत्यग्रिमं विचारितवान्.

लेखः

तच्छ्रुत्वेत्यस्याभासे. **महादेवस्य शङ्कोत्पन्नेति** हेतोः शङ्कापूर्वकं वरदानं शुक आहेत्यन्वयः. व्याख्याने भगवत्पदस्यार्थमाहुः **परमेश्वरेणेति** ॥२२॥

---

१. इति च इति क-ग-घपाठेषु - सम्पा.

ततो **भगवान्** परमेश्वरेणायं वञ्चयित्वा मारणीय इति अग्रिमं सूत्रं विचारितवान्. ततः **ओमिति** तथैव भवतु इति **प्रहसन्** आह, अन्यानिष्टं विचारयन् त्वमेव मरिष्यसीति. **भारतेति** विश्वासार्थं सम्बोधनम्. ननु दानमात्रेणैव स्वानिष्टं करिष्यतीति किम् अज्ञात्वा दत्तवानित्याह **अहेरमृतं यथेति**. ''अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थकृद्'' (भाग.पुरा. ४।१४।१०) इति स्वानिष्टं ज्ञात्वापि दत्तवानित्यर्थः ॥२२॥

ततो यज्जातं तदाह **स तद्वरपरीक्षार्थमिति**.

स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत् स्वकृताच्छिवः ॥२३॥

किलेति. महतोऽनिष्टं न वक्तव्यमिति न करिष्यतीति शङ्कां वारयति **असुर** इति. अतः **स्वहस्तं धातुमारेभे** उद्योगं कृतवानिति. ततस्तस्योद्योगं ज्ञात्वा **स** अधिदेवः देवानामधिपतिरपि **शिवः अबिभ्यद्** अबिभेद् भीतवान्. शिवत्वात् परमार्थतो भयं न भविष्यतीत्यर्थः ॥२३॥

ततः पलायित इत्याह **तेनोपसृष्ट** इति.

तेनोपसृष्टः सन्त्रस्तः अत्यधावत् स वेपथुः ।
यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानाम् उदगादुदक् ॥२४॥

तेन वृकेण **उपसृष्टः** निकटे समागतः तदा **सन्त्रस्तो** जातः. ततो **अत्यन्तमधावत्** ततो (**वेपथुः!**) कम्पमानोऽपि जातः. ततः **दिवो यावदन्तं भूमेश्च** यावत् **काष्ठानामपि** पूर्वमूर्ध्वं निर्गमः ततोऽर्वाक् ततो दिक्चतुष्टये गत्वा व्याघुट्य पश्चाद् **उदग्**दिशं प्रति (**उदगाद्!**) गतः. तस्य खेदार्थं तावत् परिभ्रमणम् ॥२४॥

ननु तत्रत्यैः कथं महादेवसाहाय्यं न कृतमिति चेत्, तत्राह **अजानन्तः प्रतिविधिमिति**.

अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन् सुरेश्वराः ।
ततो वैकुण्ठमगमद् भास्वरं तमसः परम् ॥२५॥

सुरेश्वरा अपि **तूष्णीमेव** स्थिताः. ततो महादेवो **वैकुण्ठमगमत्**. इदं वैकुण्ठस्थानं बदर्यां नारायणपर्वत-पश्चिमभागस्थं प्रसिद्धमेव. तत्र तस्यापि मूलवैकुण्ठधर्म-सम्बन्धमाह **भास्वरं तमसः परमिति**. वैकुण्ठावेशात् तत्रापि

भास्वरत्वं प्रकृतेः परत्वं च ॥२५॥

तत् किं वैकुण्ठस्थानम् इत्याकाङ्क्षायामाह **यत्र नारायणः साक्षादिति.**

यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः ।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥२६॥

नारायणो बदरीनाथः **साक्षात् सन्न्यासिनां परमा गतिः** वैणव-दण्डादिधारणेन परमहंसत्वात् साक्षान्न्यासिनाम् आधारभूतो भवति, सजातीयत्वाच्च. किञ्च **शान्तानां न्यस्तदण्डानाम्** अन्तर्बहिःसाधनयुक्तानां विशेषतः **परमा गतिः**. तत्रापि पूर्ववदेव भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यतो नावर्तते गत** इति, तत्र गतस्ततो नावर्तते. अनेन वृकोऽपि नावर्तिष्यत इति सूचितम् ॥२६॥

ततो यज्जातं तदाह **तं तथाव्यसनं दृष्ट्वेति.**

तं तथाव्यसनं दृष्ट्वा भगवान् वृजिनार्दनः ।
दूरात् प्रत्युदियाद् भूत्वा बटुको योगमायया ॥२७॥

अशक्ये हरिरेवास्ति इति भगवतैव तत् कर्तव्यमिति **भगवान्** यतो **वृजिनार्दनः** सर्वदुःखनाशकः अतो महादेवस्यापि दुःखं दूरीकरिष्यामीति **दूरादेव प्रत्युदियाद्** आभिमुख्येन गतः. ननु क्रूरस्याग्रे कथं गत इत्याशङ्क्याह **योगमायया बटुको भूत्वेति.** अल्पो बटुर्बटुकः अतिसूक्ष्मब्रह्मचारी भूत्वा पूर्वविद्यां स्मृत्वा, माययैव दैत्या मारणीया इति. योगमायाकृतत्वात् मोहमेव प्राप्स्यति, नतु उपद्रवं करिष्यति इति प्रत्युद्गतः ॥२७॥

भगवतो वेषं वर्णयन् वाक्यैर्मोहितवानित्याह.

मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन् ।
अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ॥२८॥

मेखलाजिनदण्डाक्षैरिति. मेखला मौञ्जी **अजिन**मुत्तरीयं **दण्डः** पालाशः **अक्ष**माला जपार्था —एतैः कृत्वा अन्तःस्थितेन **तेजसा** च साक्षाद**ग्निरिव** सर्वप्राणिनामधृष्य **ज्वलन्** देदीप्यमानः **कुशपाणि**र्भूत्वा **तं**

लेखः

मेखलाजिनेत्यत्र अभिवादनेनेति. अस्यासुरत्वेन तज्जनकैस्तत्तन्नाश इति भावः ॥२८॥

हिरण्याक्षपौत्रम् अतिश्रोत्रियं **विनीतवदभिवादयामास.** अभिवादनेन तस्य आयुर्हृतवान्, कुशैस्तत्पुण्यं, मेखलादिभिश्चतुर्विधपुरुषार्थान्, तेजसा तत्तेजः, अग्नितुल्यतया तद्गत-बलादिकम् ॥२८॥

एवं सर्वं हृत्वा वाक्येन बुद्धिं मोहयति **शाकुनेय भवानिति** द्वाभ्याम्.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।
क्षणं विश्रम्यतां पुंसामात्मायं सर्वकामधुक् ॥२९॥

हे शकुनेः पुत्र, **भवान् व्यक्तं श्रान्तः,** प्रस्वेददर्शनात्. अनेन दुःखानुवादेन कुशलमिवापृच्छत्. किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **किं दूरमागत** इति. किं धावता दूरे समागतं? प्रयोजनाभावाद् व्यर्थमागमनमित्यर्थः. प्रश्नो वा. अस्तु यदर्थं, तदर्थम् अस्मदाश्रमे **क्षणं विश्रम्यताम्.** ननु शीघ्रं स्वकार्यं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **पुंसां** स्वतन्त्राणां प्राणिनामयमात्मा देहः **सर्वकामधुक्.** श्रमेण देहः पतिष्यतीति प्रतिभाति. गते च देहे किं कार्यं सेत्स्यति? अतः कार्यं परित्यज्य शरीररक्षार्थं विश्रामः कर्तव्य इति भावः ॥२९॥

किं कार्यमेतादृशं येन एतादृशः श्रमो जात इति पृच्छति.

यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो ।
भण्यतां पुरुषव्याघ्र पुम्भिः स्वार्थान् समीहते ॥३०॥

यदि नः श्रवणायालमिति, गुप्तं चेत् न वक्तव्यम्. (**नः!**) अस्मच्छ्रवणाय (**अलं!**) योग्यं चेत् तदा **युष्मद्व्यवसितम्** एवं प्रयत्नेन कर्तुमभीष्टं **भण्यताम्. पुरुषव्याघ्रेति** स्तुत्या सम्बोधनं कथनार्थम्. ननूक्ते किं भविष्यतीति चेत्, तत्राह **पुम्भिः स्वार्थान् समीहत** इति. सर्वोऽपि पुरुषः स्वमित्रैः पुरुषैः स्वकार्यं साधयतीत्यर्थः ॥३०॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा ।
गतश्रमोऽब्रवीत् तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥३१॥

एवमाकृत्या विनयेन वचनैश्च तोषं प्रापितः भगवद्वाक्यसामर्थ्यादिव **गतश्रमो** भूत्वा स्वाभिप्रायं स्वश्रुतं च, भगवान् मित्रमिति बुद्ध्वा, **तस्मै**

अब्रवीत्. **यथापूर्वं** नारदप्रश्नप्रभृति **अनुष्ठितं** तपस्यादि ॥३१॥

ज्ञातार्थ एव भगवान् "तं विश्वस्तं कृत्वा पश्चान्मदुक्तं ग्रहीष्यती"ति निश्चित्य महादेवमोक्षार्थम् उपायमाह **एवं चेदिति.**

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

एवं चेत् तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।
यो दक्षशापात् पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥३२॥

अस्माभिर्ज्ञातं— किञ्चित् कार्यान्तरं महदस्तीति. **एवं चेत्** महादेववाक्यपरीक्षामात्रं कर्तव्यं चेत्, तदापि मयापि उपाय उच्यते. यदि मद्वाक्ये विश्वासस्तदा **तद्वाक्यं न** किञ्चिद् भविष्यतीत्यर्थः. अनेन दत्तोऽपि वरः भगवता निषिद्ध इति भवति. तथा सति न तस्य मरणं, न वा लोके अनिष्टं, न वा महादेवस्य पीडा; यदि वृकोऽङ्गीकुर्यात्. एवं निश्चित्याह **न वयं श्रद्दधीमहीति.** ननु महान् अयं महादेवः; कथमश्रद्धेय इति चेत्, तत्राह **यो दक्षशापात् पैशाच्यमिति.** पूर्वं दक्षः शापं ददौ— देवैः सह भागं न लभताम्, देवगणेषु अधमश्च भवतु. तत्र पिशाचा एव अधमाः अतः **पैशाच्यं प्राप्तः.** दृश्यते च पैशाच्यं स्मशानादिषु परिभ्रमणात्. किञ्च **प्रेतपिशाचराट्** स्वभावतोऽपि प्रेतानां पिशाचानां राजा. पिशाचराजः पिशाच एव भवति. अतस्त्वमपि चेन् मद्‌बुद्ध्या गृहीतमङ्गीकरिष्यसि तदा तस्य दत्तो वरः मिथ्याभूत इति अनङ्गीकृत्य निश्चिन्तो भव ॥३२॥

अथ यदि तव विश्वासस्तदा मदुक्तप्रकारेण परीक्षा कर्तव्या इत्याह **यदि वस्तत्र विश्रम्भ** इति.

यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्‌गुरौ ।
तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥३३॥

व इति गौरवार्थं बहुवचनं, हे **दानवेन्द्रेति** सम्बोधनं च, एवं पुरस्कृतः स्वमाहात्म्यमेव स्मरति नतु परमाहात्म्यमिति. विश्वासे हेतुं चाह **जगद्‌गुराविति.** तर्हि विश्वासे किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **तर्ह्यङ्गेति.** मद्विश्वासे तव जीवनं वा भविष्यति, महादेवविश्वासे तु नाशमेव यास्यसीति भावः. **अङ्गेति** सम्बोधनं विश्वासाय. **आशु** शीघ्रमेव विचारमकृत्वा

स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयतां सत्यं वा मिथ्या वेति ॥३३॥

सत्यत्वे तव परीक्षा उत्तमैव भविष्यति, असत्यत्वे तु दण्डं करिष्यामीत्याह.

यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथञ्चिद्दानवर्षभ ।
तदन्ते जह्यसद्वाचं न यद् वक्तानृतं पुनः ॥३४॥

यद्यसत्यमिति, कथञ्चित् केनाप्यंशेन. यस्य यस्येति वीप्सया अन्यश्चेदभिप्रेतः स्यात्, मया वा नाङ्गीकृतमिति, तदा **असत्यं** भवति. **दानवर्षभेति,** पूर्ववद् अपराधव्यतिरेकेण मारयितुं न शक्यत[1] इति असत्यवादित्वेनापराधे जाते **तदन्ते** अपराधान्ते **असद्वाचं जहि.** तथा सति तव वधदोषोऽपि नास्तीत्याह **न यद् व्यक्तानृतं पुनरिति. यद्** यस्मात् **पुनरयमनृतं न वक्ता** यद्दोषात् पुरुषोऽधो याति. अनेन "तद्वधस्तस्य हि श्रेयः" (भाग.पुरा. १।७।३७) इति तत्पक्ष उक्तः ॥३४॥

ततो यज्जातं तदाह **इत्थमिति.**

इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः ।
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात् ॥३५॥

भगवतश्चित्रैर्वचोभिरिति दृष्टादृष्टप्रकारेण वचनानां मोहकत्वमुक्तम्. स्वरूपतोऽपि मोहकत्वमाह **सुपेशलैरिति,** यथा कश्चित् रूपविशेषे मुह्यति एवं भगवद्वाक्य-सौन्दर्येणापि मुग्धः. स्वतो **भिन्नधीर्भूत्वा.** भगवद्वाक्यमनृत-मपि भविष्यतीत्यपि पक्षः तद्धृदये स्फुरितः, अतः पक्षद्वये बुद्धिर्व्यापृतेति **भिन्नधीत्वम्.** ननु द्वितीयपक्षे स्वक्रियाव्याघातः– यदि महादेववाक्यं शतांशेनाप्यनृतं स्यात् तदा स्वयमेतादृशं क्लेशं कथं कुर्यात्– ततश्च कथं तस्य बुद्धिभेदो जात इति चेत्, तत्राह **विस्मृत** इति, पूर्वभावं विस्मृतवान्. **विस्मित** इति वा, भगवद्वाक्यात्, "न वयं श्रद्दधीमहि" (श्लो. ३२) इति कथमुक्तवान् इति. अतः **स्वशीर्ष्ण्येव हस्तं व्यधात्.** ननु पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय इति द्वितीयपक्षे स्वनाशलक्षणो महान् दोष इति कथमेवमङ्गीकृतवानिति चेत्, तत्राह **कुमतिरिति** ॥३५॥

---

१. शक्य इति मुद्रितेतरेषु सर्वेषु - सम्पा.

ततो यज्जातं तदाह **अथापतदि**ति.

अथापतद् भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् ।
जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद् दिवि ॥३६॥

भिन्नं शिरो यस्य तादृशो भूत्वा भूमावपतत्. अथेति भिन्नप्रक्रमः — न भगवद्वाक्यानुसारेण तद्वाक्यस्यानृतत्वं नापि सन्देहः किन्तु सत्यमेव जातमिति. ननु भगवान् भक्तवत्सलः किमित्येवं कृतवान् इत्याशङ्क्याह **वज्राहत इवे**ति. वज्रेणाहतः पर्वत इव चूर्णीभूतो वा; जगदपकारित्वात् मारित इत्यर्थः. ततो भगवदनुभावं दृष्ट्वा **जयशब्दः**, महादेवो मोचित इति **नमःशब्दः**, भगवतो मोहकवाक्यानि स्मृत्वा **साधुशब्दः** — एवं त्रिविधः शब्दो **दिव्यभवत्** राजस-सात्त्विक-तामसानाम्. दिवीति. देवानुमोदनेन वञ्चनेन मारणं, महादेवनिन्दा, स्वयं न मन्यत इत्यन्यथावचनं च, न दोषाय भवतीति सूचितम् ॥३६॥

कायिकमाह.

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।
देवर्षि-पितृ-गन्धर्वा मोचितः सङ्कटाच्छिवः ॥३७॥

मुमुचुः पुष्पवर्षाणीति, **देवर्षिपितृगन्धर्वाः** सर्व एव देवगणाः. नन्वत्र भगवच्चरित्रं किं जातमित्याशङ्कायामाह **मोचितः सङ्कटाच्छिव** इति. स्वस्याजरामरत्वं स्ववाक्येन विरुध्यत इति तन्मध्ये पतितो महादेवः **सङ्कटे** पतितः. यत्रैव पक्षद्वयमपि विरुद्धं तत् सङ्कटस्थानमिति वदति लोकः, "इतो व्याघ्रस्ततो दरी"तिवत् ॥३७॥

ततो भगवान् महादेवस्य लज्जया खेदो भविष्यतीति तन्निवारणार्थं महादेवं स्तौतीत्याह **मुक्तं गिरिशमभ्याहे**ति.

मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान् पुरुषोत्तमः ।
अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥३८॥

हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः ।
क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ ॥३९॥

पुरुषोत्तमत्वाद् अतुल्यातिशयः, ततो न केनापि कर्मणा न्यूनो भवतीति सूचितम्. भगवतः स्तोत्रमाह **अहो देव महादेवेति.** अमरत्वं सर्वपूज्यत्वं च वदन् तस्य मृत्युसम्भावनामेव निराकृतवान्. उपकारेण स कदाचिद् व्याप्तो भवेदिति तन्निराकरणार्थम् अन्यथैव तन्मरणं निरूपयति **पापोऽयमिति.** अयं केवलपापरूपः अतः **स्वेनैव पाप्मना हतः.** किञ्च सर्वं पापमेकत्र ईश्वरावज्ञा चैकत्रेति तत्कृतवानित्याह **को नु महत्सु कृतकिल्बिषः क्षेमी स्यात्!** महादेवसेवकेष्वपि अपकारकर्ता न क्षेमं प्राप्नोति. **ईशेति** सम्बोधनात् तं भवानेव हन्तीति सूचितम्. यत्र सेवकातिक्रमेऽप्येवं, तत्र स्वाम्यतिक्रमे किं वक्तव्यमित्याह **किमु विश्वेशे कृतागस्क** इति. **जगद्गुराविति** अदृष्टोपायेनापि हननं सूचितम् ॥३८-३९॥

मतान्तरत्वाद् अस्य चरित्रस्य प्रकृतोपयोगित्वं कैमुतिकन्यायेन वदन् चरित्रश्रवणादेः फलमाह **य एवमिति.**

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेत् शृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथाऽरिभिः ॥४०॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥

अव्याकृतीनां शक्तीनाम् उदन्वान्(१) समुद्रो भगवान्. तेनानन्तशक्तेः चरित्राणामानन्त्यं सूचितम्; तस्यैकमेतत् **गिरित्रमोक्ष**लक्षणं चरित्रम्. न केवलं शक्तिसम्बन्धादेव भगवच्चरित्रं किन्तु गुणातीतस्यापि चरित्रानन्त्यमस्तीत्याह **परस्ये**(२)ति, प्रकृतेरपि नियन्तुः. भगवान् चरित्रकरणेन महान् इत्येव न किन्तु सर्वेषामात्मापीत्याह **परमात्मन**(३) इति. एवं प्रकारत्रयेण(१-३) हितमेव करोति इत्येव न किन्तु **हरेः** सर्वेषां दुःखमपि दूरीकरोति. शास्त्रदृष्ट्या

सर्वेषामपि परमात्मत्वमस्तीत्याशङ्क्याह **साक्षादिति.** वृकाद् **गिरित्रस्य (मोक्षं!)** मोचनं, नतु लोकसिद्धमोक्षः —तं **यः शृणोति कथयेद्** वा श्रावयति वा स **(संसृतिभिः!)** संसारबन्धनैरपि **विमुच्यते** अज्ञानवासनाभिः तथा **अरिभिः** कामादिभिः शत्रुभिर्वा. अहंकाराधिष्ठाता भगवान्, सः अहंकारनिवर्तनद्वारा सर्वान् मोचयति; सोऽपि चेत् सङ्कटान्मोचितः तदा तच्चरित्रं महादेवादप्यधिकं कथं संसाराच्छत्रुभ्यो वा न मोचयेदिति! भगवतो विवेकनिधेः श्रीप्रस्तावे दानस्वरूपं निरूपितम्— लोकानां दाता महादेवः, तेनानर्थे जाते तस्यापि मोक्षदो भगवानिति ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकोनचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥

॥ पञ्चमः स्कन्धादितः षडशीतितमोऽध्यायः ॥

एवं दातृत्वसन्देहः कृष्णस्य विनिवारितः ।
अनेनैव महत्त्वं च हरौ निर्धारितं भवेत् ॥(१)॥
तथापि स्पष्टमध्याये चत्वारिंशे निरूप्यते ।
माहात्म्यं द्विविधं लोके प्रमाणाच्च प्रमेयतः ॥(२)॥
वेदानां मूलरूपेण प्रथमं विनिरूप्यते ।
द्वितीयं च प्रमेयेण हरिणैव निरूपितम् ॥(३)॥
ज्ञानशक्तिश्च पूर्णाऽत्र क्रियापर्यवसायिनी ।
मूलत्वात् सर्वसहनं जनकस्येव रूप्यते ॥(४)॥
यदा गुणा भगवतश्चत्वारो विनिरूपिताः ।
तदावशिष्टद्वितयं स्वयमेवावदच्छुकः ॥(५)॥

महत्त्वलक्षण-ज्ञानशक्तिनिरूपणार्थं शुकः स्वयमेव पूर्वसिद्धनिर्णयरूपां कथामारभते.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

सरस्वत्यास्तटे राजन् ऋषयः सत्रमासत ।
वितर्कः समभूत् तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥१॥

सरस्वत्यास्तट इति, सरस्वतीतीरे पूर्वं **ऋषयः सत्रं** कुर्वाणा जाताः —देशाधिकारिकर्मणां प्रासङ्गिकानामुत्कर्षो निरूपितः. तदा तेषां कर्मफलसमर्पणार्थं जिज्ञासा उत्पन्ना "क्व कर्मफलं समर्पणीयमि"ति. ततः पितृत्वात् ब्रह्मणि समर्पणीयमिति केचिद्, यज्ञात्मकत्वाद् विष्णौ समर्पणीयमित्यपरे, ज्ञानोपदेष्टृत्वाद् गुरौ महादेवे समर्पणीयमित्यपरे. ततः प्रयोजकानां त्रयाणाम् एकशेषनिर्णयः कर्तुमशक्य इति महत्त्वं व्यवस्थापितं

लेखः

चत्वारिंशेऽध्याये **सरस्वत्या** इत्यत्र **ततः प्रयोजकानामिति**. फले **प्रयोजकानां त्रयाणां** मध्ये एकस्य कस्य शेषभूतौ द्वौ **इत्येकशेषत्वस्य निर्णयः कर्तुमशक्य इति** हेतोः **प्रयोजकत्वेन** निर्णयहेतुत्वेन **महत्त्वं व्यवस्थापितमित्यर्थः** ॥१॥

प्रयोजकत्वेन. तच्च महत्त्वं सद्गुणैर्भवतीति सद्गुणानां मध्ये सर्वावस्थासु क्षोभाभावो महानिति को वा अक्षोभ्य इति विचारार्थं महत्त्वसाधनाय वितर्को जात इत्याह **वितर्कः समभूदिति.** वितर्कशरीरमाह **त्रिष्वधीशेषु को महानिति** ॥१॥

तर्हि एतन्महत्त्वं कथं ज्ञातव्यमिति जिज्ञासायां विचारेणैव तज्ज्ञानं भवतीति निश्चित्य विचारार्थं प्रत्यक्षमेव प्रमाणमङ्गीकृतवन्तः. ततः प्रत्यक्षसंवादी योऽर्थः स एव निर्णायक इति तदर्थं प्रवृत्ता इत्याह **तस्य जिज्ञासयेति.**

तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ।
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद् ब्रह्मणः सभाम् ॥२॥

सर्वेषां ब्रह्मशक्तिः ज्ञानात्मिका महत्त्वाद् भृगौ समारोपिता. तदा भृगुः साक्षात् परब्रह्माविष्टो जातः. ततो विस्मृतदेहसम्बन्धः अक्षोभ्यपरीक्षार्थं सर्वैर्ब्राह्मणैः प्रेषितः आदौ **ब्रह्मसभामगात्** ॥२॥

स चेद् अक्षोभ्यः स्यात्– पितापि भवति, 'ब्रह्म'शब्दवाच्योऽपि भवति, सर्वप्रवर्तकोऽपि– भवतीति [१]तावतैव निवृत्तो भविष्यामीति निश्चित्य तत्राल्पमेवातिक्रमं कृतवानित्याह.

न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।
तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा ॥३॥

न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रमि[१]ति. पूर्वं यावन्तः समायान्ति ते नमस्कृत्य स्तुत्वा अवतिष्ठन्ते, भृगुस्तु तं गुणं न कृतवान्. अनेन मानसी अवज्ञा सूचिता. ननु कर्तव्यं न कथं कृतवान्? तत्राह **सत्त्वपरीक्षयेति,** 'ब्रह्म'शब्दवाच्योऽपि तस्य सत्त्वं = विवेकधैर्यादिकं परीक्षणीयमिति. अतः

लेखः

तस्य जिज्ञासयेत्यत्र परब्रह्माविष्ट इति. मूले एतज्ज्ञापकपदाभावे अपि[२] परब्रह्मणः स्वयंप्रकाशत्वात् तदावेशाभावे तत्परीक्षा न स्याद् इत्यर्थापत्त्या एवमुक्तम् ॥२॥

१-१. मुद्रितेतरेषु नोपलभ्यते - सम्पा. २. मुद्रिते नोपलभ्यते, शेषेषु एवम् - सम्पा.

स्वभावतः अकरणं न[१] भवतीति न तस्य दोषः. "प्राप्तसेवापरित्यागो द्वेषमूलमिदं स्मृतम्" (.   । ।) इतिन्यायाद् ब्रह्मणः क्रोधो जात इत्याह **तस्मै चुक्रोधेति**. ननु ब्राह्मणः सोऽपि महान्, तत्राह **भगवानिति**. नन्विदं तत्रापि तुल्यं **प्रज्वलन्निति**, वेदगर्भत्वाद् ब्रह्मतेजसा प्रज्वलन्नास्ते, भृगावपि एवमस्तीति चेत्, तत्राह **स्वेन तेजसेति**. भृगौ तु ब्राह्मणैः स्व-स्वतेजः स्थापितमिति विशेषः ॥३॥

ततः सहज-कृत्रिमयोः रूपं तुल्यमिति ब्रह्मास्त्रयोरिव स्वत एव तत् तेजः शान्तमित्याह.

स आत्मन्युत्थितं मन्युम्   आत्मजायात्मना प्रभुः ।
अशीशमद् यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मभूः ॥४॥

स आत्मन्युत्थितमिति. आत्मजोपि स्वत उत्पन्नः, मन्युरपि, अतः – तुल्यबलत्वेन कलहः परं भविष्यतीति – एतावन्मात्रं विचार्य **आत्मनैव** स्वेनैव **(स!)** स्वतेजः **अशीशमत्**. एवं करणे सामर्थ्यं **प्रभुरिति**. एतत् तु ब्रह्मणो मनोरथमात्रं, वस्तुतस्तु भृगुतेजसैव तत् शान्तमिति वक्तुं दृष्टान्तमाह **स्वयोन्या वारिणेति**. यथा वह्निं कश्चिद् शामयति वह्नेरेवोत्पन्नेन जलेन, "अग्नेरापः" (तैत्ति.उप. २।१) इति श्रुतेः. कारणेन कार्यनाशः प्रायेण सर्वत्र स्वतो धर्मतो वा ॥४॥

ततः कैलासमगमत् स तं देवो महेश्वरः ।
परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥५॥

एवं तस्य क्षोभं दृष्ट्वा अयं महान् न भवतीति निश्चित्य महादेवो लोकानां ज्ञानोपदेष्टा कदाचिद् एवं भविष्यतीति तज्जिज्ञासार्थं – भगवन्तं भोगाविष्टं मत्वा तं परित्यज्य – प्रथमतः **कैलासमगमत्**. तस्य भ्रातृत्वेन तुल्यत्वात् तूष्णीम्भावो न क्षोभक इति वाचनिकोऽपराधः कृत इति वक्तुं तस्य प्रसङ्गमाह **स तं देवो महेश्वर** इति. तुल्यत्वेऽपि तस्य तेजो दृष्ट्वा **देवो**ऽपि ज्ञानशक्तियुक्तोऽपि ऐश्वर्ययुक्तोऽपि सन्माननार्थं **परिरब्धुं समारेभे**, तत्राप्युत्थाय तत्रापि मुदा. अनेन मानसः कायिकः ऐन्द्रियकश्च पुरस्कार उक्तः ॥६॥

---

१. "न" इति सं.पाठे श्रीपुरुषोत्तमकृतं संशोधनं मुद्रिते गृहीतः – सम्पा.

अतिक्रममाह.

नैच्छत् त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ।
शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ॥
पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा ॥६॥

नैच्छदिति, इच्छाभावो मानसः. तेन सहितं वाचनिकमाह **त्वमुत्पथगोऽसीति.** एवं वाचनिकातिक्रमे जाते देवत्वात् स्वच्छन्दचारित्वं न दोषायेति **चुकोप.** हेत्याश्चर्ये, ज्ञानिनः कथमेवं क्रोध इति. ततः पूर्वापेक्षया अस्य दण्डोऽप्यधिको जात इत्याह **शूलमुद्यम्येति. तिग्मानि लोचनानि यस्येति** ज्ञानशक्तितिरोभावः. तदा पार्वती ज्ञानशक्तिः तत्स्वरूपं ज्ञात्वा स्वक्रियया तद्दण्डे प्रतिबन्धरूपा जातेत्याह **पतित्वा पादयोरिति. गिरा** जिज्ञासाप्रवृत्तिरूपया ॥६॥

एवं तत्तद्गुणपुरःसरम् उभयोः स्थाने[1] गत्वा स्वरूपेणैव भिन्नप्रक्रमेण विष्णोः स्थाने गत इत्याह **अथाजगामेति.**

अथाजगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ।
शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत् ॥७॥

स हि जामाता भृगोर्भवति[2] लक्ष्मीपतिः अतो द्वारपालैररुद्ध एव **श्रिय उत्सङ्गे शयानं** परमेश्वरम् अत्यन्तातिक्रमं पूर्वापेक्षयापि कुर्वाणः **वक्षसि पदा अताडयत्.** स हि परीक्षार्थमागतः विलम्बं न सहते, भगवांश्च शेते. शयाने न कोऽप्यस्मादन्यः अतिक्रमो भवति अतः प्रबोधनम् अतिक्रमं च सहैव कृतवान्. अयं कायिकोऽतिक्रमः, तत्रापि महान्, देश-कालाऽवस्था-सन्निधि-करण-क्रियाफलानां षण्णामपि दुष्टत्वात् ॥७॥

लेखः

अथाजगामेत्यस्याभासे तत्तद्गुणेति. भृगुः तत्र तत्र रजस्तमश्च पुरस्कृत्य गतः. **स्वरूपेणैवेति.** सत्त्वस्य गुणत्वेऽपि धामत्वात् स्वरूपमेवेति अथशब्देन सूचितमिति भावः. व्याख्याने **क्रियाफलानामिति.** व्यापारः फलं च एकपदोपात्तत्वाद् एकमेवेति **षण्णामित्युक्तम्** ॥७॥

---

१. स्थानयोः इति कपाठः - सम्पा. २. द्रष्ट. भाग.पुरा. ४।१।४३ - सम्पा.

यदि भगवान् गुणैः प्रत्येकेन मिलितैर्वा भगवान् न स्यात् तदा क्षोभं प्राप्नुयादेव. भगवांस्तु स्वभावतो भगवान् मूलभूतो अतः सहजान् स्वषड्गुणान् तत्र प्रकाशयामासेत्याह **तत उत्थायेति** चतुर्भिः (/ पञ्चभिः !).

मानसान् षड्गुणानादौ ततः काये सुसंस्थितान् ।
ततो वाचनिकानाह पूर्णोऽतो भगवान् हरिः ॥(६)॥

तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः ।
स्वतल्पाद् अवरुह्याशु ननाम शिरसा मुनिम् ॥८॥

प्रथमम् अक्षोभ्यत्वाय मानसान् षड्गुणानाह. यतो **भगवान्** अत ऐश्वर्यविरुद्धं मारणानन्तरम् उत्थानं कृतवान्. तत्रापि **सह लक्ष्म्या**— वीर्यविरुद्धमेतत्, न हि सामर्थ्ये विद्यमाने कश्चित् सुखं परित्यजति. यशोविरुद्धं चैतत् यतः **सतां गतिः**. एवं सति सन्तः कथं भजेरन्, [१]अपकर्षख्यापनात्? **स्वतल्पादवरुह्येति** श्रीविरुद्धं, तस्याः शोभायास्तिरोधानात्. **आशु** इति विकलतया विरोधः समर्थितः. **ननामेति** ज्ञानविरुद्धं; हीनो हि नमस्करोति. तत्रापि **शिरसा**; शिरो हि ब्रह्मादीनामपि स्थानम्. वैराग्यविरुद्धं चैतत्— **मुनिमिति** मुनित्वादयं क्रोधं करिष्यतीति तदभावापेक्षा, सापेक्षा[२] न विरक्ता इति ॥८॥

आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम् ।
अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥९॥
अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने ।
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना ॥१०॥

कायिक-भगवद्धर्मविरुद्धानाह **आहेति. ते स्वागतं** "कुशलेन आगमनं, किं वृत्तमि"ति कुशलप्रश्नः समतामापादयन् ऐश्वर्यविरुद्धो भवति. **ब्रह्मन्निति** तस्योत्कर्षेण सम्बोधनं वीर्यविरुद्धं च. **अत्रासने क्षणं निषीदेति** प्रार्थना कीर्तिविरुद्धा, **क्षणमित्यतिदैन्यात्** श्रीविरुद्धा च. **अजानतामागतान् व** इति स्पष्टो ज्ञानविरोधः. नोऽपराधं **क्षन्तुमर्हथेति** अपराधक्षमापनं सापेक्ष्यत्वं ख्यापयतीति वैराग्यविरुद्धम्. **प्रभो** इति सम्बोधनं स्वगुणान् भगवांस्तत्र

१. अपकर्षव्याख्यानाद् इति मुद्रिते, शेषेषु एवम् - सम्पा.

२. एवं सं.पाठे अधिकं पौरुषोत्तमं संशोधनं मुद्रिते गृहीतः, शेषेषु नोपलभ्यते - सम्पा.

स्थापयतीति सूचयति. अमानी मानदो भगवानिति परीक्षायां निर्णयः सिद्धो भविष्यति. एवं वचसा स्वापकर्षं ख्यापितवान्, अपराधकर्तुः स्तोत्रं च ॥९-१०॥

वचसैव कायिकान्, पूर्ववद् विरुद्धान्, प्रतिपादयति **पुनीहीति** द्वाभ्याम्.

पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् ।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥११॥

परमपवित्ररूपो भगवान् पावित्र्ये परमैश्वर्यं प्राप्तः. अतएव नखोदकरूपायां गङ्गायामाज्ञया पावित्र्यं स्थापितवान्, अन्यथा कथं शास्त्रनिषिद्धे पावित्र्यं भवेत्! तद्विरुद्धमेतत्— **पुनीहि मामिति. लोकसहितत्वेन** सुतरां स्वस्यापावित्र्यख्यापनं विरुद्धम्. भगवान् स्वधर्मान् तत्र स्थापयित्वा तद्धर्मान् स्वयं गृहीत्वा सर्वम् एवमाह, अन्यथा ब्राह्मणस्य नाशो भवेत्, प्रमेयबलेन सन्मार्ग एव नाशितः स्यात्. यथा महति राजद्रोहे कृते राजकीयास्तन्नाशयेयुरेव. स चेद् राजा तमपराधकर्तारं स्वसिंहासने निवेशयेत् तदा बाधकाः सर्वे साधका भूत्वा न पीडां कुर्युः; अन्यथा यथाकथञ्चिदपि तं नाशयेयुरेव. अतो भगवान् एवं प्रघट्टकेन स्तोत्रं करोति स्वधर्मान् स्थापयितुं, तुल्यत्वाभाय च तद्धर्मान् गृह्णाति. मोहिकैषा लीला हीनत्वप्रतिपादिका ज्ञातव्या. अतिदैन्यं ख्यापयन् वीर्यविरुद्धमाह **मद्गतान् लोकपालांश्च पुनीहीति**. स्वस्मिन् विद्यमानानां तस्य सम्बन्धाभाव एव, पावनं दूरे. तत्रापि **पादोदकेन** पावनं सुतरां कीर्तिविरुद्धम्. **तीर्थानां तीर्थकारिणेति**. गङ्गादीनामपि अनेनैव तीर्थत्वमिति सहेतुकं तस्य पावनकर्तृत्वं निरूपितम् ॥११॥

लक्ष्मीविरुद्धमाह.

अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् ।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥१२॥

अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनमिति. नित्यसिद्धा भगवति लक्ष्मीराधिदैविकी, इयं चाधिभौतिकी. सापि नित्या, ततश्च लक्ष्मीस्वरूपेण

लेखः

अद्याहमित्यत्र आधिदैविकीति, ब्रह्मानन्दरूपेत्यर्थः. **इयं चेति**, विष्णोः शक्तिरूपेत्यर्थः ॥१२॥

स्वस्वरूपेण चैतद् विरुद्ध्यते. ज्ञानविरुद्धमाह **वत्स्यत्युरसि मे भूतिरिति.** न हि क्रियाशक्तिर्ज्ञानपूर्णे तिष्ठति. तत्राप्यन्तरङ्गा भूत्वा वत्स्यति इत्याशंसनाद् वैराग्यविरोधोऽपि. **भवत्पादहतांहस** इति त्वच्चरणारविन्द-सम्बन्धेन स्वस्य पापक्षयकथनं धर्मिविरुद्धमपि. एवं सधर्मम् आत्मानं तत्र स्थापयित्वा तदीयं स्वस्मिन् गृहीत्वा तथोक्तवान्. अनेनैव तस्य प्रायश्चित्तमप्युपदिष्टं, यदा कदाचिद् मच्चरणसेवां करिष्यसि तदा तव पापक्षयो भविष्यतीति. एवं अमानित्वं मानदत्वं च स्वस्य प्रकटीकुर्वता भगवता सन्मार्गः समर्थितः ॥१२॥

ततो यज्जातं तदाह **एवं ब्रुवाण** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा ।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥१३॥

स तु परीक्षार्थमागत इति तेन भगवति हीनभावो न मतः किन्तु गुणत्वेन कायवाङ्मनश्चरित्रं स्वीकृतवान्. अतएव सर्वभावेन सन्तुष्ट इत्याह. आदौ **तन्मन्द्रया गिरा निर्वृतः** भगवता च **तर्पितः** स्वधर्मारोपणेन, अतः सनकादिवत् प्रत्युत्तर-सन्देहादिकं न कृतवान् किन्तु **तूष्णीमास.** किञ्च भगवान् अद्भुतकर्मा भक्तिविरुद्धकर्मणा तस्मै भक्तिं दत्तवान् इत्याह **भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचन** इति. भक्त्या प्रेमलक्षणया भगवति परमोत्कण्ठावान् जातः. अहो भगवच्चरित्रमित्याश्चर्येण अश्रुलोचनोऽपि ॥१३॥

भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा निर्णयकथनार्थमागत इत्याह **पुनः स्वसत्रमाव्रज्येति.**

पुनः स्वसत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
स्वानुभूतमशेषेण राजन् भृगुरवर्णयत् ॥१४॥

मुनीनां ब्रह्मवादिनामिति ज्ञानक्रियावैशिष्ट्यं, तेन विश्वासो ज्ञानं च भविष्यतीति. अतो निःशङ्कम् **अशेष**प्रकारेण **स्वानुभूतमवर्णयत्.** उपसंहारे भृगुपदं तस्य वैष्णवत्वं ख्यापयति ॥१४॥

ततोऽपि किं पुनः सन्देहः स्थितो न वेति शङ्काव्युदासपूर्वकं निःसन्देहं ख्यापयितुमाह **तन्निशम्येति.**

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।
भूयांसः श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥१५॥
धर्मः साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यं च दयान्वितम् ।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद् यशश्चात्ममलापहम् ॥१६॥

आदौ भगवच्चरित्रश्रवणाद् **विस्मिताः**, अल्पोत्कर्षज्ञानार्थं प्रवृत्ताः परमोत्कर्षं ज्ञातवन्त इति. ततो **मुक्तसंशयाः**, भगवानेव महानिति निश्चयात्. एवमपि सति **भूयांसो विष्णुमेव श्रद्दधुः** अयमेव महानिति पदार्थे श्रद्धां कृतवन्तः. ये तु पुनः पितृत्वेन गुरुत्वेन वा अन्यत्रापि श्रद्धायुक्ताः – तेषामन्याभिनिविष्टानां प्रमाणमपि बोधयितुमसमर्थमिति, ते स्वसेव्यसदृशमेव भगवन्तं ज्ञातवन्त इति – तद्व्युदासार्थं **भूयांस** इत्युक्तम्. सन्मार्गे भगवानेवोत्कृष्टो मन्तव्य इति ख्यापयितुं सन्मार्गोपयोगिनः सर्वानेव गुणान् भगवत्याह **यतः शान्तिरिति**. "तत् तीर्थसाधनम्" (श्लो. १९) इत्यन्तेन आदौ सन्मार्गे गुणक्षोभनिवृत्तिः अपेक्ष्यते, ततो भगवद्धर्माः मार्गरक्षा चेति. तत्रापि षड्गुणा भगवांश्च वक्तव्यः. एवं षोडशकलो भगवान् मार्गे निरुक्तो भविष्यति. **शान्तिरान्तरो** धर्मः ; इन्द्रियाणां रजोगुणक्षोभाभावः अनेन भवति. **यतोऽभयं** भयाभावः सत्त्वक्षोभनिवृत्तिः. **धर्मस्तामसाभावः**. ततो भगवद्धर्माः. **(यतो!)** यस्मात् सर्वेषां प्राणिनां **साक्षाज्ज्ञानं** निरुपाधिकं, **वैराग्यं च** तद्विधमेव. **दयान्वितमिति** उभयत्र विशेषणम्. ज्ञानेन वैराग्येण च प्राणिनां पीडा सम्भवतीति तदर्थमेतदुक्तम्. दयाभावार्थं हि भगवान् अर्जुनमुपदिदेश. वैराग्येण स्वकीयानां पीडा लोकसिद्धा. **तदन्वितमिति** क्वचित् पाठः, तदा ज्ञानसहितं वैराग्यं नतु मर्कटवैराग्यमित्यर्थः. **यतो** भगवतः सकाशाद् **अष्टधा ऐश्वर्यं** भवति अणिमादिप्रभेदभिन्नं, **यशश्च** भवति. **आत्मनोऽन्तःकरणस्य मलं** दूरीकरोतीति यशसो विशेषणम्. अनेन असत्प्रकारेण नट-विटादिभ्यो दानेन

लेखः

तन्निशम्येत्यत्र यतः शान्तिरित्यत्र तत्रापीति. मार्गरक्षायामपि षड्गुणा धर्मी चाधिकः. पूर्वं **भगवद्धर्माः** षडुक्ता इत्यपिशब्दः. ततः पूर्वं गुणक्षोभनिवृत्तिस्त्रिविधा, गुणानां त्रिविधत्वात्. एवं षोडश जाता इत्याहुः **षोडशेति** ॥१५॥

यद् यशः तद् व्यावर्तितम्. श्रीः वीर्यं च प्रकृते तथा नोपयुज्यत इति दयायां वीर्यस्यान्तर्भावम्, अष्टधा ऐश्वर्ये श्रियश्च, मन्यते ॥१५-१६॥

एवं भगवतः सकाशात् प्राणिनामेवं भवतीति निरूप्य मार्गानुसारिणि भगवति मार्गसिद्ध्यर्थं गुणानाह **मुनीनामिति** त्रिभिः.

मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।
अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥१७॥

यस्तु भगवान् षड्गुणयुक्तानामपि **परमा गतिः** फलरूप इत्यर्थः. **आहुरिति** प्रमाणम्. **परमत्वं** यतो नावर्तते, यस्मादग्रे गन्तव्यं च नास्ति. षड्गुणान् मुनीनां वर्णयति तेषामेव भगवान् फलमिति ज्ञानार्थम्. मननं ज्ञानसाधनं, तेन ज्ञानसिद्धिः. दण्डन्यासो वैराग्यम्. शान्तिः कीर्तिः. समचित्तता श्रीः. **अकिञ्चनानामिति** वीर्यं, सम्भवति अपेक्षायां च तदग्रहणात्. **साधूनामिति** सदाचाराणाम्. अनेन ऐश्वर्यं निरूपितं, लौकिकसामग्र्या वैदिकत्वसम्पादनात्. एवं फलरूपता एको गुणः सन्मार्गे ॥१७॥

साधनोत्कर्षमाह.

सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ।
भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥१८॥

सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिरिति, सत्त्वगुण एव भगवन्निरूपकः. सत्त्वोत्पादका अपि तत्र सुलभा इत्याह **ब्राह्मणास्त्विष्टदेवता** इति. **यस्य** भगवतः **इष्टदेवता ब्राह्मणाः** —अनेन प्रमाणप्रतिबन्धकता निवारिता. किञ्च यस्मिन् मार्गे गुणत्रययुक्ता **भजन्ति. अनाशिषः** फलाकाङ्क्षारहिताः **शान्ताः** साधनदोषरहिताः **निपुणबुद्धयः** विवेकज्ञानयुक्ता इति साध्योत्कर्षः. **वे**त्यनादरे, भगवद्भजने निपुणा बुद्धिर्नात्यन्तं प्रयोजिकेति. एवं गुणचतुष्टयं निरूपितम् ॥१८॥

द्वयमाह.

त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः ।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत् तीर्थसाधनम् ॥१९॥

भगवतः **आकृतयः** रूपाणि **त्रिविधानि**. तानि गणयति **राक्षसा**स्तामसाः **असुरा** राजसाः **सुराः** सात्त्विकाः. अनेन सर्वरूपो भगवानिति सर्वत्र

भगवद्बुद्धिरेको गुणः. तत्रापि **सत्त्वं तीर्थानां** पवित्रहेतूनां **साधनमिति** इदं वैराग्यस्थानीयम्. ततः पूर्वं ज्ञानस्थानीयम्. भजनं श्रीः, ब्राह्मणाः कीर्तिः, सत्त्वं बलं, गतिरैश्वर्यमिति. यस्मादिति भगवान् इति धर्मी निर्दिष्टः. तस्मात् कृष्ण एव महान् सर्वप्रकारेणेति निरूपितम् ॥१९॥

एतत् प्रासङ्गिकमुक्त्वा निर्णयकर्तॄणां किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्थं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनृत्तये ।
पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ॥२०॥

इत्थं सारस्वता विप्रा इति, सरस्वतीतीरस्था मुनयः प्रमाणोत्कर्षमापन्नाः वाक्यमात्रेण नृणां संशयो न गच्छतीति संशयनिवृत्त्यर्थं स्वयं भजनं कृत्वा ततस्तयैव **सेवया (तद्गतिं !)** तयैव गन्तुं योग्यं भगवन्तं गताः, "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित् स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्" (महाभा.तात्पर्यनिर्णय १।११६) इति वाक्यात् ॥२०॥

एवमुपाख्यानस्य फलपर्यन्ततामुक्त्वा तस्य च फलं सर्वदैव भवतीति ज्ञापयितुं सूतः फलश्रुतिमाह **इत्येतदिति.**

॥ सूत उवाच ॥

इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्ध-
पीयूषं भवभयभित् परस्य पुंसः ।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं
पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥२१॥

इतीति कथासमाप्तिः सूच्यते, **एतदित्यनुवादः.** यतःकुतश्चिदपि श्रुतं भगवच्चरित्रं कार्यं साधयत्येव. फलरूपता तु साधारणानामपि भक्तमुखश्रवणादेव भवतीति ज्ञापयितुं विशेषणं **मुनितनयास्यपद्मगन्धपीयूषमिति. मुनितनयत्वेन** अन्यथाज्ञानं निवर्तयति. **आस्यपद्ममिति** पाने क्लेशाभाव उक्तः, अधःस्थितपद्मे तु निम्नतासम्पादनक्लेश इति. **गन्धयुक्तं पीयूषमिति** भक्तिरसालोडितं चरित्रमुक्तम्. अनेन स्वतःपुरुषार्थता निरूपिता. साधकत्वमप्याह **भवभय-**

भिदिति, संसारभयं निवर्तयति. **भवपदं** भयस्यानिवर्त्यत्वं[1] ज्ञापयति. **कीर्तेः** एतत्साधकत्वे हेतुमाह **परस्य पुंस** इति, न हि प्रकृतिमध्यस्थितस्य चरित्रम् एतादृशं भवतीति. शब्दतोऽप्युत्तमतामाह **सुश्लोकमिति**, शोभनाः श्लोका व्यासादिकृता यस्मिन्. **श्रवणपुटैरिति** उत्तभितकर्णपुटैरिति बहुवचनेन वरत्वेन प्राप्तैः, ''विधत् स्वकर्णायुतम्'' (भक्तिरसामृतसिन्धु १।२।३० ?) इति वाक्यात्. एवं यः **पान्थो** भूत्वा **अभीक्ष्णं पिबति** तस्य साधनदशास्थितावपि क्लेशो निवर्तत इत्यर्थः. एवं प्रमाणबलेन भगवतो ज्ञानशक्तिर्निरूपिता ॥२१॥

प्रमेयबलेन निरूपयितुमुपाख्यानान्तरमारभते शुकः स्वयमेव **एकदेति इतीदृशानि** (श्लो. ६४) इत्यन्तेन. प्रमेयबले पूर्वपक्षे कालस्यापि बलं निरूपणीयम्. ततो न देशादीनां बलेन सह विरोधः. एते दश लीलारूपाः, प्राणरूपा वा, निर्गुणया भक्त्या सह भक्तिरूपा वा येषामर्थे भगवान् गच्छतीति. तेजसः प्रत्यापत्तिरपि कर्तव्येति भगवतो गमनमित्येके. अनिरुद्धचरित्रत्वाद् अर्जुनेन सह गमनम्. अर्जुने सर्वदेवतानामस्त्राणि वर्तन्त इति तत्सामर्थ्ये निराकृते सर्वेषामेव सामर्थ्यं निराकृतं भवतीति ज्ञापयितुं तत्कथा.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥२२॥

एकदा यस्मिन् काले भगवतः स्वसामर्थ्यप्रदर्शनेच्छा. **तुशब्दो** वैकुण्ठे कथमेवमिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थः. कस्याश्चिद् **विप्रपत्न्याः कुमारकः** पुत्रः **जातमात्र** एव, तदानीं कालो भूमौ तिष्ठतीति, भूमिस्पर्शमात्रेणैव मृतः. **किलेति** प्रसिद्ध्या शुकः स्वदोषं परिहरति. **भारतेति** विश्वासार्थम् ॥२२॥

ततो ब्राह्मणः[2]– अभूतपूर्वोऽयमर्थ इति, भगवता कालस्य पूर्वभोगोऽपि

---

१. भवश्च तद् भयं च, भवेन भयं, भवे वा भयम् इति सर्वथा यावद्भवः भयानिवृत्तेः अनिवर्त्यत्वम् इति आशयः - सम्पा.

२. ब्राह्मणः इति मुद्रिते, शेषेषु एवम् - सम्पा.

व्यावर्तित इति, विद्यमानेऽपि भगवति यत् पुत्रमरणं तत् शम्बुकन्यायेन[१] जातमिति प्रत्यापत्तिर्भविष्यतीति– राजदोषेणैवैवं जातमिति तान् ज्ञापयन् बालकं गृहीत्वा राजद्वारि गत इत्याह **विप्रो गृहीत्वेति.**

विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।
इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥२३॥

उपचारव्यावृत्त्यर्थं **मृतकमिति. राजद्वारि** स्थापयित्वेति विचारार्थम्. शववाहकस्य वचनं निषिद्धमिति **उपधाय इदं प्रोवाचे**त्याह. **विलपन्निति** कृत्रिमताव्युदासाय बाह्यो भाव उक्तः, **दीनमानस** इत्यान्तरः ॥२३॥

बोधनार्थमाह **ब्रह्मद्विष** इति द्वाभ्यां प्रकृताप्रकृतभेदात्.

ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।
क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात् पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥२४॥

द्वारकायां यादृशो राजा मृग्यते तादृशोऽयमुग्रसेनो न भवतीति तद्दोषः प्रायेण भविष्यतीत्याशयेनाह. राज्ञो दोषत्रयं महद्— ब्रह्मद्वेषो जडबुद्धिः लोभश्चेति. विषयात्मकता च[२] चतुर्थः साधारणः; चतुर्विधोऽपि प्रायेणायं राजा. ब्रह्मद्वेषेण तस्य धर्माभावः, शठबुद्ध्या नार्थः, लोभान्न कामः, विषयासक्त्या न मोक्ष इति स राजा सर्वपुरुषार्थवञ्चितो भवति. तादृशस्य कर्माणि तस्य पुरुषार्थाभावात् तत्रापकारं कर्तुमसमर्थानि मदुपरि पतितानीत्याह **पञ्चत्वं मे गतोऽर्भक** इति. चतुष्ट्वं स एव गतः; तस्यैव पञ्चत्वे क्षत्रबन्धुत्वाद् रक्षा न भविष्यतीति ब्राह्मणास्तदीया इति तेषु पतति ॥२४॥

ननु पुरोहितविषयमेतत्, "गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च" (स्कन्दपुरा. ३३।१३, मनुस्मृ. ८।३१७) इति वाक्यात्, साधारणश्च ब्राह्मणस्त्वं तादृशः

लेखः

विप्रो गृहीत्वेत्यस्याभासे **शम्बुकन्यायेनेति.** कमलादियुक्ते मानसेऽपि सरसि जलदोषाद् शुक्तयोऽपि जायन्ते, तथा भगवत्सहितदेशेऽपि राजदोषादेवं जातम्. परं भगवतो विद्यमानत्वात् प्रत्यापत्तिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥२३॥

---

१. रामराज्ये शम्बुकाख्यशूद्रतपःकरणेन यथा ब्राह्मणबालकमरणं तथात्रापीत्यर्थः.

२. मुद्रिते नास्ति, शेषेषु एवम् - सम्पा.

कथं दुःखी जात इति चेत्, तत्राह **हिंसाविहारमिति.**

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥२५॥

राज्ञो महान् त्रिदोषः सर्वानेव व्याप्नोति राज्यस्थितान्. निषिद्धस्य कर्ता, विहितस्याऽकर्ता, दुष्टपोषकश्चेति दोषत्रयं क्रमेणाह— **हिंसायामेव विहारो यस्य, दुष्टं शीलं यस्य, न जितानीन्द्रियाणि** येनेति. तादृशं **नृपतिं भजन्त्यः प्रजाः** क्रमेण तत्तद्दोषं प्राप्नुवन्ति. आदौ अवसादं हिंसाफलं; मृतप्राया भवन्तीत्यर्थः. दुःशीलत्वाद् धर्माभावाद् **दरिद्रा** भवन्ति. ततः शत्रुजयाभावात् **नित्यदुःखिताः**. एवमुपदेशार्थमुक्त्वा बालकं गृहीत्वा गच्छति ॥२५॥

एवमेकवारकथामुक्त्वा पर्यायान्तरेषु [१]अतिदिशति.

एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ।
विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥२६॥

एवं द्वितीयमिति तृतीयमप्येवमेव बालकमानीयैव वदति. ततो लोकानां प्रतीतिर्जातेति पश्चात् षट्पुत्रा नानीताः परं स्वयमेवागत्य वाक्यं वदति. तृतीयं तु तत्रैव त्यक्तवानिति लक्ष्यते. द्वारकायां भगवान् मुख्यः; स तूष्णीं तिष्ठति (सति!) तत्रत्याः सर्व एव तूष्णीं तिष्ठन्ति. यथा कायिकोऽपराधः ब्राह्मणस्य सोढः एवं वाचनिकोऽपीति– यथा ब्रह्मविचारार्थं प्रवृत्तस्य तथेति ब्रह्मणः कार्यं तथात्रापि भगवता नीयन्त इति– तूष्णीम्भावः ॥२६॥

ततो भिन्नस्वभावः– जीवभावमेवापन्न इति द्वारकायामपि गतो लौकिकबुद्ध्या [२]विट्पतिरहमिति साभिमानः– किञ्चिदुवाच इत्याह **तामर्जुन** इति.

लेखः

एवं द्वितीयमित्यत्र तृतीयं त्विति. तत्र तुशब्देन पूर्वव्युदाससूचनादिति भावः ॥२६॥

---

१. एवम् उपदिशति इति कपाठे, अपि उपदिशति इति ग-घपाठयोः, अपि अतिदिशति इति सं.पाठे उपलभ्यते - सम्पा. २. वीरोहम् इति घपाठः - सम्पा.

तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित् केशवान्तिके ।
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥

केशवान्तिक एवोपविश्य **उपश्रुत्य ब्राह्मणं समभाषते**ति सम्बन्धः. भगवान् भक्तार्थमेव सर्वं करोतीति ज्ञापयितुं तत्र विलम्बाभावाय **परेते नवमे बाल** इत्युक्तम्. गुणानां कार्ये जाते अहंकारदेवता असहमाना तथा प्रोवाच. दशैव पुत्रा मर्यादायामेकस्याम्, "दशास्यां पुत्रानाधेहि" (ऋक्संहि. १०।८५।४५) इतिश्रुतेः. अत एक एवावशिष्यते अतो विलम्बमकृत्वा ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥

अर्जुनो [१]ह्येवं मन्यते— मृत्युरेनं नयतीति. स मृत्युर्ब्राह्मणक्षत्रिययोर्मित्रं, तदुपपादितं "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनम्" (कठोप. २।२५) इत्यत्र. तुल्यव्यसनत्वात् मित्रत्वम्. तत्रोभौ स्वधर्मपरौ मृग्येते, नतु जातिमात्रपराविति तदाह.

॥ अर्जुन उवाच ॥

किं स्विद् ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः ।
राजन्यबन्धवो ह्येते ब्राह्मणाः सत्रमासते ॥२८॥

किं स्विद् ब्रह्मंस्त्वन्निवास इति, त्वं यत्र निवससि तत्र कश्चिद् **धनुर्धरो** राजन्यः **किं नास्ति?** ननु सन्त्येव बहवः, सर्व एवैते सभायां स्थितास्तत्राह **राजन्यबन्धवो ह्येते** इति. एते नोत्तमाः क्षत्रियाः, एतेषां पूर्वजाः परं राजन्याः स्थिता इत्यर्थः. ननु ब्राह्मणानामेवं दोषः कुतो न भवतीत्याकाङ्क्षायामाह **ब्राह्मणास्तु सत्रमासत** एव ॥२८॥

अतः अलौकिकदोषेण न बालकानां मरणं किन्तु क्षत्रियाणामेव दोषेणेत्याह.

लेखः

तामर्जुन इत्यत्र भगवतस्तावत्सहने हेतुमाहुः **भगवानि**ति. निर्गुणकार्यमेव करोतीति नवमे परेते न विलम्बः इत्यर्थः ॥२७॥

---

१. अपि एवम् इति ख-ग-घपाठेषु - सम्पा.

धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥२९॥

धनदारात्मजापृक्ता इति. **धनदारात्मजैः** सर्वथा अपेक्षितैः **अपृक्ता** रहिताः एकाकिन इत्यर्थः. **यत्र ब्राह्मणाः** (**शोचन्ति!**) एवं दुःखं प्राप्नुवन्ति **ते वै** निश्चयेन राजन्या **नटा** एव **राजन्यवेषं** कृत्वा लोकेभ्योऽन्नं प्राप्य **जीवन्तीत्यसुम्भराः** ॥२९॥

ब्राह्मणश्चेद् रक्षितो भवेत् सोऽन्यं रक्षयेत्. नतु आत्मानं स पालयितुं शक्तः, तथा सति क्षत्रियनिर्माणं व्यर्थं स्याद्, "अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः" (भाग.पुरा. ३।२२।४) "तत्त्राणायासृजच्चास्मान्" (भाग.पुरा. ३।२२।३) इति च. तस्माद् अवश्यमत्र क्षत्रियेण रक्षा कर्तव्या. अतोऽहं करिष्यामीत्याह **अहमिति**.

अहं प्रजां वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोरिह ।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥३०॥

वां स्त्रीपुरुषयोः, तस्मिन् रक्षिते उभयोरुपकार इति. स्वस्य[१] दयावत्त्वं सूचयितुमाह **दीनयोरिति**. ननु त्वद्वाक्ये को विश्वास इति चेत्, तत्राह **अनिस्तीर्णप्रतिज्ञ** इति. नन्वग्निप्रवेशे किं स्याद्, बालकस्तु न जीविष्यत्येव इत्याशयेनाह **हतकल्मष** इति. तदा तस्य पापं न भवति, क्षत्रियदेहस्य परित्यागात् ॥३०॥

तदा ब्राह्मणस्तमुपदिशति– अज्ञं मत्वा मित्रत्वात्– **सङ्कर्षणो वासुदेव** इति.

॥ ब्राह्मण उवाच ॥

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥३१॥

लेखः

अहमित्यत्र तस्येति. दीनयोः कार्याकरणाद् उग्रसेनस्य अदया-वत्त्वमित्यर्थः ॥३०॥

---

१. स्वदयावत्त्वम् इति सं.पाठे, तस्य अदयावत्त्वम् इति शेषेषु लेखे च - सम्पा.

तत् कथं नु भवान् कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।
चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात् तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥३२॥

चतुर्मूर्तिं भगवन्तं सर्वथा स्वभावतोऽपि रक्षकं निर्दिशति **सङ्कर्षण** इति. **धन्विनां वर** इति लौकिकमपि सामर्थ्यं सूचितम्. पूर्वयोस्तु सामर्थ्यं दृष्टचरम्, **अनिरुद्धस्त्वप्रतिरथः** न केनापि रुद्ध इति सार्थकता तस्य निरूपिता. एवं मिलिता अपि अस्मत्पुत्रं **त्रातुं न शक्नुवन्ति (यत्!)** यस्मात् कारणात्. अस्ति किञ्चित् कारणं येन तेऽपि न शक्नुवन्तीत्यर्थः. तावता किमित्यत आह **तत्कथमिति**. एते **जगदीश्वराः** भगवदवतारत्वाद्, असाध्यं बाल एव वदतीति त्वं **बालिशः**, अतस्तव वाक्यं न **श्रद्दध्महे** ॥३१-३२॥

अर्जुनस्तु एवं मन्यते — चतुर्मूर्तिर्भगवान् प्रतिनियतकार्यकर्ता, तदंशोऽपि तत्रैव निविशते; यस्तु तदनंशोऽपि भूत्वा विशेषकार्यार्थमुत्पन्नः स एवं कर्तुं शक्नोतीति. अतो निषेधति **नाहं सङ्कर्षण** इति.

॥ अर्जुन उवाच ॥

नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन् न कृष्णः कार्ष्णिरेव वा ।
अहं वै अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥३३॥
मावमंस्था मम ब्रह्मन् वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम् ।
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभुः ॥३४॥

जगदीश्वरत्वमप्रयोजकं, प्रतिनियतकार्यकर्तृत्वस्य प्रतिबन्धकत्वात्. **कार्ष्णिः** प्रद्युम्नः, **वे**त्यनिरुद्धे अनादरः. स्वस्यानिरुद्धांशाद् वा न साक्षान्निषेधं करोति, अन्यथा अनृतवादी स्यात्. **अहं वै** निश्चयेन **अर्जुनः** येन गावः प्रत्यानीताः. मम चासाधारणं साधनं कार्यं चेत्याह. **गाण्डीवं यस्य वै धनुरिति** साधनोत्कर्षो निरूपितः, **त्र्यम्बकतोषणमिति** कार्योत्कर्षः. स हि मृत्युंजयः ; न ह्यन्येन मृत्युर्जेतुं शक्यः. सोऽपि चेन्मद्वीर्येण तुष्यति तदा मम मृत्युजये कः सन्देह इति भावः. यदि मृत्युः प्रार्थितश्चेद्

लेखः

नाहं सङ्कर्षण इत्यस्याभासे **तदनंशोऽपीति**. सङ्कर्षणादिवत् तत्सन्ततावप्रविष्टोऽप्यहं विशेषकार्यार्थमुत्पन्नत्वात् कर्तुं शक्त इत्यर्थः ॥३३॥

दास्यति तदा न काचिच्चिन्ता. यदि वा कलहं करिष्यति तथापि **प्रधने मृत्युं विजित्य ते प्रजाम् आनेष्ये यतोऽहं प्रभुः** ॥३३-३४॥

एवं सोपपत्त्या निरूपणे ब्राह्मणस्य विश्वासो जात इत्याह **एवं विश्रम्भित** इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परंतप ।
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥३५॥

एवं विश्रम्भो विश्वासः यतोऽयं **विप्रः**, "विप्राः पश्चिमबुद्धयः" (. । ।) इति. **परंतपेति** विश्वासार्थं सम्बोधनम्. **फाल्गुनपदं** लोके विद्युन्निवारकत्वेन प्रसिद्धमिति तद्वाच्यः कथं मृत्युं न निवारयेदिति विश्वासः. ततो ग्राममध्ये सर्वत्र **पार्थवीर्यं (निशामयन्!)** श्रावयन् **स्वगृहं (जगाम!)** गतः ॥३५॥

ततो वर्षपर्यन्तं प्रीतः स्थितः. ततो यज्जातं तदाह **प्रसूतिकाल आसन्न** इति.

प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः ।
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥३६॥

द्विजसत्तमो महान्, अन्यथा शापं दद्यात्. **मृत्योः** सकाशात् **प्रजां पाहि. आतुर** इति शरीरेऽपि दैन्यं प्रतिभातीत्युक्तम् ॥३६॥

ततोऽर्जुनस्य रक्षाप्रकारमाह **स उपस्पृश्येति.**

स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
दिव्यास्त्राणि च संस्मृत्य सज्जं गाण्डीवमाददे ॥३७॥

अर्जुनो "महादेवबलेन सर्वं करिष्यामी"ति सर्वदेवाविष्टस्तथा करोति. उपस्पर्शनं देवतासान्निध्यार्थं, **शुच्यम्भ** इति मन्त्रपूतं, देवताप्रार्थनार्थं नमस्कारः, दिव्यास्त्राणां सर्वेषां संस्मरणं सर्वत्र सर्वसम्बन्धार्थम्. **सज्जम्** आरूढप्रत्यञ्चं **गाण्डीवमादद** इति तस्य दृष्टसामग्री निरूपिता ॥३७॥

न्यरुणत् सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥३८॥

नानास्त्रयोजितैः शरैरिति देवतान्तराप्रवेशाय. ततः सर्वतः **शरपञ्जरं**

चकार ॥३८॥

ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्या रुदन् मुहुः ।
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥३९॥

ततः पञ्जरमध्य एव **कुमारः सञ्जातः विप्रपत्न्याः** सकाशात्. भूमिस्पर्शाभावात् कठिनमार्गेण गच्छामीति **सद्योऽदर्शनमापेदे. सशरीर** एव (**विहायसा!**) आकाशमार्गेण गतः. आकाशं भित्त्वा, कालं मायां च, भगवत्स्थाने गत्वा भगवता सह लोकालोकात्परभागे आविर्भूत इत्यर्थः ॥३९॥

तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ ।
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥४०॥

तदा भार्यया वृत्तान्ते कथिते (**कृष्णसन्निधौ!**) भगवत्सन्निधाने समागत्य (**विजयम्!**) अर्जुनं **विशेषेण निन्दन्** क्षोभजनकं वाक्यमाह. सार्धाभ्यां निन्दति. अर्जुनो निर्दुष्टः, अहमेव भ्रान्तः. तत्कथमित्याकाङ्क्षायामाह **मौढ्यं पश्यत (मे!)** ममैव **योऽहं क्लीबस्य कत्थनं श्रद्दधे.** यदि तस्मिन् शौर्यसम्भावनापि स्यात् तर्हि तत्र क्लीबत्वं न भवेत् ॥४०॥

यदक्लीबानामप्यसाध्यं तत् क्लीबः कथं कुर्यादित्याह **न प्रद्युम्न** इति.

न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥४१॥

यदि धनदानेन पुत्रा रक्षितुं शक्याः स्युः तर्हि **प्रद्युम्नः** पालयेत्, यदि बलेन तदा**ऽनिरुद्धः**, यदि रत्युत्पादनेन तदा **रामः**, यदि सृष्टि-प्रलयाभ्यां तदा **केशवः**. एतेषां पुरे वासात् शक्तौ सत्यां पालनमावश्यकम्. यदेतैरप्यशक्यं परिपालनं तेन ज्ञायते कश्चिदन्य एवोपायोऽस्तीति. तथा सति **कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः?** धर्मेण चेद् रक्षा तर्हि मयैव रक्षितः स्यादिति चत्वारो गणिताः ॥४१॥

लेखः

ततः **कुमार** इत्यत्र भूमीति. **कठिनमार्गेण गच्छामीति** हेतोः भूमिस्पर्शाभावादित्यन्वयः. भूमिस्पर्शे तथासामर्थ्यं न तिष्ठेदिति भावः ॥३९॥

धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।
दैवोपसृष्टं यो मौढ्याद् आनिनीषति दुर्मतिः ॥४२॥

एवं साधनपञ्चकरहितोऽपि अर्जुनः यद् रक्षार्थमुक्तवान् तेन **अर्जुनं धिक्** यतो **मृषा** वदति. तस्य **धनुरपि धिक्** ज्वाल्यताम्. ननु धनुषः कोऽपराध इति चेत्, तत्राह **आत्मश्लाघिन** इति, य आत्मानं वृथैव श्लाघते. ननु शूराः प्रतिजानते, ततः कदाचित् प्रतिज्ञा पूरिता भवति कदाचिन्न, नैतावता प्रतिज्ञाकर्तुर्दोष इति चेत्, तत्राह **दैवोपसृष्टमिति**. **आनिनीषति** आनेतुमिच्छति. सन्दिग्धेऽर्थे प्रतिज्ञा युक्ता, नतु निश्चित इति भावः. एवमपि प्रतिज्ञां कुर्वन् **दुर्मतिः** ॥४२॥

ततो यज्जातं तदाह **एवं शपतीति**.

एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः ।
ययौ संयमिनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः ॥४३॥

विद्यामास्थाय देवानां विद्याम् ऐच्छिकगतिप्रदाम्. ततः **फाल्गुनः** अतिनिर्भयः **संयमिनीं** यमस्य पुरीं **ययौ**. संयमिनी यातनाभूमिरूपा यमराजधानी च भवति. तत्र द्वारकायां ब्राह्मणगृहे उत्पन्नः यातनास्थाने न गमिष्यतीति निश्चित्य **यत्रास्ते भगवान् यम** इत्युक्तम् ॥४३॥

विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात् पुरीम् ।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ॥
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥४४॥

ततस्तत्राप्यदृष्ट्वा पूर्वादिक्रमेण दश दिशः अन्विष्टाः. **सौम्या** उत्तरा दिक्, **रसातलमधः**, **नाकपृष्ठमुपरि**, **अन्यानि** गन्धर्वादीनां स्थानानि. तस्य सर्वत्र निर्भयतया गमने हेतुः **उदायुध** इति ॥४४॥

ततः किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाह **तत** इति.

ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः ।
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥४५॥

न लब्धो द्विजसुतो येन, अतएव **न निस्तीर्णं प्रतिश्रुतं** प्रतिज्ञा यत्र. ततो द्वितीयां प्रतिज्ञां कर्तुमुद्यतः **अग्निं विविक्षुः**. तामपि प्रतिज्ञां कर्तुं न शेके इत्याह **कृष्णेन प्रत्युक्त** इति. अग्निप्रवेशं **प्रतिषेधता**

प्रत्युक्तः प्रतिकूलतया उक्तः ॥४५॥

तदैव भगवद्वचनमाह.

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञामात्मनः कृथाः ।
एतेन कीर्तिं विपुलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥४६॥

दर्शये द्विजसूनूनिति, ब्राह्मणपुत्रांस्तुभ्यं दर्शयामीति ततो हेतोः **आत्मनः** स्वस्य **अवज्ञां मा कृथाः**. अपकीर्तिशङ्कया तव मरणं, तन्मृते अधिकाप्यपकीर्तिर्भविष्यति. मदुक्तप्रकारेण चेज्जीविष्यसि तर्हि **एतेन** जीवनेन **ते कीर्तिं विपुलामपि मनुष्याः स्थापयिष्यन्ती**त्यर्थः. मनुष्या हि दृष्टपराः न परमार्थं जानन्ति अतः पुत्रानयनं दृष्ट्वा कीर्तिमेव वक्ष्यन्तीत्यर्थः ॥४६॥

इति सम्भाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥४७॥

एवमुक्त्वा **भगवान**प्रतिहतः (**ईश्वरः !**) सर्वज्ञस्तेनैव **सह स्वस्य** गरुडध्वजं **रथं दिव्य**माधिदैविकरूपं, स्वभावतो वा अलौकिकं, पश्चिमां **दिश**मभिप्रस्थितः ॥४७॥

ततो बहुदूरे गत इत्याह **सप्तद्वीपा**निति.

सप्तद्वीपान् सप्तसिन्धून् सप्त सप्त गिरीनथ ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥४८॥

जम्बुद्वीपादि **सप्तद्वीपान्** लवणादीन् **सप्तसमुद्रान्** प्रत्येकं द्वीपेषु **सप्त**

लेखः

दर्शये इत्यत्र **अवज्ञ (?)** इति[१] लोटो मध्यमपुरुषः. पृच्छां करोति पृच्छति ततो ण्वुलि पृच्छक इतिरूपं मनोरमायां साधितम्. तथा अवज्ञां करोति अवज्ञतीति नामधातुर्ज्ञेयः. "अदिप्रभृतिभ्यः शपः" (लघु.सिद्धा.कौमुदी - २।४।७२) इत्यत्र 'प्रभृति'ग्रहणेन अदादेरप्याकृतिगणत्वसूचनात् सिद्धं. व्यत्ययाद् वा ॥४६॥

इति सम्भाष्येत्यत्र **रथ**मिति **आस्थाये**ति मूलवासनयान्वयः ॥४७॥

---

१. अयं लेखांशः सुबोधिनीपाठेन असंगतो भाति. अथवा लेखकाराणां सुबोधिनीपाठ एव अन्यादृशः स्याद् इति सम्भाव्यते - सम्पा.

सप्त **गिरीन्** मर्यादापर्वतान् उल्लङ्घ्य **अथ** सर्वान्ते सुवर्णभूम्यनन्तरं **लोकालोकपर्वतमप्यतीत्य** तत्परभागे यत् **तमः** तत् प्रविष्टवान् ॥४८॥

तत्र तमसो माहात्म्यमाह **तत्राश्वा** इति.

तत्राश्वाः शैब्य-सुग्रीव-मेघ-पुष्प-बलाहकाः ।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥४९॥

भगवतश्चत्वारोऽपि प्रसिद्धा **अश्वास्तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुः**. विश्वासार्थं (**भरतर्षभ!**) सम्बोधनम् ॥४९॥

तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।
सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत् पुरः ॥५०॥

तदा **भगवान्** अश्वानां तदगमनं **दृष्ट्वा महायोगेश्वराणां** ब्रह्मादीनामपि **ईश्वरः** समर्थः सर्वथा गन्तव्यमेवेति निश्चित्य **सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं** सुदर्शनमग्रे **प्राहिणोत्** ॥५०॥

ततस्तस्मिन्नन्धकारे सुदर्शनस्य गतिमाह **तमः सुघोरमिति.**

तमः सुघोरं गहनं कृतं महद् विदारयद् भूरितरेण रोचिषा ।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥५१॥

सुघोरं तमः विदारयन् निर्विविश इति सम्बन्धः. तमसः स्पर्शोऽपि निराकरणार्थं कठिन इति वक्तुं सुघोरत्वमुक्तम्. अतिभयानकमित्यर्थः. **गहनमतिगम्भीरम्. महत्कृतम्** आलोकापेक्षयापि अधिकं परिमाणतो बलाच्च. आगमनप्रतिषेधार्थं वा **महत्कृतम्.** ननु एतादृशमन्धकारं कथं दूरीकृत्य निर्विविशे? तत्राह **भूरितरेण रोचिषेति,** ततोऽप्यधिकेन तेजसा. ननु भूयान् देशो वर्तत इति गमनेऽपि यावज्जन्म स्यात्, ततो व्यर्थः प्रयास इति चेत्, तत्राह **मनोजवमिति.** ननु गन्तव्यदेशः कस्मिन् भागे वर्तत इति सुदर्शनस्य ज्ञानाभावात् तस्य कथमग्रे तद्देशगमनमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **गुणच्युत** इति. **यथा** (**रामशरः!**) दाशरथेः बाणः यं देशमुद्दिश्य त्यज्यते तमेव देशं प्राप्नोति; अचेतनोऽपि चेतनवत् प्रेरणगतिसामर्थ्यात् रेखामात्रमपि नान्यत्र गच्छति. तथा यदैव भगवान् सुदर्शनं प्रक्षिप्तवान् तदा तद्देशसम्मुखमेव चिक्षेपेति. यथा शरः गुणाद् विमोकमेवापेक्षते तथा चक्रमपि हस्ताद् विमोकमेवापेक्षते इष्टदेशगमनार्थं, नान्यदित्यर्थः ॥५१॥

ततश्चक्रेणैव मार्गः कृत इति तेनैव मार्गेण रथो गत इत्याह **द्वारेणेति**.

द्वारेण चक्रानुपथेन उत्तमः परं परंज्योतिरनन्तपारम् ।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे ॥५२॥

चक्रानुपथेन द्वारेण चक्रनिर्मितमार्गेणैव तादृशमपि **तमः** कर्म **परमुत्कृष्टं ज्योतिर्यस्य** तादृशं सुदर्शनं **परं** ब्रह्म तेजोरूपम्. **अनन्तपारमित्युभयविशेषणम्.** तमस्तेजश्च उभयं **सम्यगश्नुवानम्** अग्र-पश्चाद्भावेन तमसा तेजसा च व्याप्तं रथं (**प्रसमीक्ष्य!**) दृष्ट्वा **फाल्गुनः** विद्युन्निवारकोऽपि **प्रकर्षेण ताडिताक्षो** जातः = विद्युता प्रतिहताक्ष इव भीतो जात इत्यर्थः. अगाधे मार्गे गच्छन् अग्रे पश्चाच्च रथदर्शनार्थं चञ्चलदृष्टिः उभयोस्तुल्यत्वं दृष्ट्वा, महान्धकारे विद्युद्दर्शीव भयाद्, **अक्षिणी अपिदधे** मुद्रितवान्. अनेनार्जुनस्य ज्ञानगमने शङ्कापि परिहृता ॥५२॥

ततो भगवदिच्छया ब्रह्माण्डमतिक्रम्य आवरणे जले रथः प्रविष्ट इत्याह **ततः प्रविष्टौ** इति.

ततः प्रविष्टौ सलिलं नभस्वता बलीयसैजद् बृहदूर्मिभीषणम् ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं भ्राजन् मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥५३॥

तदा जलमध्ये रथे प्रविष्टे रथस्थावपि जले **प्रविष्टौ.** तत् सलिलं वर्णयति **बलीयसा नभस्वता एजदिति.** महावायुना कम्पमानम् अतएव **बृहदूर्मिभिः** स्थूलतरङ्गैः विशेषेण **भीषणं** भयानकम्. अनेन अर्जुनस्य मनसाप्यगम्यो देश इति सूचितम्. एतादृशजलमध्ये एकं गृहमस्ति तत् प्रविष्टाविति वक्तुं तद्गृहं वर्णयति **तत्राद्भुतं वै भवनमिति. द्युमत्तमम्** अतितेजोयुक्तं स्वतेजसैव प्रकाशमानं, सूर्यादीनां प्रकाशकानामभावात्. **भ्राजन्तो ये मणिस्तम्भास्तेषां सहस्रेण शोभितम्** — अनेनैव सर्वोत्कर्षो भवनस्य वर्णितः ॥५३॥

तन्मध्ये एकं शेषं दृष्टवानित्याह **तस्मिन् महाभीममिति.**

लेखः

द्वारेणेत्यत्र अनेनेति. अक्ष्णोरपि मुद्रणकथनेन अर्जुनस्य भगवन्तं विना तत्स्थानज्ञानं तत्र गमनं च शङ्कितमपि न भवतीत्यर्थः ॥५२॥

तस्मिन् महाभीममनन्तमद्भुतं सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।
विभ्राजमानं द्विगुणेक्षणोल्बणं सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ॥५४॥
ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥५५॥

सलिलं प्रविष्टौ गृहमपि प्रविष्टौ. ततो भगवान् कृष्णः **तस्मिन् महाभीममनन्तं ददर्श, तद्भोगसुखासनं** भगवन्तमपि **ददर्शे**ति सम्बन्धः. सर्वम् अर्जुनस्य भयोत्पादनार्थम् आश्चर्यरसोत्पादनार्थं च वर्णनम्. **महाभीम**मतिभयानकं सर्पविशेषम् **अद्भुतं** कदाप्यदृष्टपूर्वम्. एवं स्वरूपभूतं गुणत्रयमुक्त्वा विशेषतो वर्णयति. **सहस्र**सङ्ख्यायुक्तेषु मूर्द्धसु यानि रत्नानि तानि **मूर्धन्यानि. फणानां** सम्बन्धिनो **मणयः** फणामणयः ; 'फणा'शब्द आकारान्तः. **मूर्धन्यानां फणामणीनां द्युभिः** कान्तिभिः कृत्वा **विशेषेण भ्राजमानम्.** अन्यथा तस्य दर्शनेन तथा भयं न भवेदिति दर्शनोपाय उक्तः. यदर्थमेतदुक्तं तदाह **द्विगुणानीक्षणानि** सहस्रद्वयमितानि चक्षूंषि तेन **उल्बणम**तिक्रूरम्. तादृशस्यापि महत्त्वमाह **सिताचलाभमिति. सिताचलः** श्वेतपर्वतः कैलासो वा हिमालयो वा तत्सदृशम्. **शिति**र्नीलवर्णः **कण्ठो जिह्वा च यस्य,** नीलकण्ठो नीलजिह्वश्चेत्यर्थः. महादेवस्य तद् आधिदैविकं रूपम्, तेन जिह्वायां मृत्युः कण्ठे कालकूट इति उभयोर्नीलं रूपं वर्णितम्. एतादृशे अतिभयानके सर्पशरीरे सुखासीनं भगवन्तं ददर्श. ननु सर्पे स्थितः कथं सुखेन तिष्ठतीत्याह **विभुमिति**, लोकानामेव स भयानकः, नतु तस्यापि नियामकस्येत्यर्थः. किञ्च **महानुभावं** महाननुभावो यस्येति. तादृशोऽपि क्रूरः भगवत्स्थित्या भगवदनुभावेन अतिऋजुरित्यर्थः. तत्र स्थितं भगवन्तं वर्णयति **पुरुषोत्तमोत्तममि**त्यादिभिः. **पुरुषोत्तमा** ये सर्वपुरुषेष्वतिसुन्दराः सर्वलक्षणसम्पन्नाः तेभ्योऽप्युत्**तमः**. सौन्दर्यमुक्त्वा रूपमाह **सान्द्राम्बुदाभमिति.** अतिनिबिडो योऽयमम्बुदः तद्वद् आभा = कान्तिर्यस्येति नीलमेघश्यामम्. इदं भगवतः सहजं रूपमिति सत्त्वगुणेन[१] वा, पर्यवसानेन[२] वा, इन्द्रियाणां

लेखः

सान्द्राम्बुदाभमित्यत्र सत्त्वेत्यादि. सत्त्वस्य नीलत्वात् तस्याधारत्वेन ग्रहणे भगवत्यपि नीलत्वं प्रतिफलतीति. **पर्यवसानं** कालस्तथा च कलेर्नीलत्वात्

दर्शनसामर्थ्याभावेन(३) वा, शृङ्गारेण(४) वा, कामेन(५) वा, आनन्दस्वभावेन(६) वा, भगवद्रुच्या(७) वा, लक्ष्मीरुच्या(८) वा, तादृशस्यैव सहजत्वेन(९) वा नीलरूपो भगवानिति ज्ञातव्यम्. **सुष्ठु पिशङ्गं** पीतवर्णं **वासो यस्य.** एवं रूप-वस्त्रयोः परब्रह्म-शब्दब्रह्मता निरूपिता. एवं प्रमेय-प्रमाणे निरूप्य साधनं भक्तिं निरूपयति **प्रसन्नं वक्त्रं यस्य.** ज्ञान-विज्ञाने साधनान्तरं निरूपयति **रुचिरे आयते ईक्षणे यस्येति** ॥५४-५५॥

एवं सर्वसाधनसहितं भगवन्तं निरूप्य फलत्वाय प्रथमतो बहिःशोभामाह.

महामणिव्रातकिरीटकुण्डल - प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालया वृतम् ॥५६॥

महामणिव्रातेति. महामणीनां समूहः येषु तादृशाः **किरीटकुण्डलमुकुटा-**दयः तेषां **प्रभाभिः परितः क्षिप्ताः सहस्रं कुन्तला यस्य.** कुन्तलानां मध्ये रत्नानां तेजःप्रवेशान् नीलमणिखचितपदकवद्. भगवतः उपरिभागो वर्णितः, मध्यभागं वर्णयति **प्रकर्षेण लम्बाः चारव अष्टौ भुजा यस्य.** जानुपर्यन्तं लम्बाः. तादृशा अपि न केनाप्यंशेन विकृताः ये भगवतः अष्टौ गुणाः अणिमादिप्रकृतिरूपाः तेषां मूलभूता ये योगाः क्रियाशक्तिरूपाः तेषामाधारभूता भगवतो बाहवः. **कौस्तुभसहितः** कण्ठभागः, **श्रीवत्स एव लक्ष्म** चिह्नं यस्य, **वनमालया** च **वृत** इति जीव-माया-कीर्तय उक्ताः भगवदवलम्बाः ॥५६॥

लेखः

तदा भगवतोऽपि नीलं रूपमिति. चक्षुः रूपवद्द्रव्यं गृह्णत् तदभावे दूरं गतं सन् नीलमिव पश्यति इति. शृङ्गाररसस्य नीलरूपं, तदात्मकत्वाद् भगवतोऽपि तथेति. कामभावो नील इति. आनन्दः स्वभावत एव नीलः अतः पूर्णानन्दो भगवानपि नीलः इति. भगवतस्तादृशमेव रूपं रोचते, अतएव "रूपं नीलं रसो नवनीतस्य" (. । ।) इत्याद्युक्तमिति. लक्ष्म्या विद्युन्निभायाः स्वयोग्यं तादृशमेव रूपं रोचते इति. नीलं रूपं भगवतः सहजमेव, नात्रोपपत्तिर्मृग्या इति. एवमिति, रूपस्य नीलत्त्वेन वस्त्रस्यापि पीतत्वेन चेत्यर्थः. "आकाशशरीरं ब्रह्म" (तैत्ति.उप. १।६।३), "वासश्छन्दोमयं पीतम्" (भाग.पुरा. १२।११।११) इति वाक्याभ्यामिति भावः ॥५५॥

एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा एकाकी कदाचिद् भगवांस्तत्र तिष्ठतीति शङ्कां वारयितुं सुनन्दादीन् पार्षदप्रवरान् वर्णयति.

सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैश्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्द्धिभिर्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥५७॥

सुनन्दनन्दप्रमुखैरिति. **स्वपार्षदै**रनिरुद्धसेवकैः. एतै**र्निषेव्यमाण**मिति सम्बन्धः. **मूर्तिधरा**श्**चक्रा**दयः आधिदैविकाः.

चक्रं शङ्खस्तथा खड्गश्चर्म शार्ङ्गं गदा तथा ।
बाणः पद्मं तथान्यानि मुशलाद्यायुधानि हि ॥(७)॥
मूर्तिमन्ति हरेः पार्श्वे तिष्ठन्ति परितः सदा ॥

निजायुधान्यनिरुद्धायुधानि. ततः **पुष्ट्या**दिशक्तयः चतस्रो अनिरुद्धस्य वर्ण्यन्ते **पुष्टिः श्रीः कीर्तिः** अजा प्रकृतिरिति. **अखिला**श्च **ऋद्धयः** धनधान्यादिसम्पत्तीनाम् आधिदैविकरूपाणि. तैः सर्वैरेव **निषेव्यमाणम्**. एतावतापि साधारणमेवैश्वर्यमायातीति असाधारण-ब्रह्माण्डकोट्यैश्वर्यार्थमाह **परमेष्ठिनां पति**मिति. एकैकस्य ब्रह्माण्डस्य एकैकः परमेष्ठी; तादृशानां सहस्राणां पतिः ॥५७॥

तादृशं स्वांशस्य मूलभूतं दृष्ट्वा भगवता लोकशिक्षार्थं यत्कृतं तदाह **ववन्द** इति.

ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा ॥५८॥

आत्मानमेव भगवान् कृष्णो **ववन्दे**. ननु मूर्तिभेदस्य प्रत्यक्षतो दर्शनात् कथमात्मत्वमत आह **अनन्त**मिति, अनन्तमूर्तिर्भगवानेक इत्यर्थः. तर्हि खण्डशोऽनन्तता स्यादत आह **अच्युत** इति, स्वरूपात् केनापि प्रकारेण न च्युतः. **जिष्णु**रर्जुनश्च भगवद्**दर्शने**न **जातसाध्वसः ववन्द** इति सम्बन्धः. चकारात् तस्यापि भगवान् आत्मा. ततो भगवाननिरुद्धः किञ्चिदुक्तवानित्याह **तावाहे**ति. **भूमा** अनिरुद्धः. “यो वै वाचो भूमा

लेखः

ववन्द इत्यस्याभासे **स्वांशस्ये**ति. कृष्णे आविष्टस्य नारायणस्य मूलभूतमनिरुद्धमित्यर्थः ॥५८॥

तं न्यर्बुदम्'' (कृष्णयजु.ब्रा. ३।८।१६।३) इत्यत्र वाक्सम्बन्धिनं भूमानमुद्दिश्य न्यर्बुदत्वं विधीयते. अनिरुद्धो हि मानसः पुरुष इति शब्दात्मकत्वं तस्य सिद्धमिति अनिरुद्धस्य भूमत्वमिति. **परमेष्ठिनां प्रभुरिति** ब्रह्माण्डे समागच्छति तं प्रति तस्याज्ञा चलतीति पुत्राणां नयने निर्भयतया तथाकथने च हेतुरुक्तः. **बद्धाञ्जली** कृष्णार्जुनौ. अर्जुनं वञ्चयितुं भगवानपि तथानाट्यं करोति. अतएव कृष्णो भूमा च सर्वथैक इति अर्जुनाहंकारभङ्गार्थमेव – निरोधमध्यपातात् प्रपञ्चविस्मृत्यर्थं – तथा करोतीति सूचितम्. **ऊर्जया गिरा** लोकसिद्ध-वाण्यपेक्षयापि महत्या ॥५८॥

यथाकथञ्चित् किञ्चित्कौतुकं वक्तव्यमिति किञ्चिदाह.

द्विजात्मजामी युवयोर्दिदृक्षुणा मयोपनीता द्विजधर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥५९॥

द्विजात्मजामी इति. सन्धिरार्षः[१]. अर्जुनं प्रति सम्बोधनं वा, अदीर्घदर्शित्वं[२] ज्ञापयितुम्. द्व्यामुष्यायणत्वात् परम्परया व्यासात्मजत्वाच्च द्विजशब्दस्य ब्राह्मणपरत्वेऽपि न दोषः. **युवयोर्दिदृक्षुणेति** प्रयोजनम्. तयोर्महत्त्वात् साक्षादाकर्षणं न सम्भवति अतो **द्विजात्मजा** एव **मया** समानीताः. ननु आवां कौ, किमर्थं वा तव दिदृक्षा? तत्राह **द्विजधर्मगुप्तये अवतीर्णौ** मम **कला**रूपाविति. युवयोः स्वरूपं मम कलाया अवतारः अतः स्नेहाद् दिदृक्षा. कलावतारस्य प्रयोजनं **द्विजधर्मगुप्तय** इति. एको द्विजगुप्तये अपरो धर्मगुप्तय इति, उभयमुभयत्र वा, अनिरुद्धस्य धर्मरक्षा प्रयोजनमिति. द्विजैः स्वभावत एव धर्मः कर्तव्यः. तत्रावयोः किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह भूमेर्भाररूपान् **असुरान् हत्वेति. भूयस्त्वरया इह इतम्** आगच्छतं **मे** मम **अन्ति** समीपे. अनेनेदानीं स्थितिर्निषिद्धा ॥५९॥

न केवलं धर्मरक्षैव कर्तव्या अपि तु धर्मः प्रवर्तनीय इत्याह.

---

१. हे द्विजात्मज! परम्परया व्यासात्मज, अमी ब्राह्मण-ब्राह्मणशिशवः मया भूम्ना उपनीताः समीपे आनीताः –इति अर्जुनं प्रति सम्बोधनकल्पे अन्वयः - सम्पा.

२. अदीर्घदर्शिनम् इति मुद्रितेतरेषु सर्वेषु. दीर्घदर्शिनो हि द्विजाः भवन्ति, त्वन्तु अर्जुन! द्विजात्मज एव, न पुनः द्विज एव इति आशयः - सम्पा.

पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसङ्ग्रहम् ॥६०॥

पूर्णकामावपीति, स्वतो धर्मप्रयोजनाभावेऽपि करणावश्यकत्वाय पूर्णकामत्वम्. धर्मकरणसामर्थ्ये निस्पृहत्वे च हेतुः **नरनारायणावृषी** इति. नर-नारायणत्वात् पूर्णकामत्वम् ऋषित्वाद् धर्मकरणसामर्थ्यमिति. तथापि "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" (लौ.न्या.सा. ३५९) इति प्रयोजनं वक्तव्यमिति चेत्, तत्राह **स्थित्यै** अनिरुद्धः पालक इति जगतः स्थित्यर्थं धर्मकरणम्. ननु नारायणेनैव स्थितिः सम्पाद्यत इति भूभारहरणार्थमेव समागतयोः आवयोः किं धर्मेणेत्यत आह **लोकसङ्ग्रहमिति** ॥६०॥

ततो यज्जातं तदाह **इत्यादिष्टाविति.**

इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ।
ओमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ॥६१॥
न्यवर्तेतां स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम् ।
विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं यथा प्रभू ॥६२॥

उभयोः **कृष्णनामत्वं**[१] समानांशत्वाय. ननु भगवान् कथं भगवन्तमाज्ञापयति? तत्राह **परमेष्ठिनेति.** अयं भगवान् ब्रह्माण्डे रक्षार्थं प्रवृत्तः अतः स्वांशान् सर्वानेव तथा बोधयति. अतः स्वस्य रूपं तथैवेति **ओम् इति** तदुक्तं स्वीकृत्य **भूमानं** भगवन्तमानम्य यदर्थं गतौ तान् बालकानादाय **स्वकं धाम** द्वारकां **न्यवर्तेतां** व्याघुट्य समागतौ. ततो निःशङ्कौ **प्रहृष्टौ** गमनमार्गेणैव समागतौ. इयं च लीला अन्यैः समतां हीनतां च बोधयति. ततः प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं **विप्राय ददतुः पुत्रान्.**

लेखः

न्यवर्तेतामित्यत्र इयं च लीलेति. यथाऽन्ये देवा अंशतोऽवतीर्णास्तथा भगवानपीति **अन्यैर्देवैः समतामित्यर्थः. हीनतां चेति** अनिरुद्धादिति शेषः. तथापि नारायणांशस्यैव तत्र गमनाद् अंशैरंशिन्येवं कर्तव्यमिति लोकशिक्षार्थं कृतेति भावः ॥६१-६२॥

---

१. कृष्णसनामत्वम् इति ग-घपाठयोः - सम्पा.

एकः प्रार्थितो रक्षार्थं, सर्व एव च दत्ता इति महत्त्वम्. **यथारूपं** रूपमनतिक्रम्य. रूपशब्देन वयःस्वभावादिकमपि जन्मकालीनं गृह्यते. **यथा** यथावद् अन्यूनानतिरिक्तम्. सान्दीपिनिपुत्रवदेषामपि व्यवस्था. ननु कथमेवं प्रतिज्ञाय गतौ? तत्राह **प्रभू** इति. तथाकरणे वा हेतुः ॥६१-६२॥

एवमुभयोश्चरित्रमुक्त्वा तुल्यत्वमाशङ्क्य परिहरति **निशम्येति**.

निशम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।
यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥६३॥

अर्जुनस्तु यावद्गत्वा समागतः तावत् किमपि न ज्ञातवान्. पश्चाद् भगवता स्वरूपे निरूपिते पश्चात् तद् **वैष्णवं धाम** ज्ञातवान्. तदाह **निशम्येति**. **परमविस्मयं** प्राप्तः, विष्णोरेतादृशं स्थानमिति. स हि जानाति— यथेन्द्रादीनां स्थानं तथा विष्णोरपीति. पश्चान्मेरु-सर्षपयोरिवान्तरं ज्ञात्वा अत्यन्तं विस्मितः. नन्वेतावता किमर्जुनस्य सम्पन्नमित्याकाङ्क्षायामाह **यत्किञ्चित्पौरुषमिति**. स्वतःकरणेऽहंकारो भवति, अतो यत्किञ्चित् पूर्वं कृतवान् तद्, (**पुंसां!**) अन्यत्कृतं च, तत्सर्वं **कृष्णानुकम्पितमेव मेने** ॥६३॥

एवं निरोधे नन्दप्रभृति-अर्जुनान्ता निरुद्धाः. फाल्गुनान्ताश्चावेशाः अतस्तस्मिन्निरुद्धे निरोधान्तरस्य वक्तव्यत्वाभावाद् उक्तमात्रपरत्वं दूरीकर्तुं प्रकारमतिदिशति.

इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।
बुभुजे विषयान् ग्राम्यान् ईजे चात्यूर्जितैर्मखैः ॥६४॥

इतीदृशान्यनेकानीति, ज्ञानरूपाणि निरोधरूपाणि वा **वीर्याणि** अलौकिकसामर्थ्यानीह भूमौ माहात्म्यार्थं स्वासक्त्यर्थं च **प्रदर्शयन् ग्राम्यान् विषयान् बुभुजे**. अन्यथा लोकसमानधर्माभावे नाट्यं न भवेत्, विश्वासश्च

लेखः

इतीदृशानीत्यत्र ज्ञानेति, निरोधेति. ज्ञानस्याध्यायार्थत्वाद् अध्यायार्थानुवादपक्षे **ज्ञानरूपाणि**, निरोधस्य स्कन्धार्थत्वात् स्कन्धार्थानुवादपक्षे **निरोधरूपाणीत्यर्थः** ॥६४॥

न भवेत्, सर्वमुक्तिश्च स्यात्. अतो लौकिकं वैदिकं च लोकवत् कृतवान्, तदाह **ग्राम्यान् विषयान् बुभुजे, अत्यूर्जितैर्मखैश्च ईजे** इति. षड्वर्षपर्यन्तं सर्वानेव यज्ञान् कृतवानिति प्रसिद्धिः ॥६४॥

दानमपि यज्ञसदृशमिति तस्यापि लोके उत्कर्षहेतुत्वाद् विशेषेणाह.

प्रववर्षाखिलान् कामान् प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।
यथाकामं यथैवेन्द्रो भगवान् श्रैष्ठ्यमास्थितः ॥६५॥

प्रववर्षाखिलान् कामानिति, प्राणिमात्रस्य कामनां पूरितवान्, विशेषतो **ब्राह्मणादिषु**, तत्रापि **यथाकामं** यावता तासां कामः पूर्णो भवति. एतत्पूरणाभावे तदानीन्तना लोकाः सर्वे नष्टा एव भवेयुः इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **यथैवेन्द्र** इति. सर्वे प्राणिनः अन्नैरेव जीवन्ति; तदन्नं वृष्ट्यधीनम्. ततः पर्जन्यश्चेत् क्षणमात्रमप्युदासीनः स्यात् तदा प्राणिनो नष्टा एव भवेयुः. तथैव भगवान् इति अर्थो, भजनार्थं पर्जन्याद् विशेषमाह **भगवान् श्रैष्ठ्यमास्थित** इति. सर्वतः श्रैष्ठ्यं ज्ञापयन्नेव अखिलान् कामान् प्रववर्ष, येन कृतार्थता भवति ॥६५॥

एवं प्रजापालनमुक्त्वा विशेषतः स्वावतारकृत्यमुपसंहरन्नाह.

हत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वार्जुनादिभिः ।
अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥६६॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे षडशीतितमोऽध्यायः ॥

हत्वा नृपानधर्मिष्ठानिति, नृपाणां वधो न दोषायेति ज्ञापयितुं विशेषणम्. ते **नृपाः** कंसादयः. **अर्जुनादिभिः** भीष्मार्जुनभीमादिभिः कांश्चिद् **घातयित्वा** दुर्योधनादीन्, ततो निष्कण्टकभूमौ **अञ्जसा** सामस्त्येन **धर्मं प्रवर्तयामास.** तत्र हेतवो युधिष्ठिरादयः. भगवतः करणद्वयं— दुष्टनिवारणे **अर्जुनादिः**, धर्मकरणे (**धर्मसुतादिः !**) युधिष्ठिरादिरिति ॥६६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति षडशीतितमोऽध्यायः ॥

॥ षष्ठः स्कन्धादितः सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥

एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वरः ।
क्रीडायां प्राप्तसंसारः स्त्रीणामपि निवार्यते ॥(१)॥
ज्ञानं निरूप्य वैराग्यं निरूपयितुमुद्यतः ।
अद्भुतत्वाच्चरित्रस्य रागलीला निरूप्यते ॥(२)॥
स्वार्थं रतिः पूर्वमेव भगवत्त्वान्निवारिता[१] ।
स्त्रीणां तु रागसम्प्राप्तिस्ततोऽत्र विनिवार्यते ॥(३)॥
एकचत्वारिंशेऽध्याये भक्तानां सुखसिद्धये ।
परमोत्सवलीलां हि श्रीशुको वर्णयन् मुदा ॥(४)॥

पूर्वाध्याये सर्वलोकार्थं चरित्रमुक्तमुपसंहृतम्, इदानीं भक्तानां भगवति मनःस्थैर्यार्थं परमानन्दलीलां निरूपयति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः ।

लेखः

एकचत्वारिंशेऽध्याये **एवमिति.** स्कन्धारम्भे "निरोधो यौगिकश्च" (त.दी.नि. ३।१०।१५) इत्यनेन निबन्धे उक्तो निरोधः पूर्वाध्यायान्ते उपसंहृत इति तमनुवदन्ति **समुद्धृत्येति.** अस्मिन्नध्याये "निरोधोऽस्यानुशयनम्" (त.दी.नि. ३।१०।१४) इति लक्षणोक्त एव निरोधो निरूप्यते इत्याशयेनाहुः **क्रीडतीति.** अस्मिन्नध्याये निरूप्यते इति शेषः. **क्रीडायामिति.** अन्येषां प्रपञ्चविस्मृतिः पूर्वमुक्तैव, अत्र **स्त्रीणामपि संसारो निवार्यते.** परन्तु **क्रीडायामुक्तायां संसाररूपो** दोषः **प्राप्तः** अतः तदभावत्वेन प्रपञ्चनिवारणम् उच्यते, नतु यौगिकनिरोधाङ्गत्वेनेति भावः (१).

स्वार्थमिति. अतो भगवतो विषयरागो न प्राप्त एव किन्तु **स्त्रीणां** प्राप्तः. सोऽपि "कृष्णस्यैवं विहरतः" (श्लो. १३) इतिश्लोकोक्त-गत्यादिभिर्निवार्यत इत्यर्थः (३).

---

१. निरूपिता इति क-ग-घ-सं.पाठेषु.

सर्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥१॥
स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिः नवयौवनकान्तिभिः ।
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः ॥२॥

सुखं स्वपुर्यामिति, स्वभावतोऽपि सर्वचिन्ताभावः स्वपुर्यां भवति, तत्रापि **द्वारकायाम्**. **श्रियः पतिरिति** विलाससाधनसम्पत्तिरुक्ता. लौकिकीमपि सम्पत्तिमाह **सर्वसम्पत्समृद्धायामिति**. कदाचित् साधारणोपद्रवसम्भावनायामपि न स्वप्रयत्नो अपेक्ष्यते, **वृष्णिश्रेष्ठै**रेव तन्निवृत्तिसम्भवाद्, असाधारणानां पूर्वमेव निवृत्तत्वात्. मुख्यभोगसाधनानि निर्दिशति **स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिरिति**. पुरुषश्चैतन्यात्मकः काममयः. इन्द्रियाणि तद्दुःखनिवर्तकानि करणानि; प्रवृत्त्यर्थं तेभ्यः सुखदानं नान्तरीयकम्. तत्रात्मकामः स्त्रीभिरेव पूर्यते. तत्र स्त्रीणां षडिन्द्रियसुखदातृत्वाय विशेषणानि **उत्तमवेषाभिरित्यादीनि**. अलौकिकवेषेण मनो-दृष्टिप्रीतिः, **नवयौवनकान्तिभिरिति** स्पर्श-रसयोः, **हर्म्येषु कन्दुकादिभिः क्रीडन्तीभिरिति** शब्द-घ्राणयोः. चित्त-चक्षुषोर्वा; तदा आद्येन व्यत्यासः. अनेन विभावा अनुभावाश्चोक्ताः. **तडिद्द्युभिरिति** इतररागविस्मारणम्.

लेखः

सुखं स्वपुर्यामित्यत्र तत्रापीति. मोक्षस्य परमानन्दस्य द्वारभूतायामित्यर्थः, द्वारमेव द्वारिकेति व्युत्पत्तेः; स्वार्थे कः. चतुर्थचरणस्यार्थमाहुः **कदाचिदिति** ॥१॥

स्त्रीभिश्चेत्यत्र नान्तरीयकमिति. इन्द्रियद्वारा आत्मनि सुखं भवतीत्यर्थः. **स्त्रीभिरेवेति**, "पुरुषोऽर्धवृगल" (बृहदा.उप. १।४।३) इति श्रुतिसिद्धत्वादिति भावः. **स्पर्शरसयोरिति**. मृदुस्पर्शोऽधररसश्च यौवने विशिष्टोऽनुभूतो भवतीति तयोरनुभवः तेन त्वग्-रसनयोरिन्द्रिययोः प्रीतिरिति शेषः. **शब्दघ्राणयोरिति**. घ्राणं गन्धः. क्रीडादर्शनात् तद्वर्णनरूपः काव्यादिशब्दः कन्दुकानां पुष्पमयत्वाद् गन्धश्च विशिष्टोऽनुभूतो भवतीति तयोरनुभवः तेन श्रोत्र-नासिकयोरिन्द्रिययोः प्रीतिरिति शेषः. **व्यत्यास** इति **उत्तमवेषाभिरित्य**नेन शब्द-घ्राणयोरिति. तत्राप्युत्तमवेषदर्शने काव्यं, पुष्पाणामपि वेषे स्थितत्वाद् गन्ध इति तथैवार्थः. **इतर** इति, तडिताम् इतरविस्मारकत्वादिति भावः. विशेषणचतुष्टयस्य

धर्मादिफलरूपत्वं वा तासां निरूपितम्. एवं सर्वपुरुषार्थरूपाः स्त्रियः भगवदर्थं निरूपिताः. साधारणीनां नागरीणां वा वर्णनम् ॥१-२॥

ततः केवलभोगस्थानत्वे गन्धर्वादिविमानवत् लोकोत्कर्षस्तथा न भविष्यतीति सेनां वर्णयति.

नित्यं सङ्कुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ॥३॥
उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥४॥
रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः ।
तावन्ति बिभ्रद् रूपाणि तद्गृहेषु महर्द्धिषु ॥५॥

नित्यं सङ्कुलमार्गायामिति, आस्रवन्मदैर्गजैः सर्वदैव सङ्कुला मार्गा यस्याः. ततो **भटा** अपि **स्वलङ्कृता, अश्वा रथाश्च**. एवं चत्वार्यङ्गानि उत्कृष्टानि निरूपितानि ॥३॥

एवं शौर्यसिद्ध्यर्थं सेनां निरूप्य भोगसिद्ध्यर्थमुद्यानानि निरूपयति. **उद्यानं** पुष्पप्रधानम् **उपवनं** फलप्रधानं, तै**राढ्या** सम्पन्ना. कामकलायां गन्धोत्कर्षमुक्त्वा शब्दोत्कर्षमाह **पुष्पितद्रुमराजिषु निर्विशन्तो** ये **भृङ्गाः विहगाश्च तैर्नादितायाम्**. राजिपदेन [१]एकैकस्यां पङ्क्तौ एकजातीया एव विहगाः प्रविशन्तीति ज्ञापितम्, अन्यथा विजातीयशब्दसाङ्कर्ये कोलाहलः स्यात्. **समन्तत** इति पूर्वोक्ताः सर्वत्र ज्ञातव्याः ॥४॥

तादृशस्थाने **षोडशसहस्रस्त्रीणाम् एक एव वल्लभो रेमे**. सर्वासामेकत्रैव स्नेहः. षोडशविकारेषु प्रतिविकारं मनसः सहस्रधा सुखसिद्ध्यर्थं षोडशसहस्राणि. तावतीनामपि धर्मसाधकत्वमपीत्याह **पत्नीनामिति**. ननु ✻ भगवान् स्वकामनापूर्त्यर्थं न प्रवृत्तः किन्तु स्त्रीणां कामनापूर्त्यर्थं; तदेवं प्रकारे

लेखः

तात्पर्यान्तरमाहुः धर्मादीति. धर्मार्थ-काम-मोक्षफलरूपत्वमित्यर्थः. सङ्ख्यातात्पर्यत्वान्नातीव विवेचनीयम् ॥२॥

---

१. एकस्याम् इति मुद्रितपाठः. गृहीतपाठस्तु ग-घपाठानुरोधात् - सम्पा.

सर्वथा कामो न पूर्यते. एकगुणस्यापि कामस्य पूर्त्यर्थं बह्व्योऽपेक्ष्यन्ते; अष्टगुणकामानां तु कथमेकेन पूर्तिः ? तत्रापि बह्वीनामेक * इति दोषं व्यावर्तयितुमाह **तावन्ति बिभ्रद् रूपाणीति**. यावत्यः स्त्रियः तावन्ति रूपाणि कृत्वा रेमे, तासां कामनापूर्त्यर्थमेव तानि रूपाणि जातानीति. एकस्याः कामः अष्टगुणोऽप्येकेन पूर्यते, तदर्थमेव प्राकट्यात्. सर्वासामेकत्र रमणे मात्सर्यकृतः क्लेशो भवेत्, तदर्थमाह **तद्गृहेषु महर्द्धिष्विति**, तासामेव गृहेषु सर्वसमृद्धियुक्तेषु. एकैकं हर्म्यं एकैकस्यै दत्वा तत्र सर्वसमृद्धिं सम्पाद्य स्वयमेकरूपेण तत्र प्रविष्टः सम्यक् = यावता सुखस्फूर्तिर्भवति तथा रेमे इत्यर्थः ॥५॥

एवं प्रत्येकरमणमुक्त्वा गृहस्थतुल्यता जातेति विशेषरमणकथनार्थं समुदायेनापि रमणमाह **प्रोत्फुल्लेति** सप्तभिः.

प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लार-कुमुदाम्भोजरेणुभिः ।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च ॥६॥

प्रकर्षेण उत्फुल्लाः जलपुष्पजातयः **कह्लार-कुमुदा-ऽम्भोजजातयः** सन्ध्या-रात्रि-दिनविकासयुक्ताः तासां **रेणुभिः वासितानि** यानि **अमलतोयानि** तद्युक्तेषु भगवान् रेमे इति सम्बन्धः. **कूजतां द्विजानां कुलानि यत्र.** गन्धसम्पत्तिः शब्दसम्पत्तिश्च तत्रोक्ता, स्पर्श-रसौ तत्र सहजौ, रूपं तु सिद्धमेव ॥६॥

विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः ।
कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम् ॥७॥

तत्र **अम्भो विगाह्य विजहार** जलक्रीडां कृतवान्. ननु जलक्रीडायाः क्वोपयोग इति चेत्, तत्राह **महोदय** इति. महानभ्युदयो यस्य तेनैवं

लेखः

प्रोत्फुल्लेत्यत्र. एतादृशेषु गृहेषु रेमे इति पूर्वेणैवान्वयः; अतएवाभासे **रमणमाहेत्युक्तम्. स्पर्शरसाविति.** "गृहिणी गृहमुच्यते" (महाभा. १२।३००।६४) इति गृहिण्या गृहस्वरूपत्वात् तत्रोत्तमस्पर्शः रसश्च सहजः सिद्ध एवेत्यर्थः. **रूपं त्विति,** "तावन्ति बिभ्रद् रूपाणि" (श्लो. ५) इत्युक्तत्वादित्यर्थः ॥६॥

कर्तव्यमित्यर्थः. तत्रापि शोभामाह **कुचकुङ्कुमैरालिप्ताङ्ग** इति. दूरीकरणार्थं वा जलावगाहनम्. तत्रत्यरसस्य स्वरूपमाह **योषितां परिरब्ध** इति. योषितां सम्बन्धी ताभिश्च परिरब्ध इत्यर्थः ॥७॥

तदा प्राकाराद् बहिःस्थितै रसोत्पादनार्थं गानस्तोत्रादिकं कर्तव्यं, तदपि कृतवानित्याह.

उपगीयमानो गन्धर्वैः मृदङ्ग-पणवानकान् ।
वादयद्भिर्मुदा वीणाः सूत-मागध-बन्दिभिः ॥८॥

उपगीयमानो गन्धर्वैरिति, उपगानं = तन्नामगीतानां गानम्. वाद्यमप्याह **मृदङ्गपणवानकान् वीणाश्च वादयद्भिरिति**. अन्येषामपि प्रशंसामाह **सूतमागधबन्दिभिरिति** ॥८॥

एवं बहिरुद्दीपनादिकमुक्त्वा स्त्रीणां स्वैरलीलामाह.

सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स्म रेचकैः ।
प्रतिसिञ्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ॥९॥

सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिरिति. अच्युतत्वात् बह्वीभिरपि न भगवतः कामस्य कापि हानिः. **रेचकैः** चर्मवंशनिर्मितैः. (**हसन्तीभिः** !) स्वभावतोऽपि तासां हास्यं जयाद् वा; उभयथापि तासां परमसन्तोषः उक्तः. अत्यन्तं स्पष्टः कामः ईश्वरस्य निरूपयितुमनुचितमिति **स्मे**त्याह. ताः **प्रतिसिञ्चन् विशेषेण चिक्रीडे. यक्षाः** कामरसकलहे निपुणाः ; तथा प्रकृते स्त्रीणां भगवतश्चेति एकदेशप्रसिद्धिः माहात्म्यं सूचयतीति अयुक्तोऽपि कुबेर-यक्षिणीनां दृष्टान्तभावो निरूप्यते, यथा "समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव" (रामा. १।१।१७) इति वाक्यानि ॥९॥

ततस्तासां रसाभिनिवेशेन विस्मृतदेहानां कामलीलामाह.

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः
सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः ।
कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगुह्य[१]
जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः ॥१०॥

ताः **क्लिन्नवस्त्रेति. क्लिन्नवस्त्रेण** कृत्वा **विवृता** उद्घाटिताः

१. -जिहीर्षुतया- इति विजयध्वज-वीरराघवीयौ पाठौ - सम्पा.

उरुकुचप्रकृष्टदेशाः यासां; तादृश्योऽपि **सिञ्चन्त्यः. उद्धृतानि बृहत्कबरेभ्यः प्रसूनानि** यासाम्. यथा ताः प्रसूनार्थं भगवत्समीपमायान्ति तथा भगवान्– विवृतावयवाअपि सिञ्चन्त्य[१] एव आसक्ता जाताः– तदा केशपाशेभ्यः पुष्पाणि गृहीतवानित्यर्थः. अनेन रेचकान्यपि गृहीतवानिति लक्ष्यते. ततो भगवानुच्चहस्तः पुष्परेचकानि गृहीत्वा यदा स्थितः तदा **रेचकजिहीर्षया कान्तमुपगुह्य** मध्ये **जातस्मरेण** य **उत्सव** आसीत् परमानन्दस्तेन **लसद्वदनाः** सत्यः मध्ये नीलमणेः परितः पद्मरागाणीव **विरेजुः** ॥१०॥

एवं तासां सुखार्थमतिक्रमेऽपि तासां सौन्दर्यमिव भगवतोऽपि सुखमेव जातमित्याह **कृष्णस्त्विति.**

कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्
क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ।
सिञ्चन् मुहुर्युवतिभिः परिषिच्यमानो
रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥११॥

तासां स्तनेषु विषज्जितं यत् **कुङ्कुमं** तद्युक्ता **स्रक्** माला यस्य तादृशो जातः. ततः **क्रीडायां** यो**ऽभिषङ्गः** आसक्तिस्तेन **धुता** मुक्ताः **कुन्तलवृन्दानां बन्धाः** यस्य. नानाविधो बन्धः कौतुकार्थं कृत इति प्रतिभाति. यथा तासामवयवप्राकट्यं तथा भगवतोऽपि कुङ्कुमसम्बन्धः केशपाशविमोकश्च. एवं तुल्यतया स्वयं **सिञ्चन्** अविचारार्थं तादृशदशायुक्ताभिः **परिषिच्यमानः रेमे.** अमर्यादया रमणं प्रतिपादयन्, गोपीष्विव[२], दृष्टान्तमाह **करेणुभिरिवेभपतिरि**ति. करिणीभिर्वेष्टितो यथा गजेन्द्रो भवति ॥११॥

एवं समुदायवर्णनमुक्त्वा एतस्याः लीलायाः षड्गुणवत्त्वं प्रतिपाद्य तत्रोपजीविनां दानेन तदुपसंहरति.

लेखः

ताः क्लिन्नेत्यत्र प्रसूनार्थमिति. प्रकृष्टा सूना = जलेन हननं तदर्थं, भगवज्जयार्थमित्यर्थः. **अनेनेति,** जय-पराजयविचारकथनेनेत्यर्थः ॥१०॥

---

१. सेचन इति मुद्रितपाठः, गृहीतस्तु ग-घपाठानुरोधात् - सम्पा.

२. द्रष्टव्य "गजीभिरिभराडिव" (भाग.पुरा. १०।३०।२३) - सम्पा.

नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् ।
क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात् तस्य च स्त्रियः ॥१२॥

नटानां नर्तकीनां चेति. गीततालानुसारेण ये नृत्यन्ति ते **नटाः**, केवलनृत्येन रसाभिनयकर्त्र्यः **नर्तक्यः**. **नटा** एव स्त्रीपुरुषा वा. चकारात् तत्सम्बन्धिभ्योऽपि भगवान् दत्तवान्. **गीतवाद्योपजीविनो**ऽन्ये. **क्रीडासाधनानि अलङ्कारा वासांसि** च. **क्रीडार्थमेव** वा योऽ**लङ्कारः** तदर्थं च यानि **वासांसि**. तानि कामशास्त्रे निरूपितानि. तानि सर्वाणि कालान्तरोपभोगार्थं न स्थापितानि किन्तु बन्दिभ्यः **(कृष्णः!) अदाद्** भगवान् दत्तवान्, तथा **तत्स्त्रियो**ऽप्यदुः ॥१२॥

एवं साधारणासाधारणलीला निरूपिताः. एतन्निरूपणस्य लौकिकफल-व्यावृत्त्यर्थं फलान्तरमाह.

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः ।
नर्मकेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥१३॥

कृष्णस्यैवं विहरत इति, **एवं** सामान्यविशेषप्रकारेण **विशेषेण** चित्तं **हरतो** विहारं कुर्वतः. चतुर्विधैर्भावैः स्त्रीणामन्तःकरणचतुष्टयं हृतमित्याह. आदौ **गतिः** सम्मुखमागमनं, ततो **आलापः**, ततो जाते वाग्बन्धे कामकलाभिरीक्षणं, ततो भावप्रकाशिकानि **स्मितानि**. ततः कायिकादिविलासाः, ततः **नर्म** परिहासोक्तिः, **केलिः** क्रीडा मानसी, **परिष्वङ्गा** (कायिकानि!) द्वादशविधालिङ्गनानि अष्टविधानि वा —एवं सर्वप्रकारैः **स्त्रीणां धियः** अन्तःकरणानि **हृतानि. किलेति** प्रसिद्धिः पूर्ववद्— एतानि प्रपञ्चविस्मृतौ साधनान्येव जातानि, नतु प्रपञ्चे भावसाधकानीत्यर्थः ॥१३॥

अस्मिन्नर्थे प्रमाणत्वेन तासां वाक्यानि निरूपयितुमाह.

लेखः

नटानामित्यस्याभासे षड्गुणवत्त्वमिति. समुदायरमणस्य षड्भिः श्लोकैर्निरूपणादिति भावः ॥१२॥

कृष्णस्यैवमित्यस्याभासे साधारणासाधारणेति. प्रत्येक-समुदाय-लीलामित्यर्थः.

ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडम् ।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥१४॥

ऊचुर्मुकुन्दैकधिय इति. प्रपञ्चं विस्मृत्य काममपि विस्मृत्य **मुकुन्दे** मोक्षदातर्येव **एका धीर्यासां** तादृश्यो भूत्वा **गिर ऊचुः** यथा स्वहृदयख्यापिकाः. तर्हि ब्रह्मविदामिव तासां वाक्यानि भवन्तीत्याशङ्क्याह **उन्मत्तवदिति.** असम्बद्धानि वाक्यानि. उन्मत्तो गन्धर्वगृहीतः तथा भगवद्गृहीताः, नतु लौकिकाः स्वस्थाः. तत्रापि **जडं** यथा भवति अचेतनादिषु चेतनधर्मारोपात्. ननु केवलप्रपञ्चविस्मृतिः जगति जडवन्निन्दाहेतुरत आह **चिन्तयन्त्यो अरविन्दाक्षम्** इति. अनेन पूर्णो हेतुः सिद्ध इत्युक्तं भवति. **तानि** निरोधार्थं **गदतः** कथयतो **मे** मत्तः **शृणु.** कदाचित् प्राकृतत्वशङ्का स्यात् तदर्थं सर्वथा श्रोतव्यमित्यर्थः ॥१४॥

ता गिर आह दशभिः **कुररीति.**

कुररी चक्रवाकोऽब्धिश्चन्द्रमा मलयानिलः ।
मेघ-कोकिल-केल्यद्रितन्नद्यो हंस एव च ॥(५)॥
दशधा भगवत्स्नेहैरुक्ताः स्त्रीभिः स्वभावतः ।
मनसैव तिरोधानमुक्त्यैवोक्तं न पूर्ववत् ॥(६)॥

लेखः

ऊचुरित्यत्र **यथेति,** यथावदित्यर्थः. **ब्रह्मविदामिवेति.** यथा ब्रह्मविदां वाक्यानि जगतो ब्रह्मत्वबोधकानि यथार्थानि तथैतासामपि वाक्यानि अचेतनानां चेतनत्वबोधकानि यथार्थानि भविष्यन्तीत्यर्थः. **पूर्णो हेतुरिति,** प्रपञ्चविस्मृति-पूर्विका भगवदासक्तिः स्कन्धोक्तलीलाफलं सिद्धमित्यर्थः. **निरोधार्थमिति** श्रोतॄणामिति शेषः ॥१४॥

कुररीत्यत्र दशधेति. सगुणनिर्गुणभेदेन दशप्रकारकैः **भगवत्स्नेहैः** करणैः **स्त्रीभिः** कर्त्रीभिः पूर्वोक्ता **उक्ता** इत्यर्थः. ननु मानसतिरोधानमिदमिति कथमवगम्यते, तथाज्ञापक-वाक्याभावादित्यत आहुः **मनसैवेति.** एतादृश-**वाक्योक्त्यैवोक्तं** सूचितमित्यर्थः. **न पूर्ववत्** यथा कायिकतिरोधाने "तत्रैवान्तरधीयत" (भाग.पुरा. १०।२६।४८) इति स्पष्टमुक्तं तथा नेत्यर्थः.

वाचिकेऽपि तिरोधानं वाक्यैरेव निरूपितम् ।
विद्यमानेऽतिसम्भोगसौख्यदेऽपि विशेषतः ॥(७)॥
तत्सङ्गलालसाः प्रोक्ता दृढासक्तिप्रसिद्धये ।
आसक्तिर्गृहकार्यादि-निद्रादि-विनिवृत्तये ॥(८)॥
स्वधर्मान् स्वप्रियं चापि कल्पयित्वाखिलेषु हि ।
बहिस्तत्त्वं निरीक्ष्यैवं प्रलपन्त्यस्तथा जगुः ॥(९)॥

॥ महिष्य ऊचुः ॥

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरोऽगुप्तबोधः ।
वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षणेन ॥१५॥

प्रथमं स्वाभिलषित-लीलानन्तरं भगवति शयनलीलायामारब्धायां बहिः स्वाभाविकं कुररीविलापं श्रुत्वा राजसराजसभावापन्नाः महिष्यः – कुररीविलापेन भगवत्प्रबोधमाशङ्कमानाः स्वकामलीलां परित्यज्य भगवति परमस्नेहेन निद्राभङ्गो मा भवत्विति कुररीनिवारणार्थं प्रवृत्ता– दुःखितां कुररीं दृष्ट्वा आश्वासनार्थं सम्बोधनं कुर्वन्त्य ऊचुः हे **कुररीति**. भगवद्व्यतिरिक्तं सर्वं जगत् स्त्रीरूपमेवेति ताः पश्यन्ति– अतएव सर्वासां भगवानेवैकः पतिरिति,

लेखः

वाचिकेऽपीति. तत्रापि तादृश**वाक्यैरेव** सूचितं, न पूर्ववत् स्पष्टमुक्तमित्यर्थः. मानसतिरोधानस्वरूपमाहुः **विद्यमान** इति. **आसक्तिरिति**. अन्यत्र**आसक्तिः गृहकार्यादिः निद्रादिश्चै**तेषां **विशेषेण निवृत्त्यर्थं स्वधर्मान्** वियोगजनित-विलापादीन् **स्वप्रियं चाखिलेषु** कुरर्यादिषु **कल्पयित्वा**ऽस्मद्धर्मा एव विलापादयः कुरर्यादिषु अस्मत्प्रिय एव च तेषां प्रिय इति कल्पयित्वा **बहिरपि तत्त्वं** तेषां स्वाभाविक-विलापादि-धर्मवत्त्वं **निरीक्ष्य** प्रलापयुक्ता**स्तथा** गानं कृतवत्य इत्यर्थः (६-९).

स्वकामलीलामिति. यद्यपि ताभिर्भगवत्प्रबोधे पुनर्लीला सम्पद्यते तथापि **परमस्नेहेन** स्वस्य तादृशलीलाकाङ्क्षां **परित्यज्य निवारणार्थमेव प्रवृत्ता** इत्यर्थः. यद्यपि कुरर्यादयो न सन्निहिताः तथापि "उन्मत्तवज्जडम्"

अतो या काचिद् दुःखं प्राप्नोति तत्र भगवद्विरह एव हेतुः, अन्यद्दुःखं भगवतैव दूरीक्रियत इति– अत इयमपि स्त्री भगवद्विरहाकुला भगवता सम्भोगार्थमानीय कटाक्षविशेषैः[१] हृता अतो विलापं करोतीति निश्चित्य तां प्रत्याहुः. हे **कुररि,** अस्माभिर्ज्ञातं, त्वं कोलाहलं करोषि तदयुक्तमिति निवारयितुमागताः. त्वं किं **विलपसि** हा कष्टमित्यर्थः. विलापो निवारयितुं न शक्यते, कारणदुःखस्य सञ्जन्यमानत्वाद्, वेदनावदिति भावः. निद्राभाव-शयनाभावौ स्वतुल्यतया अनुवदन्ति त्वं किं **वीतनिद्रा** नापि शयनमपि करोषि. निद्राभावेऽपि काश्चित् पतित्वा तिष्ठन्ति, तदपि तव नास्तीत्यर्थः.

यदा देहेऽतिचिन्ता स्याद् धातुवैषम्यमेव वा ।
भयादिना विशेषेण तदा निद्रा न जायते ॥(१०)॥

भगवान् दुराराध्यः कथं वश्यो भविष्यतीति महती चिन्ता.

यदाङ्गेषु समस्तेषु तापोऽनिर्वृत्तिरेव वा ।
तदैकत्र जनः स्थातुं न शक्नोति कथञ्चन ॥(११)॥

तापश्च विरहात्. एतावपि स्वधर्मौ तर्हि अस्मद्दुःखं भगवते निवेदयन्त्विति चेत्, तत्राहुः **स्वपितीति.** अयं च स्वापः विहितकाले तस्मादावश्यकत्वान्न निषेद्धुं शक्यः, तदाह **रात्र्यामिति.** ननु भगवान् गतनिद्रः परब्रह्मरूपः कथं निद्रां प्राप्नोतीति चेत्, तत्राहुः **जगतीति.** सर्वत्र जगति भगवानेव शेते; न ह्यन्यो निद्रासुखभोक्ता भवति. सर्वेषां प्राणिनां सुखार्थं वा

लेखः

(श्लो. १४) इत्युक्तत्वात् सन्निहितत्वेनैव जानन्तीति भावः. **अत इयमपीति,** दुःखे भगवद्विरहस्यैव हेतुत्वाद् इत्यर्थः. **हृतेति.** मनसि हृते इयमेव हृतेति भावः. **यदाङ्गेष्विति. न शेषे** इत्यनेनैकत्र पतित्वा न तिष्ठतीति सूचनात् तदर्थोऽयम्. **स्वधर्माविति,** महिषीणां धर्मावित्यर्थः. बहिर्धर्मो विलापस्तु स्पष्ट एव, निद्राभाव-स्थैर्याभावकथनेन आन्तरधर्मावेतावपि (विरहतापौ) सूचितौ इत्यपिशब्दः. **तर्हीति,** समानधर्मत्वेन सखित्वे सतीत्यर्थः. **नलिनेति.**

१. विशिखैः इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

जगति जगन्निमित्तं निद्रां विस्तारयतीत्यर्थः. तर्हि तन्निद्रया लोकार्थं स्वीकृतया स्वात्मापि मुह्येदत आह **अगुप्तबोध** इति, निद्रायामपि न गुप्तो बोधो यस्य. तर्हि कथं [१]तत् प्राप्यत इत्याशङ्कायामाहुः **ईश्वर** इति. ईश्वरो लीलयापि सुप्तो बोधयितुमशक्यः तस्मादस्माभिः सहेष्टगोष्ट्या दुःखं दूरीकुर्वित्याहुः **वयमिवेति**. हे **सखि** तुल्यव्यसने. **कच्चिदिति** कोमलप्रश्ने. **गाढनिर्भिन्नचेता** इति दुःखानुसारेण हेतुं महान्तं कल्पयन्ति. पीडा कामकृतैवेति कामः पुष्पायुध इति भगवन्नेत्रमपि नलिनरूपमुच्यते. नन्वविकसितं पुष्पं किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह **नलिनसदृशे नयने यो हाससहित** इति. ननु हृदये वेधव्यतिरेकेण पीडा न भवतीत्याशङ्याह **ईक्षणेनेति**. ईक्षणं तीक्ष्णबाणस्थानीयम्. ननु तथापि दयया न मारयिष्यतीति चेत्, तत्राह **उदारेति. उद् ऊर्ध्वं आरा यस्य,** उद्गता वा [२]आराः अतः स्वयं पीडितः अन्यानपि पीडयिष्यति. किञ्च **लीलायुक्तं** निरीक्षणम्; क्रीडायामासक्तो न कस्यापि सुखं विचारयति. अतस्तेन गाढं यथा भवति तथा निर्भिन्नम्.

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्भक्तियोगस्तथैव च ।
माया-वैभवकालौ च सतां हितकरौ तथा ॥(१२)॥
पञ्चैते हरिसम्बद्धा यस्यान्तर्हृदये सदा ।

लेखः

यो भगवान् **नलिनसदृशे नयने हाससहित** इत्यर्थकथनं, विग्रहस्तु— नलिननयने हासो यस्य तादृशस्य यदुदारलीलेक्षणं तेनेति. **उद्गता वेति**. अस्मिन् पक्षे तादृशहासश्चासावुदारश्चेति भगवत एव विशेषणद्वयम्. **उद्गता** ऊर्ध्वभूताः प्रबलाः कटाक्षैः पीडाजनका **दारा** यस्येति. उदिति तकारलोपः पृषोदरादित्वात्. **ज्ञानेति. ज्ञानशक्तिः** ईक्षणं, **क्रियाशक्तिः** लीला, **भक्तियोगः** उदारत्वं, मुख्यभक्तेस्तादृशत्वात्, **माया** हासः, **वैभवकालो** नयनयोर्नलिनसादृश्यकथनेन सूचितो गलन्मकरन्दत्वस्थानीय-नानाविधसंकेत-सूचनकालः — **एते पञ्च हरिसम्बद्धा** भगवत्सम्बन्धिनो **यस्यान्तर्हृदये सदा विराजन्ते** य

---

१. कथं न ज्ञायते इति मुद्रितपाठः, गृहीतस्तु क-ग-घ-संपाठानुरोधात् - सम्पा.

२. दाराः इति मुद्रितपाठः, गृहीतस्तु सं.पाठः - सम्पा.

विराजन्ते स्वभक्तेषु भक्तोऽनिर्वृत उच्यते ॥(१३)॥

एवं तस्या दुःखमनुवादेन अङ्गीकृतम् ॥१५॥

अन्याः पुनः राजससात्त्विक्यः चक्रवाकं पूर्ववन्निवारयितुं प्रवृत्ता आहुः **नेत्रेऽनिमीलयसीति.**

नेत्रेऽनिमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धु-
स्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।
दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां
किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम् ॥१६॥

तासामवयवविशेषे खेलनार्थं चक्रवाकौ स्थापिताविति मत्वा तौ द्रष्टुं काचित् चक्रवाकी समागता ततस्तां निकटे दृष्ट्वा– सापि रोदितीति विचार्य– तस्या अपि दुःखं दूरीकर्तुं क्लेशमनुवदन्ति. निद्राभावेऽपि कश्चिन्नेत्रे निमील्य तिष्ठति, त्वं तु तदपि न करोषीति **किमनीमिलयसीति** प्रश्नः. **नक्तमिति** निमीलनस्यैवायं काल इति निरूपितम्. स्वास्थ्ये सति निमीलयति प्राणी; **त्वं चादृष्टबन्धुः** मम भर्ता क्व वर्तत इति तं द्रष्टुं न निमीलनं करोषि. अतएव **त्वं रोरवीषि** अत्यन्तं शब्दं करोषि **करुणं** यथा भवति तथा. **बतेति** खेदे. तत्रेदानीं द्वितीयमपि तथैवागतं चक्रवाकमुपलभ्य प्रायेणेयं– भक्ता[1] भर्ता त्वस्या वर्तत एवेति इयं– भगवतो दासी भवति, ततो दिनान्तसेवां कृत्वा यथा वयं दास्यो जाताः तथेयमपि सेवाफलं वाञ्छति. तच्च फलं प्रसादरूपम्. प्रसादश्च स्वचरणसमर्पितमालां चेत् प्रयच्छति तदा भगवान् सेवां स्वीकृतवानिति निश्चित्य तां भक्तिरूपां मालां शिरसि

लेखः

एतैर्गाढनिर्भिन्नचेताः स **भक्तः स्वभक्तेषु** मध्येऽ**निर्वृत उच्यत** इत्यर्थः ॥१५॥

नेत्रे इत्यत्र **मत्वेति.** एतस्य **अनुवदन्तीत्यनेन** समानकर्तृकत्वम्. **तत्रेति,** भावितचक्रवाकीस्थले चक्रवाकीसकाशाद् **द्वितीयं** चक्रवाक**मप्यागतं** **भावनयोपलभ्येत्यर्थः.** तथाच भर्तर्यपि सति रोरवणात् वक्ष्यमाणैवाभिलाषेति

१. भक्तो इति कपाठे - सम्पा.

स्थापयित्वा कृतार्थतामापद्यते. इयं च तन्न प्राप्तवती अतस्तत्कामनया खेदं करोतीत्याहुः **वयमिव अच्युतपादजुष्टां स्रजं कबरेण वोढुं (स्पृहयसे !)** इच्छसि. कबरादयः स्वधर्माः ॥१६॥

राजसतामस्यस्तु समुद्रध्वनिं श्रुत्वा तमपि पूर्ववत् सम्बोधयन्ति.

भो भो सदा निष्टनसे उदन्वन्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।
किं वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ॥१७॥

भो भो इति द्विरुक्तिः श्रवणार्थम्. त्वं यत् **सदा निष्टनसे** 'स्तन' शब्दे नितरां शब्दं करोषि तेन ज्ञायते रात्रौ त्वमपि न शेषे. तत्र शयनाभावे हेतुः हे **उदन्वन्निति,** यस्तु जलवान् भवति स शीतार्तो भवति. अतएव **अलब्धनिद्रः** न कुतश्चित् तेन निद्रा प्राप्ता प्रत्युत **प्रकृष्ट जागर** एव प्राप्तः. यत्र हि जलं तिष्ठति तत्र लक्ष्म्याः उत्तमं रमणं न भवतीति [1]इन्द्रश्चेन्द्राणी च नान्तस्तत्र भोगं कुरुतः. अतस्तादर्थ्याभावात् प्रजागर एव प्राप्तः, नतु निद्रा तेन प्राप्ता. ननु तथाप्याक्रोशे को हेतुः ? तत्राहुः **किं वा मुकुन्देति.** पूर्वं यथा भगवानस्मद्धृदये शेते एवं समुद्रेऽपि

लेखः

भावः. **कबरादय** इति. कबरादयो नायिकानामेव भवन्तीति दृष्टान्तस्यैव धर्माः. तथाच यथा वयं कबरेण वोढुं स्पृहयामस्तथा त्वं शिरसा वोढुं स्पृहयस इत्यर्थः ॥१६॥

भो भो इत्यत्र [2]जागरस्वरूपं वक्तुमाहुः[2] **यत्र हीति.** अतएव कमलं जलाद् बहिर्भूतं सदेति तत्र निवासो लक्ष्म्या इति भावः. **तादर्थ्याभावादिति.** दक्षिणेक्षिणी इन्द्रो वामे इन्द्राणी; निद्रायां तावन्योन्यं भोगं कुरुत इति तयोर्भोगार्थं निद्रेति श्रुतावुपाख्यानम्. तथाच जलवति देशे लक्ष्मीरत्यभावेन उत्तमत्वाभावात् तयोर्भोगो न सम्पद्यते अतोऽत्र तादर्थ्यं निद्राया नास्ति. तथाच निद्रा न प्राप्ता, निद्राफलं तयोर्भोगश्च न प्राप्त इत्यर्थः. तथाच तयोर्भोगाभावो जागर इत्यर्थः. **तत्राहुरिति,** तत्राशङ्कायां

१. अत्र 'इन्द्रेन्द्राणी'शब्दौ लक्ष्मी-नारायणपरौ.

२-२. उदन्वन् इत्यस्य तात्पर्यान्तरम् आहुः इति एपाठः - सम्पा.

शेषपर्यङ्के शयानः स्थितः, तत इदानीमत्रावतीर्णस्तिष्ठति तथैवास्मद्धृदयाच्च तिरोहितः, अतएव सर्वस्वे गते आक्रोशो युक्त एव. **मुकुन्देन** मोक्षदात्रा **अपहृतमात्मन इव लाञ्छनं** चिह्नं यस्य. अतो मोक्षोऽपि नास्ति संसारोऽपि नास्ति अत उभयभ्रष्टतया अस्माभिर्या **दशा प्राप्ता तां दशां त्वमपि गतोऽसि.** एवं दुःखमनूद्य "न दुःखं पञ्चभिः सह" (.   । ।) इतिन्यायेन परिहृतं, प्रकारान्तरेणापि परिहरन्ति **दुरत्ययामिति.** इयं दशा अस्माकमिव तवापि नित्यैव जाता अतो अस्याः प्रतीकाराभावात् दुःखं न कर्तव्यमिति भावः ॥१७॥

तामसतामस्यस्तु कालं शपन्त्यः— रात्रिश्चेदपगच्छति तदास्माकं दुःखनिवृत्तिरिति निश्चित्य चन्द्रास्तमये प्रातःकालो भवतीति चन्द्रस्य गतौ दत्तदृष्टयः— ज्योतिषां गतिरदृश्येति शनैश्चलति न चलतीति वा निश्चित्य अतिकामेन अन्धा इव जाताः सर्वं तमसा व्याप्तं पश्यन्त्य आहुः.

त्वं यक्ष्मणा बलवताऽसि गृहीत इन्दो
क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि ।
कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं
विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥१८॥

त्वं यक्ष्मणेति. यक्ष्मा क्षयरोगः, सोऽपि बलवान्, दक्षशापात् प्राप्त इति. अतएव तेन **गृहीतः** अतो न चलसीति युक्तम्. इदं त्वत्याश्चर्यं यन् न **निजदीधितिभिस्तमः क्षिणोषि.** अत्रास्मदनुभव एव प्रमाणम्. एवं चन्द्रमसि दोषमनूद्य प्रायेणास्यायं दोषः न स्वाभाविक इति निश्चित्योभयत्र हेतुं कल्पयन्ति **कच्चिदिति. मुकुन्दो** मोक्षोपदेशार्थं कानिचिद्वाक्यानि[1]

लेखः

सत्यां निश्चितं पक्षमाहुरित्यर्थः. **तथैवेति,** यथा समुद्रादन्यत्र गतः तथेत्यर्थः. **आत्मन इवेति,** महिषीणामिवेत्यर्थः. **चिह्नमिति,** देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानीत्यर्थः. **अत** इति. मुकुन्देन हरणान्न संसारः, तस्यापि तिरोभावान्न मोक्ष इत्यर्थः ॥१७॥

---

१. मुकुन्देन मोक्षोपदेशार्थं कानिचिद् वाक्यानि उक्तानि इति क-घ-सं.पाठः - सम्पा.

उक्तवान्, तानि (**गदितानि**!) दुर्लभानि मत्वा विस्मृत्य पश्चात् परमचिन्तया **स्थगितगीर्जातः** मुखाद् वाक्यमपि न निःसरति. चन्द्रमसो वाक्यमेव गोत्वात् किरणरूपम् इन्द्रियरूपत्वेन चरणरूपत्वं च; तदभावादुभयमपि तव न जायते– शीघ्रं गमनम् अन्धकारदूरीकरणं च. **भो** इति सम्बोधनं प्रश्नार्थे, अस्माभिरुच्यमानमेवं भवति न वेति. भवतीभिः कथं ज्ञायत इति चेत्, तत्राहुः एवं **नोऽस्माभिरुपलक्ष्यसे** इति ॥१८॥

तामसराजस्यः कामेन पीडिता मलयानिलं शपन्त्य आहुः **किं वाचरितमस्माभिरिति**.

किं वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम् ।
गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥१९॥

हे **मलयानिल, ते** तुभ्यमस्माभिः **किं वा अप्रियमाचरितम्**? मलयानिलस्य शीतलस्य अप्रियम् उष्णत्वापादकम्. यदा भगवता सह स्थितं तदा स्वहृदयचन्दनादिभिः त्वमस्माभिरतिशीतलः कृतः. एवमुपकारिषु कथं त्वमपकारं करोषि? को वा अपकारः कृत इति चेत्, तत्राहुः **गोविन्दस्य अपाङ्गेनैव** स्मृतेन **निर्भिन्ने** (**हृदि**!) हृदये **स्मरं** (**ईरयसि**!) प्रेरयसि. यथा कश्चित् कोटरे अग्निं प्रयच्छति येन सर्वोऽपि वृक्ष आर्द्रोऽपि दग्धो भवेत् तथा त्वमस्मान् करोषीत्यर्थः. **गोविन्दपदेन** गोकुलगतस्य भगवतो लीला स्मृता अतएव महद्दुःखं जातमिति सूचितम्. अथ यदि साम्प्रतं वयं तप्ता इति तव रोषस्तथापि मलयानिलः सर्पादिभिर्ग्रस्तः समायाति तादृशस्य केनापकारः कर्तव्य इति सूचितम् ॥१९॥

तामससात्त्विक्यस्तु मेघं भगवत्सदृशं दृष्ट्वा, चन्द्रव्यवधायको जात इति क्षणं शैत्यं प्राप्ता इव तं स्तुत्वा, पश्चात् स्वधर्मारोपेण तमपि दुःखितं

लेखः

किं वाचरितमित्यत्र गोविन्दपदेनेति. अत्र तु मनसा तिरोधानभावनात् गोकुललीलास्मरणेन तत्रैव भगवान् गतः इति भावना जातेति भावः. **तव रोष** इति. तप्तासु स्नेहे स्वसम्बन्धात् मामपि तापयिष्यतीत्यतो रोष इत्यर्थः. **तादृशस्येति**. जातोऽपि तापः सर्पग्रासाद् अधिकदुःखदस्तु न भविष्यतीत्यर्थः ॥१९॥

कल्पयित्वा तद्दुःखापनोदनं साम्येन कुर्वन्ति.

मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं
श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः ।
अत्युत्कण्ठः शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः
स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः ॥२०॥

मेघ श्रीमन्निति, मेघे परमा शोभा विद्युदादिरूपा वर्तत इति श्रीमान् भवति. तादृशं तं सम्भावयन्ति **त्वं (यादवेन्द्रस्य!)** भगवतः **दयितोऽसि,** श्यामत्वात् पीतवसनत्वात् प्राणिभ्यो जीवनदातृत्वात् तापहारकत्वाच्चेति. अतएव **नूनं दयितः.** ननु तर्ह्यहं सुखी युष्मानपि सुखयुक्ताः करिष्यामीत्याशङ्क्याहुः **श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायतीति** तवापि न स्वास्थ्यम्. मित्रं हि मित्रं भावयति. तस्मिन् प्राप्ते दृष्टे वा तस्य सुखम् (भवति!). इदानीमन्तर्भगवान् शेत इति तस्य दर्शनाभावात्[१] केवलं तं ध्यायति. ननु सोऽपि सुखेन शेते ततो मित्रस्य सुखावस्थां स्मृत्वा सुखी भवेत्, नतु कदाचिद्दुःखं प्राप्नुयादित्याशङ्क्याहुः **श्रीवत्स एव अङ्कः** चिह्नं यस्येति. ब्राह्मणास्तस्यातिक्रमं कुर्वन्तीति चिन्तया दुःखमित्यर्थः, यथास्माकं श्रीवत्से लक्ष्मीस्तिष्ठतीति साम्प्रतं तया सह स्थितोऽस्मान्न गणयतीति दुःखम्. तस्मादेकस्यैव श्रीवत्सस्य उभयोर्दुःखे निमित्तत्वमिति **वयमिवेत्युक्तम्.** विस्मरणं क्रियतामित्याशङ्क्याहुः **प्रेमबद्ध** इति, प्रेम्णा अन्तःकरणे बद्धो विस्मर्तुमशक्य इत्यर्थः. नन्वहं सुखी ; दुःखितधर्मा मयि भवतीभिः के दृष्टा इत्याकाङ्क्षायामाहुः **अत्युत्कण्ठ** इति. पञ्चविधः क्लेशस्त्वय्युपलभ्यते. आदावुत्कण्ठातिशयस्त्वयि मानसः. **शबलहृदय** इति. शबलं, लौकिककर्मणि वाच्यत्वेनोपस्थिते, हृदयं यस्येति. अतएव समागतमपि गर्जनं निवारय. **अतोऽस्मद्विधः** धूसरो गतिहीनो विच्छायश्च जातः —उपर्यासीनं दृष्ट्वा वदन्ति. एतस्य सर्वस्यापि

लेखः

मेघ श्रीमन्नित्यत्र अस्मद्विध इति. यथा वयं भगवत्प्रबोधमाशङ्कमाना नोच्चैर्वदामस्तथा त्वमपि न गर्जसीत्यर्थः. **दृष्ट्वेति.** भगवान् सुप्तः एतास्तु

१. दर्शनाभावे इति ग-घपाठः - सम्पा.

नियामकं दुःखमाहुः **बाष्पधारा विसृजसीति.** (**मुहुः!**) पुनः पुनर्विरम्य वर्षणं जायत इति **स्मृत्वा स्मृत्वेत्युक्तम्.** पुनः पुनः स्मरणं चातिदुःखदम्. नन्वस्माभिः कोऽपराधः कृतः येनास्माकं दुःखं भवेदित्याशङ्क्याहुः **दुःखदस्तत्प्रसङ्ग** इति. तस्य प्रसङ्गमात्रमेव दुःखहेतुः, प्रकृष्टः सङ्गः सुतरामेव, अन्यथास्माभिर्वा कोऽपराधः कृतः? जगति च कोऽप्येतादृशो न दृश्यते यो भगवत्सम्बन्धं प्राप्य क्षणं वा स्वस्थो भवति. इदं च दूषणं प्रसङ्गानन्तरमिति अननुभूतो न जानातीति न बाधकत्वम् ॥२०॥

सात्त्विकसात्त्विक्यो निरूपयन्ति **प्रियराव पदानि भाषस** इति. ताः कोकिलशब्दं श्रुत्वा भगवानस्मानाकारयतीति क्षणं परमानन्दमनुभूय एतादृशं सुखमस्मभ्यं कोकिलवाक्याज्जातमिति तं स्तुवन्ति.

प्रियराव पदानि भाषसे मृतसञ्जीविकयानया गिरा ।
करवाणि किमद्य ते प्रियं वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल ॥२१॥

प्रियस्य राववद् रावो यस्य हे **प्रियरावेति** भगवत्सम्बन्धोऽस्मिन् वर्तत इति त्वया सह आलापेऽपि न किञ्चिद्दूषणमस्ति. ननु कथमेतदवगतं भगवद्वाक्यम्[१] एतन्न भवति किन्तु कोकिलवाक्यमिति? तत्राहुः **पदानि भाषस** इति. तदुच्चारिते वाक्यार्थो नावगम्यत इति न तदुच्चारितस्य वाक्यत्वं किन्तु भगवदुक्तपदानि स्मारयन्तीति सादृश्यात् पदत्वम्. तर्ह्येतादृशवाण्याः क्वोपयोग इति चेत्, तत्राहुः **मृतसञ्जीविकयानया गिरेति.** पूर्वं भगवद्विरहेण मृतप्राया जाताः, यदि क्षणमयं शब्दो न श्रुतः स्यात् तदा मृता एव भवाम इति इयं वाणी मृतसञ्जीविका. अनया कृत्वा उपलक्षिताय (**ते!**) तुभ्यं **किं प्रियं** करवाम? [२]प्रत्युपकारेणापि तस्य

लेखः

अन्तर्बहिरायान्तीति मेघ-चन्द्रादीनां दर्शनमिति भावः. **अननुभूत** इति कर्तरि क्तः ॥२०॥

प्रियरावेत्यत्र अप्रत्युपकारे इति. **किं प्रियं करवाम** इत्यनेनोक्ते **तस्य** कोकिलस्य **अप्रत्युपकारे** हेतुः तादृशी वाणीत्यर्थः ॥२१॥

१. -वाक्यमेव तन्न इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

२. अप्रत्युपकारे तस्य इति लेखकृतां पाठः —सम्पा.

हेतुत्वाद् वा तृतीया. तत्रैका विशेषतो वदति **मे वदेति**, "मम स्थाने एकान्ते कथय, क्षीरोदनं दास्यामी"ति भावः. परं त्वया एतादृशः शब्दः पुनः पुनर्वाच्य इत्यभिप्रायेणाहुः **वल्गितकण्ठेति**, वल्गितः कण्ठो यस्य. शब्दोच्चारणार्थं प्रयत्नं करोषि परं न वदसीति कथनबोधनार्थं[१] **कोकिलेति** सम्बोधनं तस्य शब्दप्राधान्यत्वाय ॥२१॥

सात्त्विकराजस्य आहुर्न **चलसि न वदसीति**.

न चलसि न वदस्युदारबुद्धे क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् ॥२२॥

अयमपि पर्वतो भगवच्चरणारविन्दधारणाद् भक्तो भवतीति निर्णीयते. तादृशोऽपि यन्नामोच्चारणं न करोति अतस्तत्र कारणं पृच्छन्ति, भ्रान्तत्वं निवारयन्त्येव, हे **उदारबुद्धे** इति. उदारा बुद्धिर्यस्य इति तस्य बुद्धिरेवं विचारयति— किं नामोच्चारणेन? आश्रयमात्रमेव कृतार्थं [२]करिष्यति. तथोपायः कर्तव्यः येन विश्वमेव कृतार्थं भवतीति विचारयति. अतः सर्व एव पुरुषार्थयुक्ता भवन्त्विति बुद्धिरुदारा भवति. अतएव **महान्तमर्थं चिन्तयसे**. अतो मनो निश्चलमिति कायोऽपि वागपि निश्चला, तदाह **न चलसि न वदसि** इति. अस्य सौबुद्ध्ये उपपत्तिरस्तीत्याहुः **क्षितिधरेति**, भूमौ स्थितो यो भूमिं बिभर्ति सोऽत्यन्तं सुबुद्धिर्भवति. तर्हि क एतादृशो महानर्थो भविष्यतीति विचार्य स्वयमेव तमर्थमाहुः **अपि बतेति**. **वसुदेवनन्दनस्यैव अङ्घ्रिः** एतादृशो भवति— तमेकोऽपि चिन्तयन् विश्वं मोचयितुं शक्नोति. अतोऽङ्घ्रिचिन्तनमेव प्रायेण तवाभिलषितम्. ननु एतत् कथं ज्ञायते? न हि साधारणोऽपि इममर्थं जानातीति चेत्, तत्राहुः **वयमिव कामयस** इति. अस्माकमप्येषैव कामना— स्तनोपरि भगवच्चरणः स्थापनीय इति. इदं तु शयाने भगवति अस्माकं पादसंवाहनादिना सिद्ध्यति, तव तु त्वदुपरि परिभ्रमणे. (**स्तनैः विधर्तुम्** इति!) स्तनाः प्रत्यन्तभागाः पर्वतस्य, विशेषेण धारणं सम्बन्धादौ, तस्य च सात्त्विकभावोद्रेकेण प्रस्तरादिषु चरणाकृतिधारणे, यथा गयायाम्. एतावान् विशेष इत्यर्थः ॥२२॥

---

१. कथनबोधनार्थं सम्बोधनं कोकिलेति सम्बोधनम् इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

२. भविष्यति इति मुद्रितपाठः, गृहीतस्तु सं.पाठानुरोधात् - सम्पा.

सात्त्विकतामस्य आहुः **शुष्यद् ह्रदा** इति.

शुष्यद्ध्रदाः करशिता बत सिन्धुपत्न्यः सम्प्रत्यपेतकमलश्रिय इष्टभर्तुः ।
यद्वद् वयं यदुपतेः प्रणयावलोकमप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म ॥२३॥

क्रीडापर्वतानां या नद्यः ता अन्तःपुरे स्थिताः. ताः पूर्वं अगाधजला वर्षासु, ततः (**करशिता!**) क्रमेण क्षीणतायां निदाघे ह्रदानामपि शोषो जातः. एतन्निरूपणं स्वस्यातिकृशत्वज्ञापनार्थम्. **बतेति** खेदे, कियत्कालानन्तरं स्वरूपमपि गमिष्यतीति. ननु कया उपपत्त्या नद्यो गृह्यन्ते? कोऽपि धर्मो भगवदीयस्तासु नास्ति, तत्राहुः **सिन्धुपत्न्य** इति. सिन्धोरम्बुराशेरपि पत्न्यो भूत्वा यथैताः परमक्षीणाः तथा वयमपि. कोटिब्रह्माण्डाधिपतेरानन्दमूर्तेः पत्न्योऽपि वयं परमखेदं प्राप्नुम इति निरूपयितुं तासां कथा. शरीरक्लेशेऽपि यदि चिन्ता न भवेत् तदाप्यन्ततो गत्वा मुखवैवर्ण्यं न स्यात्; तदपि नास्तीति ज्ञापयितुमाहुः **सम्प्रत्यपेतकमलश्रिय** इति. एवमन्तःकरणक्लेशः शरीरक्लेशश्च कुतो जायत इत्याकाङ्क्षायां स्वयमेव हेतुं कल्पयन्ति **इष्टभर्तुर्यदुपतेः प्रणयावलोकमप्राप्येति**. इष्टाप्राप्त्या मनसि क्लेशः, संवर्धकदृष्ट्यभावात् कृशत्वम्. यद्यपि नदीनां भर्ता समुद्रोऽस्ति तथापि न स इष्टः, भगवांस्तु सर्वपतिरिति **इष्टो भर्ता** भवति. अत्र **भर्तृ**पदं परिपालकपरम्. दृष्टान्ते व्यावृत्त्यप्रसिद्धेः **यद्वद् वयम्**. इष्टस्य भर्तुः साम्प्रतमेव प्रणयावलोको नास्तीति क्षणमात्रेणैव कर्शिताः. सजातीयस्य सजातीयो भर्ता भवति, महांश्चेत् तत्रापि स्नेहं कुर्याद् —एतज्ज्ञापयितुमाहुः **यदुपतेरिति**. **अवलोको** बाह्यः, स्नेहः आभ्यन्तरः; उभयमप्य**प्राप्य** अन्तर्बहिश्च **पुरुकर्शिताः**. नन्वन्येन कथं न पुष्टा जायन्ते, यथा मिष्टान्नाभावे यादृशेनापि पुष्टो भवति लोकः, तत्राहुः **मुष्टहृदया** इति. हृदयस्य मोषः पूर्वमेव जात इति येन साधनेन

लेखः

शुष्यद् ह्रदा इत्यत्र **कोपि धर्म** इति. महान्तमपि प्राप्य कदाचित् तद्वियोगे परमक्षीणत्वं भगवदीयेषु स्थितो भगवदीयो धर्मः इति भावः. **सजातीयस्येति. सजातीयः सजातीयस्य भर्ता** पालको **भवति. महांश्चेत्** स्यात् तदा **तत्रापि** असजातीयेऽपि **स्नेहं कुर्यात्** तमपि पालयेदित्यर्थः. **एतदिति**, महत्त्वमित्यर्थः ॥२३॥

कश्चिद् गृह्यते तद् भगवतैवापहृतम् इति नातः परमन्येन पुष्टा भविष्यन्तीत्यर्थः ॥२३॥

एवं बहिर्विचारयन्त्यः काश्चिद् गुणातीताः दूरे गताः. ततोऽन्तःपुर एव नद्यादितीरे विद्यमानं[1] हंसं दृष्ट्वा आहुः **हंस स्वागतमिति.**

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा ।
किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद् भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियः ॥२४॥

तास्तु शुद्धाः भगवति सर्वथा दोषरहिताः, अतः स्वहितमात्रमेव भावयन्ति. स्वस्य च हितं भगवत्सम्बन्धादेव. स च सम्बन्धः मानवतीनां मानापनोदव्यतिरेकेण स्वतो न भवति. ततो भगवान् मानापनोदार्थमेनं प्रस्थापितवान्. अयं हि हंसः सदसद्विवेकं जानाति अतोऽस्मान् [2]गुणातीताः भगवत्पार्श्वं नेष्यतीति निश्चित्य सम्बोधयन्ति **हंसेति.** स्वार्थमागत इति कुशलं पृच्छन्ति. शीघ्रं वयं साध्या न भविष्याम इति ज्ञापयितु**मास्यता**मित्याहुः. नन्वस्माकं पक्षिणां नित्यं क्षुधितानां तन्निवृत्त्यर्थमुपायः कर्तव्यः अतो गन्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः **पिब पय** इति. अनेनैतदपि ज्ञापयन्ति— अत्र स्थितो दुग्धमिव अस्मान्नेष्यसि, अन्यत्र गतो जलमिव अव्यक्तमधुरा नेष्यसीति. ननु स्थित्वा किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः **ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथा**मिति. पितृनाम्ना शौर्यमुपपादयन्त्यः कथासत्त्वमाहुः. "न जान" इति न वक्तव्यमित्याहुः **दूतं त्वां नु विदामेति. नु** इति वितर्के— पूर्वमपि हंसा दूता भवन्ति अतस्त्वमपि

लेखः

हंसेत्यत्र **दोषरहिता** इति, दोषारोपरहिता इत्यर्थः. **स्वहितमात्रमेवेति.** भगवान् भक्तानां हितमात्रं करोति, नतु अहितं कदाचिद्—इत्येव भावयन्तीत्यर्थः.

---

१. तत्र विद्यमानम् इति मुद्रितपाठः, नद्यास्तीरे इति क-ग-घपाठेषु, नद्यादितीरे वर्तमानम् इति सं.पाठे पौरुषोत्तमं संशोधनम् -सम्पा.

२. अस्मान् गुणातीताः कृत्वा भगवत्पार्श्वं नेष्यति इति अभिप्रायः -सम्पा.

हंस इति. आगमने प्रयोजनान्तरस्याभावाद्[१] दूतत्वमेव निर्धार्यते इत्यर्थः. अतो दूतत्वनिर्धारार्थं कथां कथय. नन्वपृष्टं नोच्यत इति चेत्, तत्राहुः **कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त** इति. अजितत्वात् कुशलमस्त्येव, परं सर्वान् मारयन् व्यग्रो भवेत् तदस्ति न वेति प्रश्नः. अथवा **स्वस्ति** कल्याणरूपेण शुद्धरूपेण **किमास्ते?** "शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान्" (नार.पुरा. १।१४।१६) इति वाक्यात् सम्बन्धे जाते अन्यथाभावो भवतीति, तथा सति स्वस्य तदानीं गमनं व्यर्थमेवेति. अजितत्वात् पराजयाभावोऽपीति सन्देहात् प्रश्नः. कुशलेन वर्तते इत्यङ्गीकारेणैवोत्तरसिद्धौ प्रष्टव्यान्तरमाहुः **उक्तं पुरा किं वा नश्चलसौहृदः स्मरतीति.** पुरा यदुक्तं "न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि" इति यत् **पुरा उक्तं** तत् **किं स्मरति न** वेत्यर्थः. ननु सर्वज्ञास्मरणे को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः **चलसौहृद** इति. न हि सर्वदा कोऽपि कमपि स्मरति; सौहार्दे सति स्मरणम्. भगवांश्च चलसौहृदः. "सर्वथा स्मरति, समागन्तव्यम्" इति चेत्, तत्राहुः **तं कस्माद् वयं भजाम** इति. कार्यान्तराणि निवृत्तान्येव, सौहार्देऽपि सन्देहः, तस्मात् कारणाभावात् किमर्थं भजामः? तत्रापि **वयं** प्रसिद्धाः. "तथापि क्रोधस्त्याज्यः, समागन्तव्यम्" इति चेत्, तत्राहुः हे **क्षौद्रालापेति. क्षौद्रवत्** शर्करावन्मिष्टः **आलापो** यस्य. तव केवलं वाङ्माधुर्यम्. क्षौद्रालापं यातीति **क्षौद्रालापयः** — तस्य सम्बोधनम्. **क्षौद्रेति** सम्बोधनेऽपि मिष्टता व्यक्ता. क्षुद्रस्य सम्बन्धीति निन्दापरतया केचिदाहुः. **तमेव** भगवन्तम् **आलापय** कथय च. **कामदं** भगवतम् **आलापय** गानेन आलापनं कुरु. **कामदं** भगवन्तं प्रति वा **क्षौद्रालापयो** भवान्.

लेखः

मात्रपदानन्तरं भगवान् करोतीति शेषः. **कार्यान्तराणी**ति. नायिकान्तरसामीप्यस्य भावित्वाद् अस्मद्भोगादीनि **निवृत्तानी**त्यर्थः. **कथय चे**ति. **त**मित्यस्य **आलापये**त्यनेनान्वयः, **कस्माद् भजाम** इत्यनेनाप्यन्वयः पूर्वमुक्त इति **च**कारः ॥२४॥

१. प्रयोजनान्तराभावाद् इति सं.पाठे पौरुषोत्तमं संशोधनम् - सम्पा.

परमालापे लक्ष्म्या आलापो न कर्तव्यः, तदाहुः **श्रियमृत** इति. ननु सा परमभक्ता भगवदेकपरायणा, कथं सह न गीयत इति चेत्, तत्राहुः **सैवैकनिष्ठा स्त्रिय** इति. **सैव** किं **एकनिष्ठा?** अपि तु सर्वाः **स्त्रियः**. स्त्रीणां मध्ये इति षष्ठी वा. जात्यपेक्षया चैकवचनमिति केचित्. एवम्भावाः स्त्रियः पर्यवसितनिरोधा वर्णिताः ॥२४॥

एवं स्त्रीणां क्रीडायां प्राप्तः संसारः निवारितः. ततो भगवद्भाव एवाविकल इति फलमुच्यते **इतीदृशेनेति**.

इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥२५॥

ईदृशो भावः सर्वप्रकारः लोकातीतः भगवतैव भ्रान्ततामापादितः. एतस्य मोक्षसाधकत्वं प्रमेयबलेनेति ज्ञापयितुमाह **कृष्णे योगेश्वरेश्वर** इति. योगादयोऽपि फलं प्रयच्छन्ति भगवदनुग्रहात्, स एव भगवान् कृष्ण इति तासां परमानन्दप्राप्तौ कः सन्देह इत्यर्थः. **योगेश्वरा** महादेवादयस्तेषामपि (**ईश्वरः!**) नियन्ता. साधनेषु योगो महानिति स एवोक्तः. भक्तियोगादयोऽपि 'योग'पदवाच्यत्वाद्[१] योगा एव. **माधव्यो** माधवस्य स्त्रियः. **परमा गति**र्भगवत्प्राप्तिः; यदापि ता न भगवत्सम्बद्धाः तस्मिन्नपि क्षणे भगवन्तं प्राप्तवत्य इत्यर्थः. नियमविधिवद् आसां फलसम्बन्धो व्याख्येयः, अन्यथा

लेखः

इतीदृशेनेत्यत्र नियमविधिवदिति. "नियमः पाक्षिके सति" (न्या.सिद्धा.मञ्जरी ४) इति भगवत्सम्बन्धदर्शनात् पक्षे फलसम्बन्धः प्राप्त एव, असम्बन्धस्यापि दर्शनादप्राप्तो लेभिरे इति लिटा नियम्यते— असम्बन्धदशायामपि ईदृशभावेन हेतुना अन्तर्भगवत्सम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतासां परमगतिरूप-फलसम्बन्धे सन्देहो नास्तीत्यर्थः. तथाच लिङ्लोटोरभावेन शाब्द्याः भावनाया अभावेऽपि आर्थीभावनैव तथा व्याख्येयेत्यर्थः. **अन्यथेति.** अपूर्वविधिवद् व्याख्याने देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवाः इति **विकल्पानां सर्वेषां** भगवत्प्राप्तौ **माधव्यादिपदैः सह विरोधः** स्यात्. माधवस्त्रीत्वं तु देहस्यैव.

१. योगवाच्याद् इति मुद्रितपाठः सं.पाठे श्रीपुरुषोत्तमैः एवं संशोधितः - सम्पा.

शरीरात्मादिविकल्पानां माधव्यादिपदैः सह विरोध आपद्येत ॥२५॥

ननु बहिर्मुखानां संसाराविष्टचित्तानां, संसारप्रकारेणैव भगवन्तमपि प्रपन्नानां, कथमेवं सर्वसङ्घातस्य भगवति प्रवेशः? तत्राह.

श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतानां पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥२६॥

श्रुतमात्रोऽपीति. भगवान् स्त्रीणामेवार्थे प्रादुर्भूत इत्युक्तम् अतस्तदर्थमेवावतारात् तत्कार्यमावश्यकमिति सम्बन्धमात्रमपेक्षते. तत्र श्रवणमात्रम् अतिसुलभः सम्बन्ध इति स एवोक्तः. **मात्र**शब्देन विचारादिव्युदासः. प्रमेयबलमेवात्र मुख्यमिति स्वयं **प्रसह्य मनः आकर्षते** सर्वतः आकृष्य स्वस्मिन्नेव स्थापयतीत्यर्थः. तदपेक्षया कीर्तनकर्तृणां विशेषमाह **उरुगायोरुगीतानामिति. उरुगायो** भगवान् **उरुगीतो** याभिः. प्रहतत्वायाविगीतत्वाय च **उरुगाय**पदम्. तेषामपि **मनः प्रसह्य आकर्षत** इत्यर्थः. यद्यप्यत्रापि कैमुतिकन्यायो वक्तव्यः

लेखः

तथाच देहस्यैव भगवत्प्राप्तिर्नतु सङ्घातान्तरस्येत्यपि स्यादित्यर्थः. नियमविधिपक्षे तु अपूर्वतया भगवत्प्राप्तिः पूर्वमेवोक्ता. तत्र विरोधपरिहारोऽपि "आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः" (भाग.पुरा. १०।५।९) इत्यादिना भगवद्भोग्यानां देहादि-सङ्घातस्य आत्मत्वकथनात् पूर्वमेव कृतः, स एवात्रापि ज्ञेयः. तथाच सर्वस्यैव सङ्घातस्य भगवद्भोग्यत्वात् माधवस्त्रीत्वम्. अपूर्वविधिपक्षे विरोधपरिहारोऽप्यपूर्वः कर्तव्यो भवेत्, स न कृत इति विरोधस्तिष्ठेदेव. नियमपक्षे तु पूर्वोक्त एव फलसम्बन्धो अत्र नियम्यते इति विरोधपरिहारोऽपि पूर्वोक्त एव ज्ञेयो भवेदिति भावः. अपूर्वपक्षे **ईदृशेन भावेनेत्यस्य** भावस्य फलसम्बन्धे करणत्वम्. तथाच भावस्य साधनरूपत्वं स्यात्, नतु फलरूपत्वम्. नियमपक्षे तु तादृशनियमे भावस्य हेतुत्वमात्रमिति फलरूपत्वं निःप्रत्यूहं सिद्धं भवेदिति निगूढाशयः ॥२५॥

श्रुतमात्रोऽपीत्यत्र प्रहतत्वायेति. प्रगतो हतः **प्रहतः** अप्रतिहत इत्यर्थः. बहुभिर्गीतत्वाद् भगवान् अप्रतिहत इति **उरु**पदतात्पर्यम्. तत्कीर्तनस्य गानरूपत्वाद् **अविगीत**पदतात्पर्यमिति विभेदः. **एकदेशेति**, भगवत्समानदेशे तन्निकट इत्यर्थः ॥२६॥

तथाप्यग्र एवोक्तः अत्राप्यनुसन्धेयः. याः पुनरेकदेशे स्थिताः **पश्यन्ति** तासां **मनः आकर्षत** इति **कुतः?** सिद्धमेव भगवति मनस्तिष्ठतीति विषयसौन्दर्येणैव मनसो वशीकरणात् न प्रमेयबलमप्यपेक्षत इत्यर्थः ॥२६॥

एतास्त्रिविधाः सगुणा निरूपिताः. गुणातीताः कैमुतिकन्यायेन सुतरां स्तौति.

याः संपर्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः ।
जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ॥२७॥

याः संपर्यचरन्निति, साक्षाद्देहसम्बन्धः सर्वभावेन यासाम्. तत्रापि **प्रेम्णेति** आन्तरः सम्बन्धः, **पादसंवाहनादिभिरिति** बाह्यः. **जगद्गुरुमिति** क्रिययापि विहितप्रकारेणापि तासां फलसिद्धावुपाय उक्तः. **भर्तृबुद्ध्येति** तासां बुद्धिरप्युत्तमा निरूपिता. नतु गोपिकावद् जारबुद्धिरिति भावः.

बुद्धिः प्रपत्तिः सम्बन्धो द्विविधोऽपि विधेर्बलम् ।
प्रमेयबलमित्यासां षोढा कृष्णे निरूपिताः ॥(१४)॥
एकैकोऽपि महत्पुण्यसाध्यः षण्णां तु का कथा!
अतस्तपःप्रशंसां हि तासां वक्तुं क ईशते ॥(१५)॥

तदाह **तासां किं वर्ण्यते तपः** इति ॥२७॥

एवं सर्वासां निरोधमुक्त्वा प्रसङ्गादपि कृतं भगवतोऽपेक्षितमेवेति सञ्ज्ञापयितुम् उपसंहारे निरूपयति.

लेखः

एतास्त्रिविधा इति. एतच्छ्लोकोक्ताः श्रवण-कीर्तन-दर्शनकर्त्र्यः तमो-रजः-सत्त्वभावयुक्ता इत्यर्थः.

याः संपर्यचरन्नित्यत्र गोपिकावदिति. अत्र सोपधिस्नेहवतीनां प्रकरणाद् अन्तर्गृहगता एव **गोपिका**पदेनोच्यन्ते. अत्र कामोपाधिकस्नेहो द्विविधः भर्तृत्वेन जारत्वेन चेति तयोर्मध्ये भर्तृत्वेन स्नेहः उत्तमः प्रमाणविचारेण. निरुपधिस्नेहवतीनां तु प्रकरणमेव नास्तीति न तत्र किञ्चिद् अन्यथा शङ्कनीयम्. **बुद्धिरिति**. **भर्तृबुद्ध्या प्रेम्णा संपर्यचरन् पादसंवाहनादिभिः जगद्गुरुं याः** इति षड्भिः पदैः क्रमेणोक्ताः. **या** इति तासां स्वरूपमेव तादृशमिति प्रमेयबलसिद्धिः. **निरूपिता** इति, भावा इति शेषः ॥२७॥

एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन् सतां गतिः ।
गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत् पदम् ॥२८॥

एवं वेदोदितं धर्ममिति. यथा निरोधोऽभिप्रेतः **एवं वेदोदितोऽपि धर्मः** लोकशिक्षार्थं भगवतोऽभिप्रेतः. तत्र हेतुः **सतां गतिरिति,** अन्यथा सन्मार्गव्यवस्था न स्यादिति सतां रक्षा न स्यादिति. न केवलं वैदिकधर्म एव भगवतोऽभिप्रेतः किन्तु स्मार्तोऽपि त्रिवर्गः, तदासक्तानां बुद्धिसङ्ग्रहार्थमभिप्रेत इत्याह **गृहं धर्मार्थकामानामिति.** त्रिवर्गस्य **पदं** स्थानभूतं **गृहमिति** मुहुर्मुहुः वारं वारं षोडशसहस्रप्रकारेण[१] **अदर्शयत्** लोकेभ्यः प्रदर्शयामास ॥२८॥

एवं भगवतो धर्मपरत्वमुक्त्वा स्त्रीणामतथात्वे गार्हस्थ्यं धर्मविरुद्धमिति तासामपि धर्मपरत्वं वक्तुमाह **आस्थितस्येति.**

आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् ।
आसीत् षोडशसाहस्रं महिष्यास्तु शताधिकम् ॥२९॥

(परं!) परमोत्कर्षापन्नं **धर्ममास्थितस्य कृष्णस्य** स्वरूपत एकस्य **गृहमेधिनां** गृहस्थत्वेन नानारूपस्य **षोडशसाहस्रं** महिषीणामासीत्. **महिष्या** इति षष्ठ्येकवचनम्. यथा एकः कृष्णः बहवो गृहस्थाः तथैका महिषी षोडशसहस्र-सङ्ख्यायुक्तेत्यर्थः. तुशब्दः प्रकारान्तरं वारयति. **शताधिकमिति** सहस्रस्य विशेषणं; शतसङ्ख्यायुक्तेभ्योऽप्यधिकमित्यर्थः, एकापि स्त्रीः[२]

लेखः

आस्थितस्येत्यस्याभासे वक्तुमाहेति, इमं श्लोकमिति शेषः. तथाच धर्मपरत्वमेवेति वाक्यार्थः. व्याख्याने **एकस्य कृष्णस्य गृहमेधिनां** स्वरूपाणामित्यर्थः. **तथैकेति.** लक्ष्मीरेव तावद्रूपा सर्वत्राविष्टा, अन्यथा भगवद्भोगयोग्यता न स्यादिति भावः. यथा भगवान् एक एव बहुरूपः तथा इयमपि एकैव बहुरूपेत्यनेन भगवत्समानधर्मत्वकथनात् पातिव्रत्यमुक्तमिति धर्मपरत्वं वाक्यार्थः सिद्धः. षोडशसहस्रसङ्ख्यायाः पूर्वमेव सिद्धत्वाद् एतस्यैव वाक्यार्थता युक्तेति भावः ॥२९॥

१. -सहस्र- इति मुद्रितेतरेषु नोपलभ्यते - सम्पा.   २. मुद्रितेतरेषु नोपलभ्यते - सम्पा.

शतस्त्रीभ्योऽप्यधिका सर्वभावेनेति ॥२९॥

एवं धर्मार्थतां निरूप्य प्रजासम्पत्त्यर्थतापि तासां मुख्येति उपसंहारे तदप्याह **तासां स्त्रीरत्नभूतानामिति.** यद्यपि सर्वासामेव दश दश पुत्राः तथापि मुख्या एव कथिता इति उपसंहारे ता एवानुवदति.

तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ।
रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ॥३०॥

तासां स्त्रीरत्नभूतानां, सर्वा एव सर्वत उत्कृष्टा इति **रत्नपदप्रयोगः.** तत्रापि **अष्टौ याः प्रागुदाहृता रुक्मिणीप्रमुखाः** —

रुक्मिणी सत्यभामा च कालिन्दी ऋक्षकन्यका ।
सत्या भद्रा मित्रविन्दा लक्ष्मणेत्यष्टनायिकाः ॥(१६)॥

राजन्निति सम्बोधनं स्त्रीबाहुल्यरसाभिज्ञानार्थम्. **तत्पुत्राश्च** उदाहृताः **आनुपूर्वशः** ज्येष्ठानुक्रमेण. **चकारात्** पौत्रोऽप्युक्त इति ज्ञापितम् ॥३०॥

अनुक्तानां सर्वासां तुल्यत्वाय पुत्रादिसम्पत्तिमाह **एकैकस्यां दश दशेति.**

एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ।
यावन्त्य आत्मनो भार्या अमोघरतिरीश्वरः ॥३१॥

इच्छया पुत्रत्वव्यावृत्त्यर्थम् **आत्मजपदम्.** प्रायिकव्यावृत्त्यर्थं **यावत्य** इति. दश भावा भवन्तीति सर्वेष्वपि भावेषु भगवान् **अमोघरतिः.** फलपर्यवसानम् अमोघत्वम्. ननु दश दशैव कथमुत्पादिताः? "दशास्यां पुत्रानाधेहि" (ऋक्संहि. १०।८५।४५) इति श्रुतेरिति चेत् तथापि नैतल्लोके नियतम्. तत्राह **ईश्वर** इति. अशक्ताः श्रुत्यर्थपरिपालनं मा कुर्वन्तु नाम, शक्ताः कथं न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥३१॥

लेखः

तासामित्यत्र तत्रापीति. सर्वासामेव रत्नत्वेऽपि अष्टौ तासां प्रधाना उक्ता षोडशसहस्रसङ्ख्यातोऽतिरिक्ता इत्यर्थः ॥३०॥

एकैकस्यामित्यत्र दश भावा इति. कामस्य दशेन्द्रियसाध्यत्वादिति भावः. रेतोविसर्गः पायुकार्यं, परं गोलकभेदः ॥३१॥

धर्मार्थमेव भगवता पुत्रा उत्पादिता इति अष्टादशविद्यास्थानीयाः अष्टादश पुत्राः महावीर्या निरूप्यन्ते **तेषामुद्दामवीर्याणामिति.**

तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः ।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु ॥३२॥

लक्षं षष्टिः सहस्राणि तथाशीतिर्निरूपिताः । (= १६००८०)
केचित् सहस्रमधिकं प्राहुर्नैतन्मतं सताम् ॥(१७)॥

तेषां पुत्राणां मध्ये **अष्टादश महारथाः** सर्व एव च **उद्दामवीर्याः.** वस्तुतस्तु सर्व एव महारथाः तथापि तावद्भिः महारथत्वं प्रकटीकृतमिति ज्ञापयति. **आसन्निति,** विद्यानां प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं तावद्भिरेव वीर्यं प्रकटीकृतम्. भगवति विद्यमाने त्वन्येषां न प्रयोजनम् ॥३२॥

अतो लोकप्रसिद्ध्यर्थं तेषां नामान्याह.

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च दीप्तिमान् भानुरेव च ।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥३३॥
पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः ।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥३४॥

प्रद्युम्न इति. द्वितीयः **चारुदेष्णः.** **अनिरुद्ध** इति पाठेऽपि पुत्र एव कश्चिदनिरुद्धः ॥३३-३४॥

तेषामपि पुत्राः शतश इति पौ(/पु!)त्राणां मध्ये एकेनैव महारथत्वं प्रकटीकृतमिति तमाह **एतेषामपीति.**

लेखः

तेषामित्यत्र नैतन्मतं सतामिति. समाधिभाषायां शताधिकनायिकापक्षो नास्तीति तत्पुत्रान् आदाय सहस्राधिकसङ्ख्यापि पुत्रे नास्तीत्यर्थः. एतेन द्वादशाध्याये उपपादिता शताधिकसङ्ख्या न समाधिभाषा किन्तु लौकिकी भाषेति सूचितम्. तथाच "भाषात्रयविरोधश्च कल्पभेदात् समाहितः" (सुबो. १।१।० का. ८) इत्युक्तत्वात् कल्पान्तरे तथेति ज्ञेयम्. अतएव विवाहप्रसङ्गे तावतीनां विवाहो निरूपितः. नामावल्यां च "षोडशसहस्रनायिका-पतये नमः" इत्येवोक्तम्. रोहिणी तासामेव मुख्येति "रोहिणीपतये नम" इत्युक्त्वा तदुक्तम् ॥३२॥

एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत् प्रथमः पितृवद् रुक्मिणीसुतः ॥३५॥
स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
तस्मात् सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः ॥३६॥

मधुद्विषस्तनुजानामिति अत्यन्तं सामर्थ्यं निरूपितम्. तत्रापि प्रथमस्य विशेषमाह **प्रद्युम्न आसीत् प्रथम** इति. तस्य विशेषतो निरूपणस्य प्रयोजनमाह **पितृवदिति**. वैशिष्ट्ये हेतुमाह **प्रथमो रुक्मिणीसुत** इति. रुक्मिणी श्रेष्ठा; तत्रापि प्रथमो वीर्यवत्तरो भवति. वंशनिरूपणप्रस्तावे नवमस्कन्धशेषे भगवान् निरूपित इति मध्ये प्रश्नानुरोधेन वीर्याण्यपि निरूप्य तदन्ते शिष्टं वंशमाह **स रुक्मिणो दुहितरमिति**. **महारथ** इति जित्वा हरणं द्योतितम्. ततः प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽभूत्. तस्य विशेषतो निरूपणे प्रयोजनमाह **नागायुतबलान्वित** इति ॥३५-३६॥

ततोऽपि वंशमाह **स चापीति**.

स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।
वज्रस्तस्यामभूद् यस्तु मौसलादवशेषितः ॥३७॥
प्रतिबाहुरभूत् तस्य सुबाहुस्तस्य चात्मजः ।
सुबाहोः शान्तिसेनोऽभूच्छ्रुतसेनस्तु तत्सुतः ॥३८॥

रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्र इति पदत्रयेण मूलदोष-संसर्गदोषौ निरूप्य तादृश एव कलौ स्थास्यतीति ज्ञापितम्. तदाह **वज्रस्तस्यामभूदिति**. **मौसलयुद्धादवशेषितः** उर्वरितः. ततोऽपि वंशमाह **प्रतिबाहुरभूत् तस्येति**. **तस्य** वज्रनाभस्य **प्रतिबाहुः** पुत्रोऽभूत्, **तस्य च सुबाहुः**, **सुबाहोः शान्तिसेनः**, तस्य च **श्रुतसेन** —इति चतुर्विधपुरुषार्थसाधकाः चत्वारो निरूपिताः ॥३७-३८॥

अन्येषां पुरुषार्थपर्यवसानं न भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थमाह.

न ह्येतस्मिन् कुले राजन् अधना अबहुप्रजाः ।
अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ॥३९॥

न ह्येतस्मिन् कुल इति यादवकुले. राजन्निति सम्बोधनं सम्मत्यर्थम्.

अधना दरिद्राः. **अबहुप्रजाः** "एष्टव्या बहवः पुत्रा" (रामा. अयोध्याकाण्ड २।१०७।१३) इति वाक्यात् न केऽप्यपेक्षितपुत्रविहीना इत्यर्थः. एतद् बहिरङ्गद्वयम्; आन्तरमाह **अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्चेति**. एवं चतुर्भिर्गार्हस्थ्यं निरूप्य ब्रह्मचर्यमिव निरूपयन्नाह **अब्रह्मण्याश्चेति**.

अर्थकामौ तथा धर्मश्चिरजीवित्वमेव च ।
एतत् साधारणं प्रोक्तं वीर्यं तु क्षत्रियत्वतः ॥(१८)॥३९॥

ज्ञानार्थं तेषां सङ्ख्या वक्तव्येत्याह **यदुवंशप्रसूतानामिति**.

यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् ।
सङ्ख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप ॥४०॥

सङ्ख्या वर्तते परं **कर्तुमशक्या**. अज्ञानमेव महत्त्वसूचकमिति न योगजधर्मेण ज्ञात्वा कथनम्. एकेन पुरुषेण मार्कण्डेयवच्चिरजीविनापि **वर्षायुतैरपि** तेषां सङ्ख्या कर्तुमशक्येत्यर्थः ॥४०॥

तर्हि कथं परिज्ञानं, कोट्यर्बुदसङ्ख्ययापि बुद्धिः पर्यवसितेति चेत्, तत्राह **तिस्रः कोट्य** इति.

तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ।
आसन् यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम् ॥४१॥

आदौ **सहस्राणां तिस्रः कोट्यः** त्रिंशदर्बुदानि. ततः **अष्टाशीतिशतानि च**; अष्टाधिकान्यशीतिशतानि. लक्षसङ्ख्या भगवत्पुत्रेष्वेव निरूपितेति **कोटिसङ्ख्यां सहस्रसङ्ख्यां शतसङ्ख्यां** ततो न्यूनसङ्ख्यां चोक्तवान्. एतावन्तः **यदुकुलाचार्याः** यदुकुलोद्भवा एव आचार्याः. तत् **कुमाराणामिति श्रुतमिति** प्रमाणम्. बहूनां मध्ये कश्चिदाचार्यो भवितुमर्हति, बालकाश्चैकस्य स्थाने बहवोऽपि पठन्ति — अनेनैव तेषां बहुत्वं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥४१॥

तर्ह्यनेनैव प्रकारेण यादवानां सङ्ख्यां वदेत्याशङ्क्याह.

सङ्ख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः ॥४२॥

सङ्ख्यानं यादवानां कः करिष्यतीति. यादवाः स्वरूपतोऽपि सङ्ख्यातुमशक्याः, आनन्त्यात्. तत्रापि विशेषमाह **महात्मनामिति**. एकैकस्य कोटिशः सेवकाः सन्तीति प्रधानगुणभावेन गणनायां सुतरामेवानन्त्यमित्यर्थः.

अतएव मुख्ये सेवकानन्त्यं निरूपयति **यत्रायुतानामिति. अयुतानामयुतस्य लक्षेण न्यर्बुदसहस्रेण सेवकवर्गेण सह स आहुकः** उग्रसेनो राजा **आस्ते** — एवमन्येषामपि सेवकवर्गो ज्ञातव्यः ॥४२॥

ननु जीवा उत्तमाः केचन एवोत्पद्यन्ते; एतावतां कथमेकदोत्पत्तिरिति चेत्, तत्राह.

देवासुरावहता दैतेया ये सुदारुणाः ।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥४३॥

देवासुराहवहता इति. देवानामसुराणां च पूर्वं बहव एव **आहवाः** सङ्ग्रामा जाताः. तत्र **ये दैतेयाः सुदारुणाः** देवानां मूलभूतब्राह्मणनाशार्थं **मनुष्येषु उत्पन्नाः, चकाराद्** अन्येऽपि तत्सम्बन्धिनः. तेषामुत्पत्तौ पूर्वधर्माः समागता इति ज्ञापनार्थमाह **प्रजा दृप्ता बबाधिर** इति ॥४३॥

तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥४४॥

ततो जगद्रक्षार्थं प्रवृत्तो भगवान्. **तेषां** दैत्यानां **निग्रहार्थं देवाः प्रोक्ताः** आज्ञप्ताः. ततस्ते कोटिशो देवगणाः क्वचित् **क्वचिदवतीर्णाः यदोः कुले. तेषां** मध्ये **कुलानां शतमवतीर्णमेकमधिकं** च तत्रापि नायकरूपम्. **नृपेति** सम्बोधनं सन्तोषाय ॥४४॥

ननु देवा एवावतीर्णास्तावन्त इत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्, तत्राह.

तेषां प्रमाणं भगवान् प्रभुत्वे चाभवद्धरिः ।
ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥४५॥

तेषां प्रमाणं भगवानिति. तेषां देवत्वे भगवानेव प्रमाणम्. कथं भगवतः प्रामाण्यमिति चेत्, तत्राह **प्रभुत्वे चाभवदिति.** यतस्तेषां प्रभुर्जातो भगवान् अतो ज्ञायते ते देवा[१] इति. न ह्यन्येषां भगवान् प्रभुर्भवति, प्रभु-सेवकयोः सजातीयत्वापेक्षणात्. ननु त एव प्रेषणीयाः, किमिति तैः सह भगवानागत इति चेत्, तत्राह **हरिरिति,** तेषां दुःखापनोदनार्थमागतः.

१. दैवा इति मुद्रितपाठः, शेषेषु एवम् - सम्पा.

अतएव कालादिकृत-प्रतिबन्धाभावात् सर्व एव यादवाः तदीया अन्येऽपि भगवतो ये अनुवर्तिनः ते सर्वेऽत्यन्तं ववृधुरित्याह **ये चानुवर्तिनस्तस्येति**. प्रायिकत्वव्युदासाय **सर्व**पदम्. वृद्धिर्हि वटबीजाद् वटवद् ज्ञातव्या. एवं प्रसङ्गात् तेषां माहात्म्यमानन्त्यं च भगवत्सम्बन्धान्निरूपितम्. अतएव ते सर्वे सपरिकराः निरोधे निरूपिताः ॥४५॥

तत्र तेषामधिकारापन्नानां वैयग्र्यसम्भवात् बहिर्मुखत्वसम्भवाच्च निरोधः सम्पन्नो न वेति शङ्कां निराकर्तुमाह.

शय्याशनाटनालाप - क्रीडास्नानासनादिषु ।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥४६॥

शय्याशनाटनालापेति सप्तपदार्थाः भगवान् षड्गुण एव तेषां तथा जात इति ज्ञापयितुं निरूपिताः. **शय्या** च, **अशनं** भोजनम्, **अटनं** परिभ्रमः, **आलापः** वार्ता, **क्रीडा** द्यूतादि, **स्नानम् आसनं** च —एते सप्तपदार्थाः प्रकारपराः. तत्रैश्वर्यादिधर्मा योजनीयाः, तथा सति प्रकारतामापद्यन्ते. किं बहुना, सर्वावस्थासु **आत्मानं** यथास्थानस्थितं **न विदुः**. अनेन प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता, तदासक्तिमाह **कृष्णचेतस** इति, कृष्ण एव चेतो येषाम्. गोकुलस्थानां तु पूर्वमेव निरूपितं; स्त्रीणां च राजसानां सात्त्विकानां चायं निरोध इति सम्पूर्णा निरोधलीला ॥४६॥

एवं लीलायामुपपादितायां भारतवद् भूभारहरणं विशेषाकारेण न निरूपितमिति शङ्कां व्यावर्तयितुं कैमुतिकन्यायनिरूपणाय भगवतो नानाविधानि माहात्म्यानि निरूपयति **तीर्थं चक्रे नृपोनमिति**.

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः ।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ॥४७॥

किं भगवतो माहात्म्यं वक्तव्यं? **यत्**किञ्चित् **यदुषु अजनि** चरित्रं, गुणाः, पुरुषाः; भगवत्सम्बन्धि **यत्**किञ्चित् तत्सर्वमेव प्रत्येकं **तीर्थमूनं**

लेखः

ये चानुवर्तिन इत्यत्र **अतएवेति**. भगवत्सम्बन्धित्वादेवेत्यर्थः ॥४५॥

चक्रे. तत् किं तीर्थमित्याकाङ्क्षायामाह **स्वःसरिदिति,** गङ्गेत्यर्थः. यदुकुलावतीर्ण-भगवत्सम्बन्धि यत्किञ्चित् सर्वमेव प्रत्येकपदार्थमात्रमपि गङ्गातोऽप्युत्तममित्यर्थः. एतस्य तथात्वं भगवतैव कृतमिति ज्ञापयति **चक्र** इति. स्वयं तस्य चरित्रस्य तथामाहात्म्यं[१] दत्तवानित्यर्थः. ननु तथापि ये युक्त्यैव पदार्थान् अङ्गीकुर्वन्ति तेषामत्र कथं बुद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह **स्वःसरिदपि पादशौचमिति.** प्राणिनः सर्वसम्बन्धिपदार्थापेक्षया पादशौचमपकृष्टं; तत् पुरुषः पुनर्न स्पृशति. **स्वःसरिदिति,** भूमिष्ठायाः पातालस्थायाश्च तत्रत्यदोषसम्बन्धात् कदाचिद् दोषोऽपि भवेदिति. एवमेकं माहात्म्यं निरूपितं सामान्यरूपं जडसाधारणम्. जीवेषु विशेषमाह **विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरिति,** द्वेष-रागयोरपि मोक्षसाधकत्वं जातमित्यर्थः. तस्मात् कृष्णावतारे यः कश्चन धर्मः मोक्षं दास्यतीति निरूपितमित्यर्थः. भगवतः सकाशाद् ऐहिकसिद्धौ हेतुमाह **अजितपरा श्रीरिति.** लक्ष्मीर्भगवत्परा अतः स्वामी सेवकेभ्य एव दास्यति नान्येभ्य इत्यनायासेनाप्यैहिकसिद्धिः. इदं तृतीयं माहात्म्यं परम्पराप्रकारेणागतम्. प्रसङ्गाद् भगवत्सम्बन्धिन्या लक्ष्म्या माहात्म्यमाह— येनान्येषु माहात्म्यं निराकृतं भवति— **यदर्थे अन्ययत्न** इति. **यस्याः** लक्ष्म्याः सम्बन्धि **अर्थे** अर्थरूपे पुरुषार्थे **अन्येषां** महान् **यत्न** एव, प्राप्तिस्तु सन्दिग्धेत्यर्थः. यत्र अर्थ एव पुरुषो हीनो, अप्यन्येषां सन्दिग्धः तत्र धर्मादिषु का वार्ता इत्युक्तम्. एवं भगवत्सम्बन्धिपदार्थमात्रस्य, जीवानां शक्तेश्च, माहात्म्यं निरूप्य नाम्नो माहात्म्यमाह **यन्नामामङ्गलघ्नमिति.** यस्य नाम[२] अमङ्गलं नाशयति. सम्बन्धमात्रमपेक्ष्येति वक्तुं **श्रुतमिति.** **(अथ!) गदितं** तु ततोऽपि भिन्नप्रकारेण = हेतुसहितमपि अमङ्गलं नाशयतीत्यर्थः. ननु ऋषिपरम्परागतस्य धर्मस्य माहात्म्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याह

लेखः

तीर्थं चक्र इत्यत्र. तीर्थं स्वत एव न न्यूनं किन्तु चरित्रं कर्तृ तथा चक्रे. तथाकरणसामर्थ्यं तु भगवद्दत्तमेव भवतीत्याशयेनाहुः **तथासामर्थ्यं दत्तवानिति. स्वःसरिदिति** पदम् आवर्त्य उभयत्रान्वेति इत्याशयः ॥४७॥

१. तथासामर्थ्यमिति लेखकृतां पाठः —सम्पा.	२. मुद्रिते नास्ति, शेषेषु एवम् - सम्पा.

येनैव भगवता **कृतासु** ऋषिपरम्परासु वर्तमानो **(गोत्र!) धर्मः**. एवं षड्विधं माहात्म्यमुक्तम्. यस्यैतावान् माहात्म्यं तस्य **(कृष्णस्य!)** एतद् भूभारहरणलक्षणं तदर्जुनादिभिः कृतं तत् **चित्रं न** भवति, जीवधर्मत्वात्. ननु कश्चिद्धर्मः सेवकैरेव कर्तुं शक्यते, न प्रभुणा, इति भूभारहरणं भगवतः अशक्यमेव कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह **कालचक्रायुधस्येति**. कालरूपं चक्रमायुधं यस्येति. कालसहस्रांशेनापि भूभारो हर्तुं शक्यः तत्र पूर्णः कालः = भगवतः सुदर्शनमेकम् आयुधमिति कः सन्देहो भूभारहरणेऽपि! ॥४७॥

एतादृशोऽपि भगवान् साम्प्रतं क्वास्तीत्याकाङ्क्षायामाह.

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥४८॥

जयति जननिवास इति. स कृष्णो भगवान् इदानीमपि तत्सम्बन्धिजनेषु सर्वेष्वेव **जयति** सर्वोत्कर्षेण वर्तते, यतोऽयं **जननिवासः** स्वभावतोऽपि सर्वेषु जनेषु निवसति परमात्मा सर्वान्तरः. ननु देवकीपुत्रं पृच्छामि– यो देवक्यां जातः स क्व वर्तत इति– तत्राह **देवकीजन्मवाद** इति. देवक्यां जन्मवादमात्रम्– लोकाः विवादे सति "भगवान् क्वापि नास्ती"त्युक्तौ सिद्धान्तनिरूपणप्रस्तावे वीतरागाः "देवक्यां जातोऽस्ती"त्याहुः– नतु तावन्मात्ररूपत्वं तस्येत्यर्थः. ननु स सर्वत्र किं कुर्वन् तिष्ठतीत्याकाङ्क्षायां तस्य त्रिविधं कर्माह. तत्र सात्त्विकं निरूपयति— **यदुवराणां परिषदि** सभायामपि केवललौकिकपरेऽपि ये **स्वाः** स्वकीयाः सेवकाः सन्ति तैरपि **अधर्म**जातं सर्वमेव दैत्यादिरूपम् **अस्यन् (दोर्भिः!)** क्षिपन्. अद्यापि भगवान् द्वारकायां यादवसभायां सेवकैः सह विराजते. यदि कश्चिद्

लेखः

जयतीत्यत्र **तैरपीति** अपिशब्दात् स्वयमपि तथा करोतीत्यर्थः. **यदुवरपरिषदिति. ये स्वाः सेवकाः** ते क्षतत्राणाद् भगवद्बाहुरूपाः इति मूले **दोर्भिरिति** विशेषणस्यार्थ इति ज्ञेयम्. द्वारकास्थानां वृजिनप्राप्तिरेव

एतन्मध्ये दैत्यः प्रकटो भवेत् तदा तत एव कञ्चित् प्रेषयित्वा तं मारयतीत्यर्थः. तामसं चरित्रमाह **स्थिरचरवृजिनघ्न** इति. द्वारकाव्यतिरिक्तस्थाने सर्वत्रैव यत्र यत्र परिभ्रमणं कृतवान् तेषां सर्वेषामेव प्रसङ्गादपि **वृजिनं** पापं दूरीकरोति. ये वा पुरुषाः ये वा वृक्षाः. वृजिनस्यैव वा स्थिर-चरभेदौ प्रकार-वासनारूपौ. अनेन सर्वत्रैव भगवान् अस्ति यदि भक्तो भवेदिति निरूपितम्. राजसमाह **सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवमिति. सुस्मितं** शोभायुक्तं यन्मुखारविन्दं तेनैव **व्रजे** गोकुले **पुरे** मथुरायां द्वारकायां च याः स्त्रियः गोपिकाः कुब्जाप्रभृतयो महिष्यश्च तासां हृदये **कामदेवं वर्धयन्** आस्ते. कामस्य देवत्वं मोक्षपर्यवसानात्; योऽस्त्येव सर्वेषु तमेव वर्धयन् स्वसम्बन्धमात्रेणैव मोक्षं प्रयच्छतीत्यर्थः. एषा पूर्वकथा; पूर्वं यादृशी तादृश्येव इदानीमपि तथैव तेषु स्थानेषु करोति. अत्रार्थान्तरमपि ध्वन्यते — अत्यन्तमोहिकया लोके परमसौन्दर्यं प्राप्तया भक्त्या व्रजस्थितानां पुरस्थितानां च ग्रामेऽरण्ये च निवसतां कामम् उद्बोधयन् आस्त इति तस्य देवत्वं मन्तव्यम् ॥४८॥

एवं चरित्रमुपपाद्य तत्र शुकः श्रवणादिकं विधत्ते नित्यत्वाय.

लेखः

नास्तीत्याशयेनाहुः **द्वारकाव्यतिरिक्तेति. प्रकारेति.** निषेधे प्रकारतामापन्नं हननादिरूपं वृजिनं स्थिरं, भोगं विना तन्नाशाभावात्. **वासनारूपं** मनसा भावितं वृजिनं चरं, तस्य तथाभोगापेक्षाभावादित्यर्थः. **अत्यन्तेति.** स्मितसाहित्येन मोहकत्वं परमसौन्दर्यं च; तादृशेन भक्तिरूपमुखेन उद्बोधनाद् अयं व्रजपुरवनितासु स्थितः कामो देवरूपः आधिदैविको "अत्रैव लोके प्रकटम्" (सुबो. १०।३०।०) इति कारिकोक्त इति मन्तव्यमित्यर्थः. तथाच भगवद्भोग्यासु स्थितस्य कामस्य भगवद्रूपत्वम् इत्यर्थान्तरो ध्वनित इत्यर्थः.

इत्थं परस्येत्याभासे एवं चरित्रमिति. यद्यपि "तस्माद् भारत सर्वात्मा" (भाग.पुरा. २।१।५) इत्यत्र श्रवणं विहितम्. तत्र श्रोतव्यतावच्छेदकत्वेन सर्वात्मत्वादिधर्मचतुष्टयमुक्तम्; एतच्च तत्रैव विवृतम्. अत्र कृष्णचरित्रे श्रवणं विधीयते. तथाच अत्र कृष्णलीलात्वं श्रोतव्यतावच्छेदकमिति विभेदः ॥४८-४९॥

इत्थं परस्य निजधर्मरिरक्षयात्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य
श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥४९॥

इत्थं परस्येति. पूर्वोक्तप्रकारापन्नम् अन्यदपि भगवच्चरित्रं **इत्थमित्यनेन** परिगृह्यते. अक्षरादपि **परः. निजधर्मा** ये भक्तास्तेषां **रिरक्षया आत्ता लीलातनुर्येन** तादृशस्य परमकृपालोः **तदनुरूपविडम्बनानि** तन्नाट्यानुरूपतया लोकप्रकारं विडम्बयन्ति यानि **कर्माणि** भोजन-शयनादीन्यपि तानि शृणुयादिति विधिः. अश्रवणे प्रत्यवाय इत्यर्थः. ननु किं श्रवणेनेति चेत्, तत्राह **कर्मकषणानीति,** सर्वपापनाशकानि. पापक्षयस्तेषामानुषङ्गिकं फलमित्यर्थः. यद्यपि अवतारान्तरचरित्रमपि पापनिवर्तकं भवति तथापि **यदूत्तमस्य** शृणुयात्. को विशेष इति चेत्, तत्राह **अमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्निति.** कृष्णचरणारविन्दयोश्चेदनुवृत्तिं वाञ्छति तदा एतदेव श्रोतव्यमित्यर्थः ॥४९॥

नन्वेवं नित्यतया श्रवणे चरणानुवृत्तौ वा किं भविष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह.

मर्त्यस्तया तनुसमेधितया मुकुन्द-
श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं
ग्रामाद् वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ॥५०॥

॥ इति श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धे सप्ताशीतितमोध्यायः ॥

मर्त्यस्तयेति, तया चरणानुवृत्त्या मरणधर्माप्ययं पुरुषः तेनैव शरीरेण **तद्धाम एति.** ननु तदानीमेव तस्य वैकुण्ठागमनं नोपलभ्यत इति चेत्, तत्राह **तनुसमेधितयेति.** तनु अल्पम्; अल्पं **समेधितया** तैलधारावद् अनवच्छिन्नश्रवणादिभिः क्रमेण यदा पुष्टा भवति. **तनौ** शरीरे वा **समेधिता. ननु** इति पाठे अप्रतारणार्थं सम्बोधनम्. तस्या अनुवृत्तेः पोषणार्थं त्रीण्यङ्गानि निरूपयति **श्रीमत्कथायाः श्रवणं कीर्तनं चिन्ता** च यस्यामिति. **श्रीमदित्यनेन** पामराणां वक्तुमजानतां सम्बन्धिनी कथा व्यावर्तिता. भगवद्धाम्नः

लेखः

मर्त्यस्तयेत्यत्र पामराणामिति, अज्ञैरुक्तेत्यर्थः ॥५०॥

सर्वोत्कृष्टफलत्वाय विशेषणमाह **दुस्तरकृतान्तजवापवर्गमिति.** **दुस्तरः** सर्वप्रकारैरपि निराकर्तुमशक्यः तस्य **जवस्य** वेगस्य मारणार्थं धावनरूपस्य **अपवर्गः** समाप्तिर्यत्र. मृत्युस्तावदेव धावति यावदक्षरम्, अक्षरपर्यन्तमेव कालनिरूपणात्. तेन अक्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं यातीत्यर्थः. एतत्फलं ज्ञानमार्गेऽपि दुर्लभमिति ज्ञापयितुमाह **ग्रामाद् वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्था** इति. पूर्वं क्षितिभुजः राज्ये स्थित्वा राज्यपरिपालनधर्मेण परिपक्वाः सन्तः नगरादिकं विहाय ग्रामे = कलापग्रामादौ ज्ञाननिष्ठाः सन्तः तिष्ठन्ति. ततोऽपि भगवन्माहात्म्यमवगत्य तदपि विहाय **वनं** सर्वगूढं स्थानं **ययुरित्यर्थः. ग्रामशब्दो** ग्राम्यपरो वा. यस्य श्रवणमात्रमेव राज्यापेक्षयापि सर्वोत्कृष्टम्; अन्यथा स्थितं विहाय कथं ते विवेकिनः वनं गच्छेयुः? **यदेव** पदम् **अर्थः** पुरुषार्थो येषां ते **यदर्थाः** ॥५०॥

इत्येवं दशमस्कन्धे संक्षेपेणात्र लेशतः ।
अर्थो मयातियत्नेन स्वभावेन निरुपितः ॥(१९)॥
अनेकयुक्तिसन्दर्भमालाकारेण योजितः ।
कृष्णपादाम्बुजे न्यस्ता वाक्पुष्पाञ्जलिरुज्ज्वला ॥(२०)॥
सिद्धान्ताः सकलागमाश्च वितता लोकेऽधुना सर्वतः ।
ते प्रायेण निरूपिताः सुबहुशो भक्त्यै मुकुन्दाङ्घ्रये ॥(२१)॥
विस्तारस्तु गुणाय कृष्णचरणे चित्तं भवेद् विस्तृतं
तेनाहं हृदयस्थितेन हरिणा यावद्यथा रूपितम् ॥(२२)॥

इति श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

॥ समाप्तोऽत्रोत्तरार्धो दशमस्कन्धश्च ॥

लेखः

अनेकेति. अनेकाभिर्युक्तिभिः सन्दर्भो ग्रथनं तद्युक्ता या माला तदाकारेण योजिता वाक्पुष्पाञ्जलिरित्यर्थः (२०).

॥ इति भागवतदशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

[१]अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥
हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥

॥ इति सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥
॥ समाप्तं गुणप्रकरणम् ॥

---

१. एतच्छ्लोकद्वयं सर्वादर्शपुस्तकेषु दृश्यते. तच्चाचार्यचरणप्रणीतग्रन्थान्तःपातित्वेन ग्रन्थाद् बहिर्भूतमप्युपन्यस्तम्. श्लोकत्रयं तदनन्तरमस्ति, परं तन्न विद्वत्तोषपोषकं न वाङ्मयरूपं महापुरुषाणामिति नास्माभिरत्रोट्टङ्कितम् ।

२. "गोपीनाथमहाराजं भगवान् भगवत्तमः। तदाश्रयेण तद्दृष्ट्या तत्प्रसादात् तदात्मना॥ तदीयानां तदर्थार्थं तदेकशरणार्थिना। व्यासवल्लभशिष्येण व्यासरायेण लेखिता॥ श्रीकृष्णो मम हृदयं प्रविश्य चक्रे यादृक् च दशमगुणानुवर्णनायाम्। तेनाहं निरूप्य तुष्टः स्कन्धेऽस्मिन् दशम इति प्रसन्नः कृष्णः॥" –श्रीमन्महाप्रभोः (?) शिष्येण श्रीव्यासरायेण सुबोधिनीमातृकालेखकेन लिखितं इदं श्लोकद्वयं क-सं.पाठयोः अधिकम् उपलभ्यते – सम्पा.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धसुबोधिन्यां

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

* * *

अथैकत्रिंशताध्यायैर् मुक्तिरेकादशे द्विधा ।
ब्रह्मभावः कृष्णयोगो हरेर्धर्मैस्तथाज्ञया ॥(१)॥
अविद्या पञ्चपर्वा हि तन्नाशे प्रथमा भवेत् ।
प्रकृत्यतिक्रमे चान्या ततोऽध्यायास्तथा द्वये ॥(२)॥
जनकश्चोद्धवश्चैव सात्त्विको राजसस्तथा ।
पुष्टिमार्गस्य मुख्यत्वाद् विपरीता गतिर्गुणैः ॥(३)॥

श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः

एकादशस्कन्धविवरणं चिकीर्षवः पूर्वस्कन्धसङ्गतिनिरूपणपूर्वकं तदर्थं विभजन्ति **अथ** इत्यादि. एवञ्च अत्र आनन्तर्यवाचिना **अथ**शब्देन अवसरसङ्गतिः प्रदर्शिता. **द्विधा** इति उच्यते इति शेषः. विधाद्वयम् आहुः **ब्रह्मभावः कृष्णयोगः** इति. तत्र ब्रह्मभावः तिरोहितांशाविर्भावे जडजीवयोः प्रकटसच्चिदानन्दतया भवतीति तत्त्वदीपे उपपादितम्. **कृष्णयोगः** सायुज्यम्. क्रमेण उभयोः हेतुम् आहु **हरेर्धर्मैस्तथाज्ञया** इति. अत्र प्रथमं पञ्चमाध्यायस्य समाप्तौ "धर्मान् भागवतान् इत्थम्" (भाग.पुरा. ११।२।३१) इत्यारभ्य "ब्रह्मभूयाय कल्पते" (भाग.पुरा. ११।५।५२) इत्यन्तायां नारदोक्तौ स्फुटम्. द्वितीयं च एकोनत्रिंशाध्यायसमाप्तौ "गच्छोद्धव मयादिष्ट" (भाग.पुरा. ११।२९।४१) इत्यारभ्य "मामेष्यसि ततः परम्" (भाग.पुरा. ११।२९।४४) इत्यन्तायां भगवदुक्तौ च स्फुटम्. एवम् अत्र जीवमुक्तिः द्विधा निरूपिता (१).

तत्र प्रतिबन्धकाभावस्यापि कारणताम् अध्यायसङ्ख्यातात्पर्यनिरूपणमुखेन प्रकटयन्ति **अविद्या** इत्यादि. **तथा** इति तेन प्रकारेण; प्रथमायां पञ्च द्वितीयस्यां चतुर्विंशतिः च इति अर्थः (२).

क्रमेण उभयोः अधिकारिणौ आहुः **जनकः** इत्यादि. ननु उत्तमायां कथं जघन्यो अधिकारी इति आशङ्कायाम् आहुः **पुष्टि** इत्यादि. तथाच

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।
जीवब्रह्मविभागेन द्विधा द्वयमुदीर्यते ॥(४)॥
तामसा राजसाश्चैके तत आद्ये द्वयं मतम् ।
अंशाश्च भगवांश्चेति द्वितीयोऽपि द्विधा मतः ॥(५)॥

प्रकाशः

अत्र पुष्टिरेव फलप्रापिकेति तदाधिक्ये गुणानाम् अकिञ्चित्करत्वं प्रत्युत आसक्तिदार्ढ्यहेतुत्वेन उपकारकत्वात् शीघ्रफलप्रापकत्वमिति न अधिकारिणि जघन्यत्वम् इति अर्थः (३).

ननु अस्तु एवं मुक्तिद्वैविध्यं, तथापि शिष्टाध्यायद्वयस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायां तद् वक्तुम् उपोद्घातेन आहुः **मुक्तिः** इत्यादि. तथाच उक्तरूपा मुक्तिः उक्तविभागेन यतो **द्विधा** अतः शिष्टम् अध्याय**द्वयं** द्वितीयमुक्त्यर्थम् **ईर्यते** इति अर्थः. अत्र इदं हृदयं— "यया हरद् भुवो भारं" (भाग.पुरा. १।१५।३४) "यथा मत्स्यादिरूपाणि" (भाग.पुरा. १।१५।३५) इति वाक्यद्वयाद् यद् नटवद् व्यूहसहितं प्राकृतमर्त्यलीलौपयिकरूपं[१] रजतवत् प्राकृतानां प्रदर्शितम् आसीत् सा अंशेन भगवता तद् हित्वा यन् निर्गुणं व्रजोद्धारकं रूपं स्वस्य, यत् च अंशानां गुणाभिमानत्यागं कृत्वा अवतारयोग्यं रूपं[२] तेन यद् अवस्थानं तस्य इच्छामात्रेणैव सिद्ध्या जीववत्[३] साधनान्तरापेक्षाभावात् तथा इति भावः (४).

ननु स्कन्धार्थानाम् उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वकारणकत्वाद् मुक्तेः निरोधकार्यत्वं वाच्यं; तथा सति ये निरुद्धाः तेषां मुक्त्यवश्यम्भावात् पूर्वस्कन्धोक्तानां तामसानामपि मुक्त्यधिकारे संग्रहः आवश्यकः, सो अत्र कुतो न कृतः इति चेत्, तत्र आहुः **तामसा राजसाश्चैके** इत्यादि. **एके** इति एककोटिनिविष्टाः. ततो जीवमुक्तिप्रकरणे अधिकारिद्वयं व्यासचरणैः विचारितमिति तेऽपि संगृहीताएव इति अर्थः. इदं यथा तथा एकादशाध्याये "न रोधयति मां योगः" (भाग.पुरा. ११।१२।१) इत्यादिपञ्चदशश्लोकेषु स्फुटम्. ननु अस्तु एवं, परं द्वितीये विभागे अध्यायद्वयस्य किं प्रयोजनम्

१.-लीलोपयिक-. २. गुणरूपम्. ३. जीवसाधना-.

ततः पञ्चभिराद्या स्यात् चतुर्विंशतिभिः परा ।
एकैकेनेश्वरस्योक्ते त्याज्यांशाभावतः परे ॥(६)॥
ममाहम्मतिनाशार्थं प्रक्रियाद्वितयं मतम् ।
तयोरभिनयः पश्चात् कृतो भगवतेति च ॥(७)॥
ततश्च प्रथमेऽध्याये बीजद्वयमुदीर्यते ।
ब्रह्ममुक्तिर्निजेच्छातो वैराग्येणेतरस्य च ॥(८)॥
चतुर्धामुक्तिपक्षश्च[१] तदिच्छात इति स्थितिः ॥

प्रकाशः

अतः आहुः **अंशा** इत्यादि. यदुषु निविष्टाः प्रद्युम्नानिरुद्धसङ्कर्षणांशाः. तथाच एवं प्रकारभेदाद् अध्यायद्वयम् इति अर्थः (५).

एवम् अध्यायप्रयोजनं विविच्य संगृह्णन्ति **ततः** इत्यादि. **उक्ते** इति मुक्ती इति शेषः. ननु अन्यथारूपत्यागस्य ईश्वरमुक्तावपि वक्तव्यत्वात् तावन्तो अध्यायाः वक्तव्याइति कथम् एकैकेन तदुक्तिः? इत्यतः आहुः **त्याज्य** इत्यादि. **परे** ब्रह्मणि सांशे भगवति **त्याज्यांशाभावतः** त्याज्यस्य अविद्याप्रकृतिलक्षणस्य अंशस्य अभावात्. तथाच स्वरूपावस्थानस्य तत्र[२] वक्तव्यत्वाद् एकैकाध्यायेनैव ते उक्ते इति अर्थः (६).

मुक्तिद्वयेऽपि अवान्तरप्रकरणद्वयस्य तात्पर्यान्तरमपि अन्तिमाध्यायद्वय-स्वारस्याद् आहुः **मम** इत्यादि. ननु ईश्वरे तयोः अभावात् कथं तत्र प्रकरणद्वयम्? इत्यतः आहुः **तयोः** इत्यादि (७).

ननु उपक्रमे तदभावे उपसंहारमात्रस्य न निश्चायकत्वम्! इति आकाङ्क्षायां प्रथमाध्यायार्थम् आहुः **ततः** इत्यादि. ननु एवं द्विविधमुक्त्यङ्गीकारे तृतीयस्कन्धादिसिद्धस्य चतुर्धापक्षस्य विरोधः! इत्यतः आहुः **चतुर्धा** इत्यादि. **तदिच्छातः** इति स्वस्य भक्तानां वा इच्छातः. तथाच ये[३] सेवया न पूर्णाः ते ताः इच्छन्ति. यदिवा "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुंक्ते" (भाग.पुरा. ३।२५।३६) इतिवद् भगवतो वा तथा इच्छा तदा ब्रह्मभावे सति तत्कोटिनिविष्टाः ताअपि[४] भवन्तीति न विरोधः इति अर्थः (८ १/२).

१. पक्षस्तु. २,३. लुप्तम्. ४. मयि.

अथ व्याख्या. तत्र बीजप्रकारेण ईश्वरेच्छया मुक्तिप्रकारमाह सप्तभिः. ईश्वरस्य मुक्तौ भूमेः भारनिराकरणं बीजमिति तदाह पञ्चभिः —

एकैकेन त्रिभिश्चेति कायवाङ्मनसा कृतम् ॥(९)॥

तत्र कायिकमाह **कृत्वेति.**

॥ श्रीबादरायणिः उवाच ॥

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।
भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम् ॥१॥

न अयम् अनुवादः किन्तु अपूर्वतया भूभाररूप-दैत्यवधो निरूप्यते. "भूर्मिर्दृप्तनृपव्याज" (भाग.पुरा. १०।१।१७) इत्यत्र राजानो दैत्याः निरूपिताः. ते यद्यपि कंस-जरासन्धादयो भवन्ति तथापि तेषां वधो निरोधशेषत्वेन निरूपितइति– भूभारहरणं च तेन जातमिति– स्वतन्त्रतया तत् पुनः उच्यते. अनुवादे केवलस्य प्राप्तिभावः[1] प्रक्रियातः पृथक्कृत्य फलान्तरसम्बन्धार्थं पुनः कथनम्. एकएव अर्थो बहुधा निरूप्यते भिन्नप्रयोजनाय इति व्यवस्थापितं;

प्रकाशः

एवं स्कन्ध-प्रकरणार्थान् निश्चित्य व्याख्यातुम् आरभन्ते **अथ** इत्यादि. **अयम्** इति अपूर्वतया कथनम्. व्युत्पादयन्ति **भूमिः**[2] इत्यादि. तथाच भूभारहरणशेषत्वेन पूर्वम् अनिरूपणात् तच्छेषत्वेन रूपेण यत् कथनं तद् अत्र अपूर्वमिति तथा इति अर्थः. ननु एवमपि विशेषाभावाद् अनुवादेऽपि अदोषः इति आशङ्कायाम् आहुः **अनुवाद** इत्यादि. अतः **केवलस्य** निरोधशेषस्य **प्राप्तिः** भवेद् इति अर्थः. किं तावता इत्यतः आहुः **प्रक्रियात** इत्यादि. यदि निरोधशेषो अयं स्यात् तदा कालनेमेरिव एषां मोक्षो न स्यात्, तादर्थ्याभावात्, तथा सति पुनः उत्पत्त्या पुनः भूमिः भारेण पीड्येत इति तत्प्रार्थना मुधा स्यात्. एवन्तु तेषां मुक्तौ पुनः उत्पत्त्यभावेन कार्यसिद्धिः सुसिद्धा[3] भवति अतः तथा इति अर्थः. एतावता सिद्धं व्यासाशयम् आहुः **एकएव** इत्यादि. **व्यवस्थापितम्** इति श्रीशुकैः इति शेषः. ननु एवं क्वापि न सिद्धमिति कथम् अत्र आश्वासो भवेद्?

१. प्राप्त्यभावः. २. लुप्तम्. ३. शुद्धा.

"वाग् वै देवेभ्यः" (तैत्ति.संहि. ६।४।११।५) इति उपक्रम्य "ते देवा वाचि अपक्रान्तायाम्" (तत्रैव) इत्यत्र तथा निर्णीतम्. वध्यत्वाय **दैत्य** इति. प्रकारः पूर्वसिद्धएव. **कृष्ण** इति सङ्कर्षणरूपः,[१] सङ्कर्षणांशचरित्रस्यैव स्कन्धार्थत्वात्. यादृशस्य भूभारनाशकत्वं तद् आह बलभद्रसहितो यादवैश्च सहितः इति. तत्रापि केशत्वज्ञापनाय[२] **सराम** इति. भूभारहरणार्थमेव अंशावतरणस्य जातत्वात् तदुपयोगं वक्तुं **यदुभिः** इति. तैः वेष्टितः प्रार्थितो वा. भूभारहरणार्थं देवत्वाद्, आसन्नस्यतु[३] पीडायां स्वदेहएव स्वस्य भारः किं पुनः पीडकभार[४] इति कलहजनने क्रोधावेशेन भारानुसन्धाननिराकरणार्थं सर्वत्र भूमौ **(जविष्ठं!) कलिं जनयन्**, वेगवत्तरस्यैव तथात्वात्. अतो अक्लिष्टकर्मत्वाय कलिजननम्. वधो भूभारहरणाय इति प्रसिद्धम्.[५] न

प्रकाशः

इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **वाग् वा** इत्यादि. इदं वागुपक्रमोपाख्यानं षष्ठाष्टकपूर्वाध्याय-चतुर्थानुवाके वागवरोधफलार्थं [६]दीक्षितदण्डदानप्रसङ्गे उक्तमपि चतुर्थाध्यायैकादशानुवाके तूष्णींग्रहग्रहणलक्षणफलार्थं[६] पुनः उच्यते इति श्रुतिसिद्धत्वात् सुखेन आश्वास इति अर्थः. **पूर्वसिद्ध** इति. तथाच प्रयोजनाभावात् स पुनः न उच्यते इति भावः. वाक्यार्थम्[७] उक्त्वा पदार्थम् आहुः **तत्रापि** इत्यादि. प्रार्थनपक्षे हेतुम् आहुः **देवत्वाद्** इति. ननु अवतरणस्य तादर्थ्यं प्रभुः जानात्येवेति किं प्रार्थनेन इत्यत आहुः **आसन्नस्य**[८] इत्यादि. स्वप्रादुर्भावमात्रेण जाते भूमेः क्लेशव्यये रसातले नेतुं प्रवृत्ताः दैत्या इति तच्छीघ्रताज्ञानेन[९] आसन्नतुल्यत्वात्[१०] स्वदेहेऽपि तस्याः तथा भानेन[११] भारलेशस्यापि परिहार्यत्वाय प्रार्थनम् आवश्यकम् इति अर्थः. **भारानुसन्धाननिराकरणार्थम्** इति. अन्यथा भूमज्जने मनुष्येषु उत्पन्नानां स्वेषामपि मज्जनानुसन्धानात् तथा भारं न कुर्युः, तथा सति अग्रिमकार्यमपि न स्याद्, अतः तथा इति भावः. **जविष्ठपदतात्पर्यम्** आहुः **वेग** इत्यादि. **प्रसिद्धम्** इति, प्रकर्षेण सिद्धं निष्कृष्टम् इति अर्थः.

---

१. रूपः इति लुप्तम्. २. केशवत्त्व-. ३. आसनस्य, आसन्यस्य. ४. पीडको भार, पीडकाभार-. ५. सिद्धम्. ६-६. लुप्तम्. ७. पादार्थम्. ८. आसनस्य, आसन्यस्य. ९. शीघ्रतया ज्ञानेन. १०. असन्तुल्यत्वात्. ११. भावेन.

एतादृशो अर्थः क्वचिद् दशमस्कन्धे निरूपितो येन अनुवादशङ्कापि स्यात्. "यो वै ममातिभरम् आसुरवंशराज्ञाम्" (भाग.पुरा. १।१६।३४) इत्यत्र एतस्यैव अनुवादः. तेन दशमस्कन्धे अनुक्तमेव भूभाररूपदैत्यानां वधरूपं चरित्रम् इह उच्यते इति सिद्धम् ॥१॥

एवं कायिकम् उक्त्वा वाचनिकम् आह—

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नैर्
दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः ॥२॥

ये इति. अक्लिष्टकर्मत्वाद् ये स्वतो भगवत्समक्षम्[१] अहताः आधिदैविकरूपाः ते भगवता हताः. येतु दुर्योधनादयो भगवति विरोधम् अकृत्वैव परस्परं विरुद्धाः, भगवतितु समाः, तत्र ये भगवद्वाक्यं कुर्वन्ति तैः अन्ये मारिता इति निरूप्यते. अस्य विस्तारो भारते प्रसिद्धः. अनेकैः अपराधैः **बहुकोपिताः**. लाक्षागृहदाहादेः तुल्यत्वदशायाम् अजातत्वाद् **दुर्द्यूतादिकम्** उक्तम्. द्यूतस्य कपटरूपत्वे ज्ञाते कोपो भवति. ततोऽपि **हेलनेन** षण्ढतिलाः पाण्डवा जाता इति वाचनिको अपराधः. (**कचग्रहणं!**) द्रौपदीकेशाकर्षणं कायिको अपराधो मानसो वा. प्रथमः कायिक इति

प्रकाशः

एतेन सिद्धम् आहुः **न एतादृश** इत्यादि. उक्तव्याख्यानोपष्टम्भाय आहुः **यो वा** इत्यादि ॥१॥

ये कोपिता इत्यत्र. ननु दैत्यत्वाविशेषेऽपि सतो यद् अमारणं तत्तात्पर्यम् आहुः **अक्लिष्ट** इत्यादि. तथाच अन्वाविष्टत्वेन[२] आध्यात्मिकत्वात् तथा इति अर्थः. एतदेव उपष्टम्भन्ति **आधिदैविक** इत्यादिना, **तुल्यत्वदशायाम्** इत्यादि. बाल्ये कृतस्य अपकारस्य तथा कोपजनकत्वाभावाद् इति भावः. **षण्ढतिला** इति निःसत्त्वतिलप्रायाः. "नहि एतत्तिले तैलम्" इति अप्रयोजके लोकोक्त्या अस्य वाचनिकापराधत्वम् इति भावः. केशग्रहस्य मानसत्वं

१. समक्षमागता. २. अन्याविष्टत्वेन.

केचित् , केशाकर्षणस्य भावान्तरज्ञापकत्वात् . साधनफलयोः बहुकालत्वज्ञापनाय निर्देश-प्रतिनिर्देशौ. कालान्तरे क्रियावश्यम्भावाय **सुबहु** इति. शोभनत्वं हृदयस्थितिः. **पाण्डोः सुता** इति वीरपुत्रत्वम् अविस्मरणाय. स्वतः प्रतिक्रियासामर्थ्याय **सपत्नैः** इति, तुल्यैः इति अर्थः. दुर्द्यूतादौ **आदिशब्दः** सजातीयबहुत्वाय. भूमौ कलेः उत्पादितत्वाद् **निमित्तार्थम् इतरेतरतो** अन्योन्यसापेक्षयोः प्रवेशः **समेतत्वम्**. ये कोपिताः यैः च कोपिताः ते **इतरेतरशब्दवाच्याः**. उभयेषां प्रार्थनया निमित्तत्वज्ञापनाय. तस्मिन् निमित्तन्तु कोपिताएव. अन्येषाम् आनुषङ्गिकत्वात् पाण्डवाएव कौरवाणाम् उपरि युद्धार्थम् आगताः इति. **(नृपान्!)** नृपव्याजान् अनृपान् वा. रूढिरेव वा, दैत्यवधे देवानां सुखित्वाद् भारस्य अधस्तात् स्थापनम्. नृपाणां वधेतु ततोऽपि **निरहरत्**. तेषाम् असद्भावनिराकरणेनापि कार्यसिद्धौ तेषामेव निराकरणम् ईश्वरेच्छायाः[१] नियन्तुम् अशक्यत्वाद् उपपन्नम् इति आह **ईश** इति. गीतोपदेशेन एतद् इति सिद्धम् ॥२॥

प्रकाशः

साधयन्ति **भावान्तरज्ञापकत्वाद्** इति. **साधन-फलयोः** इति कौरवापराध-पाण्डवकोपयोः. **निर्देश-प्रतिनिर्देशौ** इति 'यत्'-'तच्'छब्दौ. **क्रियावश्यम्भावाय** इति कोपक्रियावश्यम्भावाय[२]. **हृदयस्थितिः** इति. सर्वप्रकारेण अपकारादिकरणेऽपि "सम्यग् अपकृतं सम्यक् ताडित" इत्यादिलौकिकप्रयोगात् तादृगपकारस्य अविस्मरणेन हृदि स्थितेः सैव अत्र सूपसर्गद्योत्या. अन्यथा बहुपदेनैव चारितार्थ्याद् उपसर्गवैयर्थ्यापत्तेः इति भावः. ननु अस्तु एवं तथापि कथं भगवतः कलहप्रयोजकता इत्यतः आहुः **उभयेषाम्** इत्यादि. तस्मिन् कलहे एवं निमित्तत्वज्ञापनाय तथा उच्यते इति अर्थः. **अन्येषाम्** इति कौरवाणाम्. ननु "नॄन् पाति" इति योगेन तेषां धार्मिकत्वात् कथं हननम्?[३] इत्यत आहुः **नृपव्याजान्** इत्यादि. नटे यथा रामादिप्रतीति-प्रयोगौ तथा तेषु नृपत्वस्य इति अर्थः. स्फुटम् अन्यत्. पूर्वश्लोके भारावतारणस्य अत्र भारनिर्हरणस्य उक्तेः तात्पर्यम् आहुः **दैत्यवध** इत्यादि. ईदृगीश्वरेच्छायां

१. ईश्वरेच्छया. २. कौरवकोप-. ३. मारणम्.

भारानुसन्धानोपायान्वेषण-कार्यकारणानि[1] वदन् मानसं त्रिभिः आह. तत्र भारानुसन्धानम् आह —

भूभारराजपृतनां यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद् यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥३॥

भूभार इति. मुख्यानां स्वतः पाण्डवैः[2] च हतत्वाद् अंशानामपि सकार्यत्वाद् यदुभिः पृतनानिराकरणम् उक्तम्. जरासन्ध-बाण-शाल्वादीनां पृतनानामेव भारत्वं, प्रकृतोपयोगात्. यदूनां करणत्वाय गुप्तबाहुत्वम् आह. **गुप्तैः स्वबाहुभिः** इति रूपकम्. भारावतारणार्थम्[3] आगतो "गतो वा न गतो वा भारः!" इति चिन्तां कृतवान्. ननु सर्वजनीनो भारः कथम् एवं सन्दिग्धः! इत्यतः आह **अप्रमेय** इति. सांशो भगवानेव भार इति न सर्वजनीनः. अप्रमेयत्वाद् भगवतो रक्षार्थम् आगतै राजभटैः सर्वस्वभक्षणमिव जातम् इति आह **मन्ये** इति. पूर्वस्थितस्य भारस्य सहेतुकस्य गतत्वेऽपि निराकरणकर्तॄणामेव हेतुत्वात् पुनः उपस्थितः[4]. विजातीयत्वाद् न समानविभक्तिकत्वम्. साधकानां बाधकत्वाद् आश्चर्यम् **अहो** इति. पूर्वस्मादपि विशेषम् आह **अविषह्यम्** इति. देवैः भूम्या च निराकरणं वक्तुमपि[5]

प्रकाशः

मानम् आहुः **गीता** इत्यादि. अन्यथा विश्वरूपं प्रदर्श्य युद्धे न प्रवर्तयेद् इति अर्थः ॥२॥

भूभारेत्यत्र. दैत्यानामेव भारत्वाद् अनुगानाम् अतथात्वेन कथं भारत्वम् इत्यत आहुः **जरासन्ध** इत्यादि. **प्रकृतोपयोगाद्** इति, प्रकृतानां यदूनां तदर्थम् अवतरणात् तथा अवगम्यते इति भावः. **हेतुत्वाद्** इति, उद्धतत्वाभावेऽपि सन्तानबाहुल्येन तथाभावाद् इति अर्थः. एतदेव विशदयन्ति **विजातीयत्वाद्** इति. भगवद्रूपत्वेऽपि[6] "गरिमाणं शिशोर्वोढुम्" (भाग.पुरा. १०।७।१८)

---

१. -करणानि. २. -वैश्चैव. ३. -ताराणार्थं, तरणार्थम्. ४. उप इति लुप्तम्.

५. अपि इति लुप्तम्. ६. -त्वमपि.

अशक्यम् अतः **आस्ते** एव भारः सिद्धः ॥३॥

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चिन्

मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।

अन्तः कलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-

स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥४॥

निराकरणोपायम् आह **नैव** इति. स्वतः परतो वा निराकरणं, तत्र[१] परस्य दुर्बलत्वाद् इष्टसाधनताज्ञानस्य च प्रवर्तकत्वाद् असम्भावितं चेतनकर्तृकत्वम्[२] इति आह **अस्य** कुलस्य. निषेधनित्यत्वम् एवकारार्थः. **अन्यत** इति यदुकुलव्यतिरिक्ताद् इति सामान्यनिषेधः. वृष्ट्यादीन्यपि इन्द्रप्रेरितानि भवन्ति[३]. दूरापास्तो नाशः, **परिभवो**ऽपि **न भवेत्. कथञ्चिद्** इति अकीर्त्यादिजनकत्वेन; सम्भावितस्य अकीर्त्या स्वतोऽपि मरणं सम्भवतीति तन्निराकरणम्. **परिभवो**ऽपमाननम्, तद्धि स्वगतदोषेण गुणाभावेन वा भवति. तत्र (**मत्संश्रयस्य!**) अहमेव सम्यगाश्रयो यस्य इति न दोषसम्भावना. "शय्याशनाटनालाप" (भाग.पुरा. १०।८७।४६) इति पूर्वमुक्तत्वात् न वा[४] तेषां मदादिः सम्भवति. न वा गुणाभावो, **विभवोन्नहन**त्वात्. विभवाः सर्वसम्पदः, तैः सर्वतः पूर्णम् ऊर्ध्वं[५] बन्धनमिव यस्य इति. **नित्यम्** इति, मत्स्वरूपत्वात् कालकृतोऽपि पराभवो नास्ति इति अर्थः. नच प्राकृतसम्बद्धं वैकुण्ठे नेयम् अतः उपायम् आह **अन्तः कलिम्** इति. **यदुकुलस्य अन्तः** मध्ये कलहम् उत्पाद्य, **वेणुस्तम्बस्य** मध्ये **वह्निमिव.** अमङ्गलत्वाद् न उक्तं "तेन दग्ध्वा" इति, दृष्टान्तात् च लभ्यते. अलौकिकस्य

प्रकाशः

इतिवद् इति अर्थः ॥३॥

नैवेत्यत्र चेतनकर्तृकम् इति **निराकरणमिति** पूर्वोक्तानुषङ्गः. तर्हि अचेतनकर्तृकं तद् अस्तु, कथं सामान्यनिषेध इति चेत्, तत्र आहुः **वृष्ट्यादीनीत्यादि**[६]. **इन्द्रेत्युपलक्षणम्. मत्स्वरूपत्वाद्** इति, उक्तरूपत्वेन लक्ष्म्या तदत्यागाद् इति भावः. एतदेव आहुः **कालेत्यादिना**[७]. **शान्तिम्**

---

१. परस्य तत्र. २. -कर्तृकमि-. ३. न भवन्ति. ४. लुप्तम्. ५. ऊर्ध्वबन्धनम्. ६. -दीनीति. ७. -त्यादि.

भगवदुत्पादितस्य कलेः सर्वनाशकत्त्वम् आशङ्क्य तन्निराकरणाय आह **शान्तिम् उपैमि** इति. क्रमपाठादेव 'ततः' इति गम्यते. तदनन्तरम् अन्यद् न दाढ्र्यम्. पुनः अत्रैव स्थितः किञ्चित् कुर्याद् इत्यत आह **उपैमि धाम** इति, देहलीप्रदीपवत्, स्वस्थानं गमिष्यामीति अन्तःकलेः उत्पादनम् उपाय इति सिद्धम् ॥४॥

तस्य उत्पत्तौ हेतुं वदन् कार्यम् आह **एवम्**इति.

एवं व्यवसितो बुद्ध्या (/ राजन्) सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
शापव्याजेन विप्राणां सञ्जह्रे स्वकुलं विभुः ॥५॥

अशक्योपायान्तरादिपक्षनिराकरणाय आह एवमेव निश्चितः. **बुद्ध्या** इति लोकशास्त्रनिराकरणम्. आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः बुद्धिरपि तादृशी, इच्छाशक्तिः वा. **राजन्** इति, ब्रह्मशापो न निवार्यः त्वयैव अनुभूयते इति. "सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति" (अन्त.प्रबो. ४) कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः **ईश्वरः** अत ऋषीणां गर्वाभावाय उद्धवः संरक्षितो वज्रादयश्च[१]. **शापो** वक्ष्यमाणप्रकारः. व्याजेनेति ब्रह्मप्रकरणत्वाय. उपसंहारएव, न प्रलयः. स्वेति दोषाभावाय. सर्वप्रकारसमर्थनाय अन्ते **विभुरिति** ॥५॥

प्रकाशः

इति रजस्तमःकार्यराहित्यम्. **किञ्चिद्** इति, सात्त्विकमाश्रमान्तरधर्मशिक्षणम्[२] इति अर्थः ॥४॥

एवं व्यवसित इत्यत्र **निश्चित** इति आरब्धनिश्चयः, आदिकर्मणि क्तः. **तादृशी** ति, अतः परं कुलस्य आनन्दरूपतासम्पादनानुकूलेति भावः. पाठान्तरे अर्थम् आहू **राजन्नित्यादि. ब्रह्मप्रकरणत्वाय** इति. वस्तुत इच्छायाएव ब्रह्मप्रकरणेषु करणत्वं सिद्धमिति प्रकृतेऽपि इच्छायाएव "भगवन्मतकोविदा" इति वक्ष्यमाणत्वात् करणत्वम् इति "भर्ता सन् भ्रियमाण" (तैत्ति.आर. ३।१४।१) इत्यनुवाकोक्ततथात्वाय **व्याजपदम्** इति अर्थः. एतदेव ज्ञापयन्ति **उपसंहारएव न प्रलयः** इति. उपसंहारः = स्वनिकटे आनयनं, तदपि "सञ्जहारार्जुनो द्वयम्" (भाग.पुरा. १।७।३२) इत्यादौ 'संहार'शब्देन

---

१. वज्रनाभादयश्च. २. -मात्रधर्म-.

एवं मनसा भूभारहरणम् उक्तम्. रूपान्तरस्वीकरणस्य एतत्प्रयोजनत्वात् निष्पन्ने कार्ये मुक्तिम् आह द्वयेन. जीव-ब्रह्मणोर्हि सा. जीवानामपि स्वमिश्रतया मुक्तिकथनाय मिश्रतया[१] निरूपणम्. अतो वर्तमानभविष्यद्-भक्तमुक्ती प्रकारभेदेन कथयन् स्वपदारोहणम् आह **स्वमूर्त्या** इति.

स्वमूर्त्यालोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥६॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः ॥७॥

ज्ञान-क्रियाशक्ती आच्छिद्य यशः प्रसार्य वैकुण्ठं गत इति उक्तं भवति. सहजप्रवृत्तिः ज्ञानस्य बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपप्रपञ्चे नामप्रपञ्चे च परिनिष्ठिता. नामप्रपञ्चे विचारस्य सहकारित्वात् न श्रवणमात्रेण निर्धार अत आलोचनात्मकस्य चित्तस्यैव प्राधान्यम्.

अधिकारश्च मार्गश्च नेश्वरेण विचार्यते ।

प्रकाशः

उच्यते अतः प्रकृतेऽपि तथा. तथाच तत्कार्यस्यैव तिरोभावो, न स्वरूपस्य इति भावः. अयमेव उपसंहार-प्रलययोः भेदो ज्ञेयः. **'स्वे'ति दोषाभावाय** इति, "आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं वापि[२] विद्यते" (त.दी.नि. १।७६) इति ज्ञापनाय इति अर्थः. विद्वन्मण्डने **अस्वकुलम्** इति पदच्छेदस्तु "मन्मायारचिताम् एताम्" (विद्.म. नि.ली.वाद ५६) इति ग्रन्थस्वारस्यात्. तथाच मायिकं प्रलायितवान्, स्वीयन्तु निकटे नायितवान् इति उभयत्र सिद्धेः न अन्योन्यविरोधः ॥५॥

स्वमूर्त्या इत्यत्र **एतत्प्रयोजनत्वाद्** इति, भारहरणार्थत्वाद् इत्यर्थः. ज्ञानशक्त्याच्छेदे इन्द्रियद्वयकथनस्य आशयमाहुः **सहज** इत्यादि. तर्हि मन एव वक्तव्यं, मानसत्वेनैव ज्ञानस्य प्रसिद्धेः इत्यत आहुः **नाम**[३] इत्यादि. ननु फलमुखाधिकारवतां योगादिसाधनैरेव मुक्तेः सिद्धिः इति ज्ञानक्रियाशक्त्याच्छेदस्य किं प्रयोजनम् अत आहुः **अधिकार** इत्यादि. भगवान् हि

---

१. लुप्तम्. २. चापि. ३. चित्तस्यैवेत्यादि.

अन्तःस्थितं यदा ब्रह्म तदा योग उदीर्यते ॥(१०)॥

इन्द्रियान्तःप्रवेशार्थं तथा साङ्ख्यं तथापरम् ॥

बहिःष्ठे[१] तु भगवति आच्छित्तिरेव युक्ता, यथास्थितौ तु, न मुक्तिः. भगवता स्मृतानां न ज्ञानापेक्षा. अतो ज्ञानतरणमेव अवशिष्यते. लोके हि[२] येन यद् आच्छिद्यते तत् तदर्थमेव भवति इति वनकाष्ठच्छेदनादौ सिद्धम्. तदनुपयोगदशायां तु पतिव्रतावत् तूष्णीम्भावः. तथाच भगवन्मूर्त्या आच्छिन्नानि भगवन्मूर्त्यर्थमेव भवन्ति. लोकात् तिरोधानेऽपि तच्चक्षुः

प्रकाशः

अनधिकारिणाम् अमार्गेणापि मुक्तिं ददाति ईश्वरत्वाद् इति पूतनाऽन्तर्गृहगतादिनिदर्शनात् निश्चीयते. किञ्च योगाद्युपाया भगवति अप्रकट एव उपयुज्यन्ते, वह्नौ मथनवत्, नतु प्रकट इत्यतो न योगाद्यैः मुक्तिः इत्याशयेन आहुः **अन्तः** इत्यादि. इन्द्रियाणां बहिर्मुखत्वे[३] तैः मनआक्षेपेण[४] ध्यानासिद्धेः तेषाम् अन्तर्मुखत्वाय सेश्वरसाङ्ख्यं द्वितीयं साधनम्. अतः प्रकटे भगवति न तदुपयोग इति न तदसाधनता इत्यर्थः. ननु एवं सति ईश्वरत्वस्य साहजिकत्वात् सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इति तद्वारणाय तदानीमपि किञ्चित् साधनं भगवानेव करोति इत्याशयेनाहुः **बहिःष्ठ**[१] इत्यादि. तस्या अपि किं प्रयोजनम् अत आहुः **यथा** इत्यादि. भवतु एवं वर्तमानभक्तानां मुक्तिः, भविष्यतां तु अवश्यं ज्ञानापेक्षा इति तदेव सर्वत्र अस्तु इति शङ्कायां तत्रापि साधनान्तरमेव सम्पादयति इत्याशयेनाहुः **भगवता** इत्यादि. भवतु एवं, तथापि आच्छेदमात्रेण कथं स्वरूपलाभ इत्यत आहुः **लोक** इत्यादि. ननु एवं सति उद्धवे व्यभिचार इत्याशङ्कायाम्[५] आहुः **तदनुपयोग** इत्यादि. आच्छेदनेन सिद्धं मुक्तेः स्वरूपमाहुः **तथाच** इत्यादि. ननु लोकाद् भगवन्मूर्तौ तिरोहितायां तदानीं सतां ज्ञानक्रियाशक्त्योः कथं तादर्थ्यसिद्धिः अत आहुः **लोकाद्** इत्यादि. ननु इदम् असङ्गतम्, "इह आगतो अहं विरहातुरात्मा" (भाग.पुरा. ३।४।२०) इति वाक्यविरोधाद् इत्यतः

१. बहिःस्थिते, बहिःप्रकट इत्यपि प्रकाशे क्वाचित्कः पाठः. २. लुप्तम्.

३. -त्वेन मन-. ४. -आक्षेपणे. ५. -काङ्क्षा-.

पश्यति, तादर्थ्यात्. कदाचित् तूष्णीम्भावो वा ईश्वरत्वात्[१], परं न तैः अन्यद् भवति इति मुक्तिः सिद्धा. विषयच्छेदकस्य तदधीनच्छेदने कः प्रयास इति विशेषणम्. अलौकिकोऽयम् उपाय इति न काचित् शङ्का. गोपिकास्तु दृष्टान्त इति विद्यमानमुक्तिः. आलोकः सूर्यमण्डलम्. अलोको अन्धकारः. लोकास्तु [२]भुवन-जनात्मकाः; तेजःश्यामतासंस्थानविशेषश्च अवगम्यते. मूर्तिप्राकट्ये हि त्रिभ्योऽपि ते ते[३] धर्माः पुनरावृत्तिरहिता गता[४] भवन्ति. एकवचनं जातिसूचकम्. रूपप्रपञ्चे न आलोचनापेक्षा[५],

प्रकाशः

समाधिमाहुः **कदाचिद्** इत्यादि. ननु तदा तयोः तादर्थ्याभावात् पुनः बन्धप्रसङ्ग इति आशङ्कायामाहुः **परम्** इत्यादि. तथाच पतिव्रतावत् स्थितौ दर्शने[६] वा उभयथापि तादर्थ्यानपायाद् अन्यथारूपत्यागपूर्वकं लब्धस्वरूपात्मकत्वेन भगवदनुचरित्वमिति या मुक्तिः सा सिद्धैव इत्यर्थः. मूर्तिविशेषणस्य[७] प्रयोजनमाहुः **विषय** इत्यादि. "इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः" (भाग.पुरा. ४।२२।३०) इति वाक्याद् विषयाधीनत्वम् इन्द्रियाणाम्. लोके लावण्यस्य इन्द्रियादिच्छेदकत्वं न दृष्टमिति कथम् इदं सम्भवति इत्यत आहुः **अलौकिक** इत्यादि. "य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेद् जायेरन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि" (बृहदा.उप. ६।३।८) इत्यत्र मन्त्रस्य शाखोत्पादकत्ववद् अत्र च्छेदकम् इत्यर्थः. विद्यमानत्वे मुक्तिरपि न प्रमाणसिद्धा इति विद्यमानमुक्तौ अनुमानं प्रमाणयन्ति **गोपिकास्तु** इति. कुरुक्षेत्रप्रसङ्गस्थात् "तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्" (भाग.पुरा. १०।७९।४८) "आहुश्च ते" (भाग.पुरा. १०।७९।४९) इति च वाक्याद् अवगन्तव्यम्. संहितापाठ आङो नञश्च प्रश्लेषः सम्भवतीति त्रिधा तदुक्तम् अर्थं सङ्गृह्णन्ति **आलोक** इत्यादि. **भुवनानि** सत्यादीनि, **जनाः** तत्स्थाः, **अवगम्यत** इति एतेभ्यः शब्देभ्यो अवगम्यते. एवं सति **आलोकस्य** लोकानां च यत् **लावण्यं** तत् **निर्मुक्तिः** अपुनरावृत्तिः अनया इत्यर्थो भवति इत्याहुः **मूर्तीत्यादि**. **एकवचनम्** इति, 'लोचना'दिपदगतं तद् इत्यर्थः. गीर्भिः आच्छेदे द्वारोक्तितात्पर्यमाहू **रूप** इत्यादि. **नालोचनापेक्षा**[५] इति,

१. ईश्वरात्. २. भवन-. ३. तद्धर्माः. ४. लुप्तम्. ५. -नाद्यपेक्षा. ६. दर्शनम्. ७. -विशेषस्य.

नाम्नि तु विशेषमाह **ताः स्मरताम्** इति. यदि एकेनैव आच्छेदनं कुर्यात्, नामप्रपञ्चाच्छेदनं[१] न भवेत्, सजातीयप्रतीतिजननात्. क्रिया च उभयत्र लोके वेदे च सहभावेनैव ज्ञानेन च्छिन्ना भवेत्. तथाच भगवति केवला न प्रवर्तेत. **पदैः** स्थानैः वृन्दावनादिभिः **क्रिया** च प्राणसाध्या[२] पिपासादिहेतुः **आच्छिद्य** इति पूर्वेण सम्बन्धः. उत्तरसम्बन्धस्तु त्रयाणां जीवद्वयब्रह्मणाम्[३] एकत्वाय. कीर्तेः स्वतुल्यताया उक्तत्वाद् एकयैव सर्वसिद्धिः. भेदस्तु कालभेदात् साधनभेदात् च अवसीयते. **सुश्लोकाम्** इति प्रवृत्त्यवश्यम्भावाय. **सुष्ठु श्लोका** व्यासादिकृता यस्याम् इति. अनायासेन हि ज्योत्स्नया तरणं; तथा उपायः कृत इति अर्थः. नु[४] निश्चयेन. **कौ** पृथिव्याम्. **इति** इति कार्यसमाप्तिः. भविष्यदधिकारएव सर्व इति केचित्. ततश्च न

प्रकाशः

दर्शनमात्रेणैव कार्यसिद्धेः तथा इति भावः. **नाम्नि तु** इति अस्ति तदपेक्षा इति शेषः. **विशेषम्** इति आलोचनरूपम्. ननु द्विविधज्ञानेन्द्रियच्छेदनेनैव कार्यसिद्धेः क्रियाच्छेदस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायां तद् आहुः **क्रिया च** इत्यादि. **उभयत्र** इति अन्तः बहिः च. **सहभावेन** इति इन्द्रियसाहित्येन. **तथाच** इति तथा सति. किं तावता? इति आकाङ्क्षायां तदावश्यकत्वाय तस्याः स्वरूपम् आहुः **प्राणसाध्या**[२] इति. तथाच तदभावे प्राणानां तादर्थ्यं न स्याद् इति तदर्थं तथा इति अर्थः. ननु भवतु एवं विद्यमानमुक्तिः, भविष्यतान्तु भगवद्दर्शनगीःश्रवणयोः अभावेन अनाच्छेदनात्[५] लोचनादीनां तादर्थ्याभावात् कथं मुक्तिः कीदृशी च इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **उत्तर** इत्यादि. **एकत्वाय** इति, एकत्वलक्षणमुक्तये इति अर्थः. त्रयाणां कार्यं कथम् एकया इत्यत आहुः **कीर्तेः** इत्यादि. यदि एवं तर्हि मुक्तेः कथं वैलक्षण्यम्? इत्यत आहुः **भेद** इत्यादि. ननु एकत्वार्थज्ञानादिसाधनानां किं कीर्त्या? इत्यत आहुः **अनायासेन** इत्यादि. कीर्तिवितानस्य अन्यदपि प्रयोजनम् आहुः **ततः** इत्यादि. कीर्तिवितानानन्तरं श्रौतो ज्ञानादिः **उपायो नास्ति इति सिद्धं** "कलौ

---

१. -प्रपञ्चच्छे-. २. प्राणादि-. ३. जीवजडब्रह्मणाम्. ४. नु इति. ५. -च्छेदात्.

अन्य उपायो अस्तीति सिद्धम्. **स्वं पदम् अगाद्** इति तत्रैव स्वरूपस्थितिः. सर्वनिर्वाहाय **ईश्वर** इति. तथाच प्रथमपक्षे बीजत्वं सिद्धं, द्वितीये वैराग्यमेव बीजम् इति ॥६-७॥

तत्कारणं पूर्वत्र व्याजरूपं[1] शापं पृच्छति द्वाभ्याम्. स्वतो– न कथनं– भक्तस्य अनुचितम् इति असम्भवेन पूर्वपक्षः प्रश्नः च इति द्वयम्. तत्र पूर्वपक्षम् आह राज इति,

॥ राजोवाच ॥

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ।
विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥८॥
यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम ।
कथमेकात्मनां भेदः एतत् सर्वं वदस्व मे ॥९॥

गुणत्रयं नैर्गुण्यं चेति चतुष्टयं शापविरोधि[2]. तत्र ब्रह्मण्यता सात्त्विक उत्कृष्टो धर्मः, शापविरोधी च. राजसे वदान्यत्वं शापविरोधी च. वृद्धोपसेवनं च[3] तामसः उत्कृष्टः. आयासरूपत्वात् तामसत्वं, शापविरोधी च. **नित्यम्** इति सर्वत्र. भक्ति-धन-सेवानां विद्यमानत्वात् **कथं शापः ? कृष्णचेतसाम्** इति निर्गुणावस्था शापाप्रभवः च. असम्भावितत्वात् पूर्वपक्षः सिद्धः. प्रश्नम् आह **यन्निमित्त** इति. निमित्तस्य अप्रसिद्धत्वाद् निर्निमित्तपक्षस्य प्रकृते च अभावाद्[4] ब्राह्मणेषु यादवेषु वा निमित्तोत्पत्तिः. दृष्टादृष्टभेदेन निमित्तसम्भवात्

प्रकाशः

तद्धरिकीर्तनात्" (भाग.पुरा. १२।३।५२) "कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेद्" (भाग.पुरा. १२।३।५१) इत्यादिवाक्योक्तं सिद्धम्. **तत्रैव** इति, स्वपदएव इति अर्थः. **तथाच** इति, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यरूपेण ऐश्वर्येण इच्छायाः बीजत्वं सिद्धम् इति अर्थः ॥६-७॥

ब्रह्मण्यानाम् इति आभासे **पूर्वत्र** इति यादवेषु. **यन्निमित्त** इत्यत्र **निमित्तोत्पत्ति** इति. तां ज्ञातुं निमित्तप्रश्न इति शेषः ॥८-९॥

---

१. शापरूपम्.	२, ३. लुप्तम्.	४. प्रकृते सम्भवात्, चासम्भवात्.

प्रकारप्रश्नः. सजातीयकृतं न वदेद् इति शङ्कानिराकरणार्थं **द्विजसत्तम** इति, भक्तिज्ञानसम्पन्नः. अदृष्टापेक्षया दृष्टस्य बलिष्ठत्वात् शापेऽपि जाते **कथम् एकात्मनाम् (भेदः !)** अन्योन्ययुद्धं ? — एतदुपयोगि **सर्वं** वक्तव्यम् इति अर्थः. क्रियाफलं कर्तृगामीति आत्मनेपदम्. अस्याः कथायाः सर्वोपकारित्वाभावेऽपि सन्देहवारणाद् मदुपकारः इति आह मे इति ॥८-९॥

॥ बादरायणिरुवाच ॥

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गल आप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥१०॥

बादरायणिरुवाच ; कथायाः क्रूरत्वं द्योतयति. शापे हेतुम् आह **बिभ्रद्** इति. **ऐच्छत** इति हेतुः. द्वितीयपक्षस्य पुष्टिमार्गस्थत्वाभावाद् लौकिकदूषणपरिहारेण वक्तव्यम्. अयञ्च पुनः द्वितीयपक्ष एव श्रोता, पुष्टिमार्गे प्रवेशाभावात्, "शापव्याजेन" (श्लो. ५) इति उक्ते प्रश्नानुपपत्तेः, अतो मर्यादास्कन्धत्वाद् लौकिकन्यायेन वदति. "तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचिद्"

प्रकाशः

बादरायणिः इत्यत्र **द्योतयति** इति, कण्टकिवृक्षायणत्वज्ञापनेन 'बादरायणि'पदं द्योतयति इति अर्थः. **बिभ्रद्** इत्यत्र. ननु "सत्यसङ्कल्प" (श्लो. ५) आदिपदैः[१] शापनिमित्तस्य प्रागेव उक्तत्वाद् "उक्तम्" इति उक्त्यापि चारितार्थ्यात् पुनःकथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **द्वितीयपक्षस्य** इत्यादि. भगवतो लीलादिविशिष्टस्य लोकवद् दर्शनगोचरत्वे भक्तिः सामान्येच्छा च हेतुः इति पक्षद्वयं पुष्टि-मर्यादाभ्यां व्यवस्थितम्. तथा तिरोभावोऽपि तदभावाभ्यां व्यवस्थितः. एवं सति सामान्येच्छया दर्शन-तदभावौ लौकिकरीतिकौ भासेते तदा पुष्ट्यनधिकृतस्य दूषणादिकं स्फुरतीति तन्निवृत्त्यर्थं मननन्यायेन पुनः वदति इति अर्थः. ननु लौकिकरीत्या करणाभावे तथा कथनमपि अयुक्तम् ! अतः आहुः **तच्च** इत्यादि. तथाच करोति इत्यत उच्यते

---

१. -पदम्.

(महाभा.ता.नि. १।३७) इति वचनाद् एतादृशमपि श्रवणं चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानसाधकम् इति कथनम्. उत्तमाधिकारित्वं संहितापेक्षया, न पुष्टिमार्गापेक्षया, अतो लोकन्यायेन कथनं न दोषाय. लोके विरक्तिकारणानि प्रकृते न सन्ति— कुरूपत्वं कर्माशक्तिः अभूषणतया स्थितिः अकामपूर्णं गार्हस्थ्यसुखाभावो अकीर्तिः च इति. एतन्निराकरणेन सर्वएव निराकृताः. **सकलसुन्दराणां सम्यङ् निवेशो यस्मिन्. भुवि** इति उभयत्र. संहारेच्छायां देवगुह्यं किञ्चिद् इति **स्थितकृत्यशेष** इति, सङ्कर्षणकार्यैकदेशः स्थित इति अर्थः ॥१०॥

इच्छारूपं बीजम् उक्त्वा प्रयत्नम् आह—

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।
कालात्मना निवसता वसुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टाः ॥११॥

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः ॥१२॥

क्रीडन्तस्तान् उपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः ।
उपसङ्गृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ॥१३॥

ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम् ।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा ॥१४॥

प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रबूतामोघदर्शनाः ।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् सञ्जनयिष्यति ॥१५॥

लोकेहि उत्पन्नस्य ऋणत्रयापाकरणम् आवश्यकमिति अनिरुद्धांशाविर्भावेन यज्ञार्थं ब्राह्मणान् आहूय, तैः नित्य-काम्य-प्रायश्चित**कर्माणि कृत्वा,**

प्रकाशः

इति अर्थः. तत्रापि प्रयोजनम् आहुः **एतादृशम्** इत्यादि. ननु द्वितीयपक्षे श्रोतृत्वे राज्ञः उत्तमाधिकारित्वं विरुद्ध्येत इत्यतः आहुः **उत्तम** इत्यादि. **संहिता** इत्यस्य साधारणा इति अर्थः प्रतिभाति. विशेषणतात्पर्यम् आहुः **लोक** इत्यादि ॥१०॥

पूर्वरूप-स्थाने परित्यज्य, वैषम्यनैर्घृण्यपरिहाराय कुले प्रवेशार्थं **वसुदेवगृहे** स्थित्वा, संहारार्थं सङ्कर्षणाविर्भावं च कृत्वा, सर्वमेधात्मसमारोपणयोः कृतत्वाद् नितरां प्रस्थापिता ब्राह्मणाः प्रागुदीचीं दिशं तीर्थविशेषं तीर्थाभिगमनविधिना **अगमन्** इति अर्थः. **पुण्यमेव नितरां वहन्ति** "यज्ञेन यज्ञम्" (ऋक्संहि. १०।९०।१६) इति न्यायेन विधिपरिपालनेन धर्मसम्पत्तिरेव नित्यैः. **सुमङ्गलानि** पशुपुत्रारोग्यसाधकानि भगवतो दोषाभावात् शिक्षार्थं कृतानि सङ्कीर्तनोपयोगीनि जातानि, विधानकालानपेक्षतया प्रायश्चित्तानर्हदोष-दूरीकरणसमर्थानि. भगवत्प्रेषितब्राह्मणगमनमेव इच्छापूरकमिति कार्यं सिद्धम्. आविर्भूतः सङ्कर्षणांशो ब्राह्मणेषु यादवेषु देशकालयोः च प्रविष्टइति न किञ्चिद् दूषणम्. यागविशेषे तत्तदृषीणाम् उपयोगात् ससदस्यानां दशानां गणनाम् आह. **नारदादयः** सदस्याः. कालाविष्टा यादवा भगवदिच्छापूरणाय ब्राह्मणावज्ञां कृतवन्तः इति आह **उद्देश-प्रकार-वञ्चनैः** (त्रिभिः!) श्लोकैः. तत्र उद्देशम् आह. **क्रीडन्त** इति राजसावेशः. **तान् उपव्रज्य** इति धाष्ट्र्यम्. **कुमारा** इति दीर्घदर्शनाभावः. **यदुनन्दना** इति पित्राद्यसम्मताः. **तान् उपसंगृह्य** नमस्कृत्य इति सहजसात्त्विकत्वम्. **अविनीता** इति तामसाविर्भावः. आकारगोपनं भगवदाविष्टब्रह्मतेजसा. धनार्थिनो याजकाः, कामुकाः भविष्यन्तीति, स्त्रिया[१] वञ्चनप्रकारं कृतवन्त इति आह. पुराणान्तरे पार्वतीसहितो महादेवो अवतीर्ण

प्रकाशः

कर्माणि इत्यत्र **पूर्व-रूप-स्थाने** इति द्विवचनम्. **पूर्वरूपम्** अनिरूद्धरूपं **स्थानं** स्वमन्दिरम्. **प्रवेशार्थम्** इति अधर्मादिप्रवेशार्थम्, "अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या" (भाग.पुरा. २।७।३९) इति वाक्याद् इति भावः. श्रीवसुदेवस्य कश्यपत्वेन प्रजापतित्वात् तद्गृहे स्थितौ सर्वत्र प्रवेशसौकर्यमिति तथा. **क्रीडन्त** इत्यत्र **भगवदाविष्टब्रह्मतेजसा** इति, "युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः" (भाग.पुरा. २।९।६९) इति वाक्याद् यथा पार्षदेषु भगावेशः तद्वद् आविष्टं यद् ब्रह्मतेजः तेन. अन्यथा ऋषीणां ब्रह्मज्ञत्वात् तदैव ज्ञानं स्यादिति तथा इति अर्थः. **ते वेषयित्वा** इत्यत्र **पुराणान्तरे** इत्यादि.

---

१. स्त्रियम्.

इति. मातृनाम्ना तु[१] मुग्धत्वम्. गर्भिणी सुन्दरी च इयं **वो** युष्मान् अर्थात् किं जननीयं मया इति **पृच्छति**. वञ्चनाम् आह— पादद्वयम् उत्तरार्धं चेति वाक्यत्रयम्. अर्थात् **साक्षात् प्रष्टुम्**. **प्रब्रूत** इति स्वप्रार्थना. उभयोः औत्सुक्यपूरणं पादद्वयेन. भावः स्पष्टः ॥११-१५॥

निमित्ताभासम् आश्रित्य कृष्णाविष्टाः शापं दत्तवन्त इति आह.

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप ।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम् ॥१६॥

एवं वक्रोक्त्या परीक्षारूपया वञ्चिताः. मननं वृत्तान्तज्ञाने हेतुः, अन्यथा अल्पापराधे अधिकदण्डो अनुचितः. तेषाम् अल्पकर्तृत्वेऽपि भगवदीयविषयत्वाद् दण्डो वा उक्तः स्यात्, मुनीनां दृप्तत्वं वा भवेत्. मन्युवशानामेव अन्ते विभूतित्वात् **कुपिता** इति उक्तम्. **वः कुलस्य नाशकं**, नित्यसापेक्षत्वाद् असमर्थसमासः. कोपावेशाद् अज्ञानप्रवेशे **मन्दा** इति सम्बोधनं; बुद्धिरहिताः. **अमन्दा** इति वा, त्वरिता इति हास्ये. तामसाद् राजसो अयम् इति विशेषः. अल्पीयांस इति वा, व्रीहयइव इति. अतएव **वो मुसलम्** अवघातजनकम्, "अत्ता चराचरग्रहणाद्" (ब्रह्मसूत्र १।२।९) इति न्यायेन भगवद्भोजनसाधनं फलपाकान्तत्वं च.

प्रकाशः

तस्यैव संहारकत्वात् प्रयोजकता उचिता इति भावः. **मातृनाम्ना** इति, ऋक्षपुत्रीत्वसूचकेन[२], अन्यथा इदं वेषं[३] न अङ्गीकुर्याद् इति भावः ॥११-१५॥

एवं प्रलब्धा इत्यत्र **त्वरिता इति हास्य** इति. यथा तैर्वञ्चना कृता तथैतैरपि भाविन्यर्थ एतेषां त्वरितत्वं ज्ञात्वा हास्यार्थम् **अमन्दा** इति सम्बोधनमुक्तमित्यर्थः. एवंव्याख्याने विशेषम् आहुः **तामसाद्** इत्यादि. अज्ञानप्रवेशापेक्षया त्वरितत्वज्ञानं[४] कोपसजातीयमेष विशेष इत्यर्थः. ततोऽपि सात्त्विकज्ञानरूपविशेषं वदन्तो **मन्दपदस्यार्थान्तरमाहुः अल्पीयांस** इत्यादि. व्रीहितौल्यस्यैवात्राभिप्रेतत्वे गमकमाहुरत एवेत्यादि. उक्तज्ञानस्य सात्त्विकत्व-साधनाय न्यायेन व्रीहितुल्यत्वं समर्थयन्ति अत्तेत्यादि. **फलपाकान्तत्वमिति**,

---

१. लुप्तम्. २. पितृपक्षपुत्रत्वासूचकेन. ३. वेषम्. ४. त्वरितत्वज्ञापकोऽयं सजातीयो राजसविशेषः, अशेषविशेषः.

यादवानां **कुलनाशनम्** इति तस्य स्वभावकार्यं ; व्रीहिमात्रस्य यथा अवघातहेतुः. एवं सति न समासदोषः. महत्त्वे फलवद्रोगो भवेत्, मन्दत्वाद् ओदनभावेन इति विशेषः. भावाज्ञातार इति च सम्बोधनम्. अत एवाग्रे कृतार्थत्वभावनात एवोद्धवपश्चात्तापे निन्दा युज्यते. अंशतस्तस्याप्यज्ञानम्. मौसलविषये दाहादिसम्भावनया अयस्मयत्वं विद्यमानमपि नोक्तं, दर्शनादेव ज्ञातुं शक्यत्वात्. तस्माद् यज्ञपुरुषस्य आयुधविशेषरूप-मुसलोत्पत्तिज्ञापकं वचनं शाप इति सिद्धम् ॥१६॥

सप्तभिरग्रिमकथामाह ; शापार्थदर्शनं, गृहनयनं, राजनिवेदनं, लोकभयं, तन्निराकरणाय[१] मुसलनाशो, अंशांशिविनियोगाय तस्य रूपद्वयस्थितिरिति तदर्थाः. तत्र प्रथमं शापार्थदर्शनमाह.

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ।
साम्बस्य ददृशुस्तत्र मुसलं खल्वयस्मयम् ॥१७॥

कार्ये जाते सङ्कर्षणांशस्य[२] गतत्वात् सर्वनाशानुसन्धानेन महाभयम्. ब्राह्मणानां ज्ञापकत्वात् न पश्चात्तापः. तेषां वाक्ये प्रामाण्यस्यावधारितत्वात् संवादात् पूर्वमेव भयोत्पत्तिः. अचेतनत्वात् म्रियमाणस्येव **विमुच्य** दृष्टवन्तः. उदरोच्छूनत्वाय सविवरबन्धने तदाकाश आविर्भूतस्तादृशस्योदरभावनात्

प्रकाशः

इदमपि व्रीहितौल्यबोधकम्, औषधीनां तादृशत्वादिति भावः. **एवं सतीति**, सापेक्षत्वस्य स्वाभाविकत्वे सतीत्यर्थः. भगवत एवंकरणे संहारस्य श्रौतत्वसिद्धिः मुक्त्यर्थेति बीजस्य स्फुटीकारायाहुर्महत्त्व इत्यादि. ज्ञानस्य प्रकारान्तरेणापि सात्त्विकत्वसाधनायाहुः **भावे**त्यादि. भावाज्ञातृत्वे गमकमाहुरत एवाग्र इत्यादि. **तस्यापीत्यु**द्धवस्य ॥१६॥

तच्छ्रुत्वेत्यत्र. स्वल्पापराधे अधिकदण्डदानेन ब्राह्मणाः कुतो न पश्चात् तप्ता इत्यत आहुर्**ज्ञापकत्वादिति**, भाव्यर्थकारणीभूत-भगवदिच्छाज्ञापकत्वादित्यर्थः. **अचेतनत्वात् म्रियमाणस्येवेति**, मुसलस्याचेतनत्वेन स्वतो निर्गमाभावेन म्रियमाणो गर्भो यथा दृश्यते तथेत्यर्थः.

---

१. तन्निवारणाय. २. सङ्कर्षणावेशस्य.

नाभिद्वारा वा प्रकटम्, अन्यथा "जनयिष्यति" (श्लो. १६) इति वचनं बाधितं स्यात्. "आकृतिवचनाः शब्दा" (. । ।) इति अयस्मयत्वस्यापि मुसलत्वं; दाहादिप्रतीकारनिराकरणाय तथात्वम्. उत्तरोत्तरं प्रतिश्लोकार्थकरणं भगवदावेशात्. अयसो मृत्युरूपत्वं, "सीसेन क्लीबाद्" (. । ।) इत्यत्र निर्धारात् ॥१७॥

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः ।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥१८॥
तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः ।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥१९॥
श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप ।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥२०॥
तं (/ तद्) चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः सआहुकः ।
समुद्रसलिले प्रास्यद् लोहं चास्यावशेषितम् ॥२१॥
कश्चित् मत्स्योग्रसीत् लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः ।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः ॥२२॥

ईश्वरेच्छया अयुक्तमपि गृहान् नीतवन्त इत्याह. दृष्टप्रकाराभावाद् **भाग्यैरेव** कृतम्. अन्येषां वा पूर्वं साक्षित्वेन स्थितानां वचनं **नोऽस्मत्सम्बन्धिभिर्मन्दभाग्यैः**. भगवता सह बहिःस्थितिरुत्तमा नतु अव्यक्तेऽन्तःप्रवेशः, अतो मन्दत्वम्. लोकापवादोऽप्यधिकः. इतिकर्तव्यतामौढ्यं **विह्वलत्वम्**. तत्तद्गृहेषु प्रदर्शनार्थम् अत्याश्चर्यत्वात्[१] स्थापयन्तीति **गेहानित्युक्तम्** ॥१८॥

"त्यजेदेकम्" (पञ्चतन्त्र १।३८६) इति न्यायेन सैव[२] त्यक्तव्या, मुसलस्य वा परित्याग उचितो, भगवते निवेदनं वा —त्रयमप्यकृत्वा

प्रकाशः

भगवदावेशादिति सङ्कर्षणावेशात्. प्रतीकारनिराकरणस्याप्रयोजकत्वाद् अयस्मयत्वे हेत्वन्तरमाहुरयस इत्यादि ॥१७॥

किं कृतमित्यत्र अव्यक्त इति, प्रकृतावक्षरे वेत्यर्थः ॥१८॥

१. आश्चर्यवत्. २. द्वारकैव इत्यर्थः —सम्पा.

राज्ञे निवेदनं कृतवन्त इत्याह. साम्बनिमित्तत्वाद् भयात् कृष्णे न निवेदनम्. तं मुसलं चकारात् साम्बं च. न्यायविचारकं राजद्वारि[१] सभास्थानं **सदः**. राजदण्डभयादपि **परितो म्लाना** मुखश्रीर्येषाम्. उग्रसेनोऽपि राजसभायां यदुभिः सह तिष्ठति ॥१९॥

एवं राजनिवेदने सर्वेषां ज्ञातं[२] वृत्तं भवति. तथाच सर्वेषां वैराग्यमुचितं–परमकृपालोर्भगवत एका कृतिरनेककार्यकर्त्रीति अंशानामवतीर्णानां सायुज्यं ब्रह्मभावो वा देय इत्येवङ्करणम्, नच शापनाम्ना प्रकटस्य मुसलस्यान्यथाभावः सम्भवति, भगवान् गुरुर्गतिश्च वर्तते –तथापि न ज्ञानोपासनादिद्वारा मोक्षप्रयत्नः किन्तु सर्वे लोकाः सन्त्रस्ता एव जाता इत्याह. शापसंवादी मुसलः. संवादिवाक्यमपि **श्रुत्वा** न प्रमोत्पत्तिः किन्तु (**विस्मिताः !**) आश्चर्यरसे विनियोगं कृतवन्तः, भयं च सन्दिग्धे. **द्वारकौकस** इति देशदोषाभावाय. तथाच केषामपि नालौकिके प्रवृत्तिरिति सिद्धम् ॥२०॥

लौकिकोपायस्तु राज्ञा कृत इत्याह. **तदिति** पाठे तदिति[३] समुदायेनोत्पन्नः प्रत्येकपर्यवसायी यथा भवति तथांशभेदाः सम्पादिताः. वृद्धानुमत्या कृतमिति **आहुकेन सहितः** पित्रा सहितो राजा **समुद्रसलिल** इति क्षारोदके नाशार्थम् **अवशेषितम्** अशक्यचूर्णीकरणांशम्. लौकिकोपायेन तन्निराकरणं कृतम् ॥२१॥

तद् विपरीतं जातमित्याह. न हि ब्रह्मवाक्यरूप-मुसलचूर्णानि समुद्रे मग्नानि भवन्ति. शेषितलोहग्रसनं त्वग्रिमकार्याय. नतु समुद्रेण[४] तस्यापि मज्जनम्. न [५]चायो भक्ष्यम्. ज्ञानाभावाय तथोपायः. अतिनिःसत्त्वतृणानि **एरकाः** कट उपयुज्यन्ते. **वेलायां लग्नत्वाद्** वालुकायाममूला इव. लोहचूर्णानामेरकात्वेन लौकिक्युपपत्तिः प्रष्टव्येत्याह **किलेति**. प्रसिद्धिरेव ऋषीणां तादृशी ॥२२॥

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ।

प्रकाशः

तं चूर्णयित्वेत्यत्र तदिति[३], लुप्तविभक्तिकं कालवाचकं 'तत्'पदमित्यर्थः ॥२१॥

---

१. -द्वारम्. २. ज्ञानम्. ३. तदेति. ४. समुद्रे. ५. वा.

तस्योदरगतं लोहं स शल्यं लुब्धकोऽकरोत् ॥२३॥

भगवान् ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोपि तदन्यथा ।

कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥२४॥

॥ इति श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥

साक्षादुपयोगपर्यन्तं हि विनियोगो वक्तव्यः. स चूर्णानामुक्तः, शल्यस्याह. **स** इति कालकन्यारूपः, एतदर्थमेव कालकन्या जरारूपेणावतीर्णा. सङ्कर्षणांशस्य कालस्यासनरूपत्वात् स्वरूपस्थित्यर्थं[1] तदासनं तत्कन्यया दत्तम्. आवेशे गते तु पश्चात्तापो व्याधस्य. शिष्टं स्पष्टम् ॥२३॥

पूर्वोक्तं भगवच्चरित्रत्वेनोपसंहरन् दृढीकरोति. **भगवानिति** पूर्णत्वेन सर्वकर्तृत्वमुक्तं; तेनैतत् सर्वं भगवच्चरित्रमित्युक्तं भवति. लौकिके तु परिहारे नाज्ञानाशक्ती निमित्तं किन्तु सङ्कर्षणत्वमेवेति वदति. तच्च[2] साम्बस्यापराधित्वाद् भयात् निवेदितं भगवते न कैरपि, तथापि **ज्ञातसर्वार्थः** स्वत एव. ते चेत् मोक्षार्थमुद्धववद् यतेरंस्तदा अन्यथाकर्तुमपि शक्तः. ननु स्वत एव किमित्यन्यथा न कृतवान्? तत्राह **तदन्यथा कर्तुं नैच्छत्**, स्वांशानामंशत्वे सायुज्ये वा विद्यमानावस्थानिवृत्तेस्तुल्यत्वात्. प्रकारे परं विशेषः. **तत्** साम्प्रतं वासुदेवकार्यकरणाभावादन्यथा **कर्तुं नैच्छत्**. तत्र हेतुः **कालरूपी**. तस्य **विप्रशापरूपत्वं**[3] विधेयं रूपं पूर्वेण सम्बद्धम्. **ईश्वरोपि (अन्वमोदत!)** इति, अन्यथेश्वरपदं व्यर्थं स्यात्, ईश्वरानुमोदनेन सेवककृतं दृढं भवतीति. तस्माद् वैराग्यार्थमुपायो रचित इति सिद्धम् ॥२४॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायाम्
एकादशस्कन्धविवरणे[4] प्रथमोऽध्यायः ॥

प्रकाशः

मत्स्य इत्यत्र **सङ्कर्षणांशस्येत्यादि**, कालः सङ्कर्षणांशस्यासनमित्यर्थः. **तदिति** जटाशल्यरूपम् ॥२३॥

भगवानित्यत्र पूर्वेण सम्बद्धमिति, सत्यसङ्कल्पेनेत्यर्थः ॥२४॥

॥ इति श्रीमदेकादशस्कन्धसुबोधनीप्रकाशे प्रथमाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

---

१. -पास्थि-. २. तत्र. ३. शापत्वम्. ४. -स्कन्धे प्रथमाध्यायविवरणम्.

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

वैराग्यहेतौ संसिद्धे हृदये रागसम्भवात् ।
आन्तरस्य बलिष्ठत्वात् न वैराग्यं फलिष्यति ॥(१)॥
पूर्वं गुरुस्तथा शास्त्रं वक्तव्यं मुक्तिहेतवे ।
गुरुर्हरिर्भक्तिमार्गसेवको विहितो महान् ॥(२)॥
भगवद्वचनं शास्त्रं सेवकानां तु सेवके ।
प्रपन्न एवाधिकारी शास्त्रमार्गेण यो भवेत् ॥(३)॥
केवलेन निरोधेन निरुद्धा ये न ते तथा ।
ज्ञानेन सहितौ तस्माद् वसुदेवोद्धवौ मतौ ॥(४)॥
वसुदेवस्य संसिद्धं बीजं च ज्ञानकर्मणी ।

प्रकाशः

द्वितीयाध्यायविवरणं चिकीर्षवः पूर्वोत्तराध्यायसङ्गतिमाहुः **वैराग्येत्यादि-**सार्धेन. **आन्तरस्येति**, आन्तरत्वेनेत्यर्थः. तथाचैककार्यत्वं सङ्गतिरित्यर्थः. सङ्गतिमुक्त्वा प्रकरणद्वयेऽपि गुर्वधिकारिशास्त्राणि वदन्तः **पूर्वं गुरु**रित्यादिपादत्रये द्वितीयस्योक्तानि. **विहित** इति [१]शास्त्रमार्गीयोऽधिकारीति शेषः. प्रथमस्याहुः **सेवकाना**मित्यादि. ननु "यत एतद् विमुच्यत" (भाग.पुरा. १०।२६।१६) इति वाक्याद् व्रजस्था अपि मुक्तास्तेऽत्र कुतो नोक्ता, वसुदेवोद्धवावेव कुत उक्तौ इत्यत आहुः **केवलेने**त्यादि. तथाच "केवलेन हि भावेन" (भाग.पुरा. ११।१२।८) इति वाक्यात् तेषां निरोधएव असहायशूरो मोचने अतोऽत्र मुख्यतमत्वात् नोक्ता इत्यर्थः (१-४).

ननु अस्तु एवं, भगवतो विद्यमानत्वाद् वसुदेवनारदसंवादः किमर्थ इत्यत आहुर्**वसुदेवस्ये**ति. **बीज**मिति "युवां माम्" (भाग.पुरा. १०।३।४५) इति वाक्यसूचितकृपारूपम्. **च ज्ञानकर्मणी** इति सात्त्विकप्रकरणोक्त-प्रपत्तिप्रभृतीनि सहकारीणि. तथाचैवं [२]साधनसम्पत्तावपि अनुग्रहस्य मर्यादामिश्रत्वाद् भगवता स्वस्मिन् गुरुत्वमत्र नोरीकृतमिति ज्ञानं नाफलद्

---

१. साधनमार्गी-. २. सन्धानसम्प-.

शास्त्रेणाचार्यराहित्यात् न ज्ञानं फलति स्फुटम् ॥(५)॥
उद्धवस्य प्रपत्तिस्तु महती लौकिकत्वतः ।
गोपिकाज्ञानसन्देशस्तस्या एव तु पोषकः ॥(६)॥
निरोधः सुदृढः कृष्णे ममतासहितो महान् ।
[1]मतोऽत्र वसुदेवस्य ममतानाशनं [2]यथा ॥(७)॥
अहन्ता तूद्धवस्यापि यथा नश्येत् तथा कथा ॥

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीत् नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥१॥

तत्र प्रथमं वसुदेवस्य भगवद्धर्मैर्भगवत्सायुज्यं वक्तुं गुरुप्रपत्त्यर्थं कृष्णममताया दृढत्वादन्यत्र स्थित्यभावाच्च नारदं गुरुत्वेन भगवान् चिन्तितवान्. [3]तस्य स्थितिमाह.[3] कृष्णसेवायां हि बहवो विघ्नाः; दैत्याः, पापानि च. तत्र नारदस्य पापाभावेऽपि दैत्याः क्षोभकाः सन्ति बाह्याभ्यन्तरभेदेन. प्रकटश्च भगवान् सेव्यः. तत्राध्यात्मिकादिदैत्यानां हृदये विद्यमानत्वात् प्रकटेऽपि भगवति सेवा न सम्भवति. [4]अत्र तु भगवद्भुजैर्यदुभिर्गुप्तायां दैत्यप्रवेशाभावाद्

प्रकाशः

अतः फलमुखत्वाय सा कथेत्यर्थः (५).

नन्वत्र भवत्ये(/त्वे!)वं तथापि भगवदुद्धवसंवादः किमर्थो, गुरुणा भगवता सन्देशावसरे ज्ञानस्योपदिष्टत्वेन साधनसम्पत्तेः पूर्णत्वेन पुनरुपदेशसङ्गत्य-भावादत आहुरुद्धवस्येत्यादि. तथाच परार्थो ज्ञानोपदेशो लौकिकत्वं प्राप्य प्रपत्तिमेव पुष्णन्, न फलोपधानाय अलम् आसीदतः पुनः संवाद इत्यर्थः. ननु श्रुतौ ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वोक्तेः प्रकृते[5] तस्य जातत्वेन "यदृच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावक" (नार.पुरा. ११।१००) इति न्यायात् फलोपधानमावश्यकमिति गुर्वभावप्रासङ्गिकत्वयोः[6] अप्रयोजकत्वमित्यत आहुर्निरोध इत्यादि. तथाच ममताहन्तात्मक-प्रतिबन्धनिवृत्तिः उभयत्रोपदेशप्रयो-जनमिति न चोद्यावसर इत्यर्थः (६-७ १/२).

एवमुपोद्घातेन सर्वं विचार्य नारदस्यैव आद्ये गुरुत्वस्य बीजमाहुस्तत्रेत्यादि.

---

१. अतो. २. तथा. ३-३. लुप्तम्. ४. तत्र. ५. प्रकृतेः. ६. प्रासङ्गित्व-.

द्वारवत्यामिति च भगवन्निर्गमनस्थानत्वेन सहजदैत्यनिवासाभावाच्च. नराणां जीवानां समूहं द्यति खण्डयतीति **नारदो** ब्रह्मभावप्रापक इत्यर्थः. उक्तार्थवचनविश्वासाय (**कुरूद्वह!**) सम्बोधनमित्यसकृदवोचाम. कदाचिद् गमनं वैकुण्ठे, कदाचित् प्रकटो हृदये अत **आहाभीक्ष्णमिति**, **सर्वदा कृष्णोपासनायां लालसः**. स्पष्टं [१]दक्षशापोऽपि न नारदं स्पृशति, द्वारकायां शापादेरप्रवेशात्. अनेनैतज्ज्ञापितं— यदि नारदवद् यादवा भगवत्सेवां कुर्युस्तदा शापो नाभिभवेदिति. अतो भगवत्सेवा देवादीनामपि दुर्लभा सर्वानर्थनिवारिका मुक्तानामप्यभिलषितेति प्रकरणारम्भे मोक्षतुल्यत्वाय निरूपितम्. ननु नारदस्य– नारदत्वं प्राप्तस्य क्रममुक्तेर्नियतत्वात् [२]स्वतःफलत्वाद्यभावाच्च प्रेक्षावतः– कथं लालसेति चेद्, इन्द्रियसाफल्यायेति ब्रूमः. [३]अधिकारे कार्यकरणं न मुख्यं फलम्, इन्द्रियाणां देवतात्वाभावात् ॥१॥

एतदेव शुको असम्भवद्युक्तिमत्त्वेन द्रढयति.

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥२॥

इन्द्रियाणि वर्तन्ते अस्मिन्निति नेन्द्रियवत्त्वं; न ह्यश्वरक्षको अश्ववान् भवति. अतः परवशेन्द्रियो न भजत इत्यदोषः. यस्य पुनरिन्द्रियाणि सन्ति सेवासाधकानि[४] स कथं न भजते? प्रयोजनाभावादिति चेत्, न, (**मुकुन्दचरणाम्बुजम्!**) मोक्षदाता च स सुसेव्यश्च. मोक्षस्यावश्येष्यमाणत्वाय **सर्वतोमृत्युरिति**. **अमराणामपि** मुक्तिरपेक्षिता, किं पुनः सर्वतोमृत्यूनामित्यर्थः. अन्तिमजन्मनि **उत्तमत्वम्** ॥२॥

प्रकाशः

गोविन्देत्यत्र सर्वदेति, वैकुण्ठगमनं ध्यानं च परित्यज्येति भावः ॥१॥

को न्वित्यत्रामरत्वापेक्षया किमुत्तमत्वमित्यत **आहुरन्तिमेत्यादि**. तथाचैश्वर्यातिशयोऽत्र नाभिप्रेतः, अभक्तस्य[५] ब्रह्मणि प्रकृतौ वा लयोक्तेरितिभावः ॥२॥

---

१. दक्षशाप...निरूपितम् - आदर्शद्वये नास्ति. २. स्वतःफलाद्य-.

३. अधिकार...देवतात्वाभावाद् - आदर्शद्वये नास्ति. ४. लुप्तम्. ५. अभक्तब्रह्मणि.

सङ्गतिमाह.

तमेकदा च देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
पूजितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥३॥

प्रायेण वसुदेवो यदुकुलक्षयं[१] न श्रुतवान्, कृष्णस्थित्या लोकैरनुक्तत्वाद् वैराग्योपयोगाभावाच्च. विशेषेण[२] "निसृष्टा" (. । ।) इति वचनात् पूर्वभावी वा. "कृष्णोपासनलालस" (श्लो. १) इति नारदस्य पुनरागमने हेतुः पूर्वपक्षे, निःशङ्कतया स्थितिरुत्तरपक्षे; कृष्णगृहे स्थितो वसुदेवगृहे समागत इति. शापानन्तरभावे तु भगवद्वाक्येन तस्य निर्धार इति सर्वं सुस्थमिवासीत् तदैवं कथा; अलं विस्तरेण. **तमिति** पञ्चरात्रकर्तृत्वेन प्रसिद्धम्. सर्वदा त्वन्यकथापि, **एकदा** सात्त्विके काले. **वसुदेव** इति शुद्धसत्त्वात्मकः. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो, अलौकिकमन्त्रद्रष्टारो **देवर्षयः**. तत्रापि[३] पुष्टिमार्गमन्त्रद्रष्टृत्वाद् विभूतित्वम्. **च**स्त्वर्थे, प्रकृते त्वस्योपयोगः. **गृहागतमिति** स्वाधीनता. **पूजित**त्वमुत्तरप्रश्नोपयोगि.[४] भगवत्प्रेरणया समागतस्योपासनार्थमपि वैयग्र्यं नास्तीति **सुखमासीनम्** इत्युक्तम्. पुनर**भिवादनं** गुरुत्वबोधकम्. बहुकालमारभ्य प्रष्टव्यमिति हृदि स्थितम् **इदमा** निर्दिश्यते ॥३॥

प्रश्नमाह षड्भिः: [५]'भग'शब्दवाच्याः षडर्था इति षट् श्लोकाः. तत्र प्रोत्साहनं त्रिभिः प्रश्नश्च त्रिभिः.

॥ श्रीवसुदेव उवाच ॥

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥४॥

प्रकाशः

तमित्यत्र. सर्वर्षीणां नितरां प्राप्तविदायत्वात्[६] तन्मध्यपातिनो नारदस्य पुनरागमनस्यासम्भवेन कथं संवादसङ्गतिः, क्षयस्य श्रुतत्वे चिरस्थित्यभावनिश्चयात् प्रश्नानुपपत्तेश्च, इत्यत आहुः **प्रायेणे**त्यादि. तथाच न प्रश्नासङ्गतिरित्यर्थः. आगमनसङ्गतिं पक्षद्वयेऽप्याहु**र्निसृष्टा** इत्यादिना, **भगवद्वाक्येने**त्यादि. तथाच भगवतानुक्तत्वेनानिर्धारात्[७] तथेत्यर्थः, **अस्येति** विभूतित्वस्य[८] ॥३॥

---

१. -शापं. २. लुप्तम्. ३. ततोऽपि. ४. उत्तमप्रश्नोपयोगः.

५. भगवच्छब्द-. ६. -विलय-. ७. -राय. ८. -त्वस्येति.

तत्र प्रथमं नारदस्यैवासाधारणैर्गुणैस्तं प्रोत्साहयति. "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्डकोप. ३।२।९), "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (भग.गीता १७।३), गुरुत्वाच्च **भगवन्निति** सम्बोधनम्. जगन्मित्रं हि नारदः. **यात्रा** गमनम्. राजादिसर्ववैलक्षण्याय **सर्वदेहिनामित्युक्तम्**, स्वतो निरपेक्षत्वाद् अहिंसाप्रचुरधर्मबोधनात् संसारोद्धारकत्वाच्च. देहाभिमानिनामिति मुक्तवैलक्षण्यार्थम्. स्वत एव विचार्य तेषां सर्वतो हितकरणे दृष्टान्तः — अकृपणानां सर्वतः सम्पन्नानामपि **पित्रोरागमनं स्वस्तये,** किं पुनः **कृपणानाम्**! उभयोर्वियोगे ह्यतिकृपणाः. स्वस्तेः परमोत्कर्षार्थं[१] **विशेषणमुत्तमश्लोकस्य (वर्त्मनां!)** मार्गभूतानां, तत्र प्रविष्टानां भगवत्प्राप्तेर्नित्यत्वात्. तथाच नारदस्य त्रयो गुणाः — सर्वमैत्री सर्वहितप्रापणं गोविन्दप्रापणं चेति एकेनैव वयं कृतार्थाः, किं पुनस्त्रिभिः? उपसंहारे बहुवचनं पूज्यार्थे व्यवहारे [२]वाक्कृतदोषपरिहाराय च. आगमनं तु भगवदिच्छयेति न कोऽपि विरोधः ॥४॥

कथं नारदागमनेन एवमित्याशङ्क्य देवर्षि-विभूतित्वं प्रकटयति. देवापेक्षयोत्तमत्वं सर्वेषां सुखैककारित्वेन, विभूतित्वमग्रिमश्लोके.

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥५॥

देवा हि द्विविधाः प्रवाह-मर्यादाभेदेन. तत्र प्रवाहदेवा वृष्ट्यादिकर्तारो भवन्ति. वृष्ट्यादिकं तु दुःखकरमपि. प्रवाहदेवा अपि द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदेन. सुखदुःखे च लौकिकालौकिके; चकाराभ्यामलौकिके परिगृहीते वेदितव्ये.

प्रकाशः

भगवन्नित्यत्र उभयोरिति, पित्रोरित्यर्थः ॥४॥

एवमिति सर्वकल्याणम्. **देवर्षिविभूतित्वमिति**, देवर्षित्वं विभूतित्वं चेत्यर्थः. आभ्यन्तरा देवा इन्द्रियाधिष्ठातारो ज्ञेयाः. **अलौकिके सुखदुःखे** न च[३] बहिरप्रतीयमाने केवलमानसवेद्ये. ननु "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (ऋक्संहि. १०।९०।३) इत्यत्र जीवमात्रस्य 'भूत'पदवाच्यत्वात् कथमत्र सङ्कोच इत्यत आहुः **प्रकरणाद् विशेषः**. तथाच प्रकरणं सङ्कोचकमिति

---

१. -षार्थे. २. वा कृतदोष-. ३. लुप्तम्.

भूतानि भूलोकस्थितजीवाः. प्रकरणाद् विशेषः, चरित्रं तु स्वरूपतो महत् सुखदुःखजनकम्[1]. ऋषित्वं हि[2] मन्त्रद्रष्टृत्वम्. मन्त्रास्तु सहजमपि धर्ममपेक्षितमात्रमंशतः प्रतिबध्नन्ति. तदत्र सहभावि[3] दुःखं प्रतिबध्नन्तीति नात्र तिरोहितमिव सर्वजनीनमित्याह हीति. साधवः सदाचारमर्यादारक्षका लोकावेक्षार्थं भगवताधिकृता (त्वादृशाः!) नारदतुल्याः, पुष्टिमार्गस्था गोपिकातुल्या अच्युतात्मानः. मन्त्रा अपि त्रिविधा— मर्यादास्था देवगुह्या भगवद्वशीकरणरूपाः. अतो भवन्तो भगवद्विचारितं देवकृतं मर्यादाप्राप्तं[4] च दुःखं मन्त्रप्रयोगेण[5] दूरीकृत्य सुखमेव साधयन्तीत्यर्थः ॥५॥

विभूतित्वं वक्तुं ततोपि विशेषमाह.

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥६॥

ननु यज्ञे भगवदवयवभूता देवा "यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्" (   ) इति वाक्यानुसारेण सुखमेव प्रयच्छन्तीति चेत्, न. न ह्येकेन यागे कृते तत्सम्बन्धिनां स्वर्गो भवति. न वाग्निष्टोमे कृते द्वादशाहस्वर्गो भवति. ननु तेषां भगवदवयवभूतानां कथमेवमत आह

प्रकाशः

तथेत्यर्थः. ननु भूमिष्ठत्वेऽपि देवांशानां न देवचरितकृतं दुःखं सम्भवतीति किमर्थेयमुक्तिरित्यत आहुश्**चरित्रं तु स्वरूपतो महदि**ति. देवानामपि परस्परं जयपराजयदर्शनात् चरित्रस्यैवाधिक्यं; तत एव मुक्तिरित्यर्थः. तदेव निगमयन्ति **सुखे**त्यादि, परस्परं देवानामपीति शेषः. चरित्रस्य सर्वसुखदत्वेन यथा ऋषित्वं सिद्ध्यति तथोपपादयन्ति **ऋषित्वमि**त्यादिना. **अंशतः प्रतिबध्नन्ती**ति. यथाग्नेर्दाहकत्वमेव प्रतिबध्नन्ति, नतु तापकत्वमपीति. भगवद्विचारित-दुःखनिवर्तकत्वं भगवद्विज्ञापनरूपैः वशीकरणमन्त्रैः ज्ञेयम् ॥५॥

भजन्तीत्यत्र. "ये देवा यज्ञहन" (तैत्ति.संहि. ३।५।४।१) इत्यत्र "इमानेव लोकांस्तीर्त्वा सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेति" (बोधा.श्रौ.सूत्र १४।२) इति श्रुत्या केषाञ्चित् सम्बन्धिनामपि स्वर्गबोधनात् पक्षान्तरमाहुर्न **वे**त्यादि.

१. -जनकं च. २. च. ३. सहजभावि-. ४. मर्यादया. ५. -योगेन.

कर्मसचिवाः. राजाधीना हि मन्त्रिणो भवन्तीति वेदमार्गस्तथैव; नात्र किमपि विचारणीयम्. वैलक्षण्यमाह **साधवो दीनवत्सला** इति. चतुर्थः पादः सिद्धान्त इति "सन्त आत्माहमेव चे"ति चतुर्थः पादः. न ह्यंशैस्तथाकर्तुं शक्यं यथांशिना. दैन्यमेव करणे हेतुर्वत्सं **लाति**[१] जिह्वयादत्त[२] इति. कार्याकार्यविचाराभावेन सहजस्नेहवन्तो वत्सलाः. सामान्यवाक्यं विशेषपरमिति प्रकरणादवगन्तव्यम्. तस्माद् भवत्समागममात्रेणैव भगवदवतार इव सर्वेषां सर्वं सिद्धं भवतीति तद्गुणवर्णनेन प्रोत्साहनमुक्तम् ॥६॥

प्रश्नमाह. ब्रह्मभावाभिलाषी विदितस्ववृत्तान्तो विदितसाध्यसाधनभावो धर्मान् पृच्छति केवलम् "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छान्दो.उप. ६।१४।२) इति शास्त्रार्थत्वाय. भगवतो ब्रह्मत्वभावनायामपि गुरुत्वस्य भगवता अनङ्गीकरणात्[३] न शास्त्रार्थसिद्धिः किन्त्वखण्डज्ञानमुपदिष्टम्. तेन जीवन्मुक्तिन्यायेन ब्रह्मभावे जातेऽपि "ब्रह्मभूतः [४]प्रशान्तात्मा" (तेजोबि.उप. ४।३३) इत्यादिनिरूपितस्य[५] अर्थस्यासिद्धेः भगवद्धर्माचरणेन तत्सिद्धिरिति प्रश्नः.

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव ।
यान् श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात् ॥७॥

नारदस्य ब्रह्मभावो जातइति तथासम्बोधनं स्तुतिमात्रत्वाभावाय, स्वस्यानुष्ठेयः स्वविचारितो भविष्यतीति. **तथापीति**. भगवदागमनेनैव सिद्धो अस्माकमर्थस्तथापि शास्त्रार्थपरिपालनाय **पृच्छामो**; देवकीप्रभृतीनामप्ययमर्थो अभिलषित इति बहुवचनम्. **भागवतानिति** प्रमाणतः स्वरूपतः फलतश्च

प्रकाशः

चतुर्थ इति, विश्वाद्यपेक्षया चतुर्थ इत्यर्थः. **विशेषपरमिति** नारदपरम् ॥६॥

ब्रह्मन्नित्यत्र. किं शास्त्रार्थत्वेनेत्यत आहुर्भगवत इत्यादि. तथाच तत्सिद्ध्यर्थं तस्यावश्यकतेत्यर्थः. तर्हि पूर्वं भगवदुक्तज्ञानस्य कुत्रोपयोगः, कश्च शास्त्रार्थो यस्मै प्रयास इत्यत आहुः **किन्त्वित्यादि**. **स्वस्यानुष्ठेय** इति भगवद्धर्मः, **स्वविचारित** इति ब्रह्मभावः, तथाच तदुभयसम्पत्त्यर्थं तथासम्बोधनमित्यर्थः ॥७॥

---

१. लान्ति. २. -ददते. ३. -णान्ता शा-. ४. प्रसन्नात्मा. ५. निरूपितार्थस्य.

इति त्रेधा नियतभगवत्सम्बन्धान्. **तवेति** तवाप्यनुष्ठेयान्. दुःखनिवर्तकत्वं तु तेषामिदानीमेवेत्याह **यान् श्रुत्वेति**. उपायपरिज्ञाने हि निश्चिन्तता भवति श्रद्धया तदा आत्मत्वेन करणं सम्भवति. **मर्त्य** इति स्वभावतः सभयत्वं, **सर्वत** इत्याध्यात्मिकादिभिः ॥७॥

ननु दिव्यद्वादशसहस्रवर्षानन्तरं प्रसन्नो भगवान् कथं कर्दमस्य शुक्ल इव न गुरुर्जात इति चेत्, तत्राह

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थे भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयन् न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥८॥

अलौकिकाज्ञातज्ञापकस्य[१] देवकीजठरादुद्गतस्य कुतो न गुरुत्वमित्यत आह **किलेति**, प्रसिद्धार्थज्ञापकत्वेन न गुरुत्वम्. प्रसिद्धिस्तु जन्मभ्यां सत्यसङ्कल्पत्वाद् अत्रापि पुत्रत्वमेव, न गुरुत्वम्. अस्मिन् जन्मनि प्रसिद्ध्यभावादत आह **पुरेति**. ईश्वरपरिचयाभावादुपदेशोऽनुचित इत्याशङ्क्य सेवितस्य अन्ताभावाद् अस्त्येव परिचयः; प्रकारे परं विशेषः **प्रजार्थ** इति. **भुवि मुक्तिदमिति** न क्रममुक्तिर्न वोभयार्थे **न मोक्षायेति**. तपसा शुद्धचित्तस्य कथमेवमत आह **मोहित** इति. प्रजासर्गे ब्रह्मणादिष्टौ न चाप्येकः. प्रथमं सङ्कल्पश्च तथेति भगवतापि तथैव विचारितम्. ततो भगवत्सादृश्यस्याविद्यमानस्य प्रार्थ्यमानत्वाद् विलम्बस्ततस्तपस आधिक्यात् चित्तशुद्धिस्ततो भगवद्विचारितस्य अन्यथाभावासम्भवात्[२] मायामोहो. यया देवा अपि मुह्यन्ति सा **देवमाया** ॥८॥

ननु कथमिदानीमप्यन्यथा भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यथेति**.

प्रकाशः

अहमित्यत्र प्रसिद्ध्यभावादिति, पूजनप्रसिद्ध्यभावादित्यर्थः. **सेवितस्य** इति भावे क्तः ॥८॥

यथेत्यत्र कथमिति. भगवद्दर्शनानन्तरं चेद् जन्मद्वयं जातं तदा भगवत एव प्रतिबन्धकत्वात् मुक्तिः कथमित्यर्थः. **अत्रेत्यस्मिन्** जन्मनि.

---

१. -ज्ञातृज्ञा-. २. -भावं सम्भवात्.

यथा विचित्रव्यसनाद् भवेऽस्मिन् सर्वतोभयात् ।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥९॥

इदानीं विशेषप्रार्थना. "यास्येथे मद्गतिं पराम्" (भाग.पुरा. १०।३।४५) इति वचनात् न भगवतः प्रतिबन्धकत्वम्. अत्र स्थित्यभावकारण-रुच्यभावे हेतुमाह **विचित्रव्यसनादिति**. भगवतः पुत्रत्वेन स्थितावपि यदा **व्यसनम्** अन्यपुत्रादिसंसारचिन्ता तदा कदाऽस्य निवृत्तिर्न वा. तस्य व्यसनस्यैकः प्रकारः. व्यसनाभावार्थं परिगृहीतादपि व्यसनमिति विचित्रता. जन्मान्तरे पुनः साधनसम्पत्तिः कीदृशी भवेदित्य**स्मिन्नेव** जन्मनीत्युक्तम्. अधिकारोऽपि भयहेतुस्तथा वैकुण्ठादप्यागमनमतः सर्वनिषेधायाह **सर्वतोभयादिति**. **अञ्जसे**-त्यनायासेन; आयासे हि चित्तस्योद्वेगात् पुनरावृत्तिर्भवेत्. **अद्धा** साक्षात्. परम्परया साक्षाच्चायं बद्धो बाह्याभ्यन्तरभेदेन. तत्रान्यमप्यस्मिन् निक्षिप्य मोचनं सम्भवति यथा सत्त्वं तन्निवृत्त्यर्थमाह साक्षादिति. शासनं बालकशिक्षा ; नोपदेशमात्रेण कार्यसिद्धिः. **सुव्रतेति** सम्बोधनं सर्वनिर्वाहाय. आश्रितसर्वकार्यकर-णं[१] व्रतं, भगवन्तमपि प्रार्थयित्वा[२] सर्वं करिष्यतीति. एवं त्रिभिः प्रश्नः सिद्धः ॥९॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥१०॥

परीक्षितोऽपि सावधानश्रवणसिद्धये शुकवचनं **राजन्निति**, महत्त्वसम्बोध-नम्. योग्यकथात्वज्ञापनाय उभयोर्गुणकथनं **धीमता देवर्षिरिति**. सर्वथा परमसिद्धान्तकथने हेतुः **प्रीत** इति. **हरेर्गुणैः** पुत्रादिभावेनानुवृत्त्यादिभिः

प्रकाशः

अधिकारोऽपीत्यादि, प्रजापतित्वाधिकारोऽपि[३]. आगमने भगवतस्तावन्निर्बन्धात् तदपि तथेत्यर्थः. **परम्परयेति**. परम्परा प्रजापतिशरीराणां, तया साक्षादन्तःकरणेनेत्यर्थः. **अस्मिन्निति** रजोगुणेऽन्तःकरणे वा. **सत्त्वमिति**, निक्षिप्येति शेषः ॥९॥

१. -कार्यसिद्धिकरणम्. २. प्रार्थ्य-. ३. लुप्तम्.

सम्यक्त्वेन महानयमिति **स्मारितः** तस्य पूर्ववृत्तान्तः सम्यग् ज्ञात इत्यर्थः ॥१०॥

उत्तरत्वेन शास्त्रं वक्तुं स्वयमप्यभिनन्दनमाह त्रिभिः; गुरुशिष्ययोः, मध्ये प्रवचनस्य च, स्तुतिर्वक्तव्या. तत्र श्रोतुः प्रथमं पुरस्कारः **सम्यगिति.**

॥ श्रीनारद उवाच ॥

सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्त्वतर्षभ ।
यत् पृच्छसे भागवतान् धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥११॥

यदस्माभिर्वक्तव्यं भगवद्धर्माणां श्रवणानुष्ठाने कर्तव्ये इति, सर्वशास्त्रार्थनिर्णयोऽयमिति च, भगवन्मार्गेऽन्यस्य कर्तव्यत्वाभावात् तदेव त्वयैव निश्चितम्. **सात्त्वता** भगवद्भक्ताः [१]तेषामृषभत्वं निश्चितमार्गवक्तृत्वाद् विशेषतो गुरुत्वार्थं च पृच्छसे[२]. अनुवादे पुनर्भगवदीयत्वनिर्देशो भक्त्या, **विश्वस्मिन्ननुभावो** येषामिति, तदभावे मार्गान्तर इव कार्यासिद्धेः. अनेन गुरोरभावे प्रश्ने हेतुरप्युक्तः : सामान्यतोऽपि श्रुतास्तथान्तःकरणवृत्तिं सम्पादयन्ति ॥११॥

अलौकिकानुभावत्वं प्रश्नहेतुत्वेनोक्त्वा कैमुतिकन्यायेन तान् स्तौति **श्रुत** इति.

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥१२॥

सतो भगवद्भक्तस्यैकोऽपि **धर्मो** (**देवविश्वद्रुहः!**) लोकवेदघातिनः सर्वथा बहिर्भूतान् प्रायश्चित्तानर्हान् बहूनपि श्रुतमात्रः **सद्यः पुनातीति** किं पुनर्भगवद्धर्माणां माहात्म्यं वक्तव्यमित्यर्थः. यथाजामिले भगवत्सेवकानां[३]

प्रकाशः

सम्यगित्यत्र तदभाव इत्यनुभावाभावे. **अनेनेत्यादि.** गुरुमुखादिश्रुतत्वेऽपि तेषां ज्ञानं विश्वभावनत्वादेवेति विशेषाज्ञानमिश्र-सामान्यज्ञानरूपः **प्रश्ने हेतुरनेन विशेषणेनोक्त** इत्यर्थः. एतदेवाहुः **सामान्यतोपीत्यादि. तथेति** प्रश्नजनिका ॥११॥

---

१. तदृषभत्वम्. २. पृच्छ्यते. ३. भक्तानाम्.

पक्षपातलक्षणः स्वभावो "भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि" (भाग.पुरा. ६।३।१८) इति न्यायेन श्रुतः. पवित्रता लोके वेदे च दुर्लभेति फलत्वेन कीर्त्यते. श्रवणानन्तरभाविकीर्तनमनुपठनं, **ध्यानं** मानसम् ; कायवाङ्मनोगोचरस्तथा करोतीति त्रयम्. **आदृतो** वेति पूर्वेण सह स्वतन्त्रविकल्प, आदरस्य प्रेमसहितत्वाद्. भिन्नकर्तृकश्रवणादावनुमोदनं मात्सर्याभावाय. पदार्थे महती रुचिश्चेत् तथा भवति. हीति नात्र प्रमाणान्तरमपेक्ष्यते. तस्माद् यत्र भगवत्सेवकधर्मोऽप्येतादृशस्तत्र भगवद्धर्माणां किं माहात्म्यं वक्तव्यमित्यर्थः ॥१२॥

स्वस्यापि कृतार्थतया सभाजनमाह **त्वयेति.**

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥१३॥

भगवद्धर्मप्रष्टा[१] सर्वत्र दुर्लभः. वैष्णवानामपि सर्वदा[२] विहितं स्मरणादि ; प्रेमाविर्भावे तु तेनैव [३]विधानम्! चित्तं सम्यक्प्रविष्टं स्मरति, तद्विचारार्थं जातमिति सम्यक् **स्मारित** इत्यर्थः. **कल्याणं** विवाहादि **पुण्यं** गङ्गास्नानादि, तथा चैहिकामुष्मिकपुरुषार्थरूपता भवति. **परमत्वं** परमानन्दरूपत्वात्. रूपनामविभेदेनेति वक्तुं **श्रवणकीर्तने** इत्युक्तं पर-स्व-साध्यभेदेन. **भगवानिति** धर्मिनिर्देशः. ऐहिकामुष्मिकानन्तरफलत्वमपि[४] भगवत आह **देवो नारायण**

प्रकाशः

श्रुत इत्यत्र. **स्वभाव** इति, तं पावितवानिति शेषः. **श्रुत** इत्यनेन सामान्यतः श्रवणमभिप्रेयत इत्याशयेनाहुर्भूतानीत्यादिन्यायेन ॥१२॥

त्वयेत्यत्र कृतार्थतयेति, श्रीवसुदेवसञ्ज्ञात् कृतार्थत्वरूपेणेत्यर्थः. तदुपपादयन्ति **भगवद्धर्मेत्यादिना.** [५]विहितस्मरणोद्बोधस्य बहुकालोत्तरमिदानीं प्रश्नेन जातत्वात् तथेत्यर्थः. ननु सति प्रेम्णि कथं स्मरणाभाव इत्यत आहुः **प्रेमेत्यादि.** यत्र लगति तत्रैव तिष्ठतीति तथा. एतदेव विशदयन्ति[६] **चित्तमित्यादिना.**[७] **रूपनामविभेदेनेति** स्मारित इतिशेषः. दृष्ट्वा कीर्त्यत इति कीर्तनस्य रूपसापेक्षत्वात् तथेति भावः. ऐहिकामुष्मिकफलावान्तरफलत्वं

---

१. -प्रश्नः. २. सर्वदापि हितं, सर्वदा पिहितम्. ३. पिधानम्.

४. -न्त-, -न्तरं-. ५. पिहित-. ६. -यन्त आहुः. ७. -त्यादि.

इति. देवपक्षपातित्वाद् देवो, ब्रह्मजनकत्वाय नारायण इति. सर्वेषामपेक्षितो **मम** तु स्वामी सेव्य इत्यर्थः. सेवायामपि तिरोहित एवेत्यद्येति विशेषः ॥१३॥

एवमभिनन्दनमुक्त्वा शास्त्रमारभते **अत्रापीत्यादि** ''अवाप परमां गतिम्'' (भाग.पुरा. ११।५।४४) इत्यन्तम्.

अत्राप्युदाहरन्तीमम् इतिहासं पुरातनम् ।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥१४॥

गुरोः केवलवाक्यात् शास्त्रीयं प्रमाजनकमिति सिद्धम्. तत्र कथोपक्षेपमाह **अत्रेति. अत्र** धर्मप्रश्ने. अयमर्थः सर्वथा न त्वयैव पृष्टः किन्तु **पुरातनो**ऽपि. अनेन फलस्यापि नियतत्वं ज्ञापितम्. कल्पान्तरीयास्त इति सूचितमुदाहरन्तीति जन्मान्तरस्था गुरवोऽन्ये च. भगवतो ब्रह्मणो वा वाक्यं नोदाहृतं, मुक्तविषयत्वात्. **पुरातनमिति** नारदकल्पापेक्षया. (**आर्षभाणां!**) ऋषभदेवपुत्राणां **विदेहस्य च**. इतरेतरयोगेन प्रत्येकं प्राधान्यार्थे वा चकारः. अस्य निमेर्नवमस्कन्धोक्तादन्यत्वात् न लोचनप्रतिष्ठितत्वेन दूषणम् ॥१४॥

श्रोतुर्वंशकथने प्रयोजनाभावादुत्तमत्वमात्रं वक्तव्यं, तद् यज्ञमध्यस्थितं वक्ष्यति. देहाभिमानाभावो भगवच्चित्तता चात्राप्युक्ता तादृशोऽयं वंशो यत्र भगवता स्वधर्माविर्भावः षट्सु[1] कृतः. शुकवंशवत् सप्तमी हि कक्षा भगवद्धर्मप्रतिपादिका. तान् वक्तुं षट् पुरुषानाह **प्रियव्रत** इति.

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥१५॥

पञ्चमस्कन्धोक्तोऽयमिति वक्तुं तृतीयादारम्भः. शिष्टं स्पष्टम् ॥१५॥

सप्तमानामुत्पत्तिं वदन्[2] पितुर्माहात्म्यपुरःसरमाह **तमिति**.

प्रकाशः

विवृण्वन्ति **सर्वेषामित्यादिना**. सर्वदा सेव्यत्वात् फलरूप इति भावः ॥१३॥

अत्रापीत्यत्र. त इत्यार्षभादयः. यतो जन्मान्तरस्थादयोऽपि तत्संवादमुदाहरन्त्यतस्तथेत्यर्थः ॥१४॥

---

१. षड्गुणकृतः. २. वक्तुम्.

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ॥१६॥

शतमध्ये तेषामप्युत्पत्तिर्वेदाध्ययनं च साधारणमुक्तम्. भगवद्धर्माः शतं ततोऽप्यधिकाः सन्तीति तन्मध्ये [१] नवानामुत्पत्तिः, भक्तेस्तथात्वात् ॥१६॥

अत्र न कोऽपि प्रवाहपतित इति वक्तुं पुष्टिस्थं द्वाभ्यामाह स्वरूपकार्याभ्याम्. [२] स्वरूपनाम्नोरुत्तमत्वं वदन् स्वरूपमाह **तेषामिति.**

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमुत्तमम् ॥१७॥

भगवत्परायणत्वं [३] हि रूपोत्कर्षः. **यन्नाम्ना** महतोऽपि नाम प्रसिद्धं भवति स नामोत्कर्षः. ज्येष्ठस्योत्तमत्वं सर्वेषां तादृशत्वज्ञापनाय ॥१७॥

कार्यमाह **स** इति.

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् ।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥१८॥

भरत एव हि भगवान् बद्ध-मुमुक्षु-मुक्तावस्थाः प्रदर्शितवान्, त्रयाणाम् एतदेव रूपम् एषैव [४] क्रियेति. प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्माश्च भगवदिच्छया प्रतिबद्धाः, नारायणपरायणस्य धर्मनिष्ठा न प्रयोजिकेति. **पदवीं लेभ** इति, ततोऽग्रे गतिर्न ज्ञायत इत्यर्थः, "नारायणपराः सर्व" (भाग.पुरा. २।५।१५) इति वचनात्. भुक्तभोगा परित्यक्तेत्युपपत्तिकथनार्थं **भुक्तभोगेति** विशेषणम्. **निर्गत** इति न सन्न्यासो गृहीत इति ज्ञापयति; तथा सति हरिणसङ्गे पातित्यं स्यात् ॥१८॥

अन्येषामपि नवव्यतिरिक्तानां मर्यादायां विनियोगमाह **तेषामिति.**

तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः ।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥१९॥

रूपमर्यादां हि **नव** रक्षितवन्तो, अष्टदिङ्मध्यभेदात्. सत्त्वरजस्तमोगुणा अन्योन्यमिश्रणेन नवविधा भवन्ति. ते कर्तरि कर्मणि च प्रविष्टा **एकाशीतित्वं** सम्पादयन्ति. एतावन्त एव हि प्रवृत्तिमार्गे वेदनिष्ठाः. **तेषां** मध्ये **नव**

---

१. -मप्युत्प-. २. रूप-. ३. -त्वे. ४. लुप्तम्.

नवद्वीपपतयो जाताः. **अस्येति** पुरःस्थित-भूमिनिर्देशो बुद्धिस्थ-भरतनिर्देशो वा. **कर्मतन्त्रप्रणेतार** इति यजन-याजने प्रदर्शिते. ब्राह्मण्याविर्भावस्तेष्विति **द्विजातय** इत्युक्तम् ॥१९॥

प्रकृतानाह **नवेति.**

नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥२०॥

भागवतधर्मदर्शना **नव** महाभागवता इति ज्ञानभक्तिसहिता. ऋषयो मन्त्रमिव भागवतधर्मदर्शना इत्युक्तत्वाद् अलौकिकद्रष्टृत्वे षड्ढेतूनाह. ते हि नवधा भक्तिरेव प्रकटेति तुल्यस्वभावा. लोके निधिवद् भगवद्धर्मा इति **महाभागा** इत्युक्तम्. प्राप्तो निधिरज्ञानादशक्त्या च गच्छेदित्यज्ञानं त्रिभिर्निवारयति. (**मुनयः !**) मननशीला ह्यवेक्षकास्तत्र लब्धं परिपालयन्तीति. तत्रापि तारतम्यज्ञानार्थम**र्थशंसिन** इति. परमार्थभूतमेव वस्तु शंसन्ते,[१] नतु योगबलेन यत्किञ्चिद् दृष्टमपि. तस्मात् कथनार्थं धर्माणां सम्यगवधारणमुक्तम्. **श्रमणा** इति सामर्थ्यं; येषां मनोवाक्कर्माणि तदर्थमिति नाज्ञानेन प्रमादः. अशक्तिं निराकरोति द्वयेन. परिग्रहेण हि व्याकुलता, अपरिग्रहे देहाध्यासे सति ततोऽपि. अतोऽपरिग्रह आत्मज्ञानं चोक्तम्. देहाध्यासस्य सर्वथा बाधितत्वाय **विशारदत्वम्** ॥२०॥

गुरोर्नामपरिज्ञानाय तेषां नामान्याह **कविरित्यादिना.**

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥२१॥

अथशब्दः प्रकरणविच्छेदकः. "तस्माद् भारत सर्वात्मा" (भाग.पुरा. २।१।५)

प्रकाशः

नवेत्यत्र. "**महाभागवता इति**" (भाग.पुरा. ५।१।२१) इत्यस्मात् पञ्चमस्कन्धवाक्यात् ते तादृशा इत्यर्थः. **मन्त्रमिवेति** भागवतधर्मं पश्यन्तीति[२] शेषः. नवानामेकरूपत्वे हेतुमाहुस्ते **हीत्यादि. तत्रेति** मनने. **सामर्थ्यमिति,** श्रमकर्तृत्वात् तथेत्यर्थः ॥२०॥

---

१. शंसते. २. -त्यर्थः.

इत्यत्र निरूपितं विस्तरभयात् नोच्यते ॥२१॥

तेषामाश्रमधर्मं ज्ञानवैराग्याभ्यां श्लोकद्वयेनाह. तत्र ज्ञानेन परिभ्रमणं प्रथममाह **त** इति.

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम् ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम् ॥२२॥

सङ्घपरिभ्रमणं निषिद्धमाशङ्क्य भगवद्धर्मदर्शनात् परस्परकथनार्थं[१] तथा त इत्याह **त एत** इति. वैदिकं भागवतज्ञानं चैकविधं; भगवत्त्वेन परं विशेषः. साङ्ख्ये तु विकल्पदूरीकरणेनैकरूपानुभवो, योगे तु बहिर्दर्शनाभाव एव. तत्र वैदिके वैष्णवे च प्रकारत्रयेण ब्रह्मनिरूपणं ब्रह्मजगज्जीवप्राधान्यभेदात्. तत्र जगत्प्राधान्यज्ञानमाह. (**भगवद्रूपं!**) भगवतोऽनन्तमूर्तेः कार्यरूपम्. (**सदसदात्मकम्!**) एकं द्विविधबुद्धिहेतुभूतं; व्यवस्थया न सदसद्रूपं किन्तु सर्वत्रैव. तत्र स्वस्याप्यभेद **आत्मनोऽव्यतिरेकः**. परिभ्रमणेऽपि ब्रह्मनिष्ठत्वाय जगत्प्राधान्यज्ञानम् ॥२२॥

वैराग्यमाहाव्याहतेति.

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥२३॥

वैराग्यमपि त्रिविधं— विषयाणां व्यामोहकानां दूरे परित्यागः, आभ्यन्तरे

प्रकाशः

त एत इत्यत्र कथने को विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुः **भगवत्त्वेनेत्यादि.** तथा च वैदिके बृहत्त्व-बृंहणत्वपुरस्कारेण, वैष्णवे त्वैश्वर्यादिषड्धर्मपुरस्कारेणेति **विशेष** इत्यर्थः. **जगत्प्राधान्यज्ञानमिति,** विश्वे भगवद्रूपत्वस्य विशेषणत्वेन भानात् तथेत्यर्थः ॥२२॥

अव्याहतेत्यत्र. वैराग्ये सति सर्वत्र भ्रमणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायाम् आहुः **वैराग्यमित्यादि** ॥२३॥

---

१. -र्थमप्येत.

दृढतया समागतानामुपेक्षा, रागाभावाय सकृदनुभवोऽनिषिद्धप्रकारेण. तत्र तृतीय एतेषु भगवद्धर्मरसाभिनिवेशात्. सिद्धीनामङ्गीकारेण **न व्याहतेष्टा गतिर्येषाम्**. चतुर्दशलोकाभिप्रायेण गणिता लोकाः. तत्रत्यैर्गुणैर्न सम्बद्धा **मुक्ताः**. **काममिति**, भगवदिच्छापरिपालकत्वात् नोद्विग्नाः ॥२३॥

भारते यज्ञकर्तारः शुद्धा भगवद्धर्मजिज्ञासवो भविष्यन्तीति भगवदाज्ञापरिपालनाय तत्र समागता इत्याह **त** इति.

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।
वितायमानमृषिभिर्जायन्तेया महात्मनः ॥२४॥

सर्वथा गन्तव्यमितिनिर्बन्धो नास्तीति **यदृच्छयेत्युक्तम्**. सत्रे हि लौकिकवैदिकक्रियावेशातिरिक्तः[१] कालः सम्भवति "षडहैर्मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति" (   ) इति वत्. तत आह **वितायमानमिति**. भ्रमाभावाय **ऋषिभिरिति**. तथापि गमनमनुचितमिति **जायन्तेया** इति मातृनाम्ना निर्देशः. परं भाग्यं निमेरित्याह **महात्मन** इति ॥२४॥

समागमः पूजनं च प्रश्नेश्चेति त्रिभिः क्रमात् ॥(८)॥

तत्र समागममाह **तानिति**.

तान् दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशान् महाभागवतान् नृपः ।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥२५॥
विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणः ।
प्रीतः सम्पूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथार्हतः ॥२६॥
तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव ।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥२७॥

तेषां ब्रह्मवित्त्वं भागवतत्वं चेति विशेषणद्वयम्. नृपत्वादुचितमुपस्थानं लोकतो, ब्रह्मवित्त्वाद् यजमानस्याप्युचितं, महाभागवतत्वादग्निविप्रयोः, सहभावेनान्ये. अनेन तेषां सहजोत्कर्षः प्रतिपादितः. पूजनमाह **विदेह** इति. तेषां ब्रह्मत्वेन भगवत्त्वेन च ज्ञानमतो राजनि विशेषणद्वयं **विदेह** इति **नारायणपरायण** इति च. अग्रिमविशेषणस्य पूजायामप्युपयोग इति पश्चात्

---

१. -क्तकालः.

निरूपणम्. **दृष्ट्वैव प्रीतस्तेनास्य** तद्गतं सर्वं ज्ञातमिति सम्पन्नम्. **सम्यक् पूजा** यथा भगवतः. बहुकालस्थित्या **आसनस्थानिति.** ज्येष्ठानुक्रमेण यथारुचि पदार्थदानं च. ज्ञात्वा पूजनं तेषामित्युत्कर्षः. प्रश्नमाह **तानिति.** [१] प्रष्टव्यपदार्थस्तेषु वर्तत इति बोधहेतुः. **स्वरुचा रोचमानानिति,** रुच्युत्पादककान्तिस्तु ब्रह्मविदो भगवद्धर्मवित्त्वेन [२]. पितुः स्वस्य च मनसा वृता गुरवः सनकादय इति कथं तदुल्लङ्घनेन प्रश्न इत्याशङ्क्य तत्तुल्या एवेत्याह **ब्रह्मपुत्रोपमानिति.** तथाप्यनुचितिः [३] न, "अब्रुवन्" (श्लो. ३२) इत्यनेन समाधास्यते. **नवेति** च, वैकुण्ठस्थिता एवैते चत्वारोऽपि दुर्लभा लोके, कुतो नवेति! बहुकालमनोरथसिद्धिर्भविष्यतीति **परमप्रीत** आसक्त इत्युक्तम्. विनयेन नम्रता प्रश्ने फलहेतुः. **नृप** इति देशकालादिसर्वचातुर्यम्. एवं तस्य प्रश्नपर्यन्तं नारदोक्तिरुक्ता ॥२५-२७॥

राज्ञः प्रश्नमाह चतुर्भिः. अभिनन्दनं द्वयेन, द्वयेन च प्रश्नः, भगवत्सेवकत्वेन भगवद्धर्मवत्त्वेन च. ज्ञानं तु ब्राह्मणानां सहजत्वात् न स्तूयते. तथैव प्रश्नोऽपि द्वयेन लब्धपरिपालनालभ्यलाभाभ्याम्. तत्र प्रथमं भगवत्सेवकत्वेन तान् स्तौति **मन्य** इति.

॥ जनक उवाच ॥

मन्ये भगवतः साक्षात्पार्षदान् वो मधुद्विषः ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥२८॥

दर्शनादेव परमहंसा वैष्णवा इति ज्ञातं; गोत्रादिप्रश्ने न कोऽपि पुरुषार्थः. आगमनप्रयोजने सन्देहः स्वार्थमागमनं परार्थं वेति. प्रथमो दर्शनादेव निवृत्तः. परार्थे च प्राणिनो न स्वतः प्रवृत्तिः; प्रेक्षापूर्वप्रवृतिश्चेयमतो भगवत्प्रेरणया अस्मदुद्धारार्थं [४] समागतम्. तत्र बहिःसेवका राजसवेशधारिणो [५] भवन्ति. तैश्चास्वतन्त्रैर्न सर्वं कार्यं सिद्ध्यत्यतः कृत्रिमवैकुण्ठादौ सनकादय

प्रकाशः

विदेह इत्यत्र **तेषामिति** तद्विषयकम्. **तानित्यत्र चत्वार** इति सनकादयः ॥२६-२७॥

---

१. प्रष्टव्यः. २. भगवत्त्वेन, भगवद्धर्मवत्त्वेन. ३. अनुचितेः. ४. उद्धारार्थे. ५. -वेष-.

इवान्येऽपि तत्सदृशा भगवत्सभायां तिष्ठन्ति, पार्षदसङ्गेऽपि[1] केचन गच्छन्ति. तन्निवृत्त्यर्थं **साक्षादिति**, मुख्यानित्यर्थः. कस्मिन्नवसरे पार्षदत्वं? तत्राह **मधुद्विष** इति. मधु-कैटभौ हत्वा ब्रह्मणे वेदान् दत्तवान् हयग्रीवरूपेण. ततश्च वेदरक्षाद्यवसरे[2] सर्वेषां महतामवसरः. अनेन तेषां वचनं न केनापि शास्त्रेण विरुद्धमिति ज्ञापितम्. कार्यार्थं भगवदाज्ञया अत्रागमनसम्भावनायामपि परिभ्रमणमयुक्तमित्याशङ्क्याह[3] **विष्णोर्भूतानीति**. पालकस्य सेवका यं गृह्णन्ति तं स्वसमानं कुर्वन्तीति **भूतानि**. अथवा भगवदुत्पन्नानि गङ्गावत् सर्वपवित्रकरणार्थे परिभ्रमन्तीत्यर्थः. नात्र सन्देहो, गङ्गैव दृष्टान्त इति हीत्युक्तम्. भगवतैवोत्पाद्य प्रेषिता इत्युक्तं भवति. भगवद्धर्मवत्त्वेन तेषां प्रशंसा ॥२८॥

गङ्गातोऽप्याधिक्यार्थमाह **दुर्लभ** इति.

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२९॥

"लब्ध्वा सुदुर्लभमिदम्" (भाग.पुरा. ११।९।२९) इति न्यायेन "स्वर्गापवर्गयोर्द्वारम्" (भाग.पुरा. ७।१३।२४) इति च "अत्रैव मृग्य" (भाग.पुरा. ७।७।३) इत्यादिवचनैश्च मानुषदेहो नौकावत् साधनं, परं सन्तो नाविका इव यदि भवन्ति तदा फलं सिद्ध्यति. न चात्र प्रत्यक्षबाधः शङ्कनीयः. हेतु-स्वरूप-फलैः प्रत्यक्षैर्हि स भवति. तत्र हेतुरप्रत्यक्ष एव. फलं साधनाभावात्. स्वरूपेऽपि बहवः पथिका इवारण्ये विषमनद्यां प्राप्तनौका न नौकां सुलभां मन्यन्ते, बहुश्रमेण[4] प्राप्तत्वात्. चतुरशीतिलक्षयोनिषु एका मनुष्ययोनिरिति युक्त्या बाधो निराकार्यः. देहाभिमानस्य तामसत्वाद् राजसमानुषदेहो **दुर्लभ** इत्यर्थः. **क्षणेन भङ्गुर**[5] आरब्धनाशे न तिष्ठतीति.

प्रकाशः

दुर्लभ इत्यत्र **अत्रेति** मानुषदेहदौर्लभ्ये. **फलमित्यप्रत्यक्षमिति** शेषः. स्वरूपतो दौर्लभ्यमुपपादयन्ति **स्वरूपेपीत्यादि**. ननु देहप्राप्तेर्मनोऽधीनत्वाद् युक्त्या बाधः सम्भवतीत्यत आहुर्**युक्त्येत्यादि**. स युक्त्यन्तरेण निवार्य इत्यर्थः. तामाहुर्**देहेत्यादिना**. निरभिमानं तत् न देहजनकमपि तु साभिमानं,

---

१. -सङ्गे तेऽपि. २. -रक्षावसरे. ३. -क्तमाशङ्क्य-. ४. बहुभ्रमणेन. ५. भङ्गुरमा-.

मानुषदेहप्राप्तिः स्वस्य दुर्लभा, दुर्लभेऽपि दुर्लभा भगवत्प्रियप्राप्तिः, तदभावे प्राप्तापि व्यर्थानर्थहेतुश्चेति. लोकप्रसिद्ध्यभावेऽपि स्वानुभवः प्रमाणमित्याह **मन्य** इति. वैकुण्ठे स्थित्वा सर्व-स्वरूप-स्वधर्मान् दत्वा सेवकबाहुल्याय प्रेषयित्वा तत्प्रतीक्षया तिष्ठतीति **वैकुण्ठस्य प्रियाः** ॥२९॥

न ह्येवं समागमः पुनः सम्भविष्यति येन विलम्बः कर्तव्यः, किन्तु शरीरस्योपयोगः कर्तव्य एवेत्याशयेनाह **अत** इति.

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ॥३०॥

विधिसहभावाभावे सति अनन्तत्व**मात्यन्तिक**त्वम्. **क्षेमो** लब्धस्य परिपालनम्. लब्धो हि दुर्लभो देहः सङ्गश्च; स येनोपायेन नित्यो भवेत् स वक्तव्य इत्यर्थः. **भवत** इति द्वितीयं कर्म. पदार्थद्वयस्य दुर्लभत्वेऽपि प्रारम्भक-पापसम्भवात् नास्मच्छरीरेण कार्यसिद्धिरतो **अनघा** इति सम्बोधनम्. प्रतिबन्धकाभावाय "विष्णोर्भूतानि" (श्लो. २८) इति हेतुः. आत्यन्तिकक्षेम-स्योत्कर्षं वक्तुं कैमुतिकन्यायेनाह **संसारेऽस्मिन्निति**. स्वव्यतिरिक्तानि क्षुद्राणि फलानि दातुं न बहुकालस्थितिरपेक्ष्यते. निधिप्राप्तौ दारिद्र्यमिव ज्ञानदानेन संसारदुःखनिवृत्तिरित्यर्थः. अतः **सदिति** सामान्यपदम्. नरत्वमेव अधिकारिविशेषणम् ॥३०॥

अलभ्यलाभं पृच्छति **धर्मानिति**.

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥३१॥

भागवतधर्माः कदापि न प्राप्ताः. योगस्य क्षेमाभावे ह्यप्रयोजकत्वमत आह **यदि नः श्रुतये क्षममिति**. स्वरूपयोग्यतायां भगवच्छ्रवणतुल्यं चेत् तदा धर्माणां तादर्थ्यता भवति. धर्माणां योग्यत्वाय[१] पूर्वापेक्षयाधिकं[२]

प्रकाशः

तथा सति राजसप्राप्तौ तादृशप्रारब्धरूप-कारणान्तरस्य मृग्यत्वात् तथेत्यर्थः ॥२९॥

धर्मानित्यत्र योगस्येति, अलभ्यलाभो योगस्तस्येत्यर्थः. **तादर्थ्यतेति**

---

१. योगत्वाय. २. -कफल-.

फलत्वमाह **यैः प्रसन्न** इति. अनुष्ठितैर्धर्मैर्भगवत्प्रसादो नियतः. प्रपत्तिः अधिकारिविशेषणमधिकम्[१]; अन्यस्य अनात्मनिवेदिनो भगवान् आत्मानं न समर्पयति. प्रसादे, कीर्त्यादिदानपुरःसरमात्मदाने च, धर्माणां च[२] हेतुत्वम्, "वरं वृणीमहेऽथापि" (भाग.पुरा. ४।३०।३१) इति प्रसादेऽपि प्रार्थनायाः क्रियमाणत्वात्. **अपि**शब्देन भक्तसङ्गं धर्माणामनन्यहेतुत्वाय. न सम्बन्धेन प्रयच्छतीत्याह **अज** इति. एवं प्रश्नद्वयं सिद्धम् ॥३१॥

मध्ये नारदो वसुदेवं सावधानं करोत्येवमिति.

॥ नारद उवाच ॥

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ।
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥३२॥

महत्तमा इति तस्याधिकारमपि सम्पाद्य धर्मान् वक्ष्याम इत्युक्तं भवति. हितं वदति, कारयति, योग्यं कृत्वा च कारयतीति तथा. प्रतिपूजनं बहिरेव. **ससदस्यर्त्विग्**गितिवचनात् मुख्यमेकं गौणद्वयं च वक्तव्यमिति सूचितम् ॥३२॥

प्रकाशः

स्वार्थे तल्, आत्यन्तिक-क्षेमार्थतेत्यर्थः. **धर्माणां चे**ति, चोऽप्यर्थे. आत्मदानं प्रत्यपि धर्माणां हेतुत्वे गमकमाहुर्**वर**मित्यादिना. इदं चतुर्थस्कन्धे त्रिंशाध्याये भगवन्तं प्रति प्रचेतसां वाक्यम्. **अनन्यहेतुत्वाये**ति, भगवदभिन्नत्वेन हेतुत्वायेत्यर्थः. **अज** इति. धर्मरूपेण न जातः, स्वभावत एव तद्रूप इत्यर्थः ॥३१॥

एवमित्यत्र. **हितं वद**तीत्यादिना महन्महत्तरमहत्तमानां स्वरूपमुक्तम्. **बहि**रिति, ग्रन्थानुपनिबद्धमित्यर्थः. **मुख्य**मिति फलं, **गौणद्वयं** साधनद्वयम्. **सूचित**मिति, यजमानस्य ऋत्विक्त्वस्य योगकथनात् तथेत्यर्थः. एतदेव विशदयन्ति तत्रेत्यादिना ॥३२॥

---

१. पूर्वश्लोके नरत्वमेवोक्तं, ततोऽधिकमित्यर्थः.   २. लुप्तम्.

॥ कविरुवाच ॥

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥३३॥

तत्र मानुषदेह-सत्सङ्गयोः प्राप्तौ मोक्षावश्यम्भाव इति तदुपायप्रश्नो भगवद्धर्मप्रश्नश्चेति प्रश्नद्वयम्. तत्र समुदाये[1] पृष्टस्य मुख्यपर्यवसानादतिनिपुणः कविराह, सर्वत्र कुशलस्तत्र प्रथमस्योत्तरमाह. भक्तिमार्गेण गोविन्दभजनमित्युक्तं भवति, अन्यस्य स्वपरनिर्वाहकत्वाभावात्.[2] **उद्विग्नबुद्धेरिति** वचनाद् वैराग्य-रागाभावावुक्तौ, "न चेद् यतेरन् न पुनर्मृताय" (भाग.पुरा. ५।१९।२५) इति वचनात्. जन्मफलं [3]पुनर्जन्म-मरणाभावायेति, तत् सर्वथाऽभयम्.

प्रकाशः

मन्य इत्यत्र **अन्यस्य स्वपरे**त्यादि. ज्ञानस्य कर्मणश्च स्वप्रतिबन्धनिवृत्ति-सहित-साधकफलप्रापकत्वाभावादित्यर्थः. फलस्वरूपविचारेण अनुद्वेगहेतुविचारेण च तमुपपादयन्ति **न चे**त्यादि. तस्य च स्पष्टमेवानुद्वेगबाधकत्वं, कुतो न निर्वाहकत्वमित्याकाङ्क्षायां तत्तदधिकाराभावेन इत्याशयेनाहुरुद्विग्नेत्यादि. **वैराग्यरागाभावाविति** वैराग्य-रागयोरभावौ. तथाच "तस्माद् ब्राह्मणो निर्वेदमायादर्थी समर्थ" (   ) इति श्रुतेः "निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनाम्" (भाग.पुरा. ११।२०।७) इति वाक्याच्च वैराग्य-रागौ यथायथम् अधिकारभूतौ. अत्र च तदभावात् तयोरसिद्धेस्तथेत्यर्थः. ननूद्वेगवचनात् कथं तदभावयोः प्राप्तिरित्यपेक्षायाम् उद्वेगहेतुविचारेण तत्प्राप्तिमाहुर्न **चेदि**त्यादि. **तत्रेति** अभये. **अनधिकार** इति बाधक इति शेषः. तथाच पुत्रादिरूपेण पुनर्जन्म मरणं च येन न भवति तादृशं यद् **जन्मफलं तत् सर्वथाभयम्**. कर्ममार्गे तु "प्रजामनु प्रजायन्ते तदु मर्त्यामृतं विदुः" (   ) इति श्रुतेः प्रवाह एव फलम्. तस्याभयबाधकत्वं स्पष्टमिति तत्र रागाभावादुद्वेग इति तत्प्राप्तिः. पूर्णे च वैराग्ये सुखमेव, नतु उद्वेग इति तत एव वैराग्याभावस्यापि प्राप्तिरित्यर्थः. ननूद्वेगस्य वैराग्याभावबोधकत्वं तदा यदानुद्वेगस्य वैराग्यबोधकत्वम्

१. समुदाये पृष्टं मुख्यं प्रति पृष्टं भवतीत्यर्थः.

२. अत्र 'न च..' इति पङ्क्तिः प्रकाशकारैः उद्धृता अपि नोपलभ्यते —सम्पा.

३. पुत्रजन्म-.

तत्र कर्ममार्गे प्रवाहस्य बाधकत्वं, ज्ञानमार्गे त्वनधिकारो, विषयिणोऽप्यापातत एवानुद्वेगः. ज्ञानोत्तरं तु सर्वथा तद् वैराग्यसाध्यम्. तत् सहसा न निर्वहत्यतः सुगमोपायप्रेप्सोः (**अच्युतस्य !**) केनाप्यंशेन च्युतिरहितस्य (**पादाम्बुजोपासनम्!**) चरणसेवैवोपाय इति एतदभावे मानुषदेह-सत्सङ्गयोर्वैफल्यम्. नन्वेतस्यैव कथं निर्वाह इत्यत आह **मन्य** इति. ममैवं विचार इत्यर्थः. जगन्नाथादिस्थानेषु क्वचिद् गत्वा मरणपर्यन्तं भगवत्सेवायां न किञ्चिद् बाधकमिति[१] भावः. गृहस्था देवा रोगाश्च न तत्र बाधका भविष्यन्तीति **अकुतश्चिद्भयत्वम्**[२]. तत्र हेतुरच्युतस्येति— ये हि स्वस्थानाच्च्युतास्ते बाध्यबाधकतां प्राप्नुवन्ति, भगवांस्तु न स्थानाच्च्युतः, तत्सम्बन्धादच्युता इव भवन्तीत्यर्थः. **पादाम्बुज**मित्यवतारादि असमासादेव गम्यते. समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमु-**पासना अत्र** मानुषदेहे. एतदेव **नित्यं,** परं गमनार्थं साधनमुद्वेगः. प्रवाहव्यावृत्त्यर्थं **बुद्धि**रिति, वृक्षधर्मत्वात्. (**असदात्मभावाद्!**) नाशकत्वादस्य देहस्य तत्रात्मबुद्धिरज्ञानात् कृतेति. **विश्वात्मने**ति फलम्. "मृत्युरस्मादपैति" (भाग.पुरा. १०।३।२७) इति न्यायात् **यत्रो**पासनायामुत्पत्तिमारभ्य तद्ग्रसनार्थं सङ्गे स्थितस्तदा **निवर्तते** सर्वांशेन. नैवमन्यस्मिन्नुपाये मृत्युर्निवर्तत इत्यर्थः, "भयनामाप्यपद्यते"( ) इति वचनात्. अकिञ्चित्करत्वाय

प्रकाशः

एकान्ततः स्यात्, नतु तथा, विषयिणोऽप्यनुद्वेगदर्शनादित्यत आहुर्**विषयिण** इत्यादि. तस्मादुद्वेगो वैराग्याभावस्यैव गमक इति. सिद्धमाहुस्**तद्वैराग्यसाध्यमि**ति. **तद्** ज्ञानं **वैराग्यसाध्य**मित्यर्थः. एवं निश्चित्य तेन फलितमाहुस्**तत् सहसे**त्यादि. **तदि**ति वैराग्यम्. **ममैवं विचार** इति. स्वस्य भगवत्पार्षदत्वेन सेवकनिर्वाहकत्वरूप-भगवत्स्वभावाभिज्ञत्वाद् एवमुच्यत इत्याशयः. तमेव विशदीकुर्वन्ति **जगन्नाथे**त्यादि. ध्यानरूपताव्यावृत्त्यर्थमाहुः **समीप** इत्यादि. **नित्यमि**ति, विरोधिसहभावाभावेन अनन्तमित्यर्थः. तत्रापेक्षितं साधनमाहुः **परमि**त्यादि. **गमनार्थमि**ति श्रीजगन्नाथादौ गमनार्थम्. प्रवाहव्यावर्तकबुद्धौ बीजमाहुर्**वृक्षे**त्यादि ॥३३॥

---

१. -मित्यर्थः. २. -भयम्.

(भीः !) स्त्रीपदप्रयोगः ॥३३॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥३४॥

द्वितीयस्योत्तरमाह **य** इति. द्विविधा हि भगवद्धर्मा गीतायामुक्ता— "यत्करोषि" (भग.गीता ९।२७) इत्यादिश्लोकद्वयेनैके, "मन्मना भव" (भग.गीता १८।६५) इत्यपरे. उभयेषामप्यात्मलब्धिः फलं परम्परया साक्षाच्च[१]. अन्यैरप्युक्ता "आत्मलब्धये शृण्वन्ति" ( ) इत्यादिना. भगवतापि प्रयोजनान्तरार्थे "सर्वधर्मान् परित्यज्य" (भग.गीता १८।६८) इत्युक्तमस्ति. तत्र **ये** धर्मा **वै** निश्चयेन साक्षाद्भगवत्फला एव भगवद्विषया एव कायवाङ्मनोभिर्व्यस्तैः समस्तै **र्भगवतैव** च **प्रोक्ता** "मन्मना भव" (भग.गीता १८।६५) इति ते **भागवताः**. सर्वत्र भगवत्सम्बन्धाद् हीत्युक्तम्. **आत्मा** भगवान्. **अञ्जः पुंसामविदुषामिति** कर्म-भक्ति-ज्ञानानां सहकारित्वं निषिद्धम्. पुरुषो हि स्वतन्त्रः. प्रत्येकं ते भगवत्प्राप्त्युपायाः. अत्रापि सर्वप्रसिद्धिरिति हीत्युक्तम्. विजातीयसहिताः प्रत्येकं त **उपाया**

प्रकाशः

ये वै इत्यत्र **परम्परयेति**. "मदर्पणं निःफलं वा सात्त्विकं निजकर्म तद्" (भाग.पुरा. ११।२५।२३) इति वाक्यात् सत्त्ववृद्धिद्वारेत्यर्थः. पूर्वार्धेनैव भगवद्धर्मलक्षणे सिद्धे तृतीयपादप्रयोजनमाहुः **सहकारित्वं निषिद्धमिति**. समप्राधान्येन समुच्चयो निषिद्धः. तथाच **अञ्जो**[२] अनायासादुक्ताः, **पुंसामुक्ता, अविदुषामुक्ताश्चेत्यर्थः**. **पुंसामित्यस्यार्थमाहुः पुरुषो हि स्वतन्त्र** इति, ज्ञानीत्यर्थः. निषेधे गमकमाहुः **प्रत्येकमित्यादि**. "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता" (भाग.पुरा. ११।२०।६) इति भगवद्वाक्यसन्दर्भात् तथेत्यर्थः. युज्यते भगवता अनेनेति योग इति व्युत्पत्त्या 'योग'पदं भगवद्वाक्येषु तत्तन्मार्गपरमपीत्याशयेन मार्गस्वरूपमाहुः **विजातीयेत्यादि**. विजातीयानामाश्रमधर्मादीनाम् अङ्गत्वेन प्रवेशात् साहित्ये यत्र सेवा मुख्योपायः स भक्तिमार्गः, एवमन्येऽपि. इतराभ्यां विवेकाय ज्ञानमार्गस्वरूपमाहुः **मनसेत्यादि**. इतरयोः स्वरूपमपि

---

१. साक्षाद् वा. २. सत्त्वादुक्ता.

मार्गाः. "मनसैवानुद्रष्टव्य" (बृहदा.उप. ४।४।१९) [१] इति ज्ञानमार्गः. द्वितीय-तृतीयौ स्पष्टौ, नम इति सदुपशिक्षा कर्तव्यनिर्धारत्वेन भगवति, साधारणः[२] सर्वेषाम्. त एव प्रधानभूता मिलिता भगवद्धर्मा इति विशेषः. स्वतन्त्रफलरूपत्वं तेषां वक्तुं वाक्याद्यन्तयोः निर्देश-प्रतिनिर्देशौ. विद्धीति नात्र सन्देहः कर्तव्यः ॥३४॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेत् न पतेदिह ॥३५॥

सर्वमार्गापेक्षयोत्कर्षं वक्तुं प्रवाह-मर्यादयोः बाधकत्वाभावमाह. तेषामास्थितिः = कायवाङ्मनसां तदीयत्वम्. लोके हि बहवः प्रमादाः सम्भवन्ति, कालविशेषेण च. राज्ञां चायमनुभवो, मनुष्याधिकारकश्च दण्ड इति. प्रवाहे बाधाभावमुक्त्वा मर्यादायामप्याह धावन्निति. शीघ्रमुद्देश्यदेशगमनं = धावनं, मध्ये मध्ये क्रियोल्लङ्घनं वा. शास्त्र-गुरू श्रुति-स्मृती वा नेत्रे. स्खलनं = गतिकरणस्य विघातः, पतनमवयविनः. इहेति धर्मेषु, समवालुकाभूमिवत्. त्वरायां साधनपरित्यागे शास्त्रगुरूल्लङ्घने फलविलम्बः फलाभावो वा न भवतीत्यर्थः. एवं श्लोकद्वयेन मुख्या भागवता धर्मा उक्ताः ॥३५॥

प्रथमानाह[३] श्लोकत्रयेण कायेनेत्यादिना. "यत् करोषि" (भग.गीता

प्रकाशः

तर्हि वक्तव्यमित्यत आहुर्द्वितीयेत्यादि. कर्म-भक्तिमार्गौ सप्तविंश-द्वादशाध्याययोः भगवता विस्तरत उक्तावतः स्फुटावित्यर्थः. एवं भगवन्मार्गान् विशदीकृत्य तेभ्योऽपि भगवद्धर्मान् विवेक्तुं तत्प्रयोजकं रूपमाहुर्नम इत्यादि. तथाच **नम** इति कायवाङ्मनःप्रह्वीभावरूपं नमनमुक्तरूपेण **सर्वेषां** मार्गाणां भगवद्धर्माणां च तुल्यं, तेन ते विजातीयसंवलनेऽपि 'भगवन्मार्गा' इत्युच्यन्त इत्यर्थः. तर्हि भगवद्धर्मात् को विशेष इत्यत आहुस्त इत्यादि. तथाचाङ्गभावे सजातीयमात्रसंवलने भगवद्धर्मत्वमित्यर्थः ॥३४॥

यानित्यत्र **अवयविन** इति **विघात** इति शेषः ॥३५॥

कायेनेत्यत्र [४] उच्यमान-भगवदुक्तत्वरूप-लक्षणार्थमनूद्य आहुर्यदि-

---

१. लुप्तम्.   २. साधारणम्.   ३. कृपायुक्ताधिकारिणा पूर्वं कर्तव्यान् इत्यर्थः.   ४. उच्यमाने.

९।२७) इत्यत्र लौकिके कर्तृत्व-भोक्तृत्वे होम-दाने पूर्वकाण्डकर्तव्ये[१], तपश्चोत्तरकाण्डस्थमिति लोकवेदयोः समर्पणमुक्तम्. ततश्च केवलस्य समर्पणस्य सुखं दुःखाभावः फलं चोक्तम्. त्यागयोगसहितस्य तु[२] मोक्षद्वारा स्वप्राप्तिरप्युक्ता[३] "सन्न्यासयोगयुक्तात्मा" (भग.गीता ९।२८) इति. तथाचात्मनिवेदिनो विशेषेण वदति, "प्रपन्नाय[४]" (श्लो. ३१) इति प्रश्ने वचनात्. आत्मनिवेदन[५] एव सर्वस्य समर्पणेऽपि पूर्वस्वभावानुवृत्त्या[६] भगवन्तमात्मनिवेदनं च विस्मृत्य लौकिककर्तृत्वेन करोति तस्यैव समर्पणमिति विशेषः. त्यागो भगवद्भजनार्थ इति सन्न्यासस्थाने भक्तिरुक्ता. कार्यसमर्पणं, भक्तिर्योगश्चेति श्लोकत्रयेण निरूप्यते. आद्यमाह.

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥३६॥

ज्ञानप्राधान्येन क्रियाप्राधान्येन वा[७] करणम्. तत्र **कायवाङ्मनोभिरिन्द्रियैश्चेति** क्रिया, **बुद्धिस्वरूपेणेति** ज्ञानम्; ज्ञात्वाऽज्ञात्वा वा[७] करणं यद्यदिति करणे पृथक्त्वं, [८]समर्पणे ह्येकत्वं, "विहितनिषिद्धानां लौकिकालौकिकानां च कृतानि तुभ्यं समर्पयामी"ति न किन्तु "तुभ्यमेव कृतानी"ति. स्वभावात् भिन्नतया कृतमपीत्येवं समर्पयेत्[९] ॥३६॥

प्रकाशः

त्यादि. **ततश्चेति**, "शुभाशुभफलैरेवम्" (भग.गीता ९।२८) इत्यर्धेनेत्यर्थः. **आत्मनिवेदिन** इति, आत्मनिवेदिनः प्रतीत्यर्थः. ननु यद्येवं तर्ह्यात्मनिवेदनस्य पूर्वमेव कृतत्वाद् "यत् करोषि" (भग.गीता ९।२७) इत्यादिनाप्युपदेशो विशेषाभावात् निरर्थक एवेत्यत आहुरात्मेत्यादि. **त्याग** इति गीतावाक्ये 'सन्न्यास'शब्दोक्तः. **उक्तेति**, "भयं द्वितीयाभिनिवेशत" इति वक्ष्यमाणे श्लोक उक्तेत्यर्थः. ज्ञानक्रियाप्राधान्यस्य स्वरूपमाहुर्**ज्ञात्वाज्ञात्वा वा करणमिति. इत्येवमिति**, इतीत्यस्य व्याख्यानम् एवङ्कारः. स्वाभाविकसमर्पणस्य यः

---

१. पूर्वकाण्डे. २,३. लुप्तम्. ४. प्रपन्नमिति. ५. यद्येवं तर्हि निरर्थक उपदेश इत्यत आहुरात्मेत्यादि, तथाच तदर्थमयमुपदेश इति न वैयर्थ्यमित्यर्थः. ६. -वृत्त्यां. ७. कारणम्. ८. ससमर्पणे. ९. एवं सति स्वाभाविकमसमर्पितं सद् दोषावहं भविष्यतीति तस्यापि भगवदर्थत्वं यथा भवति तथा कृत्यर्थं प्रभुचरणैः स्वतन्त्रव्याख्यानमस्य कृतम् इति न विरोधगन्ध इति बोध्यम्.

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥

द्वितीयमाह. "मामेव ये प्रपद्यन्त" (भग.गीता ७।१४) इति वचनाद् 'एव'कारेण सर्वेषामन्येषामनुपायत्वमाह. मायामोहेनाऽस्मृतिः अतो देहोऽहमस्मीति **विपर्ययः**(१), सर्वस्य हेतुर्मूलभूतईशादपेतत्वं(२), तदपि सृष्टिर्मायया, पुनर्मायया भोगाभिनिवेशेन **भयम्**(३) ---एवं (१-३) दोषत्रयजनकमायानिराकरणाय **आसमन्तात्** तमेव **भजेद्**, "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति" (महाभा.ता.नि. १।११६) इति वचनात्. **ईशो** ह्यनन्यतयैव सन्तुष्यति. ननु अनन्यता न सम्भवति, स्नेहस्य त्रिनिष्ठत्वादत आह **गुरुदेवते आत्मा यस्य** इति परमप्रेमार्थं चैतदुक्तम्. भक्तेश्चिन्तामणिवद् बहुसाधकत्वात् न काचित् चिन्ता ॥३७॥

तृतीयमाह.

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत् कर्म सङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥३८॥

सर्वानर्थमूलं मन इति योगशास्त्रम्. तत्र हि द्वैतप्रपञ्चो मिथ्याभूत

प्रकाशः

प्रकारः स प्रभुचरणैः स्वतन्त्रलेखे विशदीकृत[१] इति न क्वापि विरोधगन्धः ॥३६॥

भयमित्यत्र. यादृशी भक्तिः प्रथमाधिकारकेषु भगवद्धर्मेषु विवक्षिता तां व्यक्तीकर्तुं गीतावाक्यमाहुः **मामित्यादि.** तथाच मायातरणार्थं क्रियमाणा अनन्यभक्तिः सेत्यर्थः. **अस्मृतिरिति** स्वस्वरूपविस्मरणम्. **अत** इत्यस्मृतेः. **परमप्रेमार्थं चैतदुक्तमिति,** गुरुदेवतयोरात्माभेदानुसन्धानम् अनन्यत्वाय प्रेम्णे चोक्तमित्यर्थः. तथाच गुरुदेवतयोरात्माभेदानुसन्धानपूर्वकं सकार्यमायामोहनिवारणफलकं भगवति परमं प्रेम सेति फलति. नन्वेवं सति एतया भगवत्प्राप्तिर्विलम्बेन स्यादित्यत आहुर्**भक्तेरित्यादि.** तथाच काममात्रभेदादेव प्राथमिकत्वं; सा चेद् भगवद्विषयिणी स्यात् तदा भगवत्प्राप्तिरपि शीघ्रं भवत्येवेति न दोष इत्यर्थः ॥३७॥

---

१. द्रष्ट. पृ. ४४१ - सम्पा.

एव सवासनमनसा जन्यते. **यथा** योगजधर्मसहिते मनसि सिद्धयः [१] फलन्ति एवमेव वासनासहिते **द्वयं** [२] **स्वप्नमनोरथावपि** तन्मते वासनया भवतः. न च तावन्मात्रं मनसः किन्तु सङ्कल्पयति कर्म, विकल्पयति च; कर्मणः स्वरूपभेदान् जनयति. आपाततः सुखजनकत्वेऽपि दोषद्वयं ज्ञात्वा **मनो निरुन्ध्यादेव**. एवं त्रयाणां समुदाये भयं स्यात्, ततो भगवत्प्राप्तिः स्यादित्यर्थः, "विमुक्तो मामुपैष्यसि"(भग.गीता ९।२८) इति वचनात्. अयमन्यः प्रथमपक्षस्यैव "मन्य" (श्लो. ३३) इत्यस्य विकल्परूप इति केचित्, साधारण इत्यन्ये ॥३८॥

एवं प्रकारद्वयेन भगवद्धर्मान् निरूप्य मार्गत्रयानुकल्परूपं स्वतन्त्रपक्षमाह **शृण्वन्नित्यादि** पञ्चभिः. मुख्यपक्षाणामधिकाराभावे [३] करणासम्भवाद्, ज्ञानकर्मणोर्ब्राह्मणमात्रविषयत्वाद्, भक्तेरपि [४] बहुसाधनसापेक्षत्वात् सर्वेषां शरीरमात्रसाध्योऽयमुत्तमः पक्ष इति "नामान्यनन्तस्य" (भाग.पुरा. १।६।२६) इत्यत्र प्रतिपादितमस्माभिः. तदत्र स्वरूपं तस्य धर्मस्यादावाह.

प्रकाशः

अविद्यमान इत्यत्र **मनस** इति पञ्चमी. **कर्मेति** विचारविषयपदार्थम्. **अयमन्य** इति. अत्रोक्तो योगोऽतिरिक्त एव प्रथमोपायभूतो, **विकल्परूप** इत्यवान्तरभेदरूपः, **साधारण** इत्युक्तपक्षद्वयेऽपि ऐकाग्र्यस्यापेक्षिततत्वाद् उभयोपायभूतः ॥३८॥

शृण्वन्नित्यत्र अनुकल्परूपमिति, तादृशकर्म ज्ञानं भक्तिश्चेति त्रयमपीत्यर्थः. द्विविधधर्मानधिकारे मार्गानुकल्पोऽपि गौणतरो भगवद्धर्म इति भावः. **ज्ञानकर्मणोरिति**, "योगास्त्रय" (भाग.पुरा. ११।२०।६) इत्यत्रोक्तयोरित्यर्थः. **भक्तेरिति** गौणधर्मेषु उक्ताया भक्तेः. **नामान्यनन्तस्येत्यत्रेति**. प्रथमस्कन्धषष्ठाध्याये नारदवाक्ये साक्षाद् वासनात्मकाविद्यात्मकरागादिरूप-त्रिविधकषायपाकार्थक-कर्मभक्तिज्ञानानाम् अधिकारभेदादेकेन त्रितयस्य कर्तुमशक्यत्वात् त्रितयानुकल्परूपस्यास्य करणमुत्तममिति प्रतिपादितं ततो अवधेयमित्यर्थः. **ज्ञानमिश्रत्व** इति. श्रौते ज्ञाने सत्येव "सर्वं भगवदात्मकम्

१. स्फुरन्ति. २. द्वयः. ३. कारणा-. ४. -साधनत्वात्.

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥३९॥

आदौ गृहान्निर्गतश्चित्तपरितोषार्थं रसोत्पादनार्थं च **सुष्ठु भद्राणि** कौतुकप्रधानानि. तथा क्रियमाणे तस्य[१] न कुतश्चिद् भयं भवतीति ज्ञापयति **रथाङ्गपाणेरि**ति. सर्गादीनां ज्ञानमिश्रत्व[२] एव जन्म-कर्मत्वात् शुद्धावतारस्य सर्वजनीनत्वाद् **यानि लोक** इत्युक्तम्. **यानि लोक** इत्युत्तरत्रापि सम्बद्ध्यते. **तदर्थकानी**त्यौत्पत्तिकसम्बन्धाभावादुक्तम्. लज्जाभावः सङ्गाभावश्च प्रधानसमाने अङ्गे. परिभ्रमणदशायां यत्रैव भगवत्कथा तच्छ्रुत्वा निर्लज्जो अलौकिकगीतानि **गायन्नसङ्गो विचरे**दित्यर्थः ॥३९॥

एवमनुकल्पस्य स्वरूपमुक्त्वा तस्य कार्यमाह.

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवत् नृत्यति लोकबाह्यः ॥४०॥

अष्टधर्मैः प्रकृत्युल्लङ्घनं भवतीति **लोकबाह्य** इति प्रवाहोल्लङ्घनं फलम्. पञ्चानां व्रतत्वेनैकस्याप्यपरित्यागः प्रत्यहं; सङ्कल्पानुराग-चित्तद्रवणानि आन्तराणि बहिः पञ्च कार्याणि कुर्वन्ति. अन्यापेक्षया रोदनं बहुकालमिति (**अथ!**) भिन्नः प्रक्रमः. अपस्मारे हास्यमिव उन्मादे नृत्यं सर्वथा लोकाननुकरणाय[३] ॥४०॥

एवं कर्मणा लोकपरित्यागे ज्ञान-भक्ती तस्यैकहेलया निरूपयति.

प्रकाशः

उत्पद्यते, भगवतएव च कार्यमि''तिस्फुरणात् प्रथमाधिकारे तदभावेन तदस्फुरणात् तथेति भावः. **औत्पत्तिकेत्यादि.** मुख्याधिकाराभावस्येदं ज्ञापकम्, अन्यथा नाम-रूप-लीलानां नित्यत्वस्यापि स्फुरणात् तदर्थकपदं न वदेदिति भावः. कर्मानुकल्पः श्रवण-गाने, भक्त्यनुकल्पो विलज्जता– तस्याः स्नेहकार्यत्वस्य लोके दर्शनाद्– ज्ञानानुकल्पः सङ्गाभाव इति बोध्यम्. **प्रधानसमाने** इत्यत्र हेतुः **अङ्गे** इति. मुख्यभक्ति-ज्ञानयोस्तुल्ये इत्यर्थः ॥३९॥

एवंव्रत इत्यत्र **आन्तराणी**ति प्रथमाबहुवचनम् ॥४०॥

---

१. लुप्तम्.	२. ज्ञानविमिश्रत्वे.	३. लोकमनुकरणाय.

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥

महाभूतानि, द्यावापृथिव्योः स्थिते[1] दिशः, चतुर्विधभूतानि, नदीः, समुद्राः, चकारात् पर्वताः एते हि (**हरेः**!) गोविन्दस्य **शरीरं** ब्रह्माण्डं वा समुदितं **यत् किञ्च** भूतमित्यनुक्तसङ्ग्रहो हेतुर्वा भगवतः प्रादुर्भूतं तल्लीलार्थमिति[2] आत्मानं चापृथक्कृत्य **प्रणमेत्** ॥४१॥

एवं "शृण्वन्" (श्लो. ३९) इत्यादिना मनःपर्यन्तं मार्गत्रयानुकल्प इति भक्ति-ज्ञान-वैराग्याणि फलानि– कर्मणः फलं वैराग्यं, तानि– क्रमेण भवितुं नार्हन्त्येकसाधनत्वाद्, युगपच्च लोके जायमानं न दृष्टमिति प्रथमं त्रयाणामेकदोत्पत्तिं लोकदृष्टान्तेन साधयति.

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥४२॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

भक्तिः परा प्रेमलक्षणा. **ईशानुभवो** "मामभिजानाति यावान्" (भग.गीता १८।५५) इत्यादि. गोविन्दव्यतिरिक्ते **विरक्तिः**. स्वादिष्ठ-सघृतान्नभोजने त्रयमेकदा भवति, परमकाष्ठां च प्राप्स्यतीति

प्रकाशः

खमित्यत्र द्यावापृथिव्योः स्थिते इति ज्योतिःसत्त्व इति शेषः. हरेः **शरीरमित्यस्यार्थान्तरमाहुर्ब्रह्माण्डमित्यादि. हेतुपक्षे भूतमित्यस्य** 'भगवतः सकाशादि'त्यर्थं हृदिकृत्याहु**र्भगवत** इत्यादि. **अनन्यपदार्थमाहुरात्मानमित्यादि** ॥४१॥

भक्तिरित्यत्र. "ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च" (भाग.पुरा. ११।२०।६) इत्यत्र भक्तेः पश्चान्निर्देशादत्रापि वैराग्यं भक्तेः फलमिति शङ्का स्यात्, तन्निरासायाहुः **कर्मणः फलं वैराग्यमिति. एकसाधनत्वादिति** बहुव्रीहिः. **न दृष्टमिति** कार्यमिति शेषः. **इत्यच्युतेत्यत्र स** इति सङ्घातः. शारीरधर्मस्यैव

१. स्थिता. २. लुप्तम्.

अनुघासमित्युक्तम्. दूषणं परिहृत्य फलमाह. सर्वकर्मसु मङ्गलाचरणमिव **अनुवृत्त्या अच्युताङ्घ्रिभजनं** जगन्नाथादिस्थानेषु मध्ये मध्ये कर्तव्यम्. एवमपि [१] फलोत्पत्तिदशायां फलोपकारि अङ्गान्तरमाह. एवमपि क्रियमाणः स यदि **भागवतो** भवेत्, "तस्यापत्यम्" (पाणि.सूत्र ४।१।९२) इति भगवता ह्यात्मार्थमुत्पादितश्चेद्. भगवतः स्थानेषु (**परां**!) परमशुद्धसत्त्वरूपां **शान्तिं** (**उपैति**!). केवलब्रह्मानन्दानुभवस्थानं; तद् योगिन एव जानन्ति. **साक्षात्** स्वयमेव तत्स्थानं प्रविशतीति फलम् ॥४२-४३॥

॥ राजोवाच ॥

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् ।
यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥४४॥

भागवतत्वं ब्राह्मणवत् सर्वोपयोगि. तत्र यथा ब्राह्मणविशेषाः कर्मविशेष उपयुज्यन्त एवमत्राप्यनुकल्पे कीदृश उपयुज्यत इति स्वतन्त्रतया च पृच्छति. धर्मोपयोगार्थमपि; भागवतैः सह भगवद्धर्मा उत्तमस्य कर्तव्या इत्यध्यायार्थः फलिष्यत्यतो भागवतं पृच्छति. भगवत्सेवकानां मध्ये स्थितो निःसन्दिग्धः; (**नृणां**!) मनुष्याणां मध्ये स्थितस्य लक्षणं वक्तव्यम्. **धर्माः** सन्ध्यावन्दनादय इव, शमादय इव स्वरूपं, प्रवाहे च कथं स्थितिरित्याह (**यादृशो**!) **यथेति**. काय-वाङ्-मनोव्यापाराः पृष्टाः. लिङ्गं हि [२] वेषस्तेन रुचेः परिज्ञानम् ॥४४॥

प्रकाशः

पूर्वमुपक्रान्तत्वाद् आत्मनस्तथात्वाङ्गीकारे जन्मान्तरेऽपि तत्सम्भवेन **साक्षात्**पद- स्यापि विरोधादित्यर्थः. एतदेवोपपादयन्ति **तस्येत्यादि** ॥४२-४३॥

अथेत्यत्र. सर्वोपयोगीति, मुख्यामुख्यधर्माणां तदनुकल्पानां चोपयोगी- त्यर्थः. स्वतन्त्रतया भागवतप्रश्नप्रयोजनमाहुः **धर्मोपयोगेत्यादि**. अनुकल्पधर्मस्य फलपर्यवसानार्थमपि वक्ष्यमाणलक्षणैर्भागवतैः सह तथेत्यर्थः. इदमग्रिमश्लोके स्फुटीभविष्यति. **शमादय इव स्वरूपमिति**. शमादयो यथा ब्राह्मण्याभिव्यञ्जका एवं भागवतत्वाभिव्यञ्जक-स्वरूपधर्मो वक्तव्य इत्यर्थः. मनोव्यापारस्य

१, २. लुप्तम्.

अत्र प्रकृतोपयोगिलक्षणकथनपूर्वकम् उत्तरं वक्तव्यम्. तत्र प्रकृते त्रयाणामनुकल्पत्वात् त्रिविधो भक्तो वक्तव्यः, भगवता हि स्वार्थं निर्मितत्त्वादेकं फलमुखलक्षणं च[१] वक्तव्यम्. तत्र सर्वे लोका नैकविधा भवन्तीति सर्वत्र त्रैविध्यं वक्तव्यम्. तत्र ज्ञान-भक्ति-कर्मणां त्रैविध्यं, सर्वत्र हेतुरेकेन, फललक्षणं चैकेन इत्येकादशभिरुत्तरं वक्तव्यम्. तत्र सर्वे वाचो वदितारो भवन्तीति द्वितीयो हरिरेव[२] हरिराह.

॥ हरिः उवाच ॥

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥४५॥

ज्ञानमिश्रेषु उत्तममाह. पूर्वमेते जगत्प्रधानज्ञानिन इत्युक्तम्. (**सर्वभूतेषु!**) भगवतः सकाशादुत्पन्नेषु सर्वेष्वेव प्रथमतो जीवब्रह्मैक्यं विधाय औडुलोमिव्युदासाय, (**भगवद्भावं!**) ऐश्वर्यादीन् स्थापयित्वा

प्रकाशः

अस्पष्टत्वात् तद्गमकं स्पष्टयन्ति **लिङ्गमित्यादि** ॥४४॥

पृष्टं हि वक्तव्यम्; उत्तरे भागवतलक्षणं तु त्रिभिरेव सिद्ध्यतीत्यन्येषां वैयर्थ्यमाशङ्क्य प्रश्नानुसारितामुत्तरस्य वक्तुं प्रश्नोत्तरयोस्तात्पर्यं वदन्ति **अत्रेत्यादिना. प्रकृत** इति मुख्ये भगवद्धर्मे. अयमर्थः. राज्ञा हि न सामान्यतो भागवतः पृष्टः किन्तु मार्गत्रयानुकल्पकथने फलोपकार्यङ्गवान् भगवता स्वार्थमुत्पादितः पृष्टः. अत एवं प्रश्न एवं रूपमुत्तरमपेक्षितं येनानुकल्पो, उपकारः, स्वार्थोत्पादनफलं चावगम्येत[३] प्रत्यक्षं चानुरुध्येतेति प्रश्नाशयः **त्रैविध्यं वक्तव्यमित्यन्तेनोक्तः**. तत्र **ज्ञानेत्यारभ्य** उत्तरतात्पर्यं तु स्पष्टम्. **सर्वभूतेष्वित्यत्र. ज्ञानमिश्रेष्विति** भागवतेषु, नतु भक्तेषु. **प्रथमत** इत्यादि. "उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः" (ब्रह्मसूत्र १।४।२१) इति सूत्रात् तन्मते मोक्षदशायां जीवब्रह्मैक्यं, नतु पूर्वं, जीवस्य स्वतश्चिन्मात्रस्य अनादिसिद्धत्वात्. सिद्धान्ते तु न तथा, सर्वदैव सर्वब्रह्मैक्यात्, लीलार्थमिच्छया केवलं भेदात्. ज्ञानिनां तु भेदस्य लीलार्थतां जानतां सर्वदैवाभेदस्फुरणमावश्यकम्

१, २. लुप्तम्. ३. -गम्यते.

रामानुजव्युदासाय, प्रत्येकं बहुषु तद्धर्मानुसन्धानम्. सर्वत्र [१]भगवद्दर्शनाद् अनुभवपर्यन्तं व्यापारादात्मन इत्युक्तम्. यद्यपि भगवाननन्तः[२] तथाप्याधाराधेय-भावस्य प्रतीयमानत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं विपरीतं (**भूतानि भगवति!**) वक्तव्यम्. ततश्च कालादीनां नियामकत्वाभावाद् विरोधपरिहारायात्माधारत्वं फलिष्यति. एवमद्वयात्मदृढज्ञानी **उत्तम** इत्यर्थः. एतादृशस्यापि शान्तिसमवस्थानार्थं तथा कर्तव्यमिति भावः ॥४५॥

द्वितीयमाह.

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥४६॥

शास्त्र एव तरतमभावेन ज्ञानानि निरूपितानि. तत्र वैष्णवतन्त्रे ज्ञानकाण्डे ज्ञानं तादृशं पूर्वोक्तमुत्तमाधिकारिविषयत्वेन निरूपितम्. तत्रैवोपासनाकाण्डे तरतमभावेन ज्ञानं निरूपितम्. उपासनाविचारेण तु[३] तज्ज्ञानमुत्तमं तथापि ज्ञानपङ्क्तौ तत्[४] मध्यमं[५], भेदसहकारित्वात्, प्रकृते ज्ञानमिश्रस्य

प्रकाशः

इति तत् कृत्वेत्यर्थः. **ऐश्वर्यादीनि**त्यादि. रामानुजा हि सर्वावस्थावस्थित-चिदचिद्वस्तुशरीरत्वम् अङ्गीकुर्वन्तीति तद्व्युदासाय तथा कृत्वेत्यर्थः. **अनुभवे**त्यादि. विरुद्धधर्मप्रतिसन्धानेन स्वस्मिन् भगवद्भावस्याशक्यत्वात् तन्निवर्तकतत्पर्यन्तमित्यर्थः. पूर्वार्धोक्तज्ञानवत्त्वेऽपि पूर्णज्ञानित्वसिद्धौ तृतीयपादोक्तज्ञानस्य किं प्रयोजनमत आहु**र्यद्यपी**त्यादि. **नियामक**पदं भावप्रधानम्. **फलिष्यतीति** सर्वदा फलिष्यति. लिङ्प्रयोगतात्पर्यमाहुः **एतादृशस्ये**त्यादि. **शान्तिपदबोधित**-भगवत्स्थानप्राप्त्यर्थं "शृण्वन्" (श्लो. ३९) इत्यादिनोक्तं कर्तव्यमित्याशयेन इदमुक्तमित्यर्थः. एतदेवाभिप्रेत्य **धर्मोपयोगे**त्यादिना अध्यायफलितमुक्तम्. तेन मुख्यस्य तत्करणे स्वस्य फलमितरस्य फलोपकारश्च सेत्स्यतीति अनुकल्पावश्यकत्वमिति तत्र सेत्स्यति ॥४५॥

ईश्वर इत्यत्र **उत्तम**मिति, उपासनानिर्वाहकत्वात् तथेत्यर्थः. ननूपासनाविचारेण उत्तमत्वमेवात्र कुतो नोक्तमित्यत आहुः **प्रकृत** इत्यादि.

---

१. भवद्दर्शनाद्. २. अनन्तरः, अन्तरः. ३,४. लुप्तम्. ५. मध्यमत्वम्.

लक्ष्यत्वादनुकल्पार्थत्वाच्च. ननु भक्त एवायं भवतु! न, कृपोपेक्षयोः नियतविषययोः बाधकत्वात्. न वा भक्ति-ज्ञानयोः सहभावः, एकस्य भेदविरोधित्वादन्यस्य स्वरूपविरोधात्. न हि भगवन्मार्गभक्तः कृपोपेक्षे कर्तुं शक्नोति. तस्मात् तरतमभावज्ञानमेवैतदिति **मध्यमो** ज्ञानभक्तः ॥४६॥

तृतीयमाह[१].

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥४७॥

(**अर्चायामेव!**) एकत्र भगवन्तं निश्चिन्ततया जानाति, पूजाकरणात्. न चायं भक्तिमार्गः, **भक्तेषु** भावाभावात्. न वा पातिव्रत्यं, अर्चा-हर्योः भेदनिर्देशात्. न वा ज्ञानम्, **अन्येषु** भावाभावात्. **चकाराद्** भक्ताभक्तयोस्तुल्यता. भेदनिर्देशादस्फुरणपक्षो निराकृतः. अत एकदेशे भगवद्भानात्[२] **प्राकृतो** ज्ञानभक्त एव ॥४७॥

भक्तिमिश्रं त्रिभिराह **गृहीत्वे**त्यादिना, दोषाणां बहिर्व्याप्त्यभावेन अन्तर्व्याप्त्यभावेन अनुद्गमेन च. अभिपूर्वत्वार्थं ज्ञानभक्त्योर्विपरीतकथनम्. दुर्निवार्यमायाया[३] वैभवज्ञानं शास्त्रतः, तदनु भगवत्स्मरणं, ततस्तदाश्रयः. तत्र प्रथममाद्यमाह[४].

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥४८॥

केचन विषयान् (**द्वेष्टि!**) दूरतस्त्यजन्ति, बलात् सम्प्राप्ते निन्दन्ति;

प्रकाशः

अनुकल्पार्थत्वादिति ईशानुभवार्थत्वात् ॥४६॥

अर्चायामित्यत्र तुल्यतेति, भक्तत्वबाधिकेति शेषः. **अस्फुरणपक्ष** इति भक्तास्फुरणपक्षः ॥४७॥

गृहीत्वेत्यत्र श्लोकत्रयोक्ते त्रैविध्ये बीजमाहुः **दोषाणामित्यादि. अभिपूर्वत्वार्थमिति.** "भक्त्या मामभिजानाति" (भग.गीता १८।५५) इति वाक्याद् अभिज्ञानं भक्त्येति तदर्थमित्यर्थः. एवं सत्युत्तमत्वात् प्रथमत्वे

---

१. हीनमित्यर्थः. २. भगवज्ज्ञानात्. ३. मायावैभव-. ४. हीनमित्यर्थः.

ते मध्यमाः. केचन (**हृष्यति!**) विषयेषु प्राप्तेषु हृष्यन्ति; ते प्राकृताः. **अर्थपदप्रयोगात्**[१] "न शोचति न काङ्क्षति" (भग.गीता १२।१७) इतिवत् न, इहलोक-परलोकयोः परित्यक्तत्वाद् इति केचित्. वस्तुतस्तु भिन्नविषयावेव. इन्द्रियैर्गृहीतानाम् अन्तःप्रवेशाभावे हेतुः **विष्णोर्मायामिदं पश्यन्निति.** जीवपरीक्षा ज्ञानाद् असज्ज्ञानाद् वा. व्यापकस्य व्यापिका माया सर्वभावेन मोहयति, तेन पदार्थापरिज्ञानात् चकित एको भक्तिपुरःसरो वैष्णवः ॥४८॥

द्वितीयमाह.

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविगृह्यमाणः[२] स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४९॥

परित्यक्तविषयोऽयम् आन्तरपीडारहितः. इन्द्रियाणां नाशाशक्ती क्रमेण, देहादीनां **जन्मादीनि कृच्छ्राणि** ; सहजा एते पदार्थधर्माः संसरणहेतवश्च. एतेऽपि व्यामोहका एवेति ज्ञानमार्गाद् विशेषः. आपत्सु गजेन्द्रवत् स्मर्तव्यो

प्रकाशः

किं बीजमत आहुरर्थपदप्रयोगादित्यादि. 'अर्थ्यन्त आकाङ्क्षया प्रार्थ्यन्त इत्यर्था' इति व्युत्पत्त्या आकाङ्क्षादेः प्राप्त्या गीतोक्तरूपोऽयं न किन्तु प्राप्त्युत्तरम् अत्रोक्तदोषद्वयरहितः स इति मूलोक्त उत्तमत्वे प्रथमत्वमविरुद्धम् इत्यर्थः. **इतीत्युत्तमा** इति शेषः. **भिन्नविषयाविति**, प्रथमत्वोत्तमत्वधर्माविति शेषः. **अन्तःप्रवेशाभाव** इति, हर्षद्वेषकारणभूतो यो विषयाणामन्तःप्रवेशस्तदभाव इत्यर्थः. मायाज्ञाने उत्तमाधमाधिकारिभेदेन पक्षद्वयमपि सङ्गृह्णन्ति **जीवेत्यादि** ॥४८॥

देहेन्द्रियेत्यत्र नाशाशक्ती इति. स्वरूपनाश-सामर्थ्यनाशौ **अप्ययपदेन** सङ्गृहीतौ. **व्यामोहका** इति. किं परीक्षते, प्रारब्धं वा किञ्चित्कार्याय भो (/ यो ?) जयतीति व्यामोहोत्पादका इत्यर्थः. अविमोहे बीजभूतां स्मृतिं व्याकुर्वन्ति **आपत्सु** इत्यादि. यदि न प्रथमादिपक्षास्तर्हि प्रधानत्वं किमित्यत

---

१. अर्थ्यन्त इत्यर्थास्तथा च काङ्क्षमाणोऽपि तत्प्राप्त्यनन्तरं दोषरहितः स तथेति स्फुटति.

२. अविमुह्यमाणः इति पाठोऽपि सम्भवति - सम्पा.

भगवानिति भक्तिमार्गस्योत्कृष्टत्वात् नात्र प्रथमादिपक्षाः[१]. **प्रधान** इति प्राकृतः प्रथमो ; मध्यमो जन्माद्यनुसन्धानरहितः एकान्ते उपवेशित इव[२]. मर्यादा-पुष्टिभेदात् पक्षद्वयमिति निर्धारः ॥४९॥

उत्तममाह.

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥

काम एव नोत्पद्यते. उत्पन्नेऽपि न कर्माणि. तेष्वपि न वासनाः. मुक्तः प्रपन्नोऽयम्. एवं पुष्टिमर्यादाभक्ती[३] प्रपत्तिश्चेति निरूपितम्. "सर्वमाश्रयतो भवेद्" (वि.धै.आ. ९) इति तृतीये हेतुः ॥५०॥

वैराग्यमिश्रमाह **न यस्येत्यादि**त्रिभिः —

अभिमानो व्यवहारो वैदिकस्याप्यपेक्षणम् ।
त्रितयाभावतो मुख्य एकैकोऽप्यत्र युज्यते ॥(९)॥

प्रथममाह.

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहम्भावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥

प्रकाशः

आहुः **प्राकृत** इत्यादिना. तर्हि पूर्वोक्तमुत्तमत्वं कथमित्यत आहुर्**मर्यादे**त्यादि ॥४९॥

न कामेत्यत्र **इति तृतीये हेतु**रिति. एवमनुसन्धानं प्रपन्नभक्तेः उत्तमत्वहेतुरित्यर्थः ॥५०॥

न यस्येत्यत्र **व्यवहार** इति. व्यवह्रियते अनेनेति **व्यवहारो** द्रव्यम्. **वैदिकस्ये**ति फलस्य. एवं दृष्टानुश्रविक-विषयवैतृष्ण्ये मुख्य इत्याशयेनाहुः **त्रितयाभावतो मुख्य** इति. तर्हि अत्र एकैकाभावेऽप्युत्तमत्वं कथमुक्तमित्यत आहुर**त्र युज्यत** इति. वैराग्यस्य भक्त्यङ्गत्वाद् भक्तावुपयुज्यते अतस्तथेत्यर्थः. अहम्भावात्[४] सङ्गस्य स्वरूपमाहुर्गर्वो हीत्यादि. यथा शिरसा पुमान् निश्चीयत

---

१. किन्तु त्रयाणामप्युत्कृष्टतेति ज्ञापनायैव अत्र तथानुक्तिरिति भावः.

२. अतः पूर्वस्मादुत्तम इत्यर्थः. ३. भक्तिः. ४. अहम्भावसङ्गात्.

गर्वो ह्यहङ्कारस्य शिरः. **जन्म** सत्कुले. **कर्म** ज्योतिष्टोमादि. **वर्णा** ब्राह्मणत्वादयः. **आश्रमाः** प्रसिद्धाः. **जाति**र्देशविशेषवाच्या, सापि गर्वहेतुरिति लोकप्रसिद्धिः. अथ वा **वर्णा** अभिव्यञ्जकाः शमादयः, **जाति**र्ब्राह्मणत्वादिः. गुणास्ते अत एव दोषसहकाराभाव एव साध्यः ॥५१॥

व्यवहारे द्रव्याभिमानाभावो द्वितीयः, तमाह.

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥

स्वशब्दो धनादिवाची. तत्र **स्व इति वित्तेषु** भेदः ; स्वेनैव व्यवहर्तव्यं नान्यैः. **पर इत्यात्मनि** ; तेन द्वेषादिः. तेनाद्वैतद्वयमुक्तं भवति. वेत्यनादरे, भार्यादिष्वपि न भेद इत्यर्थः. अनेन दोषाभाव उक्तः, गुणमाह **सर्वभूतसुहृच्छान्त**श्चेति. "दयया सर्वभूतेषु" (भाग.पुरा. ४।३१।१०) इति न्यायाद् अन्तःसाधनं तदित्यवोचाम. ब्राह्मणभोजनोपवासवद् ऐहिकविरक्तिः द्वयेनोक्ता ॥५२॥

पारलौकिकमाह तृतीयेन.

प्रकाशः

एवं गर्वेण स इत्यर्थः. **देशविशेषवाच्ये**ति, यथा द्राविडस्तैलङ्ग इत्यादि. देशस्योपाधित्वात् न जातित्वं तेषां सर्वसम्मतमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुरथ वेति. **अभिव्यञ्जका** इति, ब्राह्मणाद्यभिव्यञ्जका भारत आजगरे प्रसिद्धाः ॥५१॥

न यस्य स्व इत्यत्र. **त**दिति दया शान्तिश्च ; सामान्ये नपुंसकप्रयोगः. तत्र बाह्यदृष्टान्तमाहुर्**ब्राह्मणे**त्यादि ॥५२॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिः

अजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।

न चलति भगवत्पदारविन्दात्

लवनिमिषार्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥

अश्वमेधादिकरणे[१] **त्रिभुवनविभवो** भवति. प्रमाणबलविचारेण वेदस्य बलिष्ठत्वाद् अश्वमेधादिकरणे[२] प्राप्ते भगवत्स्मरणं कथं [३]युक्तमिति चेत्, सत्यम्, एवमपि यो[४] **अकुण्ठस्मृतिः** स वैष्णवः, स्वमार्गस्योत्कृष्ट (फल!) जनकत्वात्. वेदो हि स्वार्थं न वदति येन तदुल्लङ्घने दोषः स्यात् किन्त्वस्माकं फलार्थे, तदस्माभिर्नापेक्ष्यत इति. ननु भ्रान्तिस्तत्रेति चेत्, तत्राह **अजित**[५] **आत्मा येषां** भगवद्भक्तास्तदवयवा वा ते च ते **सुराश्च**. **आदि**शब्देन अष्टविध-देवयोनयः परिगृहीताः. अथ वा **अजितात्मान** इति ज्ञानिनो भक्ता वा मनुष्याः ; सदाचारात् न भ्रमः. ''पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायद्'' (भाग.पुरा. ५।७।६) इति निराकरणाय **पदारविन्दादिति.**

प्रकाशः

त्रिभुवनेत्यत्र [६]दृष्टानुश्रविकवैतृष्ण्यस्य कथं प्राप्तिरित्यत आहुरश्वेत्यादि. तथाच फलात् तदवगतिरित्यर्थः. **एवमपीति** वेदस्य बलिष्ठत्वज्ञानेऽपि. तर्ह्यपराधस्य कथं निवृत्तिरित्यत आहुर्**वेदो** हीत्यादि. अतो नापराधसम्भावनापी- त्यर्थः. **अजितात्मभिरिति** करणे तृतीया. प्रथमव्याख्यान **आत्मशब्दः** स्वरूपवाची ; उभयथाप्यधिकारिण इत्यर्थः. द्वितीयव्याख्याने ज्ञानिपक्षे समानाधिकरणपदो, भक्तपक्षे व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः, **अजितात्मपद- सुरादिपदयोश्च** द्वन्द्वः. ननु मनुष्याणां राजसत्वेन आचक्षेयान् मार्गणकरणत्वम् असङ्गतमित्यत आहुः **सदाचारात् न भ्रम** इति. भावाद्वैतादिमत्त्वात् न तेषां भ्रम इत्यदोष इत्यर्थः. यद्वा **मनुष्या** इति उभयात्मकसर्गरूपाः कुमारास्ते च सदा इदमाचरन्तीति तेषां करणत्वस्यापि **सदाचारात् न भ्रम** इत्यर्थः.

---

१. -कर्मणा. २. -कारणे. ३. उक्तमिति. ४. लुप्तम्. ५. भगवान्. ६. -त्यत्रानुश्रविक-.

लवनिमिषार्धमपीति प्रधानयागकालाभिप्रायं; निद्रादौ तु सहजविस्मरणं, न बुद्धिपूर्वक-परित्यागः, स्मृतिविरोधिनां कार्याणां परित्याग एव. चलनं = मार्गान्तरगमनं वा ॥५३॥

ननु "तृष्णया भववाहिन्या" (भाग.पुरा. ७।१३।२७) इति न्यायेन गुणानां क्षोभकाणां[१] च विद्यमानत्वात् "रजः सत्त्वं तमश्च" (भग.गीता १४।१०) इति वचनाच्च कदाचित् कामसम्भवस्य सर्वजनीनत्वाच्च असम्भावितः पक्षोऽयमिति चेत्, तत्राह.

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५४॥

पुनः कामादयो हृदये नोत्पद्यन्ते, अवाङ्मनोगोचरकर्मकर्त्रा[२] निरस्तत्वात्. न हि गुणादयो अन्यत्रालब्धशरणा येन तस्मिन्नेव हृदये पुनः प्ररोहेयुः! चरणस्यैव माहात्म्यं वक्तुं **भगवत** इत्युक्तम्, अतः सत्प्रतिपक्षता नान्यस्य. **शाखा**वचनादङ्घ्रेः कल्पवृक्षत्वम्. अचिन्त्यो हि **मणिप्रभाव** इति **चन्द्रिका**पदेन प्रभाबाहुल्यम्. अनेन ब्रह्माण्डभेदनेन गङ्गाप्रवाहवत् निरन्तरम्[३] आनन्दप्रवाहप्रवृत्तेर्न तापशङ्कापीति भावः. **स** तापः. **अर्कतापो** हि दिवसे, न रात्रौ, तथा भगवद्विमुखे तापः. तत्रापि **चन्द्र उदित** ऊष्मापि निवर्तते, क्व ताप इत्यर्थः ॥५४॥

प्रकाशः

वाशब्देन स्मृतिविरोधकार्यपरित्यागः सङ्गृहीतः ॥५३॥

भगवत इत्यत्र **पुनरित्यादिना** आद्यो दोषः परिहृतः. **उरुविक्रमेति** पदस्य तात्पर्यम् **अवाङ्मनोगोचरेति**. **न हीत्यादिना** द्वितीयः परिहृतः, **चरणस्येत्यादिना** तृतीयः. **अन्यस्येति** वचनस्य, स्वरूपापेक्षया तस्य निर्बलत्वादित्यर्थः. चतुर्थं परिहरन्ति **शाखेत्यादि**. तर्हि कामोत्पत्तिरापतितेति दोषतादवस्थ्यमाशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुर**नेनेत्यादि**. कामस्य मनःपीडारूपत्वात् स एव **तापपदेना**त्रोच्यते. तथाच न दोष इत्यर्थः. एवं चास्मिन् सर्वत्र [४]भागवततत्त्वहेतुः उपसन्नत्वरूप **उपसीदतामित्यनेनोक्तः** ॥५४॥

---

१. क्षोभकानां. २. -गोचरकर्त्रा-. ३. निरन्तरमन्द-. ४. भागवततत्व-.

फलमुखं भक्तलक्षणमाह.

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

॥ इति श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥

"आहूत इव मे शीघ्रम्" (भाग.पुरा. १।६।३४) इति हि फले वक्तव्यम्, अन्यथा हि अनुकल्पस्य प्रत्यवायपरिहार एव स्यात्. साक्षादित्यन्तर्यामिव्युदासाय. हरिरित्युद्धारकः. अग्निरिव भस्मना न च्छन्नः, पापसमूहस्य पूर्वमेव नष्टत्वात्. पुष्टिस्थो भगवान् भक्तिमार्गविरोधात् कथं तिष्ठतीत्याह **प्रणयेति. रशनया** साधनभक्त्या संवलिता तया स्थिरीभूतश्चरणो मस्तके रज्जुनिर्मिताधारवत्– कमलं तूर्ध्वमुखं, तथैव– तिष्ठति तदा **स** सर्वजनीनो नारदवदु**क्तो** भवेदित्यर्थः. एवं धर्मोपयोगेन अनुकल्पो, उपयोगेन च सफला भक्ता निरूपिताः ॥५५॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायाम्
एकादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥

प्रकाशः

विसृजतीत्यत्र. फल इत्यनुकल्पफले. **परिहार** इति फलत्यर्थात् ॥५५॥

॥ इति श्रीएकादशस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे द्वितीयाध्यायविवरणं समाप्तम् ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

अत्राधिकारहीनानां तृतीयाध्याय ईर्यते ।
अनुकल्पोऽधिकारो वा चतुर्भिः सम्भविष्यति ॥(१)॥
दुष्टप्रवाहविज्ञानं तरणं हेतुभिः क्रमात् ।
ज्ञानकर्मपरिज्ञाने तृतीयेऽर्थचतुष्टयम् ॥(२)॥
द्विपदां भोगसंसिद्ध्यै चतुष्पादो निरूपिताः ।
ते स्थिराः शङ्कुसन्नद्धाः स द्विपाद्भिः स्थिरीकृतः ॥(३)॥

एवं सनकाद्यनुकल्प-नवयोगेश्वराणां [१]चतूरूपत्वम्. तत्र प्रथमं चतुर्णां मध्ये मायास्वरूपं पूर्वमेव जिज्ञासितं पृच्छति.

प्रकाशः

तृतीयाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिमाहुरत्रेत्यादि. उक्तरूपभागवतत्वस्य यथासम्भवसम्पत्तौ यथासम्भवं मुख्यामुख्य-धर्ममार्गानुकल्पसिद्धिरिति तदभावे यदुचितं तदत्रेर्यते. तथा चैककार्यत्वं साध्यसाधनभावो वा सङ्गतिरित्यर्थः. **चतुर्भिरिति** विवक्षितैः साधनैः (१).

चत्वारि विशदयन्ति **दुष्टेत्यादिना. ज्ञानकर्मपरिज्ञाने** इति द्विवचनम्. **परिज्ञान**शब्दो द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः प्रत्येकं सम्बद्ध्यते. **चतुर्भिः** एतस्योत्तरकथने बीजमाहुर्**द्विपदामित्यादि. स** इति शङ्कुः (२-३).

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके अतिदिशन्ति **एवमित्यादि.** यथा भोगे चतुष्पादस्तथा मोक्षे सनकादयो, अत एव सनत्कुमार-नारदसंवादः श्रौतः श्रुतिगीता-सनत्सुजातीयं च मोक्षार्थम्. द्विपदां शङ्कुस्थानीया एते नव; तन्मतस्थिरीकरणात् तत्स्थिरीकारको जनकः. तथाच एतेन स्थापिताः स्थिरीभूय तन्मतं चत्वारोऽपि स्थिरीकुर्वन्तो अस्य मोक्षं सम्पादयिष्यन्तीति ज्ञापयितुं चतूरुपत्वाय तावन्तो वदन्तीति बीजमित्यर्थः. निरूप्यार्थप्रश्नक्रमे सङ्गतिमाहुस्तत्रे-त्यादि. **जिज्ञासितमिति** बुभुत्सितं, पूर्वं भगवद्धर्मकथने तस्या विपर्ययादिजनक-त्वस्य श्रुतत्वात्. तथाच अवसरः प्रसङ्गो वा प्रश्नसङ्गतिरित्यर्थः. **परस्येत्यत्र.**

---

१. वानुरूप-.

॥ राजोवाच ॥

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥१॥

प्रकृतेः **परस्य** जगत्कर्तुः, **विष्णोर्मो**क्षदातुः, बन्धमोक्षौ निरूप्य मध्ये, नियन्तु**रीशस्य.** अतो माया त्रिविधा— सर्वभवनसामर्थ्यं माया, विद्याजनिका माया, लोके व्यामोहिका माया इतोऽप्यन्या. प्रथमायाः कार्यमपि **मायेत्युच्यते.** सा हि **मायिनामधिकारिपुरुषाणामपि (मोहिनी!)** व्यामोहिका, विषयाणां सर्वव्यामोहकत्वात्. इदमस्माकमत्यन्तजिज्ञासितमित्याह **न** इति ॥१॥

तान् स्तौति कथनार्थम्.

नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥२॥

अनुतृप्तिरलम्भावः. (युष्मद्वचो!) महतां वचनमेव सर्वदा श्राव्यं, तत्रापि **हरिकथा,** तत्रापि **(अमृतं!)** मरणनिवर्तकम्. वयं च **(संसारतापनिस्तप्तः मर्त्यः!)** संसारताप-मरणधर्मैर्व्याप्ताः. अन्ये तापा अन्यैरपि गच्छन्ति, तेषां पूर्वोक्तानां तु **तापानामिदमेव भेषजम्** ॥२॥

मायाकथने स्वयमसंसक्तोऽन्तरिक्ष उवाच. 'माया'शब्दः शास्त्रेषु लोके च बहुधा प्रयुक्तः— सर्वभवनसामर्थ्यं, व्यामोहिका च शक्तिः,

---

प्रकाशः

मध्य इति बन्धमोक्षयोर्मायायाश्च मध्ये. **ईशस्य माया सर्वभवनसामर्थ्यं, विष्णोर्द्वितीया, परस्य** तृतीया —इति **प्रातिलोम्यक्रमः.** तत्र विशेषमाहुः **प्रथमाया** इत्यादि. उत्तरे कार्यमुक्त्वा उपसंहारे **मायापदस्योक्तत्वादिति** भावः. तत्रापि बीजमाहुः **सा हीत्यादि** ॥१-२॥

प्रस्तुतप्रयोगं निर्धारयितुं प्रथमतो 'माया'पदस्यार्थमाहुः **सर्वेत्यादि.** सर्वभवनसामर्थ्ये यथा "पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया" (ऋक्संहि. १०।१७७।१) इति, "माययाचिन्त्यशक्त्याभिव्यक्तम्" (. । ।) इति भाष्यं, तृतीयस्कन्धे "विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया" (भाग.पुरा. ३।१०।१२) इति, दशमे च आत्ममायया "बभूव प्राकृतः शिशुः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) - "बटुको योगमायया" (भाग.पुरा. १०।८५।२७) इति,

ऐन्द्रजालिकविद्या च, कापट्यादि च; तत्तद्रूपनिरूपणार्थं तथा तथा प्रयुक्तः शब्दः. [१]समाधावप्येकैव शक्तिः उभयकार्यरूपा उक्ता. प्रवाहस्त्वत्र 'माया'शब्देनोच्यते. स च भगवत्कृतो भगवद्रूपश्च. विषयैश्च व्यामुग्धाः सर्वे भवन्त्यतोऽत्र किं युक्तमिति चेद्, उच्यते—

मायाशक्तिर्भगवतो नात्र कार्या विचारणा ।
समाधौ तु तथाभानात् प्रयोगस्तु विचार्यते ॥(४)॥
विचारे भगवद्वाक्यं लक्षणं कार्यगोचरम् ।
प्रतीतिश्चाप्रतीतिश्च साधिष्ठानस्य तद्धि हि ॥(५)॥
सुवर्णजलवत् कार्ये प्रक्रियेयं पुराणगा ।

प्रकाशः

षष्ठे च "दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया" (भाग.पुरा. ६।१८।६१) इति. व्यामोहकशक्तौ द्वितीयस्कन्धे "तद् विद्यादात्मनो मायाम्" (भाग.पुरा. २।९।३३) इति. इन्द्रजालविद्यायां यथा तृतीये "अथोरुधा सृजन् मायाम्" (भाग.पुरा. ३।१९।१७). आदिपदाद् बुद्धिः कृपा च, "स्यान्माया शाम्बरी कृपा दम्भो बुद्धिश्च" (. । ।) इत्यनेकार्थकोशात्. शास्त्रे तत्र 'माया'पदप्रयोगप्रयोजनमाहुः **तत्तदित्यादि**. तथाच एकैव तथेत्यर्थः. अत्रापि गमकमाहुः **समाधावित्यादि**. प्रथमस्कन्धे व्याससमाधौ "मायां च तदुपाश्रयां यया सम्मोहितो जीव" (भाग.पुरा. १।७।४) इत्यादिनोक्ता ततस्तदेव गमकमित्यर्थः. एवमर्थं 'माया'पदस्य विचार्य प्रकृतप्रयोगं विचारयितुं सन्देहमाहुः **प्रवाह** इत्यादि. अत्रेति प्रश्ने. तत्र प्रयोगविचारस्य तदर्थविचाराधीनत्वात् तदर्थं विचारयितुमाहुर्**विचार** इत्यादि. विचारो नाम उपपत्तिभिर्बुद्धौ क्रोडीकरणम्. तत्र भगवद्वाक्यं "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया" (भग.गीता ७।१४) इति स्वरूपलक्षणम्. **साधिष्ठानस्य** कार्यस्य **प्रतीतिश्चाप्रतीतिश्चेति कार्यगोचरं लक्षणम्**. "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च" (भाग.पुरा. २।९।३) इति लक्षणं तत्क्रोडीकारकं हि यस्माद्धेतोरतो हि निश्चयेन **सुवर्णजलवत् कार्ये** एकं कार्यं सुवर्णवद्

---

१. "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम्" (भाग.पुरा. १।७।४) इति व्यासस्य समाधावित्यर्थः.

तया सह कृतिः क्वापि च्छादनं वा[१] सतोपि वा ॥(६)॥
निःस्वरूपस्य कार्यस्य तद्धर्माणां सहैव वा ।
सदिव स्फुरणं यस्मात् त्रयं मायेति शब्द्यते ॥(७)॥
मार्गत्रये हरेः स्फूर्तिस्ततोऽन्यत् मायया कृतम् ।
प्रतीतिरपि मिथ्येति केचिद् धर्मविचारकाः ॥(८)॥

प्रकाशः

अविकृतम् अपरं च जलवत् प्रतिबिम्बादिजननाद् व्यामोहनम् —एवं द्वे कार्ये. **इयं प्रक्रिया पुराणगा,** नतु श्रुतिसिद्धा, श्रुतौ क्वापि मायायाः सृष्टौ करणत्वस्यानुक्तत्वाद्, अतः पुराणतः क्रोडीकृतेत्यर्थः. एवं स्वरूपं कार्यं च सामान्यतो निश्चित्य विशेषतः कार्यं निश्चिन्वन्ति **तयेत्यादि. सह कृतिः क्वापि** यथा द्वितीयस्कन्ध उच्यते "वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा" (भाग.पुरा. २।१०।१३) इत्यत्र त्रिधाभवने. **तया** करणभूतया **कृतिः क्वापि** यथा द्वितीयस्कन्धे "स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः" (भाग.पुरा. २।५।१८) इत्यत्र. एवं द्विधापि तस्याः सच्चिदानन्दमलरूप-सदंशात्मक-सत्त्वरजस्तमसां नानाकृतिकर्तृत्वेऽपि भगवतः प्रयोजकत्वात् तस्याः करणत्वमेव. कार्यान्तरमाहु**श्छादनं** **वेत्यादि.** तथाच आवरणं त्रिविधविक्षेपश्च तत्कार्यमित्यर्थः. एवं च प्रतिकृतिनिर्माणम्, आवरणं विक्षेपश्चेति तस्याः कार्यत्रयमित्यत्र गमकं स्मारयन्ति **यस्मादित्यादि** (४-७).

अत्राप्युपष्टम्भकमाहुः **मार्गेत्यादि.** भगवदुक्त-भक्ति-ज्ञान-कर्माख्ये **मार्गत्रये हरेः स्फूर्तिः** कार्ये भगवत्सम्बन्धित्वस्फूर्तिः = मायाख्येन सामर्थ्येन स्वस्यैव सर्वरूपत्वं कृतमिति स्फूर्तिः. **ततोऽन्यत्** मार्गत्रयाद् भिन्नं मतान्तरप्रतिपन्नं कार्यं **मायया कृतं** शुक्तौ रजतवत्, शङ्खे पीतवत्, प्रतिबिम्बतमोवच्च **मिथ्येत्यर्थः.** तथाच तेषां तेषां तथा तथा स्फूर्तेः उभयविधस्य विभागशो मायाकार्यत्वात् 'माया'कथनं युक्तमेवेति भावः. अत्र केचिद् ज्ञानार्थयोरुभयोः सार्वत्रिकाध्यासं स्वीकुर्वन्ति, तन्मतमनुवदन्ति **प्रतीतिरित्यादि.** ते हि तस्य

---

१. चांशतो.

शास्त्रतो निर्णयस्तस्य वस्तुनो मायिकस्य च ।
ज्ञानेऽपि स्फुरणं यस्य तद्रूपं सत्यमुच्यते ॥(९)॥
केवला लौकिकी स्फूर्तिस्तावन्मात्रशरीरिणी ।
अस्थिरा मूलराहित्यात् सा मायेति निगद्यते ॥(१०)॥
मात्रप्रयोगो यत्रास्ति तत्रैकस्यैव रूपणम् ।
उभयं तु हरेः कार्यं द्वितीये करणं तु सा ॥(११)॥
द्वितीयमात्रकरणे काशकृत्स्नमतं स्थितम् ॥

तदत्राह सार्धचतुर्दशभिः. तत्रैकेन सृष्टिमाह.

प्रकाशः

सार्वत्रिकत्वं युक्त्याभास-वाक्याभासाभ्यां स्थापयन्ति. तत्र शास्त्रविरोधे युक्तीनामाभासत्वे अनादरणीयत्वात्, शास्त्रस्य च व्यवस्थया द्विविधकार्य-बोधकत्वे क्वापि लक्षणाया अप्रसक्त्या सुखेन प्रामाण्यसिद्धेः अनपेक्षत्वात् सार्वत्रिकत्वमध्यासस्य न साधीय इत्याशयेनाहुः **शास्त्रत** इत्यादि. **वस्तुभूतस्य मायिकस्य च शास्त्रतो निर्णयो**, नतु प्रमाणाभासतो अतस्तथेत्यर्थः. व्यवस्थामाहुर्**ज्ञानेपी**त्यादिसार्धेन. यथात्रैव पूर्वं "त एते भगवद्रूपं विश्वम्" (भाग.पुरा. ११।२।२२) इत्यत्र, श्रुतावपि "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" (बृहदा.उप. २।१।२०) इत्यादौ ज्ञेयम्. शेषं स्फुटम् (८-१०).

प्रयोगसन्देहवारणाय गमकमाहुर्**मात्रे**त्यादि. यथा "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येन" (ब्रह्मसूत्र ३।२।३) इति सूत्रे "मायामात्रमिदं ज्ञात्वा" (भाग.पुरा. ११।१९।१) इत्येकादशस्कन्धे; एवमन्यत्रापि. एवं 'केवला'दिपदप्रयोगे ज्ञेयम्. नन्वेवं विक्षेपादौ तस्याः कर्तृत्वे भगवतः सर्वकर्तृत्वं भज्येतेति चेत्, तत्राहुर्**उभयं त्वि**त्यादि. तथाच प्रथमे भगवतः प्रयोजकत्वं, द्वितीये कर्तृत्वमित्युभयत्रापि रूपभेदेन भगवत एव कर्तृत्वमित्यर्थः. नन्वेवं सति कार्यद्वयस्य तुल्यतेत्यविशेष इत्यत आहुर्**द्वितीये**त्यादि. तथाच प्रथमे 'मायामय'त्वादिकथनात् तत् तद्रूपमेव, नतु पदार्थान्तरं, तत् तेन व्यामोह एव, परं द्वितीये तु स्वयं सद्रूपः परिणमतीति भेद इत्यर्थः (११ १/२).

तदिति, उभयविधमायाकार्यम् एकीकृत्याहेत्यर्थः. **एभि**रित्यत्र. तत्र प्रथमपादेन मायिकं विक्षेपात्मकं कार्यमत्रोच्यते, द्वितीये तात्त्विकं, तत् स्फुटीकुर्वन्ति

॥ अन्तरिक्ष उवाच ॥

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुजः ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥३॥

एभिरिति, न तत्त्वापेक्षा प्रतीतैरेतैरित्यर्थः. गृहस्थ इव **महाभुजो** अत्युत्साहेन कार्यकर्ता, अत एव **उच्चावचानि** नैकरूपाणि. **आद्यः** प्रथमत एव जलमिव प्रविष्टः. **स्वस्यावस्थासहितस्य मात्राणां** च (**आत्मनः!**) भगवतश्चेति त्रयाणां **प्रसिद्धये**. अथवा **स्वमात्र** एव यो5य**मात्मा** स्वप्नवत् तस्य **प्रसिद्धये**. प्रकर्षेण सिद्धिः सृष्ट्यन्तरापेक्षया ॥३॥

भोगमाह.

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।
एकधा दशधात्मानं विभजन् जुषते गुणान् ॥४॥

स्वार्थं **सृष्टानि भूतानि** देहान् (**पञ्चधातुभिः!**) महाभूतैः सह **प्रविष्टो** देवानामिन्द्रियाधिष्ठातॄणामभावाद् **आत्मानमेव** अन्तःकरणेन्द्रियरूपेण विभज्य विषयान् सेवत इत्यर्थः ॥४॥

आसक्तिमाह.

प्रकाशः

प्रतीतैरित्यर्थ इति **गृहस्थ इवे**त्यादि च. द्वितीये **महाभूतैरि**ति करणम्. तानि च स्वावस्थारूपाणीति ज्ञापयितुं **भूतात्मे**ति. न च विशेषणं, **एभिरिति** वैयर्थ्यात्, पूर्वकालीनसृष्टेरिदानीमगोचरत्वेन बाधितत्वाच्च, अतः प्रतीतत्वायैवेदं पदम्. प्रतीयते चान्तरासृष्टिरेव नतु मुख्येति तत्र तत्रोपपादितम्. अतो द्विविधापि सृष्टिरत्राभिप्रेतेत्याशयेनैव **महाभुज** इति **उच्चावचानीति** च विशेषणमित्याहुरत **एवे**त्यादि. प्रथमसृष्टौ गमकान्तरमाहुर्**जलमिव प्रविष्ट** इति, शयान एवेत्यर्थः. **अवस्था** अत्र जीवजडावस्था. द्वितीयपक्षे **सिद्धिपदेन** प्रथमस्फूर्तिर्विवक्षिता, तेन यथायथं पदार्थानामुत्पत्तिः सङ्क्रमश्चोक्तः ॥३॥

एवमित्यत्र. पञ्चधातुपदव्याख्यानात्मक-महाभूतपदेन "यथा महान्ति भूतानि" (भाग.पुरा. २।९।३४) इत्युक्तरीतिकः तन्तुवत् प्रवेशो ज्ञापित उत्तरार्धस्वारस्यात्, तेन काशकृत्स्नमतमत्रेति दृढीकृतं, भोगश्चात्मत्वेनेति च ॥४॥

गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ।।५।।

पूर्वं ह्यनासक्तस्तदा स्वयं **प्रभुरेव** (**गुणैर्गुणान्**!) इन्द्रियैर्विषयान् **भुञ्जानो** भवति. ननु भोगे सत्यायातं विषयपारवश्यं? न इत्याह **आत्मप्रद्योतितैरि**ति. प्रद्योतनमेव पालनं च; आत्मनेपदेन तादृशो भोगोऽपि. अत एव **प्रभुरिदमा** निर्दिष्टमात्मानं **मन्यमानः** स्वस्य गत्यन्तरं विस्मृत्य **इहैव सज्जते** ।।५।।

अस्वातन्त्र्ये सिद्धे प्रवाहसिद्ध्यर्थमुपायमाह.

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम् ।।६।।

भोगस्तु शान्त इव. (**कर्मभिः**!) कर्मेन्द्रियैः सवासनानि **कर्माणि** कृत्वा स्वयं च **देहभृत्** प्राकृतजीवो भूत्वा **कर्मणा जनितं** मज्जूरवत्[१] **फलं गृह्णन्** नानाविधक्लेशान् अनुभवन् (इह!) अत्रैव **भ्रमति**. सुखग्रहणं च प्रत्यावृत्तौ हेतुः ।।६।।

तस्य प्रवाहनिमज्जनमुपसंहरति.

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ।।७।।

प्रकाशः

गुणैरित्यत्र. स्वरूपाप्रच्युतत्वेनैव मायिकसृष्टिभोगं ज्ञापयन्ति **पूर्वमि**त्यादिना. अनासक्तेर्ज्ञापकं व्याकुर्वन्ति **प्रद्योतनमेवे**ति. आशुविनाशित्वे प्रकर्षेण द्योतनासम्भवात् तेन चिरकालस्थितिरपि तेषामायातीत्याशयेनाहुः **पालनं चे**ति. **तादृश** इति मायिकानुरूपः, प्रतिबिम्बदर्शनवत्. अवस्थान्तरबोधनाय बन्धमाहेत्याहुरिदमेत्यादि ।।५।।

कर्माणीत्यत्र. **शान्त इवे**ति, निवृत्त इवेत्यर्थः. **प्रत्यावृत्तावि**ति पुनस्तच्छरीरग्रहणे ।।६।।

---

१. इह "कर्मणा जनितं फलम्" इति सुबोधिनीपदावल्याः कस्यचिद् अन्यपार्श्वटिप्पणीगतोऽयं पारसीकः शब्दः प्रमादात् मध्ये आपतितो भाति - सम्पा.

कर्मगतिभेदाः पूर्वमेव प्रपञ्चिताः. **अभद्रमेव वहन्तीति** पञ्चमस्कन्धोक्ताः. महाप्रलय एवावधिः, नतु कर्मसमाप्तिः. **सर्ग-प्रलयौ** उत्पत्ति-मरणे ॥७॥

तस्यावधिनिरूपणार्थं प्रलयमाह **धातूपप्लव** इत्यादित्रिभिः. तत्रैकेन भगवत्कृतमाह.

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥८॥
शतं वर्षाण्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णोर्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति ॥९॥
पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः ।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग् वर्धते वायुनेरितः ॥१०॥

उपप्लवासन्नता द्विपरार्धावसाने भगवदिच्छया वा. **द्रव्यगुणात्मकमिति** लौकिकसिद्धान्तसिद्धाः पदार्था उक्ताः. तस्य वेदनानभिज्ञत्वाय **अनादिनिधन** इत्युक्तम्. तिरोभावार्थं प्रयत्न इत्यर्थः. कार्यप्रलयप्रकारमाह. चतुर्भिर्व्यष्टीनामभाव उक्तो भवति, समष्टेः दाहन-प्लावनौ अग्निमाभ्यां, ततः पुरुषगमनमिति. अभावस्यापि जगन्नाशकत्वादुल्बणेत्युक्तम्. **उपचितश्चासावुष्णश्च**. दाहमाह. पूर्वशतवर्षमध्य एवास्य प्रवेशः ॥८-१०॥

प्रकाशः

इत्थमित्यत्र पूर्वमिति, तृतीये पञ्चमे चेत्यर्थः ॥७॥

धातूपेत्यत्र. तस्येति कर्मगतिगमनस्य. सृष्टाविव प्रलयेऽपि द्वैविध्यं ज्ञापयितुं नाश-प्रतिसङ्क्रमं, तदुभयप्रतियोगि च तत्कालं च व्यक्तीकुर्वन्ति **उपेत्यादिना**. तत्र द्वितीयस्य कालो **द्विपरार्धावसानो** उपलक्षितः, शिष्टस्य शिष्टः. **लौकिकेत्यादिना** नाशप्रतियोगिनो व्याकृताः. तथा सति मूले **व्यक्तमित्यनेन** प्रतिसङ्क्रमप्रतियोगिभूतम् अव्यक्तपरिणामरूपं कार्यम्; **अव्यक्तायापकर्षति** इत्यनेन तत्प्रतिसङ्क्रमश्चोक्तः. **अनादिनिधनपदेन** नाशकत्वसूचनात् नाशोऽप्यर्थादेव आयातीत्याशयेनाहुस्तस्येत्यादि. भगवत्कृतत्वाय कालस्वरूपं स्फुटीकुर्वन्ति **तिर** इत्यादि ॥८॥

शतमित्यत्र अभावस्येति वृष्ट्यभावस्य ॥९॥

संवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥११॥
ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥१२॥
वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥१३॥
हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ॥१४॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥१५॥

प्लावनमाह. कालस्याधिदैविकस्य आध्यात्मिकरूपा मेघाः. विराड्विलयो दग्धगोमयपिण्डवत् ॥११॥ ततः पुरुषगमनमाह. [1]अधिकारिपुरुषत्वज्ञापनाय अव्यक्ते लय उक्तः. अयमप्येकः प्रकारो, नत्वयमेव ॥१२॥ सार्धद्वयेन महाभूतानां लयमाह. व्यावर्तको धर्मो गन्धः, वायुना च तस्य हरणं सिद्धम्. अनुक्ते कालएव संवर्तकः ॥१३॥

प्रकाशः

संवर्तक इत्यत्र. मेघानामाध्यात्मिकत्वकथनेन सूर्यस्य कालाधिभौतिकत्वं निबन्धोक्तं (द्रष्ट. त.दी.नि. २।२०९) स्मारितम्. **दग्धगोमयपिण्डवदित्यनेन** द्वादशस्कन्धोक्तम् (भाग.पुरा. १२।४।११) अत्र स्मारितम् अवयवविशरणं[2] च सूचितम्. **तत** इत्यत्र **सिद्धमिति**, "दूराद् गन्धो वाति" (महाना.उप. ८।९) इति श्रुतेरनुवातं गन्धानुभवेन च सिद्धमित्यर्थः. तथाच तस्मिन् नष्टे चतुर्गुणवतीभ्योद्भ्यो[3] न तस्य व्यावृत्तिः किन्तु तदात्मनैव ग्रहणम्, एवमग्रेऽपि. एतेन नीलरूपस्यापि न व्यावर्तकतेत्यपि बोधितम्, आकाशप्रतिबिम्बादपि तथात्वसम्भवादिति, पुना रसहरणस्यादर्शनात् कालेन च तद्दर्शनात्. **वायुनेत्यत्र.** तद्दर्शनात् तच्छब्दोऽत्र व्यवहितमपि कालमेव परामृशतीत्यभिप्रायेणाहुरनुक्त इत्यादि ॥११-१३॥

१. -पुरुषज्ञापनाय-. २. -यवि-. ३. -न्यो-.

तमोगुणस्य तामसं रूपं तमः, आधिदैविकमत्र गृह्यते. कार्यानाधारौ देशकालौ **अवकाश**शब्देनोच्येते. तत्र देशेन स्पर्शनाशो, लोकेऽपि देशावकाशेन स्पर्शो भवतीति, **कालात्मने**त्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाच्च. कालात्मनावकाशेन. कालेन हि शब्दो नश्यति. शिष्टस्य लयमाह. **आत्मानि** जीवे. नायं प्राकृतिको लयः किन्तु केवलमायाकृतः. मायावैभवे ह्यस्य बहुविषयत्वम्. अन्यत्रापि क्वचिदेकदेशेनापि शब्दप्रयोगो, यथैन्द्रजालिकम्. मन्त्रगता हि सा अङ्गेषु

प्रकाशः

हृतेत्यत्र **तम** इत्यादि. "यथा भासो यथा तम" (भाग.पुरा. २।९।३३) इत्यत्र तमसो मायिकत्वेन सिद्धत्वात् तेन रूपावरणमेव सिध्यति नतु हरणमित्यनुपपत्त्या तस्य वस्तुत्वाय इदमुक्तम्. तथाच यच्चक्षुरावरकं तदेव तस्य प्रतिबिम्बरूपमाधिभौतिकं वेति भावः. कार्यानाधारे काले **अवकाश**पदप्रयोगस्तु लोके प्रसिद्धो, "अद्य मध्याह्ने अवकाशो भविष्यति, पूर्वेद्युः कार्यबाहुल्यादवकाशो न जात" इत्याद्यभिलापात्. **कालात्मने**त्यत्र **कालेने**त्यादि. तालादिवादनक्रियायाः त्रिक्षणावस्थायित्वेऽपि तदुत्पन्नशब्दस्य अनुरणनात्मकस्य वायुना वहनेऽवहने च चिरकालोत्तरं यो नाशस्तत्र कारणान्तरस्यादर्शनात् कल्पनान्तरस्य चाप्रयोजकत्वात् काल एव नाशको, नित्यप्रलये तस्य नाशकतायाः सर्वतन्त्रसम्मतत्वेनात्रापि, तेन तथेत्यर्थः. **इन्द्रियाणी**त्यत्र **नायं प्राकृतिक** इति. अहङ्कारान्तस्यैव बलकार्यकथनात् पुरुषाव्यक्तशक्तिलयकथनाच्च तथेत्यर्थः. **केवलमायाकृत** इति, "एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी" (श्लो. १६) इत्युपसंहारादित्यर्थः. नन्वत्र प्रवाह उपक्रान्तोऽत उपसंहारेऽपि असञ्जातविरोधित्वेन स एव **एषे**त्यनेन परामर्शनीयो, नतु माया, तथाच **सर्गस्थित्यन्तकारिणी**ति लिङ्गविरोध इत्युभयतः पाशा रज्जुरित्याशङ्कायाम् अत्रोभयार्थकप्रयोग इति साधयितुमाहुर्**माये**-त्यादि. मायावैभवेषु बोधनीयेषु 'माया'पदप्रयोगस्य यथाविवक्षितम् अनेकार्थत्वम्. तथाच क्वचित् प्रत्येकपर्यवसायित्वं समुदायपर्यवसायित्वं चेत्यर्थः. तत्र सम्मत्यर्थमाहुर**न्यत्रापी**ति. तदेतदुदाहरन्ति **क्वचिदि**त्यादि. ऐन्द्रजालिकस्थले 'माया'शब्दः पदार्थेष्वेव प्रयुज्यते, नतु मन्त्रगतायाम् अतस्तथेत्यर्थः. एवं सिद्धेऽपि बहुविषयत्वे यो विवक्षासङ्कोचः तत्रापि बीजमाहुः **अङ्गेष्वि**त्यादि.

स्थिता स्वल्पविषया भवति. अस्याः कार्यं मुख्यं व्यामोहः, पदार्थश्चानुभवश्च ; त्रयमत्र सम्भवतीति सम्पूर्णा उक्ता ॥१४-१५॥

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१६॥

उपसंहरति. स्वरूपतो हि सा शक्तिर्निर्वक्तुमशक्या. आकृत्या स्त्रीरूपा भगवतः पुरुषत्वे सौन्दर्यातिशयेन मुग्धा भवन्तीति मूले न स्वाभाविको दोषः, अत आह **किं भूयः श्रोतुमिच्छसीति.**

श्रीरूपत्वाद् धृतं रूपमाकृतिः स्त्री निगद्यते ॥(१२)॥
स्वभोगाय तथा दैत्यमोहाय च सदा हि सा ।
प्रभुसेवकरीत्या हि भक्तिमार्गे निरूपणम् ॥(१३)॥
श्रुतीनामन्यथारीतिर्न दूषणमिहाण्वपि ।

प्रकाशः

व्यामोहनाङ्गेषु देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मसु सङ्कोचो नास्तीति बहुविषयोऽयं प्रयोग इत्याशयेनाहुः **अस्या** इत्यादि ॥१४-१५॥

एषेत्यत्र एवंप्रयोगं निर्धार्य यदत्रास्याः कार्यमुखेनैव विशेषतो निरूपणं, न विशेषतः स्वरूपेण, इत्यत्र बीजमाहुः— **किं भूयः श्रोतुमिच्छसीति** तुर्यपादानुरोधात्— **स्वरूपत** इत्यादि. मूले शक्तिस्वरूप आकृतिस्वरूपं निर्धारयन्ति **श्रीत्यादिना. स्त्रीत्यानन्दरूपा, सेति** मायारूपा, तथाच तत्तदर्थं तथा तथेत्यर्थः. एवं मर्यादा-प्रवाहमार्गयोः तत्स्वरूपमुक्त्वा पुष्टावाहुः **प्रभ्वित्यादि.** अतएव "योगमायामुपाश्रित" (भाग.पुरा. १०।२६।१) इति, "श्रीर्यत्पदाम्बुज" (भाग.पुरा. १०।२६।३७) इत्यादि च. ननु यद्येवं तदा मर्यादामार्गे पुष्टिमार्गे च न बाधिका इत्यागतं, तथा सति श्रुतिविरोधाभावाद् "जय जय जह्यजाम्" (भाग.पुरा. १०।८४।१४) इति श्रुतिप्रार्थनं विरुध्येतेत्यत आहुः **श्रुतीनामित्यादि.** ता हि ज्ञापने अधिकृता इयं तु व्यामोहन इति कार्यविरोधेन सापत्न्यात् तथानिरूपणं, प्रभ्वाज्ञापरिपालकत्वाच्च दोषाभाव इति तथेत्यर्थः. ननु पुष्टिमर्यादानुगुणत्वमस्या असङ्गतं, व्यामोहाधिकृतत्वेन तया स्वकार्यकरणात् प्रपत्ति-शान्त्यादीनामशक्यत्वात् तदतरणे मोहदार्ढ्यात्— न च कृपया निर्वाहः, लोकन्यायेन तस्याः साधनसापेक्षत्वेन साधनानां

बीजसंस्कारकृपया नान्योन्याश्रयणं मतम् ॥(१४)॥
सर्वे मार्गा विलीयेरन् सा चेत् तत्र तथा न हि ।
अंशपक्षे न दोषोऽस्ति ह्यवस्थायां तु सा रतिः ॥(१५)॥
मर्यादापुष्टिमार्गेण मुक्त्यर्थं निन्द्यते परम् ।
अतस्तद्विषयोल्लङ्घ्यः प्रष्टव्यश्चेत् तदुच्यते ॥(१६)॥॥१६॥

तदेवाह.

प्रकाशः

च मायापरवशैः कर्तुमशक्यत्वात् तदर्थं कृपायाः पूर्वमपेक्षितत्वेन अन्योन्याश्रयाद्– इत्यत आहुः **बीजेत्यादि. सा** कृपा **तत्र** जीवे **चेत् तथा** बीजसंस्कारभूता **न** तदा **हि** निश्चयेन **तथेत्यर्थः.** ननु अस्त्वेवं तथापि कृपया किं व्याप्रियत उत नाश्यते? आद्ये "जह्यजाम्" (भाग.पुरा. १०।८४।१४) इति वाक्यानुपपत्तिः द्वितीये "योगमायामुपाश्रित" (भाग.पुरा. १०।२९।१) इत्यस्य, इत्याशङ्कायां व्यवस्थया उभयमाहुः **अंशेत्यादि.** सा हि स्वांशा सर्वैः प्रतिपन्ना आवरण-विक्षेप-प्रकाश-शक्तिमत्त्वेन. तथाच मर्यादायामंशतो नाश्यते अंशतश्च व्याप्रियत इति तस्मिन् सकलशास्त्रसामञ्जस्यात् **नोक्तदोषोऽस्ति. हि** यस्माद्धेतोरतः पुष्टिमार्गेऽपि पूर्वपक्षनिरासेन **अवस्थायां** भक्तानां सात्त्विक-राजस-तामसावस्था **सा रतिः** यथाधिकारम् उत्कटानुरागरूपा, अतो विचारे मर्यादापुष्टिमार्गे न क्वापि दोषः सर्वसामञ्जस्यात् परन्तु भगवतो गुणातीतत्वात् तत्र सायुज्यप्रकाशशक्तिरपि "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वाद्" (भग.गीता १४।७) इति न्यायेन विषयासक्तिजननात् प्रतिबध्नातीति सर्वांशेन तदर्थं **निन्द्यते अतस्तद्विषयोल्लङ्घ**नमावश्यकमिति तत्प्रकारः **प्रष्टु**मावश्यक**श्चेत् तदुच्यत** इत्यर्थः. अत्रैतद् बोध्यम्: रतिर्हि आनन्दशक्तिः, प्रियत्वस्य तद्धर्मत्वात्. सृष्टिश्च द्विधा स्वार्थपरार्थभेदेन. एवं सति सर्वरसभोक्तुः भोगवैचित्र्यार्थं ये तामसादिभावास्तेऽपि रतिव्याप्तत्वाद् अन्तर्यामिन्यायेन भगवद्व्याप्ता इति भगवद्रूपा वह्न्ययोगोलकवत्. अतएव प्रभुचरणैः भक्तिभावानां भगवद्रूपत्वम् आचार्यैश्च स्वोक्तमार्गस्य निर्गुणत्वमुच्यत इति न कोऽपि शङ्कांशः ॥१६॥

यथैतामित्यत्र वेलाकूलान्तवेगित्वादिति. इदं षष्ठस्कन्धे पञ्चमाध्याये हर्यश्वानां विचारे वाक्यम् ॥१७॥

॥ राजोवाच ॥

यथैतामैश्वरीं मायां [1]दुस्तरामकृतात्मभिः ।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥१७॥

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयाद्" (मनु.स्मृ. २।११०) इति प्रश्नः. वेलाकूलान्तवेगित्वाद्[2] **अकृतात्मभिरित्युक्तम्. स्थूलधिय** इति "मामेव ये प्रपद्यन्ते" (भग.गीता ७।१४) इत्यपि निराकृतम्. अलौकिकतापहारी हि **महर्षिः**. प्रतिपुरुषमुपायपरिज्ञानाद् एक एव निर्धारितमेकमुपायं वक्ति इत्येकवचनम्. **स्थूलधियो** बहिर्मुखा ज्ञानभक्तिरहिता इत्यर्थः. तत्र स्थूलधियां तरणोपायो वक्तव्यः. "मामेव ये प्रपद्यन्ते" इत्येवकारेण सर्वेषामनुपायत्वं प्रतीयते. स्थूलबुद्धिं स्थापयित्वैव उपायो वक्तव्य इति नाग्रहः किन्तु स्थूलबुद्धीनामपि यथा तरणं सिद्ध्यति तथोपायो वक्तव्यः ॥१७॥

तत्रोपायो नारायणपरत्वमेव, तद् भक्त्या, सा च भगवद्धर्मैः भगवच्छास्त्रे साधनत्वेन प्रतिपादितैः, ते च गुरुसेवया, सा च गुरुशरणं गतस्य. तच्छरणगमनम् ऐहिकामुष्मिकफलभोग-विरागाभावे न भवति, "न तस्य तत्त्वग्रहणाय" (भाग.पुरा. ५।११।३) इति वचनात्. तत्र ऐहिकवैराग्यं स्त्री-धनभेदेन. तत्र "लौकिकानि कर्माणि स्त्रियं च परित्यज" इत्युक्ते न परित्यजति, अनुभवस्य बलिष्ठत्वात्. अनुभवमेवाह.

॥ प्रबुद्ध उवाच ॥

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥१८॥

नृणामिति लौकिकानाम्. **मिथुनीचारिणामि**त्याग्रहः. प्रथमतः "सुखमस्यात्मनो रूपम्" (भाग.पुरा. ७।१३।२६) इति न्यायेन कर्मारम्भ एव विपरीतं भवति. **कर्माणीति** बहुवचनात् पुनःपुनरारम्भः कर्मणा

प्रकाशः

कर्माणीत्यत्राभासे तद् भक्त्येति, तद् नारायणपरत्वम्.

---

१. दुस्त्यजाम्. २. "सृष्ट्यप्ययकरीं माया वेलाकूलान्तवेगितां मत्तस्य ताम् अविज्ञस्य किम् असत्कर्मभिः भवेत्" (भाग.पुरा. ६।५।१६) - सम्पा.

दुःखमित्यनुभवः, सुतरां फलाभावे. अपेक्षितसुखकालोऽपि पुनःपुनरारम्भे गच्छति. क्वचिदविपर्यासेऽपि[१] **विपर्यासमेव पश्येत्.**

उपक्रमानुरोधेन स्वयं चापि तथाविधः ।
स्वस्याबाधकता वाच्या परस्त्वध्रुव एव हि ॥(१७)॥
प्रवाहात् तु पृथग् ज्ञानं प्रतिकर्म व्यवस्थितिः ।
शास्त्रतः सर्वनिर्धारो यस्य तस्येदमुच्यते ॥(१८)॥
प्रवाहपतिता नात्र विचार्या इति मे मतिः ॥

एवं स्त्री-तत्सङ्गिपरित्याग उक्तः ॥१८॥

धनपरित्यागमाह.

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥१९॥

तद्धि चिन्तनमारभ्य विनाशावधि दुःखदम् ॥(२०)॥
मृत्युस्तु सुलभो लोके दुर्लभं धनमेव हि ॥

—एवमपि **मृत्युरूपम्**. एतादृशेन **का प्रीतिः** तेन **साधितैर्वा**? (**गृहापत्याप्तपशुभिः!**) ममतास्पदाश्चत्वारो, अन्येषाम् एष्वेव अन्तर्भावात्.

प्रकाशः

क्वचिदिति, यत्र न पुनः पुनः कर्मारम्भस्तत्रेत्यर्थः. तथाच **पाकसहितो विपर्यास** इत्युत्तरपदलोपी ज्ञेयः. साधकस्वरूपनिर्धारायाहुः **उपक्रमेत्यादि. उपक्रमः** शुश्रूषाप्रश्नः, स चाधिकारसन्देह एव घटत इति **तदनुरोधेन.** किञ्च राजप्रश्नेऽपि 'स्थूलधी'पदेन पूर्वोक्तभगवद्धर्मादिश्रवणोत्तरमपि स्वधियः स्थूलत्वबोधनाद् राजा **अपि तथाविधः**, अतोऽपि **स्वस्याबाधकता वाच्या.** न च सर्वस्थूलधीपरत्वं साधनस्य शक्यवचनं, **हि** यतः **परः** प्रवाहपतितो "जायस्व म्रियस्व" (छान्दो.उप. ५।१०।८) इति श्रुतेर**ध्रुव एव** अतो न सोऽधिकारीत्यर्थः. तर्हि कीदृशोऽधिकारीत्यत आहुः **प्रवाहादिति. व्यवस्थितिः** नित्यकाम्य-प्रवृत्तनिवृत्त-स्वरूपविवेकः ॥१८॥

नित्यार्तिदेनेत्यत्र एवमिति, दुर्लभत्वेऽपीत्यर्थः. **सिद्धा** इति. ता

१. क्वचिदपि.

भूम्यादिवृत्तयः सिद्धाः साध्यानां गृहशेषता ॥(२१)॥
देहे तु यस्य वैराग्यं स पूर्वत्र निरूपितः ॥१९॥

पारलौकिकं वैराग्यमाह.

एवं लोकं परं विद्यात् नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०॥
अयथाज्ञानतो जातं वैदिकं स्मार्तमेव च ॥(२२)॥
पौराणं च ततो जातं फलं गृहवदेव हि ।
अक्षयतृतीयाश्राद्धादि तथानन्तव्रतादि च ॥(२३)॥
समर्पितं प्रियं विष्णौ ततोऽपि फलितं तथा ।
अतो **नश्वरमित्युक्तं** पृथग् भक्तिफलात् क्रमात् ॥(२४)॥
सतुल्यातिशयध्वंसमन्तःकरणदोषतः ।

प्रकाशः

गृहपदेनैवोपलक्ष्यन्ते, सिद्धत्वादित्यर्थः. **निरूपित** इति, मिथुनीचारित्वेन दुःखभाक्त्वादेव निरूपित इत्यर्थः ॥१९॥

एवं लोकमित्यत्र. ननु "यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्" (. । ।) "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्" (शतपथ.ब्रा. १।६।१) इति श्रुतिभिः "स्वर्गं मोक्षं सुखानि च प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहा" (याज्ञ.स्मृ. १।२।१७) इत्यादिस्मृतिभिः "तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते" (भाग.पुरा. ११।११।४१) इत्यादिपुराणैश्च आनन्त्यकथनात् कथं नश्वरत्वमित्यत आहुः **अयथेत्यादि. गृहवदिति,** सिद्धत्वेऽपि चलमित्यर्थः. तदेव विवेचयन्ति **अक्षयेत्यादि. तथेति,** गृहवदेवेत्यर्थः. नन्वर्पणे "शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे" (भग.गीता ९।२८) इति वाक्येन बन्धनिर्मोक्षकथनात् कथं तत्फलस्य नश्वरत्वमित्यत आहुः **पृथग् भक्तिफलादिति.** भावप्रधानः पृथग्भावः; "स सात्त्विक" (भग.गीता १७।११) इति वाक्यात् कर्तृदोषेण तथेत्यर्थः. हेयत्वे प्रयोजकान्तरमप्याहुः **क्रमादित्यादि.** साधारणे कर्मणि कृते **सतुल्यत्वं,** ततोऽधिके **सातिशयत्वं,** ततोऽप्यधिके **सध्वंसत्वमित्यर्थः. अन्तःकरणदोषो** असन्तोषादिः. ननु

ज्ञानभक्तिफले मोक्षे नायं दोषस्ततो भवेत् ॥(२५)॥
ऐश्वर्यसहितेऽप्येवमिति दृष्टान्तसङ्ग्रहः ।
स्पर्धासूयायुतो लोको मण्डलाधिपगोचरः ॥(२६)॥
लोकद्वयफलं [१] तस्मादेवमेवेति निश्चयः ।
अतो मोक्षफले हेतुर्मूलभूतस्तमाह हि ॥(२७)॥२०॥

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं [२] ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥२१॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥२२॥

निरालम्बो यथा लोके स्थानभ्रष्टो निगद्यते ।
हरेः कृपाविशिष्टोऽपि गुरुहीनस्तथैव हि ॥(२८)॥
यथा भक्तिः स्वतन्त्रोक्ता गुरुसेवापि तादृशी ।
जिज्ञासाशेषभावत्वं तथापि विनिगद्यते ॥(२९)॥

यदेव पृच्छ्यते [३] तदेव वदिष्यतीत्युत्तमं **श्रेय** इत्युक्तम्. स गुरुर्मुक्तः;

प्रकाशः

ज्ञानभक्तिभ्यां बहूनां मुक्तत्वात् सालोक्यादीनां स्मर्यमाणत्वात् सतुल्यातिशयत्वं मुक्तावपि तुल्यमिति चेत्, न इत्याहुः **ज्ञानेत्यादि**. **अयमसन्तोषादिरूपो अन्तःकरणदोषो** मुक्तानां नास्तीति तथात्वेऽप्यदोष इत्यर्थः. एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य ब्राह्मपदपर्यन्तं ध्वंसस्मरणात् तदपि हेयमित्याशयेनाहुः **ऐश्वर्येत्यादि**. दार्ष्टान्तिके योजयन्ति **स्पर्धेत्यादि**. **मोक्षफल** इति. मोक्षः फलं यस्य ज्ञानादेः तस्मिन्नित्यर्थः ॥२०॥

तस्मादित्यत्र. वैराग्योत्तरं भगवान् प्रपदनीयो मोक्षाय; मध्ये गुरुप्रपत्तेः किं प्रयोजनमत आहुः **निरालम्ब** इत्यादि. कुत एवमत आहुर्**यथेत्यादि**. नैष्ठिकब्रह्मचर्यविधायकवाक्यैः तथावसीयत इत्यर्थः. तर्हि भक्त्या विकल्पतामित्यत आहुः **जिज्ञासेत्यादि**. **यदेवेत्यादि**. तथाच तदेव प्रष्टव्यमित्याशयेन इदमुक्तमित्यर्थः. गुरुपरिज्ञानार्थं लक्षणद्वारा सिद्धं गुरुस्वरूपमाहुर्**मुक्त** इति,

१. यस्माद्. २. उपरमा-. ३. पृच्छते.

लोके ज्ञापकं रूपम् [१] **उपशमाश्रयमिति.** (**शाब्दे परे!**) सर्वसन्देहवारणाय वैधदीक्षावद् हृदयप्रवेशाय च **उभयनिष्णातत्वम्.**

मार्गान्तरस्थितो ह्यत्र बोधको न स्वमार्गगः ।
प्रपञ्चितं तत् प्रथमे शुको वक्ता न नारदः ॥(३०)॥
सप्तमेऽत्र च कृष्णस्य दर्शनार्थी तथापि तु ॥२१॥

सर्वज्ञत्वात् सर्वं वदिष्यति [२] इत्याशयेनाह **तत्रेति.** गुरोरात्मत्वे स्नेहः, श्रद्धाराध्यत्वेन ज्ञानं च **देवतात्वे.** मन्त्रशास्त्रेऽपि उक्ता मन्त्रा गुरुमुखव्यतिरेकेण न फलन्तीति तत्र **शिक्षा.** गुरुसन्तोषोपायमाह (**अमाययानुवृत्त्या!**) निष्कपटानुवृत्तिभिः. भागवतधर्माणामेव शिक्षायां हेतुमाह **तुष्येदिति.** (**आत्मात्मदो!**) स्वसन्तोषाभावे हेतुरेव न सिद्ध्येत्, फलदातुरसन्तोषे फलम्, अतः स्वपरनिर्वाहका **धर्मा** इति. किञ्च (**हरिः!**) दुःखाभावोऽप्यानुषङ्गिकः ॥२२॥

तत्र प्रथमं श्लोकत्रयेण प्रवाहात् निवृत्तिः, कर्ममार्गप्रवेशो, ज्ञानमार्गप्रवेशश्चोच्यते, तदभावे भागवतधर्मानधिकारात्. तत्र प्रथमं प्रवाहात् निवृत्तिमाह **सर्वत** इति.

प्रकाशः

जीवन्मुक्त इत्यर्थः. **वैधदीक्षावदित्यादि.** यथा तस्यां जातायां यजमानस्य वैदिकं रूपम् अन्तराविर्भवति तथा उपदेशेन अन्तर्भगवत्प्रवेशायेत्यर्थः. नन्वेतावतैव कार्यसिद्धेर्वैराग्येन कुतो गुरुर्विशेषित इत्यत आहु**र्मार्गेत्यादि. प्रपञ्चितमिति** ऊनविंशे. सर्वत्यागं चिकीर्षोरविरक्तो न गुरुरिति नारदादिसन्निधावपि शुकस्यैव गुरुत्वमिति. नन्वेवं सति अत्र कथं नारदो वक्ता इत्यत्राहुः **सप्तम** इत्यादि. **आहेति, तत्रे**त्यनेन विरक्तं परामृशन् शिक्षणमाहेत्यर्थः. गुरोरविरक्तत्वे तस्मिन्नुत्कर्षो जिहासोः न स्फुरेत्, तथा सति न फलेद् अतस्तदुक्तिरिति भावः ॥२१॥

तत्रेत्यत्र आत्मेति पदस्य तात्पर्यमाहुः **स्वसन्तोषेत्यादि. हेतुः** श्रद्धादि. **हरिपदतात्पर्यं दुःखेत्यादि** ॥२२॥

---

१. उपरमा-. २. वदिष्यन्ति.

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥२३॥

संसक्तेभ्यो मनस आकर्षणं, मनसा हि सर्वं भवतीति. स्वसिद्धिः[१] साधनेषु प्रथमं सत्सङ्गः. लोकानां परित्यागः पूर्ववच्च न सम्भवत्यतो विशेषमाह— दीनेषु **दया**, समेषु **मैत्री**, उत्तमेषु **प्रश्रयः**. **यथोचितमिति** देशकालानुरोधः ॥२३॥

कर्ममार्गप्रवेशमाह **शौचमिति**.

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च समत्वं द्वन्द्वसञ्ज्ञयोः ॥२४॥

कर्म त्रिविधं कायिकादिभेदेन. तत्र त्रयं त्रयमेकैकस्य. **शौचं** मृदादिभिः, **तपः** कृच्छ्रादिः[२], शीतादिसहनं **तितिक्षेति** कायिकम्. (**मौनं स्वाध्यायमार्जवं!**) वृथालापपरिवर्जनं, वेदाभ्यासः, सर्वत्र प्रियभाषणं वाचनिकम्. मानसं हि (**ब्रह्मचर्यमहिंसा समत्वं!**) कामजयः क्रोधजयो वैषम्याभावश्चेति. निर्देशे हि **द्वन्द्वेनैव** तयोः **सञ्ज्ञा** निर्दिष्टा ; यथा सुखदुःखे, प्रियाप्रिये इति ॥२४॥

ज्ञानमार्गप्रवेशमाह **सर्वत्रेति**.

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरभोजनं सन्तोषं येन केनचित् ॥२५॥

(**आत्मेश्वरान्वीक्षां!**) आत्मेश्वरयोरैक्ये सिद्धे तस्य सर्वत्र निरीक्षणं ज्ञानम्.

सङ्गाभावो गृहाभावो वस्त्रभोजनसंयमः ॥(३१)॥
चतुष्टयं ज्ञानमार्गे साधनं सर्वदा मतम् ॥

चीराणामपि विवेको न बाहुल्यम्.

प्रकाशः

सर्वत इत्यत्र **पूर्ववदिति**. सर्वेभ्यो मनस आक्रष्टुमशक्यत्वात् तथेत्यर्थः ॥२३॥

---

१. स्वसिद्धिसाधनेषु. २. कृच्छ्रादि-.

सप्तभिर्भक्तिमार्गो हि स यतस्तादृशो मतः ॥(३२)॥

तत्र दोषाभाव-फलयोः आद्यन्तनिरूपणं, मध्येऽपरिचितधर्माः परिचयश्च, सेवकानुप्रवेशः सेवकतुल्यता तत उत्तमं साधनम् — एवं पञ्चार्थाः ॥२५॥

तत्र प्रथमं भक्तिमार्गप्रवेशाय साधनान्याह **श्रद्धामिति**.

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कायदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥

प्रथमतः प्रमाणे महती **श्रद्धा**. ततो विरुद्धानामस्मरणमपि. स्मरणं निन्दाद्वारा हि सम्भवति; सापि न कर्तव्या. न युक्तयोऽनुसन्धेयाः किन्तु श्रद्धैव. पूर्वं मार्गान्तरे साधनत्वेनोक्ता अपि मौनादयः पुनरत्र नियतसाधनत्वाय उच्यन्ते. प्रमाणसिद्ध्यनन्तरं व्यभिचारपरिज्ञानात् **कायवाङ्मनसां दण्डः** कर्तव्यः, अनीहादयोऽन्ये वा, येनैव दण्डिता इति बुद्धिर्भवति. **सत्यं** भगवन्मार्गे परमं साधनं, भगवन्निष्ठा बुद्धिः **शमः**, इन्द्रियनिग्रहो **दमः**. वाङ्मनकायानां वा गुणा उच्यन्ते ॥२६॥

प्रथमं[१] साधनान्याह **श्रवणमिति**.

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥

प्रेमसाधनं श्रवणादित्रयमिति पूर्वमुक्तम्. **अद्भुतकर्मण** इति विशेषः; शुद्धलीलासहितो, न दशविधलीलासहितो, विजातीयानां बहूनां साधनानाम्

प्रकाशः

श्रद्धामित्यत्र. निन्दाकरणाभाव उपायमाहुः **न युक्तय** इत्यादि. दण्डरूपकार्यनिर्देशात् कारणमवश्यवाच्यमिति तन्निर्धारायाहुः **पूर्वमित्यादि**. **मार्गान्तरे** ज्ञानमार्गे. **सिद्ध्यनन्तरमिति** तदर्थनिश्चयोत्तरम्. **व्यभिचार-परिज्ञानाद्** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, कायादीनामन्यपरत्वं परिज्ञायेत्यर्थः. उक्तसाधनसिद्ध्यनन्तरं भक्तिमार्गप्रवेशस्य उक्तत्वेन अर्थादेव तन्नैयत्यं प्राप्तमिति तेषामसाधनत्वं हृदिकृत्य पक्षान्तरमाहुः **अनीहेत्यादि** ॥२६॥

श्रवणमित्यत्र. श्रवणादेरावश्यकत्वाय बीजमाहुः **विजातीयानामिति**.

१. प्रथमसाधनानि.

अनुष्ठितत्वात्. अतएव **जन्मकर्मगुणानां चे**त्युक्तम्. चकारात् तेऽप्यद्भुतकर्मणः सर्वमोचकाः. शिष्टेन्द्रियकार्याणामप्यनुप्रवेशः सर्वेषामेकमुखत्वाय[1]. पूर्वोक्तचतुर्णामर्थे सर्वेन्द्रियाणां विनियोगं शिक्षेत् ॥२७॥

ततः कियत्कालसेवया परिचये जाते आत्मसमर्पणं कर्तव्यमित्याह **इष्ट**मिति.

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥२८॥

दत्तस्य अभयदानपरत्वे न्यासधर्मो; न्यासव्यतिरिक्तत्रयाणां वा धर्माः. **वृत्तं** सदाचारः. **आत्मनः प्रियं** प्रवाहः. दारादीनां स्वतुल्यत्वाभिप्रायेणाह **दाराने**ति. स्वभागो वा. अन्येषाम् एष्वेव अन्तर्भावः. देहस्य पूर्वमेव विनियुक्तत्वात् **प्राणा** उक्ताः ॥२८॥

एवं विधानपूर्वकमात्मनिवेदनं कृत्वा तादृशैः सह भगवत्परिचर्या कर्तव्या इत्याह **एव**मिति.

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥

येषां कृष्णेऽसाधारणः स्वामित्वाभिमानस्ते **कृष्णात्मनाथाः**. मानुषभावः[2] साधारणो भावः. तेषु च **सौहार्दं**, चकारात् पश्वादीषु च भगवदीयेषु

प्रकाशः

तथाच यदि तैर्भक्तिमार्गप्रवेशः स्यात् तत्पूर्वमेव स्याद् अत इदमेवावश्यकमित्यर्थः. **अत एवे**ति उक्तसजातीयत्वादेव. **पूर्वोक्तचतुर्णा**मिति प्रेमसहितानां श्रवणादीनाम् ॥२७॥

इष्टमित्यत्र. **धर्मा** इष्ट-तपो-जप्तानि. **प्रवाह** इति लौकिकं प्रियम्. **स्वभागो वे**ति, स्वस्य या तेषु सत्ता सेत्यर्थः. **पूर्व**मिति, ''कैवल्यमनिकेतताम्'' (श्लो. २५) इत्यत्रेत्यर्थः ॥२८॥

एवमित्यत्र. ''दयां मैत्रीम्'' (श्लो. २३) इत्युक्तत्वेन पुनः सौहृदकथनस्य आशयमाहुः **मानुषभावे**त्यादि. स्वयं राजा इतरश्च रङ्कः

१. एकमुख्यत्वाय. २. मनुष्यभावः.

सर्वत्र. **परिचर्या चोभयत्र** भगवति भगवदीयेषु च. तदीयेषु विशेषमाह **महत्सु नृषु;** स्त्री-पशु-कनिष्ठा निवारिताः. सम्प्रदायरक्षार्थं तत्रापि **(साधुषु!)** सदाचारेषु. सानुभावपुरुषत्वे सति सदाचारेष्वित्यर्थः. **चकारात्** स्वस्यापि तादृशत्वम् ॥२९॥

फलरूपं साधनमाह **परस्परेति.**

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निर्वृतिर्मिथ आत्मनः ॥३०॥

भक्तानां परस्परं संवादो यत्र. **भगवदुक्तमर्थं परस्परमनुवदन्ति** यस्मिन् **यशसि** तत् **शिक्षेद्** (श्लो. २२) इति सम्बन्धः. स्नानाद्यासक्तिनिवारणाय **पावनमित्युक्तम्. भगवद्यश** इति भगवतोऽपि प्रीतिजनकं चरित्रम्. श्रवणकीर्तने एव परस्परं क्रियमाणे **मिथः** प्रीतिः तथैव **तुष्टिः** —आद्यन्तधर्मावेतौ. पूर्वोक्तानुसन्धानेनैव परमा **निर्वृतिः**. अन्तःकरणस्य फलरूपा अपि त्रयो भावाः शिक्षेत्, सफलस्यावृत्तेरिति ॥३०॥

तेषामवान्तफलमाह **स्मरन्त** इति.

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥३१॥

रत्यादिमतामपि अन्यचित्तगमनवद् विस्मरणं सम्भवति, तत आह **स्मरन्त** इति. अन्योन्यं दृष्ट्वा स्वत एव स्मरणं, वचनेन[१] स्मारणम्.

प्रकाशः

तथापि कृष्णात्मनाथत्वे स्वस्य तस्य च यः साधारणो भावो "अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखाय" (ऋक्संहि. १०।७१।७) इति श्रुत्युक्तः तस्य सत्त्वात् तमेव पुरस्कृत्य सौहृदं कुर्यादित्यर्थः. **साधुपदतात्पर्यमाहुः सम्प्रदायेत्यादि. तादृशत्वमिति,** सदाचारत्वं शिक्षेदिति सम्बन्धः ॥२९॥

परस्परेत्यत्र आत्मपदस्यार्थमाहुः **अन्तःकरणस्येति.** एतेषां साधनत्वेऽपि कञ्चिद् विशेषं तेष्वाहुः **पलरूपा** इति. आनन्दात्मकत्वात् तथेत्यर्थः. **शिक्षेदिति** एतानिति शेषः ॥३०॥

१. लुप्तम्.

एकदेशबोधनात् न श्रवणम्. विस्मरणे निषेधानां किङ्करत्वात् पापसम्पत्तौ प्रायश्चित्तं कृत्वा स्मर्तव्यमित्यत आह **अघौघहरमिति**. पापं दूरीकृत्य (**हरिः** !) दुःखं दूरीकरोति. विषयत्वेन समागत एव स्मरणात् पूर्वमेव पापसमूहान् दूरीकरोति, अन्यथा स्मरणस्य तत्फलत्वं स्यात्. एवमच्छिद्रतया श्रवणकीर्तनादिसम्पत्तौ सर्वतः क्षरणजलमिव प्रेमभक्तिरुत्पद्यते. तया व्यापिका भक्तिरुद्गच्छति यया[१] (**तनुं** !) शरीरं पूर्यते. ततः शरीरस्य गाढत्वाद् **उत्पुलकत्वम्** ॥३१॥

एवं शरीरे पूर्णस्य भक्तिरसस्य भगवत्प्राप्तिपर्यन्तं कृत्यमाह **क्वचिदिति**.

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद् हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥३२॥

पूर्णे रसे मत्तावस्थायामिव भेदे विगलिते भगवदन्वेषणेन तमप्राप्येव **क्वचिद् रुदन्ति**, पुनस्तमन्तिके स्फुरन्तमुपलभ्य वृथैव रुदितमिति **हसन्ति**. स्वाधीनतया स्फुरन्तं मत्वा **नन्दन्ति**. ततः सार्वज्ञ्यमत्तावस्थया यत्किञ्चित् **वदन्ति**. एतावता (**अलौकिकाः** !) प्रवाहात् पृथग् भवन्ति. ततः काय-वाङ्-मनस्सु अध्यासस्य फलमाह नृत्य-गीतानुशीलनानि. दोषाभावाय **अजमिति**. एवमध्यासस्य सार्थकत्वमुक्त्वा निर्वृतिमाह[२] **भवन्ति तूष्णीमिति**. ततः (**परमेत्य** !) परमरसं प्राप्य शान्तत्वात् (**निर्वृताः** !) परमसुखिन एव **भवन्तीत्यर्थः** ॥३२॥

एवं फलपर्यन्तं भगवद्धर्मानुक्त्वा तच्छिक्षया भगवत्परश्चेद् धर्मैर्धर्मिपरश्चेत् तदा सैव माया भर्तृस्थाने तं नयतीत्याह **इतीति**.

प्रकाशः

स्मरन्त इत्यत्र न **श्रवणमिति**, पृथगुक्तमिति शेषः. स्मारणोक्त्या अर्थादेव तत्प्राप्तेरिति भावः ॥३१॥

इतीत्यस्याभासे **शिक्षया भगवत्परश्चेदित्यस्यैव** व्याख्यानं **धर्मैर्धर्मिपरश्चेद्** इति ॥३३॥

---

१. यथा. २. निवृत्तिमाह.

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥३३॥

शिक्षयैव[१] भक्तिर्भवति, तया नारायणपरत्वम् ॥३३॥

नारायणः परो यस्य परत्वं कीदृशं मतम् ।
मार्गान्तराद् चेदुत्कर्षो विषयो ह्येक एव हि ॥(३३)॥
प्रकारश्चेद् धर्मपरो विषयः कीदृशः परः ।
उत्कृष्टबुद्धिः सिद्धैव ततो निष्ठाऽवशिष्यते ॥(३४)॥
तद्धर्माणां न निष्ठात्वमतः पृच्छति संशयात् ॥

॥ जनक[२] उवाच ॥

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।

प्रकाशः

नारायणाभिधानस्येत्यस्याभासे पूर्वश्लोकोक्तप्रणाड्या श्रुतेर्नारायणपरत्वे अग्रे निष्ठाजिज्ञासा कुतः संशयादिति विचारयन्ति **नारायण** इत्यादिना. अयमर्थः — अत्र **नारायण**शब्दः किं नरायनस्य अयं नारायण इति सम्बन्धि-तद्धितान्तो यौगिक, उत रूढः? तत्राद्येऽपि किं मार्गः परामृश्यत उत धर्मो? धर्मोऽपि किं भगवन्निष्ठो, भगवदुद्देश्यको वेति विकल्प्याहुः **परत्वं कीदृशं मत**मिति. तत्र मार्गपक्षे विचारमाहुः **मार्गान्तरा**दिति. **हि** निश्चयेन **हि** यतो हेतोः **विषयो** भक्ति-ज्ञान-कर्ममार्गाणाम् **एक एव** भगवानेव अतो मार्गस्य परत्वे विवक्षिते त्रिषु परत्वं वक्तव्यमित्यर्थः. धर्मपक्ष आहुः **प्रकार** इत्यादि. **प्रकारः** परत्वरूपश्चेद् **धर्मपरो** भगवन्निष्ठधर्मविषयः तदा **विषयो** भगवद्धर्मः **परः कीदृश** इति वक्तव्यमित्यर्थः. नच एतावति श्रुतेऽपि तव परत्वबुद्धिर्न जाता चेद् अनधिकाराद् अग्रे न वाच्यमिति शङ्क्यमित्याहुः **उ**दित्यादि. **तत** इति श्रवणात्. **निष्ठे**ति परा काष्ठा. अन्यः पक्षस्तु न सम्भवतीत्याहुः **त**दित्यादि. नेति, साधनसाधनत्वेन उक्तत्वात् नेत्यर्थः. तथाच एवंविधसंशयात् निष्ठां पृच्छतीति सन्दर्भार्थः. अयं सर्वोऽपि सन्दर्भ उत्तरानुरोध इति ज्ञेयम् ॥३४॥

---

१. शिक्षितैर्भवति. २. राजोवाच.

निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ॥३४॥

अतिगूढत्वात् तज्ज्ञानाय[१] हेतुकथनं **ब्रह्मवित्तमा** इति. नाममात्रमेव भेदकमिति **अभिधान**पदम्. श्रुतिस्मृत्यविरोधेन वक्तव्यमिति भावः ॥३४॥

उत्तरमाह षड्भिः, भगवत्त्वमेवोत्तरमिति ज्ञापयितुम्. अग्निरूपो वागधिपतिरिति मार्गत्रयेण परत्वं वक्तव्यम्. तत्र स्वमतेनाह द्वाभ्यां स्वरूप-सम्बन्धिभेदात्. प्रथमं स्वरूपमाह[२] **स्थितीति.**

॥ पिप्पलायन उवाच ॥

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य

यः स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ।

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन

सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥३५॥

परत्वं हि त्रिविधम्— (१)उत्कृष्टत्वं (२)भिन्नत्वं (३)नियन्तृत्वं च. तत्र (१)श्रैष्ठ्यं जगतः परमकर्तृत्वेन. (२)अवस्थात्रयसाक्षित्वं[३] मोक्षसमाधावपि अनुभूयमानत्वं; सत्त्वेन भिन्नत्वानुभव उक्तः. (३)देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणान्येव जीवस्य परिकरः, तदुज्जीवकत्वेन नियन्तृत्वम्. यद्यपि त्रिविधं परत्वं साधारणो धर्मस्तथापि भक्तिमार्गे भगवान् असाधारणो भवति. ततश्च तस्योत्पत्तिस्थितिप्रलयान् स्वयं करोति प्रवाहवैलक्षण्येन. अवस्थात्रये स्वयमेव सर्वहितकर्ता,

प्रकाशः

स्थित्युद्भवेत्यत्र. स्वमतेनेति, भक्तिमार्गीयसिद्धान्तेनेत्यर्थः. **परमकर्तृत्वेन** इति. मूले **अहेतु**पदेन न हेतुर्यस्येति तदर्थेन च मूलत्वबोधनात् परत्वं बोध्यम्. **साधारण** इति जीवसाधारणः. **असाधारण** इति. भक्तिमार्गे विशिष्टाद्वैतरूपाधिदैविकवादाद् "यस्यात्मा शरीरम्" (बृहदा.उप. ३।७) इति श्रुत्या जीवस्यापि भगवानेव नियामक इति तन्नियमनादेव जीवस्य देहाद्युज्जीवकत्वं, न स्वत इति असाधारणत्वम्. अतएव "परात्तु तच्छ्रुतेः" (ब्रह्मसूत्र २।३।४१) इत्यत्र जीवस्य भगवदधीनमेव कर्तृत्वं निर्धारितमिति तथा. तत्रापि भक्तानां निवेदितात्मत्वाद् एकदेशाभिमानमपि स्वयमङ्गीकरोतीति

१. तज्ज्ञापनाय. २. स्वरूपेणाह. ३. मोक्षे समाधौ.

समाधिमोक्षयोश्च यथासुखं च देहादीनां विनियोजकः. एतावता "विचिकीर्षितो मे" (भाग.पुरा. ११।२९।३४) इत्युक्तं भवति ॥३५॥

सम्बन्धिपक्षं निवारयति. तत्त्वेन ज्ञानं हि तत्. तत्र धर्मिज्ञानमशक्यमित्याह.

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूलम्
अर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥३६॥

नेति सम्भावनामात्रं, भगवद्विषयकं सर्वेषां वस्तुतस्तु ज्ञानं न सम्भवति, करणानामसमर्थत्वात्. "मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपं" (एत.उप. १।१।२), तेन प्रवाहलौकिकत्वेन[१] न ज्ञानम्. वेदव्यतिरिक्त-योगादयोऽपि सङ्गृहीताः. उतेति भिन्नप्रक्रमे, लौकिकाः. चक्षुरात्मेति बहिरन्तर्ज्ञानशक्ती, **प्राणेन्द्रियाणि** चेति क्रियाशक्तिः. चकाराद् देवतावर्गः. "पराञ्चि खानि"

प्रकाशः

विशेष इति तथेत्यर्थः. **प्रवाहवैलक्षण्येनेति**. प्रवाहे हि प्रकृतेरेव प्रकृतावेव यथायथम् उत्पत्त्यादयो, भक्तिमार्गे तु स्वस्मात् स्वस्मिंश्चेति तद्वैलक्षण्यं प्रकारेऽपि, तथा तेनेत्यर्थः. एवं भक्तिमार्गीयं परत्वं निरूप्य तन्मार्गीयां निष्ठामाहुः **एतावतेत्यादिना**. यथासुखं देहादिविनियोजकत्वे निवेदितात्मत्वसिद्ध्या[२] इत्यर्थः ॥३५॥

एवं स्वरूपतः परत्वेऽवगते कुत एवं निश्चय इति प्रमाणजिज्ञासा भवति, तन्निवृत्त्यर्थमाहुः **सम्बन्धीत्यादि**. **नैतदित्यत्र तत्त्वेन ज्ञानं हि तदिति**. उत्कृष्टसम्बन्धित्वेन ज्ञानं हि सम्बन्धिपरत्वमित्यर्थः. **प्रवाहलौकिकत्वेनेति**. यथा सामान्यलक्षणया ज्ञानलक्षणया च लोके जायते तथा "शब्द इति चेत् न" (ब्रह्मसूत्र १।३।२८-२९) इत्यादिसूत्रद्वयोक्तरीत्या **प्रवाहत्वेनालौकिकत्वेन** च शब्दात् मनसश्च सकाशाच्च न स्मृत्युक्तज्ञानमित्यर्थः. **सङ्गृहीता** इति, मनोनिरोधस्यैव योगत्वात् तथेत्यर्थः. ननु योगसाधितचक्षुषा[३] श्रुतिर्ज्ञानं वक्तीति कथं नेत्युच्यत इत्यत आहुः **पराञ्चीत्यादि**.

१. प्रवाहालौ-.	२. -सिद्धेः.	३. -षी.

(कठोप. ४।१) इत्यत्रापि सम्भावनाज्ञानमेव. विद्यमानस्य सम्बद्धस्य प्रकाशाभावोऽनुपपन्न इति तदर्थं लौकिकदृष्टान्तमाह. भगवत्तेजोव्यतिरेकाय **स्वा** इति. **अर्चिषो** ज्वालाः. वेदादपि इदमित्थतया ज्ञानं वारयति **शब्दोऽपीति**. वेदाद् भगवज्ज्ञानं त्रेधा सम्भवति— [1]स्वकरणत्वेन स्वबोधितकरणत्वेन स्वहेतुत्वेन च. तत्र क्रिया वा ज्ञानं वा काण्डद्वयार्थ इति तच्छेषत्वेनैव इतरनिरूपणाद्– अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्– स्वतन्त्रतया न [1]स्वकरणत्वेन निरूपणम्. विधिशेषत्वं वा ज्ञानशेषत्वं वा सर्वस्य वेदस्य[2] किन्तु अर्थार्थमुक्तं ब्रह्म भवति. स्वोद्गमहेतुत्वेन च. भगवति करणानि तु स्वत एव निषेधति "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति.उप. २।४) इत्यादिना, "को अद्धा वेद" (ऋक्संहि. १०।१२९।६) इति च, "वेदा अवेदा" (बृहदा.उप. ४।३।२२) इति च. तर्हि 'ब्रह्मविद्' इति किङ्करणकं ज्ञानम्? स्वकरणकमेवेति ब्रूमो. यदि ब्रह्म आविर्भवति[3] तदा न करणानां काचिच्छक्तिः. तथाज्ञानं तु पूर्वश्लोक एव निरूपितम्. आत्मानं च प्रदर्शयेद् इति स्वस्यापि वृत्तान्तकथनमात्रत्वं, न बोधकत्वम्. तथाच शब्दस्य व्यापारोऽस्ति, न बोधकत्वम्. करणनिषेधे कथं बोधकत्वमत आह **यद्वृत**[4]

प्रकाशः

अन्यथा "नायमात्मा" (कठोप. १।२।२३) इति श्रुतिः "नाहं वेदैः" (भग.गीता ११।५३) इति स्मृतिश्च विरुध्येतेति तथेत्यर्थः. **क्रिया वेत्यादौ** वाशब्दद्वयेन जैमिनीय-वैयासानुसारिभिः यथायथमेकस्य शेषित्वमुपगम्यत इति काण्डद्वयस्य तत्तन्मतेनैकवाक्यत्वं समर्थितम्. **अर्थार्थमिति**, फलार्थं विषयार्थं चेति यथायथं ज्ञेयम्. **करणानीति** ज्ञापकानीन्द्रियादीनि. **ब्रह्मविदिति**, "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति.उप. २।१) इति श्रुत्युक्तमित्यर्थः. **यदीत्यादि**, "तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" (कठोप. १।२।२३) इति श्रुतेरिति भावः. **पूर्वश्लोक** इति, "बहिश्चे"ति 'बहिः'पदेनेति शेषः. यदि न बोधकत्वं तदा "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" (बृहदा.उप. ३।९।२६) इति श्रुतिर्विरुध्येतेत्यत आहुस्**तथा** चेत्यादि. ननु निषेधावधित्वेनैव चेद्

१. स्वतन्त्रकरण-. २. लुप्तम्. ३. आविर्भवेत्. ४. यद्वृतेति.

इति. निषेधानां[1] सावधित्वाद् ब्रह्मनिरूपणे कुतो निवर्तेरन्निति वाक्यार्थापर्यवसानं स्यात्. "तमेव विदित्वा" (श्वेता.उप. ३।८) इति तु उपासनाकाण्डस्थितत्वात् तमेकमेव सर्वभावेनाश्रयेद् इत्युक्तं भवति. अन्यथा इतरविज्ञाने[2] न मोक्षः स्याद्; तच्चावश्यकम्. तस्माद् इदमित्थतया ज्ञानमेव नास्तीति न द्वितीयः पक्षः ॥३६॥

ज्ञानमार्गानुसारेण परत्वमाह **सत्त्वमिति.**

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥३७॥

प्रकाशः

ब्रह्मनिरूपणं, नेदमित्थतया, तदा– यथाकथञ्चिज्ज्ञानस्य निःसाधनानामपि सत्त्वात् सम्यग्ज्ञानस्यैव कारणतानिश्चयेन, श्रुत्या च तदभावे निश्चिते अन्यतः सुतरामभावात्– "तमेव" (श्वेता.उप. ३।८) इति श्रुत्युक्ता मोक्षकारणता ज्ञानस्य बाध्येतेति चेत्, तत्राहुस्**तमेवे**त्यादि. इदं वाक्यं श्वेताश्वतरस्थम्. अत्र चानूद्यमानज्ञानम् उपक्रमस्थामुपासनां स्वसाधनत्वेनापेक्षते. तत्रापि "तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्" (श्वेता.उप. १।१०) इति पूर्वमुक्तत्वात् सर्वभावेनाश्रयणरूपो मतः. तथाभावस्य बीजभूतकृपाधीनत्वाद् अत्रापि स्वकरणकमेव ज्ञानमभिप्रेयते मोक्षायेति न बाध इत्यर्थः. विपक्षे बाधकं तर्कमाहुर्**अन्यथे**त्यादि. **इतरज्ञानेने**ति साक्षात्कारभिन्नेनेत्यर्थः. **तच्चे**त्यादि. साक्षात्कारज्ञानं मोक्षार्थिन आवश्यकम्. यद्वा सर्वभावेनाश्रयणाभाव इतरविषयकज्ञाने विद्यमाने **मोक्षो न स्यादि**त्यर्थः. तदिति सर्वभावेनाश्रयणं, तथाच तदर्थं सावधारणमनुवदतीत्यर्थः. एतेन श्लोकेन "नायमात्मा" (कठोप. १।२।२३) इत्यादिश्रुतिः "नाहं वेदैः" (भग.गीता ११।५३) "भक्त्या त्वनन्यया" (भग.गीता ११।५४) इत्यादिस्मृतिश्च समर्थिता ॥३६॥

सत्त्वमित्यत्र. **परत्वमिति** त्रितयपरिच्छेदराहित्यरूपम्.

१. निषेधावधि-. २. इतरज्ञानेन.

ब्रह्मणो निष्ठा = शश्वत् सर्वत्र भानानुसन्धानम्. भासमानस्य वस्त्वन्तरत्वं वारयितुं ब्रह्मत्वविधानार्थमनुवदति. उद्भूतैर्गुणैर्ग्रथितं कार्योन्मुखं प्रधानं तद् **एकं** कार्यमित्यर्थः. तदनु क्रियाज्ञानाहम्मतिरूपं त्रिविधजीवोपाधिरूपं कार्यं द्वितीयम्. ततः क्रिया-ज्ञान-विषय-फलभेदेन चतुर्धा, मध्य उच्च-नीच-नियामकरूपत्रयं च —एतावानेव [१]सर्वशब्दार्थः. नामरूपयोरपि भानात् तस्य मूलम् अन्यद् भविष्यति इत्याशङ्क्याह **ब्रह्मैवेति**. माया भवेत् मूलं तथा सति असत्त्वाद् भानं न सम्भवतीति भावः ॥३७॥

स्मृत्यादिमार्गेण परमात्मनिष्ठामाह त्रिभिः. तत्र ह्यात्मपरमात्मनोर्न भेदः किन्त्वात्मन एव कालाद्यनभिभूतं रूपं परमात्मा. तस्य सदा अन्तःकरणे स्फुरणं तन्निष्ठा. तत्र– तद्भावनावता [२]तावता स्वभावत[२] आत्मनो दोषसम्बन्धे तत्त्वेऽपि तथात्वं स्यादिति– प्रथममैहिकदोषं दूरीकरोति **नेति**.

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेसौ
न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥

प्रकाशः

भानानुसन्धानम् इति भानपदेन तन्मार्गीयब्रह्मस्वरूपमुक्तं ज्ञेयम्. **त्रिवृदन्तस्य** व्याख्यानम् **उद्भूतगुणैर्ग्रथितमिति**. एतस्य व्याख्यानं **कार्योन्मुखं प्रधानमिति. कार्यमिति** प्रथमं कार्यम्. **त्रिविधजीवोपाधिरूपमिति**, स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपेण त्रिविधो यो जीवो उपाधिस्तद्रूपम्. **सदसच्च तयोः परमित्यस्य** व्याख्यानम् **उच्चनीचेत्यादि. तथा सतीत्यादि**. यन्मायिकं दृश्यते तत् सत्यप्रतिकृतिरूपमेव दृश्यत इति लोके सिद्धम्, अन्यथा खपुष्पमपि मायिकं दृश्येत. अतो मूलत्वं सत्यस्यैव रूपस्य वक्तव्यम् अतस्तत्रापि **ब्रह्मैव** मूलमिति भावः ॥३७॥

नात्मेत्यत्र. तावतेति, कालाद्यभिभूतत्वेनेत्यर्थः. **तत्त्वे** परमात्मत्वे.

---

१. लुप्तम्. २-२. लुप्तम्.

सङ्घाते जायमानानां भवति सन्देहः. तत्र भगवन्मार्गे ब्रह्मवादे च जन्ममरणौ स्तो, न त्वन्ये धर्मा, "अनित्ये जननं" (सुबो. २।६।का.१) "जन्म त्वात्मतया" (भाग.पुरा. ११।२२।३९) इत्यादिनिरूपणात्. स्मृतौ तु चत्वारोऽप्येते धर्मा न जीवस्य. तत्र हेतुः **सवनविद् व्यभिचारिणामिति.** बाल्य-कौमार-यौवनादि-देहानामपि आरम्भ्यारम्भकवादानङ्गीकारात्, वैजात्याच्च. अवस्थासहितानां बाल्यादिदेहानाम् उत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या. तत्र तेषां कालज्ञानमस्ति तन्न्यायेन जन्ममरणयोरपि भविष्यतीति हेतुत्वम्. संस्कारः परं नाधीयते. हीत्यनेन द्रष्टृदृश्ययोर्भेद उक्तः. हेत्वन्तराण्याह **सर्वत्रे**त्यादिचतुर्भिः पदैः. न हि व्यापकस्य जन्म सम्भवति, न वा नित्यस्य मरणम्. सर्वत्राविश्लेषवतो न हि वृद्धिः सम्भवति. न हि विद्धातोः क्षयः सम्भवति, तथात्वं च श्रुतेः (बृहदा.उप. ४।३।२२). सङ्घाते विद्यमानस्य कथमेवमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **यथा प्राणो** न जायते. तत्रापि सन्देहे दृष्टान्तान्तरमाह **यथेन्द्रियबलेन**

प्रकाशः

सन्देह इति, कालादिभिरभिभूयते न वेति सन्देहः. **जन्ममरणाविति** यथायथं समागमः. आत्मत्वेन विषयस्वीकारो जन्म, निर्गमः[१] कृतस्वीकारत्यागो मरणं जीवात्मनो अङ्गीक्रियते अतस्तथेत्यर्थः. जन्मादीनाम् आत्मधर्मत्वाभाव-हेतुत्वाभावः **सवनविद् व्यभिचारिणामि**त्यनेन. **व्यभिचारिणां** नानावस्थाक-देहानां योऽवस्थाकालस्तज्ज्ञातृत्वमात्मन उक्तम्. तत् कथमित्यतः साधयन्ति **बाल्येत्यादि.** तथा चारम्भवादानङ्गीकारात् पदार्थान्तरत्वं न वक्तुं शक्यं, वैजात्यात् तत्त्वमपि न वक्तुं शक्यम् अतस्तेषां विपरिणामरूपा उत्पत्तिरङ्गीकार्या. तदङ्गीकारश्च तत्कालज्ञानं विना न भवतीति **तेषां कालज्ञानमस्या**स्तीति निश्चितम्. तथा सति यथा वृद्धिक्षयकालो ज्ञायते तथा जन्ममरणकाल-ज्ञानमप्यस्यानुमेयम्. न च स्मृत्यभावात् नेति वाच्यं, स्मृतिजनकसंस्कारानाधानेन तदभावेऽपि जन्ममरण-ज्ञानोत्पत्तौ बाधकाभावात्, उपेक्षा-ज्ञानादौ व्यभिचारदर्श-नेन ज्ञानमात्रसंस्काराधायकत्व-नियमाभावात्. एवं सिद्धे व्यभिचारि-सवनवित्त्वे उत्पत्त्यादीनां नात्मधर्मत्वमिति सिद्धम्, सिद्धे च तस्मिन् परमात्मत्वमपि

१. निर्गमकृत-.

विकल्पितं सदिति. सत् सुवर्णादि **इन्द्रियबलेन** ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या वा नानाविकारं प्रापितमपि न जायते, सर्वदा तस्य सुवर्णत्वात्. [१]ब्रह्मणि वाचादिभिः विकारा एव जायन्ते, न तज्जायत इत्यर्थः ॥३८॥

एतादृशात्मास्तित्वे प्रमाणमाह **अण्डेष्विति.**

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥३९॥

देहान्तरसम्बन्धो जीवस्यास्तीति सिद्धम्. तत्र भोक्ता जीवः, कर्ता प्राणः. यदा जीव इन्द्रियाणि गृहीत्वा **तत्र तत्र** गच्छति तदा **प्राणो हि जीवमुपधावति. अविनिश्चिताः** स्वेदजाः क्षुद्राः. ततश्च सङ्घाताद् गमनं द्वयोरुक्तं भवति. तथाच सङ्घातभिन्नस्य न तद्धर्मसम्बन्ध इति भावः. सङ्घाताद् भेदे अनुभवमप्याह **सन्न** इति. आधिभौतिकात् निद्रयैव पृथक् कृतः, सुषुप्तौ पुनरिन्द्रियाहङ्कारयोरपि लयः. तदा स्थानाभावात् **कूटस्थो** भवत्यात्मा. भेदे हि ब्रह्मसकाशे गमनम्, अन्यथा स्वयमेव कूटवत् तिष्ठति. स तिष्ठतीत्यत्रास्माकमनुस्मरणं प्रमाणं "सुखमहमस्वाप्समि"ति. ततश्च सर्वदोष-रहितः कूटस्थ आत्मा सङ्घाते वर्तत इति सिद्धम् ॥३९॥

तस्य परत्वमाह **यर्हीति.**

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतो मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि ।

प्रकाशः

सिद्धमित्यर्थः. **वाचादिभिरित्यत्र** वाचाशब्द आबन्तो बोध्यः, "आपं चैव हलन्तानाम्" (सिद्धा.कौमु. अव्य.प्रक.अव्ययादाप्सुप.) इत्यनुशासनात् ॥३८॥

अण्डेष्वित्यत्र. ननु सुषुप्तौ "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त" (बृहदा.उप. ४।३।२१) इति श्रुतौ पुरीततिगतस्य परिष्वङ्गकथनात् कथं कूटस्थत्वम् इत्याशङ्कायामाहुः **भेदे हीत्यादि.** तथाच सापि पूर्वावस्थैवेत्यर्थः ॥३९॥

---

१. सुवर्णत्वाद् ब्रह्म वाचादिभिः.

तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं

साक्षाद् यथामलदृशोः सवितुः प्रकाशः ॥४०॥

अन्तःकरणे शुद्धात्मानुभवः परमात्मनिष्ठा. जगत्कारणविग्रहस्य भक्तिमार्गानुसारेण अन्वेषणे यत् प्रेम भवति तत् पुनः प्रवृद्धम् अन्तःकरणमलानि दूरीकरोति. भक्तेर्बहुफलत्वाद् **यर्हीत्युक्तम्**. ज्ञानार्थं यतमानस्यैतद् भवति सामर्थ्यविशेषयुक्तस्य आत्मविशेषस्य भक्त्या अन्तःकरणनैर्मल्यम्. वाक्यात् प्रतिसिद्धान्तसिद्धं वा. तन्मार्गे साधनाभावं सूचयति **यर्हीति**. विशुद्धत्वं, मार्जनेन तेजःसम्पादने तदर्थं च प्रेमै(/म्णै!)व स्फुरितं वा प्रतिबिम्बो वेति सन्देहे आह[१] **साक्षादिति**. तदवच्छेदेन तस्मिन्नाविर्भावे तेनैव ग्रहणम्. ननु जडेन तद्ग्रहणे विषयत्वं स्यात्, प्रतिफलितेन ग्रहणे न प्रत्यक्षत्वं स्फुरणमात्रत्वे न पुरुषव्यापार इति चेत्, तत्राह **यथेति**. चक्षुरप्याध्यात्मिकं रूपं; तथा प्रकृतेऽप्यलौकिकमप्राकृतम्. **सवितुरिति**, स्वत एवोद्गतस्य **प्रकाश** इति स्फुरणम् अपराधीनता च. चैतन्यानुसन्धानमित्यर्थः ॥४०॥

॥ राजोवाच ॥

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।

विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥४१॥

मार्गत्रयेणाश्रयं श्रुतवतो राज्ञः – कर्ममार्गे सर्वदा स्फुरणं – मार्गे विशेषेण

प्रकाशः

यर्हीत्यत्र स्फुरितं वेति आत्मतत्त्वमिति शेषः. **चक्षुरित्यादि**. "सूर्यश्चक्षुस्तथारूपं[२] ज्योतिषो न पृथग् भवेद्" (भाग.पुरा. १२।४।२४) इति वाक्यात् त्रयमेकम्. तत्रापि रूपतन्मात्रमेव ज्योतिरिति त्रयाणां रूपत्वेऽपि आध्यात्मिकं चक्षुरात्मकं रूपम् आधिदैविकं प्रकाशात्मकं रूपं गृह्णाति. प्रकृतेऽपि अलौकिकमप्राकृतं यत् चेतः तद् आध्यात्मिकं स्वाधिदैविकस्य अलौकिकाप्राकृतस्य आत्मतत्त्वस्य ग्राहकम्. अभेदस्तु ब्रह्मवादात् सिद्ध एवेति नोक्तदोष इत्यर्थः. चैतन्यानुसन्धाने पुरुषव्यापार इति भावः. **अनुसन्धानमनुव्यवसायः** ॥४०॥

---

१. लुप्तम्.　　२. दीपश्चक्षुस्वरूपं च इति पाठभेदेन - सम्पा.

श्रद्धावतो बहुधा जिज्ञासमानस्य प्रश्नः. प्रथमपाद एव प्रश्नः ; तस्य स्वमार्गानुसारेण फलनिर्णयमाह त्रिभिः पादैः. संस्कार-कर्मक्षय-मोक्षा ऐहिका-ऽऽमुष्मिक-गमनक्रमेण "अस्थि चैव तेन मांसं च यजमानः संस्कुरुते" (. । ।), "निर्वरुणत्वाय" (तैत्ति.संहि. ४।७।८) इति च, "विराजमभिसम्पद्यते" (तैत्ति.संहि. ७।११।१), "ब्रह्मार्पणम्" (भग.गीता ४।२४) इति च. तस्य निर्णयो मार्गान्तराविरोधेन ज्ञातव्यः ॥४१॥

किञ्च सन्देहान्तरमाह **एवमिति.**

एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वमपृच्छन् पितुरन्तिके ।
नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥४२॥

पूर्वं कर्मयोगे अल्पः सन्देहः स्थितः. त्यक्तकर्मणो दृष्ट्वा कृतः प्रश्नः (**पितुरन्तिके!**) परमिक्ष्वाकुसमीपे. ततः सन्देहः— कर्मयोग एवासमीचीनः, तेषामवक्तव्यो वा, सदोषे परित्यागभयं वा, "न बुद्धिभेदं जनयेद्" (भग.गीता ३।२६) इति वा? अतस्तत्र **कारणमुच्यताम्** ॥४२॥

कर्मनिर्धारेणैवास्यापि गतार्थत्वाद् एकस्यैवोत्तरमाह **कर्माकर्मेति.**

॥ आविर्होत्र[१] उवाच ॥

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥४३॥

सर्वे यज्ञा अस्मिन् प्रकटा भवन्तीति तथा[१]. आदौ कर्मणां त्रैविध्यं

प्रकाशः

कर्मयोगमित्यत्र संस्कारेत्यादि. संस्कारः शरीरस्थानां कर्मादीनां भौतिकानां गमनं क्रमेण भगवत्प्राप्तिः. तत्र प्रमाणम् **अस्थीत्यादिश्रुतिः.** द्वितीये **निर्वरुणत्वायेत्यादिः. वरुणो** पाशी ; निःपाशत्वायेत्यर्थः. तृतीये **ब्रह्मार्पणमिति** वाक्यम्. अत्रैव "ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्" इति कथनात् प्रमाजनकत्वम् ॥४१॥

कर्माकर्मेत्यत्र. आविः प्रकटं हूयतेऽस्मिन्निति होत्रं यस्मिन्नित्येतन्नाम-निरुक्त्या **आविर्होत्र**पदतात्पर्यमाहुः **सर्वे यज्ञा** इत्यादि. **वैदिकसमधिगम्या**

१. आविर्होत्र इति सञ्ज्ञेत्यर्थः.

प्रमाणं[१] चाह. विषयो भिन्नो— लौकिको वैदिकश्च. तत्र लौकिकाः प्रत्यक्षादिसमधिगम्या, वैदिकास्तु [२] वैदिकसमधिगम्याः. तत्र शब्दमूलानां न प्रत्यक्षादिबाधकत्वम्. समानशब्देषु सन्देहः, तत्रापि दध्यादिवद् भेद एव. प्रकृते तु **कर्माकर्मविकर्मेति** विहितं निषिद्धं विहिताकरणरूपं च. (**वेदवादो !**) [३] वेदैकप्रसिद्धोऽयमर्थो **न लौकिकः**. तत्र वेदे परम्परया शब्दार्थनिर्धारेऽप्यभिप्रायः सन्दिग्धः. न च सन्दिग्धप्रमाणको, न वा तथात्वं दोषः. **वेदस्त्वीश्वरः** स्वात्मानं वदति. तत्राभिप्रायसन्देहात् स्वभ्रान्त्या प्रतीतेऽर्थे वेदतात्पर्यवादिनः परस्परमतानुसन्धानेन मुग्धा[४] भवन्ति. तस्माद् वेदनिर्धारार्थे न कल्पना युक्ता ॥४३॥

प्रकाशः

इति, वैदिकपदवाक्यसमधिगम्या इत्यर्थः. **शब्दमूलानामिति** धर्मदेवतास्वरूप-कर्मप्रभृतीनाम्. **समानशब्देष्विति** व्रीहि-पुरोडाशादिषु. **तत्रापि दध्यादिवदिति.** समानशब्देष्वपि "यथेन्द्रस्य वृत्रं जघ्निष इन्द्रियं वीर्यम्" (. । ।) इत्यनुवाके दध्नः स्वरूपं सिद्धं, यथाच "अपश्यन् पुरोडाशं कूर्मभूतम्" (तैत्ति.संहि. २।६।३।३) इत्यत्र पुरोडाशस्य तादृश्यं न लोकसिद्धमत आकृतितौल्येऽपि भेद एव व्रीह्यादावववगन्तव्य इत्यर्थः. इदं "शब्द इति चेन्न" (ब्रह्मसूत्र १।३।२८) इति सूत्रभाष्ये व्युत्पादितम्. **परम्परयेति,** "तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा" (भाग.पुरा. ११।१४।५) इति वाक्यात्. **सन्दिग्ध** इति, "तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात् श्रुत्यर्थो बहुधोदित" (त.दी.नि. २।२०) इति वाक्यात्. **न चेत्यादि,** "नान्यो मद्वेद कश्चन" (भाग.पुरा. ११।२१।४२) इति वाक्यात्. **तथात्वमिति** सन्दिग्धाभिप्रायकत्वम्. भगवता तदर्थस्य कथनात् **तथात्वं दोषो** नेत्यर्थः. **स्वात्मानं वदतीति,** "मां विधत्ते" (भाग.पुरा. ११।२१।४३) इति वाक्यादित्यर्थः. "शाब्दस्य हि ब्रह्मण" (भाग.पुरा. २।२।२) इत्यत्रापीदमेव प्रतिपादितम्. **तत्राभीत्यादि.** तेन "आदित्यो यूप" (तैत्ति.ब्रा. २।१।५।२) इत्यादौ गौण्यपि व्यवहारार्थमेव कल्पिता. **मुग्धा** इति. कर्मण्येव तात्पर्यं, लोका एव फलानीत्यादि च. सिद्धमाहुस्तस्मादित्यादि ॥४२॥

१. प्रामाण्यम्. २. वेदैक-. ३. वैदिक-. ४. न मुग्धाः.

तत्र स्वमतेनाभिप्रायं वर्णयति **परोक्षेति.**

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥४४॥

अयं कर्मप्रतिपादको **वेदः** फलांशे **परोक्षवादः** कर्माभावसाम्याद् वदति, फलभोगदशायां कर्माभावात्. अन्यथा फलांशे लौकिकं स्यात्. वस्तुतस्त्वलौकिका एव पश्वादयोऽपि इत्यवोचाम. **बालानुशासनपरत्वे** तु तुल्यता, लौकिकस्येष्टत्वात्. मोक्षश्च फलानां मुख्यः. "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत

प्रकाशः

परोक्षवाद इत्यत्र **तत्रेति.** तर्हि को वा वेदार्थ इत्याकाङ्क्षायामित्यर्थः. **वदतीति,** फलं वदतीत्यर्थः. ननु परोक्षवादत्वे प्रत्यक्षार्थपरित्यागेन स्वार्थत्यागोऽन्यार्थकल्पना च प्रसज्ज्येतेति नैवमुचितमित्यत आहुर**न्यथे**त्यादि. तथाच अनधिगतार्थगन्तृत्वस्य प्रमाणलक्षणत्वात् लोकानधिगतार्थगन्तृत्वस्य तदर्थत्वात् फलांशे वाक्यस्यानुवादकत्वेन प्रामाण्यं हीयेत. एवं न प्रामाण्यहानिरत इदमुचितम्. अन्यथा "इमामगृभ्णन्" (तैत्ति.संहि. ५।१।२) इति मन्त्रवर्णेनैव प्राप्तत्वाद् गर्दभरशनात्यागोऽपि "अश्वाभिधानीमादत्त" इति विधेस्तात्पर्यगोचरत्वेन कल्प्येत! अतो नायं दोष इत्यर्थः. नन्वेवं सति "वायव्यं श्वेतमालभेत" (तैत्ति.संहि. २।१।१) इत्यादौ पशूनां लौकिकत्वात् तदंशस्यापि तथात्वापत्तिरतो धर्माधर्मांश एवालौकिकत्वं नान्यत्रेति नोक्तदूषणमिति चेत्, तत्राहु**र्वस्तुत** इत्यादि. **अवोचामेति,** भाष्य इति शेषः. ननु एवमाग्रहे बालानाश्वासात् प्रवृत्तिभङ्गे अननुष्ठानलक्षणाप्रामाण्यापत्तिरिति न पूर्वोक्तं साधीय इति चेत्, तत्राहु**र्बाले**त्यादि, **तुल्यतेति,** तव मतमस्माकमपि सम्मतमित्यर्थः. तर्हि तानि फलानि कुतो नाङ्गीक्रियन्त इत्याकाङ्क्षायामाहु**र्मोक्ष** इत्यादि. विश्वजिति यथा "स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशेषाद्" (जैमि.सूत्र ४।३।७।१५) इति स्वर्गः सर्वेप्सितत्वेनाङ्गीक्रियत एवं ततोऽप्यधिकत्वेन मोक्षं फलत्वेनाङ्गीकृत्य तत्र विश्वासार्थं काम्यानि, तत्रापि विश्वासाय कारीर्यादीनि वदन् बालान् मोक्षोन्मुखान् करोतीत्यर्थः. नन्वस्तु परोक्षवादत्वं, बालानुशासनत्वे किं मानमत आहुर**ष्टे**त्यादि. तथाच अध्यापनविधेरर्थग्रहणार्थत्वात् तस्य च कर्मार्थत्वात्

तमध्यापयीत" (द्रष्ट. याज्ञ.स्मृ. कालक्रीडा) इति [1]बालानामनुशासनत्वम्. फलविचारे क्रियमाणे नालौकिकत्वेन समाधानं किन्तु सुख-दुःखाभावाभ्याम्. तथाच ब्रह्मात्मसुखस्य फलत्वे "सर्वेहोपरतिस्तनुः" (भाग.पुरा. ७।१३।२६) इति न्यायेन स्वाभाविककर्मणां निवृत्तिरपेक्षिता, अन्यथा वेदस्य वैयर्थ्यापत्तेः. यथा रोगाधिकारे प्रवृत्त आयुर्वेदस्तथा संसाराधिकारे वेदः. अतो वैदिककर्मणा स्वाभाविककर्माणि निवर्तन्त इति सिद्धम् ॥४४॥

अकरणे बाधकमाह नेति.

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥

प्रकाशः

कर्मणश्च सपरिकरस्य फलार्थत्वात् सर्वस्य तथात्वमित्यर्थः. ननु बालानुशासनत्वे मोक्षार्थप्रवृत्तिर्न भवित्री, अलौकिकत्वेन तत्र विश्वासदौर्घट्यादिति चेत्, तत्राहुः **फलेत्यादि**. तथाच वस्तुतोऽलौकिकत्वेऽपि तेन चित्तसमाधानासम्भवादेव तदीप्सितं सुख-दुःखाभावरूपत्वं वदति, नतु तस्मिन् वेदस्य तात्पर्यमित्यर्थः. नन्वेवं सति **कर्ममोक्षायेति** कथमुक्तमित्यत आहुस्**तथा चेत्यादि**. अत्र युक्तिमाहुः **अन्यथेत्यादि**. लौकिककर्मनिवृत्त्यभावे सर्वेहोपरत्यभावात्, तदभावे च ब्रह्मसुखाभावात् तथेत्यर्थः. ननु कथमिदमवगन्तुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तमाहुर्**यथेत्यादि**. एवं च "वेदः स्वाभाविककर्मनिवृत्त्यर्थकप्रवृत्तिः, नियतकर्मविधायकत्वाद्, यदेवं तदेवम्, आयुर्वेदवद्" इत्यनुमानाद् एतदवगन्तव्यमित्यर्थः ॥४४॥

नाचरेदित्यत्र. ननु यदि कर्ममोक्षार्थकत्वं वेदस्य तर्हि "न हिंस्याद्" (छान्दो.उप. ८।१५।१) इतिवत् निषेधत्येव कुतो नेत्याकाङ्क्षायां रोगिणा औषधोपयोग-पथ्यादिकरणवद् इदमपि संसारिणा तदर्थं कार्यम्. यथा न सर्वे रोगा लङ्घनसाध्या इति तदर्थं यथा औषधानि आयुर्वेदे, एवं सर्वेषां कर्मापि नैकरूपमिति न कर्मनिषेधमात्रात् सर्वेषां तन्निवृत्तिः अतो विधत्त इत्याशयेन संसारिणा तदकरणे बाधकमाहेत्याहुर्**अकरण** इत्यादि. पूर्वार्धेनैव

---

१. बालमनुशा-.

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" (भग.गीता ४।३७), "चित्तवृत्तिनिरोधो योगः" (पातं.यो.सूत्र १।२) च ; उभयाभावे वेदोक्तकर्माभावे च मृत्वा पुनर्मृत्युमापद्यन्ते. "अर्द्यमानाः स्वकर्मभिः" (. । ।) इति न्यायेनानिष्टफलं स्यात्. स्वाभाविककर्मणां कथं पारलौकिकानिष्टफलत्वं ? तत्राह **विकर्मणा ह्यधर्मेणे**ति ; आज्ञोल्लङ्घनमधिकोऽयं दोषः अधिकारिणः सर्वथा अधर्मत्वे[१] हेतुः. स्वाभाविककर्मणां तु मृत्युप्राप्त्यनन्तरं जन्म, अत्र तु यातना भुक्त्वा पुनर्मरणमिति विशेषः ॥४५॥

ननु वेदोक्तकर्मकरणेऽपि न निस्तारः – स्वाभाविकानामपि विद्यमानत्वाद् औषधापथ्यवत्[२]. सङ्गदोषाश्चान्ये. तथा [३]करणदोषाः. फलवाक्यानि च बाधकानि. श्रुतिलिङ्गयोर्हि श्रुतिर्बलीयसी, समुच्चयो वा फलयोः. तथाच बहुबाधकानां विद्यमानत्वाद् व्यर्थः प्रयास – इति चेत्, तत्राह **वेदोक्ते**ति.

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्थं फलश्रुतिः ॥४६॥

वैदिको भूत्वा कर्मकरणे वैदिकमेव कुर्याद् यजनयाजनादिभिः ;

प्रकाशः

निर्वाहे सत्यपि यत् तृतीयपादे **विकर्मणा ह्यधर्मेणे**त्युक्तं तत्सूचितमर्थमाहुः **आज्ञे**त्यादि ॥४५॥

वेदोक्तमित्यत्र. **करणदोषा** इति आन्ध्य-पङ्गुत्वाद्या अर्थाज्ञानादयश्च. बाधकत्वे युक्तिमाहुः **श्रुती**त्यादि. कर्माभावसाम्यलिङ्गेन "कर्ममोक्षार्थं कर्म कुर्याद्" इति श्रुतिकल्पनाप्रसङ्गेन प्रत्यक्षश्रुतिस्तस्माद् बलीयसीत्यर्थः. ननु "आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलाबलम्" (द्रष्ट. लौ.न्या.सा. ७४४) इति न्यायाद् नायं दोष इति चेत्, तत्राहुः **समुच्चय** इत्यादि. अन्यथा प्रत्यक्षश्रुतेरानर्थक्यं स्यादित्यर्थः. **तत्राहे**ति, एवमाशङ्किते तद्दोषोद्धारप्रकारमाहेत्यर्थः. **यजनयाजनादिभि**रिति, यजनेन स्वाभाविकत्यागं, याजनादिभिः यथायोग्यं यजनादिरूपं वैदिकं कुर्यादित्यर्थः. ननु वैदिककरणे शिष्टे काले स्वाभाविकमपि भवतीति वैदिकमात्रकरणेऽपि न निस्तार इत्यत आहु**रकरणे**त्यादि.

१. अधर्महेतुः. २. औषधपथ्यवत्. ३. करणे दोषाः.

अकरणकालेषु **निःसङ्गः**. उपक्रमविरोधात् न मानसः. **अर्पितमेव** करोतीति न साधनवैगुण्यम्. वेदाभिप्रेतार्थकरणात् **सिद्धिं** प्राप्नोति. तथाप्यभिप्रेतानां फलानां कथमभावः? तत्राह **रोचनार्थं** रुच्युत्पादनार्थं बहूनि फलानि वेदे बोधितानि, नतु तत्र तात्पर्यम्. कर्तुः फलाभिसन्धानाभावे न भविष्यतीति भावः ॥४६॥

एवं वैदिककर्मयोगनिर्धारमुक्त्वा सुगमसर्वजनीन-तान्त्रिककर्मनिर्धारमाह **य** इति.

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥४७॥

लौकिकस्यानर्थस्य लौकिकैरेव निवृत्तिर्युक्तेति साङ्ख्यादयः सिद्धान्ताः प्रवृत्ताः. तत्रापि **(आशु!)** शीघ्र**हृदयग्रन्थि**विभेदको वैष्णवः. **परात्मनो विधिना** न विभूत्यादिभजनप्रकारेण. केवलपुष्टिमार्गेणेत्यर्थः. तत्राशक्तौ **तन्त्रोक्त**प्रकारेणापि कृष्णमेव भजेत्. अथ वा समुच्चयो मर्यादया. उभयथापि पुष्टिमार्गस्थितत्वात् **केशवमेव** भजेत् ॥४७॥

मार्गान्तरविरोधाभावं वदन् भजनप्रकारमाह **लब्ध्वे**ति.

लब्ध्वानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः ।

प्रकाशः

तथाच सङ्गाभावे तदीयदोषासंसर्गात् सुखेन निस्तार इत्यर्थः. ननु जरामर्याऽग्निहोत्रादिरूपो मानसोऽपि यागः सम्भवतीति तमेव कुतो न कुर्यादित्यत आहुरुपेत्यादि. परोक्षवादश्लोके बालानुशासनत्वकथनेन बाह्यस्यैवोपक्रान्तत्वात् सोऽत्र नाभिप्रेत इत्यर्थः. ननु सङ्गाभावेऽर्थित्वाभावेन कर्मानधिकारात् साधनवैगुण्ये कर्मवैयर्थ्यमापद्येतेत्यत आहुर**र्पित**मित्यादि ॥४६॥

य इत्यत्र. **साङ्ख्यादय** इति साङ्ख्यं योगः पाशुपतं वैष्णवं चेति चत्वारः. वैष्णवत्वेऽप्याशुत्वाय विशेषमाहुः **परे**त्यादि. **विभूत्यादी**ति. तथा सति पशुपतिमततुल्यत्वं, विभूतित्वाविशेषाद् इति भावः. **तत्रे**ति कर्मणि हृदयग्रन्थिभङ्गे वा. मूलस्थस्य **चकारस्य** तात्पर्यमाहुर**थ वे**त्यादि ॥४७॥

महापुरुषमभ्यर्चेत् मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥४८॥

दीक्षायाम् अन्याधिकारो निवर्तते. **अनुग्रहस्य** प्राप्तत्वात् न देवताविरोधः. उपनयनादिकर्ता **आचार्यः**; तदनुग्रहात् न वेदविरोधः. **अन्येनावरुद्धेनान्यस्य** विकर्मत्वं; स्वयं करणे हि सर्वत्र दोषः. **आचार्या** भगवन्मार्गस्था वा. उद्देश्ये फले न कर्मणामुपयोगः. कर्तृसंस्कारस्तु अन्यथापि भविष्यति. **आश्विति**वचनात् न परलोकबाधकत्वम्. अहङ्कारग्रन्थिनिवृत्तौ मुक्तिरिति सर्वमतसाधारणं फलम्. आचार्येणाप्यागम एव पञ्चरात्रादिः प्रदर्श्यते. **महापुरुषः** श्रीकृष्णः. (**आत्मनः** !) **अभिमतया मूर्त्या** प्रकारसहस्रमध्ये नवनीतचौर्यादि-रूपेषु स्वभावो नियामकः ॥४८॥

प्रकाशः

लब्ध्वेत्यत्र. ननु वेदानधिकृतानां तन्त्रेऽधिकार इति प्रसिद्धेः केवलतन्त्रानुसरणे वेदविरोधाद् वैदिकस्य दोषः स्यादित्यत आहुर्**मार्गे**त्यादि. विरोधाभावप्रकारमाहुः **दीक्षाया**मित्यादि. तथाच उपदेशे गृहीतेऽन्याधिकारो न निवर्तते अतो दीक्षापक्षे मार्गान्तराधिकारात् न दोषः इत्यर्थः. **अनुग्रहस्ये**त्यादि. तथाच "हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता" (. । ।) इति वाक्यात् तदनुग्रहे भगवानप्यनुकूलो भवतीति किं वाच्यं देवान्तरविरोधस्येत्यर्थः. अत एव न वेदविरोधोऽपीत्याहु**रुपनयने**त्यादि. स कथं नेत्यत आहु**रन्येने**त्यादि. तथाच अनुग्रहेण वेदविरोधे निवृत्ते तदुक्ताकरणस्य न दोषावहत्वमित्यर्थः. एतदेव विशदयन्ति **स्वय**मिति. तथाच तदाज्ञया तथाकरणे दोषो न इत्यर्थः. ननूपनयनादिकर्तुः अन्यमार्गीयत्वे तदनुज्ञयापि न निर्वाह इत्यत आहु**राचार्या** इत्यादि. तथाच तदाज्ञया तथाकरणे दोषसम्भावनापि नेत्यर्थः. किञ्च वेदे अर्थित्वमधिकारिविशेषणं, तद् यस्य यत्र नास्ति तन्न कार्यं, यथा स्वर्गेप्सोः चित्रेष्टिः, प्रकृतस्य तत्फलत्वेनाश्रुतत्वात् तदर्थिनस्तेषामनुपयोगात् तदकरणे कथं दोषः स्यादित्याशयेनाहु**रुद्देश्य** इत्यादि. ननु कर्तृसंस्कारार्थं "दतो धावती"तिवद् अपेक्ष्यत इति चेत्, तत्राहुः **कर्त्रि**त्यादि. **अन्यथेति**, तान्त्रिकादपीत्यर्थः. ननु वैदिकस्याकरणे अनिष्टममुष्मिन् स्यादित्याशङ्कायां नेत्याहु**राश्वि**त्यादि. अत्र सर्वसम्मतिरित्याहु**रह**मित्यादि. नन्वाचार्यः स्वत एव चेद् वदेद् तदा आन्ध्यपरम्परा स्यादित्याहु**राचार्येणा**पीत्यादि ॥४८॥

पूर्वोक्तदोषाभावाय कर्तृशुद्धिमाह शुचिरिति.

शुचिः सम्मुख आसीनः प्राणसंयमनादिभिः ।
पिण्डं विशोध्य सन्यासः कृतरक्षोऽर्चयेद् हरिम् ॥४९॥
अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः ।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥५०॥
पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः ।
हृदयादिकृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥५१॥

शौचं स्मार्तम्. **सम्मुख आसीनः** प्रतिमायाः. **आदिशब्देन** भूतशुद्धिप्रकारा उक्ताः. न्यासेन देवताऽऽवाहनं, रक्षायां बाधकनिवृत्तिः. **हरिं** न प्रतिमाम्. अत एवाधिकरणस्यावस्थां[1] वदन् मध्ये व्युत्थानाभावायाह

प्रकाशः

शुचिरित्यत्र. पूर्वोक्तेति, कर्तृसंस्काररूपेत्यर्थः. **स्मार्तमिति**, ब्राह्मउत्थान-हरिस्मरण-मृच्छौच-दन्तधावन-स्नानाचमन-तिलकमालाधारणादिरूपम्. तथाच तावता न स्मृतिविरोध इत्यर्थः. **भूतशुद्धिप्रकारा** इति. "शरीराकारभूतानां भूतानां यद् विशोधनम् [2]अव्ययब्रह्मसम्पर्काद् भूतशुद्धिरियं मता" (गौरीविलय ५।६३). तत्प्रकाराश्च रामार्चनचन्द्रिकादिभ्यो अवगन्तव्याः. ते च भूतशुद्धिप्रकारा आप्लावनादयः. **न्यासेनेत्यादि**. "स्वस्माद्[3] रामाद् माया ह्युत्पन्नालिमातृका स्वकार्यायास्तस्या न्यासः प्रकीर्त्यते" (. । ।) इत्यादिप्रकारेण तेषां तेषां तत्र तत्र स्थापनं न्यासः; तेन मातृकादिदेवतानां शरीर **आवाहनं** कृत्वेत्यर्थः. **रक्षायामिति**, तत्तन्मन्त्रैर्दिग्बन्ध इत्यर्थः ॥४९॥

अर्चादावित्यत्रात एवेत्यादि. भूतशुद्ध्यादेरावश्यकत्वादेव **अधिकरणस्य** प्रतिमादेरवस्थां शोध्यत्वरूपां **वदन्** अर्चन**मध्ये** विरुद्धबुद्धिव्युदासाय तेषां शुद्धिकरणमाहेत्यर्थः. पूजनात् प्रागेव **द्रव्याणि** पुष्पाक्षतादीन् जन्त्वादिशोधनेन, **क्षितिं** सम्मार्जनोपलेपादिना, **आत्मानमव्यग्रत्वेन**, **लिङ्गं** मूर्तिं स्नानानुलेप-क्षालनादिना **निष्पाद्य** पूजायोग्यानि कृत्वा **हरिमर्चयेदिति** पूर्वेण सम्बन्धः ॥५०॥

---

१. अधिकरणस्याव्यवस्थाम्. २. अव्यक्तब्रह्म-. ३. शोध्यमेतत्.

अर्चेति. स्पष्टम्. अन्तरङ्गप्रकारमाह **पाद्येति**. **आदिशब्देन** अर्घ्याचमनीयादि. **अथ** भिन्नप्रक्रमेण विधानेन प्रवृत्तः. **सन्निधापनादिति** मुद्रया देवतासन्निधानं कृत्वा ततः (**समाहितः!**) सावधानः ततो **हृदयादिकृतन्यासः** स्वस्मिन् ध्यानेन **मूलमन्त्रेण चार्चयेत्** ॥४९-५१॥

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्त्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥५२॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिः धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद् हरिम् ॥५३॥

साङ्गेति. अङ्गानि चरणादीनि, उपाङ्गानि चक्रादीनि, पार्षदाः सुनन्दादयः. एवं **साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां** हृदये पूजयेदिति पूर्वेण सम्बन्धः. तामित्याद्युत्तरत्र पूर्वोत्तरपादद्वयमर्धमाह **साङ्गेति**. **तां** पूर्वोक्तप्रकारेण हृदयपूजितां **मूर्त्तिरूपां** बाह्यां कृत्वा **नमेदिति** सम्बन्धः. कथमेवमत आह **स्वमन्त्रतः**. आन्तरस्य बाह्यत्वं मन्त्रवशाद् भवति. **मन्त्रतस्तां मूर्त्तिमित्युद्देश्यविधेयभावः**. पूजाक्रममाह **पाद्येति** सार्धेन. **आदिशब्देन** मधुपर्काभ्यङ्गाद्यैः. अक्षता माला, कुङ्कुमाक्षता वा. नमनं क्रियासमाप्तिसूचकम्. स्तोत्र-नमने न पूजायां प्रविशत इति क्त्वाप्रयोगः. त्रयं भिन्नमिति वा ॥५२-५३॥

अनेवंविधेन तस्य पूजा न कर्तव्येति कर्तृनियममाह **आत्मानमिति**.

प्रकाशः

पाद्येत्यत्र हृदयादीति. "हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा" इत्यादिरूपं षडङ्गं न्यासं कृत्वा. **स्वस्मिन् ध्यानेनेति**. **अर्चादौ हृदये चापीति** स्थूलरूपे पूजाया उपक्रान्तत्वात् **स्वस्मिन्** हृदये **ध्यानेन मूलमन्त्रेणेत्यर्थः** ॥५१॥

भावद्रव्यैर्हृदय इव बाह्यद्रव्यैरर्चायां पूजा कर्तव्येत्याशयेनाहुस्**तामित्यादि**. **उत्तरत्रास्य** सम्बन्ध इत्यर्थः. सम्बन्धप्रकारमाहुः **पूर्वेत्यादि**. **अर्धं** कर्म **पूर्वोत्तरपादद्वयं** स्वसम्बद्धमाहेत्यर्थः. व्याकुर्वन्ति **तामित्यादि** ॥५२॥

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्त्तिं सम्पूजयेद् हरेः ।
शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥५४॥
एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।
यजन्नीश्वरमात्मानमचिरात् मुच्यते हि सः ॥५५॥
॥ इति श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धे तृतीयोध्यायः ॥

स्वस्वरूपं भगवद्रूपं भावयन्, भगवता व्याप्तं वा. मूर्त्तौ भगवदागमोऽस्ति[१] नतु स्वस्मिन्निति ज्ञापयितुं निर्माल्यं **शिरस्याधाय** हृदय **उद्वास्य** तत्र पुनः [२]**सत्कृतमात्मानं तन्मयं ध्यायन्**निति सम्बन्धः. आत्मनि सर्वदा मन्त्रसम्बन्धात् नियतत्वम् ॥५४॥

एवं स्थलान्तरेऽपि पूजां वदन् फलमाह **एवम्**इति. आदिशब्देन ब्राह्मणादिः, **हृदये चे**ति द्विरूपता. भगवतो द्विरूपत्वं प्रतिपादयति (**ईश्वरमात्मानं**!) सामर्थ्यमावश्यकत्वं च. **यजन्**नित्यन्तपर्यन्तं सन्ततिरुक्ता. **ही**ति प्रमाणानुसन्धानं "सकृदिष्ट्वापि[३]" (. । ।) इत्यादि. अन्ते स्वरूपस्थित्यर्थं **स** इति ॥५५॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां (श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज) श्रीमद्वल्लभदीक्षित-विरचितायाम् एकादशस्कन्धविवरणे तृतीयाध्यायस्य विवरणम् ॥

प्रकाशः

आत्मानमित्यत्र **निर्माल्यमि**त्यादि. अपगते ततो माल्यादेर्निर्माल्यत्वं; तेन तज्ज्ञाप्यत इत्यर्थः ॥५४॥

॥ इति श्रीएकादशस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे तृतीयाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

---

१. भगवदपगमो-. २. संस्कृत-. ३. सकृद् दृष्ट्वापि.

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

माया-तत्तरण-ज्ञान-कर्म-निर्णय-बोधनैः ।
शुद्धचित्तः शुद्धलीलां हरेः पृच्छति मुक्तये ॥(१)॥
तृतीयेयं समाख्याता कक्षा हरिकथा सदा ।
श्रोतव्येति यतश्चित्तं सर्वथा तत्परं भवेत् ॥(२)॥

॥ राजोवाच ॥

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥१॥

यानीति. कालभेदेन करणभेदेन स्वरूपवैजात्येन **यानि** भिन्नानि तानि कथयेत्यर्थः. तत्तत्काले कृतानि तत्तत्कालकृत-दोषनिवर्तकानि भवन्ति, तत्तज्जन्मकृतानि तादृशजन्मवतां निवर्तकानि, **कर्माणि** च सजातीयकर्मकृत-दोषनिवर्तकानीति भेदप्रश्नादवगम्यते. **स्वच्छन्देति** कर्मनिर्बन्धनिराकरणं, भक्तेच्छा वा ॥१॥

अलौकिकनामा उत्तरं वदन् सर्वकथनमशक्यमित्याह **य** इति.

॥ द्रुमिल उवाच ॥

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्
अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलसत्त्वधाम्नः ॥२॥

प्रकाशः

चतुर्थाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिमाहुर्मायेत्यादि. तथाच एककार्यत्वं निर्वाहकत्वं वा सङ्गतिरित्यर्थः. पूर्वोक्तैः कार्यसिद्धौ किमनयेत्यत आहुस्तृतीयेति. तृतीया सर्वानुकल्परूपा साधनभक्तिरूपा वा. तथाच निर्वाहकत्वादावश्यकेत्यर्थः (१-२).

यानीत्यत्र भेदप्रश्नादिति, भेदेन त्रयाणां प्रश्नादित्यर्थः ॥१॥

एते[१] कालविलम्बान् न वदन्ति, अन्ये वक्ष्यन्तीति भ्रमं वारयति. **अन्तो** नाशः परिच्छेदो वा, **अनन्तो** देशकालापरिच्छिन्नः. अपरिमितब्रह्माण्डेषु अपरिमितब्रह्मकल्पेषु चैकस्मिन् ग्राम एकस्मिन् दिवस एकमपि कर्म गणयेत् तदा जन्मनां कोटिः समाप्येत! किञ्च गुणास्तु ज्ञान-कृति-भेदप्रकाशका, यथा वेदादिविद्याः शिल्पादिविद्याश्च. तत्रैकयापि विद्यया यद्येकं[२] कार्यं कुर्यात् तथाप्यानन्त्यम्! तिष्ठतु कर्मणां वार्ता, कारणभूतगुणानामपि गणनाऽशक्या. **अनन्त**शब्दः सङ्ख्यापरिच्छेदमपि वारयति. गुणानां कर्मत्वेन गुणा एव गणनीया, नतु स्वोपयुक्तत्वेन. अतो व्याघातानुसन्धानाद् **बालबुद्धिः**. बुद्धिग्राह्यसङ्ख्यावत्त्वं बहूनाम् अन्तता; तदभावोऽनन्तत्वम्. अत एतावत्त्वाभावाद् ज्ञानमेव नास्ति; वचनं दूरापास्तम्. नन्वशक्त्या तथात्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह[३] **रजांसी**ति. सूक्ष्मा दृश्या एव कणा रजःशब्देनोच्यन्ते. ते परमाणुशतेन भवन्तीति प्रसिद्धिः. तत्कोटिर्गुञ्जायां, ततः पञ्चाशत्कोटिरूपायां परं पुरुषभारा भवन्ति —एवं **कथञ्चिद् गणयेत्**. ननु अवताराः परिगणिता एव, गुणाश्चेति कथमेवमत आह **सर्वसत्त्वान्तर्यामिणः**. "तृतीयं सर्वभूतस्थम्" (सात्त्वततन्त्र ।) इति, "एकस्तृतीयः पुरुषावतारः" (. । ।). तत्र [४]प्रतिजीवप्रेरणायाम् आनन्त्यं गुणानाम् ॥२॥

अवताराश्चानन्ता इत्यवोचाम, तथापि त्रिकालानुगतान् अवतारान् वक्तुं प्रथमं सर्वावताराणां बीजं पुरुषावतारमाह **भूतै**रिति.

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानम्
अवाप नारायण आदिदेवः ॥३॥

यदा[५] **स्वांशेन विष्टस्**तदा **पुरुषाभिधानमवाप**ेति सम्बन्धः. **स्वांश** आनन्दांशः. श्रुतिकारणवादानुसारेण पञ्चमहाभूतानि भगवतैव सृज्यन्ते "एतस्माज्जायते प्राण" (मुण्ड.उप. २।१।३) इत्यादिना साक्षात्सर्वपक्षन्यायेन[६],

---

१. एतेन. २. यद्येककार्यम्. ३. भविष्यतीत्यत आह. ४. लुप्तम्. ५. यदि.

६. "एवं कदाचित् भगवान् साक्षात्सर्वं करोत्यजः" (त.दी.नि. १।३६) इति न्यायेन - सम्पा.

न साङ्ख्याद्यनुसारेण. स्वांशेन विष्टत्वे हेतुरत एव **विराजः** पुरत्वेन निर्माणम्. अस्मिन् कल्पे सर्वमात्मार्थमिति गम्यते. ''पुरः[१] पुरुष आविशद्'' (बृहदा.उप. २।५।१८) इति श्रुतेः पुरप्रवेशात् पुरुषत्वम्. उषधातुः प्रवेशार्थ इति **पुराशब्दाद् आसधातोः** पूःशब्दाद् **विशधातोः** वर्णव्यत्यास-संप्रसारण-षत्वैः इदं रूपमिति वेदविदः. असाधारणसृष्टिरेषा. मर्यादाभक्तिमार्गे **नारायणो** मूलभूतः. स न जलवासेन किन्तु **आदिदेवः** आदिकारणभूतोऽपि दैवमार्गप्रवर्तकः. **अभिधानमवापेति** वदन् कदाचिदेव पुरुषस्यावतारत्वमिति सूचयति ॥३॥

अस्य चरित्रमाह **यत्कायेति.**

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥४॥

[२]मुख्यपालनशक्तिरेषा शरीरेन्द्रियान्तःकरणप्राणैः सर्वपरिपालनं करोति, सर्वावतारबीजं च. **भुवनत्रयस्य सम्यङ्निवेशो यस्मिन् काये** लोकत्रयमपि पुत्रमिवाङ्गे स्थापयतीत्यर्थः. किञ्च **यस्येन्द्रियैः** अस्मदिन्द्रियदेवताविषयैः

प्रकाशः

भूतैरित्यत्र हेतुरिति. तेषां स्वसृष्टत्वं हेतुरित्यर्थः. **गम्यत** इति, अन्यथा जीवमेव तत्र प्रवेशयेदित्यर्थः. **नारायणो मूलभूत** इति, **नारायणपदं** मूलभूतवाचकमित्यर्थः. **अभिधानेत्यादि.** आप्तिकथनेन कादाचित्कत्वसूचनात् तथानि[३] (/हि!) यदा स्वयं न विशति सृजति च तदा पुरुषस्य जीवत्वं करणत्वं चेति तृतीयस्कन्धविरोधः[३] (भाग.पुरा. ३।९।२) (न!) ॥३॥

यत्काय इत्यत्र पुरुषावतारस्वरूपमाहुः **मुख्यपालनशक्तिरेषेति. सर्वावतारबीजमिति,** ''एतन्नानावताराणाम्'' (भाग.पुरा. १।३।५) इति प्रथमस्कन्धोक्तेरित्यर्थः. **पुत्रमिवेति. यस्येन्द्रियैरित्याकारकात्** लिङ्गाद् अङ्गात्

---

१. पुरं. २. मुख्या पालन-. ३-३. अत्र काचित् त्रुटिः प्रतिभाति.

तनुभृतां (उभय!)ज्ञानक्रियामयानि **इन्द्रियाणि**. आधिदैविकस्यैव उपाध्यनुप्रविष्टस्य आध्यात्मिकत्वमिति गोलकविनियोगः. इन्द्रियाणां तु विषयत्वं; हस्तेन दुग्धमिव पाययतीत्यर्थः. अन्तःकरणे विशेषमाह. **ज्ञानं स्वतः**, इन्द्रियत्वे तु पूर्वोक्त एव विनियोगः. स्वानुभवहेतुत्वे स्वस्य **स्वत** एव नित्यसिद्धं **ज्ञानम्**. ज्ञानरूपस्यात्मनो ग्रहणाशक्तौ अन्तःकरणप्रतिबिम्बितस्य ग्रहणं भवति ; तदत्र नास्ति, स्वतःसिद्धज्ञानेन सर्वान् भावयतीत्यर्थः. प्राणकार्यमाह **श्वसनतः** शरीरेन्द्रियशक्ती. साधारणं च कार्यम् आसन्यस्य चेष्टा, क्षुत्पिपासे च चेष्टया परिगृहीते. अवान्तरोत्पत्ति-स्थिति-प्रलयानाह **सत्त्वादिभिरिति**. तावन्मात्रत्वं निराकरोति **आदिकर्त्ते**ति ॥४॥

ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराणां तथात्वमाशङ्क्य एतदवतारत्वमाह **आदाविति**.

प्रकाशः

सम्भवतीति श्रुत्युक्तधर्मवत्त्वं सर्वेषामत्र बोध्यत इति तथेत्यर्थः. ननु तदिन्द्रियैश्चेद् अस्मदिन्द्रियाणि तदा तस्येव अस्माकमपि ज्ञानं तद्गोलकैरेव स्यात्, नतु अस्मद्गोलकमपेक्ष्येत इत्यत आहु**राधिदैविके**त्यादि. द्वितीयस्कन्धे ''आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोसावेवाधिदैविको, यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतौ ह्याधिभौतिक'' (पाठभेदेन भाग.पुरा. २।१०।८) इति कथनात् तथेत्यर्थः. ''रस एव जिह्वा'' (भाग.पुरा. २।१।३०) इति, ''स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व'' (भाग.पुरा. २।१।४) इति कथनाच्च अन्यमपि विशेषमाहुः **इन्द्रियाणामि**त्यादि. तथाच यथा स्वस्तन्यं स्वयं **हस्तेन पाययति** तथा स्वेन्द्रियाणि अस्मद्विषयरूपाणि करोतीत्यर्थः. **स्वत** इति, स्वस्मात् पुरुषावतारादभिन्नाद् अन्तःकरणादित्यर्थः. तस्य[१] भिन्नत्वे कार्यान्तरं तस्याहुरिन्द्रियेत्यादि. **पूर्वोक्तो** विषयत्वरूपः. एतेन एतदन्तःकरणस्य बन्ध-मोक्षौ कार्यावुक्तौ. पुनः कार्यान्तरमाहुः **स्वानुभवे**त्यादि. तेन कार्येण जीववैलक्षण्यं बोधयन्ति **ज्ञानरूपे**त्यादि. **चेष्टेति** **ईहा**पदोक्ता. **तावन्मात्रत्वमि**ति गुणद्वारकत्वं; गुणोत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्तृत्वात् तथेत्यर्थः ॥४॥

---

१. लुप्तम्.

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥५॥

अस्य परिदृश्यमानस्येति विसर्ग उक्तः. विसर्गस्योत्पत्त्यर्थमादौ **पुरुषो** ब्रह्मा जात इत्यर्थः. कमलोद्भवः (**शतधृतीः !**) शतपत्रैर्धृत इति, शतधैर्यवत्त्वेन रजोगुणस्तम्भनं वा. तथैव विष्णुः सत्त्वगुणेन. पालनं लौकिकं वैदिकं चेति **विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिरि**ति लौकिके तु विष्णोरवतारेण स्थितिः, वैदिके तु निर्वाहका ब्राह्मणाः. तेषां संसारावर्ते पतनं, धर्मस्य च कालेन ग्रासः, अतो निर्वाहार्थं (**द्विज-धर्म !) सेतु**रिति सुखतरणहेतुः. तथा **रुद्रोऽपि.** स त्रिविधोऽपि **पुरुषः स आद्यो** नतु अन्य इत्यर्थः. नित्योत्पत्ति-प्रलयपक्षेण सर्वदाऽस्य कार्यमाह **इत्युद्भवे**ति. **प्रजास्वि**ति प्रकर्षेण जायमानानां; तथैवेतरौ वर्षाजीववदिति ज्ञापितम् ॥५॥

एवं सामान्यतो भगवच्चरित्रमुक्त्वा– पुष्ट्यवतारान् वक्तुं साधारण्येन सर्वरक्षकं, धर्मद्वैविध्यज्ञापनाय प्रकृति-विकृतिभेदेन द्विविधं स्थितिहेतुभूतं– नरनारायणावतारमाह "साधनफलयोः फलं बलीय" इति न्यायेन. स्थितौ सत्यां परिपालनात् सहजप्रवृत्तेरासुरत्वाद् बहुत्वात् समानाधिकरणधर्मानुत्पत्तेः महत्तपः कर्तव्यं भगवतैव. तच्च निर्दुष्टं कर्तव्यम्. "तपसि क्रोधो महत्त्वे कामश्चेति शुद्धसत्त्वावताराद् अन्तःकरणसम्भवात् तपोदोषौ च सम्भवन्ती" इति भ्रमो निराकर्तव्यः. तस्माच्चरित्रं तथैव वक्तव्यं, तदग्रे दशभिर्वक्ष्यते. प्रथममवतारं स्वार्थचरित्रं चाह.

प्रकाशः

धर्मस्येत्यत्र पुष्ट्यवतारानिति, अनुग्रहार्थान् अवतारानित्यर्थः. **स्थितिहेतुभूतमि**ति. स्थितिर्वैकुण्ठविजयो (भाग.पुरा. २।१०।४), वैकुण्ठस्य विशिष्टः तस्य तस्य तत्तन्मर्यादायां नियमनपूर्वको 'जयः' स्वाधीनकरणं, **तद्धेतुभूतमित्यर्थः. कर्तव्यमि**ति स्थित्यर्थं कर्तव्यम्. ननु भगवतः सर्वसामर्थ्यात् तपोदोषौ च न सम्भवत एवेत्यत आहुः **शुद्धसत्त्वे**त्यादि. "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवसञ्ज्ञितम्" (भाग.पुरा. ४।३।२३) इति वाक्यात् तस्य

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां

नारायणो नरऋषिः प्रवरः प्रशान्तः ।

नैःकर्म्यलक्षणमुवाच चचार योगं

योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥६॥

मातापितृशुद्धिः नाम्ना अधिष्ठानत्वं च. **नारायण**नाम्ना ब्रह्मत्वम्. नरस्य ऋषित्वं मन्त्रद्रष्टृत्वाय. **नर ऋषि**र्यस्येति, लक्ष्मीपतेर्नारायणस्य कर्मकर्तृत्वं नरनिबन्धनमिति. **नर** इति प्रथमः पुरुषः. लोक-मर्यादयोः उत्तमत्वमाह **प्रवरः** श्रेष्ठः **प्रकर्षेण शान्त**श्च. न केवलं पुष्टिस्थ इति इदं रूपं ज्ञानक्रियोभयरूपम्. तत्र ज्ञानकार्यमाह **नैःकर्म्यलक्षणं** पञ्चरात्रोक्त-परिचर्यारूपं लोकोपकारार्थमुक्तवान्. स्वार्थं बहुकालस्थित्यै **योगं चचार**. अत एव पुष्ट्यवताराणां मध्येऽयमेवा**स्ते.** प्रथमस्य फलमाह **ऋषिवर्याः** पञ्चरात्रोक्तमन्त्र-द्रष्टारः (**निषेविताङ्घ्रिः !**) तत्सेवितचरणः. वैपरीत्यं स्थितेः प्रयोजनत्वाय ॥६॥

चरित्रमाह दशभिः. सहस्रकवचवधः तपश्च ऋषिनिबन्धनत्वाद् अत्र मुखतो नोक्तम्. काम-क्रोधजयो द्वाभ्यां, स्तुतिजयश्चतुर्भिः, अदेयदानं द्वाभ्यां, द्वाभ्यां च चरित्रस्याचिन्त्यत्वम्. तत्र कामक्रोधोपस्थितिमाहे**न्द्र** इति.

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति

कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।

प्रकाशः

अन्तःकरणत्वमुचितम् अतस्तथेत्यर्थः. **नाम्नेति.** मातापित्रोर्नाम्ना तत्र "सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षण" (भाग.पुरा. ११।१३।२) इति वाक्याद् धर्मस्य सात्त्विकत्वाद् शुद्धत्वम्. मूर्त्तिस्तु सत्त्वमूर्त्तिः; 'भीम'-'सत्या'दिवद् एकदेशनिर्देश इति तस्या अपि तथात्वमेकादशसुबोधिन्यामुक्तम्. **अधिष्ठानत्वमिति** शुद्ध्यधिष्ठानत्वम्. **अत एवे**त्यादि, योगार्थत्वादेव बहुकालं तिष्ठतीत्यर्थः. **वैपरीत्यमिति,** पूर्वोक्त-नैष्कर्म्यफलस्य पश्चात्कथनं स्वस्थितेर्यत् **प्रयोजनं** परिचर्योपदेशस्तत्त्वायेत्यर्थः ॥६॥

इन्द्र इत्यत्र **नोक्तमिति,** अन्यहेतुकत्वाद् उभयमपि नोक्तमित्यर्थः.

गत्वाप्सरोगणवसन्त-सुमन्दवातैः

स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥७॥

इन्द्रो यज्ञः केवलं क्रियाशक्त्यवतारः. भोगावेशेनात्मविस्मरणम्. तपसः फलमिन्द्रत्वं, मन्वन्तरातिक्रमे ब्रह्मत्वं; तथापि प्रतिष्ठैव, न भोगः. ज्ञानोपदेष्टुर्न ज्ञानापेक्षा. जगद्रक्षायामपीन्द्रत्वेनैवेति भ्रमः. अत एव **मम धाम जिघृक्षतीति विशङ्क्य.** लोके हि कामक्रोधाभ्यामेव तपःक्षयः, क्रोधेनैव च कामजयोऽपि. अतः कामस्य जयपराजयाभ्यां स्वकार्यं मत्वा **कामं न्ययुङ्क्त.** स चाग्निरिव हृदयस्थितकामोद्बोधक इति तदुद्बोधे तदुपशमाय **सगण** इति. अनुद्बोधे न स्वरूपनाश, उद्बुद्धेऽप्यशान्त; आध्यात्मिकस्य क्षोभे हि सर्वनाश इति. **स** च कामः– **बदरीत्युप** समीपे **आख्या**[१] यस्य, बदरीनारायणमित्यर्थः. देशसहिताख्यया शब्दादपि ब्रह्मत्वज्ञानं न जातमिति. विभावादिभिः सहित **इत्यप्सरोगणवसन्तसुमन्दवात**सहितो जीवभावं गतो. रसो नवभिः

प्रकाशः

तपःकरणस्य विशङ्काबीजत्वमुपपादयन्ति **तपस** इत्यादि. तथाच मन्वन्तरस्यानतिक्रान्तत्वात् सन्देह इत्यर्थः. नन्वेवं सति इन्द्रत्वजिघृक्षायाः कथमुत्कटकोटित्वमित्यत आहुस्**तथापीति.** ब्रह्मत्वेऽपि **प्रथमस्य** ब्रह्मणोऽधिकार-स्यासमाप्तत्वात् तथेत्यस्या उत्कटकोटित्वमित्यर्थः. तथापि भोगेप्सुत्वमेव कथं जातमित्यतस्तत्रापि बीजमाहुर्**ज्ञाने**त्यादि. **इन्द्रत्वेनैवेति** रक्षितुमिच्छतीति शेषः. **गणपदोक्त-वसन्तादीनां** किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तदाहुः **स** इत्यादि. **तदुद्बोध** इति तादर्थ्ये सप्तमी. तथाचोद्बोधोपशमयोः सामग्र्यर्थं सगणत्वमुक्तमित्यर्थः. एतेषामावश्यकत्वमुपपादयन्ति **अनुद्बोध** इत्यादि. हार्दस्य कामस्यानुद्बोधे तपसः **स्वरूपनाशो** नेति कामनियोग आवश्यकः. **उद्बुद्धे** हार्दे**ऽशान्तेऽपि** तथेति गणनियोगोऽप्यावश्यकः. उभाभ्यां कृत्वा **आध्यात्मिकस्य** अहङ्कारेण **क्षोभे** सति क्रोधाद् हार्दस्य तपसश्च **नाशो**ऽतस्तदर्थं तेषां नियोग इत्यर्थः. विभावादीनां प्रयोजनमाहुर्**जीवे**त्यादि. **जीवभावं** मनोविकारम्. ननु "रसो वै स" (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुत्या रसत्वं "स मानसीन

१. आख्यायाम्.

शृङ्गारादिभिर्बहिरायाति. भक्त्या[१] तु बहिर्भगवानिति न काचिच्चिन्ता. अभिनयेनाभिव्यक्तिः ; सजातीयेन सजातीयग्रहणम् . – **स्त्रीणां** यत् **प्रकृष्टमीक्षणं** त[२] **इषवः** क्षोभकास्तस्य बाणाः **अविध्यदिति** कामव्यापार उक्तः. ननु भगवति प्रवेशो बाणानां, **तस्य महिमा**प्रच्युतभगवत्त्वं, न हि पाषाणे कश्चित् बाणान् प्रक्षिपति ॥७॥

भगवत्कृतमाह **विज्ञायेति.**

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः

प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।

मा भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो

गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥८॥

बाणानां कार्याभावेऽपि बाणप्रक्षेपोऽनुचित इतीश्वरत्वाद् दण्डो विधेयः. स्वाम्याज्ञाकर्तृत्वात् न कामादीनामनौचिती. भृत्यापराधे स्वामिनो दण्ड इति प्राप्नोति. क्षोभेऽज्ञाने वा कामादीनां दण्डः प्राप्नोति. **तच्छक्रकृतमक्रममिति** निवृत्तिः. स्वतो नारदादिद्वारा वा तपःप्रयोजनं ज्ञातव्यं, जीवत्वं च ; तदायं क्रमो भवति, अज्ञानात् त्वक्रमः. भगवत्त्वात् नापराध-दण्डौ. **आदिदेव** इति, स्वेनैव प्रस्थापितः स्वांशो यज्ञ इति. तूष्णीम्भावे भयाद् एतेषां मरणमपराधान्तरं सम्भवतीति **प्राह.** मच्छिक्षितमप्येतैः प्रयुक्तमिति

प्रकाशः

आत्मा जनानाम्'' (तैत्ति.आर. ३।११।१) इति श्रुत्या मनोगतत्वं च भगवत एव श्राव्यते, तत्र रसस्य विभावादिभिर्बहिःप्राकट्ये भगवतोऽपि तथा स्यात्, तथाच भक्त्यर्थमुद्यमो वृथैव स्यादित्याशङ्कायामाहुर्**भक्त्ये**त्यादि. तथाच एतत्समाधानं तु **जीवभावं गत** इति पदेनैवास्माभिः कृतमिति न चिन्तेत्यर्थः. ननु रसस्य बहिर्भावेऽप्यभिव्यक्त्यभावे ग्रहणाभावात् कथमुद्बोध इत्यत आहुर**भी**त्यादि ॥७॥

विज्ञायेत्यत्र **ज्ञातव्यमिति** इन्द्रेणेति शेषः. **अयमिति** कामादिनियोगः. **भगवत्त्वादिति,** इन्द्रस्येत्यर्थः. नन्वेषां सापराधानां कथमतिथित्वं, किं वा

१. भक्तानाम् इत्यपि पाठः क्वचित् - सम्पा. २. त इव.

प्रहस्येत्युक्तम्. गर्वादप्येवं सम्भवतीति तन्निराकरोति **गतविस्मय** इति. तथाच क्रोधवत् महित्वज्ञानमपि भवेत्. नारायण-शक्रदण्डभयात् कम्पः, उभयनिवृत्त्यर्थ**मेजमानान्** **प्रत्याह**. भये हि स्वामिसेवकभावोऽपगतः, ततस्तुल्यतया **भो मदन मारुत देववध्व** इति सम्बोधनम्. **मा भैष्टे**तीन्द्रादपि भयाभावः सूचितः, स्वामिदण्डभयं च. कार्यार्थमागता अप्यतिथयो भवन्ति चौरा घातुकाश्च. निवृत्तिमार्गे "एतावज्जन्मसाफल्यम्" (भाग.पुरा. १०।१९।३५) इत्यत्र निर्णीतम्. भ्रमाच्च न मनोरथः सिद्ध्यति. तथाप्याश्रमस्थैरातिथ्यं कर्तव्यमित्याह **गृह्णीत नो बलिमस्मत्सम्बन्धिनीं** पूजाम्. ततः किम् अत आह **अशून्यं स्थानं कुरुध्वमिति**. मनोरथसिद्ध्यभावेऽपि परोपकारः सेत्स्यतीत्यर्थः. निर्दुष्टानां[१] महतां रीतिरेषा, "गृहेषु येष्वतिथय" (भाग.पुरा. २।१६।७) इति न्यायात् ॥८॥

एवं श्लोकद्वयेन कामादिदोषाभाव[२] उक्तः, तथाच माहात्म्यमुक्तं भवति पुरुषबुद्धिग्राह्यं जितेन्द्रियत्वादि. तन्निराकरणं चतुर्भिर्वदन् त्रिभिस्तदाह भगवद्भगवदीया साधारणैर्धर्मैः. तत्र सप्रसङ्गं[३] भगवद्धर्ममाह. भयाभावमात्रम् आशंसितं, पूजाप्यधिका, तामाहेत्थं वदतीति.

इत्थं वदत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।
नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकराऽऽनतपादपद्मे ॥९॥

महतो वचनमेवाल्पानां पूजाप्रकारः स्वन्यूनताख्यापकः. अभयदानात् न परं दानम्. आसनादिकमपि प्राप्तमिति गम्यते. हे **नरदेवे**त्यभयदानं देयमिति

प्रकाशः

आवश्यकत्वमत आहु**श्चौरा** इत्यादि. अतिथिपूजनं प्रवृत्तिमार्गे, तत्र चैतादृशां नापराधित्वम्. किञ्च सतां सर्वश्रेयःकरणं धर्मस्तेन तथा कृतवानित्यर्थः. **भ्रमादिति**, आगतानां भ्रमादित्यर्थः ॥८॥

इत्थमित्यत्र. वचनस्य कथं पूजात्वमित्यत आहुः **प्रकारेत्यादि**. प्रकार

---

१. निर्दुष्टमहतां. २. कामाभावः. ३. प्रसङ्गम्.

लौकिक उपदेशः. तेऽपि स्वरूपतो महान्त इति **देवा** इत्युक्तम्. विरुद्धकरणाद् **व्रीडा**. महतां बहुमानाद् **नम्रशिरस्त्वम्**. वेश्यादिदर्शनात् कामे विचिकित्सा, तत्सहितं कर्म, कृपासहितं वा दीनदर्शनात्. क्रियाविशेषणत्वे विज्ञापनामिव भक्तेषु कुर्वन्ति स्वनाशितान् भक्तान् स्मृत्वा. **त्वयि** सर्वं सम्भवति (**परेऽविकृते**!) सर्वेषां पितामहवत् नियामकत्वात् तत्कृतक्षोभाभावाच्च. गुणकार्यं विकृतं, तदभावे. किञ्च ज्ञानेन्द्रियजययोरपि प्रसिद्धानामपि श्लाघ्ये सम्मते ज्ञानेन्द्रियजयौ किं वक्तव्यौ? तदाह **स्वारामाश्च ते धीराश्च तेषां निकरैरानतं पादपद्मं यस्येति** ॥९॥

त्वयि सर्वं युक्तं, परं सेवकानां दुर्दशेति तन्निराकरणं च पाक्षिकमतो नित्यनिराकरणाय तदनुवदति. प्रवाहमर्यादासहितो भक्तः पुष्टो भवति. तत्रोभयत्राधिकृता देवाः सेर्ष्याः स्वसेवापरित्यागेन भगवत्सेवापराणां प्रवाहमर्यादयोर्विघ्नं कुर्वन्त्यतः प्रवाहमर्यादयोः पदमलब्ध्वा दीना[१] इव भवन्ति. तदाह **त्वां सेवतामिति**.

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य बर्हिषि बलिं ददतः स्वभागान्
धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥१०॥

प्रकाशः

इत्थंपदेनोक्तः. **गम्यत** इति, पूर्वश्लोकस्थ**बलि**पदाद् गम्यत इत्यर्थः. **उक्तमिति**, पूजायोग्यत्वायोक्तमित्यर्थः. **विचिकित्सा** जुगुप्सा. **कर्मेति तमित्यनेनोक्तं** भगवन्तम्. घृणाशब्दस्यार्थद्वयाद् व्याख्याने पक्षान्तरं क्रियाविशेषणत्वपक्षस्याग्रिमश्लोकस्वारस्येन तात्पर्यमाहुः **क्रियेत्यादि**. **भक्तेष्विति**, भक्तनिमित्तमित्यर्थः ॥९॥

त्वामित्यत्र. **तदनुवदतीति**, तेषां दुर्दशास्वरूपमनुवदतीत्यर्थः. ननु भगवदीयानां भक्तानां कथं प्रतिबन्ध इत्यतस्तेषां स्वरूपं प्रतिबन्धप्रकारं चाहुः **प्रवाहेत्यादि**. तथाच केवलपुष्टानां न प्रतिबन्ध, इतरेषां प्रतिबन्धश्च

---

१. दीना एव भान्ति.

फलपर्यन्तमिति **पदं व्रजतामित्युक्तम्**. यद्यपि "यथा तरोः" (भाग.पुरा. ४।३१।१४) इति न्यायेन भगवत्पूजायां तृप्ता भवन्ति तथापि भगवद्भक्तस्य देयाभावात् न सेवामात्रेण तुष्टा भवन्ति. तदाह **सेवतामिति**. बहुप्रकारा विघ्नास्तत्तत्कार्ये, ततश्च किमपि कार्यं न सिद्ध्यतीत्यर्थः. प्रवाहे **बलिं ददतः स्वभागान्** मर्यादायाम्. न च ते सर्वत्र विघ्नकर्तारो दुर्जना इव, तदाह **नान्यस्येति**. अन्यत्वेनैकत्वात्. यद्यपि "यदनुचरित" (भाग.पुरा. १०।४४।१८) इति न्यायेन भगवतोऽपीदमभिमतं तथापि लोकापवादाद्[१] दयया वा **यद्यविता** विघ्नस्थानं तदा[२] स्थानं[२] प्राप्नोति [३]कश्चिदित्यर्थः. विघ्नानां प्राचुर्ये किं कर्तव्यमत आह **यदि विघ्नमूर्ध्नीति**. विघ्नास्तत्कार्यं नेतुं मस्तके स्थापितवन्तः. यदि तत्रैव तस्यावनं तदा तत्रैव **पदं** च **धत्त** इत्यर्थः. उत्तरवाक्यगतो यच्छब्दस्तच्छब्दं नापेक्षते. "तथा न ते माधव" (भाग.पुरा. १०।२।३३) इत्यत्र भगवदीया[४] यादवा इवोदासीनाः; सेवमानास्त्वत्रेति विशेषः ॥१०॥

एतद्दृढीकरणाय विघ्नानां माहात्म्यमाह. परःसहस्रेष्वपि विघ्नेषु षड् वयं प्रधानभूताः, तत्राप्युत्तरोत्तराधिक्यं, तदाह क्षुदित्यादिना.

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्यान्
अस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥११॥

प्रकाशः

न लौकिकवैदिकार्थविघटनरूप इत्यर्थः. **देयाभावादिति**, भगवद्भक्तकृत-बलिभागरूप-तदभावादित्यर्थः. **त** इति, सुरा इत्यर्थः. **अन्यत्वेनैकत्वादिति**, अन्यत्वाभिमानित्वस्य देवेषु तत्सेवके च तुल्यत्वेन उभयोरेकशीलत्वात् तस्य न विघ्नं कुर्वन्तीति तथेत्यर्थः. **स्थानं प्राप्नोतीति** परमपदं प्राप्नोति. **पदं च धत्त** इति तव भक्त इति शेषः. तथाच शिरसि पादं धृत्वा तव पदं प्राप्नोतीति न तदा विघ्नसम्भावनैवेत्यर्थः ॥१०॥

---

१. लोकापवादान्. २. लुप्तम्. ३. कश्चिद्. ४. भवदीया.

"समुद्र इव हि काम" (तैत्ति.ब्राह्म. २।२।५।६) इति श्रुतेः अष्टप्रकृतिकस्य कामस्योत्तरणं कठिनम्. अष्टधा यावज्जीवमनन्तजन्मसु बाधते. तत्र सहनं तरणं, प्रतीकारो मज्जनम्. अतः [१] प्रतीकारसाधनानि मज्जनकर्तॄणि. वशीकरणं चापरो धर्मः ; सर्वेषामवशीकृतानामेव तरणादिशङ्का. अतितीर्येति, बहुकालसहने तथा न बाधन्त इति ते दुर्लभाः. कामे तु मग्नस्यैन्द्रियं सुखमस्ति, क्रोधे तदपि न. शत्रुमरणस्य दुःखाभावहेतुत्वेऽपि न स्वकृते विशेषः. क्रोधश्च दुःखात्मकः, तदप्यविवेकाभिमानवत एव. किञ्च क्रोधे सहनशङ्कैव नास्ति, वशीकृत एव भवतीत्याह **वशं यान्तीति**. कामविचारे क्रोधस्त्वतितुच्छः, प्रवाहमर्यादायां स्थित्यभावाद्, विवेकविधुतित्वाच्च हेतोरप्यभावात्. तदाह **गोः पदे मज्जन्तीति**, विरुद्धवाक्यस्य पदैकदेशे मज्जन्तीत्यर्थः. कामः कायिकः, क्रोधो वाचनिक इति सिद्धम् ; उभयोस्तारतम्यार्थं श्लिष्टवचनम्. कामे मग्नानां मर्यादाफलानुभवोऽस्ति, क्रोधे तदपि नेत्याह **दुश्चरं तपश्च वृथोत्सृजन्तीति** मग्नः शिरोभारमिव. स्वपरार्थोपयोगाभावाद् **वृथेति**. **त्रिकालगुणाः** शीतोष्णवर्षाः अतिशयेन तीर्त्वा **पदे** ईश्वरनिर्मिते [२]. एवं कामक्रोधाभावं भगवति दृष्ट्वा भक्तेष्टप्रार्थन-स्वपौरुषवर्णनमिषेण स्तुतिरुक्ता ॥११॥

एवंज्ञानम् अचिन्त्यैश्वर्याज्ञानादिति तन्निराकरणाय स्त्रियो दर्शितवानित्याह **इतीति**.

स्त्रीभिः कामजयो यस्य क्रोधस्याप्यचर्चनेन हि ।
उत्कर्षाधायकत्वेन ह्युभयोरित्यचिन्त्यता ॥(३)॥

प्रकाशः

क्षुदित्यत्र **एतद् दृढीकरणायेति**, दुर्दशाप्राप्तेर्दृढीकरणायेत्यर्थः. **अष्टप्रकृतिके** त्यादि. त्रयः कालगुणाः क्षुदादयश्च पञ्चेत्येते अष्टौ प्रकृतिभूताः समुत्पत्तिहेतवो यस्य तादृशस्येत्यर्थः. **विफलपदतात्पर्यमाहुस्तदपीत्यादि. हेतोरिति**, मज्जनहेतोरित्यर्थः ॥११॥

---

१. लुप्तम्.	२. खुरनिर्मिते.

इति प्रगुणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः ।
दर्शयामास शुश्रूषामर्चने कुर्वतीर्विभुः ॥१२॥

तेषां सतां, तेभ्य इति वा, तेषामेव सम्बन्धिन्य इति वा अण्डान्तरस्थाः, अन्यथा उर्वशीदानमनुचितं स्यात्. कामादीनामपि विवेकविस्मारकत्वेन **अत्यद्भुतत्वम्. अत्यद्भुतं दर्शनं यासां** ताः **स्त्रीः. अर्चने** कामादीनां पूजायां स्नापनादौ. ननु तूष्णीम्भावेनापि सर्वसिद्धौ किमित्येवं कृतवानित्यत आह **विभुरिति.** समर्थस्य हि सर्वैः सह क्रीडनं, तद्वदित्यर्थः ॥१२॥

अदेयदानं वक्तुं तदपेक्षामाह **ते देवानुचरा** इति ; इन्द्राद्यन्तःपुरस्त्रीदर्शनेऽपि मोहाभावाय.

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः ।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥१३॥

[१]एतादृशोपि सर्वजगत्श्रियो मूर्तिमत्य इव ता[२] जाता इति **तासां** पद्मकिञ्जल्कगन्धानां **गन्धेनैव** मोहं प्राप्ताः, कुतः पूजाज्ञानमित्यर्थः. **श्रीरिति** द्वितीयाबहुवचनम्. गन्धेनैव यत्र मोहः, किम्पुनः स्पर्शनादिभिरिति भावः. लोलुपतां वक्तुं विशेषणान्तरमाह— **तासां रूपौदार्याभ्यां हता श्रीर्येषामिति.** उत्तरसम्बन्धे षष्ठ्या अलुक्. श्रीर्द्विविधा कान्तिर्धनं चेति रूपेण कान्त्याधारेण कान्तिनाशः, औदार्येण च धनस्य. औदार्याभावे धनं शिलावत्. अथवा रूपस्य यदौदार्यं तासां ; रूपसन्निधिमात्रेण सर्वे रूपवन्तो भवन्तीति पूर्वकान्तेर्नाशः ॥१३॥

तेषामभिप्रायं ज्ञात्वा अदेयमपि दत्तवानित्याह **तानिति.**

तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव ।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम् ॥१४॥

प्रकाशः

त इत्यत्र. **एतादृशोपीति** देवानुचरविशेषणं; तत्राप्यमुग्धा इत्यर्थः. **षष्ठ्या** इति, तासामिति षष्ठ्या इत्यर्थः ॥१३॥

---

१. तादृशोपि. २. लुप्तम्.

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरबन्दिनः ।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥१५॥
इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥१६॥

अधिकाराभिनिवेशं दृढं मत्वा सन्तुष्ट इव ददातीति **देवानां देवा** इन्द्रादयस्तेषामीश इति. उर्वश्यापीन्द्रस्य भोगः, अतोऽपकारिभोगपर्यवसानात् न दद्यात्. तेषां दोषाभावमाह **प्रणतानिति.** मोहमपि प्राप्य ता न पश्यन्तीत्यर्थः. अत एव द्रष्टुमपि भीतान् दृष्ट्वा जातमपि हास्यं दोषाभावायोपसंहृतमित्याह **प्रहसन्निवेति.** भवतामिन्द्रस्य चोपकाराय **सवर्णां स्वर्गभूषणामिति.** समानो वर्णो यस्या इति पञ्चमी ॥१४॥ अत्यनुभावप्रवृत्तिं वक्तुं हेतुमाह **ओमिति. ओमित्यङ्गीकारे.** आज्ञामादाय. नमनेन सेवकत्वख्यापनम्[१]. दत्तग्रहणे कीर्तिख्यापने च हेतुर्बन्दिन इति. **अप्सरस्त्वमेतेषां सुखाय** ॥१५॥ अनुभावमाहेन्द्रेति. कामादिजयो वशीकरणं इन्द्रादिमानभङ्गश्चेति **बलं, तत्रासेति** भयं, यथासुखं करिष्यतीति चरित्रेण विस्मयः ॥१६॥

एवं देवविस्मापनं नारायणचरित्रमुक्त्वा क्रमेणोपकारानुसारेण सर्वावतारान् सङ्क्षेपत आह यावदध्यायसमाप्ति, तत्र क्रियापेक्षया ज्ञानस्य प्राधान्यं, तत्रापि प्राथम्यं सनकादीनां, तेन प्रथमं हंसेति.

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मतत्त्वं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः ।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥१७॥

[२]हंसचरित्रं त्रयोदशाध्याये स्पष्टम्. तथान्यान् प्रमाणपर्यन्तानाहाच्युत इति. सर्वस्वरूपेष्वपि स्वरूपाप्रच्युतिः[३]. आनन्दरूप एव तत्तदाकारं प्रदर्शयतीत्यर्थः.

प्रकाशः

ओमित्यत्र एतेषां सुखायेति, अप्सरस्त्वाभावेन तेषामनुपयोगात् तथेत्यर्थः ॥१५॥

---

१. -स्थापनम्. २. हंसः. ३. स्वरूपाच्युतिः.

अवददच्युत आत्मतत्त्वमिति पूर्वार्धे सर्वत्रानुषङ्गः. हंस-दत्तात्रेय-सनत्कुमार-ऋषभा **ज्ञानकलावतीर्णाः**. तृतीयपादस्य **सर्वेष्ववतारेष्वनुषङ्गः** फलवाक्यस्य. **कलयेति** ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या वा. **जगतामिति** त्रिलोकस्थितानां तत्तदुपकारसिद्ध्यर्थं बहुवचनम्. अवतारास्त्रिविधाः — सहजरूपाः समागताः, शुद्धसत्त्वशरीर आविर्भूताः, स्वत एवेति च. तत्र पुरुषशरीरे नारायणः, स्वतःशरीरे[१] च (आदिदेवः!)[२], तदन्ये शरीरे. कृष्णः स्वतः. ऐक्यमभिमाने, आधाराधेयभावो निरभिमाने. हंसस्त्वानन्दमयः प्रियशिरस्त्वादिरूपः. हंसस्येव स्वरूपमस्यास्तीति **हंसस्वरूपी,** अतोऽस्य भिन्नतया निर्देशः. ततश्चत्वारः. **कुमारस्यावेशेऽप्यवतारतुल्यत्वम्. ऋषभे** विशेषमाह **भगवान् पिता न** इति, षड्गुणैश्वर्याविर्भावो भगवन्मार्गप्रवर्तकश्च. "अजनाभं नामाप्यवर्षद्" (भाग.पुरा. ५।४।३) इत्यैश्वर्यम्. परिपालनं वीर्यं "शतकृत्व" (भाग.पुरा. ५।४।१७) इति, धर्मो वा. "जनपद" (भाग.पुरा. ५।४।५) इति यशः. "जयन्त्याम्" (भाग.पुरा. ५।४।८) इति श्रीः. "नायं देह" (भाग.पुरा. ५।५।१) इति ज्ञानम्. "ग्रहगृहीत इव" (भाग.पुरा. ५।५।३१) इति वैराग्यम्. अस्मज्जननं भगवन्मार्गः. **तेनेति** सहितस्तृतीयपादो. अग्रिमचतुर्षु ज्ञानप्राधान्येन वेदोद्धरणम्. हयग्रीवे मधुकैटभवधो वेदोद्धरणं च चरित्रम्.

प्रकाशः

हंसेत्यत्र. **फलवाक्यस्येति, जगतां शिवायेति** फलकथनात् पूर्वोक्तेषु वक्ष्यमाणेषु चानुषङ्ग इत्यर्थः. प्रकारकथनादप्यनुषङ्गमाहुः **कलयेत्यादिना. पुरुषशरीर** इति, "स्वांशेन विष्ट" (श्लो. ३) इत्युक्तत्वात् तथेत्यर्थः. **स्वतः शरीरे चेति आदिदेव** इति, "अजनिष्ट मूर्त्याम्" (श्लो. ६) इति कथनात् तथेत्यर्थः. **तदन्ये** दत्तादयः. **ऐक्यमभिमान** इति, शरीराभिमाने शुद्धसत्त्वशरीरस्यावतारस्य चैक्यमित्यर्थः. अभिमानिनश्चानुपदमेव वक्तव्याः. **चत्वार** इति, ज्ञानकलावताराद् वेत्यर्थः. **तुल्यत्वमिति,** ज्ञानोपदेष्टृत्वात् तथेत्यर्थः. यथा नारायणो ज्ञानक्रियोभयावतार एवं हयग्रीवोऽपीति बोधयितुमाहुर्ज्ञानेति **चरित्रमित्यन्तम्. इन्द्रियमिति** श्रवणेन्द्रियम्. **स्वख**

---

१. सत्त्वशरीरे. २. प्रकाशकारमते अत्रेदमधिकमोपलभ्यते - सम्पा.

कर्णाभ्यामुत्पद्यमानौ शब्दम् इन्द्रियम् अन्तर्भाव्य उत्पन्नौ. तद्वधेन तदुदरात् स्वखे निवेश्य **आहृताः श्रुतय** इत्यर्थः. मधोरेव ग्रहणं प्रकृते ज्ञानोपयोगाय. प्रपञ्चस्य मधुत्वम्. (राजसत्वात् तथा!)[१]. कीटानामपि इन्द्रगोपादीनां भा ययेति तामसी माया, तस्यामुत्पन्नः कैटभः प्रवाहपोषक इति तद्वधे मर्यादासिद्धिः ॥१७॥

प्रतिपादमवतारानाह द्वाभ्याम्. वेदोद्धरणसाम्यात् मत्स्यमाह **गुप्त** इति.

गुप्तोप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रोडे हतो दितिज उद्धरतोम्भसः क्ष्माम् ।
कौर्मे धृतोद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥१८॥

अप्यय ऐच्छिकप्रलये. **मनुरिला औषधयश्च,** चकाराद् वेदा हयग्रीवासुरवधं कृत्वा आहृताः. बहुकालप्लवन इच्छायामयमवतारः, इच्छयैव प्रलयः. [२]अष्टम-मन्वन्तरानन्तरं पुष्टित्वाददोषः. पृथिव्यग्रिमाधिकारी बीजानि च सम्पादनीयानि च पतन्तीति तथा कृताः. अस्मिन् मन्वन्तरे कृष्णावताराद् अलौकिकाधिकाराय बहुकालं तथा ज्ञानोपदेशः. भूमिसाम्यात् तदनन्तरं वराहः. **दितिजो** हिरण्याक्षः. तृतीयस्कन्धषडध्यायकथा अत्र. अत एव भूम्युद्धारो गौणः. **अम्भस** इति न कृष्णावतारवत्, मग्नोद्धरणसाम्यात्. तदनु कूर्मः. [३]**अमृतोन्मथनार्थे स्वपृष्ठ** इति कालकूटवञ्चनादि-दोषसम्भवात् पुष्ट्या त्वदोषः.

प्रकाशः

इति वागिन्द्रियगोलके. कथं ज्ञानोपयोग इत्यत आहुः **प्रपञ्चस्य मधुत्वमिति. राजसत्वात् तथेति,** मधुवधेन प्रपञ्चात्मक-रजोनिरासकत्वाद् ज्ञानोपयोग इत्यर्थः. क्रियोपयोगं विशदीकुर्वन्ति **कीटानामित्यादि** ॥१७॥

गुप्त इत्यत्र मत्स्यस्यापि ज्ञानक्रियोभयावतारत्वायाहुः **वेदेत्यादि आहृता** इत्यन्तेन. गोपनप्रयोजनमाहुः **पृथिवीत्यादिना.** प्लवनेच्छाप्रयोजकमाहुः **अस्मिन्नित्यादि.** वराहादि-परशुरामान्तानां क्रियावतारत्वं; तत्र वराह आहुर्भूमीत्यादि. कूर्म आहुर्मग्नेत्यादि. पृष्ठे धरणतात्पर्यमाहुः **कालेत्यादि.**

१. प्रकाशकारमते अत्रेदमधिकमोपलभ्यते - सम्पा. २. अष्टमन्वन्तर-. ३. -थनार्थम्.

एवं देहाभिमानरहितान् चतुरोऽवतारान् निरूप्य चतुर्थपञ्चमषष्ठ-मन्वन्तरावतारान् कार्यसमाप्तौ वैकुण्ठगतान्, निरभिमानसाम्येन वैकुण्ठादागतान्, चरित्रेणाह. हरिर्गजेन्द्रं मोचितवान्. प्रपन्नार्तमोचनम् इत आरभ्य पञ्चसु चतुर्थमन्वन्तरावतार-चरित्रत्वेन गजेन्द्रस्य स्पष्टत्वात् पञ्चमषष्ठयोः अग्रिमचरित्रमिति ज्ञायते. ग्राहस्य वैराग्यहेतुत्वादप्यादौ निर्देशः. **प्रपन्नमिति** "सङ्ग्रामे च प्रपन्नानाम्" (रामा. ६।१८।३३-३४) इति वत्. पुष्टित्वाददोषः. 'अमोचयदि'ति वक्तव्ये सर्वकर्तृत्वाद् **अमुञ्चद्** इत्याह. प्रपन्नमोचने "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च" (कठोप. १।२।२४) इति विरुध्येतेत्यत आह **आर्तमिति**. न हि त ओदनभूता आर्ताः ॥१८॥

संस्तुन्वतोऽब्धिपतितान् श्रमणानृषींश्च
इन्द्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥१९॥

समिति. पञ्चममन्वन्तरावतारस्त्रीन् मोचितवान्— उत्तरपूर्वकाण्डस्थानिन्द्रं च. **अब्धिपतितानिति** कल्पान्तरत्वात् तिरोहितं कश्यपेध्माहरणसमये. गोमूत्रपतितानिति केचित्. गजेन्द्र इव तेषामवस्था. गरुडेन [१]नीयमानानां वा समुद्रे पातः. चकारेण भेदः स्तोत्रकरणं च. भिन्नतया समागत्य **ऋषीनुद्धृतवानिति.** इन्द्रश्च तेनैवोद्धृत इति पुनश्चकारः. वृत्रवधे प्रतीकाराभावादासुरगतिं प्राप्तः. सोऽप्यागत्योद्धृत इति ज्ञातव्यम्. षष्ठे [२] मन्वन्तरावतारे अमृतं पाययित्वा गते बलिना इन्द्रासने गृहीते देवेषु लीनेषु

प्रकाशः

पृष्ठस्याधर्ममार्गात्मकत्वात् तथेत्यर्थः. ननु निरभिमानस्य सर्वत्र समत्वात् कथं ग्राहवध इत्यत आहुः **सङ्ग्रामे** चेत्यादि. तथाच तादृग्व्रतत्वात् तथेत्यर्थः ॥१८॥

पञ्चममन्वन्तरावतारो वैकुण्ठः. **तिरोहितमिति**, श्रमणत्वं मन्त्रद्रष्टृत्वं चेत्यर्थः. **भेद** इति, श्रमणर्ष्योर्भेद इत्यर्थः. **षष्ठ** इत्यजिताख्ये.

१. जीयमानानाम्. २. लुप्तम्.

देवस्त्रियोऽसुरैः स्वस्वगृहे गुप्ताः स्थापितास्ताश्च तत उद्धृतवानित्याह **देवस्त्रिय** इति. एवं सदोष-निर्दोषजलात् तमसस्तदुपभोग्यत्वाच्च[१] चत्वार उद्धृताः. निरभिमानिनं नृसिंहमाह. पूर्वत्र तथात्वाय हिरण्यकशिपुपीडा सप्तमस्कन्धोक्ता अनुसन्धेया. **सतामभयाय** न केवलं, प्रह्लादस्य मर्यादास्थत्वात् ॥१९॥

मन्वन्तरावतारानाहार्धेन **देवासुरे** चेति.

देवासुरे च युधि दैत्यपतीन् सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद् बलेः क्ष्मां
याच्ञाछलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ॥२०॥

सामान्यतः सर्वान्. विशेषतः पुनरर्धेन वामनम्. सर्वेषु मन्वन्तरावतारेषु युद्धे दैत्यान् हत्वा. पुष्टिस्थत्वाद् देवार्थे त्रिभुवनरक्षणं चरित्रम्. चकारादन्येष्वपि सङ्ग्रामेषु रञ्जितनयैरिव देवावध्यत्वज्ञापनाय **पतीनिति**. **मन्वन्तरेषु** भिन्नता चतुर्दशत्वं च ज्ञापितं **कलाभिः** षड्भिः. मन्वन्तरावतारेभ्यो विलक्षणं वामनचरित्रमिति भिन्नप्रक्रमाय **अथशब्दः**. **इमामिति** सप्तम-मन्वन्तरे. यस्तु मत्स्यकृतः प्रलयः स कल्पान्तरे. बलिना स्वर्गे हृते वा. सर्वेषां बीजरूपेण स्थितिः पश्चादुद्गम इति मन्वन्तरारम्भोऽपि तदैव, बीजरूपधर्मावेशात्. पूर्ववत् कथा. हरणांशः स्वतो, याच्ञांशो दाने; पुष्टित्वाददोषः. मातृनाम्ना

प्रकाशः

उपभोग्यादिति भावप्रधानः ॥१९॥

देवासुर इत्यत्र **ज्ञापितमिति**, **अन्तरेष्विति** बहुवचनात् तथेत्यर्थः. **षड्भिरित्यै**श्वर्यादिभिः. ननु सप्तममनोर्वैवस्वतस्यान्तरे बलितो भूहरणमसङ्गतम्, एतस्य मत्स्य-त्रातत्वेन पूर्वं प्रलयादित्यत आहुर्**यस्त्वि**त्यादि. द्वितीयं पक्षमाहुर्**बलिने**त्यादि. तथाच षष्ठे मन्वन्तर एव बलिना स्वर्गहरणं, तदनन्तरं प्रलयः ॥२०॥
(इयदवधि प्राप्तः प्रकाशः).

---

१. उपभोग्यादिति प्रकाशे पाठः -सम्पा.

सामर्थ्यं स्वतः. वामनस्यैव वृद्ध्या त्रिविक्रमत्वाद्, **वामन** इत्युक्तमवतारनाम वा. न स्वरूपेण हृता किन्तु बलिसम्बन्धेन. स्वत्वत्याजने याच्ञैव हेतुः. याच्ञामूलकत्वाद् दानस्य स्वार्थत्वाभावाद् छलम्. "त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्ट" (भाग.पुरा. ८।१९।२२) इत्यत्र ब्रह्माण्डं तदावरणानि इत्युक्तम्. अदित्यास्तपसा सन्तुष्टः. अस्मिन् मन्वन्तरे केवलं पुरन्दरस्यैव न प्राधान्यम्. पदत्रयस्य दानाभावाद् **इमामित्युक्तम्** ॥२०॥

रामावतारमाह द्विरूपेण.

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥२१॥

तुशब्दादयमावेश इति केचित्. "क्षत्रक्षयाय" (भाग.पुरा. २।७।२२) इत्यत्र अवताप्रयोजनं स्पष्टम्. भीतनिलीनपलायितादि-परित्यागाद् एकविंशति-वारमुद्गमः. तत्रापि पृथ्वी निःकण्टका कर्तव्येत्युद्यमः. पुष्टिमार्गे स्थिता न मर्यादापालका इति मारणम्. दत्तात्रेयोऽपि पुष्टिस्थः, रामौ तु मर्यादायाः. ब्रह्मतेजसा क्षत्रिया उपसंहर्तुं शक्याः, भगवत्तेजसा वा. तत्र स्वयं भगवान् [१]पालकत्वात् क्षत्रियान् न हन्ति अत आह **भार्गवाग्निरिति**. इध्मसाम्याद् एकविंशत्वम्. देवलोकानां वा तावत्त्वाद् रक्षार्थमवतीर्णास्तावद्वारम्. ततः परं भगवानवतरिष्यतीति भावः. गुणत्रयकार्यत्वात् त्रेधा विभागे सप्तधा भवति. [२]यदोः "सहस्रजिच्छतजिद्" (भाग.पुरा. ११।३०।१७) हैहयः इति यादवानामपि मध्ये हैहयोऽत्यमर्यादः. तस्य कुलनाशार्थमित्यग्निप्राकट्यार्थं वेणुस्थानीयतोक्ता. मूलभूतं [३]तेजो भगवद्रूपं भृगौ स्थापितमिति तदवतीर्णं[४] भगवदवतारत्वेनोच्यते. परशुरामो "वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद्" (भाग.पुरा. १।८।१६) इति सिद्धान्तः. एवं वैलक्षण्यात् तुशब्दः. ये तु रूपकमाहुर्लौकिकास्ते. **स** इति रामः शब्दतो गृहीतः. रामोऽपि वैश्वानरावतार इत्यन्ये. तस्य चरित्रं पञ्चविधम्— अन्या लीला, समुद्रबन्धनं, रावणवधः,

---

१. पालत्वात्. २. पद्ये. ३. मूलभूततेजो. ४. -तीर्णभग-, -तीर्णे भग-.

सीतापतित्वं, सर्वोत्कर्षेण सदास्थितिः. चरित्रमात्रस्य पापनाशकत्वमिति तत्र समुद्रबन्धनमलौकिकम्. पुरीदाह-राक्षसवधसहित-रावणवधो अजेयत्वादमर्यादः. मुख्यपुष्टिः सीतापतित्वम्. "स वै पतिः स्याद्" (भाग.पुरा. ५।१८।२०) इति न्यायेन च. जयतीति स्वस्य विकाराद्यभावेन सर्वदोषविवर्जितत्वम्, अन्यस्यापि दोषदूरीकरणं चरित्रेण ॥२१॥

शिष्टांस्त्रीन् अवतारान् आह.

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुःकराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतेऽतदर्हान्
शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥२२॥

कृष्णे सर्वावतारापेक्षया विशेषमाह **अजन्मा जात** इति. गुणातीतोऽप्याविर्भूत इत्यर्थः; गुणवान् कदाचिद् जायेतापि. ननु बीजप्रयोजनाभावात् न कस्यचिदुत्पत्तिरित्यत आह **यदुषु भरावतरणायेति**. यदुषु नवमस्कन्धे भक्तिरुक्ता तद् बीजं, मर्दनक्लेशभारहारायेति निमित्तं; दशमस्कन्धे प्रपञ्चितमेतत्. गुणातीतत्वे हेतुः **सुरैरपि दुःकराणीति**. अपिशब्दात् तिर्यग्भिर्गुणिनामकार्यं करोतीति अनेन चरित्राण्यनन्तानीति सूचितम्. बुद्धावतारमाह **वादैर्विमोहयतीति**. **वादैरिति** बहवो वादाः साम्प्रतं सृष्टाः, अनर्हेषु यज्ञो मा गच्छत्विति. मतिव्यामोहव्यतिरेकेण न दृढप्रतीतिर्भवतीति वादाः. **विशेषेण मोहो** विपरीते धर्मबुद्धिः. **यज्ञकृते** यज्ञार्थं स्वयमन्तर्हितो भगवान् यज्ञानन्तर्भावयितुमित्यर्थः. कोऽयं पुरुषार्थ इत्याशङ्क्याह **अतदर्हान्** यज्ञानर्हान्. कलौ स्त्रीशुद्ध्यभावे कुण्डगोलकबाहुल्ये वादैरेव तन्निश्चयः. जारजातकस्यैव वेदवेदार्थयोः अन्यथाबुद्धिरित्यर्थः. "त्रैगुण्यविषया" (भग.गीता २।४५) इति योगशास्त्रम्. योगिनस्तु मर्यादां प्रवाहनिवृत्तय आहुः; गुणमयान् पुरस्कृत्य निर्गुणान् करोतीत्यर्थः. अत एवायमेवार्थो "यावान्" (भग.गीता २।४६) इत्यत्र विवृतः. अतः परीक्षार्थं वेदनिन्देति सर्वं सुस्थम्. कल्किचरित्रमाह **शूद्रानिति**. क्षितिभोक्तृत्वमधमानां मा भूदिति वर्णाः कालव्यूह्यसत्त्वादिकृताः, ते क्रमशः

[१] कीर्यमाणाः शुद्धतमसा शूद्रपर्यवसायिनो भवन्ति. प्रान्तभागे कलौ हननम् ॥२२॥

उपसंहरन्ति एवंविधानीति.

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः ।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥२३॥

॥ इति श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥

एवंसिद्धानि धर्मसंस्थापनप्रकाराणि. अनादिसिद्धो धर्मो जन्मना स्थिरो भवति, कर्मणा चोपघातनिवृत्तिः. धर्मो हि जगत उत्तम्भकः, धर्मे रक्षिते रक्षितं जगत्. "स वै पतिः स्याद्" (भाग.पुरा. ५।१८।२०) इति न्यायाद् **जगत्पतिः**. प्रकारेऽपि बाहुल्यार्थमाह **भूरीणीति**. तत्र हेतु**र्भूरियशस** इति. धर्मार्थकाममोक्ष-भक्तिप्रपत्त्यादिषु[२] पुरुषार्थेषु स्थापकत्वेन भूरीणि यशांसि यस्य. तानि न केवलं गुप्तानि किन्तु **वर्णितानि** कविभिरित्यर्थात्. **महाभुजेति** क्रियाशक्तिप्राधान्याद् उक्तविश्वासः ॥२३॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिन्याम् एकादशस्कन्धे
(श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज) श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं चतुर्थाध्यायविवरणम् ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

---

१. क्षीयमाणाः. २. -प्रपत्त्यादिपुरु-.

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

वक्ता श्रोता तथा वाच्यं त्रिभिरुक्तं विशेषतः ।
लोके सर्वत्राप्रवृत्तौ प्रामाण्यं कुण्ठितं भवेत् ॥(१)॥
अतस्तत्साधकोऽध्यायश्चतुर्थोऽयमुदाहृतः ।
देशकालस्वभावानां निर्धारक उदाहृतः ॥(२)॥
अस्यार्थो भगवद्देशे स्थित्वा लौकिकगीतितः ।
निराकृत्यान्यथावादान् शुद्धः कृष्णं भजेदिति ॥(३)॥

स्वभावविजयाय भ्रमवादान् निराकर्तुं पृच्छति.

॥ राजोवाच ॥

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम् ॥१॥

भगवन्तमिति सर्वेष्टसिद्धिः, **हरिरिति** सर्वानिष्टनिवृत्तिः ; एतादृशमपि (**प्रायः !**) बाहुल्येन **न भजन्ति. आत्मविदः** सर्वज्ञास्तत्रापि भगवन्मार्गविदः (**तमाः !**) श्रेष्ठा इति सम्बोधनम्. ज्ञान-योगाभावाय (**अशान्तकामानां अविजितात्मनां !**) विशेषणद्वयम्. **का निष्ठा** इहलोके परलोके वा किं फलमित्यर्थः. यद्यपि प्रवाहफलमेव फलम् अभजनमात्रे, "अपदोषतैव विगुणस्य गुण" (शिशु.वध. ९।१२) इति, परं प्रवाहस्थः किञ्चिज्ज्ञो न तिष्ठति निन्दामकुर्वाण इति प्रश्नः. नन्वत्रापि निन्दाया निषिद्धत्वात् नरकपात इति कः सन्देह इति चेत्, सत्यं, भगवद्भक्तान् विकर्मस्थान् मत्वा धर्मस्थापनार्थं तन्निन्देति प्रवाहफलमेव सेत्स्यतीति सन्देहः. अभजनयोग्यता हि निन्दया भवति, अशान्तकामत्वात् प्रवाह एव स्थितिः, अविजितेन्द्रियत्वाद् निषिद्धकरणमपि. वैदिकत्वाच्च सन्देहः, अविजितेन्द्रियान् सकामानपि वेदस्तारयतीति. मार्गान्तरस्थास्तु स्वभावत एव पतिता इति वैदिकेष्वेव प्रश्नाभिप्रायः ॥१॥

उत्तरमाह सप्तदशभिः, तेषां योगस्य तथात्वात्. सिद्धान्ता हि पञ्च. तत्र वैष्णवा भजन्त्येव. शैवा निन्दकाश्चेत् पाषण्डिनः. साङ्ख्य-योगयोर्निषेधः. प्रश्न एव कृतः अतो वैदिका अज्ञाश्चावशिष्यन्ते ; प्रवाहपतिता लोकचतुराश्च. तत्र प्रवाहपतित-लोकचतुराणां गतिमाह द्वाभ्यां मुखेति.

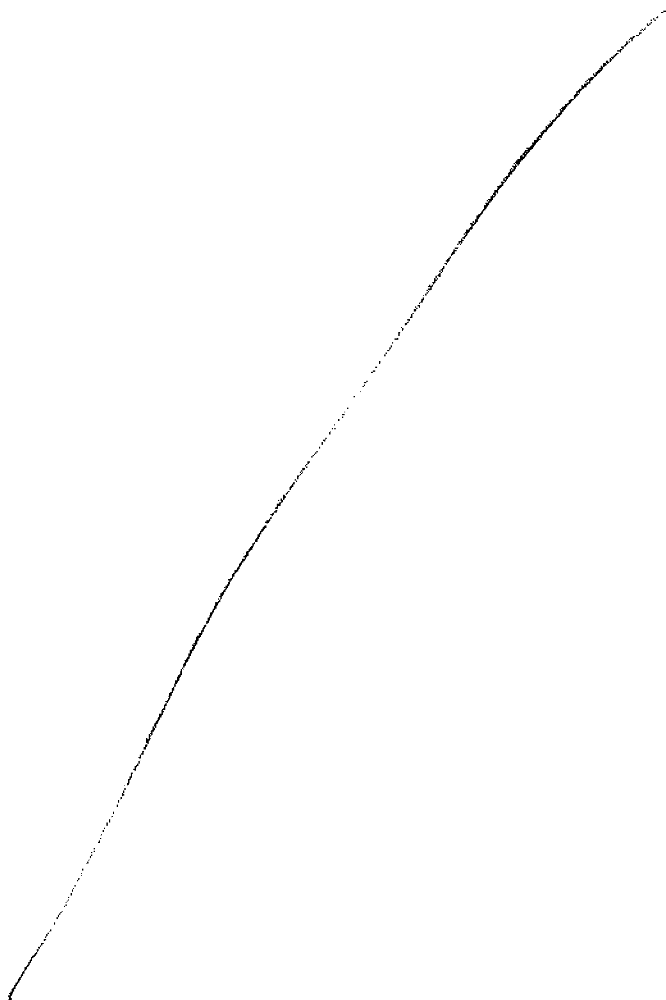
॥ चमस उवाच ॥

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥२॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥३॥

न्यास-वानप्रस्थ-ब्रह्मचारि-गृहस्था वर्णा इव. तथा सति आश्रमस्थानां द्वैगुण्यम्. सत्त्वाद् ब्राह्मणा, रजसा क्षत्रिया, रजस्तमोभ्यां वैश्याः.

॥ इति श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता
एकादशस्कन्धीयैतावती प्राप्या श्रीसुबोधिनी समाप्ता ॥





॥ प्रथमं परिशिष्टम् ॥
आद्यसम्पादकोंकी प्रस्तावनाएँ

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीसुबोधिनी ।

(श्रीमद्भागवत-दशमोत्तरार्ध-गुण-प्रकरणम् ।)

(अध्यायाः ३६-४१)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीता ।
श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतलेखसमेता ।

विद्याविलासिश्रीश्रीनाथद्वाराधीशश्रीमद्गोस्वामिकुलतिलकश्रीमद्गोवर्धन-
लालजीमहाराजचरणानां द्रव्यसाहाय्येन 'प्राप्तभगवत्पद
भृगुपुरस्थ मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला, बी.ए.,
एल्‌एल्. बी., वकील, हाइकोर्ट' इत्येतेषां
सुहृद्भिः संशोध्य 'निर्णयसागर'
मुद्रणालये मुद्रयित्वा
प्रकटीकृता ।

श्रीवल्लभाब्दाः ४५४. संवत् १९८९.

मूल्यं सार्धमुद्रिकाद्वयम् ।

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the 'Nirnaya Sagar' press,
26-28, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Dhirajlal Vrajdas Sanklia, B.A., LL.B., Advocate,
at Khakhar Building, C.P. Tank, Bombay 4.

EDITORS' NOTE

By the Grace of God we are able to put before the public, the final six Adhyayas of the Tenth Skandha, which technically constitute the गुणप्रकरण. The Tenth Skandha is the निरोधस्कन्ध and is divided into five divisions or Prakaranas viz जन्म, तामस, राजस, सात्त्विक & गुणप्रकरण, all tending to accomplish the निरोध of various types of भक्तs. Four Adhyayas constitute the जन्मप्रकरण. The twenty-eight following Adhyayas deal with तामसप्रमाण, तामसप्रमेय, तामससाधन & तामसफल each of seven Adhyayas. The following twenty-eight similarly decribe the राजसप्रमाण, राजसप्रमेय, राजससाधन and राजसफल.

In case of सात्त्विकभक्तs, प्रमाण is not necessary, they being themselves so imbued as not to need प्रमाण any longer. There are thus twenty-one Adhyayas of this प्रकरण, divided into three groups of seven Adhyayas each called सात्त्विकप्रमेय, सात्त्विकसाधन and सात्त्विकफल respectively.

It should be noted that this sub-division of तामस, राजस and सात्त्विक is peculiar only to Shree Vallabhacharya, based on the different kinds of भाव of the भक्त towards कृष्ण and is quite distinct from the generic terms of the प्रकृति of the सांख्य, generally known as such in Vedanta literature.

The last six Adhyayas, the subject-matter of the present volume, depict Shree Krishna the निरोधकर्ता possessed of six गुणs viz:- ऐश्वर्य, वीर्य, श्री, यशः, ज्ञान and वैराग्य and thereby accomplish the निरोध of the भक्त by His Leela in which the particular guna preponderates.

The यशः of भगवान् is depicted through the medium of the श्रुतिs and this constitutes a separate sub-division by itself known as वेदस्तुति.

We have based the readings in the present volume on the following manuscripts available to us:-

1. Dated Sam. 1689 from the collection of the सरस्वतीभंडार of श्रीनाथद्वार, a very incorrectly written Mss.

2. Dated Sam. 1742 also from the collection of the सरस्वतीभंडार of श्रीनाथद्वार said to have been prepared for श्रीदामोदरजी the grand-son of Shree Vitthaleshwar. This is a very neatly written manuscript and is very reliable.

3. A manuscript without date, appearing to be recent, corrected by the late Shastri नंदकिशोर of Nathadwar containing marginal notes from other Mss. and readings.

4-5. Two manuscripts out of the collection of भारतमार्तण्ड पंडित श्रीगट्टूलालजी. One of these appears to have been very intelligently read and punctuated, and from the notes made, seems to very confirm the inference that the reader thereof is श्रीपुरुषोत्तमजी the erudite writer of प्रकाश on अणुभाष्य.

6. A manuscript without date belonging to Mr. Mohanlal of Dabhoi which is a fair written manuscript and tolerably correct.

As before we have made use of the press-copy of the prsent प्रकरण out of the collection of Goswami Shri Gokulnathji Maharaj which was kindly

left with our departed colleague. Our thanks are therefore due to the said H.H.Shri Gokulnathji Mahahraj.

In the present volume as before, we have included the relevant portions from निबन्ध etc. and have also printed a स्वतन्त्रलेख on पीतशेषं गवाभृतः, occuring in the 36th (85) Adhyaya, which has been made available to us from the collection of भा.मा. पं. गट्टूलालजी. The indexes and the आचार्यवाक्सुक्तावलि are also printed, the latter with a view that the reader may at a casual glance know the remarkable views of श्रीवल्लभाचार्य.

Our thanks are due to गोस्वामितिलक श्रीगोवर्धनलालजीमहाराज of Nathdwar, who has kindly furnished funds for bringing out the present volume.

The learned Shastri Kalyanji Kanji has considerably assisted us in carrying out this edition through the press and our hearty thanks are due to him.

With feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord Shri Krishna.

रामनवमी १९८९

Dhirajlal Vrajdas Sanklia.
Jamnadas Kanji Morparia.
Heeralal Moolji.
Govardhandas Pragji Merchant.
Purushottam Kanji Morparia.

॥ श्रीमद्वल्लभाचार्यग्रन्थरत्नमालायां ग्रन्थरत्नाङ्क ऊनविंशः ॥

॥ श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यश्रीकृष्णवदनविरहवैश्वानरावतार-

श्रीश्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भाविता

श्रीमच्चतुर्थप्रस्थानश्रीमद्भागवतशास्त्रमुक्तिलीलाप्रतिपादक—

श्रीमदेकादशस्कन्धसुबोधिनी

सप्रकाशा सपरिशिष्टा

चानन्दग्रामनिवासिरामकृष्णपण्ड्यापुत्रोत्सवलालस्मारकत्वेन

श्रीभृगुकच्छगणपतिशास्त्रितनुजनुषा 'एम्.ए.' इत्यादिपदभाजा

शास्त्रिमग्नलालशर्मणा

निश्शुल्कं संशोध्यानन्दस्थकाशीनाथपण्ड्यात्मजधैर्यलालेन

मुम्बापुर्यां

निर्णयसागरमुद्रालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीता ।

श्रीमद्वल्लभाब्दः ४५६. | मूल्यं मुद्रा । | वैक्रमसंवत् १९९०.

Edited by Prof. M.G.Shastri, M.A., M.R.A.S.,
printed by Ramchandra Yesu Shedge at the Nirnaya-Sagara Press,
26-28, Kolbhat Lane, Bombay,
and
published by Dhirajlal Kashinath Pandya, B.A. LL.B., Anand.

Published by Dhirajlal Vrajdas Sanklia, B.A., LL.B., Advocate,
at Khakhar Building, C.P. Tank, Bombay 4.

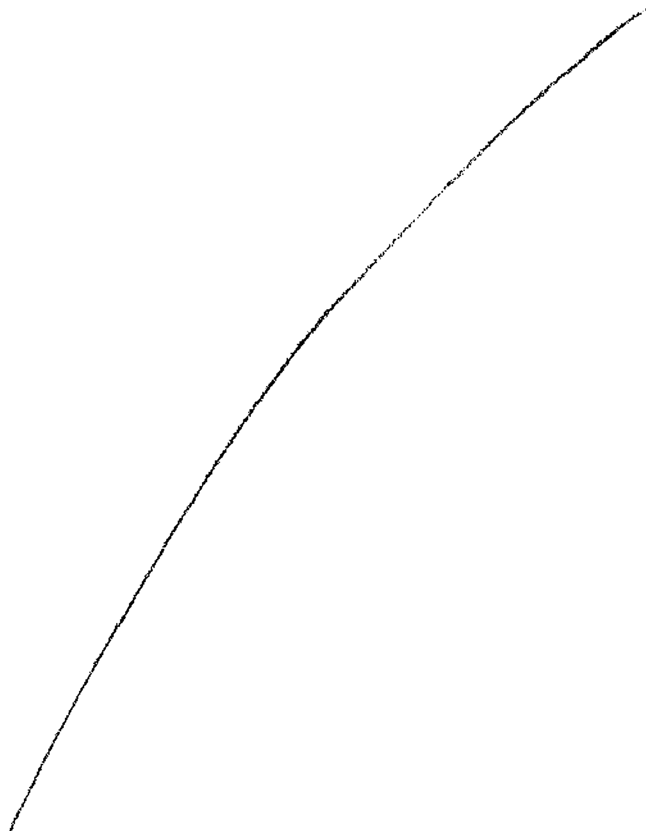
॥ द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

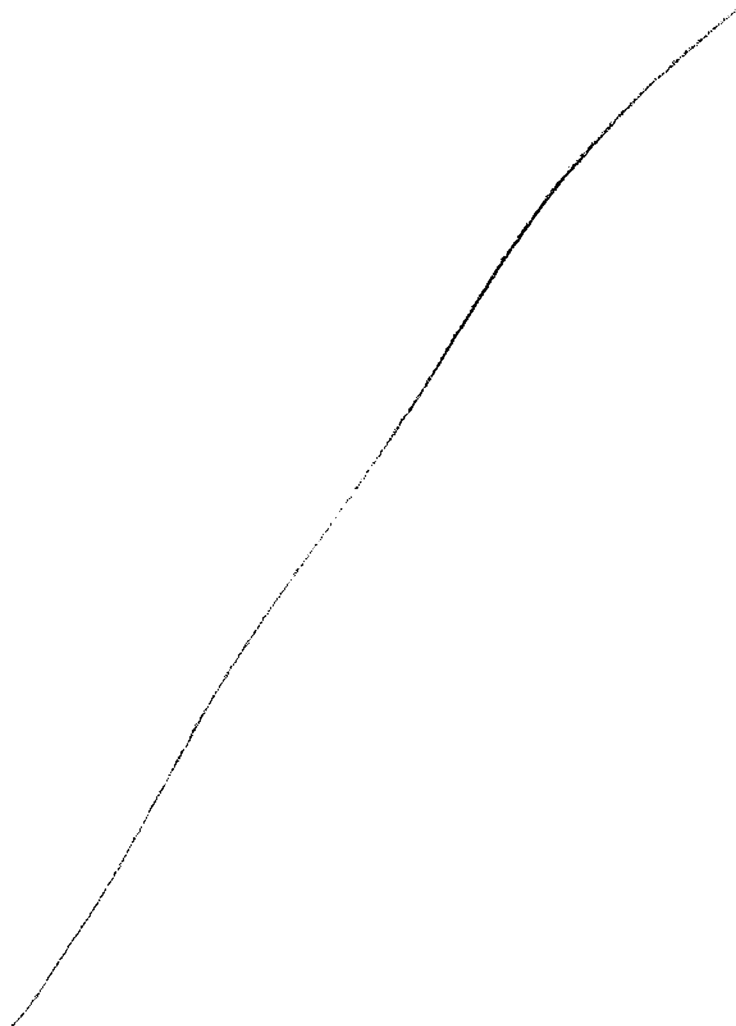
। वर्णानुक्रमेण गुणप्रकरणस्था एकादशस्कन्धीया च कारिकार्थसूचिः ।



। मूलश्लोकसूचिः ।

*





॥ सुबोधिन्यां लेखे प्रकाशे च उपन्यस्तवाक्यानां सूचिपत्रम् ॥

अखण्डं कृष्णवत् सर्वं —तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।१८२.
अग्नेरापः —तैत्तिरीयोपनिषद् २।१.
अजनाभं नामाभ्यवर्षद् —भागवत् पुराण ५।४।३.
अजनिष्ट मूर्त्याम् —भागवत् पुराण ११।४।६.
अणोरणीयानहमेव विष्णुः —....................
अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः —भागवत् पुराण ३।२२।४.
अत्ता चराचरग्रहणाद् —ब्रह्मसूत्र १।२।९.
अत्यन्तासत्यपि ज्ञानम् अर्थे शब्दः करोति —श्लोकवार्तिक १।१।२।६.
अत्र प्रमाणं भगवान् परमेष्ठी —भागवत् पुराण २।९।२५.
अत्रैव मृग्य- —भागवत् पुराण ७।७।३.
अत्रैव लोके प्रकटं —सुबोधिनी १०।३०।०.
अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते —बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०.
अथ ह तव वाव महिमासमुद्रविप्रुषा —भागवत् पुराण ६।९।३९.
अथोरुधा सृजन् मायाम् —भागवत् पुराण ३।१९।१७.
अदिप्रभृतिभ्यः शपः —लघुसिद्धान्तकौमुदी २।४।७२.
अनन्तं नाम —....................
अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुंक्ते —भागवत् पुराण ३।२५।३६.
अनित्ये जननं —सुबोधिनी २।६।१.
अनृतं वै वाचा वदति —तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।४।४.
अन्ते त्वधर्महरमन्यु- —भागवत् पुराण २।७।३९.
अन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं —महानारायणोपनिषद् २३।१.
अपदोषतैव विगुणस्य गुणः —शिशुपालवध ९।१२.
अपश्यन् पुरोडाशं कूर्मभूतम् —तैत्तिरीयसंहिता २।६।३।३.
अपाम सोमम् अमृता अभूम —ऋक्संहिता ८।४८।२.
अप्रतीकालम्बनान्नयति —ब्रह्मसूत्र ४।३।१६.
अभिमानिव्यपदेशः —ब्रह्मसूत्र २।१।५.
अभ्यनुज्ञाविहीनं हि ब्राह्मणानां विशेषतः —....................
अम्बुवाहाः केशाः —....................
अरूपम् अस्पर्शम् —कठोपनिषद् ३।१५.
अर्थं तस्य विवेचितुम् —सुबोधिनी १।१।१.
अर्थैकत्वादेकं वाक्यम् —जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र २।१।१५।४६.

अर्द्यमानाः स्वकर्मभिः — ....
अर्श आद्यचि — पाणिनिसूत्र ५।२।१२७.
अवाप परमां गतिम् — भागवत् पुराण ११।५।४४.
अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत — याज्ञवल्क्यस्मृति बालक्रीडा.
असङ्गो ह्ययं पुरुषः — बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।१५.
अस्ति इत्येव उपलब्धव्यः — कठोपनिषद् ६।१३.
अस्थि चैव तेन मांसं च यजमानः संस्कुरुते — ....
अस्यैवानन्दस्य अन्यानि — बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।३२.
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः — भगवद्गीता १०।२०.
अहेरिव पयःपोषः पोषकस्यापि — भागवत् पुराण ४।१४।१०.
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखाय — ऋक्संहिता १०।७१।७.
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः — शतपथब्राह्मण १।६।१.
आकरस्थं सदा शुचिः — ....
आकाशशरीरं ब्रह्म — तैत्तिरीयोपनिषद् १।६।३.
आकृतिवचनाः शब्दाः — ....
आचार्यवान् पुरुषो वेद — छान्दोग्योपनिषद् ६।१४।२.
आत्मलब्धये शृण्वन्ति — ....
आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं — तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।७६.
आत्महानमपुरुषार्थः — ....
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः — भागवत् पुराण १०।५।९.
आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद् — श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।८.
आदित्यो यूपः — तैत्तिरीयब्राह्मण २।१।५।२.
आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः — भागवत् पुराण २।१०।८.
आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलाबलम् — लौकिकन्यायसाहस्री ७४४.
आनन्दादयः प्रधानस्य — ब्रह्मसूत्र ३।३।११.
आपो वै सर्वा देवताः — जाबालोपनिषद् ४.
आपं चैव हलन्तानाम् — सिद्धान्तकौमुदी अव्ययप्रकरण अव्ययादाप्सुप.
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः — श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।८.
आवृत्तिरसकृदुपदेशाद् — ब्रह्मसूत्र ४।१।१.
आश्रयत्वविषयत्वभागिनी — संक्षेपशारीरक १।३१९.
आसुरीं योनिमापन्नाः — भगवद्गीता १६।२०.
आहुश्च ते — भागवत् पुराण १०।७९।४९.

आहूत इव मे शीघ्रम् — भागवत् पुराण १।६।३४.
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः — भागवत् पुराण ४।२२।३०.
इन्द्रियं वीर्यं पृथिवीमनुव्यार्छद् — तैत्तिरीयसंहिता २।५।३।२.
इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य — तैत्तिरीयसंहिता ५।१।२.
इमानेव लोकांस्तीर्त्वा सगृहः सपशुः सुवर्गं — बोधायनश्रौतसूत्र १४।२.
इहागतोऽहं विरहातुरात्मा — भागवत् पुराण ३।४।२०.
उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः — ब्रह्मसूत्र १।४।२१.
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि — भगवद्गीता १५।१०.
उपोपसर्गः सामीप्ये तत् प्रतीचि — कृष्णयजुर्वेदतैत्तिरीयब्राह्मण १।७ ?
उभयव्यपदेशादहिकुण्डलवद् — ब्रह्मसूत्र ३।२।२७.
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत च — भागवत् पुराण २।९।३.
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा — भगवद्गीता ९।१५.
एकमेवाद्वितीयम् — छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१.
एकस्तृतीयः पुरुषावतारः — ....
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या — भागवत् पुराण ७।१५।२५.
एतन्नानावताराणां — भागवत् पुराण १।३।५.
एतस्माज्जायते प्राणः — मुण्डकोपनिषद् २।१।३.
एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने — बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।९.
एतावज्जन्मसाफल्यं — भागवत् पुराण १०।१९।३५.
एतेन योगः प्रत्युक्तः — ब्रह्मसूत्र २।१।३.
एरच् — पाणिनिसूत्र ३।३।५१.
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं — भगवद्गीता ९।२१.
एष सर्वेश्वरः एष लोकपालः — बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२२.
एष ह्येवानन्दयाति — तैत्तिरीयोपनिषद् २।७।१.
एष्टव्या बहवः पुत्रा — रामायण अयोध्याकाण्ड २।१०७।१३.
कणादादिमुनिश्रेष्ठाः — तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।३२५.
कथमसतः सज्जायेत — छान्दोग्योपनिषद् ६।२।२.
कन्यां चैवानुवत्सरम् — भागवत् पुराण १०।१।५६.
कलेर्दोषनिधे राजन् — भागवत् पुराण १२।३।५१.
कलौ तद्धरिकीर्तनात् — भागवत् पुराण १२।३।५२.
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् — कठोपनिषद् २।१।१.
कश्चिन्महान् तस्य न कामनिर्जयः — भागवत् पुराण ८।८।२०.

कुरुते अर्चाविडम्बनम् —भागवत् पुराण ३।२९।२१.
कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः —महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७२।२६.
केवलेन हि भावेन —भागवत् पुराण ११।१२।८.
को अद्धा वेद —ऋक्संहिता १०।१२९।६.
को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् —तैत्तिरीयोपनिषद् २।७।१.
क्षत्रक्षयाय —भागवत् पुराण २।७।२२.
गरिमाणं शिशोर्वोढुम् —भागवत् पुराण १०।७।१८.
गान्धर्वो राक्षसश्च —मनुस्मृति ३।२१.
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च —स्कन्दपुराण ३३।१३, मनुस्मृति ८।३१७.
गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनाद् —ब्रह्मसूत्र १।२।११.
गृहिणी गृहमुच्यते —महाभारत १२।३००।६४.
गृहेषु येष्वतिथयः —भाग.पुरा. ८।१६।७.
ग्रहगृहीत इव —भागवत् पुराण ५।५।३१.
चतुर्विधा भजन्ते माम् —भगवद्गीता ७।१६.
चतुर्विंशतिपरमाः सप्तदशावरौ —...................
चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं —केनोपनिषद् २.
चित्तवृत्तिनिरोधो योगः —पतञ्जलियोगसूत्र १।२.
चित्तेन हृदयं चैत्यः —भागवत् पुराण ३।१६।७०.
चेष्टामाहुः —भागवत् पुराण १०।३।२६.
जनपद- —भागवत् पुराण ५।४।५.
जयन्त्याम् —भागवत् पुराण ५।४।८.
जन्म त्वात्मतया —भागवत् पुराण ११।२२।३९.
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः —श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।५.
जायस्व म्रियस्व —छान्दोग्योपनिषद् ५।१०।८.
जीव प्राणधारणे —भ्वादिधातुपाठ ५६३.
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते —भगवद्गीता ४।३७.
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे —भागवत् पुराण ११।१९।३.
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च —भागवत् पुराण ११।२०।६.
तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते —भागवत् पुराण ३।२८।३४.
तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च —महाभारत तात्पर्यनिर्णय १।३७.
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते —भागवत् पुराण ११।११।४१.
तत्त्राणायासृजच्चास्मान् —भागवत् पुराण ३।२२।३.

ते देवा वाचि अपक्रान्तायाम् — तैत्तिरीयसंहिता ६।४।११।५.
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्राः — भागवत् पुराण ११।१४।५.
तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात् श्रुत्यर्थो बहुधोदितः — तत्त्वार्थदीपनिबन्ध २।२०.
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः — भगवद्गीता ७।१७.
तं त्वौपनिषदं पुरुषं — बृहदारण्यकोपनिषद् ३।९।२६.
त्रया ह प्राजापत्याः — बृहदारण्यकोपनिषद् ५।२।१.
त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्टः — भागवत् पुराण ८।१९।२२.
त्रैगुण्यविषयाः वेदाः — भगवद्गीता २।४५.
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे — पंचतंत्र १।३८६.
दयया सर्वभूतेषु — भागवत् पुराण ४।३१।१०.
दशास्यां पुत्रानाधेहि — ऋक्संहिता १०।८५।४५.
दहरं वै सा पराभ्यां — ....
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः — भागवत् पुराण १०।४४।२४.
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया — भागवत् पुराण ६।१८।६१.
दुर्गन्धे दुष्टशब्दे च विरसे च — ....
दूराद् गन्धो वाति — महानारायणोपनिषद् ८।९.
दोषेणैव दोषो हन्तव्यः — ....
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया — भगवद्गीता ७।१४.
द्व्यश्चश्छन्दसि — पाणिनिसूत्र ४।३।१५०.
न चेद् यतेरन् न पुनर्मृताय — भागवत् पुराण ५।१९।२५.
न तदश्नोति कश्चन — बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।८.
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिः — भागवत् पुराण ११।१४।२५.
न तस्य तत्त्वग्रहणाय — भागवत् पुराण ५।११।३.
न तं विदाथ य इमा — तैत्तिरीयसंहिता ४।६।२२.
न दुःखं पञ्चभिः सह — ....
न बुद्धिभेदं जनयेद् — भगवद्गीता ३।२६.
न रोधयति मां योगः — भागवत् पुराण ११।१२।१.
न शोचति न काङ्क्षति — भगवद्गीता १२।१७.
न हिंस्याद् — छान्दोग्योपनिषद् ८।१५।१.
नाणुः अतच्छ्रुतेः इति चेद् — ब्रह्मसूत्र २।३।२१.
नानात्मानो व्यवस्थातः — वैशेषिकसूत्र ३।२।१६.
नान्यो मद्वेद कश्चन — भागवत् पुराण ११।२१।४२.

प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः – बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।२१.
प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् – बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०.
प्राप्तसेवापरित्यागो द्वेषमूलमिदं स्मृतम् – ....
बभूव प्राकृतः शिशुः – भागवत् पुराण १०।३।४६.
ब्रह्म तं परादाद् – बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।७.
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा – तैत्तिरीयोपनिषद् २।५.
ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा – तेजोबिन्दूपनिषद् ४।३३.
ब्रह्मविदाप्नोति परम् – तैत्तिरीयोपनिषद् २।१.
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति – मुण्डकोपनिषद् २।२।९.
ब्रह्महत्यासहस्रस्य पापं शाम्येत् कथञ्चन – स्कन्दपुराण वैष्णवखण्ड १।२५ ?
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः – भगवद्गीता ४।२४.
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने – भागवत् पुराण ११।२९।१४.
भक्त्या त्वनन्यया शक्यो – भगवद्गीता ११।५४.
भक्त्या मामभिजानाति यावान् – भगवद्गीता १८।५५.
भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुः – महाभारततात्पर्यनिर्णय १।११६.
भयनामाभ्यपद्यते – ....
भर्ता सन् भ्रियमाणः – तैत्तिरीयारण्यक ३।१४।१.
भाषात्रयविरोधश्च कल्पभेदात् समाहितः – सुबोधिनी १।१।० का. ८.
भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि – भागवत् पुराण ६।३।१८.
भूमिर्दृप्तनृपव्याज- – भागवत् पुराण १०।१।१७.
भूमिर्भूम्ना – वैखानसमन्त्रप्रश्नाष्टक ५।१।३३।९.
मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तद् – भागवत् पुराण ११।२५।२३.
मनसो वशे सर्वमिदं बभूव – तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।३।१३.
मनसैवानुद्रष्टव्यं – बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।१९.
मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपं – ऐतरेयोपनिषद् १।१।२.
मन्मना भव – भगवद्गीता १८।६५.
मन्मायारचिताम् एताम् – विद्वन्मण्डन नित्यलीलावाद ५६.
मम माया दुरत्यया – भगवद्गीता ७।१४.
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितं – कैवल्योपनिषद् १९.
महाभागवता इति – भागवत् पुराण ५।१।२१.
मातुलस्येव योषा भागस्ते – निरुक्त १४।३१०.
मानाधीना मेयसिद्धिः – ....

मां विधत्ते – भागवत् पुराण ११।२१।४३.
मामुपेत्य तु कौन्तेय – भगवद्गीता ८।१६.
मामेव ये प्रपद्यन्ते – भगवद्गीता ७।१४.
माययाचिन्त्यशक्त्याभिव्यक्तम् – ....
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा – भागवत् पुराण ११।१९।१.
मायामात्रं तु कार्त्स्न्येन – ब्रह्मसूत्र ३।२।३.
मायां च तदुपाश्रयां यया सम्मोहितो जीवः – भागवत् पुराण १।७।४.
मिथिलो मथनाज्जातः – भागवत् पुराण ९।१३।१३.
मृत्युरस्मादपैति – भागवत् पुराण १०।३।२७.
मृत्योर्वा एष वर्णो यच्छार्दूलं – तैत्तिरीयब्राह्मण १।७।८.
मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति – कठोपनिषद् ४।१०.
यतो यतो निःसरति मनः चञ्चलमस्थिरं – भगवद्गीता ६।२६.
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते – तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१।१.
यतो वाचो निवर्तन्ते – तैत्तिरीयोपनिषद् २।४।१.
यत एतद् विमुच्यते – भागवत् पुराण १०।२६।१६.
यत्करोषि यदश्नासि – भगवद्गीता ९।२७.
यथा तरोः – भागवत् पुराण ४।३१।१४.
यथा पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया – ऋक्संहिता १०।१७७।१.
यथा मत्स्यादिरूपाणि – भागवत् पुराण १।१५।३५.
यथा महान्ति भूतानि – भागवत् पुराण २।९।३४.
यथा यदवो नितरां – भागवत् पुराण ३।२।८.
यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति – महानारायणोपनिषद् ८।२.
यथा हरद् भुवो भारं – भागवत् पुराण १।१५।३४.
यथेन्द्रस्य वृत्रं जघ्निष इन्द्रियं वीर्यं – ....
यदनुचरित- – भागवत् पुराण १०।४४।१८.
यदृच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः – नारदीयपुराण ११।१००.
यन्न दुःखेन सम्भिन्नम् – स्मृति / तन्त्रवार्तिक ?
यस्य कस्यापि पद्यस्य शतमर्थान् प्रचक्ष्महे – ....
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च – कठोपनिषद् १।२।२४, २।२५.
यस्यात्मा शरीरम् – बृहदारण्यकोपनिषद् ३।७.
यस्यामतं तस्य मतं – केनोपनिषद् ११.
यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना – भागवत् पुराण ५।१८।१२.

विचिकीर्षतो मे —भागवत् पुराण ११।२९।३४.
विद्याविनयसम्पन्ने —भगवद्गीता ५।१८.
विधत् स्वकर्णायुतम् —भक्तिरसामृतसिन्धु १।२।३०.
विप्राः पश्चिमबुद्धयः — ....
विमुक्तो मामुपैष्यसि —भगवद्गीता ९।२८.
विराजमभिसम्पद्यते —तैत्तिरीयसंहिता ७।११।१.
विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं —भागवत् पुराण ३।१०।१२.
विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि —सात्त्वततन्त्र.
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा —भागवत् पुराण २।१०।१३.
वेदा अवेदा —बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।२८.
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः —भगवद्गीता ५।१६.
वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् —भागवत् पुराण १।८।१५.
शक्त्या युक्तो विचरति —भागवत् पुराण ४।२४।१८.
शतकृत्व- —भागवत् पुराण ५।४।१७.
शब्द इति चेत् न —ब्रह्मसूत्र १।३।२८.
शब्दादेव प्रमितः —ब्रह्मसूत्र १।३।२४.
शमेन शान्ताः शिवम् —महानारायणोपनिषद् १७।४, याज्ञिक्युपनिषद् ७१।५.
शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्याद् —नारदीयपुराण १।१४।१६.
शरीराकारभूतानां भूतानां यद् विशोधनं —गौरीविलय ५।६३.
शर्करा अक्ताः उपदध्यात् तेजो घृतम् —तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१२।५।१२.
शान्तो दान्तः उपरतः तितिक्षुः —बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२३.
शान्त उपासीत —छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१.
शाब्दस्य हि ब्रह्मणः —भागवत् पुराण २।२।२.
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे —भगवद्गीता ९।२८.
शेषः परार्थत्वाद् —जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र ३।१।२.
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे —भागवत् पुराण १०।२६।३७.
श्रुतयो यथा ययुः —भागवत् पुराण १०।२९।१३.
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चिद् —भगवद्गीता २।२९.
षडहैर्मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति — ....
षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु —पाणिनिधातुपाठ भ्वादिगण ३४८.
षोडशकलोऽयं पुरुषः —तैत्तिरीयोपनिषद् २।६।१.
सकृदिष्ट्वापि — ....



वर्णानुक्रमेण गुणप्रकरणीय-श्रीमदाचार्यवाङ्मौक्तिकानि

१. अत्यन्तापराधेऽपि कृते भगवान् शापं न प्रयच्छति, यथा शिशुपालाय. आत्मत्वं तत्र हेतुः. अत्यन्तसेवायां वरमपि न प्रयच्छति. सुखरूपत्वं तत्र हेतुः; नहि कामिनी उपभोगेन सेवमाना कदाचिदपि वरं प्रयच्छति. तस्माद् भगवत्सेवैव परमपुरुषार्थरूपा.

२. अनधिकारिणा भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण परित्यागः कर्तुमशक्यः.

३. अन्नेन तृप्तिस्तदैव भवति यद्यन्नमुद्वेजकं न भवेत्.

४. असत्सेवया नाशः, सत्सेवया कृतार्थता.

५. आकाशो हि सर्ववस्तुभिः स्वाकारं करोति, घटवत् पटवत् पुरुषवच्चेति.

६. आनन्दार्थमेव जीवस्य प्रवृत्तिः. आनन्दश्च भगवत्येवास्ति, नान्यत्र.

७. ईश्वरः स एव यो न केनापि परिच्छिद्यते.

८. ईश्वरो लीलयापि सुप्तो न प्रबोधनीयः.

९. एक एव भगवान् नित्यमनित्यं च जगद्रूपं शरीरं गृह्णाति. कालादयो नित्याः घटादयोऽनित्या इति उभयमपि भगवच्छरीरम्.

१०. एते आध्यात्मिकाः परतन्त्राः कथं स्वतन्त्रतया कार्यं करिष्यन्ति? अन्यथा सर्वदैव कथं कार्यं न कुर्युः? तस्माद् यदैव शक्त्याधानं तदैव कार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति सर्ववस्तूनां वस्तुस्वरूप आधिदैविकापरपर्यायः.

११. एवं कार्येष्वपि कारणातिरिक्तसामर्थ्यं यत्र दृश्यते तद् भगवानिति ज्ञातव्यम्.

१२. एवं लोष्टप्रायो मृत्युग्रस्तश्च यो जातः स कथं सेव्यो भवेत्?

१३. कालो हि कदाचित् सत्पदार्थान् दूरीकरोति, कदाचिदसत्पदार्थान्.

१४. क्रीडायामासक्तो न कस्यापि सुखं विचारयति.

१५. गीततालानुसारेण ये नृत्यन्ति ते नटाः, केवलनृत्येन रसाभिनयकर्त्र्यः नर्तक्यः.

१६. गृहे स्थितस्य शूद्रस्येव वेदोच्चारणमिव भगवदन्वेषणं निषिद्धम्.

१७. चित्सेव्या इति पक्षेऽपि भगवानेव सेव्यः नतु जीवाः. स्वरूपस्थितो हि सेव्यः. जीवास्तु स्वरूपात् प्रच्युताः — भगवद्रूपोऽपि जीवः भगवन्मायया तामनुसृत्य तस्या गुणान् जुषन् स्वानन्दं परित्यज्य जडभावं प्राप्नोति. जडस्योपासना पूर्वमेव निषिद्धा.

१८. दिनान्तसेवां कृत्वा यथा वयं दास्यो जातास्तथा इममपि सेवाफलं वाञ्छति. तच्च फलं प्रसादरूपम्. प्रसादश्च स्वचरणार्पितमाला चेत् प्रयच्छति तदा भगवान् सेवां स्वीकृतवानिति निश्चित्य तां भक्तिरूपां मालां शिरसि स्थापयित्वा कृतार्थतामापद्यते. इयं च तन्न प्राप्तवती अतस्तत्कामनया खेदं करोति.

१९. देवादिवरेणापि यन्न लभ्यं तद् दुर्लभम्.

२०. न केवलं जलेन वायुना वा बुद्बुदा जायन्ते; उभययोगेन तु जायन्ते. तथा प्रकृतिपुरुषसंयोगेन सङ्घाता जायन्ते.

२१. नहि सामर्थ्ये विद्यमाने कश्चित् सुखं परित्यजति.

२२. परदुःखं दृष्ट्वा यो दुःखितो भवति स कारुणिकः. भगवांस्तु परमकारुणिकः दुःखोत्पत्तिसम्भावनायामपि दुःखितो भवति.

२३. पुरुषोत्तमस्यांशः अक्षरं, तस्यांशः प्रकृतिः, तस्या अंशा गुणाः, तेषां भागेन विश्वोत्पत्तिलयादयो भवन्ति.

२४. ब्रह्म च यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्. तत्र मूलभूतं सर्वं व्यवहारातीतमपि स्वयमेव स्वशक्तिरूपेण स्वधर्मरूपेण स्वकार्यरूपेण च जातमिति श्रुतिः प्रतिपादयति, स्वयमेव च वक्ति.

२५. ब्राह्मणपादरेणुषु सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति. न केवलमेतावानेवोत्कर्षः किन्तु भगवत आश्रयभूताः भूमावेव देवभावं प्राप्ताः.

२६. भगवतोऽपि देहग्रहण-परित्यागौ. इयांस्तु विशेषः — उपाधिवशात् तस्य देहग्रहणं, भगवतस्तु मायाजवनिकापगमात्.

२७. भगवदाज्ञया महदादिभिः कृते ब्रह्माण्डे तत्र स्थित्वा तैरेव निष्पादितं शरीरं परिगृह्य तेषां तत्स्वामिको वा येऽनुविधानं न कुर्वन्ति ते कृतघ्नाः.

२८. भगवच्छेषतया देवान्तरभजने न कोऽपि दोषः.

२९. भगवत्सेवकः यत्र क्वचित् सेवमानो वैकुण्ठ एव सेवते नतु जगतीति ज्ञातव्यम्.

३०. भगवानपि देवकीगृहे प्रादुर्भूतः तत्रत्य मायां दूरीकृत्य प्रादुर्भूतो निश्चल एव. ततः प्रदेशान्तर्गमने पूर्वस्थाने माया संवृत्ता स्थलान्तरस्थानगतेति प्रतिक्षणं रूपान्तराणि भवन्ति.

३१. भगवान् गुणाश्चेति कोटिद्वयम्. सत्त्वादीनामात्मत्वे जडो भवति जडात्मस्वीकारात्. भगवत आत्मत्वग्रहणे चेतनो भवति. अतो यैर्जडात्मता स्वीकृता तेषामप्यग्राह्यः.

३२. भगवानेव सेव्य — एतावानेव श्रुतिगीतार्थः.

३३. भगवान् सृष्ट्यादौ कालं मायां च सृष्टवान्. ये मायया मुग्धा भविष्यन्ति तान् कालो ग्रसिष्यति. येतु लोकान् भगवन्मायाग्रस्तान् ततः कालेन ग्रस्तान् आलोक्य मायापगमे विस्तारे च भगवद्भजनमेव गतिरिति भगवन्तं सेवन्ते तेषां पुनर्मायामोहः सर्वथा न संगच्छते.

३४. मतान्तर एव दोषाणां दोषत्वं, ब्रह्मवादे तु ब्रह्मत्वमेवेति सर्वमविरुद्धम्.

३५. ममानुग्रहो ब्रह्मभावः, पश्चान्मत्सेवया सर्वं सुखमिति. तत्रायं क्रमः —

प्रथमतः सेवकैः सह मैत्र्या सेवकसमानशीलव्यसनत्वे सेवकतुल्यता. ततस्तैः मया अन्येन वा तस्य तस्य ज्ञानोदयः. ततो ज्ञानपूर्णः केवल एव मां भजते.

३६. महति राजद्रोहे कृते राजकीयास्तन्नाशयेयुरेव. स चेद् राजा तमपराधकर्तारं स्वसिंहासने निवेशयेत् तदा बाधकाः सर्वे साधका भूत्वा न पीडां कुर्युः.

३७. महत्त्वं सद्गुणैर्भवति इति सद्गुणानां मध्ये सर्वावस्थासु क्षोभाभावो महान् इति.

३८. मित्रं हि मित्रं भावयति; तस्मिन् प्राप्ते दृष्टे वा तस्य सुखम्.

३९. यतःकुतश्चिदपि श्रुतं भगवच्चरित्रं कार्यं साधयत्येव. फलरूपता तु साधारणानामपि भक्तमुखश्रवणादेव भवति.

४०. यत्र जीवानामेव आनन्दस्तिरोहितस्तत्र जडानाम् आनन्दगन्धोऽपि नास्ति. परं मरुमरीचिकावद् अत्यन्तनिर्जलभूमौ यथा जलप्रतीतिर्भ्रान्तानाम् एवं स्रक्चन्दनादिष्वपि आनन्दोऽस्तीति भ्राम्यति लोकः.

४१. यत्रांशः प्रकटः भगवांश्च प्रकटस्तत्र तथैवात एव पूर्वं पुरुषेष्वेव भगवदाराधनमुक्तम्. यत्र पुनः स्वरूपं जडतामापन्नं, भगवांश्च सर्वथा न प्रकटस्तत्र किं स्यात्? नहि काष्ठे वह्निरस्तीति शीतनिवृत्त्यर्थं होमार्थं वा काष्ठं सेव्यते. तस्माद् अप्रकट-भगवत्स्वरूपाः सर्वथैव न सेव्याः.

४२. यत्रैव पक्षद्वयं विरुद्धं तत् संकटस्थानमिति वदन्ति लोकाः.

४३. यथा कर्मसत्रं सप्तदशावराः तुल्यफलाः तुल्यसाधनाश्च अहमहमिकया प्रधानगुणभावमाश्रित्य कर्म कुर्वन्ति एवं निःसन्दिग्धब्रह्मज्ञानार्थं सर्व एव निर्णयार्थं प्रवृत्तास्तेषां विचारो ब्रह्मसत्रम्.

४४. यथा कामिनां स्त्रीविशेषे सकृच्चित्तं तत् सर्वथाननुभूय न निवर्तते तथा स्नेहे जाते भगवद्रसाभिनिवेशे यदा भगवति चित्तं भवति तादृशः कदाचिदपि गृहं न सेवते.

४५. यथा अनन्तवृक्षा भूमौ फलन्ति तत उच्चस्थितान्यपि फलानि भूमावेव पतन्ति एवं सर्वे वेदाः स्वस्वरीत्या स्वशक्यं माहात्म्यं भगवतो वदन्ति तानि ज्ञानानि फलान्युच्यन्ते. तेषां क्वापि पर्यवसानाभावात् भगवत्येव पतन्ति पर्यवसिता भवन्ति.

४६. यथा राज्ञः स्वगृहे रममाणस्यापि तदानन्दोद्रेकात् बहिर्गमनेच्छा भवति तथा भगवतोऽपि कदाचिद् विहारः (स्वानन्देन क्रीडा) तदा स्थावरजङ्गमभेदाः स्वयमेवोत्पद्यन्ते, यथा वर्षाकाले जीवाः. नहि पर्जन्यः वर्षणादधिकं किञ्चित् कार्यं करोति जीवानामुत्पत्त्यर्थम्. तथा भगवानपि केवल एव विहरति. ततश्चेष्टायामुद्गतायां स काल इति तेन प्रकृत्यादि शक्तयः प्रेरिता भवन्ति.

यथा राजनि निर्गते सेवकाः अप्रेरिता अपि कार्येषु प्रवर्तन्ते तथा कालो गुणक्षोभं कृतवान्. तथा प्रबलाग्नावुद्गते विस्फुलिङ्गा इव जीवा अपि निःसरन्ति. ततः कालेन क्षुब्धा गुणाः साक्षात् परम्परया च सर्वमेव कार्यजातमुत्पादयन्ति.

४७. यदैव भगवति सद्बुद्धिर्भवति तत आरभ्य भगवति भावः कर्तव्यः.

४८. ये उत्पद्यन्ते प्रवाहे तेषामुत्पत्तिविरोधित्वाद् भगवद्दर्शनं दुर्लभम्.

४९. वेदकालोल्लङ्घनं न पुरुषोत्तमादन्यस्य शक्यम्.

५०. स ईश्वरो योऽलौकिकं करोति, यो वेदस्याप्यशक्यं करोति.

५१. स एव क्षुद्रादि सुखमपेक्षते निद्रालस्यप्रमादोत्थं यस्य स्वरूपानन्दः सात्त्विकानन्दो न सम्भवति.

५२. स एवेश्वरः यो नित्यानन्दः ; स एव कृष्णः.

५३. सत्त्वगुणेन वा, पर्यवसानेन वा, इन्द्रियाणां दर्शनसामर्थ्याभावेन वा, शृङ्गारेण वा, कामेन वा, आनन्दस्वभावेन वा, भगवद्रुच्या वा, लक्ष्मीरुच्या वा, तादृशस्यैव सहजत्वेन वा नीलरूपो भगवानिति ज्ञातव्यम्.

५४. सर्वत्र जगति भगवानेव शेते. नह्यन्यो निद्रासुखभोक्ता भवति. सर्वेषां प्राणिनां सुखार्थं वा.

५५. सर्वं पापमेकत्र, ईश्वरावज्ञा चैकत्र.

५६. सर्वो हि स्वस्मिन् विद्यमानं प्रयच्छति, नतु अविद्यमानम्. अतः पण्डिता इममर्थं ज्ञात्वा भगवत एवाङ्घ्रिमुपासते आनन्दनिधिम्.

५७. सापेक्षा न विरक्ता भवन्ति.

५८. सुवर्णशृङ्खलावत् सात्त्विकमपि गृहम् अन्धकूपप्रायमेव, स्वपरासद्ग्रहात्. तदेव विस्तारकं यद् भेदबुद्धिनिवारकम्.

५९. स्वक्रियया प्राप्यं दुःखेनापि यन्न भवति तद् दुःप्रापम्.

६०. स्वजनादेर्भगवतश्च तारतम्यं ये न जानन्ति, ग्राम्यसुखाय सर्वत्र मिथुनीभूय चरन्ति. यथा स्वोपवेशार्थं कश्चित् स्थूलं मञ्चकं नयति पथिकः तथेमे निमेषार्धमात्ररत्यर्थं सर्वथा शृङ्खलाबद्धा इव तया सह चरन्ति. न ह्यन्तःपीडितं विषयाः सुखयन्ति.

६१. स्वभावतः स्मृत्यादिषु सर्व एवानन्दाः निषिद्धाः. यथेह साधारणस्त्रियः न सेव्यास्तथाऽप्सरसोऽपि. यथात्र कालादिनियमव्यतिरेकेण भोगेषु भुज्यमानेषु सर्वश्रुतिस्मृतिविरोधो भवति एवं स्वर्गलोकेष्वपि ज्ञातव्यम्. यथात्रापकीर्तिः तथा तत्रापि. अतः सर्व एव सुखानुभवो निषिद्धः, निषिद्धाचरणे सर्वथा दुःखमिति सर्वमेव सुखं दुःखानुविद्धम्.

* * *

॥ तृतीयं परिशिष्टम् ॥

॥ स्वतन्त्रलेखाः ॥

(१) गुणप्रकरणे प्रकाशिताः

(क)

॥ श्रीहरये गुरवे नमः ॥

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणाम्भोजसंश्रयात् ।
श्रीमद्भागवते पीतशेषपद्यं विचार्यते ॥

अथ भगवत्स्वरूपे श्रीभागवते तद्धृदयभूत-दशमस्कन्धोत्तरार्धे पञ्चाशीतितमे अध्याये श्रीदेवकीमातृचरण-षट्पुत्रानयनप्रसङ्गे पठ्यते—

पीत्वाऽऽमृतमयं तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ।
नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥५५॥
ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम् ॥५६॥

अत्र हि **तस्याः** देवकीमातुः **अमृतमयम्** अमृतप्रचुरं "तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी अपाययत् स्तनं प्रीता" (श्लो. ५३) इत्युक्त्या योग्यताबलेन पय इत्युपलभ्यते. पाठान्तरे तु 'पय' इति स्पष्टमेव. **गदाभृतो** भगवतः श्रीकृष्णस्य **पीतशेषं** पानोच्छिष्टं **पीत्वा नारायणाङ्गसंस्पर्शेन प्रतिलब्धात्मदर्शनाः गोविन्दं देवकीं पितरं** वसुदेवं **बलं** च **नमस्कृत्य सर्वभूतानां मिषतां दिवौकसां धाम ययुः** इत्यन्वयः. अत्र ब्रह्मशप्तानां मरीचिपुत्राणां स्वर्लोकप्राप्तौ हेतुत्रयम्. (१) भगवदुच्छिष्टपानं, "उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि" (भाग.पुरा. ११।६।४६) इति वाक्यात् तस्य तादृग्प्रभाववत्त्वम्. न चात्र मुक्तिर्नेति शङ्क्यं, "पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम्" (श्लो. ५१) इति पूर्वोक्त्या गतेर्मोक्षपर्यायत्वात् लोकान् यास्यन्ति. "विज्वराः दिवौकसां धाम" (श्लो. ५०) इत्यत्र तथाव्याख्यानं कर्तव्यम्. यदा तु शापाद् विनिर्मुक्ता इति श्रुतमङ्गीकृत्य क्रममुक्तिरपेक्षते तदा तु अमृतपानं च हेतुः, "यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम्" (भग.गीता ४।३१) इत्युदाहृते तत्र क्रममुक्तेरेवोपपत्तेः. प्रकृतेऽपि कारणात् कार्यम् अनुमेयम् इति न्यायात् मुक्तिः आवश्यकी. (२) अथ नारायणाङ्गसंस्पर्शश्च अपरो हेतुः, "यन्नाम गृह्णन् निखिलांच्छ्रोतॄनात्मानमेव च सद्यः पुनाति किंभूयस्तस्य स्पृष्टपदा हि ते" (भाग.पुरा. १०।३१।१७) इति उक्तेः. (३) तथा भगवत्प्रसादश्च

मुख्यो हेतुः, "षडिमे मत्प्रसादेन" (श्लो. ५१) इत्यत्र दर्शितोऽपरो हेतुः, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठोप. १।२।२३) इति श्रुतेः. **मिषतां सर्वभूतानाम्** इत्यत्र षष्ठिः भावलक्षणेऽनादरे वा अभिलषतः सर्वान् अनादृत्य सर्वभूतमयो ब्रह्म इति ब्रह्मशापमुल्लङ्घ्येति वा विवक्षितोऽर्थः.

अस्मिन् पूर्वपद्ये **गदाभृतः पीतशेषम्** इति स्तन्यविशेषणमुक्तं तत् "देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः" (भाग.पुरा. १०।३।८) इत्युपक्रम्य "तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्" (भाग.पुरा. १०।३।९) इति निरूप्य "उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्" (भाग.पुरा. १०।३।३०) इति प्रार्थनां प्रदर्श्य अलौकिकस्वरूपोपसंहारानन्तरं क्षणमेव "पित्रोः संपश्यतोरेव बभूव प्राकृतः शिशुः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इति शिशुभवनं निरूप्य "ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः" (भाग.पुरा. १०।३।४७) इत्यविलम्बेन गोकुलगमनं निरूप्यते. अथ च "एकादशसमास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसद्" (भाग.पुरा. ३।२।२६) इत्यनेन एकादशवर्षस्थितिस्तत्रोक्ता. ततः कंसवधानन्तरं पित्रोः समागमे "सध्वजाते न शङ्कितौ" (भाग.पुरा. १०।४१।५१), "बाल्यपौगण्डकैशोरा पुत्राभ्यामभवन् क्वचिद्" (भाग.पुरा. १०।४२।३) इत्याद्युक्तः. तत्र स्तनस्पर्शस्याप्यप्रतीतैः. ततः "गर्गाद् यदुकुलाचार्याद् गायत्रं व्रतमास्थितौ" (भाग.पुरा. १०।४२।२९) इत्युपनयनमुक्तम्. तदनन्तरं च मानुषिस्तन्यपाननिषेधाद् भगवतो देवकीमातृस्तनपानमेव न क्वचित् प्रतीयते. दुराग्रहस्वीकृते अपि स्तनपाने तदानीं तदभावाच्च कथं पीतशेषत्वसिद्धिरिति पूर्वग्रन्थानुसन्धानस्य "अलौकिकास्तु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेद्" (मत्स्यपुरा. ११३।७) इति श्रुतिपराङ्मुखस्य दुर्वासनादूषितस्वान्तस्य शङ्का समुज्जृम्भते. तत्र समादध्मः : तत्र श्रीमहाप्रभुचरणाः सुबोधिन्याम् एतत्पद्यव्याख्याने "स्तनपानानन्तरं तेषां विवेकाद्युत्पत्त्या स्वर्लोकगतिमाह पीत्वामृतमयमिति द्वाभ्याम्. अमृतमयत्वं भगवदर्थं देवैस्तत्रामृतं स्थापितमिति. पीतशेषं गदाभृत इति पानं तु [1]पूर्वस्थापितम्. यदैव भगवन्तं स्मरति तदा स्रुतं[2] भगवानेव पिबती"ति. अतएव "यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तद्" (भाग.पुरा. १०।४३।३५) इति.

---

१. पूर्वं स्थापितम् इति मुद्रितपाठः - सम्पा. २. तदामृतम् इति मुद्रितपाठः - सम्पा.

[१]अत्र पित्रव्योपनामक-श्रीवल्लभचरणैः कृतं व्याख्यानं "देवैरिति स्तन्योत्पादकैर्भगवद्विषयकस्नेहांशैरित्यर्थः. पूर्वं स्थापितमिति निबन्धे इत्यर्थः". तथाच निबन्धे "नन्दादिवदिदानीं हि देवक्यपि पुरा स्थिताः, अतः स्नेहदशायां हि स्तन्यं नित्यं हरिः पपौ, पीतशेषमतः प्रोक्तं वैष्णवत्वाय मुक्तये, प्राकृतत्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गमे, उच्छिष्टभोजिनो मायां तरन्त्येव न संशयः" (त.दी.नि. ३।१०।४३०-४३२) इति. अत्र आवरणभङ्गे— "नन्दादिवदिति. हि यतो नन्दादिवत् कुरुक्षेत्रस्थ-दर्शनजन्यदशायां यथा नन्दादयो निरोधपूर्णा जातास्तथा देवक्यपि पुरा पूर्वकाले निरोधपूर्णा स्थिता अतस्तथेति तथोक्तं सुखेन संगच्छत इत्यर्थः. नन्वेवं सति तदैव कृतार्थाः स्यान्नात्र इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः प्राकृतत्वेत्यादि."[१]

अत्रायं समुदितोऽर्थः. स्तन्यं हि स्नेहप्रसुतं भवति. तस्य च "दंष्ट्रा यमस्नेहकला द्विजानि" (भाग.पुरा. २।१।३१) इत्युक्त्या तत्र प्रकरणोद्बलित-सुबोधिन्यादिव्याख्यानेन च "अभिमानिव्यपदेशात्" (ब्रह्मसूत्र २।१।५) इति व्याससूत्रेण च "आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैः" (भाग.पुरा. १०।१३।५१) इति निदर्शनेन च देवतात्वं लक्ष्यते. तस्य च "भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्" (भाग.पुरा. १०।१।२२) इति ब्रह्मण आज्ञया "जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः" (भाग.पुरा. १०।१।२३) इत्यत्र "सुराः तत्स्त्रियश्च भवन्तु" इत्यर्थस्य 'सुरैः सहिता स्त्रियः' इति समासेन विवक्षणात् प्रियकरणार्थं नियुक्तानां "यद्यद् भगवता दत्तमधिकारं स्वसिद्धये सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप" (भाग.पुरा. १०।४७।५७) इति स्व(/स्वा?)धिकृतेष्टवस्तुसमर्पकाणां देवानां कोट्यन्तः-स्थितस्य स्नेहाभिमानी देवतांशभूतैः मोहादिदेवैः देवक्याः स्तनयोः अमृतं पयसि स्थापितम्. तस्य च पानं पूर्वग्रन्थे निबन्धे "नन्दादिवद्" (त.दी.नि. ३।१०।४३०-४३२) इत्यादिना साधितम्. तथाहि भगवतो गोकुलगमनानन्तरं देवक्या वात्सल्यरसेन तीव्रविरहवेदनायां "यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तद्" (भाग.पुरा. १०।४३।३५) इति उद्धवेन भगवद्वचनस्य सत्यकरणे इत्यस्य वर्तमानदशायां प्रतिज्ञानात्; प्रतिज्ञातस्य च भगवत्कृत्या "मया परोक्षं भजता तिरोहितम्" (भाग.पुरा. १०।३०।२१) इत्यनेन दर्शनायोग्य-परोक्षावस्थानस्य 'तिरोहित'पदार्थत्वेनोक्तस्य "क्वासि क्वासि महाभुज" (भाग.पुरा. १०।२७।४०) इत्यत्र वियोगदशायां तत्रत्यव्याख्याने परोक्षभुजाधानानुष्ठानस्य प्रदर्शनेन समर्थितस्यापि

१-१. इयं कैश्चिद् लिखिता टिप्पणी ग्रन्थान्तःसंश्लिष्टा इति भाति - सम्पा.

भक्तानां दृष्ट्या "दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः" (भाग.पुरा. १०।२९।१०) इत्याद्युक्तदिशा विरहाङ्गीभूतध्यानेन सुप्रदर्शनेन चाविर्भावेन च "दृक्ष्यथ कृणमन्तिके" (भाग.पुरा. १०।४२।३६) इत्यज्ञानोपसंहारद्वारा भगवदाज्ञया विषयज्ञापनेन च "अन्तर्बहिः स भूतानाम् आस्ते ज्योतिरिवैधसि" (भाग.पुरा. १०।४३।३६) इति ब्रह्मदृष्ट्यापि वक्तुं शक्यस्य निरूपितत्वात्. एवं नन्दादिषु विरहे प्राकट्यवत् तुल्यकारणयोः तुल्यकार्यं इति न्यायेन आविर्भावस्य सम्भवात् प्रकृतिवचनेन तद्दृढीकरणाच्च देवक्याः स्तन्यपानं तदाविर्भूय कृतमिति पीतशेषत्वसिद्धिः इत्येकपक्षः.

अथवा यदैव देवकी अत्युत्कण्ठिता "मम पुत्रः श्रीकृष्णः कदा श्रीमुखं दर्शयिष्यति स्तन्यं मे पास्यति" एवम्-एवं भगवन्तं स्मरति तदा स्नेहेन स्रुतं पयो भवति. तदा तस्य स्नेहाभिमानी देवैः देवक्या च भगवदर्थं मनसा संकल्पितस्य भगवद्भावत्वाद् भगवतैव ग्रहणमुचितं, "अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ... पत्रं पुष्पं फलम्" (भाग.पुरा. १०।७८।२-४) इत्यादिवचनैः, "गोमायुवन्मृगपतेरिव भागमीषे" (भाग.पुरा. १०।४९।३९) इत्यादिलोकोक्तिनिदर्शनैः, नाभागप्रकरणीय-यशोदेशकस्वीकाराग्रहविषयकं "ममेदं वास्तुकं वसु" (भाग.पुरा. ९।४।६) इति रुद्रादिवाक्यादिदृष्टान्तैः, "कृष्णस्त्वन्यतमं रूपम्" (भाग.पुरा. १०।२१।३५) इति स्वस्यापि तथानुष्ठानेन च भगवान् एव पिबतीति पीतशेषत्वसिद्धिरिति द्वितीयपक्षः.

अथवा एतद्बालेति. एते षड्बालकाः देवक्याः "प्रतियातु कुमारोऽयम्" (भाग.पुरा. १०।१।६०) इत्यादिना 'कुमार'शब्दोपलक्षित-षड्वर्षपर्यन्तं भोजराजेनानुकम्पिता नारदागमनात् पूर्वं यथा स्तन्यं पपुः एवं भगवानपि गोकुलगमनात् प्राक् "बभूव प्राकृतः शिशुः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इति शिशुभवनदशायां पपुः. ततः प्राकृतैरिव प्राकृत इति "संबाहुभ्यां धमति" (महाना.उप. २।२) इति श्रुतिलिङ्गाद् द्विभुजत्वावतारणपरव्याख्यानस्य "जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्संगलालितम्" (अणुभाष्य ४।४।२२) इति भाष्यात् यशोदायाः स्तनंधयरूपसूचनार्थपरत्वसम्भवात्, प्राकृतदशायां हि "सद्यः पीतं विनिर्गमं" (त.दी.नि. ३।१०।४३२) इति निबन्धेन दृढीकरणाच्च मूलत्वं सिद्ध्यतीति पीतशेषतासिद्धिरिति तृतीयपक्षः.

अथवा षड्बालाः "नीतास्ते योगमायया" (श्लो. ४८) इति वचनाद् बलिगृहगमनानन्तरं समागताः तथा भगवानपि गोकुलगमनानन्तरं समागतः

कंसवधानन्तरं प्रथमं मिलितः देवक्याः स्तनं पपौ. तत्रापि "पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमं, माभूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम्" (भाग.पुरा. १०।४२।१) इति अप्राकृतस्वरूपगोपनद्वारा प्राकृतशिशुभवनदशायां सम्भवात्, "विनिर्गमे" इत्यस्य च 'विगतो निर्गमः विनिर्गम' इत्यर्थसम्भवाच्च "प्राकृतत्वदशायाम्" (त.दी.नि. ३।१०।४३२) इति निबन्धस्यैव प्रमाणत्वमिति सिद्धा पीतशेषतेति चतुर्थः पक्षः.

अथवा देवक्या "चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किल चोदितौ, आनिन्यतु पितृस्थानाद् गुरवे गुरुदक्षिणां, तथा मे कुरुतां कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ भोगराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमागतान्" (श्लो. ३२-३३) इति निजपुत्रदर्शनमात्रप्रार्थनायां भगवन्तौ बलिं प्रति गत्वा उचतुः "इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये, त इमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम्" (श्लो. ५०) इत्यत्र 'प्रसाद'शब्देन निजोच्छिष्टनैवेद्यस्य प्रकरणात् प्रसिद्धेषु असम्भवात् "तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी" (श्लो. ५३) इत्यत्र 'तच्'छब्देन रामकृष्णविशिष्टमष्टानामेव **नारायणाङ्गसंस्पर्श** इति हेतुना व्याख्यातुम् उचितत्वात्. "एत इव वा" (तत्रैव) इत्यत्रापि बालकवद् रूपं कृत्वा भगवान् प्रथमं श्रेष्ठत्वात् प्रियत्वाच्च समागत्य देवक्या उत्सङ्गे बालैः सह स्थित्वा पपौ. ततः भगवतो गदाभृतः पीतशेषम् अन्ये पीत्वा कृतार्था जाता इत्यपि "प्राकृतत्वदशायाम्" इति निबन्धेन, बलिगृहगमने अप्राकृतः पुनः स्वगृहागमने "बभूव प्राकृतः शिशुः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इति वत् प्राकृतशिशुभवनदशायाः सम्भवात् "तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी" (श्लो. ५३) इत्यत्र 'तत्-पुत्र'शब्दयोः असंकुचितवृत्त्या "मोहिता मायया विष्णोः" (श्लो. ५४) इत्यनेन च "मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप" (श्लो. ५७) इत्यत्र 'कृष्ण'पदमात्रोपादानाच्च दृढीकरणेन ध्वननाद् इति पञ्चमपक्षः.

एवं विरहदशायामाविर्भूतस्य भगवतः तथा भगवदर्थसंकल्पितस्य भगवत्स्वीकारविषयत्वेन तथा प्राकृतशिशुभवनदशायां शिशुक्रियाप्रकटनेन तथा कंसवधानन्तरं प्रथममिलने स्नेहातिशयेन प्राशनादिसंस्काराङ्गत्वेन वा तथा बलिभवनाद् आगमनानन्तरं स्वकीयजनोद्धारार्थं षड्बालकवद् बालकभवनेन देवक्याः स्तनपानं भगवतः पञ्चधा समर्थितमिति सुबोधिन्या मतेन पीतशेषत्वसिद्धिः.



(ख)

श्रीहरये गुरवे नमः. अथ सन्दर्भमतेन पीतशेषत्वं साधयामः. तत्र तदर्थसङ्ग्रहश्लोकः —

वृष्णित्वे पृष्णिगर्भोऽप्यदितिजनुषि यो वामनो देवकीत्वे ।
श्रीकृष्णः प्राकृतः सन् शिशुरथ विरहे भक्तदुःखासहिष्णुः ॥
विष्णुः कंसं निहत्योक्तकृतिसुमिलने मङ्गलोपक्रमे वा ।
मातुः स्तन्यं जघासैतदमृतरसतो मोचयन् स्वान् पुनातु ॥

अत्रैवं योजना : श्रीमद्भागवते दशमोत्तरार्धे श्रीदेवक्या मृतपुत्रप्रदानप्रसङ्गे "पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः, नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शना" (श्लो. ५५) इति श्रूयते. तत्र देवक्या 'अमृतं पयः गदाभृतो' भगवतः 'पीतशेषं' पानोच्छिष्टं 'पीत्वा नारायणाङ्गसंस्पर्शेन प्रतिलब्धात्मदर्शना' जाता इत्यन्वयः. अत्र यद् गदाभृतः पीतशेषत्वं पयोविशेषणमुक्तं तद् "जातो गतः पितृगृहाद् व्रजमेधितार्थः" (भाग.पुरा. ९।२४।६६) इत्यादितत्रत्यवाक्यैः पानस्यासम्भवात् कथं पीतशेषता सेत्स्यतीति शङ्कायामाह **वृष्णित्वे पृष्णिगर्भे**ति. "त्वमेव पूर्वसर्गे भूर्वृष्णिः स्वायम्भुवे सति तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः" (भाग.पुरा. १०।३।३२) इत्युपक्रम्य "मादृशो वां सुवृतः सुतः" (भाग.पुरा. १०।३।३८) इत्युक्त्वा "अहं सुतो वामभवं पृष्णिगर्भ इति श्रुतः" (भाग.पुरा. १०।३।४१) इति तत्रैव भगवदुक्ते पृष्ण्या देवक्या चैक्यात् वृष्णिजन्मनि पृष्णिगर्भेण भगवता पीतं स्तन्यं देवकीजन्मन्यपि पीतशेषत्वं सम्पादयतीति भावः. ननु जन्मान्तरयोर्भेदः ; कथं तत्सिद्धिरिति चेद्, न, "भवान्नारायणसुतः शम्बरेणाहृतो गृहाद् अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान् प्रभो" (भाग.पुरा. १०।५२।१२) इत्यत्र पूर्वजन्मसम्बन्धिभर्तुः पूर्वजन्मस्थाया रत्या अपरजन्मनि कामस्य भर्तृत्वमिव इहापि पृष्ण्याः देवकीत्वम् अवधारय.

ननु जीवे तादृग्व्यवहारापत्तौ द्रव्ये साध्यतां "तत्पादसलिलं यथा" (भाग.पुरा. १०।१।१६) इत्यादौ साधितमेव. नच *पृष्णिगर्भदशायां पानं कृतमिति कुतो लभ्यते, "देवसर्गे मातुरनुग्रहादुत्तैवसंहननांगा" इत्यादि पञ्चमस्कन्धोदाहरणात् स्तनपानाव्यवहाराभावाच्च *इति वाच्यं, "वरं ब्रूहि वरं ब्रूहि वरं ब्रूहि यथेप्सितम्" (.पुरा. । ।) इति सुतपसं प्रति भगवद्वचने "तनयं देहि तनयं तनयं नौ स्तनंधयम्" (.पुरा. । ।) इति पृष्णि-सुतपसोः प्रतिवचने पुराणान्तरीय-

स्तनंधयसुतप्रार्थनाश्रवणात्. नच 'स्तनंधय'पदम् आर्षेऽपि लक्षकं, श्रुतार्थबाधापत्तेः. किञ्च "देशिनी रोदमानाया निदधे स दयान्वितः" (भाग.पुरा. ४।३।१४) इति मारिषां प्रकृत्य षष्ठ (/ चतुर्थ ?) स्कन्धात्, स्कन्दस्य षट्कृत्तिकास्तनपानार्थं षण्मुखकरणोदाहरणाद् देवसर्गेऽपि स्तनपानस्य व्यवहारस्य दृढीकरणत्वात्. ननु युक्त्या सिद्धेऽपि वचनमपेक्षितं, तत्राह **अदितिजनुषि यो वामन** इति. तदधिवामनध्याने साधनरत्नमालायां "स्वात्मनः कामयत् पुत्रमरोगं चिरजीवनं, ध्यायेददित्या उत्सङ्गे वामनं स्तनपायिनम्" (. । ।) इति द्रष्टव्यम्. ननु प्रकृतग्रन्थे वामनावतारे तस्य क्व सा (/ अ ?) वकाशः ? "बभूव तेनैव स वामनो बटुः" (भाग.पुरा. ८।१८।१२) इत्युक्त्या स्तनपानाख्यसंस्कारार्थं एव सेति ग्रहणम्. ननु अदित्या देवक्याः कः सम्बन्धः ? "तयोर्वां पुनरेवाहम् अदित्यामास कश्यपाद्" (भाग.पुरा. १०।३।४२) इति स्वीयत्वमेव. ननु "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन" (भग.गीता ४।५) इति भगवदुक्तन्यायेन देवकी-कृष्णयोः जन्मान्तरस्य वचनानुभवसिद्धत्वात् कथं तत्रत्यस्तनपानेन प्रकृते पीतशेषता साध्यते इति चेत्, तत्राह **देवकीत्व** इति. "तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषानघे, जातो वां पुनरेवाहं सत्यं मे व्याहृतं सति" (भाग.पुरा. १०।३।४३) इति भगवदुक्तौ तेनैव प्राकृतेनैव वपुषा विद्यमानयोर्वां तृतीयेऽस्मिन् आविर्भावतिरोभावरूपया अघटितघटनपटीयस्या मच्छक्त्या तृतीयेऽस्मिन् भवे "मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः" (भाग.पुरा. ११।२२।३८), "जन्मत्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद, विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथौ" (भाग.पुरा. ११।२२।३९) इत्यादि एकादशस्कन्धोक्तरीत्या ज्ञानमात्रारोपिते जन्मनि इति अन्वये देवक्याः पृष्ण्यदितिभ्याम् अभेदः सिद्ध्यति. अतएव "तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप" (भग.गीता ४।५) इत्यत्र जन्माजन्मप्रयोजके अज्ञानज्ञाने तु कारणतया दर्शिते इति तदपवादार्थं "एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे" (भाग.पुरा. १०।३।४४) इति भगवता पृष्ण्यादिस्वरूपसूचनाद् अभेदो विनिर्गमितः. नच "तेनैव वपुषा" (भाग.पुरा. १०।३।४३) इति भगवत्स्वरूपविशेषणम्, 'अहमि'त्युक्त्वैव निर्वाहः, "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" (भग.गीता ४।६) इत्यादिभिश्च. ननु पृष्ण्यादिदशायां पीतेन स्तन्येन देवकीदशायां पीतशेषता नाङ्गीक्रियते तर्हि षड्बालानां स्तनपानस्य सम्भवात् भोजराजहननात् पूर्वमेव मुक्तिः स्यात्! तत्राह **श्रीकृष्ण** इति...(एतावानेव प्रकटा प्रकाशिता च. कदाचित् श्रीलालूभट्टानाम् इयं व्याख्या इति सम्भाव्यते - सम्पा.).

(२) एकादशस्कन्धे प्रकाशिताः

(क)

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥

(भाग.पुरा. ११।२।३६)

कायेनेति. कायेन कृतं पूजा-नमनादि नारायणे विनियुक्तं न फलेत् चेत् तदा न भागवतो धर्मः. भगवति न केवलं कायादिकृतमलौकिकमेव तादृशं भागवतो धर्मः किन्तु **अनुसृतो यः स्वभावस्तस्मात्** तद्वशादपि **यत्** कायादिकृतं **तदपि** तथा. अयमर्थः— ब्राह्मण्यादीनां शान्तत्व-दान्तत्व-शौचादिस्वभावः. तेन स्वस्वभावानुसारि यद् लौकिकं स्वस्वभावानुरोधि यदलौकिकं स न भवति. तथा हि ब्राह्मणादीनां लौकिकानि द्विविधानि— निषिद्धान्यनिषिद्धानि च. तत्रानिषिद्धानि ब्राह्मणादिभिः क्रियमाणानि शान्तत्वादि-स्वभावानुरूपाणि. तथाच अयमर्थः— ब्राह्मणादेः यद् अनिषिद्धं तादृशं तद् एतादृशं लौकिकं भोजनाद्यपि हरौ विनियुक्तं चेत् न दृष्टफलमिति भोजनादीनामपीहैव पर्यवसानम्. एवं ब्राह्ममुहूर्तम् आत्मकृतं यावद् लौकिकक्रियाजातं तस्य इहैव पर्यवसानात् तदुपयोगबुद्ध्यैव करणम्. यथोपरुद्धेन पूजादिकरणैरपचारः स्यादिति बुद्ध्या मूत्राद्युपचारा नतु शरीरादेर्निर्बन्धाभावमुद्दिश्य तथा पाकाद्युपयोगिकवागादि व्यापारस्यापि भगवदर्थपाकाद्युपयोगितयैव प्रवर्तनम्. अन्नपानादिग्रहः तन्निवेद्याचोद-कस्वीकार-रूपतया शरीरपोषणक्षमस्य तस्य स्वीकारः तत्सेवोपयुक्त-शरीररक्षोपायतया. यथा तत्सेवोपयुक्तपूजाद्युपकरणादौ रक्षा यतस्तद्वदेवं पोष्यपत्नीपुत्रादिपोषणस्य तदीयपाकादिकर्मनियुक्तपोषणतया तदनुरागेण तदनुपयुक्त-पित्रादिदोषाणां च तद्राहित्येन पापापकीर्तिभयेन भगवत्सेवाप्रतिकूलनिरसनरूपेण नतु विश्रामबुद्ध्या.

॥ इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितं कायेनेति पद्यतात्पर्यनिरूपणं समाप्तम् ॥

(ख)

नृदेहमासाद्य सुदुर्लभं यः प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

(भाग.पुरा. ११।२०।१७)

ननु त्वय्यनुकूले जीवस्य उक्तः प्रपन्नभावः सिद्ध्यति; त्वदानुकूल्यं

च ज्ञातुमशक्यमतः कथमयं यत्नं कुर्याद्? अकरणे वा अस्य को दोष? इति आशङ्क्याह **नृदेहमि**ति. **अनुकूलेन मया नृदेहमासाद्य यः पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महे**ति सम्बन्धः. यद्यहम् अनुकूलो न भवामि तदा अस्य मनुष्यशरीरमेव कथं भवेत्! अतः तत्प्राप्त्या मदानुकूल्यं स्पष्टमेवेति भावः. तत् साधनान्तरेणापि भवतीति चेद्, न, मनुष्यशरीरं विना साधनं न सिद्ध्यतीति अन्योन्याश्रयदोषप्रसङ्गात्. अत एवाह **सुदुर्लभमि**ति, मदानुकूल्यं विनेति भावः. ननु मनुष्यशरीरे को विशेष इति आशङ्क्याह **प्लवमि**ति, मोक्षसाधनाधिकारात् संसारार्णवे तारकमित्यर्थः. ननु प्लवस्यापि दार्ढ्यमपेक्षितम्, अन्यथा पारपर्यन्तं न गच्छेद् इति आशङ्क्याह **सुकल्पमि**ति, रोगादिप्रतिबन्धरहित-सर्वेन्द्रियादिपाटव-युक्तमित्यर्थः. ननु नाविकमन्तरेण नौकापि कथं पारं प्रापयेद् इति आशङ्क्याह **गुरुकर्णधारमि**ति. अन्यत्र कर्णधारः किञ्चिद् गृहीत्वा पारं नयति, अत्र तु किञ्चिदुपदिश्य दत्वा नयतीति विशेषो 'गुरु'पदेन ध्वन्यते. ननु वातेऽनुकूले कर्णधारोऽपि नावं पारं नयति, नान्यथा इति आशङ्क्याह **नभस्वतेरितमि**ति. **नभस्वता** प्राणात्मकवायुना **इरितम्**. यथा वायुं विना नौर्न चलति तथा प्राणं विना देहोऽपीति वायुस्थानीयस्तदात्मकत्वात् प्राण एव अर्थाद् उक्तो भवति. अत एवेतरसामग्रीसद्भावेऽपि मृतदेहस्य न तारकत्वम्. भगवतो वायुत्वकथनं यत् तदसाधु, साक्षात् तदानुकूल्ये[1] सति **न तरेदि**ति कथनानुपपत्तेः. **मया नृदेहमासाद्ये**ति दूरान्वयदोषोऽपि न मन्तव्यः, "परोक्षं च मम प्रियम्" (भाग.पुरा. ११।२१।३५) इत्यभिप्रायेण सङ्गोप्यकथनात्. **मयानुकूलेन** एतावति साधनरूपेऽर्थे सिद्धे यदि **न तरेत्** तरणार्थं प्रयत्नं न कुर्यात्. प्रयत्नोऽपि न कष्टसाध्यः किन्तु "मदुद्धारं कुरु" इति गुरुप्रार्थनामात्रम्. तावदपि चेत् न कुर्यात् तदा आत्मनः संसारपातात् तद्घातदोषो अस्य भवत्येव. इदमानुकूल्यं साधनोपकारि, नतु फलोपकारि. तथा सति तरेदेव, अतस्तदभावात् नानुपपत्तिः काचित्.

॥ इति श्रीमद्देवकीनन्दनानां [2]लिखनमिदम् ॥

---

१. -ले. २. लिखितमिदं रघुनाथेन.

(ग)

गोकुलाधीशवागीशपादाब्जारक्तचेतसा ।
भगवद्वाक्यविवृतौ प्रवृत्तोऽस्मि न चान्यथा ॥

इह हि भगवान् श्रीमदुद्धवे पुष्टिभक्तिस्वरूपकथनार्थम् अन्यनिषेधपूर्वकं "न रोधयति माम्" (भाग.पुरा. ११।१२।१) इत्यादिना सत्सङ्गाद् मर्यादाभक्तिलाभमुक्त्वा, पुष्टिभक्तिस्तु भावैकलभ्येति तद्भावस्वरूपकथनार्थं व्रजवरवधूनां स्वरूपमाह **रामेणेति** चतुर्भिः.

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोगतीव्राधयोन्यं ददृशुः सुखाय ॥१०॥

मयि रामेण सार्धं श्वाफल्किना मथुरां प्रणीते अनुरक्तचित्ता मे वियोगतीव्राधयः सुखाय विगाढभावेन मदन्यं न ददृशुः. अत्रायं भावः— भगवति प्रस्थित एव तादृशाधियुक्तास्ता जाता, येन भगवांस्तत एव पुनर्व्रजमागतः. ततोऽन्यं तत्र न ददृशुः. अत एव तत्रापि निरूपितं "ता निराशा" (भाग.पुरा. १०।३६।३७) इत्यारभ्य "चेष्टितम्" (तत्रैव) इत्यन्तेन. **विगाढभावेन** अविहितस्नेहेनेत्यर्थः. यद्वा **वियोगतीव्राधयस्ता मे सुखाय स्वान्यं न ददृशुः.** अत्रेदमाकूतं— भगवद्विप्रयोगेण तादृगाधिः असह्यो जातो, येन भगवन्तं विना क्षणमपि न स्थितिर्भवति. तदा स्नेहरसरूप-प्रेमातिशययुक्त-भगवत्स्मरणेन तत्रापि स्वविप्रयोगदुःखमनुभाव्य स्वस्वरूपादन्यं मे सुखार्थं न दृष्टवत्य इति भावः. तत्र कारणमाह **मयि विगाढभावेनेति**. अयमर्थः— स्वस्मिन् मयि, षष्ठ्यर्थे सप्तमी, मम विगाढभावदर्शनेन इति भावः. ननु स्त्रीणां विप्रयोगे स्वदुःखविस्मरणेन तद्दुःखस्मरणम् असम्भावितम् इति आशङ्क्याह **अनुरक्तचित्ता** इति, अनुरक्तं चित्तं यासाम्. अनुरक्तत्वात् स्वदुःखादपि तद्दुःस्वस्य अत्यसह्यत्वमेवेति भावः ॥१०॥

किञ्च तासां स्वानुभूतपूर्वसुखमपि दुःखरूपं भवतीत्याहुः **तास्ताः क्षपा** इति.

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत् ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥११॥

ताः प्रेष्ठतमेन मया क्षणार्धवत् नीतास्ताः क्षपाः पुनस्ता एव

वृन्दावनगोचरेण मया हीनास्तासां कल्पसमा बभूवुः. अयं भावः — तासां रात्रीणां नित्यत्वाद् दिवापि सत्त्वेन ताः दिवसे मया हीनास्तथा जाताः. अत एव स्वविशेषणमुक्तं **वृन्दावनगोचरेणे**ति. वृन्दावने गोषु गोनिमित्तं चरेण चञ्चलेनेत्यर्थः; दिवा गोचारणार्थं गतेनेति यावत्. गोष्विन्द्रियेषु चञ्चलेनेति वार्थः. बाह्येन्द्रियेषु रसार्थं तिरोहितेनेति भावः, अन्यथा **ता** इति पदं व्यर्थं स्यात्. **प्रेष्ठतमेने**ति स्वस्य क्षणार्धवत् नयने कल्पसमत्वकरणे आवश्यकत्वमुक्तम्. अन्यतराकरणे पूर्णरसदानं न स्यात्, तदा प्रेष्ठत्वं न स्यात्. अत एव 'तम'त्वम् उक्तम्. यद्वा **मयैव ताः क्षपाः** तत्सम्बन्धिन्यः क्षपाः **क्षणार्धवत् नीताः ताः पुनस्तासां** सङ्गेन **हीना** मम **कल्पसमा बभूवुः. मयैवे**ति स्वानुभवकथनेन तत्सम्बन्धिरात्रीणां महत्त्वमुक्तम्. **वृन्दावनगोचरेणे**त्यनेन स्वस्य तत्रैव प्रकटत्वं निरूपितम् ॥११॥

पुनस्तासां विशेषधर्मानतिदिशति **ता नाविदन्निति.**

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥१२॥

ता मय्यनुषङ्गबद्धधियो नामरूपे प्रविष्टा आत्मानं स्वं देह**मदः** पारलौकिकं भावात्मकं पूर्वं रसरूपदृष्ट्या दृष्टं भगवति भगवद्भावात्मकम् **इदं** विप्रयोगे तत्स्वरूपाद् भिन्नतया ज्ञातं रसरूपं प्रादुर्भूतं स्वरूपं **तथा नाविदन्.** अत्रायं भावः — ता भगवति विगाढभावत्त्वेन**आत्मानं** स्वस्वरूपं स्वीयत्वेन न ज्ञातवत्यः किन्तु भगवदीयत्वेनेति भावः. स्वीयत्वेन चेदात्मा ज्ञातः स्यात् तदा विप्रयोगे दुःखं सोढ्वा जीवनार्थं यत्नं न कुर्युः किन्तु दुःखनिवृत्त्यर्थं विपरीतसाधन एव यत्नः स्यात्. अत एव **नामरूपे प्रविष्टा** इत्युक्तम्. गुणगानरूपे भगवति प्रविष्टा इति भावः. भगवदर्थं गुणगानेन दुःखसहनेनापि जीवरक्षा कृतेति भावः. अत एव ताभिरुक्तं "त्वयि धृताशया" (भाग.पुरा. १०।२८।१), "दुस्त्यजस्तत्कथार्थं" (भाग.पुरा. १०।४४।१७) इत्यादिभिः. **तथे**त्यस्य निदर्शनमाह **यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये** च **नद्यः.** अत्रायं भावः — वृन्दावने **मुनयः समाधौ** वेणुकूजनरसास्वादसमये **नामरूपे** वेणुशब्दात्मक-भगवत्स्वरूपे **प्रविष्टाः** स्वरूपदर्शनज-स्वनेत्रसुखमपि त्यक्त्वा स्वकूजितैर्भगवतो रसोद्बोधका भवन्तीति भावः. एतच्च यथा तथा "विद्रावितमुनिगणसमाधिः" (। ।) इत्यत्र निरूपितम्. **नद्यश्च**

व्रजसम्बन्धिन्यो **रसाब्धौ** भगवति **प्रविष्टाः** स्वरूपं न विदुः. एतच्च "नद्यस्तदा" (भाग.पुरा. १०।१८।१५) इति पद्ये श्रीमदाचार्यैर्यथा प्रपञ्चितमिति नात्र वितन्यते ॥१२॥

ननु तासां भगवति कामभाव एव स्थितो, नतु ब्रह्मभाव इति कथमुत्कर्षस्तद्भावस्य इत्याशङ्क्याह **मत्कामा** इति.

मत्कामा रमणं जारं मत्स्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥१३॥

ता **मत्कामा मां रमणं जारं** ज्ञातवत्यो, नतु स्वकामेन तथा ज्ञातवत्यः. मम च रसभोगेच्छा जाता; साच तथाभाव एव भवति, नान्यथा, यतो रसस्वरूपं तादृगेव. अत एव स्वाविवाहितायां मुख्यो रस इति तच्छास्त्रे निरूपितम्. तेन मत्कामा एव तथा ज्ञातवत्यः. नन्वेवं ज्ञानं भ्रमादेवेति चेद्, इत्याशङ्क्याह **मत्स्वरूपविद**[1] इति, मत्स्वरूपं जानन्तीत्यर्थः. रसरूपपुरुषोत्तमस्वरूपं यादृशमस्ति तादृशं ता एव जानन्तीति भावः. तासां तादृशस्वरूपज्ञाने साधनमाह **अबला** इति, आधिदैविक्य इति भावः. **अबलासम्बोधनेन** निःसाधनत्वेन दीनतैव स्वज्ञाने साधनमुक्तम्. एवं स्वरूपज्ञानफलमाह **तत्-सङ्गाच्छतसहस्रश** इति. **तत्-सङ्गाच्छतसहस्रशो**ऽसङ्ख्याता जीवाः **परमं** ब्रह्म पुरुषोत्तमं **मामापुः**. अत्रायं भावः— तासां सङ्गादन्येषामपि मत्प्राप्तिर्भवति तत्र तासां फलस्वरूपं किं वक्तव्यमिति भावः. एवं स्वरूपनिरूपणेन त्वया मत्प्राप्त्यर्थं तदनुवृत्तिरेव कार्येत्युपदेशः कृत इति भावः ॥१३॥

श्रीविट्ठलपदाम्भोजपरागकृतरागतः ।
श्रीमद्व्रजवधूपादरेणुर्मह्यं प्रसीदतु ॥

॥ इति "रामेण सार्धं मथुराम्" इत्यस्य श्लोकचतुष्टयस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥

---

१. द्रष्ट. अणुभाष्य ३।३।२९. भाष्यकारानभिप्रेतपाठत्वाद् अयं पाठो अनादरणीयः प्रतिभाति - सम्पा.

(घ) – (क), (ख)

"कथा इमास्त" इत्यस्योपरि श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरणरचिताः कारिकाः
श्रीपुरुषोत्तमप्रकटितविवृतिसहिताः

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभोर् वचोविभूतीर् नतु पारमार्थ्यम्॥
(भाग.पुरा.१२।३।१४)

[अ]तैत्तिरीयोपनिषत्सु ब्रह्मवित्प्रपाठके रसरूपस्यैव आनन्दस्य परब्रह्मत्वं मुख्यरूपत्वं च श्रावितम्. छान्दोग्ये च सनत्कुमार-नारदसंवादे तत्प्राप्तिसाधनं श्रावितं, तत् सर्वं भाष्ये आनन्दमयाधिकरणवर्णके लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे च विचारितम्[१]. आश्रयनिरूपणे भक्तिमार्गाश्रियो असूचि, तदनुभवप्रकारः च "**ब्राह्मेण जैमिनिः**" (ब्र.सू.४।४।५) इति अधिकरणे विचारितः. गीतायाअपि तत्रैव तात्पर्यम् इति च न्यासादेशकारिकाविवरणे उपपादितम्[२].

:: (क)ग्रन्थकर्तुरेवेतरस्य वा टिप्पणी ::

१."**स्वयमेव आत्मना आत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम**" (भग.गीता.१०।१५) इति वाक्याद् भूम्नः फलेन एकीभूतसाधनप्रतिपादकम् अधिकरणम् उपात्तम्. २."**पुरः-स्फूर्तिको अयम् अर्थो अत्र उक्तो, वस्तुतस्तु अन्यत्रैव तात्पर्यं तथाहि अत्र सर्वात्मभावे तात्पर्यम्**" इति ग्रन्थे.

::(ख)श्रीगोपेश्वराणां व्याख्याटिप्पणम्::

स्वप्राप्तेर् दुर्लभत्वाय भ्रान्तौ उपदिशन् शिवम्॥
राजते कृष्णएवासौ स्वाश्रयस् तद् इहोच्यते॥१॥
आत्तयष्टी(मुपालभ्य!) गोपीं योऽपससार ह॥
भीतवत् सहसा कृष्णः स आश्रय इहोच्यते॥२॥
स्वान् अवन् उद्धरन् अद्रिं मदमात्रं बभञ्च ह॥
शतक्रतोर् नाधिकारं स कृष्णोऽस्त्याश्रयः सताम्॥३॥

इह खलु कर्तृ-कर्म-करणानुसन्धानरहितान् 'चिन्मात्रोऽहम्' इति भावनां स्वीकुर्वतः शांकरान् निरसितुं "तत् त्वम् असि"-आदिवाक्यजन्याद् "अहं ब्रह्म अस्मि" इति ज्ञानाद् ब्रह्मभावलक्षणो मोक्षः सम्पद्यते इति सिद्धान्तं दूषयन्त्यः कारिकाः अवतारयन्ति [अ]**तैत्तिरीयोपनिषत्सु** इत्यादि.

ननु पूर्वोक्तमपि स्वबुद्धिकल्पितम् इति चेत् तत्र आहुः तद् यदि श्रीभागवते मुख्यतया प्रतिपाद्ये आश्रयस्कन्धे न स्फुटीभवेत् तदा तस्मिन् अर्थे एकवाक्यत्वाभावेन आभासत्वं वाक्यानां स्यादिति तन्निवारणाय[१] रसो वा आनन्दो वा भूमा वा गीतोक्तभक्त्येकलभ्यो वा श्रीभागवतोक्तकृष्णाश्रयो वा आश्रयइति अर्थैकत्वाद् एकं वाक्यम्. एतेन श्रुतिकृतबाधोऽपि पुराणस्य वारितः, स्वबुद्धिकल्पितार्थापेक्षया पुराणोक्तस्य ज्यायस्त्वात्. "**कथा इमा...**" इति [अ]श्लोकं "**वचोविभूतीरित्युक्त्या भिन्नाश्रयनिवारकः**" (त.दी.नि.३।१२-।९) इति [आ]निबन्धप्रतीकं धृत्वा श्रीमत्प्रभुचरणाः विंशतिभिः कारिकाभिः तदर्थं विचारयन्ति **वच** इत्यादि.

"वचोविभूतीर्"इत्युक्त्या भिन्नाश्रयनिवारणम्।।
स आश्रयः परं ब्रह्म श्रीकृष्ण इति गीयते।।१।।

उक्तश्लोके "**वचोविभूतीरित्युक्त्या**" पूर्वस्कन्धेषु उक्तानां महीयःकथानां [इ]भगवदनुवर्णनरूप-वचनशेषत्वकथनेन **भिन्नाश्रयनिवारणम्** अत्र विवक्षितो यः **आश्रयः** तद्**भिन्नस्य यद् आश्रयणं भिन्नविधश्च** यः **आश्रयः** तदुभयनिवारणम् अत्र क्रियते इति शेषः. अत्रहि स्कन्धे आश्रयस्य लक्षणं तदाश्रयणप्रकारः च इति द्वयं[२] निरूप्यते. अतः तथा इति अर्थः. स आश्रयः को वा? इति अपेक्षायाम् आहुः **स**[३] इत्यादि. **गीयते** इति, [ई]लक्षणवाक्ये 'परं'-'ब्रह्म' इति पदद्वयेन लक्ष्यं निर्दिश्य [उ]तद्विमर्शस्कन्धे[४]

(क)

१.वेदे स्मृतौ पुराणे च एकमेव वस्तु "**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते**" (त.दी.नि.१।६) इति तन्निवारणाय. २.भक्तसर्वात्मभाववद्भक्तसाधारणप्रकारः च इति अर्थः. ३."**आभासश्च निरोधश्च यतश्च अध्यवसीयते, स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते**" (भाग.पुरा.२।१०।७). ४.द्वादशस्कन्धे.

(ख)

[अ]**श्लोकम्** इति द्वादशस्कन्धस्थम् इति अर्थः. [आ]**निबन्ध**...इति, द्वादशस्कन्धनिबन्ध...इति अर्थः. [इ]**भगवद्** इत्यादि, तथाच वचसां भगवदनुवर्णरूपवचनानां 'विभूतीः' शेषान् इति अर्थः प्रतिजानीमः इति शेषः. [ई]**लक्षण** इत्यादि, द्वितीयस्कन्धे "**स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते**" (भाग.पुरा.२।१०।७) इति वाक्ये इति अर्थः. [उ]**तद्विमर्श** इत्यादि, द्वादशस्कन्धे.

"**कथा इमा...**" इति श्लोकानन्तरं "**यस्तु उत्तमश्लोकगुणानुवादः स वर्ण्यते अभीक्ष्णम् अमंगलघ्नः तमेव नित्यं शृणुयाद् अभीक्ष्णं कृष्णे अमलां भक्तिम् अभीप्समानः**" (भाग.पुरा.१२।३।१५) इत्यत्र पूर्वकथाशेषिणो[१] गुणानुवादं निरूप्य तच्छ्रवणफलत्वेन निर्मलां कृष्णभक्तिं[२] यद् वदति तेन लक्ष्यभूतं परं ब्रह्म श्रीकृष्णः इति गीयते. अतः सएव विवक्षितः आश्रयः[३] इति अर्थः ॥१॥

ननु आश्रये निरूपणीये भिन्नाश्रयनिवारणस्य किं प्रयोजनम् अत आहु **यावद्** इत्यादि.

यावत्तु साधनावस्था तावद् अन्याश्रयो भवेत्॥
पूर्णे त्वनुग्रहे भावांकुरे जाते रसाश्रयः ॥२॥

तथाच साधनावस्था[४] निवृत्त्या(/त्तौ!) सिद्धावस्थो[५] न अन्यम् आश्रयेद् इति बोधनं निवारणप्रयोजनम् इति अर्थः. ननु श्रीकृष्णस्य पूर्वम् अवतारत्वकथनात् कथम् आश्रयत्वम्? इत्यतः आहुः **पूर्णे** इत्यादि. तुः शङ्कानिरासे. अनुग्रहो द्विविधो : लौकिको अलौकिको भक्तिदः च. तयोः मध्ये द्वितीयः पूर्णः इति षष्ठस्य निबन्धे स्थितम्. भक्तिरपि विहिताविहितभेदेन द्विविधा इति दशमे "**युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्**" (भाग.पुरा. १०।३।४५). तत्र द्वितीया पूर्णे अनुग्रहे लभ्यते नेतरथा, "**भगवान् भजतां मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्**" (भाग.पुरा.५।१६।१८) इति वाक्याद्, अतः तद्दित्सायां **पूर्णे अनुग्रहे** परमकृपायां बीजभूतायाम् उप्तायां भावाङ्कुरे विहितरत्यात्मके जाते रसाश्रयः ॥२॥

आद्यं कृष्णाश्रयं व्यवस्थापयितुम् अवतारयन्ति.

(क)

१.शेषिणो = भगवतो गुणानुवादः = महीयःकथायाः शेषत्वम्. २."'**कृषिर्**'**भूवाचकः शब्द**" (गो.पू.ता.उ.१।१) इति श्रुतेः. ३.आसमन्ताद् विषयसहिता **श्रयः** सेवा, 'श्रिञ्'=सेवायां धातुः ; तेन भूमविद्या, अत्र सर्वकामाविर्भावात्. ४."दशमस्य विशुद्ध्यर्थं"(भाग.पुरा.२।१०।२) ज्ञानावस्था, "**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**" (तैत्ति.उप.२।१) इति 'ब्रह्मविद्'इत्युक्तावस्थादयो विवृताः. ५.भजनावस्थो "**ज्ञानी चेद् भजते कृष्णम्**" (त.दी.नि.१।१५) इत्युक्तवाक्याद् भजनावस्थः "**आप्नोति परम्**" (तत्रैव) इति श्रुतेः.

दशधा रसरूपः सन् अवतार इतीर्यते॥
तादृशी भावना कार्या यया भावाङ्कुरोदयः ॥३॥

[अ]**'विपश्चिद्'**("**सह ब्रह्मणा विपश्चिता**"इति श्रुत्युक्तं) **ब्रह्म** [आ]नवलक्षणं, दशधा सर्गाद्याश्रयान्तं, तैः दशप्रकारैः रसप्रणाड्या आविर्भूय विभावैः उत्कृष्यमाणो रसरूपः सन् "**आविर्भूतानुरागो वा**"(विज्ञ.८।२५) इति विज्ञप्तिश्लोकोक्तरीत्या बहिःप्रकटीभवन् 'अवतारः'इति [इ]स्वरूपविद्भिः ईर्यते. तथाच [ई]क्रियाविशेषप्रयुक्त- [उ]नामान्तरत्वेन इदं [ऊ]श्रुतौ अत्रच अभिप्रेतं, नतु अंशत्वेन, अतो मूलरूपत्वाद् आश्रयत्वम् इति अर्थः. अत्र बीजम् "**असद् वा इदम् अग्रे आसीद्**" (तैत्ति.उप.२।७) इति अनुवाके [ऋ]आत्मकर्मकसृष्ट्युत्तरं [ए]रसत्वश्रावणं [ऐ]तत्कार्यश्रावणं च ज्ञेयम्. तेन परिकरोऽपि "**स वै नैव रेमे**" (बृह.उप.१।४।३) इति [ओ]श्रुत्युक्त-द्विधापातन-न्यायेन [औ]तदात्मको बोध्यः. अयमेव लीलानित्यत्ववादाभिप्रायः[अं]. अवतारत्वे अपि बीजं "**यस्यां न मे पावकम्, अंग! कर्म... लीलावतारेप्सितजन्म वा स्यात्**" (भाग.पुरा.११।११।२०) इति भगवद्वाक्यं ज्ञेयम्. एवं वेदादिचतुष्टयस्य प्रमेयं फलं च [अः] निष्कृष्टं, न्यासादेशकारिकाविवरणसमाप्तौ तथा निर्णयाद् इति. इदं सर्वं श्रीमदाचार्यैः "**वेदो वा भगवान् वापि** [क]**शब्दार्थरसरूपधृग्**" (त.दी.नि.३।१२।५) इति 'रस'पदोक्त्या सूचितम्. ननु एवं सति तत्प्राकटच्यम् अतिदुर्घटम् अतो वृथा निरूपणम् इत्यतः साधननिष्कर्षम् आहुः **तादृशी** इत्यादि. एकादशे सुगोप्ये परमगुह्योपदेशे

(ख)

[अ]**विपश्चिद्**इत्यादि, विविधभोगचतुरं— "विविधं पश्यन् चितृत्वम्" इति समासात्. [आ]**नवलक्षणलक्ष्यम्** इत्यादि, सर्गादिनवलक्षणलक्ष्यम् इति अर्थः. [इ]**स्वरूपविद्भिः** इत्यादि, एतदेव रूपं मधुराष्टके निरूपितम्. [ई]**तथाच क्रिया**...इत्यादि, आत्मसृष्टिकरणप्रयुक्त-'रस'इति [उ]**नामान्तरत्वेन**इति अर्थः. [ऊ]**इदं श्रुतौ** इति, ब्रह्म इति अर्थः. [ऋ]**आत्म**-इत्यादि, "**तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत**" (तैत्ति.उप.२।७) इति. [ए]**रसम्** इत्यादि, "**रसो वै सः**" (तत्रैव) इति. [ऐ]**तत्कार्यम्** इत्यादि, "**रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति**" (तत्रैव) इति. [ओ]**न्यायेन** इत्यादि, प्रजापतिरमणन्यायेन इति अर्थः. [औ]**तदात्मकः**इत्यादि, 'रस'पदान्यथानुपपत्त्या बोध्यम्. [अं]**अभिप्रायः** इत्यादि, "**परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**"(श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतेरपि तत्रैव तात्पर्यं ज्ञेयम्. [अः]**फलं च निष्कृष्टम्** इति, कृष्णएव प्रमेयं फलं च इति अर्थः. आचार्याशयगोचरतां स्फुटीकर्तुं द्वादशस्कन्धनिबन्धं प्रमाणयन्ति [क]**रसरूप**...इत्यादि. लोके शब्दार्थ-भेदेन आश्रयद्वैविध्यात् शब्दरसरूपधृग् अर्थरसरूपधृक् च इति अर्थः.

[अ]भगवता अस्याएव साधनत्वेन निष्कृष्टत्वात् तयैव प्राकट्यम् इति न वैयर्थ्यम् इति अर्थः ॥३॥

ननु तत्साधनं भगवता स्वसमानं गुणातीतं श्रीमदुद्धवं प्रति उपदिष्टम्, इदानीन्तनानान्तु अयोग्यत्वाद्, महाराजान्तःपुरप्रवेशकामनाज्ञाने दण्डवत्, तया अपराधएव भवतीति इदानीं कुतः तस्याः कार्यत्वम् उपदिश्यते? इत्यतः आहुः **श्रीमदाचार्य...** इत्यादि.

श्रीमदाचार्यकृपया भवेद् भावो नचान्यथा॥
भावात्मा भगवान् कृष्णः सएव ह्याश्रयो मतः॥४॥

एतदर्थमेव आज्ञया तत्प्रकटनात् तत्तद्योग्यतासम्पादन-सामर्थ्यसत्त्वात् तत्कृपा चेत् तदा स सम्भवतीति तादृशान् प्रति उपदिश्यते अतो न दोषः इति अर्थः. ननु साधनान्तरेष्वपि शास्त्रीयत्वस्य तुल्यत्वाद् भावे को विशेषो येन तस्यैव एतादृक्प्राकट्यहेतुत्वम्? इत्यतः आहुः **भावात्मा** इत्यादि. "**असद् वा...**" (तत्रैव) इति अनुवाकोक्तरीत्या **भावात्मा भगवान् कृष्णः सएव** कृष्णो **हि** यतो हेतोः **आश्रयो मतो** अस्मिन् स्कन्धे अध्यायत्रयेण एतच्छ्लोकद्वयेन च विचारितो; अतः, फलाभिन्नत्वेन एतावत्सामर्थ्यात् फलहेतुत्वम् इति अर्थः ॥४॥

"भावो भावनया सिद्ध" इति वाक्यात् प्रतीयते॥
तद्वाक्यपरिनिष्ठानां हृदि भावांकुरो भवेत्॥५॥

ननु [आ]भावात्मा आश्रयो अस्तु, स्थायिभावत्वेन सत्त्वाद्; रसस्यच विरलानन्दरूपत्वात् तस्यच आनन्दमयाधिकरणे ब्रह्मरूपत्वात्. ननु एवं सुखस्वरूपत्वे द्रव्यरूपात्मत्वस्य नैयायिकानां कृतस्य त्यागापत्तिः इति चेद्, न, आश्रयस्य द्रव्यत्वसाधकत्वे(न गुण!)रूपत्वानुपपत्तेः, विरुद्धधर्माश्रयत्वेन द्रव्यत्वगुणत्वयोरपि आश्रयत्वे बाधकाभावात्.किञ्च भावस्य "**न एनं छिन्दन्ति शस्त्राणि**" (भग.गीता.२।२३) इति जीवारम्भकधर्मवत्त्वस्य ब्रह्मधर्मस्य सम्भवे द्रव्यत्वे द्वादशसु सगुणत्वादिभिः विपरीतधर्माः आपद्येरन्. ननु "**एकमेव**

(ख)

[अ]**भगवता** इत्यादि, 'अस्याः'=भावनायाएव साधनत्वेन, [आ]**भाव...**इत्यादि, रसात्मा.

अद्वितीयं ब्रह्म" (पैङ्ग.उप.१।१) इति श्रुतेः आश्रये पञ्चविधत्वं कथम्? इति चेद्, इत्थं, "**सत्यव्रतं...**" (भाग.पुरा.१०।२।२६)श्लोके सत्यस्य पञ्चविधोक्तेः महानारायणोपनिषदि गीतायां च "**अधिष्ठानं तथा कर्ता**" (भग.गीता.१८।३४) इति कर्मकरणे पञ्च हेतवः उक्ताः तेऽपि एवं संख्यातात्पर्येण कारणगताः इति बोध्यम्. गीताषष्ठाध्यायोऽपि अनुसन्धेयः. ननु भवतु एवम्भावस्य सामर्थ्यं तथापि भावनया तस्य सिद्धौ किं मानम् अतः आहुः **भावः** इत्यादि. तथाच आचार्योक्ति[अ]रेव तया तदुदये मानम् इति अर्थः. ननु श्रीभागवते निरोधो मुक्तिहेतुत्वेन; मुक्तिः आश्रयहेतुत्वेन, उक्तेति भावनामात्रेण कथं तदुदयः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तद्वाक्य...**इत्यादि. श्रीमदाचार्यवाक्येषु निष्ठावतां हृदि भावांकुरो भवेत्॥५॥

तदा इति.

तदा दशा भवेद् एषा स निरोध इतीर्यते॥
"स मानसीन आत्मे"ति, "नामानी"ति श्रुतेरपि॥६॥

तदा एषा दशा एवम्भावकावस्था **भवेत्. स** एवच अवस्था दशमे '**निरोधः**' **इति ईर्यते** अतो अत्र निरोधएव नामान्तरेण उच्यतइति तस्याः साधनत्वं निर्बाधिम् इति अर्थः. उक्तस्य अर्थस्य[१]श्रौतत्वेन श्रीमदाचार्याभिप्रेतत्वं, भगवत्परिकरस्य भगवदभिन्नत्वं च प्रमाणेन निगमयितुं श्रुति(तैत्ति.आर.३।११।१,३।१२।७)द्वयम् उपन्यस्यन्ति **स मानसीन** इत्यादि. अत्र आद्या द्वितीयसुबोधिन्यां "**दशमस्य विशुद्ध्यर्थम्**" (भाग.पुरा.२।१०।२) इत्यस्य व्याख्याने "**शतं**[२] **शुक्राणि**" (तैत्ति.आर. ३।११।१)इत्यादिचरणरूपा [आ]र्धान्तिकोपन्यासाद् ज्ञापिता. तेन शुक्र-वेद-ज्योतिषाम् उत्पत्त्यादिमतां यत्र एकीभावः **स आत्मा जनानां मानसीनः**,[इ] मनसि भव इति बोधनाद् मानसीनत्वस्य च रसलिङ्गत्वाद् दशभिः निरूप्यस्य रसरूपत्वात्. द्वितीया

(क)

१.वेदाश्रयात् तृतीयं निरूपयितुम् अवतारयन्ति. अयमेव आध्यात्मिकादित्रययद्-'आश्रय'पदेन व्यवह्रियते समाप्तौ च वक्ष्यति. २."**शतं शुक्राणि**"(तैत्ति.आर.३।११-।१) इत्यादिमन्त्रस्य चरणद्वयरूपार्धं तस्य 'अन्तिके'=अन्ते "**सर्वे वेदा यत्र एकं भवति**" (तत्रैव) इत्यस्याः तृतीयपादरूपायाः समीपे उपन्यासाद् इति अर्थः.

(ख)

[अ]**आचार्योक्तिः** इति, संन्यासनिर्णयस्था इति अर्थः. [आ]**चरणरूपा...** इति, अन्तिमचरणे स्फुटम् इदम्. [इ]**मानसीन**इत्यादि... **तमस्तु पारे**...(ग्रन्थांशत्रुटिः).

पुरुषसूक्ते. "**वेद अहम् एतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे**" (तैत्ति.आर.३।१२।७) इति महापुरुषं प्रस्तुत्य तस्य तमस्सम्बन्धराहित्यश्रावणेन तस्य [अ] पुरुषत्वादिधर्माणां निरवद्यत्वं गमयित्वा उत्तरार्धे सर्वरूप [आ] विचयन-नामकरण-तदभिवदन-नामाभिवदतः स्थितेश्च श्रावणाद् रूपविचयादिलीलानां तत्सम्बन्धिनां तत्कर्तुः महापुरुषस्य च [इ]'पारे' इति सप्तम्या बोधिते [ई]निरवध्यक्षरब्रह्मणि स्थितेः [उ]महत्त्वेन विशेषणाद्, [ऊ]रूपादीनां तदभिन्नत्वं, 'तु'ना [ऋ]मायावादशंकानिरासं[१], धीरत्वेन अभिप्रायगोपनं श्रावयति इति अयमर्थः तथा निगमनीयः इति अर्थः ॥६॥

भावनाप्रकारं बोधयितुम् आहुः **व्रज**...इत्यादिद्वयम्.

व्रजवीथिषु कौतुकानि कुर्वन् सखि दृष्टो हि त्वयाद्य नन्दसूनुः ॥
त द न न्त र म् ईक्षणं विषमस्मृति-धारामद-घूर्णवदेव चास्ते ॥७॥
ग्री वो रः - स्थ ल - क टि त ट - का ञ्ची - दा मा त्र पादयोः ॥
सततं वि ह र न्ती व न माला म त्ता लिकुलैर् अभवद् उद्गीता ॥८॥

(क)

१.क्रीडाभिप्रायके रूपप्रपञ्चे नामप्रपञ्चेऽपि "**अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते तपसा वेदयुक्त्यातु प्रसादात् परमात्मनः**" (अणुभा.१।१।१).

(ख)

[अ]**पुरुषत्वादिधर्माणाम्** इत्यादौ 'आदि'ना "**आदित्यवर्णम्**" (तैत्ति.आर.३।-१३।१) इति आदित्यवर्णत्वम्. [आ]**सर्वरूप**...इत्यादि, शुक्र-वेद-ज्योतीरूपचरणत्रयम् इति अर्थः. ज्योतिश्चरणाधिकरणे स्फुटम् इदम्. [इ]"**आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते**" (तैत्ति.आर.३।१२।७) इत्यत्र 'पारे' इत्यादि, 'तमो'=अविद्या तस्याः पारे इति अर्थः. [ई]**अक्षरइत्यादि**. [उ]**महत्त्वेन** इत्यादि, महान्तं पुरुषम् इति अर्थः. [ऊ]**रूपादि** इत्यादि, प्रकाशाश्रय(ब्र.सू.३।२।२८)न्यायेन. [ऋ]**मायावाद**-इत्यादि, सच अवतरणे उक्तः तत्प्रयुक्तशंकानिरासम् इति अर्थः. (सम्पा. : इह मूलमातृकायां तु अनुपलब्धपाठप्रतीकाः केचन) 'श्रुतयः' इत्यादि, "**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**" (तैत्ति.-आर.३।१३।२) इति श्रुतेः "**स्वभावभावनाग्राह्यं संघातैकपदोज्झितम् आनन्दं नन्दनातीतं दुष्प्रेक्ष्यम् अजम् अव्ययम्**" (तेजो.उप.१।७-८) इति तेजोबिन्दूपनिषदि, प्रश्नोपनिषत्पञ्चमप्रश्ने सा च 'ध्यान'शब्देन उच्यते इति 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशा' (ब्र.सू.१।३।१३) ऽधिकरणे उक्तम्.

अत्र **त्वया** इति पदाद् भावना व्रजरत्नसम्बन्धित्वेनैव लीलायाः कार्या, न स्वसम्बन्धित्वेन, "**उद्बोधकं च हरिणा कृतं न अन्येन केनचिद्**"(सुबो.१०।१८।०।३)इति न्यायेन लौकिकमात्रस्य तद्रसभावानभिव्य-ञ्जकत्वाद् इति बोधितम्. तेन अपराधसम्भावनापि[१] निवारिता. गोपानांतथाभावनाया "**वर्ण्यवर्णकभेदेन**"(सुबो.१०।१८।०।१)इत्यत्र साधित-त्वाद् इति तथा स्वरूपभावनातु तत्सम्बन्धं विनापि कार्या इत्यपि द्वितीयेन बोधितम्॥७-८॥

इदञ्च अतिगोप्यतयैव स्थाप्यम् इत्यत्रापि बृहदारण्यकश्रुतिं प्रमाणयन्ति **तमेव** इत्यादि.

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥
नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" ॥९॥

प्रज्ञां भावनाम्. आत्मनेपदेन[अ] तत्फलस्य कर्तृगामिता च बोधिता. एवम् अत्र साधननिष्कर्षः उक्तः[आ]॥९॥

अत्र अनधिकारे[२] नामाश्रयः कार्यः इति नामात्मकस्य प्रमाणस्य द्वादशे स्कन्धे सिद्धं स्वरूपं तस्य आश्रयत्वं तदाश्रयणं ततः फलभवनप्रकारं च प्रमाणान्तराश्रयणनिवारणाय आहुः **श्रीभागवतम्** इत्यादि.

"श्रीभागवतमेवात्र केवलं चेत् समाश्रितम्॥
गङ्गावद् हरिवच्चैव शम्भुवत् च फलिष्यति" ॥१०॥

(क)

१."**यो अन्यथा सन्तम् आत्मानम्**" (मनुस्मृ.४।२५५) इति श्रु(?स्मृ!)त्युक्तापराधः इति. २.श्रीभागवताश्रयं पञ्चमं निरूपयितुम् अवतारयन्ति अपरम् 'आश्रय'पदेन व्यवह्रियते.

(ख)

[अ]**विज्ञाय** इति (मूलस्थ)पदाद् उद्धार्यत्वासम्भवात् च आहुः 'आत्मन...'इ-त्यादि, 'कुर्वीत' इति आत्मनेपदेन इति अर्थः. [आ]**उक्तः** इत्यादि, भक्तेः परिकरत्वाद् एवम् उक्तं तेन न तृतीयाध्यायविरोधः.

गङ्गावत् शुद्धिसम्पादनेन जन्मान्तरे, हरिवत् सायुज्यदानाय, अग्निवत् प्रकटीभूय तद्हृदयस्य इदानीमेव गुणातीतकरणेन. शम्भुवद् उपदेशद्वारा भक्तिदानेन. इदानीं यथाधिकारं फलं दास्यति इति अर्थः. एवम् अत्र अधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकरूपेण फलदानम् उक्तम्॥१०॥

ननु तर्हि रूपाश्रये कथं फलदानम् इति अपेक्षायां श्रुतिमेव तत्र आहुः **य एनम्** इति.

"य एनं वेद सत्येन भर्तुं सद्योजातम् उत जहाति एषः"॥
तत्राङ्घ्रितयं प्रोक्तं (१)गुरुर्-(२)दुःसंगवर्जनम्॥११॥

इयं श्रुतिः तैत्तिरीयारण्यके "**भर्ता सन् भ्रियमाण**" (तैत्ति.आर.३।१४।१) इति भर्तृसूक्तानुवाकस्था. अत्र पूर्वार्धे अज्ञानि-ज्ञानि-भक्तभेदेन त्रिविधानां ज्ञानप्रकारः उक्तः, "**तमेव मृत्युम् अमृतं तम् आहुः तं भर्तारं तमु गोप्तारम् आहुः**"(तत्रैव) ततः "**स भृतो भ्रियमाणो बिभर्ति य एनं वेद सत्येन भर्तुं सद्योजातम् उत न जहाति एषः उतो जरन्तं जहाति एकम्**" (तैत्ति.आर.३।१४।१) धारयितुं **वेद** इति उत्तरार्धे तत्कथनप्रयोजनम् उच्यते. **य एनं भर्तारं सत्येन** अमायया ब्रह्मभावेन अक्षरात्मा सन् **भर्तुं** धारयितुं **वेद** जानाति **स भृतः** पोषितो **भ्रियमाणो** भगवता अन्तर्गृहगतावद् धार्यमाणो **बिभर्ति** स्वान्तः [अ]सर्वात्मभावेन स्थापयति. तथाच तद्वद् [आ]गुणातीतब्राह्मदेहेन "**सो अश्नुते**" (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तफलं नवलक्षणलक्ष्येण रूपेण वा, दशलीलानिरूप्येण वा रूपेण, फलम् इति अर्थः. [इ]एवम्भावाभावे सर्वथा न मुख्यं फलम् इति ज्ञापनाय अग्रिमम् ऋगन्तरम् आहुः **सद्यो** इति, **सद्यो जातं** बालकं शिवं वा **अपि**

(ख)

[अ]'सर्वात्म...'इत्यादि, साधनाध्याये अस्यैव साधनत्वेन मुख्यत्वाद् आहुः. [आ]'ब्राह्म...'इत्यादि, इदन्तु फलाध्याये स्फुटम्. [इ]'एवम्भावे' इत्यादि, सर्वात्मभावे इति अर्थः.

एषो जहाति त्यजति **उतो जरन्तं न जहाति एकम्**, **उतो** अपि **जरन्तं** वृद्धम् **एकम्** उद्धवं **न जहाति**. तथाच एवम्भावाभावे मुख्यफलाभावस्य इदं निदर्शनम् इति अर्थः. यथा रूपाश्रये आचार्यकृपा तथा अत्रापि अंगद्वयम् आहुः **तत्र** इत्यादि॥११॥

एवम् उपोद्घाततया पूर्वस्कन्धसंगतिं साधनादिकं च उक्त्वा तत्रत्यं पदार्थसिद्धं साधननिष्कर्षम् आहुः **पारमार्थ्यम्** इत्यादि.

पारमार्थ्यमिदं ज्ञेयं नान्यत् श्रीगोकुलेश्वरात्॥
"वचो विभूतीः"कथनात् श्रीमदाचार्यबोधनम्॥१२॥

तथाच गोकुलेशसर्वात्मभावएव साधनम् इति अर्थः. ननु श्रीमदाचार्यकृपा या पूर्वं साधनत्वेन उक्ता सा अत्र श्रीमदाचार्यबोधनाभावे कथं प्राप्यते? इत्यतः आहुः **वचः** इत्यादि. तथाच वचसो नामात्मकत्वेन[१] वागधीनत्वात् तत्प्रवृत्तेः च अग्न्यधीनत्वाद् आश्रयविचारे मूलरूपमुखात्मकानाम् आचार्याणामेव परोक्षवादेन बोधनम् इति अर्थः. एतेन एतन्मार्गप्रणेत्रीणां स्वामिनीनामपि सङ्ग्रहः. [अ]तस्य अग्नेः तत्रैव सिद्धत्वाद् इति॥१२॥

ननु सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्तृत्वं सर्वाश्रयस्य ब्रह्मणो लक्षणम् इति गोकुलेशसर्वात्मभावस्य[२] कथं साधनत्वम् इत्यतः आहुः **सएव** इत्यादि.

सएव परमार्थोऽस्ति ब्रह्मविष्णुहरात्मकः॥
स्वयशोगानसंहृष्टहृदयाम्भोजविष्टरः॥१३॥

(क)

१.गोकुलेशस्य मुख्यफलस्य सर्वात्मभावो "**भावो भावनया सिद्धो साधनं न अन्यद् इष्यते:**" (सं.नि.८) इत्यस्य वचोविभूत्यात्मकत्वेन. २.ब्रह्मभिन्नावतार(विषयकस्य!)स्य.

(ख)

[अ]**तस्य अग्नेः** इत्यादि, जन्माद्यधिकरणसिद्धेः इति अर्थः.

गोपालतापनीये [अ]अत्रापि च 'कृष्ण'पदेन तस्यैव[१] तथात्वेन सिद्धत्वाद् इति अर्थः. तर्हि सर्वेषां कुतो न तथा स्फूर्तिः? इत्यतः[२] आहुः **स्वयशः**[३] इत्यादि. तथाच निरन्तरगुणगानाभावात्[४] न स्फूर्तिः इति अर्थः ॥१३॥

ननु तत्र[५] चतुर्व्यूहरूपत्वम् उच्यते[६] न अत्रेति कथं गोकुलेश्वरे सर्वाश्रयत्वावधारणम् इति आकांक्षायाम् आहुः **संकर्षण** इत्यादि सार्धद्वयेन.

संकर्षण इवात्रापि स विज्ञेयः सुभावनात् ॥
वासुदेवः स विज्ञेयो यः शेते तत्र सर्वदा ॥१४॥

अत्र अस्मिन् रसरूपताभावनप्रकारे **अपि स** गोकुलेश्वरः **सुतरां भावनात् संकर्षणइव** आसुरभावनाशको ज्ञातव्यः. एवं **तत्र** भावनायां **यः शेते सर्वदा** तिष्ठति **स वासुदेवो,** विशुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे[७] स्थितत्वात्. एवं रूपद्वयम् आन्तरम् उक्तम् ॥१४॥

प्रद्युम्न इह विज्ञेयो भावाधारः स राधसा ॥
कामस्य तृप्तिमानन्दं तस्याग्ने भाजयेह मा ॥१५॥

(क)

१.गोकुलेशस्यैव "**समानएवञ्चाभेदात् सम्बन्धाद्**" (ब्र.सू.३।३।१९) इति व्याससूत्रात्. २."**अवजानन्ति**" (भग.गीता.९।११) इति वाक्यात्. ३.स्वयशोगानेन अपराधनिवृत्त्या संहृष्टं प्रसन्नं हृदयाम्भोजं विष्टरम् उपवेशनं यस्य, भक्तहृदये अक्षरात्मके स्थितेः कृष्णाश्रयो भक्तो भक्तिमार्गाश्रयः. ४.हृष्टः स्वरूपं ज्ञापयति इति भावो, अपराधे न तत्स्फूर्तिः इति भावो वा. ५.गोपालतापनीये. ६.गोकुलेश्वरे. ७.भावनाविषयत्वाद् इति अर्थः.

(ख)

[अ]**अत्र** इत्यादि, आश्रयविमर्शस्कन्धे "**यदुत्तमश्लोकयशो अनुगीयते**" (भाग.पुरा.१२।१२।४९) इति श्लोके इति अर्थः.

इह भावनायां यो **भावाधारो** रत्यालम्बनरूपः **स राधसा** सहार्थे तृतीया. राधोहि भगवतः सिद्धिरूपा शक्तिः द्वितीयस्कन्धे "**निरस्तसाम्यातिशय-**"(भाग.पुरा.२।४।१४)त्वेन उक्ता. सैव पुरुषविधब्राह्मणे "**स इममेव आत्मानं द्वेधा पातयद्**" (बृह.उप.१।४।३) इत्यादिना[१] श्राविता. ब्रह्मवैवर्ते च उपबृंहिता स्वामिनी, तया सह रसस्य आलम्बनविभागद्वय-सापेक्षस्थितिकत्वाद् अद्वैतवादे सृष्टेः पूर्वम् अन्यस्य अभावाद् ब्रह्मणः स्वप्रतिष्ठितत्वात् च स्वयमेव द्विधा भूत्वा स्वयमेव रसात्मना तत्र प्रविष्टइति यदालम्बनत्वेन बहिःप्रकटं राधावल्लभात्मकं रूपद्वयं **सः** साक्षाद् मन्मथमन्मथरूपः[२] **प्रद्युम्नः**. तत्र श्रुतिं प्रमाणयन्ति **कामस्य** इति. इयं श्रुतिः तैत्तिरीयब्राह्मण-द्वितीयकाण्ड-चतुर्थप्रपाठक- षष्ठानुवाके "**उत नः प्रिया प्रियासु**" (तैत्ति.ब्राह्म.२।४।६।१) इति उपक्रम्य पठिता अस्ति. अग्रेच "**त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः गोपा अदाभ्य**"(तत्रैव) इत्यादिमन्त्राः सन्ति. तेन अतिप्रियायुक्तस्य भगवतएव इदं प्रकरणम् इति निश्चीयते. यदिच पूर्वकाण्डविचारेण अत्र उपहोममन्त्राएव तत्तद्देवतादिप्रकाशकाः इति आद्रियते तदापि पूर्वार्धे "**प्रजापतिः स्त्रियां यशो मुष्कयोः अदधात् सपम्**" (तैत्ति.ब्राह्म.२।४।६।५) इति श्रावणात् कामवृत्तान्तविशिष्ट-प्रजापतिकृतिप्रकाशकत्वम् अक्षुण्णम्. तथा[३] सति सृष्टिकर्तुः प्रद्युम्नस्यैव कृतिः स्फुटीभवति. ततश्च अयम् अर्थः : हे[अ] **अग्नेः** "**प्रजापतिः स्त्रियां यशः**" पुत्रादिरूपम् **अदधात्** स्थापयामास स पूर्वोक्तः प्रजापतिः तं यशोजनकम् **आनन्दं कामस्य तृप्तिं** "**मुष्कयोः अदधात्**". त्वम् **इह तस्य** प्रजापतेः आनन्दस्य वा **मा भाजय** विभागं मा कृथा इति विवक्षितम्. अग्निं[४] प्रति, गार्हपत्यं प्रति वा, भक्तानां महिषीणां

(क)

१.नच 'प्रजापतिरमण'न्यायो अयम् इति शंक्यम्, अस्य अन्यमतत्वात्. २.कामत्वेन कामग्रहणात् कार्यकारणसंघः. ३.'प्रजापति'पदस्य योगरूढत्वेऽपि "**अहं बीजप्रदः पिता**" (भग.गीता.१४।४) इति गीतायाम् आहुः. ४.श्रीमदाचार्यचरणान् प्रत्यपि इति अन्वयः. उपलक्षणम् इदं कर्मठोपासकयोः, उपासकानां विवक्षितम् अग्निं प्रति, कर्मठानां गार्हपत्यं प्रति, इति विभागो, 'भक्तानाम्' इति मुख्यत्वाद् उपासने महत्तरम् उपलक्षितम्.

(ख)

....(अवाच्याक्षराणि). [अ]**अग्नेः** इति सम्बोधनाद् इति भावः.

वा संयोगरसाविभागार्थं प्रार्थना इति. एवम् इदानीं भावनं कुर्वतः श्रीमदाचार्यचरणान् प्रत्यपि ॥१५॥

अनिरुद्धरूपम् आहुः **अनिरुद्ध** इत्यादि.

अनिरुद्धः स विज्ञेयः पुष्टिर्यस्माद् अभूत् स्फुटा॥
स हि लीलाशुको भूत्वा भावं प्राह सुदुर्लभम्॥१६॥

इहलोके भगवदंगसंगात्मको अनुग्रहः **पुष्टिः** सा **यस्मात् स्फुटा अभूत् सो अनिरुद्धो विज्ञेयो** विज्ञानगोचरः कार्यः. विज्ञानंहि विशिष्टं ज्ञानं निदिध्यासनात्मकम् "**आदौ अन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यद् अन्वियात् पुनः तत्प्रतिसंक्राकामे यच् छिष्येत तदेव सद्**"(भाग.पुरा.११।१-९।१६) इति लक्षणकम् एकादशस्कन्धे[१] उक्तम्. तथाच उक्तरूपां पुष्टिं लोके प्रकटीकर्तुं यो अक्षरसारात्मके "**यन् मर्त्यलीलौपयिकम्**" (भाग.पुरा.३।२।१२) इत्यादिश्लोकत्रयोक्ते देहे रसात्मकतया विद्यमानो रसवत्त्वं स्वस्मिन् प्रकटयति सो अनिरुद्धो रसान्वयाद् अवगन्तव्यः इति अर्थः. ननु अनिरुद्धकार्यं रक्षा, सातु उक्तरूपपुष्टिप्रकटयितरि न स्फुटा इति कथं तत्र अनिरुद्धत्वम् इति आकांक्षायाम् आहुः[२] **सहि** इत्यादि. तथाच "**वैयासकिः**[३,अ]**सभगवान् अथ**" (भाग.पुरा.१०।१।१४) इत्यत्र प्रतिपादितेन शुकस्य भगवत्साहित्येन तस्य **लीलाशुकरूपेण** भवनम्, अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यापत्तेः. **स**[४]च तथा **भूत्वा सुदुर्लभं सर्वात्मभावरूपं भावम् उत्सवाध्याय**(भाग.पुरा.१०।५)-**वेणुगीत**(भाग.पुरा.१०।१८) **प्रभृतिषु प्राह**. तथाच तत्कथनेन तद्रक्षकत्वमेव अनिरुद्धत्वगमकम्. यथा "**ह्येष आत्मपथो अव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा तं प्रवर्तयितुं देहम् इमं विद्धि मया भृतम्**" (भाग.पुरा.३।२४।३७) इति वाक्याद् नष्टसांख्योद्बोधकत्वेन कपिलस्य रक्षकत्वं तथा अत्रापि

(क)

१.भाग.पुरा.११।१९।१६. २.तत्परिहारं वदन्तो भक्तिमार्गाश्रयम् आहुः इति अर्थः. ३.भगवता सह वर्तमानः=' सभगवान्'. ४.शुकस्य अनिरुद्धीभवने किं गमकम् इति आशंक्य आहुः.

(ख)

शेषइत्यादि(?!). [अ] **सभगवान्** इति.

भावप्रबोधनेन प्रवर्तकत्वाद् रक्षकत्वम्॥१६॥

ननु '**सभगवान्**' इत्यत्र फलभेदस्यापि शक्यवचनत्वाद् लीलाशुकभावोऽपि सन्दिग्धइति न एतेन अनिरुद्धत्वं निर्णेतुं शक्यम् इति आकांक्षायाम् आहुः **आरुह्य** इति.

"आरुह्य ये द्रुमभुजान्"इति मूलम् असंशयम्॥
सहि पूर्णगुणः प्रोक्तः "श्येनेन किकिदीविना"॥१७॥

वेणुगीताध्याये "**प्रायो बताम्ब**" (भाग.पुरा.१०।१८।१४) इत्यत्र पक्षिणां बाहुल्येन मुनित्वं प्रतिपादितम्. तेच वेदशाखाइव द्रुमभुजान् आरुह्य भगवदनुपयोगि-वाक्त्यागपूर्वकम् अव्यक्तमधुरवेणुगीतं शृण्वन्ति तद्रसं च हृदि अनुभवन्ति इति तदनुवर्णयित्रीणां मुनीनामपि[१] वेणुनादेन सर्वात्मभावरक्षकः सएव अनिरुद्धइति **मूलमेव संशयं** निर्णुदत् तथात्वनिर्णायकम्. तत्र हेतुः **सहि पूर्णगुणः प्रोक्तः** इति. (**हि!**) यतो हेतोः **सः** भावरक्षको "**बर्हापीडं नटवरवपुः**" (भाग.पुरा.१०।१८।५) इत्यस्य विमर्शे **पूर्णगुणः** **प्रकर्षेण** अप्रतिहतशक्तित्वेन **उक्तः**. योहि अप्रतिहतशक्तिः सएव रक्षणसमर्थो अतः "**आरुह्य...**"इति मूलम् अनिरुद्धत्वबोधने संशयरहितमेव इति अर्थः. अत्रापि श्रुतिं प्रमाणयन्ति **श्येनेन किकिदीविना** इति, इयं श्रुतिः तैत्तिरीयाणां संहितायाः चतुर्थाष्टक-द्वितीयप्रपाठकीय-षष्ठानुवाके ओषधिवापमन्त्रेषु "**या जाता ओषधयः**" (तैत्ति.संहि.४।२।६) इत्यादिषु पठिता अस्ति "**साकं यक्ष्म प्रपत श्येनेन किकिदीविना, साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया**" इति. साच एवं सायणीये व्याख्याता : हे **यक्ष्म** राजरोग, त्वं **श्येनेन** श्येनवत् तीव्रेण पित्तरोगेन **साकं किकिदीविना** 'किकिर्'इति ध्वन्यनुकरणशब्दः कफरुद्धे कण्ठे तादृशध्वन्युत्पत्तेः, किकिना ईदृशेन शब्दविशेषेण दीव्यति व्यवहरति इति 'किकिदीविः'=कफरोगः तेन

(क)

१.-नां च यो.

साकं प्रपत मन्त्रौषधीये उपयुंक्ते तस्माद् दूरं गच्छ **वातस्य** वायोः **घ्राज्या गत्या वायुरोगेण साकं नश्य** नष्टो भव **निहाकया** "निहतो अस्मि हा! कष्टम्!" इति शब्दैः उपलक्षितया पीडया च **साकं नश्य** इति. एवं यक्ष्मनिवर्तनेन रक्षणम् अनिरुद्धकार्यं स्फुटमेव. यद्वा[१] "'**यक्ष'पूजने**"(पा.धा.पा.चुरा.१५९) यक्षयते पूज्यते इति यक्ष्मा हे पूज्य! **श्येनेन** तीव्रपक्षिणा **साकं** किकीति दीव्यति स्तौति व्यवहरति शुभं भाषते इति [अ]'किकिदिविः' श्वासः तेन **किकिदीविना** शुभजनकदर्शनेन पक्षिणा **साकं प्रपत** उड्डीय आगच्छ. किमर्थम् आगमनप्रार्थनम्? इति आह **वातस्य घ्राज्या साकं** साहित्यं वातगतितुल्यं मनश्चाञ्चल्यं **निहाकया** गोधिकया[२] साकं साहित्यं सा यथा भीत्त्यादौ संलग्ना क्लेशबाहुल्येऽपि तन्न त्यजति तादृशं विषयदुराग्रहं **नश्य,** अन्तर्भावितण्यर्थो, नाशय. यदि पदभेदपक्षः तदा **नो** अस्माकं पूर्वोक्तं साहित्यं "'**श्यशो' तनूकरणे**" (!?) सूक्ष्मं कुरु सेवोपयोगि कुरु इति अर्थः. एवमपि तत् स्फुटमेव॥१७॥

ननु एवं[३] निरोधस्था लीला गोकुलेश्वरीया अस्तु तथापि मुक्तिस्थचतुर्व्यूहलीलायाः[४] कथं [आ]तथात्वम् इत्यतः आहुः **स्वाधिकारा...** इत्यादि.

"स्वाधिकारानुसारेण मार्गस्त्रेधा फलाय हि"॥
मुक्तिलीला हि सा ज्ञेया मुनिमानसहंसके॥१८॥

तुः शंकानिरासे, उक्तशंका न कार्या. (हि!) यतो हेतोः "**योगाः**

(क)

१.अत्र पक्षे शुकाप्रवेशेऽपि बाधकाभावात् प्रथमद्वितीयपक्षयोः श्रुत्यर्थम् आहुः. २.'गोहरा' इति लोके प्रसिद्धिः. अज्ञाता गोधा गोधिका परोक्षवादसूचिका. ३.भक्तिमार्गाश्रयं निर्णेतुं चतुर्थम् अवतारयन्ति, अयं 'सर्वान्तराश्रय'पदवाच्यः. ४.मुक्तिलीला वासुदेवस्य प्रतिव्यूहं चतुर्व्यूहलीला या सा चाग्रे अत्रैव स्फुटा.

(ख)

[अ]**किकिदिविः श्वासः** इत्यादि, पक्षिविशेषो नीलकण्ठः. **नीहाका** इत्यादि, "'**नौ हः' जहातेः कन् स्याद् नौ**" (सि.कौ.उणा.४५२७) इति सूत्रे जहातेः नौ उपपदे कन् नितरां जहाति इति 'निहाका' क्षयः इति अर्थः. "**निहाका स्त्री साष्टहेमशते हीनापकर्षयोः वक्षोऽलंकरणे हेममात्रे हेमफलेऽपि च**" इति मेदिनी. [आ]तथात्वम् इति गोकुलेश्वरीयत्वम् इति अर्थः.

त्रयो मया प्रोक्ताः" (भाग.पुरा.११।२०।६) इत्यादिना तत्र उक्तः **त्रेधा मार्गः स्वाधिकारानुसारेण "निर्विण्णानां ज्ञानयोगः**" (भाग.पुरा.११।२०।७) इत्यत्र उक्तो यो ज्ञानमार्गाद्यधिकारः तदनुसारेण तम् अनतिक्रम्य **फलाय** फलोत्पादकः[१]. अतो हेतो **मुनिमानसहंसके** विचारक-मानस-हंसस्य यत् कं सुखं तदर्थं **सा**[२] "**अथ एतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा**" (भाग.पुरा.११।११।४९) इति प्रतिज्ञाय एतादृशे अधिकारिणि "**न रोधयति मां योगः**" (भाग.पुरा.११।१२।९) इत्यारभ्य "**तस्मात् त्वम् उद्धव उत्सृज्य**" (भाग.पुरा.११।१२।१४) इति सर्वत्यागांगक-सर्वात्मभावपूर्वकं[३] शरणोपदेशात्मिका **मुक्तिलीला ज्ञेया.** जीवस्य सप्तविंशति-तत्त्वात्मकता-त्यागपूर्वकम् अक्षरात्मक-चिदंशत्वेन अवस्थानं हि मुक्तिः. साच अवस्था भगवद्दत्तैव प्राप्यते, "**मोक्षम् इच्छेद् जनार्दनाद्**" (. । ।) इति. तत्रच साधनं सर्वात्मभावेन शरणगमनम्. सर्वात्मभावश्च "**सएव अधस्तात् सएव उपरिष्टाद्**" (छान्दो.उप.७।२५।१) इत्यादि छान्दोग्यश्रावितलक्षणः. सः[४] यदा भगवता पूर्णनिरोधद्वारा दीयते तेन भावेन शरणागतौ आधिदैविकाक्षरात्मकाऽकुतोभय-रूप-फलप्राप्तेः[५] पूर्वं तत्पूर्वावस्थारूपं[६] स्वरूपावस्थानं फलं सिध्यति इति सापि तल्लीला ज्ञेया. तथाच एतस्यैव अत्र सारत्वेन उक्तत्वाद् अत्र[७] तत्त्वरूपत्याजनं मूलसंकर्षणकार्यं, तत्र शरणत्वेन भासमानत्वं वासुदेवकार्यं, तत्र [अ]सर्वदेह्यात्मत्वेन[८] तत्तल्लीलावैशिष्ट्यं[९] प्रद्युम्नकार्यम्, [आ]उपदेशो अनिरुद्धकार्यं, यत् पुनः इतो अन्यत् तत् सर्वम् एतदतिरिक्ताधिकारिणाम् अर्थे लोकवेदप्रसिद्ध-

---

(क)

१.फलोदयफलो-. २.मुक्तिलीला "**मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्**" (ब्र.सू.१।३।२) इति व्याससूत्रात्. ३.सर्वस्मिन् आत्मभावः इति विग्रहः. भक्तिमार्गांग-शरणोपदेशांगत्वाद् न मुख्यः. 'सर्वत्यागांगक'इति विशेषणाद् मुख्यः सर्वात्मभावः. सर्वश्च असौ आत्मनो भाव इति विग्रहः. शरणगमनम् अत्र सर्वात्मभावस्वभावज-भावः. उपदेशश्च दत्तात्रेयगुरूणामिव तादृशं शरणमेव उपदेशः. ४.पुष्टिमार्गे सर्वात्मभावम् उक्त्वा मर्यादायां तस्य व्यवस्थाम् आहुः **स यदा** इति. ५.अभयं चिद् इति भावात्. ६.देहान् ब्राह्मादीन् "**ब्रह्मविद् आप्नोति**", "**मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्**" (ब्र.सू.१।३।२) इति व्याससूत्रात्. ७.पूर्वावस्थारूपमुक्तौ. ८."**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**". (तैत्ति.उप.२।१). ९.आविर्भावतिरोभावविशिष्टलीला इति अर्थः.

(ख)

[अ]**सर्वदेह्यात्मत्वेन** इत्यादि, ब्राह्मत्व-चिन्मात्रत्वाभ्यां युक्तेन शरीरेण लीलावैशिष्ट्यं मुख्यः पक्षः. [आ]**उपदेशो** इत्यादि, विरहेऽपि देहसम्पादको भ्रमरगीतइव.

चतुर्व्यूहकार्यम् इति[१] मुक्तिस्कन्धेऽपि श्रीगोकुलेश्वरलीलात्वं निष्प्रत्यूहमेव इति अर्थः ॥१८॥

ननु मुक्तिलीलायाअपि अस्तु गोकुलेश्वरीयत्वं तथापि **"आभासश्च निरोधश्च"** (भाग.पुरा.२।१०।७) इत्यादि श्लोकोक्तलक्षणकस्य क्रियाज्ञानाश्रयस्य[२] कथं गोकुलेश्वरलीलात्वम् इत्यतः आहुः **अलौकिकस्य** इत्यादि.

अलौकिकस्य संसिद्ध्या भावपूरितविग्रहः॥ ।
तमाश्रयं विजानीयाद् "हरेरपि हरिर्यदि"॥१९॥

अलौकिकस्य "ब्राह्मेण जैमिनिः उपन्यासादिभ्य" (ब्र.सू.४।४।५) इत्यादिसूत्रप्रतिपादितस्य ब्राह्मादिदेहस्य या **सम्यक् सिद्धिः** लीलायोग्यत्वरूपेण अभिसम्बन्धः तया कृत्वा **भावपूरितविग्रहः** पूर्वोक्तरसभावेन पूरितो विग्रह उक्तविधदेहो यस्य तादृशः सन् **"यदि हरेरपि हरिः"** (सुबो.१०।१८।११।२६) सर्वदुःखहर्तुरपि [अ] अम्बुदवत् स्ववपुषा दुःखहर्ता[३] स्यात् तदा तं तादृशसेवायुक्तं देहवन्तम् **आश्रयं विजानीयाद्** गोकुलेश्वरलीलारूपम् आश्रयं विशेषेण जानीयात्. अत्र इदं हृदयम्, आश्रयोहि अत्र पञ्चलक्षणः : तत्र नवलक्षणलक्ष्यो निरंकुशजगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकृत् सर्वाधारो निरंकुश-सर्वोपजीव्ये[४]ति चतुःप्रकारस्तु भगवानेव. आध्यात्मिकादि-त्रितयभिन्नत्वे सति तत्त्रितयवेत्ता य आत्मा स यदा स्वाधारस्य आधारभूतः तदातु भगवान्, यदातच स्वाधारभूतएव तदातु अक्षरात्मकः. तत्र उक्तरीत्या मुक्तस्य ब्राह्मदेहे निविष्टस्य भूममहिमात्मकत्वेन भगवदाधारत्वं छान्दोग्ये सनत्कुमार-नारदसंवादे सिद्धं **"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि इति, गोअश्वम् इह महिमा इति आचक्षते हस्ती हिरण्यं दासभार्यं**[५]

(क)

१.भावरूपातिरिक्तस्य चतुर्व्यूहस्य कार्यम्. २.सुबोधिन्याम् आश्रयो द्विविधः शास्त्रमार्गेण आश्रीयते इति, क्रिया-ज्ञानभेदेन द्विधा आश्रयः (द्र.सुबो.२।१०।७). ३.ननु ईश्वरे दुःखाभावात् कथम् एवम्? इति चेद्, न, विरहदुःखस्य **"रसो वै स"** (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः सत्त्वात्. ४.भास्कराचार्याणाम् अधिष्ठानकारणं चतुर्थं स्वमते भेदेन आहुः. उपजीव्यं कारणं कार्यम् उपजीवयितुम् अर्हत्वाद् अभिन्ननिमित्तोपादानं **"तत्तु समन्वयाद्"** (ब्र.सू.१।१।४) इति अधिकरणे समर्थितम्. अयं कृष्णाश्रयो भक्तिमार्गाश्रयः च. ५.दासाश्च भार्याश्च तेषां समाहारो दासभार्यम्.

(ख)

[अ] अम्बुदवद् इत्यादि, **"सुहृदम् अभ्यवर्षत् सुमनोभिः छायया च विदधत् प्रतपत्रम्"** (भाग.पुरा.१०।३२।१३) इत्युक्ताम्बुदवत्.

क्षेत्राणि आयतनानि इति न अहम् एवं ब्रवीमि. अन्योहि अन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ब्रवीमि इति ह उवाच" (छान्दो.उप.७।२४।१-२) इत्यनेन. एतदर्थस्तु : महिम्नि / न महिम्नि' इति पक्षद्वये श्रुते नारदस्य सन्देहो भविष्यति इति आशंक्य **गोअश्व** इत्यादिना **न अहं ब्रवीमि** इत्यन्तेन गोअश्वादिरूपे महिम्नि न प्रतिष्ठितः इति एवम् अहं ब्रवीमि इति निषेधपक्षं व्याकृत्य, तर्हि स को वा महिमा यस्मिन् प्रतिष्ठितः ? इति आकांक्षायाम् **अन्योहि** इत्यादिना **ब्रवीमि** इत्यन्तेन गोअश्वादिभ्यो अन्यो यो महिमा सर्वात्मभावविशिष्टोत्कृष्टभक्तात्मकः तस्मिन् प्रतिष्ठितः इति अहं ब्रवीमि इति. तथा तस्य लीलात्वमपि "**तस्य**[१] **ह वा एतस्य एवं पश्यत एवं मन्वानस्य एवं विजानतः आत्मतः प्राणः, आत्मतः आशा, आत्मतः स्मरः**" (छान्दो.उप.७।२६।१) इत्यादिना "**आत्मतएव सर्वम्**" (तत्रैव) इति तस्य लीलोपयोगि-सर्वपदार्थसिद्धिं भगवतः सकाशादेव श्रावयति इति तत्रैव[२] सिद्धम्. तदेतत् "**लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे**","**ब्राह्मेण जैमिनिः**" (ब्र.सू.३।३।४४, ४।४।५) इति अधिकरणे च प्रपञ्चितम् इति ततो अनुसन्धेयम्. एवञ्च आत्यन्तिकप्रलयस्य सृष्टि-स्थिति-प्रलयविलक्षणत्वेऽपि रूपान्तरापादकतया तद्विलक्षणत्रितयक्रियात्मकतया यद् लीलात्वं तद् आश्रयस्यैव लीलात्वे पर्यवस्यति. तदेतद् उक्तं **विजानीयाद्** इति॥१९॥

ननु पुरःस्फूर्तिकम् अनादृत्य एवं निर्बन्धेन एतन्निरूपणे कथम् अस्य स्कन्धार्थता इत्यतः आहुः **विज्ञान-** इत्यादि.

"विज्ञानवैराग्यविवक्षये"ति प्रोक्तं यतः श्रीशुकपादपद्मैः ॥
अतोऽयमेवात्र विभावनीयो भावोदयाद् नान्य इहाश्रयोऽस्ति॥२०॥

"**कथा इमाः ते**" (भाग.पुरा.१२।३।१५) इति श्लोके पूर्वस्कन्धोक्तानां महीयःकथानाम् एकादशस्कन्धे "**आदौ अन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यद् अन्वियात् पुनः तत्प्रतिसंक्रामे यच् छिष्येत तदेव सद्**" (भाग.पुरा.११।१९।१६) इत्यनेन उक्तं यद् **विज्ञानं** कार्यस्य कारणान्विततया तदभिन्नत्वेन[३] कारणशेषत्वानुसन्धानरूपं **विभोः** भगवतो विशिष्टज्ञानं, यच्च तत्र उक्तं **वैराग्यं** कार्यस्य मायिकत्वेन तत्र आसक्त्यभावः, तत्र भगवतो रागाभावः तदुभयविवक्षया कथितत्वं यतः **श्रीशुकपादपद्मैः उक्तम् अतः**

(क)

१.सर्वात्मभाववद्भक्तस्य. २.द्वादशस्कन्धनिबन्धे इमानि पञ्चोक्तानि प्रकरणानि. ३.कारणाभिन्नत्वेन.

तेषां भगवदभिन्नत्वेऽपि तेषु भगवतो रागाभावाद् अत्र श्रीभागवतरूपायां सर्ववेदेतिहास-सारभूतायां परमभक्तिबोधिकायां संहितायाम् **अयमेव** उक्तरूपएव आश्रयो लीलात्मको **विभावनीयो** निरन्तरं चिन्तनीयः. ननु अन्येषामपि आश्रयप्रकाराणाम् उक्तत्वात् ते कुतो न विभावनीयाः? इत्यत आहुः **भावोदयाद्** इति. ते भावनीयाः, परं भावोदयात् पूर्वम्. "**भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन**" (भाग.पुरा.२।२।३) इत्यत्र वेदस्य सर्वस्य तात्पर्यं भगवति रतौ[१] सिद्धम्. तस्याश्च परमा काष्ठा रसरूपः सर्वात्मभावः इति एकादशस्य द्वादशे अध्याये "**न रोधयति**" (भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यारभ्य "**यास्यसे हि अकुतोभयम्**" (तत्रैव १५) इत्यन्त-सन्दर्भेण. एतादृशं प्राप्य **अयमेव विभावनीयः**. **इह** अस्मिन् अतिगूढे रसविचारे भूम्नः आश्रयएव **आश्रयो, अन्यः** तदितराश्रयो **न** अस्ति इत्यर्थे निर्बन्धेन निरूपणेऽपि न अस्य स्कन्धार्थत्वविरहः इति अर्थः ॥२०॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरण-रजोभिषिक्तस्य पीताम्बरात्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतिः "कथा इमास्ते" इत्येतद्विवरणकारिकाणां व्याख्या सम्पूर्णा

(क)

१.पुरुषस्य स्त्रियां, स्त्रियाः पुरुषे रतिः शृंगाररसाविर्भावो; देवे भक्तस्य, भक्ते देवस्य रतिः भक्तिरसाविर्भावः.

(ख)

[?]**नच लक्षण** इत्यादि. **सर्गादिनवलक्षणलक्ष्यः** इत्यादि (उपलब्धे मूलपाठे एतत्प्रतीकानुरूपा पंक्तिः न उपलभ्यते त्रुटितैव भाति -सम्पा.), तथाच श्रीभागवत-सन्दर्भालोचकस्य श्रुतिविचारकस्य बुद्धिः त्वदुत्प्रेक्षितार्थं न गृह्णाति इति भावः.

इति श्रीविद्वन्मंडन-गोकुलोत्सवात्मज-गोपेश्वरस्य कृतिः
"कथा इमास्ते"इति कारिकाविवरणव्याख्या-
टिप्पणरूपा समाप्ता

* * *

(घ) – (ग)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

"कथा इमास्ते"कारिकोपरि विवरणम्

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् प्रभून् स्वीयान् गृहे स्थितान्॥
"**कथा इमास्ते**"श्लोकस्य भक्तौ तात्पर्यमुच्यते॥१॥
सर्गादिमोक्षपर्यन्ताः कथाः भागवते हि याः॥
तदाश्रयार्थाः लीलायां तत्सृष्टानां तदंगता॥२॥
लीलासृष्टमहीयसामपि कथा तादात्म्यविज्ञानतः
स्रष्टुः सृष्टिविरागभावनमुखा तस्मिन्निरोधात्मिका॥
तद्भक्तावपि साधनत्वमतिना ह्यन्याश्रयाद् दुष्टता
तल्लीलामतिना तु तद्रतिरपि लीलात्मिका जायते॥३॥
आत्मारामः स एकाकी द्वेधात्मापादनेन वै॥
स्वात्मनि स्वात्मनात्मानं सृष्ट्वा वै रमते परः॥४॥
"**पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः॥
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशद्**"[१]॥५॥
"**तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया यः॥
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेहस्
तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय**"[२]॥६॥
तस्यात्मरतिरेवास्ति स्वसृष्टिरमणात्मिका॥
जीवेष्वपि ये तदंशाः श्रीकृष्णे विनियोजिताः॥७॥
कृष्णलीलानुकूल्येन स्युस्तल्लीलात्मकाअपि॥
तत्सृष्टरूपनाम्नोर्वा कर्मणि वा तु योजने॥८॥

---

१. बृह.उप. २।५।१८
२. भाग.पुरा. ३।१९।२३

अहन्ताममताबन्धाद् आलयं ह्यविमुक्तता ॥
अतो भक्तेर्हि द्वैविध्यं मुख्या गौणीति भेदतः ॥९॥
जीवस्वभावतो जाता गौणी भक्तिरिहोच्यते ॥
बीजस्वभावतो जाता मुख्या भक्तिर्ध्रुवा मता ॥१०॥
जीवस्वभावदोषात्तु दोषोऽन्याश्रयएव हि ॥
"जीवाः स्वभावतो दुष्टाः" [३] वचनाद् दोषरूपता ॥११॥
बीजं तस्यानुग्रहो यः स्वलीलानुभवाय वै ॥
स्वरूपयोग्यतादानं तत्स्वभावात्तु चोत्तमा ॥१२॥
तल्लीलानुभवाद् भक्तौ स्वाहंकारविसर्जनम् ॥
साधनत्वमतेर्लोपः सम्भवत्यन्यथान्यथा ॥१३॥
प्रपञ्चस्मृतिसाहित्ये तदासक्तेरशुद्धता ॥
लीलेदृशी वै दशमे स्कन्धे कृष्णस्य वर्णिता ॥१४॥
इमे विज्ञानवैराग्ये विवक्षातोऽत्र वर्णिते ॥
लीले निरोधाश्रययोः एके च द्विविधे ह्यपि ॥१५॥
माहात्म्यज्ञानिनस्तस्मिन् रतिभक्तिर्मता यथा ॥
शुद्धिस्तस्याश्चेतरेषां विस्मृत्या तु विशिष्यते ॥१६॥
सर्वलीलाश्रयः कृष्णः क्रीडत्युभयथा स्वयं ॥
प्रपञ्चे कर्हिचित् स्वस्मिन् कदाचिदिति भेदतः ॥१७॥
प्रपञ्चे क्रीडनं तस्य प्रपञ्चासक्तिवारकम् ॥
'निरोध'पदवाच्यं तत् स्वस्मिंस्त्वाश्रयभावतः ॥१८॥
क्रीडनं चात्मरमणं स्वात्मन्येवात्मनः पुनः ॥
रूपाणां कर्मणां नाम्नां सच्चिदानंदरूपता ॥१९॥
तत्रानन्दतिरोधानात् चिति पुरुषरूपता ॥
चिदंशस्य तिरोधानाद् जड़प्रकृतिरूपता ॥२०॥
तिरोहितो यश्चानन्दस्तदंशः ईश्वरोऽभवत् ॥

---

३. बालबोध १६

जड़जीवेशरूपेण तस्यान्तर्यामिता मता॥२१॥
सृष्टिरेवं स्वरूपा हि एकस्यानेकभावता॥
पुनश्च सच्चिदानन्दरूपताश्रयतोच्यते॥२२॥
तिरोहिता ब्रह्मता या रूपे नाम्नि च कर्मणि॥
आविर्भावात् पुनस्तस्याः सिद्ध्येद् आश्रयरूपता॥२३॥
प्रपञ्चे लीलया तस्य भक्तादिषु हि द्रष्टृषु॥
प्रत्यापत्तिर्निरोधात्मा दृश्यद्रष्ट्रोः विजायते॥२४॥
दोषदर्शनजन्यं यद् वैराग्यं तद् इतरं मतम्॥
भक्तेः लीलात्मिकायास्तु ज्ञानांगं तद् उदीरितम्॥२५॥
दृढानुरागतः कृष्णे मूलरूपे तु भक्तितः॥
विज्ञानरूपभक्त्यंगं वैराग्यञ्चोपजायते॥२६॥
गीतायाः नवमेऽध्याये राजविद्यातया पुनः॥
भक्तिरेव हि 'विज्ञान'-पदवाच्या निरूपिता॥२७॥
तत्र ज्ञानं च विज्ञानसहितं यत्तु वर्णितम्॥
ज्ञानं माहात्म्यज्ञानं तद् विज्ञानं भक्तिरेव तत्॥२८॥
"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥
ये भजन्तितु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्"[४]॥२९॥
समत्वन्तु समैः साकं नूनं माहात्म्यमेव तत्॥
समस्यापि हि वैषम्यं स्वलीलाभक्तिहेतुकम्॥३०॥
एवं माहात्म्यज्ञानाच्च विज्ञानन्तु विशिष्यते॥
तत्तादात्म्यानुभावोत्था तद्रतिर्निरुपाधिकी॥३१॥
नन्वत्रैकादशे प्रोक्तं श्रीमद्भागवतेतु यत्॥
"ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान्"[५]॥३२॥
कारिकाविवृतौ चापि 'विज्ञाना'र्थो यथोदितः॥

---

४. भग.गीता ९।२९
५. भाग.पुरा. ११।१९।१३

पुरुषोत्तमैर्हि विज्ञानं कार्ये कारणान्वय: ॥३३॥
उक्तस्ताभ्यां विरुद्धोऽर्थो कर्तुं नैवोचितो यत: ॥
इति चेत् तत्समाधानं बुद्ध्या बोद्धव्यमेव हि ॥३४॥
न 'विज्ञान'पदस्यार्थतया भक्तिरिहोच्यते ॥
भक्त्या वै भजनीयस्य भानं विज्ञानमुच्यते ॥३५॥
प्रमाणफलयोरेवमैक्यादेकार्थवाचिता ॥
भक्ति: प्रमाणं विज्ञानं फलं तद् भक्तिहेतुकम् ॥३६॥
"भक्त्यात्वनन्यया शक्यमहमेवंविधोऽर्जुन"[६] ॥
"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:"[७] ॥३७॥
पार्थक्यस्य विवक्षायां पृथगुक्तौ नवा क्षति: ॥
राजविद्याराजगुह्यतया भक्तेर्निरूपणम् ॥३८॥
विसंगतं भवेद् भक्ते: गीतायामन्यथा पुन: ॥
अतो दोषो न मन्तव्य: कश्चनैवं निरूपणे ॥३९॥
ईदृश्यनन्यभक्तिर्या सानन्याश्रयणात्मिका ॥
अनन्याश्रयएवातो निरोधोऽनन्यभक्तिकृद् ॥४०॥
भजनीये स भक्तानां निरोध: प्रलयात्मक: ॥
आत्यन्तिकतयाख्यातोऽपर: प्राकृतिकोऽपि च ॥४१॥
द्वादशस्कन्धवर्ण्य: श्रीकृष्णात्मरमणात्मक: ॥
"वचोविभूति"[८] रित्युक्त्या सोऽप्यन्याश्रयवारक: ॥४२॥
स्वात्मकानां स्वत: स्वस्मिन् स्वभिन्नत्वेन द्योतनात् ॥
यथा ह्यन्याश्रय: शक्यस् तद्विरागे निरुद्धता ॥४३॥
तदेव गीतं गीतायाम् अनन्योपासनं वरम् ॥
अन्यस्मिन् श्रद्धया चान्यभजनं ह्यज्ञानहेतुकम् ॥४४॥

---

६. भग.गीता ११।५४
७. भग.गीता १८।५५
८. भाग.पुरा. १२।३।१४

अतोऽवस्थाद्वयं भक्तेः फलसाधनभेदतः ॥
विज्ञानसहितं ज्ञानं फलं तदितरत् पुनः ॥४५॥
विज्ञानं ज्ञानरहितं विज्ञानरहितञ्च तत् ॥
इत्थमेकतराभावे आसक्त्याश्रययोरपि ॥४६॥
अनन्यतायाः भंगेन साधनावस्थता मता ॥
ज्ञानविज्ञानयोर्योगे फलावस्था प्रकीर्तिता ॥४७॥
ननु भक्तौ च भेदेन भानं भक्तेशयोस्तु यत् ॥
भक्तिभंगाद् आश्रयोऽपि भग्नएव भवेद् नवा ? ॥४८॥
इति चेत् तन्न युक्तं हि भक्तावाधिक्यबोधनात् ॥
"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ॥४९॥
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥५०॥
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते" [९] ॥
इत्यतः श्रीमदाचार्यैः निबन्धेऽपि निरूपितम् ॥५१॥
"ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा ॥
संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानान्तु विशेषतः ॥५२॥
सर्वेन्द्रियैस्तथाचान्तःकरणैरात्मनापि हि ॥
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते" [१०] ॥५३॥
भक्तौ साधनरूपायामेवं सर्वं तदात्मकं ॥
फलानुषंगिकं द्वैतं तत्क्रीडार्थतया पुनः ॥५४॥
सर्वभावेन सर्वस्य स्वस्य चास्मै समर्पणम् ॥
सर्वस्यैव तदर्थैकमत्या तस्मिन् नियोजनम् ॥५५॥
"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥५६॥

---

९. भग.गीता ६।३०-३१
१०. त.दी.नि. १।५०-५१

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः॥
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपेष्यसि''[११] ॥५७॥
स्वकर्मफलभोगात्मा लोकोऽयं तत्र वैदिकम्॥
यज्ञदानतपोरूपमात्मिकं तन्निवेदनात्॥५८॥
सर्वबन्धविनिर्मोको 'विमुक्त'पद बोधितः॥
जीवन्मुक्तिसमा भक्तिः 'विमुक्ता'वप्रयोगतः॥५९॥
प्रपञ्चो भगवत्क्रीडा आसर्गादाच मोक्षतः॥
निरोधस्तु प्रपञ्चे हि क्रीडा संसारमोचिका॥६०॥
तेनात्र जीवतां मुक्तिर्भक्तिः सिद्ध्यति सर्वथा॥
क्रीडाकर्तुः परस्यैह प्रपञ्चे क्रीडनात्मके॥६१॥
स्वस्वाम्यं कुमतेर् लिंगं तत्स्वाम्यं सुमतेस्तथा॥
ततः स्वस्य स्वकीयानां परस्मै विनियोजने॥६२॥
तल्लीलारूपता सृष्टावाविर्भवति सर्वथा॥
अन्याश्रयेण रहितं ज्ञानं विज्ञानसंगतम्॥६३॥
सैषा विवक्षिता ह्यत्र कथाकथ्यतया पुनः॥
सृष्टिस्थितिलया लीला जगतो यद्वदेव हि॥६४॥
बन्धमोक्षौ च भक्तिश्च स्याल्लीला तद्वदेव हि॥
एवं भक्तौ हि लीलायाः भानात् सिद्ध्यति मुख्यता॥६५॥
साविर्भवेन्न यावत्तु तावदन्याश्रयो मतः॥
लोकवेदाश्रयाभ्यां च स्वाहन्ताममताश्रयात्॥६६॥
भक्तौ सर्वत्र सर्वेषु लीलातादात्म्यबुद्धिजात्॥
अन्यतोन्मूलनाच्चैव सर्वभावेन भावनम्॥६७॥
एकस्य मूलरूपस्य तन्माहात्म्यानुभावतः॥
लीलार्थं निखिलं नामरूपकर्मभिदात्मकम्॥६८॥

---

११. भग.गीता ९।२७-२८

रसात्मकं **"रसो वै स यद् वै तत् सुकृतं"**[१२] मतम्॥
सृष्टिस्रष्ट्रोस्तु तादात्म्यं साम्यवैषम्यहेतुकम्॥६९॥
ज्ञातव्यं द्विविधं नूनं प्रक्रियाप्रतिपित्सुभिः॥
तद्दत्तदृष्ट्या भातं तच्चाद्यं प्रत्यक्षमर्जुने॥७०॥
'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' अनिर्भातं श्रुतीरितम्॥
भातं भक्तौ रसाभासजनकं प्रायशो मतम्॥७१॥
श्रुतीरितं तन्माहात्म्यपरोक्षज्ञानगोचरम्॥
सर्वोपादानभावेन तत्तादात्म्यं हि सर्वगम्॥७२॥
निरुपाधिकभक्तौ तन्माहात्म्यज्ञानवन्मतम्॥
येन सर्वसमत्वञ्च ब्रह्मणो ह्यधिगम्यते॥७३॥
"स भूमिं विश्वतो वृत्त्वा ह्यत्यतिष्ठद् दशांगुलम्"[१३]॥
श्रुतावस्यां सर्वसमः सर्वातीतश्च गद्यते॥७४॥
सर्वातीतस्तु सर्वेभ्यो विषमः समुदीरितः॥
तस्यानुभावो वरणेन जीवानां भक्तिदायकः॥७५॥
भक्तेशयोस्तु वैषम्ये **"मयि ते तेषु चाप्यहं"**[१४]॥
भेदाभेदाद्यतीतं हि तादात्म्यं नटनाट्ययोः॥७६॥
रसानुभूतिजनकं ब्रह्मतल्लीलयोस्तथा॥
श्रीमुखोक्तन्तु तादात्म्यं कृपाभक्त्येकगोचरम्॥७७॥
रसात्मकं मतं तत्तु नटे नाट्यनरौ यथा॥
तादात्म्यमेतयोः स्पष्टं साम्यवैषम्यमूलकम्॥७८॥
एवं भक्तसमत्वेऽपि भक्तान्तस्थः कृपावशः॥
भावपुष्ट्या बहिर्भातो भक्त्यालम्बनरूपधृक्॥७९॥
लोकेऽभेदोपचारोऽत्र वर्ण्यते विबुधैः परम्॥

---

१२. तैत्ति.उप. २।७
१३. ऋक्.संहि. १०।९०।२
१४. भग.गीता ९।२९

एकस्मिन्नद्वितीयेतु भेदो लीलाभिकांक्षित: ॥८०॥
भक्तौ हि भगवल्लीलामत्यैवं मुख्यता मता॥
भक्त्युत्तरापि या मुक्ति: नैवाभक्तिस्वरूपिणी॥८१॥
याभि: सर्गादिलीलाभि: स्वात्मानमावृणोत्ययम्॥
ताभिरेवानुग्रहेण स्वात्मानं द्योतयत्यपि॥८२॥
"स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व:"[१५] **"स सर्वनामा स च विश्वरूप:"**[१६] ॥
स मानमेयोभयरूपतां भजन् स्वेन स्वमात्मानमनावृणोति॥८३॥
"सहैव सन्तं न विजानन्ति देवा: इन्द्रस्यात्मानं शतधा चरन्तम्"[१७] ॥
"इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते युक्ता: ह्यस्य हरय: शता दश"[१८] ॥८४॥
"नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:"[१९] ॥
"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"[२०] ॥८५॥
इत्यादिवचनान्येव हृदिकृत्य महाप्रभु:॥
**"रूपप्रपञ्चवैचित्र्यं जीवास्त्वल्पधिय: पुन:॥८६॥
द्रष्ट्वा भ्रान्ता: भवन्त्येवमंशत्वाद्"**[२१] अब्रवीत् तथा॥
"आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपत:"[२२] ॥८७॥
जातोऽनुग्रहभाक्सु भावितवपु: स्वस्मिन्निरोधप्रद:
भिन्नत्वेन विभावितोऽपि सकले स्वाभेदविज्ञापक:॥
लीलानां दशकै: सदा विहरणे स्वानन्दपूर्ण: पर:

---

१५. भाग.पुरा. २।१।३९
१६. भाग.पुरा. ६।४।२८
१७. तैत्ति.आर. ३।११।५
१८. बृह.उप. २।५।१९
१९. भग.गीता ७।२५
२०. भग.गीता ७।१४
२१. त.दी.नि.प्रका. २।१८
२२. त.दी.नि. १।७२

सोऽयं क्रीडति स्वाश्रयाश्रयरिह स्वस्मिंश्च स्वस्माद् बहिः ॥८८॥
श्रुत्युक्तं सृष्टिजननं प्रमेयत्वपरिग्रहः ॥
स्थितिः प्रमाणकल्पातु स्वप्रकाशस्य वस्तुनः ॥८९॥
प्रयाणं तत्र सृष्टानां नामरूपविलापकम् ॥
यथा श्रुतौ पुराणेऽपि तत्त्रिधाकरणेन हि ॥९०॥
लीलासु नवधोक्तासु सर्गाद्यासु प्रमेयता ॥
पोषणाद्यासु लीलासु प्रमाणत्वञ्च तस्य हि ॥९१॥
प्रयाणं यच्छ्रुतं तत्र तदीशानुकथादिषु ॥
एवं हि नवलीलाभिर्लक्ष्योऽलक्ष्यः सएव हि ॥९२॥
लक्षणैस्तस्य विज्ञानं लक्ष्याश्रयविशोधनम् ॥
लक्षणैस्तस्य चाज्ञानमन्यस्याश्रयणाय हि ॥९३॥
स्वात्मकेषु स्वसृष्टेषु रूपवत्सु जडेष्वपि ॥
नामवत्सु च जीवेषु कर्मसु बन्धकृत्सु च ॥९४॥
रसानन्दतिरोधानाद् बन्धमोहौ हि दुःखिषु ॥
अतश्चाश्रयद्वैविध्यं शास्त्रमृग्यप्रपन्नता ॥९५॥
सायुज्यमथवा तस्मिन् क्रियया पञ्चधा तु तत् ॥
ज्ञानेन चाष्टधा भेदो निजाचार्योपदेशतः ॥९६॥
पञ्चधाश्रयशुद्धिर्हि स्याद् विज्ञानविरागतः ॥
कृष्णाश्रयस्तत्र चाद्यो द्वितीयो जगदाश्रयः ॥९७॥
वेदाश्रयस्तृतीयः स्याद् भक्तिमार्गाश्रयस्ततः ॥
नामात्मकं तत्स्वरूपं श्रीमद्भागवतं मतम् ॥९८॥
तस्याश्रयः पञ्चमोऽत्र तत्राप्येतदिहोच्यते ॥
लोकवेदाश्रयस्यास्मिन् कलिकाले ह्यशक्यता ॥९९॥
कालस्वभावदोषात्तु भक्तेर्दुस्साध्यता मता ॥
शिष्टौ प्रपत्त्यै कृष्णस्य रूपनाम्नोः समाश्रयौ ॥१००॥
श्रीकृष्णरूपे विज्ञेया प्रमेयबलमुख्यता ॥
तथा भागवते शास्त्रे प्रमाणबलमुख्यता ॥१०१॥
कथासारो हि निःसारो न कृतश्चेद् कथापरैः ॥

तदुक्तं तत्कथाया हि माहात्म्ये कण्ठतः स्वयम् ॥१०२॥
"विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे - गेहे जने - जने ॥
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः " [२३] ॥१०३॥
भक्तेर्जरठताप्युक्ता ज्ञानवैराग्ययौवने ॥
भक्तेश्च यौवने चैवं ज्ञानवैराग्यवृद्धता ॥१०४॥
विषयानुपलम्भाच्च पुत्रयोः क्षीणतोदिता ॥
एवं भक्त्यनिरोधे स्यात्पाशस्तूभयतो यतः ॥१०५॥
तन्निराकरणं भागवत्या भक्त्यैव नान्यथा ॥
अतो भागवतं नूनं सर्वथा हितकारकम् ॥१०६॥

अतो

श्रीमद्भागवताश्रयाद् यदि भवेद् भक्तिः परस्मिंस्तदा
तत्तारुण्यचमत्कृतिस्तु भविता साकन्तु तत्पुत्रयोः ॥१०७॥
श्रीकृष्णस्य कथात्र या दशविधा भक्तेर्विवक्षावशाद्
प्रोक्ता त्रिष्वपि यौवनोद्भवकरी श्रेयस्करी सर्वथा ॥१०८॥
लाभपूजार्थयत्नेषु विनियोगविवर्जिता ॥
चेत् कृष्णाश्रयस्तोत्रस्य जलभेदेन संगतिः ॥१०९॥
"ब्रह्मरूपं जगज्ज्ञेयं ब्रह्मातो व्यतिरिच्यते ॥
आसक्तिस्तु ततः कार्या कृष्णे सर्वात्मके सदा " [२४] ॥११०॥
अतोऽखिलात्मनि तस्मिन् भक्तिरप्यखिला खलु ॥
श्रीमद्भागवताज्जाता सैवेहास्ति विवक्षिता ॥१११॥
नन्वन्यथेहोपक्रमात् तात्पर्यं वर्ण्यते कुतः ? ॥
उपक्रमोपसंहारविरोधान्नैकवाक्यता ॥११२॥

इति चेद् न

"भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः ॥
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतस्स्युः पुष्टिस्तुष्टिक्षुदपायोऽनुघासम् " [२५] ॥११३॥

---

२३. श्रीभाग.माहा. १।७१

२४. सुबो. २।९।३५

२५. भाग.पुरा. ११।२।४२

उक्तत्वेनाप्यभ्युपेतः आचार्यचरणैरपि॥
भक्तिस्वरूपफलयोः सिद्ध्यै भगवदाश्रयः [२६] ॥११४॥
श्रीकृष्णैकज्ञानभक्तिकर्मणां सर्वगुह्यता॥
सुदुर्लभातो तानेतान् त्यक्त्वा तस्याश्रयः शुभः॥११५॥
"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः... ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु...॥११६॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज॥
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" [२७] ॥११७॥
स्वप्राप्तिसाधनांगत्वेनाश्रयस्य प्रकीर्तिते॥
विकल्पतानुकल्पतेऽत्र प्रमुखे मौखिके खलु॥११८॥
भक्तेरतोऽपि तल्लीलारूपतासिद्धये पुनः॥
आश्रयेणोपसंहारः सर्वथा हि समञ्जसः॥११९॥
"**कथा इमास्ते**"श्लोकस्य व्याख्या स्वमतिशुद्धये॥
रचिताचार्यचरणानां कृपयैव न संशयः॥१२०॥
द्यौत्यं यत्किमपीह तत्तदखिलं विद्योतितं प्राक्तनैः
श्रीमद्वल्लभवाग्विचिन्तनपरैः व्याख्यातृभिः सर्वथा॥१२१॥
वृन्दाकाननवेणुवादकमुखाद् विद्योतिते वर्त्मनि
राकायामहमात्मभासनपरः खद्योतवद् द्योतकः॥१२२॥
यद्यत्र श्रीमदाचार्याभिप्रायाद् अन्यथोदितम्॥
चेत् ते क्षमन्तु वै स्वीयबालबुद्धिविचेष्टितम्॥१२३॥
वैक्रमे वत्सरे सप्तत्युत्तरे द्विसहस्रके॥
त्रयोदश्यां हि शुक्लायां फाल्गुने रचितं मया॥१२४॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितं
"**कथा इमास्ते**"कारिकाविवरणं सम्पूर्णम्

---

२६. द्रष्ट.वि.धै.आ. १०-१३-१७
२७. भग.गीता १८।६४-६६



(३) एतत्प्रकरणीयाः अप्रकाशिताः

(क)

शब्दार्थयोरुत्तमयोः सम्बन्धो यादृशो मतः ।
तं विवेचयितुं कृष्णः श्रुतिगीतं चकार ह ॥(१)॥
प्रमाणं ब्राह्मणः प्रोक्तः प्रमेयमपि वै बृहत् ।
स एव भगवान् कृष्णस्ततो भजनमीरितम् ॥(२)॥

(भाग.पुरा. १०।८४।० सुबो.का. १-२)

श्रीहरिरायाणां कारिकाविवरणम्

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ उत्तरार्धे अष्टत्रिंशाध्यायार्थ-तात्पर्योक्तौ **शब्दार्थयोरुत्तमयोः** इति, वेद-तदर्थब्रह्मरूपयोरित्यर्थः. अत्रायमाशयः. पूर्वाध्याये स्वस्य वेदवेद्यतां प्रकटीकर्तुं ब्राह्मणैः सह मैथिलगृहे श्रुतदेवगृहे गत्वा भक्तिमार्गे सन्मार्गे भजनीय इति ज्ञापयितुं तयोर्भजनं विशिष्टरूपस्य सम्पाद्य स्वगृहमागत इत्युक्तम्. तत्र

वेदानां शब्दरूपत्वाद् बृहतो निर्गुणत्वतः ।
संकेतग्रहणाभावाद् वाचकत्वं न युज्यते ॥
अतएव च वाच्यत्वं कथं स्याद् वेदवेद्यता ?
अनयोर्यादृशो युक्तः सम्बन्धोऽतिविलक्षणः ॥
तदर्थमेव हरिणा श्रुतिगीता प्रकाशिता ।
तत्रायं निर्णयो वाच्यः श्रुतयो द्विविधा मताः ॥
रूप-माहात्म्यभेदेन भगवद्रूपबोधिकाः ।
स्वरूपमात्रवक्त्रीषु न सन्देहोऽस्ति कश्चन ॥
सगुणत्वं निर्गुणत्वं बुद्धिदोषात् तु भासते ।
अलौकिकस्वरूपात्मधर्मैर्युक्तं तु रूप्यते ॥
माहात्म्यरूपिकाणां तु युक्तं सर्वनिरूपणम् ।
"एतावान् अस्य महिमे"त्युक्तेरन्यनिरूपणात् ॥
न ब्रह्मरूपणं तस्मात् संशयो वेदबोधिते ।
तत्रैतैर्वाक्यशेषाख्यैर्वाक्यैः श्रुतिशतोदितैः ॥
तात्पर्यवृत्त्या वाच्यत्वबोधनात् तन्निराकृतिः ।
"अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्ये"त्यादि रूपितम् ॥
अतएव निजाचार्यैः निबन्धादौ कृपालुभिः ।
"अलौकिका वेदशब्दा भगवन्नामरूपिणः ॥
तदधिष्ठानसम्भूतैः सदावृत्तैस्तदुद्भवः ।

ततस्तैश्चेतसः शुद्धौ तत्तात्पर्यं हि भासते ॥
अतएव मनोमात्रगम्यत्वं वेदवेद्यता ।
उभयं युज्यते नो चेद् विरोधः स्फुट एव हि ॥
सर्वे वेदा दृश्यते तु मनसैवे''ति वाक्यतः ।
विरोधो दुःपरिहारो वाक्यशेषानिरूपणे ॥
अत एते वाक्यशेषा भजनीयस्य निर्णये ।
स्वस्मिन् मानाविरोधाय बोधिता ब्रह्मणास्यतः ॥

प्रमाणं ब्राह्मण इति. ''स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति'' (बृहदा.उप. ३।८।८) इति श्रुतेः ब्राह्मणा वदन्ति, न साक्षात् श्रुतयः, तद्द्वारैव तासां बोधनाद्. अतएव न साधारणशब्दविधया बोधकत्वम्. अतो अनधिगतार्थज्ञापकत्वाद् वेदार्थे ब्राह्मण एव प्रमाणं श्रुतौ प्रोक्तमित्यर्थः. **प्रमेयमपी**ति. **प्रमेयं** ब्राह्मणवाक्यैः प्रमातुं योग्यं **बृहद्** अक्षरं ; सच्चिदानन्दं पत्र-पुष्पादियुक्तवृक्ष इव प्रमेयमित्यर्थः. पुरुषोत्तमस्य तु फलरूपस्य केवलानन्दरूपस्य अनुभवैकवेद्यत्वेन सामान्यतः प्रमेयत्वेऽपि विशेषतोऽप्रमेयत्वाद् इति भावः. ननु एवं भगवति वेदवेद्यत्वासिद्धौ वेदप्रथितत्वाभावेन तल्लक्षणाभावात् पुरुषोत्तमत्वासिद्ध्या अभजनीयत्वं स्याद् इत्याशङ्क्याहुः **स एवे**ति. भगवति कृष्णे पूर्वाध्याये ब्राह्मणसाहित्यनिरूपणेन यस्मिन् ब्राह्मणः प्रमाणं यश्चार्थो वेदः प्रमेयं स एव ऐश्वर्यादिप्राकट्यपूर्वकं फलदानाय प्रकटः केवलानन्दरूपेण कृष्णो बृहदधिष्ठानीकृत्य इति तयोः भेदाभावात् न पूर्वोक्तं शङ्कालेशोऽपीति भावः. **तत** इति. यतो वेदार्थोऽयं भगवांस्**ततो** मैथिल-श्रुतदेवाभ्यां कृतमेतद्**भजनं** पूर्वाध्याये **ईरितं** कथितमित्यर्थः (१-२).

तत्रोपपत्तिः प्रष्टव्या वाच्यवाचकनिर्णये ।
अतो राजा श्रुतीनां वै निर्णयार्थमपृच्छत ॥(३)॥
सगुणं चेद् वेदवाक्यं ब्राह्मणास्तत्र च स्थिताः ।
ततोऽत्र भगवानेव पूज्यो नान्यः कथञ्चन ॥(४)॥
मतान्तरोक्तिरेषा हि सिद्धान्ते वैदिके तथा ।
अनन्तगुणपूर्णो हि हरिर्ब्रह्म श्रुतिस्तथा ॥(५)॥
त्रयमेकं स्वशक्तिं हि त्रेधा स्वस्मिन्निधाय हि ।
फलप्रमेयमानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम् ॥(६)॥
तथापि साङ्ख्यसिद्धान्ते तथा तदुपजीवके ।
वैष्णवेऽन्यत्र वा वाच्यं श्रुतिसङ्ग्रहणं यथा ॥(७)॥
अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद् भवेत् ।

तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलमीर्यते ॥(८)॥

तत्रोपपत्तिरिति. सामान्यतो वाच्यवाचकभाव उक्तो ब्रह्म-श्रुत्योः ; तव का उपपत्तिः, श्रुतीनां बह्वर्थनिरूपकत्वेन तत्र वाच्यानेकत्वप्रतीतेः, ब्रह्मणश्च अलौकिकत्वेन तव संकेतग्रहासम्भवात् श्रुतानां शब्दबोधं विधया बोधकत्वं कथं दृश्यते? "त्वग्र्यया बुद्ध्या" (कठोप. ३।१२) इत्यादि श्रुतिविरोधश्च. अतो **वाच्यवाचकनिर्णये** भावप्रधानो निर्देशः ; वाच्यवाचकत्वनिर्णये **उपपत्तिः** प्रश्न आवश्यक इत्यर्थः. **अत** इति, यतो वाच्यवाचकभावो विनोपपत्तिं नानयोः घटत इत्यर्थः. **श्रुतीनामि**ति, नानाविधार्थनिरूपिकाणाम् इत्यर्थः (३).

ननु भगवान् भजनीय इत्यत्र निरूप्यं, तत्रायं वेद-बृहतोः वाच्यवाचकभावो निर्णीतः कुत्रोपयोक्ष्यत इत्याशङ्क्य आहुः **सगुणं चेदि**ति. आस्तिकैः वेदार्थ एव पूज्यः. तत्र लोके भगवान् सगुण इव प्रतीयते, वस्तुतोऽपि अनन्तगुणपूर्णः, तस्य च वेदार्थत्वं सगुणस्य वेदवाच्यत्वे तत्प्रमाणभूतानां ब्राह्मणानां च तत्र स्थितौ सम्भवति, तथात्वे पूज्यताऽपि सम्भवति. अन्यथा निर्गुणस्य वेदार्थत्वे तथाभावात् भगवति पूज्यत्वं न सम्भवति. अतस्तद्वाच्ये सगुणत्व-निर्गुणत्वनिर्णयोऽपि विधेय इत्यर्थः (४).

मतान्तरोक्तिरेषेति. राज्ञः पूर्वपक्षकर्तुः **एषा** ब्रह्मणि निर्गुणत्वकथनकरूपा श्रुतिषु गुणवृत्तित्वकथनरूपोक्तिः **मतान्तरं** साङ्ख्यादिमतं, तत्सम्बन्धिनि शुद्धवैष्णव**सिद्धान्ते** भगवति सर्वात्मत्वबोधके **वैदिके** च ब्रह्मवादरूपे सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मणि भेदानिरूपणाद् इत्यर्थः. तदेतद् विशदयन्ति **अनन्तगुणपूर्ण** इति. "परास्य शक्तिः" (श्वेताश्व.उप. ६।८) इति श्रुतेः "भगवान् हरिरीश्वरः" (भाग.पुरा. २।१।५) इति वाक्याच्च उभयविधसिद्धान्ते तथा निरूपणाद् इत्यर्थः. अक्षरं ब्रह्मैव ; तच्चापि तथा. गीतायां "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" (भग.गीता १४।२७) इत्युपक्रम्य अग्रे "शाश्वतस्य च धर्मस्य" इति तस्मिन् स्वधर्मरूपत्वोक्त्या गुणरूपत्वमेवोक्तम्. श्रुतयस्तु "स्वयम्भूरेष भगवान्" (. । ।), "वेदो नारायणः" (भाग.पुरा. ६।१।४०) इत्यादि वाक्यैः ब्रह्मैव, तद्गुणनिरूपकत्वेन गुणवत्योऽपि, इति वस्तुतः त्रयाणाम् एकरूपत्वमेवेति विजातीयत्वाभावाद् अयं पूर्वपक्ष एव न घटते अतः परपक्षमाश्रित्यैव स कृत इति भावः. **स्वशक्तिमि**ति. स्वरूपात्मिकां सच्चिदानन्दरूपां शक्तिं फलदानयोग्यता-सम्पत्तिज्ञापनादि-तत्तत्कार्यकरणाय **त्रेधा** विभज्येत्यर्थः. एतेन स्वयमेव "आत्मनात्मानं वेत्थ" (भग.गीता १०।१५) इति अर्जुनवाक्यं समर्थितम्. **फलप्रमेयमानत्वमि**ति. आनन्दशक्त्या फलत्वं, ज्ञानशक्त्या प्रमेयत्वं, सच्छक्त्या श्रुतिरूपया मानत्वम्.

सैव भगवतः सच्चिदानन्दता भेदेन स्थितावपि ता **गतं** प्राप्तम्. ब्रह्म एकमेवेति न मुख्यसिद्धान्ते तवायं प्रश्नो घटत इति भावः. **तथापीति**, "पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय" इति न्यायेनेति भावः. **साङ्ख्यसिद्धान्ते** इति भेदनिरूपके इत्यर्थः. **तदुपजीवके** इति, सगुणवैष्णवसिद्धान्ते इत्यर्थः. **अन्यत्र वेति**, यत्रैव भेदवादे इत्यर्थः. यथा तत्रापि सर्वासां **श्रुतीनां** वाचकत्वेन भगवति **संग्रहणं** भगवति **तथा** अत्र **वाच्यमित्यर्थः** (५-८).

॥ इति श्रीहरिरायविरचितं दशमस्कन्धोत्तरार्धाष्टत्रिंशाध्यायार्थ-निरूपक-कारिकाविवरणः सम्पूर्णः ॥

(ख)

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

एकादशस्कन्धविवृतौ कारिकाभिः स्कन्धार्थनिरूपणे **अथ एकत्रिंशताध्यायैः (भाग.पुरा. ११।१।० इत्यत्र सुबो.का. १)** इत्यादि. अत्र **अथशब्द** आनन्तर्यवाचकः, निरोधनिरूपणानन्तरं मुक्तिनिरूपणस्य क्रमप्राप्तत्वात्. मंगलस्य 'अथ'शब्दश्रुत्यैव सिद्धिः, न तदर्थं नमनाद्युक्तिः. **अध्यायैः** कृत्वा या एकत्रिंशत्संख्या तया **मुक्तिः** निरूप्यते इति शेषः. साच वस्तुतो **द्विधैव** इति तद् आहुः **द्विधा** इति. द्वैविध्यं विवेचयन्ति **ब्रह्मभावः कृष्णयोग** इति. ब्रह्मभावो हि– "ध्यानयोगपरो नित्यम्" (भग.गीता १८।५२) इति वाक्यात् योगपरस्य आसन्यसेवया, "मां च यो अव्यभिचारेण" (भग.गीता. १४।२६) इति वाक्याद्, भक्त्या तु अनन्यभावेन भगवत्सेवया वा –देहेन्द्रियादीनां पूर्वरूपनिवृत्तिपूर्वकं, पाकेन घटादीनामिव, अपूर्वाधिदैविकरूपसम्पत्त्या जीवस्य तिरोहितस्वाधिदैविक-भगवद्रूपसम्पत्तिः. **कृष्णयोगः** कृष्णे योगः, कृष्णेन वा योगः. तत् सायुज्यं भगवति प्रवेशे, भगवतो वा स इत्यर्थः. यद्यपि "ब्रह्मणा सह विपश्चिता" (तैत्ति.उप. २।१) इति श्रुतौ सहभावएव उक्तो न प्रवेशः तथापि आनन्दमयस्य सर्वान्तरस्य तादृश एव सहभावो वाच्य इति तथा उच्यते, बाह्यपदार्थेनैव बाह्यसंयोगसम्भवात्. ननु भगवति प्रवेशे कथम् आन्तरसंयोगनिरूपणं, विज्ञानमयस्य ततो बाह्यत्वाद् इति चेद्, न, "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (बृहदा.उप. ४।४।६) इति श्रुतेः विज्ञानमयस्यापि आनन्दमयीभूय तत्र प्रवेशाद्. अतएव अन्तर्गृहगतानाम् अलौकिकानन्दमय-शरीरप्राप्तिः उक्ता, प्राकृतशरीरेण बाह्येन तत्सम्बन्धायोगाद्. ननु उद्धवे कथं प्रवेशः, तच्छरीरस्य प्राकृतत्वाद् इति चेद्, न, सततस्वरूपभावनया भाविवियोगदुःखेन च शरीरस्य नवत्वसिद्धेः. अतएव उक्तं प्रभुणा "न उद्धवो

अण्वपि मन्यून" (भाग.पुरा. ३।४।३१) इति. 'अणु' इत्यनेन शरीरेणापि समताऽभावो निराकृतः, "तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" (कठोप. १।२।२३) इति श्रुतेः तत्तनोः स्वतनुत्वेन अंगीकाराद्. अतएव मूर्त्तौ इव तत्र स्थितिः मुख्यगोपिकासु इव. एतच्च यथा तथा "ज्ञात्वा आत्मानं अधोक्षजम्" (भाग.पुरा. १०।४४।५३) इत्यत्र प्रभुचरणैः निरूपितम्. अन्तर्गृहगतानां तु सर्वात्मभावाभावाद् वियोगेनापि न तनुनवत्वसिद्धिः किन्तु पूर्वतनुनिवृत्तिपूर्वकमेव अलौकिकतत्प्राप्तिः. उद्धवे तु स्वामिनीचरणरजःसम्बन्ध-महिम्नैव एतादृशी योग्यता सम्पन्ना यतो अलौकिकतनुसिद्ध्या तत्रैव देहे कृष्णसायुज्यं सिद्धम् इति सर्वम् अनवद्यम्. एवं स्कन्धार्थत्वेन मुक्तिं द्वेधा निरूप्य तद्धेतुभूतोपायद्वैविध्यम् आहुः **हरेः धर्मैः तथा आज्ञया** इति. **हरेः** सर्वदुःखहर्तुः संसारनिवर्तकस्य **धर्मैः**. **हरेः धर्मैः** इति असमासात् केवलैः, नतु धर्मिरूपैः पुष्टिमार्गीयैः, अर्थाद् आवृत्त्या क्रियमाणैः श्रवणादिभिः ज्ञानसिद्धिद्वारा **ब्रह्मभाव**रूपा मुक्तिः भवति, "यथा यथा आत्मा परिमृज्यते असौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः, तथा तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मम्" (भाग.पुरा. ११।१४।२६) इति वाक्याद्. **तथैव कृष्णयोगो**ऽपि भगव**दाज्ञया** स्वरूपसम्बन्धेन साक्षाद्धर्मेण भवति इत्यर्थः. अत्र अयम् आशयः. आज्ञा हि सेवके स्वसम्बधिनि भवति. तत्त्वं च वरणाद्, "यमेव" (कठोप. १।२।२३) इति श्रुतेः, वरणञ्च कृपयैवेति भगवत्कृपया मुख्यं सायुज्यं भवति. भगवता उद्धवं प्रति अग्रे पूजादि-स्वधर्मनिरूपणं तु तन्निष्ठतया पुत्रइव स्वाज्ञाकारिणि तस्मिन् कृपाकरणार्थम् इति बोध्यम् (१).

मुक्तिद्वयनिरूपणे अध्यायविभागं कुर्वन्तः पञ्चाध्याय्या वसुदेव-नारदसंवादप्रकारेण ब्रह्मभावरूपणे अध्यायसंख्यातात्पर्यम् आहुः **अविद्या पञ्चपर्वा** इति. "निष्ठा ज्ञानस्य या परा" (भग.गीता १८।५०) इति वाक्याद् ज्ञानसाध्यत्वेन तत्र अविद्यानिवृत्त्युक्तेः आवश्यकत्वाद् इति भावः. **तन्नाश** इति. पंचमाध्यायस्यान्ते "जहतुः मोहम् आत्मनः" (भाग.पुरा. ११।५।५१) इत्युक्तेः इति भावः. **प्रथमा** इति उद्देशे प्रथमा, नतु मुख्येत्यर्थः. द्वितीयमुक्ति-निरूपकाध्यायसंख्यातात्पर्यम् आहुः **प्रकृत्यतिक्रम** इति. **प्रकृतिः** सर्वोऽपि प्रपंचः ; स तत्त्वरूपत्वेन चतुर्विंशतिविधः. तस्य **अतिक्रमो** भगवत्स्वरूपावगत्या त्यागेन एकान्तस्थितिनिश्चयः. तेन अप्राकृतत्वसिद्ध्या भगवत्प्रवेशयोग्यतासिद्धौ कृष्णयोगरूपा **अन्या** वस्तुतः सर्वदियमुक्तितो अन्या पुष्टिमार्गीया मुक्तिः भवति इत्यर्थः. यद्वा **प्रकृतिः** जीवस्य चतुर्विंशतिविध-प्रपञ्चनिष्ठस्य तावद्विधः स्वभावो, येन भगवदाज्ञायाम् अपि अन्यस्फूर्तिः यतः प्रश्नादिकृतिः प्रापञ्चिकपदार्थविषयिणी. **तदतिक्रमः** तूष्णीम्भावेन

स्वरूपमात्रावलोकनपरता. तदा कृष्णः प्रविशति नेत्रद्वारा इति सा भवति इति अर्थः. **ततः** इति. यतो मुक्तिद्वयम् एवं भवति **ततो** हेतो **द्वये** मुक्तिद्वये **अध्याया** अपि **तथा** तथाविधसंख्याका इति अर्थः (२).

एवं मुक्तिद्वयं निरूप्य तत्राधिकारिणौ भिन्नौ क्रमेण निरूपयन्ति **जनकश्चोद्धव** इति. ब्रह्मभावे जनकः कृष्णयोगे उद्धव इत्यर्थः. **सात्त्विको राजस** इति. "सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्" (भग.गीता १४।४७) इति वाक्याद् जनकस्य ज्ञानिनः सात्त्विकत्वम्. भक्तत्वेन उद्धवस्य वियोगभीत्या विक्षेपयुक्तस्य– वस्तुतो "यद् गुणैर्नार्दित" (भाग.पुरा. ३।४।३१) इति वाक्याद् गुणातीतत्वेऽपि– तदानीं भावेन राजसत्वम् इत्यर्थः. स्वरूपतस्तु निर्गुणत्वमेव. नामतोऽपि अपकर्षम् उत्तमाधिकारिणि असहमानैः (?) प्रभुभिः. अतएव उक्तं "सात्त्विको निर्गुणस्तथा" इति भावेन राजसत्वम्. "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्" (भाग.पुरा. ११।२५।२४) "तं भजन् निर्गुणो भवेद्" (भाग.पुरा. १०।८५।५) इत्यादिवाक्ये निर्गुणत्वमेव पोषयति इत्याशयेन प्रभुचरणानां तथा निरूपणम्. ननु एवं सति राजसत्वनिरूपणस्य आचार्याणां किं तात्पर्यम् इत्यत आहुः **पुष्टिमार्गस्य** इति. **गुणैः विपरीता गतिः** उत्तमगुणवतो ब्रह्मभावो, मध्यमतद्वतः कृष्णयोगः! तत्र हेतुः **पुष्टिमार्गस्य मुख्यत्वमेव**. साधारणाधिकारिणो मार्गबलेन उत्तमफलसिद्धौ मार्गमुख्यत्वं सिद्ध्यति. तथा च तन्मुख्यत्वनिरूपणार्थमेव निर्गुणेऽपि आचार्याणां राजसत्वोक्तिः इति भावः (३).

लोके "लयो मुक्तिः" इति प्रसिद्धेः कस्यचिद् अन्यथाबुद्धिः स्याद् इति तदभावार्थं श्रीभागवतीयमेव मुक्तिलक्षणवाक्यम् आहुः **मुक्तिर्हित्वा** इति. मुक्तिः जीवस्य न स्वरूपनाशो, भगवदंशत्वाद्, किन्तु तद्भावनिवृत्तिः. सच भावो भगवद्धर्मतिरोधानाद् लोकवेदभीतिः, भगवदाज्ञाकरणञ्च लोकनिष्ठतया. स एव च **अन्यथारूपम्. (स्वरूपेण!)** तद्ध्यानपूर्वकं साक्षात्सेवायोग्यरूपेण **(व्यवस्थितिः!)** दासत्वेन निर्भयतया तदाज्ञापरतया च स्थितिः इत्यर्थः. एतदेव अभिसन्धाय प्रभुभिः उक्तम् "आज्ञाकृतिर्निर्भयत्वं सेवाभ्यामुच्यते स्फुटम्" इति. एवम् एकोनत्रिंशदध्यायतात्पर्यतया जीवमुक्तिं द्विविधां निरूप्य अवशिष्टाध्यायद्वय-तात्पर्यनिरूपणार्थम् आहुः. **जीवब्रह्मविभागेन** इति. मुक्तेः अत्र साक्षाद्भगवल्लीलात्व-सिद्धये **जीवब्रह्मविभागेन** भगवत्यपि **द्वयं** ब्रह्मभाव-कृष्णयोगरूप-मुक्तिद्वयम् अध्यायद्वयेन अन्ते **उदीर्यते** इत्येवमपि सा **द्विधा** इत्यर्थः. तत्र भगवति ब्रह्मभावो = लीलार्थं तथावाक्यैः यः कपटमानुषभावः तन्निवृत्तिपूर्वक-रसात्मकतया स्थितिः ; भक्तेषु तद्रूपेण सततस्थितिः तदधीनतया इति कृष्णयोगश्च

अवगन्तव्यः (४).

ननु निरोधइव मुक्तौ गुणैः अधिकारित्रैविध्यं कुतो न उक्तम् इति आशंक्य आहुः **तामसाराजसाश्च** इति. निरोधे तामसराजसयोः आसक्तिवैलक्षण्येन तथोक्तिः. मुक्तौ तु तयोः पूर्वरूपहानपूर्वकं स्वरूपावस्थितेः समत्वेन द्वैविध्यमेव अत्र उक्तम् इत्यर्थः. **आद्य** इति, जीवमुक्तिप्रकरणे इत्यर्थः. **द्वयम्** इति, अधिकारिद्वयम् इत्यर्थः. ब्रह्ममुक्तिप्रकरणे अपि अध्याये तात्पर्यम् आहुः **अंशाश्च** इति. भगवांश्च स्वलीलासहितः प्रकटः तत्र या अंशाः तेऽपि भगवानेव इति अंशांशिभेदेन उभयविधस्यापि मुक्तिः उच्यते इत्यत्रापि अध्यायद्वयेन तन्निरूपणम् इति अर्थः (५).

एवं विविच्य मुक्तिम् एकेन संगृह्णन्ति **ततः पञ्चभिः** इति. **आद्या** इति, ब्रह्मभावरूपा इत्यर्थः. **परा** इति, कृष्णयोगरूपा इत्यर्थः. **एकैकेन** इति, अध्यायेन इत्यर्थः. **उक्ते** इति, अंशांशभेदेन उक्ते इत्यर्थः. उभयविधस्य ब्रह्मणः एकैकेन तदुक्तेः तात्पर्यम् आहुः **त्याज्यांशाभावतः** इति. **त्याज्यांशो** अविद्या प्रकृतिश्च ; भगवति सांशे तदुभयाभावाद् **एकैकेन** अध्यायेन मुक्तिमात्रम् उभयविधस्य उक्तम् इत्यर्थः. यद्वा. ईश्वर-मुक्ती त्याज्यांशाभावतः स्वेच्छामात्राधीनतया परमे श्रेष्ठे इत्यर्थः (६).

ननु अत्र प्रकरणद्वैविध्यमेव जीवब्रह्मविभागेन वाच्यं, तत्रापि पुनः द्वैविध्यनिरूपणम् किं तात्पर्यविषयकम् इत्याशङ्क्य मुक्तिप्रकारद्वयकथनेन समाहितं तत्रैव प्रकरणतः द्वैविध्यनिरूपणतात्पर्यम् आहुः **ममाहम्मतिनाशार्थम्** इति. मुक्तौ ब्रह्मात्मत्वावबोधः स्वस्मिन् अपेक्षितः कारणत्वेन. सच अहम्ममतिनाशे भवति, तस्या अविद्याकार्यत्वात्. तथाच एकैकमतिनाशार्थम् एकैकम् प्रकरणम् इति तद् द्वैविध्यम् इत्यर्थः. अत एव प्रथमप्रकरणे "जहतुः मोहम् आत्मनः" (भाग.पुरा. ११।५।५१) इत्यनेन ममतामतिनिवृत्तिः उक्ताः. उत्तरे च "नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नम् अनुशाधि माम्" (भाग.पुरा. ११।२९।४०) इति वाक्याद् उद्धवे शरणगत्याज्ञापरतया च अहंमतिनिवृतिः उक्ताः. **प्रक्रियाद्वितयम्** इति. प्रकरणं प्रक्रिया, तद् द्वितयम् इत्यर्थः. ईश्वरमुक्तिप्रकरणेऽपि एतत्तात्पर्यस्य निवेशार्थम् आह **तयोः अभिनय** इति. "रामनिर्याणम् आलोक्य भगवान् देवकीसुतः" (भाग.पुरा. ११।३०।१७), "निषसादधरोपस्थे बिभ्रद् रूपं चतुर्भुजम्" (भाग.पुरा. ११।३०।२७) इति वाक्याभ्यां ममाहंमत्योः **अभिनयो** अनुकरणमेव. अन्यथा "संहर्तुम् ऐच्छत् कुलम्" (भाग.पुरा. ११।१।१०) इति वाक्यम् अनुपपन्नं स्याद्. न हि लोके ममाहंमतिसहितः कुले एवंकर्तुम् इच्छति. अतो **अभिनय** एव **तयोः भगवता कृत इति** हेतोः तत्रापि प्रकरणे अध्यायद्वयस्य एतत्तात्पर्यं

ज्ञेयम् इत्यर्थः. चकाराद् न अहंताममताभिनयमात्रं किन्तु तद्वत् कृत्यभिनयोऽपि इति निरूपितम् (७).

एवं प्रकरणतात्पर्यम् उक्त्वा अध्यायतात्पर्यम् आहुः **ततश्च** इति. यतो मुक्तिः अत्र स्कन्धे पूर्णे निरूप्यते, तद्भेदश्च प्रकरणैः, ततः तद्बीजम् अध्याये प्रथमे निरूप्यते इति मुक्तिद्वैविध्ये बीजद्वैविध्यमपि इति प्रथमाध्यायस्य सर्वमूलत्वात् तत्र **बीजद्वयम् उदीर्यते** इत्यर्थः. बीजद्वयं विविच्य यथायोग्यं निरूपयन्ति **ब्रह्ममुक्तिः** इति. **निजेच्छातो** भगवदिच्छात इत्यर्थः. निरोधो हि भक्तेच्छया, "गोपीभिः स्तोभितो नृत्यद्" (भाग.पुरा. १०।११।७), "बिभर्ति क्वचिद् आज्ञप्त" (भाग.पुरा. १०।११।८) इति वाक्यात्. मुक्तिस्तु स्वरूपएव अंशादिरूपनिवृत्त्या केवलमूलरूपेण स्थितिः इति तत्र स्वविषयक-स्वकार्ये स्वेच्छैव कारणम् इति **निजेच्छात** इत्युक्तम् इत्यर्थः. **वैराग्येण इतरस्य** इति, **इतरस्य** जीवस्य **वैराग्येण** मुक्तिः इत्यर्थः. जीवमुक्तौ वैराग्यमेव कारणं, यतो अन्यथारूपसम्बन्धः तस्य विषयासक्त्यैव, "मनोरथेन अभिनिविष्टचेतन" (भाग.पुरा. १०।१।४१) इति वाक्याद्. अतः तद्वैतृष्ण्यम् एव स्वरूपेण अवस्थितौ हेतुः इति तथा इत्यर्थः (८).

ननु अत्र मुक्तिः द्विविधैव निर्णीता, न अन्यत्र ; श्रीभागवते एव "सालोक्य-सार्ष्टि" (भाग.पुरा. ३।२९।१३) इत्यादिषु चतुर्विधापि श्रूयते, तत् कथम् एकान्ततो निर्णयः इति चेद्, तत्र आहुः **चतुर्धामुक्तिपक्षश्च** इति. श्रीभागवते चतुर्विधापि मुक्तिः अस्ति निरूपिता, तथापि अत्राभिहितमुक्तिद्वयपक्ष-चतुर्विधमुक्तिपक्षयोः पूर्वत्र भगवदिच्छा बीजम् उत्तरत्र भक्तानाम् एव विचित्रेच्छा बीजम् इति तयोः एषा **स्थितिः** मर्यादा इत्यर्थः (८ १/२).

तत्र इति. मुक्तिद्वये कार्यप्रकारेण ब्रह्ममुक्तेः अन्तिमाध्यायद्वयेन वाच्यत्वाद्, जीवमुक्तौ अपि वैराग्योत्पत्तिहेतुत्वेन ईश्वरेच्छायाः कारणत्वबोधनार्थं तत्प्रकरणे एव **इश्वरेच्छया** "संहर्तुम् ऐच्छद्" (भाग.पुरा. ११।१।१०) इति वाक्याद् **बीजप्रकारेण** ब्रह्म**मुक्तेः** भूभारहरणं कृत्वा पूर्वरूपत्यागेन स्वरूपेण अवस्थितो जातः इति **प्रकारं सप्तभिः** आह इत्यर्थः. **भूमेः भारनिराकरणं बीजम्** इति. ईश्वरस्य भूभारनिराकृतये गृहीतसंकर्षणकलाकेशरूपया तद्रूपोपसंहारं विधाय श्रुतिसिद्ध-रसात्मकस्वरूपेण पूर्वोक्ताखिललीलाविशिष्टेन "जननिवास" (भाग.पुरा. १०।८७।४८) इति वाक्याद् भक्तहृदयमात्रस्थितिरूपा "स्वमूर्त्या" (भाग.पुरा. ११।१।६-७) इति श्लोकद्वयेन निरूपिता मुक्तिः सूत्रसंकर्षणांश-कार्यसमाप्तिरेव बीजं, तदसमाप्तौ रूपान्तरपरित्यागपूर्वकं स्वरूपावस्थितौ इच्छाऽसम्भवाद्. अतः तादृशेच्छाहेतुत्वेन भूमिभारनिराकरणं बीजम् इत्यर्थः. पञ्चानां पद्यानां कायिकादिभेदेन

त्रिविधभारनिराकृतौ विभागम् आहुः **एकैकेन** इति. **तत्र कायिकमाह** इति. "कृत्वा दैत्यवधम्" इत्यनेन करणोक्त्या इति भावः. **नायम्** इति. दशमस्कन्धोक्तस्य निरोधकृततात्पर्येण भगवता क्रियमाणस्य तदंगभूतस्य दैत्यवधस्य न अनुवाद इत्यर्थः. **किन्तु अपूर्वतया** इति. तदेव दैत्यवधः अत्र न तेन रूपेण उच्यते किन्तु भूभारहरणार्थत्वेन रूपेण. तद्रूपेण दशमस्कन्धे अनिरूपणात्, लीलाप्रतिबन्धकत्वेन तन्निवृत्तिद्वारा भक्तनिरोधसिद्ध्यर्थमेव तन्निरूपणाद् इत्यर्थः. **तथापि तेषाम्** इति, नृपव्याजेन दैत्यानाम् इत्यर्थः. **निरोधशेषत्वेन** इति. फलान्तर्गतत्वात् तन्मारणस्य इत्यर्थः. अतएव यत्र संकर्षणांश-केशरूपकार्यत्वेन भूभारहरणं भारतादौ निरूपितं तत्र अर्जुनादिद्वारैव, न साक्षाद् भगवता कृतं तद् इति ज्ञेयम्. तत्र भगवतो वाचनिक्येव शिक्षादिना भूभारहृतिः. ननु दशमस्कन्धे भारहृतिहेतुत्वेन दैत्यवधो भगवत्कृतो नोक्त इति कुत्रत्यस्य अत्र निरूपणम् इति चेत्, तत्र आहुः **भूभारहरणं च तेन** इति. **तेन** निरोधशेषभूतेन दैत्यवधेन मनीषितभूभारहरणं जातम्. प्रासंगिकं प्रसंगतः तत्र उक्तम् अपि **पुनः स्वतन्त्रतया** मुक्तिबीजत्वेन मुक्तिरूपफलार्थं पुनः **उच्यते** इति न दशमस्कन्धोक्त-मुख्यदैत्यवधस्य अनुवाद इत्यर्थः. ननु प्रासंगिकस्यापि तस्य निरोधमध्यवर्तिनः कथने अनुवाद एव स्याद् इति चेद्, तत्र आहुः **अनुवाद** इति. वधस्तु दैत्यानां पूर्वम् अप्राप्तएव, साक्षात्पुरुषोत्तमेन निरोधार्थम् आर्विभूतेन अकृतत्वाद्. तदा तदा आविष्टसंकर्षणांशस्यैव कृत्यं तत्. अतः तस्य निरोधस्कन्धस्थस्य **अनुवादे** निरोधकर्तरि दैत्यवधस्य **प्राप्तिभावो** स्यात्. तथाच "तथा परमहंसानाम्" (भाग.पुरा. १।८।२०) इति पृथावाक्यं विरुध्येत. ननु संकर्षणकार्यस्य अधिदैत्यवधस्य माहात्म्यज्ञानजननद्वारा साधारणनिरोधसाधकस्य तत्र उक्तिः.... ॥१॥

(अज्ञातकर्तृकः, एतावानेव श्रीगट्टूलालाजीसंग्रहतः प्राप्तः).

(ग)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीवल्लभाय सततं विट्ठलेशाय सततं प्रणम्य एकादशस्कन्धसुबोधिनी अवलोक्यते. **अथ** इति. **हरेः आज्ञया** वेदोक्त**धर्मैः ब्रह्मभावः तथा हरेः धर्मैः** भगवद्धर्मैः **कृष्णयोगः** सायुज्यम् इति **द्विधा मुक्तिः** इत्यर्थः (१). **प्रथमा भवेद्** इति, ब्रह्मभावरूपा मुक्तिः भवेद् इत्यर्थः. **अन्या** इति सायुज्यरूपा मुक्तिः. **तथा द्वये** इति, प्रथमे प्रकरणे पञ्चाध्यायाः द्वितीये चतुर्विंशतिः इत्यर्थः (२). **जनक** इति. ज्ञातित्वाद् **जनकः सात्त्विकः**, "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्"

(भग.गीता १४।४७) इति उक्तेः. **उद्धवो राजसः**, भक्तत्वात्, "न निर्विण्णो न अतिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः" (भाग.पुरा. ११।२०।८) इति उक्तेः. **तथा** इति पदेन यादवादयः तामसा इति उक्तम्. **पुष्टिमार्गस्य** इति. अत्र शास्त्रे पुष्टिमार्गो मुख्यः. सच निःसाधनजनोद्धाररूपः. तत्र सात्त्विकानां सत्त्वेनैव उद्धारः. राजसानाम् अपि शुद्धानां सत्त्वप्राप्त्या उद्धारः सुकरः. तामसानां तु दुष्करः, सच भगवता क्रियते. तथा राजसानाम् अपि तामससंगेन स दुष्कर एव ; पुष्टिस्थो भगवांस्तु तान् अपि उद्धरति इति पश्चात् निरूपणम्. तस्माद् ज्ञानमार्गाद् **विपरीता गुणैः** कृत्वा **गतिः** उक्तिः इह इत्यर्थः (३).

मुक्तिः इति. **अन्यथारूपं** देहाद्यध्यासं, **स्वरूपेण** चिदंशत्वेन. इयं ब्रह्मभावरूपा मुक्तिः, सायुज्ये तु **अन्यथारूपं** लौकिकं तत्त्वरूपं **हित्वा स्वरूपेण** भगवच्चरणरेणुरचित-स्वरूपेण भगवदंशत्वेन च स्थितिः इत्यर्थः. भगवदीयदेहादीनामपि आत्मरूपत्वाद् "आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः" (भाग.पुरा. १०।५।९) इतिवद् इति भावः. एवं जीवमुक्तिः द्विधा व्याख्याता. ब्रह्ममुक्तिः अपि द्विधा. तदुक्तं अत्रैव निबन्धे "ब्रह्मणोऽपि द्विधा ज्ञेया नाट्यत्यागात् स्वकात् स्वतः" (त.दी.नि. ३।११।३) इति. स्वकात् नाट्यत्यागात् स्वतो वा नित्यमुक्तस्वभावत्वात् (४).

अत्र इदं ज्ञेयम्. पञ्चभिः अध्यायैः ब्रह्मभावः शिष्टैः अध्यायैः सायुज्यम् इति एकं प्रकारः. एकोनत्रिंशताध्यायैः जीवमुक्तिः द्वाभ्यां ब्रह्ममुक्तिः इति अपरः. इदमेव अभिप्रेत्य आहुः **तामसा राजसाश्च** इति. **चेन** सात्त्विका अपि. सात्त्विकानां ब्रह्मभावः तामसराजसानां सायुज्यम् इति वर्णनार्थं जीवमुक्तिप्रकरणे द्वयम् उक्तम् इत्यर्थः. **द्वितीयोऽपि** इति, ब्रह्ममुक्तिप्रकारोऽपि **द्विधा मतः**. "नाट्यत्यागात् स्वकात् स्वतः" (त.दी.नि. ३।११।३) इति. तत्र नाट्यत्यागः प्रथमाध्यायार्थः स्वतो मुक्तिः द्वितीयाध्यायार्थः (५).

एकैकेन इति. **ईश्वरस्य** अंशांशिरूपेण द्विरूपस्य यादवरूप-**त्याज्यस्य अंशस्य अभाव**वर्णनेन द्विधा मुक्ती **उक्ते** एकोनत्रिंशतः **परे** त्रिंशे एकत्रिंशे च अध्याये इत्यर्थः. अतएव तत्रैव निबन्धे वक्ष्यन्ति "ब्रह्म कृष्णस्तन्मयत्वं यादवादिषु संस्थितं तेषाम् अभावकथनाद् अभिनीतो ममक्षयः" (त.दी.नि. ३।११।९८) इति (६).

एतदेव आहुः **ममाहम्** इति. **प्रक्रियाद्वितयम्** अध्यायद्वितयम्. अथवा पक्षान्तरम् आहुः **ममाहम्मति** इति. सर्वस्मिन् एकादशे प्रकरणद्वयं— ममतानाशार्थं प्रथमम्, अहन्तानाशार्थं द्वितीयम्. इदमपि वक्ष्यन्ति निबन्धे "अथवैकादशस्कन्धे मुक्तिरेका विधीयते अहन्ताममतानाशरूपा साधनसंयुता" (त.दी.नि. ३।११।११६)

इति. **तयोः** इति, नाशयोः **अभिनयः पश्चाद्** अध्यायद्वये **कृत** इति (७).

बीजद्वयम् इति, वक्ष्यमाणयोः मुक्त्योः इत्यर्थः. **निजेच्छात** इति. इदमेव अनुपदं वक्ष्यति "स्वमूर्त्या लोकलावण्य" (भाग.पुरा. ११।१।६-७) इति श्लोकद्वयेन. **इतरस्य** इति, जीवस्य मुक्तिः **वैराग्येण** इति सूचयितुं शापकथा इत्यर्थः. **इति स्थितिः** इति. वस्तुतः चतुर्धापि मुक्तिः भगवदिच्छया इत्यपि प्रथमेऽध्याये सूचितम् इत्यर्थः. ब्रह्मभावः, सायुज्यं, नाट्यत्यागः, स्वत इति चतुर्धा. इदमेव उक्तं निबन्धे "जीवेशयोः द्विधा भेदा चतुर्धापि निरूप्यते" (त.दी.नि. ३।११।२) इति. **एकैक** इति. कायिकम् एकेन, वाचिकम् एकेन, मानसं त्रिभिः इत्यर्थः (९).

कृत्वा इत्यत्र. **अनुवादे केवलस्य प्राप्त्यभावः** इति. पूर्वत्र भूभारहरणस्य प्रासंगिकत्वेन अत्र तस्यैव अनुवादे केवलं भारहरणं न क्वापि वर्णितं स्याद् इत्यर्थः. **प्रक्रियातः** इति निरोधप्रकरणात्. **फलान्तर** इति, मुक्त्यर्थम् इत्यर्थः. यन् निरोधप्रकरणे दैत्यमारणं निरूपितं तेषां दैत्यानामपि मुक्तिबोधनार्थम् इति आशयः. ननु निरोधप्रकरणेऽपि तेषां तत्र तत्र मुक्तिः उक्तैव, पुनः किमर्थम् उच्यते इत्यत आहुः **एक एव** इति. **तथा निर्णीतम्** इति, इन्द्रियनिष्ठम् असुरत्वं त्याजयित्वा देवत्वं सम्पादितम्. तदैव मुक्तियोग्यता भवति. **संकर्षणरूप** इति. "कृषेः वर्णे नय्" (पाणि.सूत्र ऊणादयः ४४८८) इति सूत्रनिष्पन्नत्वात् 'कृष्ण'शब्दस्य इति आशयः. **केशत्वज्ञापनाय** इति, "भारव्ययाय च भुवः सितकृष्णकेशः" (भाग.पुरा. २।७।२६) इति द्वितीयस्कन्धे इदं निरूपितम्. **देवत्वाद्** इति, भगवान् देवदेवत्वात् प्रार्थित इत्यर्थः. देवा हि यादवाः. **आसन्यस्य** इति प्राणस्य. **तथात्वाद्** इति पीडाजनकत्वात् ॥१॥

ये कोपिताः इत्यत्र **आधिदैविकरूपाः** इति. कामक्रोधादयो हि दैत्या ; **ते** च पूतनादिरूपा **भगवता हताः**. दुर्योधनादयः तु भौतिकरूपा इत्यर्थः. **तुल्यत्वदशायाम्** इति. तदा हि पाण्डवा बालाः अनारूढराज्यपदाः च, न च तेषां तथा कोपः इति भावः. **षण्ढतिलाः** इति क्लीबरूपाः. **प्रथमतः** इति, दुर्द्यूते इत्यर्थः. **भावान्तर-** इति, दासीत्व- इत्यर्थः. **उभयेषाम्** इति, पाण्डवाः कौरवाः चापि युद्धमेव प्रार्थयेरन् इत्यर्थः. **गीतोपदेशेन** इति. "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि" (भग.गीता १८।६१) इति प्रभृतिः सः ॥२॥

ब्रह्मप्रकरणत्वाय इति. शापो हि जीवेषु प्रभवति. यादवाः तु ब्रह्मांशा ब्रह्ममुक्तिप्रकरणे वक्ष्यन्ते. तस्माद् भगवत्कृतिरेव एषा, शापो व्याजमात्रम् इति

आशयः. **न प्रलयः** इति, न हि ब्रह्मणः प्रलयो भवति. उपसंहारः तु अक्रूरानयने एव उक्तः "भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिव आत्मनः" (भाग.पुरा. १०।३८।१) इति ॥५॥

रूपान्तरस्वीकरणस्य इति जन्मप्रकरणे तृतीयाध्यायोक्तस्य. **ईश्वरेण विचार्यते** इति, पुष्टिस्थेन इत्यर्थः. **योगम् उदीर्यते** इति. 'योग'शब्दो नपुंसकोऽपि, क्रियविशेषणं वा. योगो यथा सम्पद्यते तथा प्रकारे इत्यर्थः. यद् वा **योगमुद्** इति छेदः. समाधिदशानन्द इत्यर्थः. **योग उदीर्यते** इति तु पाठः सुगमः. **इन्द्रियान्तःप्रवेशार्थम्** इति. "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" (कठोप. २।१।१) इति काठकाद् बहिर्मुखानि इन्द्रियाणि. अन्तःप्रवेशयितुं "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन्" (कठोप. २।१।१) इति श्रुतेः परमुपासनम्. **यथास्थितौ** इति, भगवता अनाच्छित्तौ इत्यर्थः. **पतिव्रतावद्** इति. सा हि पतीच्छायामेव प्रवर्तते, न स्वसुखार्थं प्रसह्य प्रवर्तते. **विषयच्छेदकस्य** इत्यादि. लावण्यविषयो लोक एव येन छिद्यते तत् लावण्यछेदने कः प्रयासः इति 'लोकलावण्यनिर्मुक्त्या' इत्यस्य अर्थः. 'आलोकः' लोका अलोकश्च पदच्छेदभेदाभिप्रायेण. **यदि एकेन** इत्यादि. स्वमूर्त्त्यैव छेदने सजातीयस्य रूपप्रपञ्चस्यैव छेदनं प्रतीयाद् इत्यर्थः. **ज्ञानेन च्छिन्ना भवेद्** इति, "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" (भग.गीता. ४।३७) इति वाक्यात्. वस्तुतस्तु ईक्षतां पुंसां क्रियाः स्वविषयिणी कृत्वा इत्यर्थः. तत्र तत्र कर्मणि "य एवं वेद" (. । ।) इति श्रावणात् "विदुषः कर्मसिद्धिः स्याद्" (भाग.पुरा. १०।२१।६) इति दशमस्कन्धोक्तेश्च भगवदीक्षणेन ज्ञानशक्त्याधारम् इति भावः. **केवला** इति, ज्ञानरहिता न प्रवर्तते. **पदैः** इति, अत्र मूलस्थं 'तानि' इति योज्यम्. स्वस्थानानि प्रच्याव इत्यर्थः. **आदिशब्देन** इति पाठे बहुवचनार्थेन इत्यर्थः, मूले 'आदि'पदाभावात्. "कुंभपदीषु च" (पाणि.सूत्र ५।४।१३९) इति सूत्रे यथा बहुवचनेन गणग्रहणं तथा इह भक्तेः ग्रहणम् इति भावः. अत्र इयमर्थः प्रतिभाति— आलोचनं चित्तं चक्षुः वा आच्छिद्य गीर्भिः श्रुताभिः हेतुभिः ता गिरः स्मरतां चित्तम् आच्छिद्य पदैः दृष्टैः तानि पदानि ईक्षतां क्रिया आच्छिद्य इति. **एकत्वाय** इति, मुक्तिकथनाय इत्यर्थः. **कालभेदाद्** इति, कीर्तेः सर्वकालस्थायित्वात्. **साधन** इति, कीर्तेः ज्योत्स्नात्वेन स्वतएव तमोनाशनात्. भगवांस्तु न सर्वदा तिष्ठति, न च कीर्त्यादिविना किञ्चित् साधयति इति भेदः. **केचिद्** इति, तथार्थ इति शब्दो न प्रसिद्ध इति अस्वरसः. **तत्रैव** इति, व्यापिवैकुण्ठे एव, न देशान्तरे गमनम्. अतएव उक्तं दशमोपक्रमे

"तत्रांशेन" (भाग.पुरा. १०।१।२) इत्यत्र "विष्णोः व्यापकस्य देवकीगृहैकदेशे मायोद्घाटनेन प्राकट्यम्" (सुबो.) इति ॥६-७॥

यन्निमित्तः इत्यत्र. **आत्मनेपदम्** इति. "भासनोपसंभाष" (पाणि.सूत्र १।३।४७) इति सूत्रेण भासने आत्मनेपदम्. यथा शास्त्रे वदते भास मनो ब्रवीति इत्यर्थः. भासनं च वक्तृनिष्ठम् इति अभिप्रेत्य **कर्तृगामि** इति उक्तम्. नतु अत्र "स्वरितजित" इत्यस्य प्राप्तिः, परस्मैपदित्वात्. अतएव आहुः **मदुपकारः इति आह 'मे' इति** ॥८-९॥

द्योतयति इति. बदरीकास्थानस्य निर्जनदेशत्वात्. **द्वितीयपक्षस्य** इति जीवमुक्तिपक्षस्य. कृत्ये शेषो यस्य इति अध्याहारः ॥१०॥

कर्माणि इत्यत्र. **वैषम्यनैर्घृण्य** इत्यादि 'कालात्मना' इत्यस्य अर्थः. **इति न्यायेन** इति, इति ऋचा इत्यर्थः. **विधानकालानपेक्षतया** इति, "शश्वद् मदनुकीर्तनम्" (भाग.पुरा. ११।१९।२०) इति सर्वदाविधानात्. **प्रायश्चित्तानर्ह** इति. "प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखं न निःपुनन्ति" (भाग.पुरा. ६।१।१८) इति उक्तेः इत्यर्थः. **समर्थानि** इति. "हरिरित्यवशेनाहयमान् नार्हति यातना" (भाग.पुरा. ६।२।१५) इति उक्तेः ॥११-१२॥

क्रीडन्त इत्यत्र. **आकारगोपनम्** इति 'विनीतवद्' इत्यस्य अर्थः. **भगवदाविष्टब्रह्मतेजसा** इति. भगवता आविष्टा ब्राह्मणा तेषां तेजसा इत्यर्थः. **पार्वतीसहित** इति **साम्ब**पदस्य अर्थः. तेन प्रलयकर्तृत्वं सूचितम् ॥१४-१५॥

एवम् इत्यत्र **दृप्तत्वं स्याद्** इति, अविचार्य कर्तृत्वे इत्यर्थः. **मन्युवशानाम्** इति. "अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्याः मायाविभूतयः" (भाग.पुरा. २।७।३९) इति उक्तेः. **उद्धवपश्चात्तापे** इति. "एवं वसन्तो न विदुर्हरिः मीना इव उडुपम्" (भाग.पुरा. ३।२।८) इति तृतीयस्कन्धे ॥१६॥

अथ द्वितीये अध्याये **केवलेन निरोधेन** इति. पुष्टिमार्गस्था न तथा इत्यर्थः. **वसुदेवोद्धवौ मतौ** इति. नारदो नारायणाऽऽदिसेवकसेवकः, उद्धवोऽपि "आसामहो चरणरेणुजुषाम् अहं स्याम्" (भाग.पुरा. १०।४४।६१) इति वाक्यात् तथा इति पूर्वोक्ताधिकारित्वं मतम्. इह उद्धववर्णनं द्वितीयप्रकरणार्थत्वेन, इहाध्याये उद्धवनिरूपणाभावाद् इति ज्ञेयम् (४).

गोविन्द इत्यत्र **कदाचित् प्रकटे हृदये** इति, हृदयाविर्भूते अक्षरब्रह्मरूपे वैकुण्ठे इत्यर्थः ॥१॥

इन्द्रियवान् इत्यत्र प्रशंसायां मतुप् इत्यभिप्रेत्य व्याख्यातम् ॥२॥

तमेकदा इत्यत्र. **इति वचनाद्** इति, भूतसामान्येन निर्देशात् ततः **पूर्वभावी** वसुदेवनारदसमागम इत्यर्थः. **पूर्वपक्षे** इति लोकैः अनुक्तत्वपक्षे. **उत्तरपक्षे** इति, **पूर्वभावी वा** इत्युक्ते. **शापानन्तर** इति, अयं तृतीयः पक्षः. **तस्य** इति वसुदेवस्य. **निर्धार** इति. सुखस्य अनन्तरं दुःखं, दुःखस्य अनन्तरं सुखम् इत्यादिरीत्या शोकाभावनिर्धारः. **विभूतित्वम्** इति. प्रथमस्कन्धतृतीयाध्यायोक्तम् अवतारत्वम् इत्यर्थः. "भूतानाम्" (श्लो. ५) इति श्लोके वक्ष्यमाणप्रकारेण वा विभूतित्वम् ॥३॥

भगवन् इत्यत्र **मुक्तवैलक्षण्यार्थम्** इति. मुक्ता हि देहाभिमानिसंगं न कुर्वन्ति, भवांस्तु देहाभिमानिनां हितम् आचरति इति वैलक्षण्यम्. **स्वस्तये** इति. 'स्वस्ति'शब्दो अनव्ययमपि, अत्रैव तथाप्रयोगात्. "स्वस्तिर्भवतु मे नित्यम्" इति "भविष्याच्च" इति शेखरकारः ॥४॥

भूतानाम् इत्यत्र. **बाह्याभ्यन्तरभेदेन** इति. बाह्या मेघाः आन्तरा वायवः. **विशेषः** इति, जीवविशेषः इत्यर्थः. **धर्मम् अपेक्षितमात्रम्** इति. अपेक्षिता मात्रा कला फलं यस्य तादृशं धर्मम् अधर्मम् इति यावत्. तदाहुः **दुःखम्** इति ॥५॥

भजन्ति इत्यत्र. **नह्येकेन** इति. भक्तास्तु कलिमपि पुनन्ति, यथा उक्तं श्रीनृसिंहेण "त्रिः सप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सहते नद्य यत् साधो गृहे साक्षाद्" (भाग.पुरा. ७।१०।१८) इत्यादि. **कर्मसचिवाः** इति, कर्मणो राजरूपस्य सचिवा आज्ञाकारिण इत्यर्थः. **सन्त आत्मा** इति. अतएव उद्धवं प्रति चतुर्थपादेनैव सिद्धान्तं भगवान् वक्ष्यति इति आशयः. **करणे** इति कृपाकरणे. **वत्सं लाति** इति. यथा गौः निमित्तं वत्सं पोषयति इत्यर्थः. अतएव उक्तं "करुणाः पितरौ यथा" (भाग.पुरा. १०।२९।१८) इति ॥६॥

ब्रह्मन् इत्यत्र. **निरूपितार्थस्य** इति. "सम सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" (भग.गीता १८।५४) इत्यस्य इत्यर्थः ॥७॥

अहम् इत्यत्र. **प्रसिद्ध्यभावाद्** इति पूजाया इति शेषः. **न चाप्येकः** इति. किन्तु देवकीसहितो अतो भोगाकाङ्क्षी इति भावः ॥८॥

यथा इत्यत्र. **अधिकारोऽपि** इति. ब्रह्मत्वादिपदप्राप्तिः **भयहेतुः** इति, "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" (भग.गीता ८।१६) इति वाक्याद् इति भावः. **आगमनम्** इति. यथा जयविजययोः अन्यम् अन्यस्मिन् इत्यादि रजः तमश्च क्रमेण सत्त्वे पातयित्वा ततो निर्गुणत्वे मुक्तिः इत्यर्थः. यथा वस्त्रादिशुद्धिः न वारिणैव किन्तु क्षारं निक्षिप्य ॥९॥

अत्रापि इत्यत्र. **मुक्तविषयत्वाद्** इति. जीवन्मुक्ता उदाहर्तव्या, नतु ईश्वरा इति भावः ॥१४॥

प्रियव्रत इत्यत्र आभासे **शुकवंशवद्** इति. "नारायणं पद्मभुवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च व्यासं शुकम्" (। ।) इति गणनायां षड् ज्ञेयम् ॥१५॥

तेषाम् इत्यत्र. **कर्तरि कर्मणि च** इति. अन्योन्यं याज्यत्वं याजकत्वं च इति अन्योन्यमिश्रणे एकाशीतिः इत्यर्थः ॥१९॥

कविः इत्यत्र. **'अथ'शब्दः** इति. सच श्लोकादौ योज्य इति भावः. **निरूपितम्** इति, सर्वात्मा हरिरेव श्रोतव्यः इत्यादि ॥२१॥

त एते इत्यत्र. **भगवत्त्वेन** इति. वैदिके तु आत्मत्वेन इति भावः. **परिभ्रमणेऽपि** इति. जगतो ब्रह्मत्वेन ज्ञानात् सर्वत्र परिभ्रमणं, नतु जगद्वैचित्र्यदर्शनार्थम् इत्यर्थः ॥२२॥

मन्ये इत्यत्र. **सनकादय** इति. बाल्यवेषधारित्वाद् राजसत्वम्. अथवा सनकादयः स्वतन्त्रा एव, अन्ये तु तत्सदृशाः चतुर्भुजादिरूपा पार्षदा इत्यर्थः. **यं गृह्णन्ति** इति. भूतो यम् आविशति तं भूतयोनिं प्रापयति, भक्तास्तु भक्तत्वम् इति भावः. **उत्पन्नानि** इति 'भूतानि' इत्यस्य अर्थः. सामान्ये नपुंसकं व्यक्तिविशेषानपेक्षणाद्, जडस्यापि पावनत्वदर्शनाद् इत्याशयेन आहुः **गंगावद्** इति ॥२८॥

दुर्लभ इत्यत्र अन्ते **प्रेषयित्वा** इति. 'अवदतम्' इतिवद् उपसर्गप्रतिरूपकत्वात् न समास इति जल्पम्. एवम् एवंविधे प्रयोगे अन्यत्रापि ॥२९॥

अत इत्यत्र. **द्वितीयं कर्म** इति. पञ्चम्यन्तत्वे बहुवचनं स्याद् इति भावः ॥३०॥

धर्मान् इत्यत्र. **योगस्य** इति, अलभ्यलाभस्य **क्षेमाभावे** पालनाभावे. **तादर्थ्यता** इति. योगार्थतासम्बन्धो न इति. पितृजन्यत्वे हि पितृसम्बन्धा अनेके सम्भवन्ति इति भावः ॥३१॥

एवम् इत्यत्र. **मुख्यमेकम्** इति. आत्यन्तिकक्षेमरूपं प्रथमं, भक्तसंगो भवद्धर्मश्च इति **द्वयम्** ॥३२॥

मन्ये इत्यत्र. **वैराग्यरागाभावौ** इति. उद्विग्नबुद्धित्वाद् विषयेषु त्याज्यत्वबुद्धिः **वैराग्यं**, असदात्मभावाद् विषयेषु प्रीत्यभावः **रागाभावः**. **जन्मफल** इति. पुत्रोत्पत्तिः

पुनर्जन्म मरणं च मनुष्यादिजन्मफलं ; **तदभावाय सर्वथा अभयं** गोविन्दभजनम् इत्यर्थः. **न त्वधिकार** इति, राजत्वाद् इति भावः. **सर्वथा तद्** इति अनुद्विग्नबुद्धित्वम्. **अवतारादि** इति. "अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्य हि" (त.दी.नि. २।१०२) इति निबन्धे. **समीपे** इति 'उप'स्य अर्थः. **संगे स्थित** इति, मृत्युः इत्यर्थः. "मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते" (भाग.पुरा. १०।१।३८) इत्युक्तत्वाद् इति भावः ॥३३॥

ये वै इत्यत्र. **स्पष्टौ** इति. प्रवाहमर्यादासहितो योगः कर्ममार्गे, तादृशं भजनं भक्तिमार्गे इति भावः. "नम इति सदुपशिक्षा" (भाग.पुरा. । ।) इति "नमो नम इत्येतावत् सदुपशिक्षितम्" (सुबो.) इति वाक्यात् कर्मज्ञानोपासनानाम् अशक्यत्वात् नमस्कार एव निर्धारित इत्याशयेन **साधारण** इति पुंस्त्वनिर्देशः, भगवद्धर्मस्य विशेष्यत्वेन वा. **प्रधानभूता** इति, मार्गत्रयेऽपि भगवत्प्राधान्यं भगवद्विषयकत्वम् इति यावत् ॥३४॥

कायेन इत्यस्य आभासे **फलं चोक्तम्** इति. "शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः" (भग.गीता ९।२८) इति. श्लोकान्ते **एकत्वम्** इति 'सकल'पदस्य अर्थः. विहितं निषिद्धं वा कर्म भगवद्धर्मो भवति इत्यर्थः. निषिद्धस्य भगवद्धर्मत्वाभावेऽपि उद्वेगनिवृत्त्या भगवत्कर्मकरणे तन्मध्यपतितन्यायेन तस्यापि तत्त्वं भवति, "गंगात्वं सर्वदोषाणाम्" (सिद्धा.रह. ८) इत्युक्तेः. प्रधानतः भगवत्कर्मण्येव तात्पर्यं चेद् इति भावः प्रतिभाति ॥३६॥

भयम् इत्यत्र. **त्रितयनिष्ठत्वाद्** इति. भक्तस्य गुरु-देवतयोः स्नेह आत्मनि च ॥३७॥

शृण्वन् इत्यस्य आभासे **प्रकारद्वयेन** इति. "यत्करोषि यदश्नासि" (भग.गीता ९।२७) इति एकः प्रकारः "कायेन" (श्लो. ३६) इत्यादिना उक्तः. "मन्मना भव" (भग.गीता ९।३४) इति द्वितीयः प्रकारः "ये वै भगवता" (श्लो. ३४) इति द्वयेन प्रतिपादितः. ननु सर्गादयो भगवल्लीलाः, तत्र च प्रकृति-महत्तत्त्वादिगणना दृश्यते. सत्यं, तासां लीलानां भगवता क्रीडार्थं कृता इति ज्ञानविमिश्रणेनैव श्रवणं प्रतिपाद्यते इत्याहुः **ज्ञानविमिश्रत्वे** इति. **औत्पत्तिकसम्बन्धाभावाद्** इति. शब्दस्य हि अर्थेन औत्पत्तिकः सम्बन्धः वाच्यवाचकभावलक्षणः 'गोविन्दा'दिपदे गवावनादिरूपो अर्थः इति ज्ञात्वैव शृणुयात्. **अभावाद्** इत्यस्य अज्ञानाद् इत्यर्थः. **अंगे** इति. विलज्जत्वाऽसंगत्वे श्रवणगानसमे

इत्यर्थः ॥३९॥

सर्वभूतेषु इत्यत्र **औडुलोमि** इति. "चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वाद् इति औडुलोमि" (ब्रह्मसूत्र ४।४।६) इति सूत्रात् जीवे चैतन्यमात्रं, नतु ऐश्वर्यादय इति भावः. अयं च 'भगवत्'पदस्य अर्थः. **प्रत्येकं बहुषु** इति 'सर्वभूतेषु' इत्यस्य अर्थः. रामानुजमते हि जीवधर्मा भगवति भवन्ति, चिदचितोः भगवच्छरीरत्वात्, नतु भगवद्धर्मा जीवेषु इति भावः. **अनन्तरः** इति, व्यवधानशून्यः, सर्वव्यापकः इति यावत्. **शान्तिसमवस्थान** इति. शान्तिमेव समवस्थानं, "ब्रह्मकैवल्यम् अश्नुत" (भाग.पुरा. ४।२०।१०) इति वाक्यात् **तथा** इति पश्येद् इति इत्यर्थः ॥४५॥

अर्चायाम् इत्यत्र. **अस्फुरणपक्ष** इति, भेदास्फूर्तिः इत्यर्थः ॥४७॥

गृहीत्वा इत्यत्र. **अभिपूर्वत्वार्थम्** इति. "भक्त्या मामभिजानाति" (भग.गीता १८।५५) इति उक्ताभितो ज्ञानजननार्थम् इत्यर्थः. सामान्यतो ज्ञानेऽपि अभितो ज्ञानं भक्त्यैव इति भावः. **विपरीत** इति, केचिद् भक्तेः ज्ञानम् आहुः, ततो विपरीत इत्यर्थः. **प्रथमम्** इति क्रियाविशेषणं, प्रथमश्लोके इति यावत्. **अर्थपद** इति, विषयेन्द्रियसम्बन्धः अवश्यम्भावि इति भावः. **इहलोक** इति. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा हि इमं लोकं न शोचति, नच परलोकं काङ्क्षति. भक्तस्तु न तथा, भक्तिमार्गप्रवेशे एव इहलोक-परलोकयोः त्यक्तत्वाद् इति भावः. **भिन्नविषयौ** इति. "न शोचति" (भग.गीता १२।१७) इत्यादि ज्ञानिविषयं, 'न हृष्यति न द्वेष्टि' इति तु भक्तविषयम्. "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" (भग.गीता १८।५४) इत्यत्रापि तथैव इति भावः. **जीवपरीक्षा** इति एषा इति शेषः ॥४८॥

देहेन्द्रिय इत्यत्र **प्रधान इति प्राकृत** इति. प्रधानं प्रकृतिः, तत्सम्बन्धी इत्यर्थः ; अर्शआद्यच् ॥४९॥

न यस्य इत्यत्र **अद्वैतद्वयम्** इति, सप्तमस्कन्धान्तोक्तं द्रव्याद्वैतं भावाद्वैतं च इत्यर्थः. **न्यायाद्** इति. चतुर्थस्कन्धवाक्यात् अनेकोपायेषु दयादीनाम् आशुतोषकत्वं निर्धारितम् इति **न्यायाद्** इति उक्तम् ॥५२॥

त्रिभुवन इत्यत्र. **तदवयवा** इति, भगवदंगभूताः सुरादयः इत्यर्थः. **अष्टविध** इति. देवसर्गश्च अष्टविधः इति तृतीयस्कन्धे इदम्. **प्रधानकाल** इति. अयमर्थः — राज्ञाम् आचार्यादिद्वारैव सर्वाणि गुणभूतयागादीनि भवन्ति. राजानस्तु प्रधानयागकाले

क्षणं यज्ञमण्डपे गच्छन्ति, तद्वदपि न इत्यर्थः ॥५३॥

तत्राह इति, "भगवत" इति श्लोकेन हेतुम् आह इत्यर्थः. **सत्प्रतिपक्षता** इति. साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः. न हि भक्तहृदि निरस्तगुणानां साधकः कश्चित् पदारविन्दात् समर्थो अस्ति इति भावः. **अनेन** इति. 'उरुविक्रम' इति पदेन 'त्रिविक्रम'पदस्य सूचनाद् इति तात्पर्यम् ॥५४॥

विसृजति इत्यत्र **भक्तिमार्गविरोधाद्** इति. न हि भक्तिमार्गे प्रसह्य भगवतो रोधनं युक्तं, पुष्टिमार्गे स्वसुखार्थं तदकरणात्. अतएव दशमे "वञ्चमाना जननी" (भाग.पुरा. १०।९।१०) इत्यत्र "अजननी" (सुबो.) इति छेदः उक्तः ॥५५॥ इत्यकेदादशे **द्वितीयाध्यायः** ॥

तृतीयेऽध्याये **चतुर्भिः** इति, माया-तत्तरण-ब्रह्म-कर्मभिः अध्यायप्रतिपाद्यैः (१). **दुष्टप्रवाहो** माया. **ज्ञानकर्मपरिज्ञाने** इति प्रथमा द्विवचनम् (२). **द्विपदाम्** इति नृणाम्. **चतुष्पादा** इति, ते हि द्विपदां भोग्याः. प्रकृते तु मायादयः शंकुस्थानं ब्रह्म, अचलत्वात्. सन्तश्च ते द्विपदाश्च सतां वियद्रूपा मायादय इति द्वितीयोऽर्थः (३).

चतूरूपत्वम् अन्तरिक्षादिरूपत्वम्, चतुरध्यायीप्रतिपाद्य-नवानामपि चतूरूपत्वं वा. **पूर्वमेव** इति, यदा साक्षादागताः सनकादय इत्यर्थः. **प्रथमम्** इति, मायाम् इति शेषः. प्रथमश्लोके **मध्ये नियन्तुः** इति. 'विष्णु'पद-'माया'पदयोः मध्ये 'ईश'पदस्य अभिप्रायो अयम्. **निरूप्य** इत्यस्य कृत्वा इत्यर्थः. कञ्चिद् बद्धं कञ्चिन् मुक्तं विधाय स्थितस्य ईशस्य इत्यर्थः. **इतोऽप्यन्या** इति, तृतीया इत्यर्थः. ऐन्द्रजालिकादिः वा ॥१-२॥

असंसक्त इति, आकाशवद् असंसक्त इत्यर्थः. **समाधावपि** इति. "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम्" (भाग.पुरा. १।७।४) इत्यादिना. **तथाभानाद्** इति, "मायां च तदुपाश्रयाम्" इति इत्यर्थः. **प्रयोग** इति लोके शास्त्रे च. **भगवद्वाक्यम्** इति. "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि, तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" (भाग.पुरा. २।९।३३) इति इत्यर्थः. तदाहुः **प्रतीतिश्चाप्रतीतिश्च** इति. इति एका माया उक्ता. द्वितीयाम् आहुः **सुवर्ण** इति. "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्" (छान्दो.उप. ६।१।५) इति छान्दोग्येऽपि उक्तम्. पुराणेऽपि "सुवर्णं सुकृतं पुरस्ताद्" (.पुरा. ।) इत्यादि.

जलवद् इति. "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः एकधा दशधा च एव दृश्यते जलचन्द्रवद्" (त्रिपुरातापिन्युप. ५।१२) इति उपनिषदि, पुराणे अपि "ज्योतिः यथा एवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाव्यते" (भाग.पुरा. १०।१।४३) इत्यादि. **तया सह कृतिः** इति, "प्रकृतिः पुरुषः च उभौ परमात्मा अभवद् पुरा" (त.दी.नि. २।९८) इति. **छादनम्** इति, जलाद् उद्भूतेन शैवालेन जलस्य छादनमिव इति भावः, इति द्विधा पुराणे ज्ञानप्रतिपादनाय उक्तत्वात्. द्वितीया इयं मायायाः पूर्वं विद्याजनिका इत्युक्ता. **निःस्वरूपस्य** इत्यत्र स्वप्नादि उदाहरणम्. **मार्गत्रये** इति कर्मादौ. **प्रतीतिरपि** इति, कर्म इव ज्ञानम् अपि मिथ्या इति. **तत्रैकस्यैव** इति. 'मात्र'शब्दः एवकारार्थो ग्राह्यः, नतु कात्स्न्यार्थि इत्यर्थः. यथा "तावन्मात्रशरीरिणी" (. । ।) इत्युक्तम्. मूले च 'स्वमात्रात्मप्रसिद्धये' इति भावः. **हरेः** इति पुरुषोत्तमस्य. **उभयं** जीवब्रह्मरूपं **कार्यम्** अंश इत्यर्थः, "नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानाम्" (कठोप. २।२।१३) इति श्रुतेः कार्यत्वासम्भवात्. अत एव "अनित्ये जननं नित्ये परिछिन्ने समागमः नित्यापरिछिन्नतनौ प्राकट्यं च इति सा त्रिधा" (सुबो. २।६।का. १) इति उत्पत्तिरूपम् उक्तम्. **द्वितीय** इति, ब्रह्मणो जीवभावे इत्यर्थः. **काशकृत्स्न** इति, "अवस्थितेः इति काशकृत्स्नः" (ब्रह्मसूत्र १।४।२२) सूत्रात्. मायया भोगासक्त्या ब्रह्मैव जीवावस्थ इति तदाशयः. **तदत्र** इति, काशकृत्स्नमतम् इत्यर्थः. **एभिः** इत्यत्र. **आद्य** इति ईश्वरः. **प्रविष्ट** इति तिरोभूतः. **स्वस्य** इति जीवस्य ॥३॥

गुणैः इत्यत्र. **आत्मनेपदेन** इति, भुजोनवने इति विहितेन ॥५॥

कर्माणि इत्यत्र **शान्त एव** इति, नष्ट इत्यर्थः ॥६॥

एषा माया इत्यत्र. **अन्यथारीतिः** न मायावर्णनम्. **तत्र** इति निबन्धादौ. **बीजसंस्कारकृपया** इति. "पुरुषेण आत्मरूपेण वीर्यमाधत्त वीर्यवान्" (भाग.पुरा. ३।५।२६) इत्युक्तेः न भगवतः मायाधीनत्वम् इति भावः. **अवस्थायाम्** इति जीवत्वावस्थायाम् ॥१७॥

कर्माणि इत्यत्र. विपर्यासदर्शनम् आहुः सार्धेन **उपक्रम** इति. अयमर्थः स्वस्यैव उपक्रमेण फलविपर्यासं पश्येत्, स्वस्यापि मिथुनीचारीत्वात्. स्वस्य एहिकस्य अपि कर्मणोः राजसेवादेः बाधकता दृष्टाविना फलम् उपक्रमे एव मृत्युहेतुता. नच वक्तव्यं परलोके फलं भविष्यति इति, अनेकविघ्नसम्भवेन

परलोकस्य अध्रुवत्वात्. नापि वाच्यं सर्वजनव्यवहारप्रवाहः एवमेव भवति – सुखकर्मणि क्वचिद् दुःखं दुःखकर्मणि अपि क्वचित् सुखम् इति – यतो ज्ञानवता प्रत्येककर्मणि प्रवाहरीतेः पार्थक्यं चिन्तनीयं, "पश्यन् जनं पतितं वैतरण्यां स्वकर्मजान् परितापान् जुषाणम्" (भाग.पुरा. २।२।७) इत्युक्तेः इति. तदेव आहुः **प्रवाहपतिता** इति ॥१८॥

एवम् इत्यत्र **फलं गृहवद् एव हि** इति. यथा गृहसाध्याः कृष्यादयः क्वचित् सफलाः क्वचित् विफलाः तथा इत्यर्थः. **समर्पितम्** इति. "इदं व्रतं भगवते समर्पयामि इति तेन मां धनधान्यसमृद्धिः" इति कृते धनधान्यादिः सिद्ध्यति परंतु तदपि नश्वरं, भक्तिप्राप्तं फलं तु न तथा इत्यर्थः. ननु "स्वर्गादीन् संकल्पयिष्यामि" इति च चिरस्थायिनः नश्वरत्वे अपि यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव इत्याशंक्य आहुः **सतुल्य** इत्यादि. **अन्तःकरण** इति. "स्पर्धाऽसूया हि अहंकाराः स्वर्गिणां स्युः सदा ध्रुवम्" (. । ।) इत्युक्तेः ऐश्वर्ये अतिसुखैकफले नश्वरत्वं सुखविपर्यासो वा दोषः, ऐश्वर्यादिसहिते इन्द्रादिलोके राजादौ वा स्पर्धादयः अपि इत्यर्थः. **मूलभूत** इति गुरुः तदाश्रयणं वा ॥२०॥

तस्माद् इत्यत्र. **तथापि** इति, गुरौ भगवत्त्वबुद्ध्यभावे इत्यर्थः. **ज्ञापकं रूपम्** इति, जीवन्मुक्तत्वस्य इत्यर्थः. **सर्व** इत्यादि. सन्देहवारणाय शास्त्रनिष्णाततत्त्वम् उक्तम्. तथापि कर्मठाः कर्मैव ईश्वरं मन्यमानाः तथैव प्रतिपादयमाना न मंस्यन्ते, तदर्थं परनिष्णाततत्त्वम् उक्तम्. तादृशा हि परं ब्रह्म स्वयम् अनुभवन्तो अपरान् अपि अनुभावयन्ति, भगवद्धर्मानुभावं वा इत्यर्थः. **सप्तमे** इति स्कन्धे. अत्र च एकादशे नारदः समागतः भगवद्दर्शनार्थि, नतु बोधनार्थम् आगतः, अतः स्वमार्गगः. श्रीशुकः तु परीक्षितो बोधनार्थमेव आगतः, एवं नवयोगिनः अपि इत्यर्थः ॥२१॥

वदिष्यति इति गुरुः इति शेषः ॥२२॥

सर्वतः इत्यत्र. **पूर्ववच्च** इति. हीनानां न अत्र अधिकारो अनुकल्पो वा इति पूर्वम् उक्तम् ॥२३॥

शौचं तप इत्यत्र. "द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचन-व्युत्क्रमण-यज्ञपात्रप्रयोगाऽभिव्यक्तिषु" (पाणि.सूत्र. ८।१।१५) इति 'द्वन्द्व'शब्दः सुखादौ न शक्त इत्याशंक्य पुराणप्रसिद्धिः अस्ति इत्याहुः **निर्देशे हि** इति ॥२४॥

श्रद्धा इत्यत्र. **अनीहादय** इति. "मौनानीहानिलायामा दण्डावाग्देहचेतसाम्"

(भाग.पुरा. ११।१८।१७) इत्युक्ताः. **अन्ये वा** इति, तत्तत्क्रियाणां भगवद्विषयकत्वं वा इत्यर्थः ॥२६॥

प्रथमसाधनानि आह इति, दोषाभावसाधनानि आह इत्यर्थः. **शुद्धलीला** इति, निरोधलीला इत्यर्थः. **विजातीयानाम्** इति, सर्गादिविरोधिनां स्त्रीपुत्रादित्यागादीनाम् इत्यर्थः ॥२७॥

परस्पर इत्यत्र. **त्रयो भावाः शिक्षेद्** इति. "पश्य मृगो धावति" इतिवत् विशिष्टवाक्यार्थस्य कर्मत्वात् प्रातिपदिकत्वाभावात् न द्वितीया ॥३०॥

अनुशीलनं ध्यानम् ॥३२॥

नारायण इत्यत्र. **श्रुतिस्मृत्यविरोधेन** इति. "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" (भाग.पुरा. १।२।११) इत्युक्तेः अर्थैक्यं शब्दभेदेऽपि इति भावः ॥३४॥

अग्निरूप इति. तादृशः अहं, तेन तथा **वक्तव्यं** व्याख्येयम् इत्यर्थः. **स्थिति** इत्यत्र. **सत्त्वेन भिन्नत्व** इति. परस्परं व्यतिरिक्तासु तिसृषु अवस्थासु साक्षी भिन्नएव अस्ति इति भावः. **साधारणो धर्म** इति, ब्रह्मणि परब्रह्मणि च इत्यर्थः ॥३५॥

नैतद् इत्यत्र. **प्रवाहलौकिकत्वेन** इति. मनसा प्रवाहसृष्टिः, वेदेन अलौकिकी सृष्टिः इति भावः. **योग** इति. तत्रापि हि मनसैव गृह्यते. **इत्यत्रापि** इति. "पराञ्चि" इति उपक्रम्य "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्" (कठोप. ४।१) इत्यत्र इत्यर्थः. **कुतो निवर्तेरन्** इति, "यतो वाचो निवर्तन्त" (तैत्ति.उप. २।४) इति वाक्योक्त इत्यर्थः. **इतरज्ञाने** इति, भेदज्ञाने इत्यर्थः. **तच्च** इति मोक्षभवनम् ॥३६॥

नात्मा इत्यत्र आभासे **तावता आत्मन** इति. अन्तःकरणे स्फुरणेन परमात्मनः अन्तःकरणदोषसम्बन्धे इत्यर्थः. **जन्ममरणौ** इति, शब्दौ इत्यर्थः. अन्यथा नपुंसकत्वं स्यात्. **हेतुत्वम्** इति 'हि'शब्दार्थः. **नाधीयत** इति. संस्काराधाने हि जन्ममरणयोः अपि कालज्ञानं स्याद् इति भावः. **विद्वत** इति, विद् ज्ञानं तद्वत इत्यर्थः. **विद्धातोः** इति पाठे 'सवनविद्' इति 'विद्'धातुनिर्देशाद् इत्यर्थः. अवस्थात्रयसाक्षिणः क्षयो न सम्भवति इति भावः. **श्रुतेः** इति, अनुच्छित्तिधर्म इति सा ॥३८॥

यर्हि इत्यत्र. **प्रतिसिद्धान्त** इति, शास्त्रान्तर इत्यर्थः. **ग्रहणे न** इति

मात्रत्वे न इति च नकारौ पृथक् पदे. **अप्राकृतम्** इति, आध्यात्मिकभूतम् इत्यर्थः. आध्यात्मिके आधिदैविकस्य स्वतएव प्रकाश इति भावः ॥४०॥

कर्म इत्यत्र. **निर्वरुणत्वाय** इति, वरुणयागनिवृत्त्यै इत्यर्थः ॥४१॥

एवम् इत्यत्र अन्ते **तेषाम् अवक्तव्य** इति जीवानाम्. तेन न उच्यते "इदृशं मत्स्वरूपम्" इति. तत्र हेतुः **सदोषे** इति. यदि संसाररागेऽपि संसारं परित्यजेयुः तदा उभयतो भ्रष्टा भवेयुः इत्यर्थः. तदाहुः **न बुद्धि** इत्यादिना ॥४२॥

कर्माकर्म इत्यत्र **दध्यादिवद्** इति. "दध्ना इन्द्रियकामस्य" (तैत्ति.ब्रा. २।१५।६) इत्यत्रोक्तं दधिः लोकभिन्नम्. लोके हि तद् अम्लद्रव्यं, तेन च इन्द्रियजडत्वं भवति. **सन्दिग्धप्रमाणक** इति, सन्दिग्धं प्रमाणत्वं यस्य इत्यर्थः. **तथात्वम्** इति, सन्दिग्धाभिप्रायकत्वम् इत्यर्थः. **वेदस्तु** इति. तत्र वेदस्य ईश्वरत्वाद् न प्रामाण्ये सन्देहः. तस्य च अभिप्रायः सर्वेषां दुर्बोधएव इति भावः ॥४३॥

परोक्ष इत्यत्र. **अन्यथा** इति. लौकिकानां फलभोगेऽपि कर्मान्तरम् उत्पद्यते इत्यर्थः. **निवृत्तिः अपेक्षिता** इति, दुःखात्मकत्वाद् इति भावः ॥४४॥

नाचरेद् इत्यत्र. **अधिकोऽयं दोष** इति. "एकतः सर्वपापानि ईश्वराज्ञोल्लंघनम् एकत" (. । ।) इत्युक्तवात् ॥४५॥

औषधापथ्यवद् इति. औषधे भक्षिते कुपथ्ये भक्षिते न रोगशान्तिः तथा वैदिके कृते अपि रागप्राप्तकर्मकरणे न निस्तार इति अर्थः. **श्रुतिलिंगयोः** इति. श्रुतं भौतिकं स्वर्गादि, लिंगवाक्याद् इतः प्राप्तम् आत्मसुखम् इति आशयः. **उपक्रमविरोधाद्** इति. वैदिकत्वात् न अप्राप्तकर्मकरणम् इत्यर्थः ॥४६॥

लब्धानुग्रह इत्यत्र. **अन्यस्य विकर्मत्वम्** इति, देवान्तरभजनस्य इत्यर्थः. **सर्वत्र दोष** इति, आचार्याद्यनुग्रहाभावे देवान्तरभजनेऽपि इत्यर्थः. **उद्देश्ये** इति, भगवदनुग्रहे **फले** भगवत्प्राप्तौ वा **कर्मणां** वैदिकानाम्. **अन्यथापि** इति, दीक्षया एव इत्यर्थः. **स्वभावः** इति, स्वस्य भावः प्रीतिः इत्यर्थः ॥४८॥

स्पष्टम् इति. 'द्रव्यक्षित्यात्मलिंगानि' 'द्रव्यं' पुष्पादि 'क्षितिं' सिंहासनादिम् 'आत्मानं' स्वमनः 'लिंगं' प्रतिमां 'निष्पाद्य' योग्यानि कृत्वा इत्यर्थः ॥५०॥

पूर्वोत्तरपादद्वयम् अर्धम् इति. पूर्वान्वयी एकः पादो यत्र उतरान्वयी एकः पादो यत्र एवम् अर्धम् इत्यर्थः. **अक्षता माला** इति. तेन "नाक्षतैः पूजयेद् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम्" (द्रष्ट.भाग.पुरा. गंगासहायकृता

अन्वितार्थप्रकाशिका ११।३।५२) इति न विरुद्ध्यते ॥५२-५३॥

एवम् इत्यत्र. **सामर्थ्यम् आवश्यकत्वं च** इति. 'अतिथौ' **सामर्थ्यं** "सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रम" (. । ।) इत्युक्तेः, **आवश्यकत्वं** 'हृदये' वर्तमानत्वेन आत्मत्वाद् इति द्विरूपत्वम् उक्तम् ॥५५॥ इति तृतीयाध्याये लेखः ॥

अथ चतुर्थेऽध्याये **यो वा** इत्यत्र. **गुणानां कर्मत्वेन** इति, ईप्सिततमत्वेन इत्यर्थः, "कर्तुः ईप्सिततमं कर्म" (पाणि.सूत्र १।४।४९) इति सूत्रात्. **नतु स्व** इति, नतु स्वोपयुक्ताएव गणनीया इत्यर्थः. **व्याघाताननुसंधानाद्** इति. गुणानाम् अनन्तत्वाद् गणनस्य असम्भवाद् इति भावः. **कोटिरूपायां पञ्चाशत् पुरुषभारा भवन्ति** इति सम्बन्धः. **प्रतिजीवप्रेरणायाम्** इति. प्रत्येकम् अन्तर्यामिणाम् इति भावः ॥२॥

भूतैः इत्यत्र. **सर्वपक्षन्यायेन** इति, सर्वसृष्टिपक्षेण इत्यर्थः. **'उष्'धातुः प्रवेशार्थ** इति, धातुनाम् अनेकार्थत्वाद् इति भावः. **जलवासेन** इति. "आपो नारा इति प्रोक्ताः" (मनुस्मृ. १।१०) नारायणः तदयन इत्यर्थः ॥३॥

यत्काय इत्यत्र. **अस्मदिन्द्रिय** इति. प्राणिनाम् इन्द्रियदेवतारूपाणि भगवदिन्द्रयाणि इत्यर्थः. **गोलकविनियोग** इति. भगवतो गोलकं प्राणिनाम् इन्द्रियरूपं, भगवत इन्द्रियं तु प्राणिनां विषयरूपम् इत्यर्थः ॥४॥

आदौ इत्यत्र. अन्ते **तथैव** इति. प्रवाहजीवानां सर्वदा उत्पत्ति-प्रलयौ, मर्यादा-पुष्टिजीवौ तु भगवत्सम्बन्धिनि काले एव जायेते. यथा वर्षाजीवाः तत्काले एव, न सदा इति भावः ॥५॥

धर्मस्य इत्यत्र. नारायणस्य विरुद्धसाधनानां कामादीनाम् अनुग्राहकत्वाद् पुष्ट्यवतारत्वम्. **न केवलं पुष्टिस्थ** इति, किन्तु मर्यादापुष्टिस्थ इत्यर्थः. **वैपरीत्यम्** इति. ऋषीणां सेवाकर्तृत्वे बहुकालं स्थितिः न स्यात्, तेषां सेवायाः सद्योमुक्तिदातृत्वाद् इति भावः ॥६॥

इन्द्र इत्यत्र **मन्वन्तर** इत्यादि. अयम् अर्थः — इन्द्रो मन्वन्तरमेव तिष्ठति. तदतिक्रमेण ब्रह्मत्वे प्राप्ते अपि **न** ब्रह्मणो **भोगः** ज्ञानोपदेष्टा नारायणो ब्रह्म वा न भोगं कर्तुं शक्नुते. यो हि भोगी स ज्ञानम् अपेक्षते, भोगस्य ज्ञानपूर्वावस्थाभावित्वात्. नारायणेन तपसा जगद्रक्षणेऽपि भोगस्तु इन्द्ररूपेणैव अन्वेष्यः, इन्द्रभोगस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वाद् इति. **जयपराजयाभ्याम्** इति. यदि कामस्य क्रोधेन

जय: तदा क्रोधेनैव तप:क्षय:. यदि कामेन जित: तदापि तप:क्षय इति भाव:. **अग्निरिव** इति. जठराग्नि: यथा उद्बुद्ध: देहं रक्षति अन्नपानै: एवं कामाग्नि: स्त्रीभि: इति भाव:. तदाहु: **अनुद्बोधेन** इति. जठराग्निं विना यथा देहो न तिष्ठति तथा कामाग्निं विनापि इत्यर्थ:. **आध्यात्मिकस्य** इति. आधिदैविकस्तु कामो भगवति भवति इति निरूपितं "कामस्तु वासुदेवांश" (भाग.पुरा. १०।५२।१) इत्यत्र दशमे. **नवभि:** इति, तत्तद्रसविभावादिभि: इत्यर्थ:. दशमं रसम् आहु: **भक्तानाम्** इति. **न काचिच्चिन्ता** इति, न शृङ्गारादिभयम् इत्यर्थ:. अभिव्यक्तिस्वरूपम् आहु: **सजातीयेन** इति ॥७॥

विज्ञाय इत्यत्र. **अपराधान्तरम्** इति भयाभावे इति शेष:. **तथाच** इति. गर्ववतां क्रोधो भवति इति क्रोधवन्तो महान्त: इति ज्ञानं स्याद् इत्यर्थ:. **स्वामि** इति, मद्भयं च न इति शेषपूरणेन व्याख्येयम्. **भ्रमाद्** इति. नारायणस्य कामुकत्वज्ञानाद् य: तपोभ्रंशरूपो मनोरथ: स न इत्यर्थ: ॥८॥

इत्थम् इत्यत्र. **न परं दानम्** इति. "दण्डन्यास: परं दानम्" (भाग.पुरा. ११।१९।३७) इत्युक्ते. **तत्सहितं कर्म** इति 'घृणा'शब्दस्य जुगुप्सार्थत्वे व्याख्यानं, कृपार्थत्वे तु क्रियाविशेषणत्वेन इति बोध्यम्. **कुर्वन्ति** इति, महान्तो भगवन्त इत्यर्थ:. गृह्णीत नो बलिम् इति विज्ञापना. **स्वनाशितान्** इति. दण्डाभावेन तूष्णीम्भावेऽपि महदपराधेन नश्येयु: इति भाव:. **सम्मतेन्द्रियजयौ** इति. ज्ञानिनां परसम्माननस्य धर्मत्वाद् धीराणां धैर्यवताम् इन्द्रियजयस्य आवश्यकत्वात् ॥९॥

पाक्षिकम् इति. इच्छया भगवान् कुर्यात् न कुर्याद् वा इति भाव:. **त्वाम्** इत्यत्र. **प्रवाहे बलिं ददत** इति. पूतनाविधानादौ भूतादिभ्यो बलिम् इत्यर्थ:. **स्वभागान्** इन्द्रादिभागान्. **उत्तरवाक्यगत** इति. इदं काव्यप्रकाशप्रदीपादिषु व्यक्तं, यथा "साधु चन्द्रमसि पुष्करै: कृतं मीलितं यदभिरामतारके" (काव्यप्रकाश ७।१८८) इति ॥१०॥

क्षुत्तृड् इत्यत्र. **अष्टप्रकृतिकस्य** इति. ब्रह्मचर्यम् अष्टविधं, तद्विपरीत: काम:. यथा उक्तं समयमयूखे देवलेन व्रतप्रकरणे "स्मरणं कीर्तनं केलि: प्रेक्षणं गुप्तभाषणं, संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च, एतन् मैथुनम् अष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिण" (समयमयूखव्रतनिर्णय) इति. ब्रह्मचर्यम् उक्तं सप्तमस्कन्धे "अञ्जनाभ्यंजनोन्मर्दस्त्र्यवले खामिषं मधु, स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयु: ये धृतव्रता" (भाग.पुरा. ७।१२।१२) इति. **सर्वेषाम्** इति क्षुदादीनाम्. **स्वकृते** इति, आत्मात्मीयार्थे

क्रोधे दुःखाभावोपि न इत्यर्थः. **तदपि** क्रोधतरणम् अपि. **विरुद्धवाक्यस्य** इति, 'गो'शब्दस्य सरस्वतीवाचकत्वात्. **शिरोभारमिव** इति, उत्सृज्यति इति वचनविपरिणामः ॥११॥

इति इत्यत्र. **तेभ्य इति वा** इति. तादर्थ्यस्य सम्बन्धसामान्यत्वेन विवक्षायां 'तेषाम्' इति षष्ठी, यथा ब्राह्मणदधीति इति भावः ॥१२॥

ते देव इत्यत्र. **बहुवचनम्** इति. छान्दसत्वाद् न इयङ् इति भावः. **उत्तरसम्बन्धे** इति. अयम् अर्थः— रूपादीनां गुणत्वेन नित्यं द्रव्यापेक्षित्वम्. ततः च उत्तरस्य रूपादेः नित्यसम्बन्धे सति "भवति वै नित्यसापेक्षस्य समास" (. । ।) इति सिद्धान्तात् समासाभावेन आसाम् इत्यस्य "देवदत्तस्य गुरुकुलम्" इतिवत् सम्बन्धप्रतीतेः समासनिबन्धनः षष्ठ्या लुङ् नापेक्षित इति ॥१३॥

तान् इत्यत्र. **अधिकार** इत्यादि. भगवतैव इन्द्रत्वादिको अधिकारो दत्तः तत्पालनाग्रहं दृष्ट्वा आज्ञापालनेन **सन्तुष्ट** इत्यर्थः. **अतः तेषां दोषाभावम्** इति अन्वयः. **पञ्चमी** इति. तयैव रूपौदार्येण स्वसमानं रूपं दत्तम् इति अनुपदम् एवोक्तम् ॥१४॥

हंस इत्यत्र. **फलवाक्यस्य** इति 'जगतां शिवाय' इत्यस्य. **सहजरूपाः** इति वैकुण्ठाद् आगता हयादयः. **पुरुषशरीरे** इति शुद्धसत्त्वशरीरे इति ज्ञेयम्. **तदन्ये** इति मत्स्यादयः. **अशरीरे** इति. "आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः (त.दी.नि. १।४४) इत्युक्ते आनन्दमय एव शरीरभानं, न वस्तुतः शरीरम् इति भावः. **स्वत** इत्यस्य आनन्दस्वरूपेण आविर्भूत इत्यर्थः. **ऐक्यम् अभिमाने** इति आवेशिनाम् इति ज्ञेयम्. **हंसस्तु** इति. ज्ञानिनां हंसरूपः भक्तानां श्रीकृष्णरूप आनन्दमय इति बोध्यम्. **धर्मो वा** इति. षट्सु वीर्यस्थाने क्वचिद् धर्मपाठात्. **"जनपद" इति यश** इति. "विदितानुरागमापौरप्रकृतिजनयद्" (भाग.पुरा. ५।४।५) इत्यत्र इत्यर्थः. **चतुर्षु** इति कूर्मावतारपर्यन्तेषु. **मधुत्वम्** इति, "अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु अस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु" (बृहदा.उप. २।५।१४) इति बृहदारण्यश्रुतेः. **तस्याम् उत्पन्न** इति. कीटभाया अयम् इत्यर्थे तस्य इदं इति अणा 'कैटभ'सिद्धिः ॥१७॥

गुप्त इत्यत्र. **अलौकिकाधिकाराय** इति. बहुकालं कृतादौ युगे गुरुसेवायाः बहुकालं च उपदेशः, तावद् ब्रह्मचर्यादिनियमा भवन्ति इति श्रीमत्स्येन बहुकालं

मत्स्यपुराणं सत्यव्रताय उक्तम्. श्रीकृष्णेन तु अर्जुनादीनाम् अल्पकालेनैव उपदेशः, तदा अल्पायुषां बहुकालं सेवोपदेशाद्यसम्भवाद् इति भावः. **दोषसम्भवाद्** इति. मुखादिभिः धारणे विषं मुखे गच्छेद् इति भावः. **पुष्ट्या तु** इति. अयं भावः — यथा पुरुषरूपेण मन्दरधारणे जलमज्जनशङ्कया भक्तानां भयं भवति इति तदर्थं कूर्मरूपं गृहीतं तथा श्रीकूर्मस्य अपि उत्तानस्य धारणे भक्तानां क्लेशो भवति इति पृष्ठे धारणम् इति. **पुष्टित्वाद् अदोष** इति. पुष्टिमार्गे तु अनधिकारिणामपि मुक्तिः इति भावः ॥१८॥

उत्तरपूर्वकाण्डस्थान् इति. श्रमणा उत्तरकाण्डस्था ज्ञानिनः, ऋषयस्तु पूर्वकाण्डस्थाः. **तिरोहितम्** इति अवतारनाम इत्यर्थः नेति. **आसुरगतिम्** इति 'तमः'पदस्यार्थः. **सदोष** इति ग्राहासहितं जलं, **निर्दोष** इति समुद्रः. **तदुपभोग्य** इति. तामसासुरोपभोग्या देवस्त्रियः नृसिंहान्ता निरभिमानिनः देहाभिमाने लोकजुगुप्सितं मत्स्यादिरूपं न दध्याद् इति तात्पर्यम् ॥१९॥

देवासुरे इत्यत्र. **हरणांश** इति. स्वयमेव हरणविचारः सकल-क्ष्मायाः, दानकर्तरि तु यावद् याचितं तावद् दित्सा. **पुष्टित्वाद् अदोष** इति. धर्मिष्ठस्यापि बलेः सकाशाद् दितेः अनुग्रहेण पृथ्वीहरणम् इति भावः ॥२०॥

निःक्षत्रियाम् इत्यत्र. 'एकविंशतिकृत्व' इति वक्तव्ये 'त्रिसप्त'पदस्य आशयम् आहुः **गुणत्रय** इत्यादि. गुणत्रयकार्यम् अत्र अतः सप्तधा धर्मिधर्मरूपैः भगवान् ममार इति 'त्रिसप्त' इत्युक्तम्. **भृगौ स्थापितम्** इति भृगूपाख्याने दशमस्कन्धे निरूपितम्. **वैश्वानरावतार** इति. 'भार्गवाग्निः' इत्युक्तस्य 'सः' इत्यनेन परामर्शाद् इति तदाशयः ॥२१॥

भूमेः इत्यस्य अन्ते **विवृतः** इति. ''अस्तु ते मदनुग्रहाद्'' इति चतुर्थचरणेन इत्यर्थः. भगवदनुग्रहेणैव भगवदनुभावज्ञानं भवति इति भावः. **प्रान्तभागे** इति. 'न्यहनिष्यद्' इति लङ् भविष्यन्मात्रे छान्दस इति भावः ॥२३॥

॥ इति श्रीमदेकादशस्कन्धसुबोधिनीतुर्याध्याये गोविन्दसुधालेखो गंगाधरभट्टीयः श्रीमदाचार्यचरण-प्रभुपादप्रसादतः गंगाप्रसादो व्यलिखत् ॥

प्रसीदन्तु अत्र वैष्णवाः. विशेषतः शोधयन्तु अशुद्धं प्रक्षिपन्तुं माम्. अवलोकयन्तु मां श्रमं, सफलयन्तु मे. मिति पोषसुदि ११ संवत् १९१८ दशशतनारायणब्राह्मणका. शुभम्.

(श्रीगट्टूलालाजीसंग्रहतः प्राप्तः).

(घ)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रुतिगीतासूक्ष्मटीकाश्रिता ॥

(कारिकाविवक्षितश्रुतियोजनोपेता)

(मंगलाचरणम्)

एकमेवाद्वितीयं चापरिच्छिन्नं हि सर्वथा ॥
सर्वनामैकनीडं तद् ब्रह्म कृष्णात्मकं श्रये ॥१॥
विधानैरभिधानैश्च विकल्प्यापोहनैरपि ॥
शब्दभेदमुपाश्रित्य भिन्नं चाभिन्नमेव च ॥२॥
कर्मशब्दैः क्रियारूपं ज्ञानं तद् मानशब्दतः ॥
प्रियं स्तुत्यं स्तवैः यत् तत् सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥३॥
वेदस्तुत्याः सूक्ष्मटीकायामहं योजनाय वै ॥
श्रुतीनां संग्रहं कुर्वे ध्यात्वाचार्यपदाम्बुजम् ॥४॥

(उपक्रमः)

**"अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद् भवेत् ॥
तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलमीर्यते"**[१] ॥५॥
परीक्षिद्वचनं पूर्वपक्षोत्थापकमेव हि ॥
सिद्धान्तस्य समासोक्तिः व्याख्यायां पूर्वसूचिता ॥६॥
**"ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ॥
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे"**[२] ॥७॥
कारिकायाः सुबोधिन्यां समाधानं जगुः स्वयम् ॥
आचार्यचरणाः खण्डाखण्डाद्वैतविवक्षया ॥८॥
"अनन्तगुणपूर्णो हि हरिर्ब्रह्मश्रुतिस्तथा ॥

---

१. सुबो.कारि. १०।८४।८
२. भाग.पुरा. १०।८४।१

फलप्रमेयमानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम्''[3] ॥९॥
अवाच्यं मूलरूपेण सृष्टबुद्ध्यादिवाच्यता ॥
लोकवेदपदैः शक्या लीलायामैच्छिकी सदा ॥१०॥

(उक्तस्य संवादः सृष्टिप्रक्रियानिरूपणेन)

पत्रावलम्बनेप्येतद् यथोक्तं तदिहोच्यते ॥
''ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद् ॥११॥
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः''[4] ॥
ब्रह्मणोऽव्यवहार्यस्य व्यवहार्यत्वसिद्धये ॥१२॥
धर्मिणि सच्चिदानन्दे प्राक्तु धर्मविभाजनम् ॥
सत्ता चैतन्यमानन्त्यं रूपनाम्नोर्हि कर्मणाम् ॥१३॥
सदंशे रूपप्राकट्यं चिदंशे नामधर्मिता ॥
अन्योन्यसहकारेण स्वस्वकार्येषु कारिता ॥१४॥
एतयो रूपनाम्नोर्वै मूलकर्मप्रसाधिता ॥
अव्यक्तरूपप्रकृतौ रजस्सत्त्वतमांसि च ॥१५॥
अक्षुब्धगुणसाम्यात्तु क्षोभात्तेषु विकारिता ॥
प्रकृतेर्विकारहेतुत्वाद् महदादिक्रमेण हि ॥१६॥
''बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः ॥
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च''[5] ॥१७॥
तदुक्तं **''त्रीणि आत्मने अकुरुत**
मनो वाचं प्राणं तानि आत्मने अकुरुत''[6] इति
औपाधिकावबोधार्थं जीवचैतन्ययोगिनाम् ॥

---

३. सुबो.कारि. १०।८४।५-६
४. पत्राव. ३
५. भाग.पुरा. १०।८४।२
६. बृहदा.उप. १।५।३

मात्राणामुपकारित्वं सदंशे भूतहेतुतः ॥१८॥

(रूपनाम्नोः स्वरूपेण उपपादनम्)

रूपनाम्नोस्ततस्त्वेवम् इतरेतरयोगिता ॥
चिदंशबुद्धौ कार्यत्वं बाह्यरूपकृतं हि तत् ॥१९॥
ज्ञाप्यत्वञ्चापि रूपाणां नामहेतुकृता मता ॥
तेनेह बोधो जीवेषु क्रियाज्ञानोभयात्मकः ॥२०॥
मनसो ह्युभयरूपत्वं सम्बन्धाधायकं मतम् ॥
शब्दतन्मात्राश्रवणे बुद्धौ नाम्नां समुद्भवः ॥२१॥
ततो वेदादिशब्दानामपि बुद्धौ विधारणा ॥
एवं त्रिगुणवृत्त्यापि निर्गुणे श्रुतिचारणम् ॥२२॥
विषयस्येह नैर्गुण्यं त्रैगुण्यं विषयिण्यपि ॥
अतोऽमेयस्य मानानि श्रुतिरूपाणि सर्वथा ॥२३॥
अवाच्यवाचकान्येव नामानि सकलान्यपि ॥

(एतत्सृष्टिप्रक्रियायाः कथयोपपत्तिः)

प्रक्रियायाश्च प्रामाण्ये जनलोककथोदिता ॥२४॥
"यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥
स्वायम्भुव ! ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ॥२५॥
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते"[७] ॥२६॥
प्रश्नप्रवचने तत्र प्रक्रियेयं निरूपिता ॥।॥
तथाहि :
"स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ॥२७॥
तदन्ते बोधयाञ्चक्रुः तल्लिंगैः श्रुतयः परम् ॥

---

७. भाग.पुरा. १०।८४।८ - १०

यथा शयानं सम्राजं बन्दिनस्तत्पराक्रमैः ॥२८॥
प्रत्यूषेऽभेत्य सुश्लोकैः बोधयन्त्यनुजीविनः "[८] ॥

(प्रलयशिष्टाद्वितीयस्य प्रमाणप्रमेयभेदापन्नता प्रमाणांशेन प्रमेयांशोद्बोधने प्रमेये सृष्टिः)

सर्वज्ञसर्वशक्तेर्हि प्रमेयस्य प्रमाणतः ॥२९॥
समुद्बोधनमेतद्धि तच्छ्रुतावेव दर्शितम् ॥

तथाहि :

"नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद् मृत्युना इदम् आवृतम् आसीद् अशनायया. अशनाया हि मृत्युः. तद् मनो अकुरुत 'आत्मन्वी स्याम्' इति सो अकामयत 'द्वितीयो मे आत्मा जायेत' इति स मनसा वाचं मिथुनं समभवद्. अशनायाः मृत्युः, तद् यद्रेतः आसीत् स संवत्सरो अभवत्. न ह पुरा ततः संवत्सरः आस. तम् एतावन्तं कालम् अबिभः. यावान् संवत्सरः तम् एतावतः कालस्य परस्ताद् असृजत्. तं जातम् अभिव्याददात्. स 'भाण्' अकरोत् सैव वाग् अभवत्. स ऐक्षत् 'यदि इमम् अंस्ये कनीयो अन्नं करिष्ये' इति स तदा वाचा तेन आत्मना इमं सर्वम् असृजत. यदिदं किञ्च ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्"[९]

बृहदारण्यके चैषा प्रक्रिया समुदाहृता ॥३०॥
महाशनाया प्रलयः स्वस्मिन् सृष्टस्य स्वात्मनि ॥
द्रष्टरि सर्वदृश्यस्यान्तःस्थितिर्योगनिद्रया ॥३१॥

---

८. भाग.पुरा. १०।८४।१२ - १३

९. बृहदा.उप. १।२।१-५

"अत्ता चराचरग्रहणात्"[१०] सूत्रोक्ता मृत्युरूपता ॥
पुनर्जागरणे पूर्वं स्वमनोजागरो मतः ॥३२॥
मनो नैकाकि रमते वाण्यातस्तस्य मैथुने ॥
आविर्भावो नामसृष्टेः तस्याः रूपप्रबोधनम् ॥३३॥
प्रधानरूपादव्यक्ताद् आकाशमहतोः[११] सृजिः ॥
रूपात्मिका ततश्चैवं साधितेऽवाच्यवाच्यते ॥३४॥
उद्बोधश्चात्मनश्चैवमात्मना समपद्यत ॥
ब्रह्मवादतिरस्कारोऽन्यथाऽन्येन प्रबोधनम् ॥३५॥
सिद्धान्तमुक्तावल्यां तत्कण्ठेनोक्तमेव हि ॥
"अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ॥३६॥
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्"[१२] ॥३७॥

(ब्रह्मवादीया प्रक्रिया)

ब्रह्मवादप्रक्रियान्ते संक्षिप्योक्ता स्तुतावपि ॥
तत्पार्श्वसंस्थिताभिस्तु श्रुतिभिः सृष्ट्युपक्रमे ॥३८॥

तथाहि :

"योऽस्योत्प्रेक्षक[क] आदिमध्यनिधनो[ख]
योऽव्यक्तजीवेश्वरो[ग]
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य[घ] ऋषिणा[ङ]
चक्रे पुरः शास्ति ताः ॥
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी[च]
सुप्तः कुलायं यथा

---

१०. ब्रह्म.सू. १।२।३।९
११. द्रष्ट. तैत्ति.उप. २।१
१२. सिद्धा.मुक्ता. ४-५

तं कैवल्यनिरस्तयोनिम्[छ] अभयं[ज]

ध्यायेद् अजस्रं हरिम्'' [१३] ।।३९।।

संक्षिप्ते ब्रह्मवादेऽस्मिन् बह्म तद् बहुधोदितम्।।

तस्य प्रागनुसन्धानं नूनं बोधोपकारि वै।।४०।।

तथाहि :

दृश्यमानस्य जगत: आद्यो द्रष्टा सएव हि[क]।।

''अग्रे आसीद् ब्रह्म वेदमवेदात्मानमेव तत्।।४१।।

'ब्रह्मास्मी'त्यभवत् सर्वमतो दृश्याखिलं जगत्'' [१४] ।।

जगतश्चादिमध्यान्तरूपं चापि तदेव हि[ख]।।४२।।

''सर्वं पुरुषएवेदं भूतं च भाव्यमप्युत।।

उतामृतत्वस्येशान यदन्नेनातिरोहति'' [१५]।।४३।।

जडजीवेशरूपत्वं त्रैविध्यं चैकब्रह्मण: [ग]।।

तस्य श्रुत्येकगम्यत्वात् स्वीकार्यं वेदवादिभि: ।।४४।।

तथाहि :

''क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं हर: क्षरात्मानौ ईशते देवएक:...

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा

सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्'' [१६]।।४५।।

प्रविश्यान्तर्नियमनं स्वसृष्टानां तथा मतम्[घ]।।

''सृष्ट्वा तदेवानुविशज्जातं सर्वमिदं तत:'' [१७]।।४६।।

बृहदारण्यकोक्तापि पुर:सृष्टिस्तथा मता।।

---

१३. भाग.पुरा. १०।८४।५०

१४. बृहदा.उप. १।४।१०

१५. ऋक्संहि. १०।९०।२

१६. श्वेता.उप. १।१० - १२

१७. तैत्ति.उप. २।६

"पुरश्चक्रे तु द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।।४७।।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्"[१८] ।।
अन्तर्नियामकत्वं च "यः पृथिव्यादि"नोदितम् ।।४८।।
"य आत्मनी"त्यन्तं यावत् तत्रान्तर्यामिब्राह्मणे ।।
बाह्यं नियामकं रूपं शाब्दं वेदादिकं मतम्[ङ] ।।४९।।
तत् श्वेताश्वतराद्युक्तं पुराणस्मृतिभिस्तथा ।।
"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।।
तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुः वै शरणम् अहं प्रपद्ये"[१९] ।।५०।।
"तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यानि अपश्यन् ।।
तानि त्रेतायां बहुधा तानि-तानि आचरथ।।५१।।
नियतः सत्यकामा एष वः पन्था सुकृतस्य लोके"[२०] ।।
अंशिन्यंशस्थितिस्तत्र निजांशानां द्विधा मता[च] ।।५२।।
ज्ञानाज्ञानप्रभेदाभ्यां मोक्षबन्धकरी इमे ।।
इहामुत्रान्यदा जाग्रन्नपि सुप्ताविशेषवत् ।।५३।।

तदुक्तं :

"अन्यत्र धर्माद् अन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद् वद ।।
सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।।
यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।

---

१८. बृहदा.उप. २।५।१८
१९. श्वेता.उप. ६।१८
२०. मुण्ड.उप. १।२।१

एतद्धि एव अक्षरं ब्रह्म एतद्धि एव अक्षरं परम्॥
एतद्धि एव अक्षरं ज्ञात्वा यो यद् इच्छति तस्य तत्॥
एतद् आलम्बनं श्रेष्ठम् एतद् आलम्बनं परम्॥
एतद् आलम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते''[२१]॥५४॥

''अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारम् अनेकरूपम्॥
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः''[२२]॥५५॥

उत्पत्तौ पालने चैवं विश्वसंहरणे तथा[छ]॥
न तस्य ईशो हेतुर्वा कैवल्यादेव तस्य हि॥५६॥

''न तस्य कश्चित् पतिः अस्ति लोके
नच ईशिता नैव च तस्य लिंगम्॥
स कारणं कारणाधिपाधिपो
नच अस्य कश्चिद् जनिता नच अधिपः''[२३]॥५७॥

भयाभावैकहेतुं तं नर्ते तं चाभयं क्वचित्[ज]॥

''तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय...
यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः तदा देवम्
अविज्ञाय दुःखस्य अन्तो भविष्यति''[२४]॥५८॥

श्रुतिगीतोपसंहारे ब्रह्मवादनिरूपणम्॥
संक्षिप्योक्तं तदारम्भेऽप्यवधार्यं बुभुत्सुभिः॥५९॥

---

२१. कठोप. १।२।१४-१७
२२. श्वेता.उप. ५।१३
२३. श्वेता.उप. ६।९
२४. श्वेता.उप. ६।१५-२०

गायन्त्येतादृशं ब्रह्मवादं हि श्रुतयः स्तवैः ॥
श्रावयन्त्यस्तमात्मानं श्राव्यलीलोद्भवाय हि ॥६०॥
इदमाशंक्यते चेह वेदो हि द्विविधो मतः ॥
कर्मब्रह्मात्मविषयः तत्राद्ये मन्त्रब्राह्मणे ॥६१॥

(इहापराशंकासमाधाने)

कर्मप्रतिपादनपरे वेदान्ते ब्रह्मबोधनम् ॥
प्रतिपादनन्तु कस्यापि न सदा स्तवनात्मकम् ॥६२॥
शौनकोक्तप्रकारेषु मन्त्राणां बहुभेदतः ॥॥
न सर्वासां श्रुतीनां वै ब्रह्मस्तुत्यर्थसम्भवः ॥६३॥
"स्तुतिः प्रशंसा निन्दा च संशयः परिदेवना ॥
स्पृहाशीः कत्थना याच्ञा प्रश्नः प्रैषः प्रवल्हिका ॥६४॥
नियोगश्चानुयोगश्च श्लाघा विलपितं च यत् ॥
आचिख्यासाथ संलापः पवित्राख्यानमेव च ॥६५॥
आहनस्या नमस्कारः प्रतिराधस्तथैव च ॥
संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च ॥६६॥
प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवौ च ह ॥
उपप्रैषश्च यः प्रोक्तः संज्वरो यश्च विस्मयः ॥६७॥
आक्रोशोऽभिष्टवश्चैव क्षेपः शापस्तथैव च ॥
उपसर्गो निपातश्च नाम चाख्यातमित्यपि ॥६८॥
भूतं भव्यं भविष्यं च पुमान् स्त्री च नपुंसकम् ॥
एवं प्रकृतयो मन्त्राः सर्ववेदेषु सर्वशः "[२५] ॥६९॥
मन्त्रप्रभेदानविलक्ष्य हन्त
सर्वश्रुतीनां स्तुतिरूपताकथा ॥
मन्तुं न योग्या श्रुतिविद्भिरत्र

२५. बृह.देव. १।३५-४०

गौण्योपपत्तौतु प्रमाणहानिः ॥७०॥

प्रत्यक्षदृष्टात्तु विरुद्धवाक्ये
गौणश्च शब्दोऽपि भवेन्नु कल्प्यः॥
श्रुत्येकगम्येतु तथार्थकल्पने
प्रामाण्यसंन्यास वरः श्रुतीनाम्॥७१॥

तदेतदाक्षेपसमाधानं :

"ब्रह्म अयं वाचः परमे व्योम" [२६]
"सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति" [२७]
"सर्वे वेदाः यत्र एकं भवन्ति" [२८]
इत्येवमादिवचनैः मानमेयस्वरूपयोः॥
वेदब्रह्मणोरैक्याद् मूलतो न भिदा मता॥७२॥
लीलयैच्छिकभेदस्तु यः सृष्टौ समजायत॥

(ब्रह्मश्रुत्योः आधिदैविकाध्यात्मिकेति भेदद्वयम्)

ततोहि द्विविधं रूपमुभयोर्वेद्यं यथायथम्॥७३॥
वेदस्तुतिः सृष्टिपूर्वरूपब्रह्मस्तुतिः मता॥
"सर्वाणि रूपाणि विभज्य धीरो
नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते" [२९] ॥७४॥
सृष्ट्यूर्ध्वं तत्र मन्त्राणां बाहुविध्यं न दोषभाग्॥
अन्यथातु **"यतो वाचो निवर्तन्ते"** [३०] इति श्रुतेः॥७५॥
"तन्त्वौपनिषदं पुरुषं" [३१] श्रुत्या हि विरुद्धता॥

---

२६. ऋक्संहि. १।२२।१६४।३५
२७. कठोप. २।१५
२८. तैत्ति.आर. ३।११।१
२९. तैत्ति.आर. ३।१२।७
३०. तैत्ति.उप. २।४
३१. बृहदा.उप. ३।९।२६

एकस्मादेव बीजात्तु पर्णपुष्पाद्यनन्ता ॥७६॥
अव्यक्ता वै नचेत्तस्मिन् व्यक्तीभावः कुतस्ततः ॥
रूपनामकर्मणां चानन्त्यं लीलाप्रदर्शितम् ॥७७॥
स्वरूपेऽव्यक्तसद्भावो न कुतस्तत्र शक्यते ॥
किञ्चेह शौनकोक्तं हि सावधानधिया श्रुणु ॥७८॥
येन संशयसंच्छेदः कुतः शक्यो न सर्वथा ? ॥
"स्तुवन्तं 'वेद सर्वोऽयम् अर्थयत्येष माम्' इति ॥७९॥
स्तौतीत्यर्थं ब्रुवन्तं च सार्थं 'माम् एष पश्यति' ॥
स्तुवद्भिर्वा ब्रुवद्भिर्वा ऋषिभिः तत्त्वदर्शिभिः ॥८०॥
भवत्युभयमेवोक्तम् उभयं ह्यर्थतः समम्" [३२] ॥
"वेदा यथा मूर्तिधरा-स्त्रिपृष्ठ" [३३] इति न्यायतः ॥८१॥
शब्दरूपश्रुतीनां चाधिदैविकविग्रहः ॥
अंगीकर्तव्यएवेति स्तुतौ नैव विरुद्धता ॥८२॥
अतएवोक्तमाचार्यैः सुबोधिन्यां विचक्षणैः ॥
"काव्यवद् रूपकोक्तौ हि स्पष्टोऽप्यर्थो भवेद् यदि ॥८३॥
कथनं नोचितञ्चैवं श्रीमद्भागवते पुनः" [३४] ॥
प्रामाण्यं महदेतद्धि सर्वसन्देहवारकम् ॥८४॥
इयं सृष्टिः श्रुतौ चापि वागुपन्यासपूर्विका ॥
वर्णिता तत्र वाक्कृत्यं स्पष्टं नोपलभामहे ॥८५॥
वेदसन्देह गीतातो गीतासन्देह सूत्रतः ॥
ब्रह्मसूत्रगतः सोऽपि वार्यो भागवतेन हि ॥८६॥
तथाहि :
"प्रजापतिः अकामयत प्रजायेय इति... तस्य चित्तिः स्रुग् आसीत् चित्तम् आज्यम्. तस्य एतावत्येव वाग्

---

३२. बृह.देव. १।९-१०
३३. भाग.पुरा. १।१९।२३
३४. सुबो. १।१।३

आसीत्... सो अताम्यत् स 'भूः' इति व्याहरत् स भूमिम् असृजत्... स 'भुवः' इति व्याहरत् सो अन्तरिक्षम् असृजत्... स 'सुवः' इति व्याहरत् स दिवम् असृजत्''[३५], ''अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवो यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः कर्म ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्''[३६] ''शब्दइति चेद् न अतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां (अणुभा. अतः शब्दात् प्रभवात् शब्दोक्तपदार्थानाम्. वेदोक्ताः सर्वएव पदार्था आधिदैविकाएव पुरुषावयवभूताः, सर्वानुकारित्वाद् भगवतः)''[३७], ''यो अविद्यया अनुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या निद्राम् उवाह जठरीकृतलोकयात्रो अन्तर्जले अहिकशिपुस्पर्शानुकूलां भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन्, यन्नाभिपद्मभवनाद् अहम् आसम् ईड्य! लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण तस्मै नमस्ते उदरस्थभवाय योगनिद्रावसानविकसन्-नलिनेक्षणाय''[३८]

उत्तरोत्तरमानैस्तु पूर्वपूर्वस्फुटार्थता ॥८७॥
सुशक्या ह्यवगन्तुं या तथास्यास्तु स्तुतेरपि ॥
अतश्चाध्यात्मिकास्वेवं नामरूपस्वभावतः ॥८८॥
सर्वासु स्तुतिरूपत्वं यत्तच्छंक्यं न कर्हिचित् ॥
श्रुतीनामाधिदैवीभिः सर्वाभिः कारिता स्तुतिः ॥८९॥
शंकिता गुणवृत्तीनां निर्गुणे ब्रह्मणि तु या ॥

---

३५. तैत्ति.ब्रा. २।२।४।१-३
३६. भग.गीता ३।१४-१५
३७. अणुभा. १।३।२८
३८. भाग.पुरा. ३।९।२०-२१

तत्सागुण्यन्तु दैवीषु नामरूपासु वा भवेत् ? ॥९०॥
इत्येतस्याः हि शंकायाः समाधानं विधीयते ॥
ब्रह्मणो यत्तु नैर्गुण्यं गुणातीतया मतम् ॥९१॥
रजस्सत्त्वतमोरूपगुणानां तत्र चोद्भवात् ॥
ब्रह्मात्मकत्वं तेषां हि न ब्रह्म त्रिगुणात्मकम् ॥९२॥

तथोक्तं :

"पुरुषएवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भव्यं... एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरूषः पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः पादो अस्य इह अभवत् पुनः" [३९]

अतो हि गीतायामपि भगवान् आह यत् स्फुटम् ॥
"प्रकृतिं विद्धि मे परां" [४०] **"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः"** [४१] ॥९३॥
"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" [४२] ॥
"कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः" [४३] इत्यपि ॥९४॥
"ये चैव सात्त्विका भावाः राजसा तामसाश्च ये ॥
मत्तएवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि" [४४] ॥९५॥
न गुणानामभावोऽतो ब्रह्मणि शक्यते क्वचित् ॥
गुणेषु ब्रह्मणश्चातः परिच्छेदो निषिध्यते ॥९६॥
शब्दरूपश्रुतीनां हि व्यक्तिः विषयतापिच ॥
गुणेषु गुणवृत्तित्वं लीलया निर्गुणेऽपि च ॥९७॥

---

३९. पुरु.सू. १-२
४०. भग.गीता ७।५
४१. भग.गीता ९।१०
४२. भग.गीता १३।१९
४३. भग.गीता १३।२०
४४. भग.गीता ७।१२

अतो नानुपपत्तिर्हि प्रश्ने वा तत्समाहतौ ॥
श्रुतिगीतासमाख्याता उपपन्नमतोऽखिलम् ॥९८॥
श्रुतीनां तं स्तुवन्तीनां दैवीनां नामशब्दतः ॥
आनुरूप्यं निरूप्यं हि तत्तद्योजनया पुनः ॥९९॥
तत्तत्कारिकायां तत्कृपालब्धैकबुद्धिना ॥
उपक्रमोपसंहारविमर्शादिकवाक्यता ॥१००॥

(उपसंहारः)

निरूपिता श्रुतिस्तुत्याः सूक्ष्मटीकाविचिन्तने ॥
क्षमन्तु श्रीमदाचार्याः अन्यथाचिन्तितं मम ॥१०१॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण कृता
श्रुतिगीतासूक्ष्मटीका कारिकाविवक्षितश्रुतियोजनोपेता
सम्पूर्णा



(४) प्रकीर्ण-स्वतन्त्रलेखाः

(क) श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणानां लेखः

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ॥
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥
(भाग.पुरा. ७।९।११)

ननु भगवदनुग्रहं विना भक्तिः न भवति इति विप्रं परित्यज्य कथं श्वपचम् अनुगृह्णाति इत्यत आह **नैवात्मन** इति. अयं भगवान् **आत्मनो** जीवस्य **प्रभुः** नतु देहस्य. विप्रत्वं श्वपचत्वं वा देहगतं, नतु आत्मगतम्, अतो यम् आत्मानम् अनुगृह्णाति तस्मै भक्तिं प्रयच्छति ; तथा तदीयः श्वपचदेहोऽपि शुद्धो भवति, "श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते" (भाग.पुरा. ३।३३।६), "श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वाऽनुमोदितः, सद्यः पुनाति मद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि" (भाग.पुरा. ११।२।१२) इत्यादिवचनात्. यम् आत्मानम् न अनुगृह्णाति तदीयो विप्रदेहोऽपि भक्त्यभावाद् अशुद्धो भवति. "धर्मः सत्य-दयोपेतो विद्यया तपसान्वितः, मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि" (भाग.पुरा. ११।१४।२२) इति भगवद्वचनात् देहोत्कर्षो न भक्तिहेतुः किन्तु भक्तिः तदुत्कर्षहेतुः. साच भगवदनुग्रहैकसाध्या. अनुग्रहश्च आत्मनिष्ठः साधननिरपेक्षश्च, ईश्वरस्य अनियम्यत्वात्. अतो न उक्तदूषणम् इति भावः. ननु ईश्वरस्य सर्वकरणसामर्थ्याद् आत्मन इव देहस्यापि कुतो न भवति इत्यत आह **निजलाभपूर्ण** इति. आत्मलाभेन पूर्णो, नतु देहादिविषयापेक्षा तस्य. जीवस्य अंशत्वेन निजत्वात् तदपेक्षायां न दोषः. देहादेः प्राकृतत्वात् तदपेक्षा न युक्ता इति भावः. कथम् एवं ज्ञेयम् इत्यपेक्षायाम् आह **मानं जनाद्** इति. **अविदुषो जनाद्** उक्तबहिर्मुखविप्रात् **मानं** पूजात्मकं **नैव वृणीते** न इच्छति इत्यर्थः. तर्हि भक्तादपि तथा भविष्यति इत्याशङ्क्य न इत्याह **करुण** इति. करुणो हि दीने करुणां करोत्येव, अन्यथा करुणत्वं न स्यात्. दीनता च भक्तस्यैव भवति, नतु विमुखस्य. अतएव पूर्वम् उक्तं "नतु भूरिमान" इति, दीनस्य अहंकारासम्भवात्. अतः कृपया भक्तकृतम् अङ्गीकरोति इत्याह **यद्यद्** इति. भगवदङ्गीकारानुरोधाद् अत्र **जनो** भक्तः स **यद्यत्** पत्रपुष्पादि **भगवते मानत्वेन विदधीत** करोति **तद्** भगवान् **आत्मने** स्वम् इति तं **वृणीते** च इत्यर्थः. ननु साक्षादीश्वरस्तु नाङ्गीकरोति

किन्तु प्रतिमाद्वारा, सा च अङ्गीकुर्वन्ती न दृश्यते, ततः कथम् अङ्गीकरोतीति मन्तव्यम् इत्याशङ्क्य दृष्टान्तम् आह **प्रतिमुखस्य** इति. **प्रतिमुखं** प्रतिबिम्बमुखं, तत्र यावती **श्रीः** दृश्यते तावती सा यस्य प्रतिबिम्बः तस्य मुखे भवत्येव. तथा तत्र प्रतिबिम्बस्थानीया प्रतिमा, भगवदावेशात्. अतः तत्र कृतं भगवान् अङ्गीकरोत्येव, अन्यथा तत्र आवेशं न कुर्याद् अथ च तत्फलं तस्मै न प्रयच्छेत. तस्माद् अङ्गीकारो मन्तव्य एव इति भावः. यद्यपि भक्तिमार्गे प्रतिमा स्वरूपात्मिका एव, भक्तानां तथानुभवदर्शनात्, तथापि मर्यादाभक्तिमार्गम् आश्रित्य तथा उच्यते, नतु पुष्टिभक्तिम्. अतएव 'भक्त'पदं 'सेवा'पदं च विहाय **जन**पदं **मान**पदं च उक्तम्. तथाच कैमुतिकन्यायेन पुष्टिमार्गप्राबल्यमेव फलितम्, बहिर्मुखप्रतिपक्षतया पुष्टिकथनस्य अयुक्तत्वात्.

अथवा. **अयम्** अस्मदादीनां प्रत्यक्षो भगवान् **आत्मनः** संसाराराहित्यात् ज्ञानिनो जीवस्य **प्रभुः न** इत्यर्थः, ऐक्येन भेदाभावाद् उभयोः निरपेक्षत्वात्. ननु "ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्" (भग.गीता ७।१०) इति वाक्यात् कथं तथा इति चेद्, इत्थम्— ज्ञानी आत्मा एव मम, नतु तत्संघातो मदीयः ; भक्तास्तु ससंघाता मदीया इत्यर्थः. अतएव पार्थं प्रति "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्" (भग.गीता १२।५) इति ज्ञानिनो निरूपिताः. तेन न तत्प्रभुः इति ज्ञापितम्, पूर्णानन्दे प्रभौ क्लेशासम्भवात्. ततः "ते मे युक्ततमा मताः" (भग.गीता १२।२) इति भक्तप्रभुः इति ज्ञापितम्. अतः तेषां क्लेशाभावोऽपि, "मद्भक्तो नावसीदति" (. । ।) इति वचनात्. ननु भगवान् एवं तारतम्यं कथं करोति इत्यत आह **निजलाभपूर्ण** इति. स्वात्मलाभेन यः पूर्णः तस्य वस्तुतो न अन्यापेक्षा. परम् अन्यः चेद् "अहं सेवको अस्मि" इति मन्यते तदा भगवानपि तं प्रति प्रभुत्वम् अङ्गीकरोति, नतु तदपेक्षारहितं यं कञ्चन प्रति इति युक्तमेव तथा इति भावः.
ननु प्रभुत्वम् अङ्गीकृत्य भक्तेषु किम् अधिकं करोति इत्यत आह **मानं जनाद्** इति. वस्तुतो "भक्त्या मामभिजानाति" (भग.गीता १८।५५) इतिवचनाद् भक्त एव विद्वान् तथापि यत्र साधारणाद् अपि भक्त्या तु मानम् इच्छति तत्र तादृशाद् इच्छति इति किं वाच्यम् इति वक्तुम् **अविदुषो जनाद्** इति निरूपितम्. अन्यच्च. पूर्वं ब्रह्मज्ञानिनः प्रभुः न इति कथनाद् अत्र तथाज्ञानाभावाय **अविदुष** इति विशेषणम् उक्तम्, नतु ज्ञानमात्राभावाय. तथा सति भक्तिमार्गीयज्ञानम् उक्तं भवति. अन्यथा ज्ञानी इव उपेक्ष्य एव भवेत्. तत्र उपपत्तिम् आह **करुण** इति. करुणा दीनेषु उत्पद्यते, नतु आत्मतुल्यतां मन्यमानेषु, ततः तथा

युक्तम् इति भावः.

किञ्च. भक्तस्य का वार्ता, भक्तिरहितोऽपि **जनो** भक्तप्रवर्तितसम्प्रदायस्थितो भूत्वा भगवते **यद्यन्मानं विदधीत** स्वस्य कर्तव्यत्वेन विहितं ज्ञात्वा करोति, अतएव लडर्थे लिङ्, तत्र सम्प्रदायानुरोधाद् **आत्मने वृणीते**. तथाच उक्तं ब्रह्मणा "भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्" (भाग.पुरा. १०।२।३१) इति. परं भक्तान् स्वयं वृणीते, अन्यः स्वतः करोति इति तारतम्यम्. तर्हि भक्तकृतमेव अङ्गीकरोति इति नियमः कथं सम्भवति इत्याशङ्क्य दृष्टान्तम् आह **प्रतिमुखस्य** इति. मुखस्थानीयो भक्तः, प्रतिमुखस्थानीयस्तु तदनुवर्ती. यथा प्रतिमुखस्य श्रीः वस्तुतो मुखस्य नतु तस्य तथा भक्तानुवर्तिकृतं भक्तकृतं नतु तत्कृतं, भक्तानुसारित्वात्, प्रतिमुखवत्. अन्यथा मुखाभावे प्रतिमुखाभावात् तत्कृतमेव न स्यात्. अतो न अनुपपत्तिः काचित्.

यद् वा. **अयं** भगवान् **आत्मनः** स्वस्य **प्रभुः न,** भक्ताधीनत्वेन तदिच्छामन्तरेण स्वतः किमपि कर्तुं न शक्नोति इत्यर्थः. **एव**कारेण स्वतन्त्रपक्षो निराकृतः, "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ... वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा" (भाग.पुरा. ९।५।६३-६६) इति वचनात्. न च तर्हि कथम् ईश्वरत्वम् इति वाच्यम्, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हि ईश्वरः तेन अकर्तुंसामर्थ्यस्य अत्र प्रकटनात्. ननु "निःस्पृहस्य तृणं जगद्" (चाणक्यनीति ५।१२) इति न्यायेन स्वार्थाभावे जीवस्यापि पारतन्त्र्यं न भवति, कथम् ईश्वरस्य तत् सम्भवति इत्यत आह **निजलाभपूर्ण** इति. निजानां भक्तानां लाभेन पूर्णः, तदभावे च अपूर्ण इत्यर्थः. तेन भक्ताः स्वार्थभूता इति ज्ञापितम्. तदुक्तं प्रभुणा एव "यो मद्भक्तः स मे प्रियः" (भग.गीता १२।१४), "निःकिञ्चना वयं शश्वत् निःकिञ्चनजनप्रिया" (भाग.पुरा. १०।५७।१४) इत्यादि. तल्लाभेन पूर्णतामपि स्वस्य आह "नाहमात्मानम् आशासे मद्भक्तैः साधुभिः विना" (भाग.पुरा. ९।४।६४) इत्यादिवचनैः. किञ्च. सेवका हि प्रभोः अंशा भवन्ति, अन्यथा प्रभुत्वमेव कथम् उपपद्यते! अतो अंशैः अंशिनः पूर्णता न दोषाय. ननु "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" (भग.गीता १५।७) इति वाक्याद् जीवत्वाविशेषेण कथं भक्तमात्रैकपूर्णता इति चेत्, सत्यम्. अंशांशिनोः सम्बन्धे तत्पूर्णता वक्तुम् उचिता. सम्बन्धस्तु भक्तानामेव, नान्येषाम्, "आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्" (भग.गीता १६।२०) इति वचनात्. भक्तानां तु सम्बन्धः पूर्वम् उपपादित एव.

यद् वा. **निजेभ्यो** भक्तेभ्यः तदर्पितवस्तुनो **लाभेनैव पूर्ण** इत्यर्थः,

"यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः तत्तन्निवेदयेन्मह्यम्" (भाग.पुरा. ११।११।४१) इत्यादितदपेक्षावचनात्. यत्र भक्तसम्बन्धिवस्तुलाभेन पूर्णता तत्र तल्लाभेन पूर्णतायां किं वाच्यम् इति भावः. किञ्च "अभक्तोपहृतं भूरि न मे तोषाय कल्पितम्" (भाग.पुरा. ११।७।१८) इति वचनाद् अभक्तसमर्पितमपि न गृह्णाति इति न चित्रं यतः तदसमर्पितमपि तदीयं गृह्णाति —इति अभिप्रायेण आह **मानं जनाद्** इति. अयम् अत्र आशयः. भक्तस्तु निरन्तरं स्वाभावानुसारेण यथादेशकालं सर्वं समर्पयत्येव, तथापि जीवस्वभाववशात् किञ्चिद् विस्मरति, प्रभोः अपेक्षितविशेषं वा न जानाति. तदा प्रभुः स्वयमेव अनुग्रहानुरूपं स्वप्नादिद्वारा तद् ज्ञापयित्वा अङ्गीकरोति इति **अविदुषो जनाद् मानं वृणीते** इति निरूपितम्. वरणं च स्वापेक्षया भवति, नतु वरणीयापेक्षया इति वरणार्थको धातुः आत्मनेपदं च निरूपितम्. तत्र हेतुः **करुण** इति. इदम् अत्र आकूतम्. भक्तो हि यावत् स्वभावतः करोति तावत् प्रभुः अङ्गीकरोति, न तावता स्वस्मिन् कृपातिशयं जानाति, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (भग.गीता ४।११) इति सावधारणवचनात्. यदा पुनः तत्कृतादपि अधिकम् इच्छन् "मम इदम् अधुना अपेक्षितम् तद् आनय" इति मधुरवाण्या वदति, विस्मृते च "अद्य अहम् एतदभावाद् एवमेव स्थित" इति, तदा स भक्तो निरवधिसुखम् अनुभवति. अन्यथा कदापि किमपि न ज्ञापयति चेत् को वेद कृपा अस्ति न वा इति सन्देहाद् खिन्नो भवति. अतः करुणत्वेन तत्खेदम् असहमानः तथा करोति प्रभुः. वस्तुतस्तु यथा जलनिधिः आत्मनो मर्यादाम् उल्लङ्घ्य न अन्यत्र गच्छति, मर्यादायां च निरन्तरं तरङ्गान् उत्किरति. तत्र स्वभाव एव नियामको, नतु कश्चन उपाधिः सम्भवति. तथा अतिगम्भीरकरुणामृतजलधिः ईश्वरो भक्तवश्यत्वात् स्वमर्यादारूपभक्तेषु निरन्तरं तरंगितो भवति, न अन्यत्र गच्छति इति सर्वं सुस्थम्.

ननु एवं सति भक्तेषु तारतम्यं कथं करोति इत्याशङ्क्य तद् भक्तकृतमेव नतु प्रभुकृतम् इत्याह **यद्यद्** इति. अत्र अयम् अर्थः— **विदधीत** इति क्रियापदाद् अत्र विधिसम्बन्धो निरूपितः. तथाच यत्र यावान् विधिसम्बन्धः तत्र तावानेव द्वारभावोऽपि भगवतो भवति. तेन पूर्वं विधिसम्बन्धाभावेन नैकट्यात् **प्रभुः स्वयं जनाद् मानं वृणीते** अत्र विधिसम्बन्धेन द्वाराभावात् तत्कृतमेव वृणीते. अप्यर्थे **चकारः** ; तेन तत्कृतमपि वृणीत इति पूर्वापेक्षया अनादरः सूचितः. तथाच समुद्रः सर्वत्र तरंगितो भवति परं निकटस्थः सिच्यते दूरस्थो न इति तारतम्यं तद्दोषकृतमेव इति हृदयम्.

अपि च. **वृणीते** इति क्रिया पूर्वत्र योजनीया— अत्र तु **जनो** भगवते **यद्यद् विदधीत तदात्मने च** इति, स्वार्थमपि उद्दिश्य करोति इत्यर्थः. तर्हि "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" (लौकिकन्या.सा. ३५९) इति न्यायेन किञ्चित्स्वार्थाभावे विधिः प्रवर्तको न भवति. सच स्वार्थो मोक्ष एव इति ज्ञापयितुम् **आत्म**पदम् उक्तवान्, मोक्षस्यैव आत्मगामित्वात्. इमम् अर्थं सूचयितुम् दृष्टान्तम् आह **प्रतिमुखस्य** इति. यथा पुरुषस्य मुखश्रीः प्रतिमुखस्यापि भवति, नतु मुखस्यैव, तथा भगवते कृतं स्वार्थापेक्षायां आत्मने च भवति इति भावः. पूर्वोक्तपक्षे तु स्वार्थगन्धोऽपि नास्ति इति ततः प्रभुः स्वयं वृणीत इति निरूपितम्. अतएव **निजलाभपूर्ण** इति हेतुः उक्तः. अत्र तु स्वार्थपरत्वात् तदीयं क्लेशम् असहमानः तत्फलं तस्मै प्रयच्छति इति **करुण** इति हेतुः उक्तः. तथाच पूर्वोक्तपक्षस्य भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वेन अशक्यतां मत्वा कोऽपि भजनमेव न करिष्यति इति स्वार्थपक्षेऽपि भगवद्भजनमेव पुरुषार्थसाधनं, नतु तदतिरिक्तं किञ्चिद् इत्याशयेन अयमपि पक्षो निरूपितः. अतएव "अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्" (भाग.पुरा. २।३।१०) इति पक्षत्रयम् उक्तम्. अकामः पुष्टिमार्गी, सर्वकामः प्रावाहिकः, मोक्षकामो मर्यादामार्गीय इति पक्षत्रयम्. यद् वा. ननु ईश्वरस्य सर्वसमत्वेन करुणत्वेन च क्वचित् स्वधर्मं प्रकटयति क्वचित् न इति वैषम्यं कथं परिहृतं भवति इत्याशङ्क्य दृष्टान्तम् आह **प्रतिमुखस्य** इति. प्रतिबिम्बस्य सन्मुखता अवश्यम् अपेक्षिता. यतो यावान् अंशः सन्मुखो न भवति तावत्यंशे मुखश्रीः न भासते. न तावता मुखश्रियो वैषम्यं भवति. तथा अत्रापि इति भावः. तस्माद् यथाकथञ्चिद् येन केनापि भगवद्भक्तिरेव कार्या इति फलितार्थः.

(वेणुनाद वर्ष १ अंक ४ इत्यत्र प्रकाशितः).

(ख) चाचाश्रीगोपीशानां लेखः

जन्माष्टमीनिर्णयविचारः

श्रीकृष्णाय नमः। दशमस्कन्धविवृतौ "नवम्यां च सा जाता. रोहिणी तु तुल्या अतो रोहिण्याः कृत्तिकावेधो न दोषाय. सप्तमीवेधस्तु दोषायैव. पुत्रोत्सवादिकं शुद्धनवम्यामेव जातम् इति शुद्धाष्टम्यभावे नवमी उपोष्या" (सुबो. १०।३।४७) इति, निबन्धेऽपि "जन्माष्टमी तु सूर्योदयानन्तरं सप्तमी चेत् तदा त्याज्या" (त.दी.नि.प्रका. २।२४५) इति श्रीमदाचार्यचरणोक्तिम् आचक्ष्महे. "नवम्यां च" इति सा योगमाया निशीथोत्तरनवमीसत्तायां युक्तिः उक्ता इति

ज्ञेयम्. ननु नक्षत्रस्य शुद्धत्वं विद्धत्वं च गुणदोषयोः अप्रयोजकम् इति चेद्, उच्यते. "रोहिणी तु" इति ग्रन्थो रोहिण्याः शुद्धत्वं न बोधयति किन्तु केवलपुष्टिस्थ-भक्तकर्तव्यताकोत्सव-भगवदाविर्भावयोः अधिकरणस्य तिथेः शुद्ध-स्वरूपम्. तथाहि सूर्योदयसमयवर्तित्वे सति निशीथोत्तरसमयवर्ति-नवमीयुता रोहिणी उपलक्षिता शुद्धा. तादृश्यामेव वसुदेवगृहे प्रादुर्भावाधिकरणस्य तिथेः अशुद्धस्वरूपम्. तथाहि योगमायाजन्म-पुरुषोत्तमप्राकट्योत्सवानां जातत्वात् तत्र उपलक्षणीभूता रोहिणी तु अविद्धत्वे च तुल्या गुणदोषवती न भवति. यतो भगवज्जन्म-योगमायोत्पत्ति-पुरुषोत्तमप्राकट्यजन्मोत्सवेषु रोहिणी एव स्थिता, नतु अष्टम्युत्तरनवमीवत् मृगशिरो जातम्. अष्टमी तु वसुदेवगृहे प्रादुर्भावसमये एव स्थिता, योगमायोत्पत्ति-पुरुषोत्तमाविर्भावोत्सवसमये नवमी बभूव इत्यतः सप्तमीवेधो निशीथोत्तरसमयवर्ति-नवमीसत्तायां प्रतिबन्धजननाद् दोषजनकः. कृत्तिकावेधस्तु निशीथोत्तरसमयवर्ति-रोहिणीसत्तायाम् अप्रतिबन्धकत्वात् न दोषजनकः प्रत्युत निशीथोत्तरसामयिक-रोहिणीसत्तायां साधकोऽपि. अतएव "दोषायैव" इति 'एव'कारः. यतः कृत्तिकावेधो दोषाजनको गुणजनकश्च, अयं तु दोषजनक एव इति.

इत्थं च उक्तलक्षणशुद्धाष्टम्यां केवलपुष्टिस्थ-पुष्टिमर्यादास्थयोः एकमेव व्रतम् इति "नवम्यां च" इति आरभ्य "दोषायैव" इत्यन्तेन प्रतिपाद्य शुद्धाष्टम्यभावे केवलपुष्टिस्थैः किं विधेयम् इत्यत आहुः "पुत्र" इति. "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न" (भाग.पुरा. १०।५।१) इत्यस्य विवृतौ "वासुदेवो अत्रैव आविर्भूत इति सिद्धान्तः. अन्यथा केवलमायाजनितं स्तन्यं भगवान् न पिबेत्", सिद्धवत्कारेण "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे मायया सह जातः, अन्यथा 'देवकीजठरभूः' इतिवत् 'तव सुत' इति कथं वदेयुः? 'तन्मातरौ' इति शुकवाक्यं विरुध्येत" (सुबो. १०।२।१६) इति, "माययैव रूपान्तरम् इति मायानिरूपणेनैव तस्य उत्पत्तिः निरूपिता, उत्पत्त्यनन्तरं च 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न' इति सम्भ्रमः" (तत्रैव) इति च श्रीमदाचार्यचरणोक्तेः पुत्रश्च उत्सवश्च पुत्रोत्सवौ, तौ आदिः यस्य इत्यर्थः. (अन्यथा) 'उत्सव'पदेनैव चारितार्थ्यात् 'पुत्र'पदोपादानवैयर्थ्यापत्तिः. एवं च अनन्यगोकुलस्वामी पुरुषोत्तमो योगमायया सह जन्मकथनात् नवम्याम् आविर्भूत इति गूढाभिसन्धिः अनुसन्धेयः.

इत्थं च निशीथोत्तरसमयवर्ति-नवमीरहिता हि अष्टमी अशुद्धा. सा च द्विधा. दिनद्वये सूर्योदयसामयिकसत्तावती 'शुद्धाधिका'पदवाच्या एका. दिनद्वयेऽपि सूर्योदयसामयिकसत्तारहिता 'विद्धन्यून'पदवाच्या अपरा. तथाच शुद्धाधिकायां का अष्टमी उपोष्या? पुष्टिमर्यादास्थैस्तु स्मृतिपुराणवाक्योक्त-वेधविचारपुरःसरं श्रीमत्प्रभु-चरणनिर्णीता जन्माष्टमी निःशङ्कम् उपोष्या. प्रमाणपरित्यागो न उचितः. तथा

उक्तं विद्वन्मण्डने "मर्यादैव हितकारिणी" इति ध्येयम्. "पुत्रोत्सवादि" इति 'आदि'पदेन 'उत्सव'पदेन उत्सवविहितानि स्नान-स्वस्तिवाचनादीनि. "शुद्धनवम्याम्" इति 'शुद्ध'पदेन यथा शुद्धाष्टमी संयोगात् प्रशस्ता तथा न इयं किन्तु इयम् उपोषणयोग्यतायाम् असहायशूरैव.

ननु ईदृशव्रताधिकारः कीदृशः, केवलपुष्टिस्थानाम्, इति चेद्, उच्यते. ये बीजदार्ढ्यार्थम् यतमाना जातप्रेमाः तथापि अनुत्पन्न-निरोधलक्षणोपदिष्ट-भावनासाध्य'व्यसन'पदवाच्यभावाः तेषां भगवद्दित्साविषयीभूत-भजनानन्दनियतपूर्ववर्ति-मनोरथविशेष-विषयतापन्नानां श्रीगोकुलीयभगवज्जन्मोत्सवस्य अङ्गीभूते व्रते अधिकार इति सर्वं सुस्थम्. 'व्यसन'पदवाच्य-भावोत्पत्त्यनन्तरं तु विरहानुभवैकप्रयोजन-परित्यागातिरिक्त-यावत्साधनेषु अनधिकार इति अन्यत्र विस्तरः.

ननु लक्षणवाक्ये 'निशीथोत्तर' इत्यनेनैव सूर्योदयवर्तितालाभात् 'सूर्योदय' इति व्यर्थम् इति चेत्, न. यदा प्रातः घटिकाद्वयं सप्तमी, तदनन्तरं क्षयवशात् चतुःपञ्चाशद्घटिका अष्टमी, ततो मुहूर्तद्वयं नवमी, तत्र अतिव्याप्तेः. नच रोहिणीसंयोगस्य कादाचित्कत्वात् तदुपादानं व्यर्थम् इति वाच्यम्, उत्तमतमाष्टमी-स्वरूपबोधनार्थमेव उपलक्षणीभूत-रोहिण्युपादानात्, नतु लक्षणघटकत्वेन इति ध्येयम्. तदेवं त्रितयसंयोगे सति उत्तमतमा, भगवज्जन्मसामयिक-बहुयोगसत्त्वेन सर्वाधिकारकव्रते प्रशस्तत्वात्. रोहिण्यभावे द्वितयसंयोगे तु उत्तमतरा, जन्मसामयिक-बहुयोगाभावात्. केवला नवमी तु उत्तमा, केवलपुष्टिस्थमात्राधिकारक-व्रतयोग्यत्वेन सर्वसाधारण्येन अप्रशस्तत्वाद् इति अलम्.

। इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपीशविरचितो जन्माष्टमीनिर्णयविचारः समाप्तः ।

(वेणुनाद वर्ष १ अंक ६ इत्यत्र प्रकाशितः).

(ग) श्रीहरिरायाणां लेखाः

(१)

श्रीहरिर्जयति । "निरस्तसाम्यातिशयेन" (भाग.पुरा. २।४।१४) इत्यत्र **'राधस्'शब्दवाच्या भगवतः काचित् सिद्धिः** (सुबो.) इति. अत्र इदं चिन्त्यते. 'राधस्'शब्दः सकारान्तो वेदे बहुषु स्थलेषु प्रयुक्तः सिद्धिवाचकः, "एतत्ते अग्ने राध" (यजु.संहि. १।४।४३।१) इत्यादिषु तथा निरूपणात् "सोमच्युतं ह्यस्य राध" (यजु.ब्रा. ।) इति ब्राह्मणेन विवृत्वात् च. तदर्थस्तु— 'अस्य' अग्ने 'राधः' सम्यक्सिद्धिः 'सोमात् च्युतं' निःसृतं, सोमहोमानन्तरमेव सम्यक्तया तत्सिद्धेः. अतएव "आ तृतीयात् पुरुषाद्" (कृष्ण.यजु.संहि. ५।४।१०।४)

इत्यत्र त्रिपुरुषं सोमपानाभावे साग्निकस्यापि प्रायश्चित्तविधानम्, सोमपानविच्छेदे अग्नेः सम्यक्‌सिद्ध्यभावात्. अतएव इन्द्राग्न्योः एव तत्र स्वभागधेयेन प्रायश्चित्तार्थम् उपधावनम् उक्तम्. अन्यथा सोमस्यैव तद् उक्तं स्यात्. अतो 'राधस्'शब्देन सिद्धिरेव प्रकृतेऽपि ज्ञेया.

तत्र अयम् अभिप्रायः. ननु सर्वासामेव स्वामिनीनां भगवदानन्दानुभवसाम्येऽपि किम् अत्र मुख्यत्वं वाच्यम् इत्याशङ्क्य आहुः **भगवतः सिद्धिः** इति. अन्यासां स्वामिनीनां हि भगवच्छक्तित्वं, "पुरुषः शक्तिभिर्यथा" (भाग.पुरा. १०।२९।१०) इत्यादौ दृष्टान्तेन तत्र शक्तित्वनिरूपणात्. तत्त्वं च तत्र सामर्थ्यरूपत्वम्. यथा पुरुषः स्वसामर्थ्येन पूर्वम् अज्ञातमपि अन्यैः निगूढं स्वस्वरूपं प्रकटयति, यतः सर्वैरेव अयम् ईदृश इति ज्ञायते, तथा स्वामिनीभिरेव स्वस्वरूपं रसात्मकं लोके प्रकटीकरोति ; तत एव सर्वैः तथा ज्ञायते इति तासां शक्तिरूपत्वम्. अतएव उक्तं स्वामिनीभिः एव स्वस्वरूपं "अशुल्कदासिका" (भाग.पुरा. १०।२८।२) इति, विवृतं च आचार्यैः "अन्यथा लोके अयं रसो न स्याद्" (सुबो.) इति.

प्रकृते तु सिद्धिरूपत्वेन स्वरूपघटकत्वात् न सामर्थ्यरूपत्वम् अपि तु स्वरूपत्वम् एव. यथा लोके प्रारब्धमपि वस्तु घटादिकं सिद्ध्यभावे अपूर्णं 'घटा'दिशब्दवाच्यं च न भवति इति उच्यते तथा भगवान् अपि रसात्मक एतत्साहित्याभावे आलम्बनविभाव-द्वयात्मकत्वाभावेन अपूर्णो 'रस'पदव्यवहार्यश्च न भवति इति भगवतः सिद्धिः एव सा इति भावः. तथाच श्रुतिभिः अग्निकुमारैश्च "रसात्मकः प्रभुः प्राप्त" (. । ।) इति उक्तौ तद्विशिष्ट एव प्राप्त इति वाच्यम्. अतो लक्ष्म्या इव सर्वत्र तदावेशोऽपि वर्तते इति रसवर्त्मविद्वद्भिः अवधेयम्.

यद्यपि लक्ष्म्या अपि पुरुषोत्तमार्धानन्दरूपत्वेन तत्पूर्णताहेतुतया सिद्धिरूपत्वम् आयाति तथापि प्रमाणसिद्ध-प्रभुस्वरूपार्धत्वेन तत्सिद्धित्वमेव, नतु लोकवेदातीत-तत्सिद्धित्वम्. अतएव श्रुत्यादिषु भगवन्निरूपणे तन्निरूपणम् अपि "श्रीधरस्य यथा श्रिया" (ऋक्संहि. ३।१७४अ) इति. प्रकृते तु "रसो वै स" (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुत्या रसात्मकं प्रस्तुत्य अग्रे "यतो वाच" (तैत्ति.उप. २।४) इति श्रुत्या मनोवागविषयत्वेन निरूपणात् न लोकवेदप्रसिद्धत्वम् इति तत्सिद्धौ अपि तथात्वम् एव. "रसो वै स" इति श्रुत्या रसात्मकत्वोक्त्यैव तत्सिद्धेः अपि तत्र उक्तेः उभयोः रसरूपत्वेन अनिर्वचनीयतया केवलानुभववेद्यत्वात् लोकवेदातीतत्वम् एव. तत्प्रसिद्धत्वं च धर्मद्वारैव, नतु केवलधर्मिणा, रसस्य

धर्मद्वारैव निरूप्यत्वात्. लोकेऽपि मधुराम्लत्वप्रकारेणैव तन्निरूपणात्. अतएव स्वयमपि गीतायां धर्मद्वारैव स्वस्य लोकवेदप्रसिद्धिम् अभिधातुम् "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" (भग.गीता १५।१८) इति आह. वेदे 'रस' इति सामान्यभाषया उक्तोऽपि न तेन रूपेण प्रथितः किन्तु धर्मसहित-धर्मिवाचक-'पुरुषोत्तम'पदेनैव प्रसिद्धः. 'पुरुषोत्तम'पदस्य पुरुषोत्तमत्वादि-धर्मसहित-धर्मिवाचकत्वम् एव, न 'कृष्ण'पदवत् केवलधर्मिवाचकत्वम्. अतो न अत्र लक्ष्मीसाम्यं सम्भावनीयम् अपि इति अभिप्रेत्य एव आचार्यवर्यैः **काचिद्** इति उक्तम्. रसात्मकत्वेन प्रभुः इव सा अपि अनिर्वचनीया एव लोकवेदयोः इत्यर्थः.

तथाच स्वरूपघटकत्वेन सर्वप्रवेशसमर्थत्वेन सकलस्वामिनी-स्थायिभावरूपत्वेन भगवत इव संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन, भेदाभेदाभ्यां स्थितत्वेन, स्वप्रवेशेनैव रसानुभवसम्पादकत्वेन —एवंविधानेकधर्मैः निःप्रत्यूहं मुख्यत्वम् अत्र सिद्धम् इति तदाश्रिताश्रितैः न शङ्कालेशोऽपि अत्र विधेय इति भावः.

दीनस्य धर्मविज्ञानभक्त्यादिरहितस्य मे ।
निरालम्बस्य कृपया भवत्वालम्बनद्वयम् ॥

(वेणुनाद वर्ष १ अंक १ इत्यत्र प्रकाशितः).

(ग-२)

। श्रीहरिः । द्वितीयस्कन्धे तुरीयाध्याये "यत्कीर्तनम्" (भाग.पुरा. २।४।१५) इति श्लोकविवृतौ **अर्हणं हि** इति.

तदर्हणं हि प्रकृतिरूपम्, अनन्यत्वाभावात् तत्त्वेन न व्यपदिष्टम् - सुबो.

अर्हणं नाम वसनादिभिः सत्कारः, तच्च भगवतः **प्रकृतिरूपम्**, तदुत्तरमेव मूर्त्यादौ भगवत्त्वप्रतीतेः पूजयैव तत्र आविष्टस्य अभिव्यक्तिकरणात्. तथाच भगवत्त्वप्रतीत्या ज्ञानेन मायामोहाभावो, भगवद्वैमुख्याभावेन भगवत्कृतमोहाभावश्च फलति इत्यर्थः. मूर्तेः पूर्वं मृदादिविकृतत्वेऽपि सत्कारोत्तरमेव प्रकृतित्वं साक्षादानन्दमय-प्रभुस्वरूपात्मकत्वं भवति इति तथात्वम्. ननु एवम् अर्हणस्य भगवत्प्रकृतिरूपत्वे 'यदर्हणम्' इति भेदेन निर्देशो अनुपपन्न इति चेत्, न, **अनन्यत्वाभावाद्** इति. अनन्यत्वे हि मुक्तौ जीवस्य इव अस्यापि भगवत्त्वेन व्यपदेशः स्यात्, नतु तदभावे. प्रकृते तु धर्मरूपत्वेन तदर्हणस्य तदभेदेऽपि पृथक्स्थित-जीवस्य इव भेदाद् अतो न भगवत्त्वेन अर्हणम् उक्तम् इत्यर्थः.

(मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारतः प्राप्तः अप्रकाशितः).

(ग-३)

"नमामि हृदये शेषे" (सुबो. १०।१।का. १) इत्यस्य टिप्पण्यां **मूले 'अनुशय'शब्दस्य** इत्यत्र. मूले "निरोधोऽस्यानुशयनम्" (का. ९) इति वाक्ये 'अनुशयन'शब्दो भावार्थक एव प्रतिभाति. यतो अनुशयनं नाम भगवतो भावात्मकस्य सर्वात्मभाववति भक्तहृदये तथाविधाखिललीलाविशिष्टस्य प्रभोः निगूढभावरूपेण स्थायितया स्थितिः. तथाच अत्र स्कन्धे क्रियमाणाखिललीलायाः कथं 'निरोध'शब्दवाच्यता, अन्यथा "प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः" (का. ९) इति आचार्यविवृत्तिविरोध, इत्याशङ्क्य तस्य उभयार्थकत्वनिरूपणाय आहुः **करणव्युत्पत्त्या** इति. **पक्षे तु** इत्यत्र तुः अप्यर्थे. तथा मूले भावार्थकत्वपक्षेऽपि अनुशय्यते अनेन इति करणव्युत्पत्त्या तथाविधस्वरूपस्थिति-सम्पादकलीलायाम् अपि तद्रूपत्वम् उच्यते इति उभयार्थको अयम् 'अनुशयन'शब्द इत्यर्थः. अतएव आचार्यवर्यैः अग्रे तथैव निरूप्यते "प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च वर्ण्यते", "प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः" इत्यादि. प्रपञ्चविस्मृतियुतासक्तिः व्यसनम् इति निरोध एव, भरतेन "या तु व्यसनसम्प्राप्तिः निरोधः स तु कथ्यते" (भरतनाट्यशास्त्र २१।८१) इति तथैव तल्लक्षणाभिधानात्. तथाच भगवतो निरोधो = भक्तेषु तत्परतया लीला ; भक्तानां प्रपञ्चविस्मृत्या भावरूपस्य प्रभोः स्थायित्वं हृदये निरोध इति बोधितम्.

यद्यपि एवं तथास्थितिः निरोध इति सिद्ध्यति– अतएव उद्धवेऽपि व्रजसीमन्तिनीचरणरेणुसम्बन्धि-गुल्मलतादिषु स्वजननाभिलाष-सञ्चितातुलभाग्यसन्ततौ एषैव स्थितिः उक्ता, स्वामिनीसम्बन्धितया तद्द्वारक-तद्विषयकप्रसादवता प्रभुणा स्वामिनीयतो विदुरसविधे (?) तेनापि "आत्मनः परमां स्थितिम्" (भाग.पुरा. ३।४।१९) इत्यनेन सामान्यतः सा तथैव अनूदिता –तथापि स्थितेः धर्मान्तरवत् न स्वरूपतो भिन्नत्वं लेशतोऽपि इति तादृगवस्थापन्नं स्वरूपमेव 'स्थिति'शब्देन उच्यते. अतएव प्रभुभिः आभासो निरोधरूपं भगवन्तं विवृण्वन्ति इति एवमेव निरूपित इति न अनुपपत्तिः काचित्. "रसो वै सः" (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुतेः, "स्थायिभावो रसः स्मृत" (दशरूपकम् ४।१) इत्यादिवाक्यैः भगवतो रसरूपस्य स्थायिभावात्मकत्वं तच्छास्त्रप्रसिद्धम् इति न तथाभासनिरूपणेऽपि रसस्वरूपविद्भिः संशयितव्यम् इति दिक्.

अयमर्थो निजाचार्यचरणाम्बुजभावनात् । भासते भाग्यराशीनां सततं हृदि तिष्ठति ॥

(टिप्पणीपरिशिष्टे प्रकाशितः).

(ग-४) स्वरूपनिर्णयः

श्रीवल्लभो जयति । पूर्वम् "एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" (छान्दो.उप. ६।२।३) इति श्रुतेः ब्रह्मस्वरूपं पूर्णपुरुषोत्तमस्वरूपम् एकमेव व्यापिवैकुण्ठे. पश्चात् "स नैव रमते तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास" (बृहदा.उप. १।४।४) इति श्रुतेः यदा रमणेच्छा जाता तदा एकाकिना तु रमणं न सम्भवति द्वितीयम् अन्तरा. अथ च रमणमपि स्त्रीभिः भवति. तदा हृदये कोटिशः स्त्रीभावा उत्पन्नाः. ते एव कोटिशः साकारानन्दमय-स्त्रीरूपत्वेन बहिः प्रकटीकृताः. रमणसामग्र्यपि स्वस्मिन्नेव स्थिता. सापि बहिः वृन्दावनश्रीगोवर्धन-मयूरहंसभ्रमरकोकिलादि-पक्षिविशेषैः सहिता श्रीयमुनारूपा प्रकटीकृता. तत्र ताभिः सह सृष्टेः पूर्वदशायां भगवान् सदा विहारं करोति. तत्र केन प्रकारेण स्थितिः वर्तते सा उच्यते. पूर्वम् अक्षरलोको वर्तते. तस्मिन् आनन्दमयः व्याप्यवैकुण्ठः, यत्र वृन्दावने श्रीगोवर्धनं वर्तते अथ च श्रीयमुना वर्तते. तत्र तटे अनेकस्त्रीभिः सह भगवान रासक्रीडां करोति. तत्र भगवत्स्वरूपं कीदृशं वर्तते तद् विचार्यते. "रसो वै सः" (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुतेः शृङ्गाररसात्मकं संयोगवियोगात्मकं रसरूपं स्वरूपं वर्तते पूर्वम्.

पश्चाद् यदा रमणेच्छा जाता तदा कोटिशः स्त्रियः प्रकटीकृताः. ततः तासु स्वमिलनार्त्युत्पादनार्थं स्ववियोगात्मकं स्वरूपं संस्थाप्य संयोगात्मकेन क्रीडां कृतवान्. पश्चाद् यदा अक्षरलोकस्य श्रुतिप्रार्थनानन्तरं प्रसादो जातः ततः तासाम् अर्थे– अथ च षोडशसाहस्रपरिमिताग्निकुमाराणाम् उपरि श्रीरघुनाथप्रभोः कृपा जाता वर्तते अतः तदर्थे– सृष्टिदशायां सारस्वतकल्पे सर्वसामग्रीसहितो भगवान् प्रकटो जातः. कथम् इत्यपेक्षायाम् उच्यते— पुत्रोत्पादन-धर्मरक्षाकरण-दुष्टनिवारण-सर्वमुक्तिदानरूप-चतुष्टयकार्यकरणार्थं प्रद्युम्नानिरुद्ध-संकर्षणवासुदेवात्मक-स्वरूप-विशिष्ट-व्यापिवैकुण्ठस्थ-संयोगात्मकस्वरूपप्राकट्यं मथुरायां जातम्. श्रीवसुदेव-देवक्योः समीपे चतुर्व्यूहात्मकसहितं वर्तते ततः चतुर्भुजरूपम्. अथवा इतः पूर्वं श्रीवसुदेव-देवक्योः जन्मद्वये स्वप्राकट्यं पृश्निगर्भ-वामनरूपं जातं स्थितं तद्ज्ञापनार्थं पूर्वं मातापित्रोः समीपे चतुर्भुजरूपेण प्राकट्यं जातम्. ततः ताभ्यां स्तुतिः कृता. पश्चाद् देवकीमातृचरणानां यदा स्नेहोत्पत्तिः जाता तदा स्नेहेन "उपसंहर विश्वात्मन्" (भाग.पुरा. १०।३।३०) इति मातृप्रार्थनया अग्रे तत्तत्कार्यार्थं चतुर्व्यूहात्मकं स्वरूपम् अन्तर्निधाय उपरि भगवान् प्राकृतबालकवज्जातः. तदा चतुर्भुजस्वरूपविशिष्टं द्विभुजस्वरूपं जातम्.

पश्चात् तत्स्वरूपाज्ञया श्रीवसुदेवो वंशपात्रे कोमलास्तरणं कृत्वा तस्मिन्

भगवत्स्वरूपं निधाय यदा प्रचलितवान् तदैव भगवान् मायाविशिष्टो रसात्मको बृहद्वने श्रीनन्दगृहे प्रकटीबभूव. कथम् इत्यपेक्षायाम् उच्यते— यदा भगवान् संयोगात्मकरसरूपो व्यापिवैकुण्ठात् श्रीवसुदेवद्वारा श्रीदेवक्या उदरे प्रविष्टः तदनन्तरं वियोगात्मकरसरूपो भगवान् पात्ररूपायां मायायां स्थितः. सैव माया भगवत्सहिता श्रीनन्दगृहे प्रकटीबभूव. तस्मात् श्रीनन्दगृहे मायावरणसहित-वियोगरसात्मक-स्वरूपप्राकट्यं जातम्.

पश्चाद् यदा श्रीवसुदेवः भगवत्स्वरूपं गृहीत्वा बृहद्वने समागतः तदा केवलां मायां गृहीत्वा तत्स्थानीयं संयोगात्मकं स्वस्वरूपं निधाय मायावरणसहित-भगवत्स्वरूपदर्शनम् अन्तरा मायां गृहीत्वा पुनः मथुरायां स्वबन्धनागारे प्रविष्टः पूर्ववत् स्थितः. पश्चाद् द्वारपालकैः कंसज्ञापनानन्तरं कंसेन आगत्य सा माया गृहीता. पश्चात् तद्धस्तात् सा उच्छलिता, गतापि.

श्रीनन्दगृहे कुतः प्राकट्यं जातं तद् उच्यते. व्याप्यवैकुण्ठाद् यदा भगवान् प्रकटो जातः ततः पूर्वं व्यापिवैकुण्ठे रमणार्थं याः स्त्रियः बहिः प्रकटीकृता विप्रयोगात्मक-स्वरूपसहिताः तेभ्यः वियोगात्मकस्वरूपं मायायां पात्ररूपायां पृथक् स्थितम्. अथ च ताः केवला एव भगवत्प्राकट्यात् पूर्ववर्षद्वयं व्रजे प्रकटीबभूवुः. भगवत्सहिताः चेत् प्रकटीभूयासुः तदा एतासां प्राकट्यानन्तरं तदैव भगवान् प्रकटीभवेत्. केवला एव प्रकटीभूताः तस्माद् एतासाम् अत्यार्त्या वर्षद्वयानन्तरं भगवान् बृहद्वने श्रीनन्दगृहे प्रकटीबभूव ब्रह्मवचनपालनार्थम्.

तदनन्तरं व्रजे स्वरूपत्रयं जातं— द्विभुजान्तर्गत-चतुर्भुजस्वरूपविशिष्ट-विप्रयोगरसात्मकम्. चतुर्भुजस्वरूपमपि प्रद्युम्नानिरुद्धसंकर्षणवासुदेवात्मकम्. अथ च श्वेतद्वीपस्थित-कालात्मकस्वरूपस्य अंशविशिष्टमपि भूभारहरणार्थम्. तेन कालात्मकस्य अंशेनैव भूभारहरणं कृतम् अर्जुनेन साकम्. प्रभासलीलापि तस्यैव इति न अपि चतुर्भुजविशिष्ट-रसात्मकद्विभुजस्य. तेन व्रजे सप्तात्मकं स्वरूपं जातम्. तेनैव बाललीलाम् आरभ्य सर्वा लीलाः कृताः.

रासलीलापि पूर्वं तेनैव कृता. पश्चात् मदमानानन्तरं भगवान् अन्तर्हितो बभूव. कथम् इत्याकाङ्क्षायाम् उच्यते— भगवान् यदा प्रकटो बभूव ततः प्रभृति लक्ष्मीः अपि आगत्य कालात्मकांशविशिष्ट-चतुर्भुजस्वरूपावच्छिन्न-द्विभुजेन साकं रमणार्थं प्रतीक्षां कुर्वाणा स्थिता. सा यदा भगवान् अन्तर्हितो जातः तदा तदवकाशं प्राप्य लक्ष्मीः स्वरमणार्थं तत्स्वरूपं गृहीत्वा कस्मिंश्चित् स्थाने गता. तदा कालात्मकांशविशिष्ट-चतुर्भुजस्वरूपं लक्ष्म्या सह गतं स्थितम्. व्रजस्वरूपं तदपि त्रिविधं— कायिकं वाचिकं मानसिकम् इति. तत्र वाचिकं मानसिकं

द्विविधं स्वरूपं वर्तते, तद् व्रजभक्तहृदयेषु प्रविष्टम्. कथं ज्ञातव्यम् इत्यपेक्षायाम् उच्यते— "दृष्टो वः कच्चिद्" (भाग.पुरा. १०।२७।५) इतिश्लोके रासमण्डलमण्डनरूपाभिः उक्तं "नन्दसूनुर्गतो" "हृत्वा गत" इति. तर्हि व्रजभक्तेषु मनः किं नास्ति? तत्र उच्यते— एतेषां मनोरूपेण भगवानेव वर्तते. अथ च एतेषां वाग्रूपेणापि भगवानेव वर्तते, अन्यथा भगवद्विरहे एतेषां वचनं न स्यात्. तस्माद् वाचिकं मानसिकं स्वरूपं व्रजभक्तेषु प्रविष्टं स्थितम्.

कायिकं स्वरूपं तत् षोडशसहस्रकुमारिकाणां मध्ये एका मुग्धा स्थिता, यस्याः मद-माने न जाते स्थिते, तां गृहीत्वा तत् कायिकं स्वरूपं गतम्. अत्र अयम् आशयः. श्रीनन्दसूनोः मुख्यां स्वामिनीम् अन्तरा रमणं न सम्भवति. तस्माद् इदं ज्ञातव्यं— सर्वत्र व्रजभक्तेषु स्वामिन्यंशो वर्तते, अन्यथा एताभिः सह रमणं न सम्भवति. सो अंशः कीदृशः इत्यपेक्षायाम् उच्यते— यथा भगवत्स्वरूपे द्वैविध्यम् आध्यात्मिकम् आधिदैविकं च तथा श्रीस्वामिनीस्वरूपेऽपि मन्तव्यम् आध्यात्मिकम् आधिदैविकं च. आधिभौतिकं नास्ति. कथम्? अलौकिके आधिभौतिको अंशो नास्ति. आध्यात्मिकं किम् आधिदैविकं किं? आधिदैविकं तु स्वरूपात्मकम्. आध्यात्मिकं तु सर्वत्र प्रविष्टम्. तद् आध्यात्मिकं स्वरूपं श्रीस्वामिन्याः सर्वत्र प्रविष्टम्. रसात्मकं कथम्? यथा भगवान् रसात्मकः तथा स्वामिनी अपि रसात्मिका. तर्हि श्रीस्वामिनीस्वरूपं सर्वत्र प्रविष्टं वर्तते. तस्मात् सर्वं ताभिः सह रमणं कृतम्. पश्चात् यदा यदा मद-माने जाते तदा भगवान् विचारितवान् "अधुनापर्यन्तं मया सर्वत्र स्वामिन्यंशेन साकं रमणं कृतं परन्तु बह्वपेक्षया एकत्र रमणम् उत्तमं भवति". इति विचार्य सर्वान् स्वामिन्यंशान् एकीकृत्य तस्यां मुग्धायां स्थापयित्वा तस्मिन् समये तस्याः श्रीस्वामिनीस्वरूपात्मकां कृत्वा पश्चाद् गृहीत्वा प्रचलितवान् रमणार्थम्. तस्मिन् समये स्वामिनीरूपा जाता इति इमम् आशयं गृहीत्वा श्रीमदाचार्यचरणैः सहस्रनामग्रन्थे अथ च नामावल्याम् उक्तं "राधाविशेषसम्भोगप्राप्तदोषनिवारकः", अथ च "राधासहचराय नमः".

एवं यदा स्वामिन्यधिकरणभूता इति गृहीत्वा भगवान् गतवान् तदा तस्यास्तु योग्यता नास्ति– यस्य रसस्य श्रीस्वामिन्या योग्यता वर्तते तस्य रसस्य एतस्या योग्यता नास्ति– तस्माद् एवम् उक्तवती "न पारयेऽहं चलितुम्" (भाग.पुरा. १०।२७।३८) इति. तदा भगवान् ज्ञातवान् "अस्याः योग्यता नास्ति". तदा एवम् उक्तवान् "स्कन्धमारुह्यताम्" (भाग.पुरा. १०।२७।३९) इति. तेन इदम् उक्तं भगवता "सच अत्यन्तं नटवटुः यः स्वस्कन्धम् आरुह्य नरीनर्ति. तस्मात्

त्वया स्वस्कन्धमारोहणमेव कर्तव्यं ; तेन तव मनोरथसिद्धिः भविष्यति". भगवता तु इदम् उक्तम्. तया तु योग्यताम् अन्तरा एवं ज्ञातं यद् भगवता स्वस्कन्धारोहणमेव उच्यते. इदं ज्ञात्वा यदा प्रभुस्कन्धारोहणे इच्छां कृतवती तदा तस्या अपि अयोग्यतां ज्ञात्वा तत्रापि भगवान् तिरोहितो जातः. तस्य अर्थः— वाचिकं मानसिकं स्वरूपं तु तस्याम् अपि पूर्वमेव अन्तःस्थितं, कायिकं स्वरूपं तु बहिःस्थितं, तदपि अन्तःप्रविष्टम्. तदा तस्यां त्रिविधं तापात्मकं भगवत्स्वरूपमपि वर्तते, श्रीस्वामिनीस्वरूपमपि वर्तते. तत एव अतितापो जातः येन अतिविलापं कृतवती "क्वासि क्वासि" (भाग.पुरा. १०।२७।४०) इति. सा तु विलापं कृतवती तत्रैव स्थिता.

तासां का अवस्था जाता सा उच्यते. अन्तर्धानानन्तरं स्वसमीपे कायिकं भगवत्स्वरूपमपि नास्ति अथ च श्रीस्वामिनीस्वरूपम् अपि नास्ति तस्माद् अतितापेन अन्वेषणादिकं कृतवत्यः. अथ च भगवत्स्वरूपं श्रीस्वामिनीस्वरूपं तत्र एकस्यां वर्तते तेन कृत्वा तस्याम् ईर्ष्या जाता. पश्चाद् भगवान् एवं ज्ञातवान् "एते भक्ता अत्यार्ता". इति ज्ञात्वा तया संगमं चकार. तस्या यदैव मिलनं जातं तदैव तस्यां स्थितं भगवत्स्वरूपं श्रीस्वामिनीस्वरूपं च सर्वत्र अंशेन प्रविष्टं तदा सर्वे समा जाताः. तदैव सर्वेषाम् उपायः स्फुरितः "भगवान् गानप्रियो भवति गानेन प्रकटो भविष्यति". इति ज्ञात्वा गानं चक्रुः. तदापि भगवान् न प्रकटीबभूव. कथं? अन्तःस्थित्वा गानं श्रुतं ; प्राकट्ये प्रयोजनं नास्ति. तदा एतैः भक्तैः यदा रुदनं कृतं, निःसाधनता ज्ञाता तदा दीनतां दृष्ट्वा भगवान् प्रकटो जातः. तस्माद् अयं सिद्धान्तः— दीनताम् अन्तरा भगवत्प्राकट्यं न भवति. तर्हि एतेभ्यः भगवान् यदा प्रकटो जातः तदा लक्ष्म्या सह यत् स्वरूपं स्थितं तदपि अत्र आगतम्. तदा तत्स्वरूपम् इदं स्वरूपम् एकत्र जातम्. तर्हि भगवान् पूर्ववत् सप्तात्मकेन स्वरूपेण रासक्रीडां कृतवान्.

पश्चाद् रासक्रीडानन्तरं यदा अक्रूरः समागतः तदा अक्रूरेण साकं मथुरास्वरूपं तत्र गतं, व्रजस्थस्वरूपं तु अत्रैव स्थितम्. कुत्र स्थितं, तत् तु पात्रं विना न तिष्ठति! तत्र उच्यते— व्रजभक्तानां हृदये स्थितम्. परन्तु एतैः न ज्ञातम्. तस्माद् भगवान् मथुरां गत्वा उद्धवं प्रेषितवान्. तदा उद्धवसन्देशेन एतैः इदं ज्ञातं "भगवान् अस्मत्समीपे एव स्थितो वर्तते" इति. पश्चाद् उद्धवगमनानन्तरम् एते स्वभावस्य पात्रं कृत्वा प्रत्येकं तस्मिन् भगवन्तं स्थापयित्वा पूर्ववत् निरन्तरं रासक्रीडां कुर्वन्ति. अथ च एवं जानन्ति "भगवान् सदा अत्रैव वर्तते".

तस्माद् इदं ज्ञातव्यं— व्रजस्थस्वरूपं सदा अत्रैव वर्तते. अथ च मथुरास्थस्वरूपमपि तत्र लीलां कृत्वा द्वारकां गतवत्. द्वारकायामपि नित्यं स्वरूपं वर्तते. प्रभासलीला तु आसुरव्यामोहिका. आसुराणां मोहो भवति. अथ च येन भूभारं दूरीकृतं तत् कालात्मकस्य अंशस्यैव प्रभासलीला. तस्मात् व्रजस्थस्वरूपं, मथुरास्थस्वरूपं, द्वारकास्थस्वरूपं त्रयमपि नित्यम्.

। इति स्वरूपनिर्णयः ।

(वेणुनाद वर्ष २ अंक ६-७ इत्यत्र प्रकाशितः).

(ग-५) प्रभुप्रादुर्भावविचारः

अथ पुरुषोत्तमप्रादुर्भावविषये सुबोधिनीवाक्यं संशयशमनाय किञ्चित्कृपाबलेन निरूप्यते. "रसो वै सः" (तैत्ति.उप. २।७) इत्यादिश्रुतेः रसात्मा भगवान् श्रुतिसिद्धः. रसश्च शृङ्गार एव तच्छास्त्रसिद्धः, "शृङ्गार एव सर्वे रसाः" (. । ।) इति नाट्यसिद्धान्तात्. "शृङ्गं भावाङ्कुरो गूढः आरस्तु तद्गतो रसः स्युः शृङ्गारसंवलिता रसा हास्यादयो यदि" (. । ।) इति भरताचार्योऽपि यतः तथैव आह. सोऽपि "तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" (तैत्ति.उप. २।५) इति श्रुतेः साकार आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादिः आनन्दमयः. स एव "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्" (तैत्ति.उप. २।७) इति श्रुतेः आनन्दः. आनन्दानन्दमययोः ऐक्यं तु सितारस-तत्प्रतिमयोः इव वेद्यम्. अतएव श्रुतौ स एव रसात्मा शब्दद्वयेनापि व्यवह्रियते. स्वरूपत ऐक्येऽपि रस-पिण्डयोः इव भेदेन अनुभवः. एतावान् परं विशेषो यद् बहिः प्रकटं रूपं रसधर्मसहितम् 'आनन्दमय'शब्देन उच्यते, धर्मिमात्रं केवलभावरूपम् 'आनन्द'शब्देन इति. अतएव प्रभुचरणैः वेणुगीतविवरणे सुधास्वरूपनिरूपणप्रस्तावे अभिहितम् "आनन्द एव सा प्रकटा" (सुबो. १०।१८।५) इति, तस्याः भावात्मकभगवत्स्वरूपत्वात्. सएव एतदुभयशब्दप्रतिपाद्यो भगवच्छास्त्रे 'पुरुषोत्तम' इति उच्यते. "यस्मात् क्षरमतीतोऽहम्" (भग.गीता १५।१८) इति वाक्यात्, "यो माम् एवम् असम्मूढ" (भग.गीता १५।१९) इति वाक्याच्च.

तस्य च मूलभूतस्य प्राकट्ये अनुग्रहहेतुभूता स्वेच्छैव कारणं, "प्रादुरासं वरदराट् युवयोः कामदित्सया" (भाग.पुरा. १०।३।३८), "योगमायां समादिशद्" (भाग.पुरा. १०।२।६) इति वाक्यात्. प्रयोजनं तु प्राकट्यस्य लीलाभिः

पूर्वनिष्ठापरित्याजनपूर्वकम् अनुगृहीतेषु भक्तियोगविधानम् एव, "तथा परमहंसानाम्" (भाग.पुरा. १।८।२०) इति पुष्ट्यङ्गीकृत-पृथावचनात्. अन्येषां तदंशकलाऽऽवेशादि-रूपाणां तत्रैव तत्कार्यार्थं ब्रह्मादिप्रार्थनोत्तराविर्भूतेच्छया प्रादुर्भावः. कृष्णावतारः पूर्ण इति सर्वांशेन अत्र प्रादुर्भाव उच्यते. तत्तच्चरित्राणि च अग्रे अवतारे एव स्पष्टीभविष्यन्ति. एतदेव उक्तम् आचार्यैः "एवं सति सर्वेषां चरित्राणाम् अभिनिवेशो भवति" (सुबो. १०।२।१६) इत्यनेन. वदिष्यन्ति च अग्रे राजसप्रकरणोपक्रमे "प्रद्युम्नरूपो भगवान् वसुदेवहिताय हि" (सुबो. १०।३३।का. २) इति. अतो ब्रह्मप्रार्थनया भूभारहृतये "द्रक्ष्यामि गां द्यां च तवानुकम्पिताम्" (भाग.पुरा. १०।२।३८) इतिवाक्याद् धर्मरक्षाद्यर्थं च व्यूहचतुष्टयविशिष्टस्य वैकुण्ठस्थपुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावः. भूभारहरणादिकं तु तत्तद्व्यूहद्वारा तत्कार्यम् एव, अतएव तेषां निरोधहेतुत्वं, निरोधस्य मूलरूपलीलात्वेन तत्तत्कार्यत्वात्. तस्यैव च पुनः ब्रह्मादिप्रार्थनया यादवकुलं मायया उपसंहृत्य वैकुण्ठगमनम्.

पुरुषोत्तमस्तु "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या" (भाग.पुरा. ९।४।६६) इति वाक्याद् भक्तिमात्राधीन इति भक्तैः सह लीलां कुर्वन् लीलास्थाने एव विराजते. साक्षात्कारस्तु तदा न अवतारकारणीभूत-सामान्येच्छया किन्तु भक्त्यैव, "भक्त्या त्वनन्यया शक्य" (भग.गीता ११।५४) इति वाक्येन अवतारसामयिक-दर्शनसमयेऽपि अनन्यभक्तेः एव दर्शनहेतुत्वनिरूपणात्. अतएव शुकोऽपि सर्वान्ते "जयति जननिवास" (भाग.पुरा. १०।८७।४८) इति श्लोकेन सकललीलासहितस्य सर्वोत्कर्षेण वर्तमानत्वम् उपदिष्टवान्. अन्यथा लीलाकरणानन्तरं भगवान् इदानीं क्व आस्ते इति संशय उदियात्. प्रभासीयकथा तु व्यामोहिका एव, "विद्धि मायामनोमयम्" (भाग.पुरा. ११।७।७) इति वाक्यात्.

तत्र यादववंशसम्बन्धार्थं प्रद्युम्नो देवक्याम् उत्पन्न उक्तः "देवक्यां विष्णुरूपिण्याम्" (भाग.पुरा. १०।३।८) इत्यनेन. भगवता अपि उक्तं "देवक्याः पुत्रतां शुभ" (भाग.पुरा. १०।२।९) इत्यादि योगमायाऽऽज्ञापनसमये. न हि साक्षात् पुरुषोत्तमः पुत्रो भवति, विशुद्धसत्त्वम् अधिष्ठाय एव तस्य प्रादुर्भावात्. गर्भस्थितिस्तु प्रद्युम्नांशेन, अतएव "देवकीजन्मवाद" (भाग.पुरा. १०।८७।४८) इति विशेषणं भगवति शुकेन उक्तम्. श्रीमदुद्धवैः अपि श्रीनन्दादिमनःसमाहितये स्वरूपज्ञानम् उपदिशद्भिः अभिहितं "न माता न पिता" (भाग.पुरा. १०।४३।३८) इत्यादि. धर्मरक्षारूप-देवकार्यकरणाय अनिरुद्ध उत्पन्नः "मनांस्यासन् प्रसन्नानि" इति आरभ्य "जायमानेजने" (भाग.पुरा. १०।३।५) इत्यन्तेन उक्तः. सङ्कर्षणोऽपि

सात्त्विककल्पाधिष्ठातृरूपेण सलिलशायिविष्णुः स्वकलाशेषसहितो अविद्यानिवृत्तिद्वारा मुक्तिदायकः सर्वप्रलयकर्तृत्वाद् अविद्याप्रलयकृद् भगवत्प्रियचिकीर्षया प्रादुर्भूतः "निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दन" (भाग.पुरा. १०।३।८) इत्यनेन उक्तः. अतएव व्रजे तस्य गमनं गर्भसंकर्षणाद्, भगवत्प्रियचिकीर्षायाः तत्रैव पूर्णत्वात्. अतः पूतनादिमारणरूपम् अविद्यातदध्यासनिवर्तनं तेन रूपेण कृतम् इति ज्ञायते. मुक्तिदानं तु वासुदेवाद् एव. "आविरासीद्" (भाग.पुरा. १०।३।८) इत्यनेन सर्वधर्मसहितः पुरुषोत्तमः प्रादुर्भूत उक्तः. अतएव "तमद्भुतम्" (भाग.पुरा. १०।३।९) इत्यादिना तथा रूपम् अग्रे वर्णितम्. पुरुषोत्तमप्रादुर्भावाभावे केवले प्रद्युम्नांशे तथारूपाभावाद् एतद्वर्णनम् अनुपपन्नं स्यात्.

तत्र संकर्षणे सात्त्विककल्पाधिष्ठातृ-वासुदेवानुशयनं च इति शय्यारूपेण दास्यकरणाद् भक्तत्वेन भक्तेषु इव कदाचित् मूलभूतावेश इति आवेशचरित्रम् अपि अत्र अस्ति इति ज्ञेयम्. अतएव बलस्य अन्तरङ्गलीलासम्बन्धित्वं निरूपितं मूलरूपावेशात्. परन्तु कदाचिदेव आवेशः, अन्यथा साम्यसम्भवेन "हरेः प्रियचिकीर्षया" (भाग.पुरा. १०।१।२४) इति वाक्यसूचितान्तरङ्गभक्तत्वम् अनुपपन्नं स्यात्. आवेशस्तु भगवता एव "अहो अमी" (भाग.पुरा. १०।१२।५) इत्यादिवाक्यैः तस्मिन् स्वासाधारणधर्मनिरूपणाद् अवसीयते. एतेन भक्तेषु आविश्य येन रूपेण चरित्रं करोति तदपि रूपम् अत्र अस्ति इति ज्ञेयम्. अर्जुनसाहित्येन भारतीय-भूभारहरणरूप-कार्यकरणार्थं सितकृष्णकेशसंकर्षणकलागमनं च अर्जुने भगवति च, "ताविमौ हि भगवतो हरेरंशाविहागतौ" (भाग.पुरा. ४।१।५९) इति वाक्यात्.

केवलपुरुषोत्तमोऽपि नन्दभवने प्रादुर्भूतो मायासहितः. वसुदेवगृहेऽपि प्रादुर्भूतं धर्मविशिष्टं स्वस्वरूपं धर्मिरूपे अन्तर्भावयितुम्. सएव "बभूव प्राकृतः शिशुः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इत्यनेन उक्तः. एतच्च "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मज" (भाग.पुरा. १०।८।१४) इति सर्वं गर्गवाक्याद् एव गम्यते. अन्यथा 'तवात्मज' इति न वदेत्. अग्रे च "तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते" (भाग.पुरा. १०।८।२०) इति. अन्यथा स्वामिनीनां "यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्ध-लक्ष्मी" (भाग.पुरा. १०।२८।१०) "देवकीजठरभूः" (भाग.पुरा. १०।३२।२३) इति निरूपणं न उपपद्येत, श्रुतिरूपाणां तासां परमाप्तत्वात्. अतएव वसुदेवगृहेऽपि तदा मूलरूपप्रादुर्भावः. तत्प्रयोजनं तु वसुदेव-देवक्योः विरहेण एकादशवर्षपर्यन्तं बाललीलाभावनं धर्मविशिष्टस्वरूपान्तर्भावनं च. पूर्वं वसुदेव-देवक्योः धर्मविशिष्ट-स्वरूपप्रदर्शनं तु तयोः वरदानसामयिकरूप-ज्ञानानुव्यवसायजननाय पूर्वकथनाय च

इति बोध्यम्.

अथ "नन्दगृहे वासुदेवः" (सुबो. १०।३।८), "वासुदेवो अत्रैव आविर्भूत" (सुबो. १०।५।१) इति स्थलद्वये विचार्यते. वासुदेवव्यूहस्य वसुदेवगृहे तदानीम् अग्रिमलीलायां चरित्राभावात् न प्रादुर्भावः, प्रयोजनाभावात्. तत्प्रयोजनं तु साक्षान्मुक्तिदानात् न तत्प्रयोजनं पश्यामः. अतएव "पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य" (भाग.पुरा. ३।२।२०) इत्यादिवचनानि संगच्छन्ते. व्रजे तु मायासहितः पुरुषोत्तमः प्रादुर्भूत इति पूतनादिमुक्तिदानाय वासुदेवापेक्षा इति नन्दगृहे तत्प्रादुर्भावो वाच्यः. ततो मायावृतपुरुषोत्तमो वासुदेवाधिष्ठानम् इति गम्यते. वासुदेवस्य विशुद्धसत्त्वात्मकत्वेन तदधिष्ठानता उपपद्यते. अतएव सुरेश-नलकूबर-वरुणप्रभृतीनाम् अपि अत्र पुष्टिलीलास्वरूपदर्शनम्. अन्यथा व्रजजनानामेव तद्दर्शनं स्यात्. अतो वासुदेवप्रादुर्भावो अत्र युक्त्या साधितः. अतएव "सिद्धान्त" (सुबो. १०।५।१) इति कथनम्.

ननु तथापि नन्दगृहे वासुदेवाविर्भावे किं प्रमाणम् इति चेद्, धराद्रोणदशायां ब्रह्मप्राप्तवर-सार्थकत्वान्यथोपपत्तिः एव. अन्यथा पुरुषोत्तमस्य वरणानुकूल-स्वेच्छामात्रप्राप्यत्वात् तद्वैयर्थ्यमेव स्यात्. अतएव तत्र शुकेन "पुत्रीभूते जनार्दने" (भाग.पुरा. १०।८।५१) इति उक्तम्. पुत्रत्वभवनं तु न साक्षात्पुरुषोत्तमे घटते, तत्र भावस्यैव सर्वरूपत्वात्. अतएव "न माता न पिता" (भाग.पुरा. १०।४३।८) इत्यादि उद्धववाक्यानि संगच्छन्ते. भगवान् भावात्मा इति भक्तजनभावितं तत्र सर्वमेव उपपद्यते इति न अनुपपत्तिः उद्भावनीया. एतदेव श्रीभागवते "यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" (भाग.पुरा. ३।९।११) इत्यनेन अभिहितम्. श्रीमदाचार्यवर्यैः अपि "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न" (भाग.पुरा. १०।५।१) इत्यत्र "आत्मनः सकाशाज्जातः पुत्र इति नन्दस्य बुद्धिः" (सुबो.) एव वर्णिता.

नन्दगृहे पुरुषोत्तमाविर्भावप्रमाणं तु योगमायाऽऽज्ञापनं तत्र तत्प्रादुर्भावश्च, मायाप्रादुर्भावे तस्या भगवदावरणरूपत्वेन आव्रियमाणरूपसहितत्वात्. अन्यथा सा कस्य आवरणं स्यात्? भिन्नतया तत्स्थितिस्तु न घटेत, मूलरूपशक्तित्वात्. न हि कापि शक्तिः शक्तिमन्तम् अपहाय तिष्ठति. वस्तुतस्तु "प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वाद्" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२८) इतिन्यायेन शक्ति-शक्तिमतोः अभेद एव इति क्व भेदेन स्थितिसम्भावना! मायायाः शक्तित्वं तु "श्रिया पुष्ट्या" (भाग.पुरा. १०।३६।५५) इति वाक्येन निश्चीयते. अतएव उक्तम् आचार्यैः निबन्धे "माया कृष्णस्य" (त.दी.नि. ३। ।) इति. एतद् अभिसन्धाय एव उक्तं "माययैव

रूपान्तरम्'' (सुबो. १०।२।१६) इति, ''मायानिरूपणेनैव तस्य उत्पत्तिः निरूपिता'' (तत्रैव) इति. एतदर्थस्तु नन्दगृहे 'मायानिरूपणेन' तत्प्रादुर्भावनिरूपणेन 'तस्य' केवलपुरुषोत्तमस्य तया आव्रियमाणस्य तदुत्पत्त्या 'उत्पत्तिः निरूपिता' इति. अतएव पृथक्तदुत्पत्तिज्ञानाभावः सर्वेषाम्. व्रजस्थानामेव तज्ज्ञानम्, अतएव सर्वैः तथोत्सवकरणम्.

साधारणप्रादुर्भावस्तु स्वस्य केवलरसात्मकत्वबोधनाय, रसस्य गुप्तताया एव रसत्वसाधकत्वात्. अतएव आविर्भूतेऽपि रूपेण तद्रूप-पीताम्बरसद्भावः. तथाच वात्स्यायनः ''गुप्तो हि रसो रसताम् आपद्यते'' (कामसूत्र । ।) इति. सच आलम्बनविभावद्वयभेदेन उभयरूपत्वम् आविर्भाव्य लीलासृष्टौ श्रुतीनाम् अग्निसुतानां च कृपया संयोगरसम् अनुभावयितुं तेन च पोषकेण केवलविरहरसं च दातुं नन्दगृहे वृषभानुगृहे च प्रादुर्भूतः. अन्यथा व्रजे स्वामिनीनाम् उभयविधानां संयोगरसानुभवो न स्यात्, मूले तदनाविर्भावात्. संयोगरसानुभवानन्तरभावी स्वतन्त्रविरहरसानुभवश्च न भवेत्. द्वितीयालम्बनाविर्भावे तु आवरणे विग्रह एव आनन्दमयः, सितारसस्य तन्मूर्तिः इव, मूर्तीभूते रसत्वस्य अस्फूर्तेः. यथा भगवतो रसात्मकस्य मायया सर्वभवनसामर्थ्यरूपया रूपान्तरम् अन्यद्रूपम् अनन्तमूर्तित्वात् नतु प्रदर्शनमात्रं, तथा मुख्यस्वामिन्या अपि द्वितीयालम्बनविभावत्वेन रसात्मिकाया अनन्तरूपत्वाद् रूपान्तरस्य संयोगसिद्धये अप्राकृताखिलसामग्रीसहितस्य प्रादुर्भाव इति न अनुपपत्तिः काचित्.

एतेन इतो वसुदेवेन मायानयने निरधिष्ठानस्य रसस्य दर्शनम् अनुपपन्नम् इति अनुपपत्तिः परास्ता, वासुदेवस्य तदधिष्ठानस्य तत्र सत्त्वात्. माया तु लीलायां रसपोषाय इतराज्ञानाय च मध्यस्थतया स्थास्यति. ननु मायायाः तत्र गमने तत्रापि तदावरणीय-रूपान्तरसत्त्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, तत्र मायाया गमनमात्रं रविकराणाम् इव, न आविर्भावः. अतः कंसकराद् उड्डीय अम्बरगमनानन्तरं लीलोपयोगित्वेन व्रजे एव तद् अवस्थितिः, ''गच्छ देवि व्रजं भद्रे'' (भाग.पुरा. १०।२।७), ''अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वाम्'' (भाग.पुरा. १०।२।१०) इत्यादि भगवद्वचनात्. अतएव फलप्रकरणे ''योगमायामुपाश्रितः'' (भाग.पुरा. १०।२६।१) इति उक्तम्. तत्र पुनरावरणाभावस्तु लीलार्थमध्यस्थतया समीप एव स्थापनात्. अतएव उक्तं पञ्चाध्याय्यां विवरणे ''योगमायां च समीप एव आश्रित्य स्थितः'' (सुबो. १०।२६।१) इति आचार्यैः. प्राप्तवराणां चिरकालदिदृक्षार्तितापभरेण तत्रत्यानां श्रुतीनाम् अग्निकुमाराणां च हृदयैः ''भावैरङ्कुरितम्'' (शृङ्गाररसमण्डन-

मंगलाचरणम्) इतिपद्योक्तरीत्या यद्रूपं तद् भावात्मकम्. तदपि तासां नन्दगृहे समागमनेन दर्शनानन्तरं तत्र आयतम् इति "गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता" (भाग.पुरा. १०।५।९) इत्यादिभिः निरूप्यते. तथाच नन्दगृहे वासुदेवाधिष्ठानः पूर्वं, पश्चात् तदागमनानन्तरं निरधिष्ठानः तद्भावात्मकम् अपि आगत इति द्वयम् अपि अत्र रूपं संक्रान्तम् इति यथाधिकारं व्रजे अपि सर्वत्र अनुभव इति अलम् उक्त्या.

अत्र वासुदेवाविर्भावाभावे बाधकं तर्कम् आहुः "अन्यथा" इति. वासुदेवानाविर्भावे केवला माया वासुदेवसम्भिन्ना ; तया 'जनितं स्तन्यं भगवान्' पुरुषोत्तमः शुद्धपदार्थाभावात् 'कथं पिबेद्' इत्यर्थः. अत्र अयम् आशयः. पुरुषोत्तमस्य तु साक्षाज्जननाभावात् न स्तन्योत्पत्तिनिमित्तता. मायायास्तु "यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यति" (भाग.पुरा. १०।२।९) इति वाक्यात् जननम् अस्ति इति स्तन्योत्पत्तिहेतुत्वात् तत्र वासुदेवानाविर्भावे केवलमायाजनितस्तन्ये भोगमात्रसाधकस्य लौकिकस्नेहसम्भवस्य शुद्धिहेतुत्वाभावाद् अन्तःस्थितबालकशुद्ध्यर्थम् अलौकिकरस-भोक्ता श्रीमत्त्वेन भगवान् 'न पिबेत्' न अङ्गीकुर्याद् इति. एतेन भगवतो भोगाभावेन अलौकिकेन समर्पितस्य भक्तार्थमेव तेषु कृपया न स्वार्थम् अपि इति निरूपितं भवति.

किञ्च निःसाधनत्वं तु व्रजस्थानां, देवकी-वसुदेवादिवत् तपःकरणाद्यभावात्. श्रुतिरूपाणां कुमारिकाणां तदनुगतानाम् अन्येषां च अर्थे प्रभुः एव स्वोद्यमेन प्रादुर्भूत इति तासु तदीयेषु च सर्वथा मन्तव्यम्. अतएव उक्तम् अस्मत्स्वामिचरणैः श्रीभागवतविवृतिटिप्पण्यां "निःसाधनफलात्माऽयं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुले अतो वयं निश्चिन्ता जाता सर्वत एव हि" (टिप्पणी १०।५।३०) इति.

ननु "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव मायया सह जात" (सुबो. १०।२।१६) इत्युक्तेः सहैव भगवता अष्टम्याम् एव तदाविर्भाव इति "नवम्यां च सा जाता" (सुबो. १०।३।४७) इति अग्रिमग्रन्थो अनुपपन्न इति चेद्, उच्यते. मायाया जननं पार्थक्येन स्थितौ भवति, नतु भगवता सह. अतएव तृतीयया प्राधान्यम् उक्तम्. भगवत एव तदावृतस्य अष्टम्याम् आविर्भावः. सा तु पृथक्कृतया वसुदेवेन इतो नयनानन्तरं जाता इत्याशयेन "नवम्यां च सा जाता" इति उक्तम्. अतएव "पुत्रोत्सवादिकं तु शुद्धनवम्याम् एव जातम्" (सुबो. १०।३।४७) इति उक्तम्. तस्यां पृथग्भूतायाम् एव भगवद्दर्शनं तदनन्तरम् एव च उत्सव इति न अनुपपत्तिः काचित्. किञ्च धराद्रोणयोः अपि अधिष्ठानभूतयोः स्वामिनीहृदयस्थयोः तद्भावात्मकयोः श्रीनन्दयशोदयोः आवेश इति केनापि अंशेन

अत्र न संशयितव्यं सेवकसुधीभिः इति दिक्.

इति श्रीवल्लभाचार्यकृपामात्रावलम्बनः ।
हरिदासश्चकारेमं विचारं विवृतौ मुदा ॥
तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वामिनो विट्ठलेश्वराः ।
स्वामिन्यः स्वामिसंयुक्तास्तथा तदनुवर्तिनः ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवर्य-श्रीविट्ठलचरणरेणुसाभिलाष-
दासानुदासश्रीहरिदासविरचितः प्रभुप्रादुर्भावविचारः समाप्तः.

(वेणुनाद वर्ष १ अंक २ इत्यत्र प्रकाशितः).

(ग-६) भगवत्प्रादुर्भावसिद्धान्तः

अथ श्रीकृष्णजन्मसमयभगवत्प्रादुर्भावविचारः. "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" (भाग.पुरा. १०।५।१) इत्यस्य आभासे **पितुः पुत्र** इत्यादि. तत्र अयम् आशयः. ननु नन्दगृहे मायामात्रप्रादुर्भावश्रवणेन भगवतो वसुदेवपुत्रस्य तेन अत्र स्थापनाद् दत्तपुत्रत्वात् कथं जातकर्मकरणम् इति चेद्, उच्यते. अस्ति हि नन्दगृहेऽपि प्रभोः प्रादुर्भावः, प्रयोजनात्. तच्च निःसाधनजनोद्धारः. सच तत्रैव सम्भवति, वसुदेवादीनां तपःकरणादिना भवान्तरे ससाधनत्वात्. उभयेषाम् अपि उद्धारविषयत्वेऽपि निःसाधनानां प्रभुपरत्वेन अभ्यर्हितत्वात् प्रथमं तत्र लीलाकरणम्. ननु आगतरूपेणैव तदुपपत्तौ किमर्थम् अत्र प्रादुर्भावोक्तिः इति चेत्, वंशसम्बन्धित्वेन तत्र प्रादुर्भावात् तयैव रीत्या लीलाकृतिः सम्भवेत् तेन रूपेण. प्रकृते तु सा न घटते, नन्दादीनां वैश्यत्वेन क्षत्रियकुलोत्पन्नस्य प्रभोः विवाहादिसम्बन्धायोग्यत्वात्. उद्धारश्च एतेषाम् अपि आवश्यकः स्वदत्तश्रुतिगणवर-सार्थकत्वाय, निःसाधनजनोद्धृतिहेतु-प्राकट्यवत्त्वात्. अतएव शुकादीनां भगवत्कृतितत्त्वविदुषां तथा वचनानि.

ननु प्राकट्यं हि प्रभोः मायापसारणेन, तत् कथम् अत्र **मायया सह जात** इत्युक्तिः इति चेत्, सत्यम्. पुरुषोत्तमप्राकट्यं हि द्विधा— स्वस्वरूपज्ञापनार्थं लीलार्थं च. यत्र हि स्वरूपज्ञापनं तत्र तदपसारणेन तथा, तस्याः तद्विरोधित्वात्. लीलार्थप्राकट्ये तु मायासाहित्येनैव सा सिद्ध्यति, अन्यथा तदभावे स्वरूपज्ञानात् तत्र लयात् सा न सिद्ध्येत्. इदमेव ज्ञापयितुं तत्साहित्येन प्रादुर्भाव उक्तः. अतएव साम्प्रतं स्वज्ञानं सम्पादनीयम् इति वसुदेवद्वारा तदपसारणम्. तत्र गतायाः कंसज्ञापनादि-स्वकार्यकरणोत्तरं पुनः तत्रैव गमनं लीलास्थलसमीकरणाय. अन्यथा "गच्छ देवी" (भाग.पुरा. १०।२।७) इत्यादिवाक्यानि अनुपपन्नानि स्युः. परन्तु

तत्स्थितिः व्रजे देवतारूपेण, न भगिनीत्वेन, "अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वाम्" (भाग.पुरा. १०।२।१०) इति वाक्यात्. अग्रे च अतएव फलप्रकरणे शुकः कथयिष्यति लीलोपयोगितां "योगमायामुपाश्रितः" (भाग.पुरा. १०।२६।१) इत्यनेन.

ननु प्रभो रसात्मनः सालम्बनाभावे कथं प्राकट्यसम्भवः इति चेत्, वासुदेवव्यूहस्य शुद्धसत्त्वात्मकस्य अत्र प्रकटितस्य तत्स्थानीयत्वात्. ननु वासुदेवस्यैव अत्र प्राकट्ये किं मानम् इति चेत्, तत्र "तवात्मजो वासुदेवः" (भाग.पुरा. १०।८।१४) इति समभिव्याहारात् तथा अवगम्यते. "वसुदेवस्य क्वचिज्जातः", मथुरायाम् एव विशुद्धसत्त्वाधिष्ठानेन प्रादुर्भावात्, अग्रे तु प्रद्युम्न एव. प्रकृते तु "तवात्मजो" वासुदेव एव, न प्रद्युम्नः, वंशसम्बन्धित्वाभावाद् इति सर्वं सुस्थम्.

अशेषः संशयः छेद्यो जन्मने शेषशायिनः ।
उभयत्र निजाचार्यकृपयोक्त्या मदीयया ॥

। इति श्रीहरिदासोदितः भगवत्प्रादुर्भावसिद्धान्तः सम्पूर्णः ।

(वेणुनाद वर्ष १ अंक ६ इत्यत्र प्रकाशितः).

(ग-७) जन्माष्टमीनिर्णयः

अथ किञ्चिद् विचार्यते. तथा जन्माष्टमीनिर्णयस्तु सर्वसाधारणो वैष्णवस्मार्तविषयको जन्माष्टमी-जयन्तीभेदेन माधवाचार्यादिभिः पूर्वमेव कृतः तिष्ठति. तत्रापि पुनः श्रीमदस्मत्प्रभुभिः विशेषतः प्रमाणपूर्वकः स्वमार्गीयः कृतः. तत्र सर्वथा सप्तमी विद्धा त्याज्या इति शुद्धाष्टम्यभावे शुद्धैव नवमी उपोष्या अवमपक्षे, अष्टमीवृद्धिक्षये पूर्वैव कर्तव्या त्यागहेतोः वेधस्य अभावाद् इति निर्णीतम्.

तत्र केचन अन्ये वदन्ति. तथाहि— यथा अवमपक्षे शुद्धा नवमी उपोष्या तथा वृद्धिपक्षेऽपि नवमीसंयुक्तैव ग्राह्या, नतु पूर्वा. तत्र हेतुः "नवमीयुक्ता कर्तव्या" इति उक्तत्वात्, पूर्वेद्युः नवमीयुक्तत्वाभावात्. तत्रापि विशेषः "उत्सवस्तु नवम्यामेव जात" इति श्रीमदाचार्योक्तत्वात्. किञ्च नन्दगृहे प्रादुर्भावोऽपि नवम्यामेव जातः. "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव मायया सह जात" (सुबो. १०।२।१६) इति श्रीमदाचार्योक्तेः मायाप्राकट्यं नवम्यामेव इति अष्टमीवृद्धिपक्षेऽपि नवमीसंयुक्ता इव कर्तव्या, नतु पूर्वेद्युः शुद्धापि इति सिद्धान्तः. यदि उच्यते अस्मत्प्रभुभिः तथा निर्णयः कृतो वर्तते तत् तु मर्यादापुष्टिमार्गभेदेन निर्णीतम्. तत्र मर्यादामार्गीयाणां पूर्वेद्युरेव, पुष्टिमार्गीयाणां नवमीयुक्ते च इति विवेकः.

एवं प्राप्ते उच्यते. प्रथमं तावत् पुष्टिमार्गं विचारय. तत्स्वरूपविचारे कृते तेषां तु भगवत्स्वरूपव्यतिरिक्तम् अन्यद् व्रतमेव नास्ति. अस्ति चेद् एकं कात्यायनीव्रतं, न अन्यत् किमपि साधनमार्गीयं ; तदपि स्वरूपात्मकमेव इति विवृतम्. अत्रत्ये तद्व्रतनिर्णयो जीवाधिकारत्वेन क्रियते. पुष्टिमार्गीयाणां तु व्रतत्वेन करणमेव न उक्तम्. जीवाधिकारत्वे तु यथोक्तमेव कर्तव्यम्. यथोक्तकरणे तु पूर्वेद्युरेव आयाति, त्यागहेतोः वेधस्य अभावाद् इति उक्तेः. अन्यथाकरणे तदुक्तबाधः. यदि स्वस्मिन् पुष्टिमार्गीयत्वाभिमानः तदा व्रतत्वेन करणमेव न सम्भवति. पुष्टिमार्गीयाभिस्तु न कृतम् इति अलं विस्तरेण. यदि वदसि "नवमीसंयुक्तैव ग्राह्या इति तत्र नियमः" तत्रापि उच्यते— नवमीसंयुक्तं तु विद्धानिषेधपोषणार्थम्. नतु अयं व्रते नियमः, "अविद्धायां त्वर्क्षायां जातो देवकीनन्दन" (. । ।) इति उक्तत्वात्. अवेधे एव नवमीयुक्तत्वाद्, अन्यथा 'अविद्धा'पदं न उच्येत. 'नवमीयुक्तायाम्' एव उक्तं स्यात्. तेन तात्पर्यं विद्धानिषेधे, नतु व्रतविधाने.

यदि उच्यते "उत्सवस्तु नवम्यां जात इति तथा करणं" तत्रापि शृणु. पुत्रोत्सवादिकं नवम्यां जातम् इति उक्तम्, नतु प्राकट्यम् उक्तम्. तेन उत्सवस्तु नवम्यां जातः, प्राकट्यं तु अष्टम्यामेव इत्यर्थः. किञ्च ऊनषष्टिघटिका चेद् अष्टमी तदा अष्टम्याम् एव उत्सवः क्रियते, नतु अष्टम्यनन्तरं नवम्याम्. उक्तं तु "उत्सवस्तु नवम्यामेव जात" इति. अतो नवमीयुक्तत्वनियमो व्रते नास्ति किन्तु विद्धानिषेधे एव तात्पर्यम्. यदि ब्रवीषि "प्राकट्यमपि नवम्यामेव जातं" तत् न वक्तुं शक्यं, "मुहूर्तानन्तरं सा जाता" (सुबो. १०।३।४७) इति श्रीमदाचार्यवचनविरोधात्. यदि सर्वथा नवम्यामेव प्रादुर्भावः स्यात् तदा व्रतमपि नवम्यामेव कुर्युः ; किमर्थम् अष्टम्यां व्रतविचारः कृतः ? अतएव शुद्धाष्टम्यभावे शुद्धैव नवमी उपोष्या इति उक्तं, नतु शुद्धायां सत्याम्.

तर्हि "मायया सह जात" इत्यस्य का गतिः ? तत्रापि उच्यते— भगवतः प्राकट्यगोपनार्थं मायायाः सहभावमात्रं, नतु एककालिकं जन्म. तथा सति यशोदादीनां मोहासम्भवः, भगवत्प्राकट्यस्य तथास्वभावत्वात्. अतएव पूर्वं भगवत्प्राकट्ये मायाधर्माः सर्वे निवृत्ताः, पुनः श्रीदेवकीगृहात् निर्गमे मायाप्राकट्ये ते धर्मा जाताः. अतो नन्दगृहे अष्टम्यामेव जन्म परन्तु मायया आवृतम्. अयमेव मायायाः सहभावः. तस्मिन्नेव समये वसुदेवगृहेऽपि प्राकट्यस्य कार्यं स्थितम् इति तत्र मायोद्घाटनेन प्रकटो जातः. सएव पुनः प्राकृतशिशुः भूत्वा

श्रीयशोदागृहे मायानिर्गमे सति प्रकटः. द्विविधमपि स्वरूपम् एकमेव. एतदेव उक्तं "द्विगुणो भगवान् अत्र प्रादुर्भूत इतीर्यते" (सुबो.) इति "तमद्भुतम्" (भाग.पुरा. १०।३।९) इत्यत्र. 'अत्र' इति पदेन द्विगुणस्यापि प्रादुर्भावो अष्टम्यामेव इति सूचितम्. अत्रापि भिन्नतया प्राकट्ये स्वरूपद्वैविध्यापत्तिः. तत् तु कुत्रापि न उक्तम्. अतएव "मायानिरूपणेन एतस्यापि उत्पत्तिः निरूपिता" (सुबो. १०।२।१६) इति उक्तं, नतु पृथक्त्वेन. उत्पत्तिस्वरूपं तु वसुदेवेन आनीतस्य स्वरूपस्य मायानिर्गमे पुत्रत्वेन उत्पत्तिज्ञानमेव इति. एतदेव "मायायां निर्गतायां यशोदा प्रबुद्धा पुत्रं ज्ञातवती" (सुबो. १०।५।१) इति उक्तम्. ततः सर्वेषु ज्ञापितेषु अनुपदमेव "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" (भाग.पुरा. १०।५।१) इति उक्तम्. एतत् सर्वं विवृतौ विशेषतः टिप्पण्यां स्फुटीकृतम् इति सर्वम् अनवद्यम्.

किञ्च "निशीथे तम उद्भूते" (भाग.पुरा. १०।३।८) इत्यत्र अस्मिन् सन्दर्भे अवतारत्रयम् उक्तम्. नन्दगृहे वासुदेव इति सर्वरूपेणापि आविर्भूतो भगवान् इति उक्तम्. यदि नन्दगृहे वासुदेवप्राकट्यं नवम्यां भवेत् तदा सर्वरूपेण आविर्भावो वसुदेवगृहे न घटेत. "दासीनां सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य तादृशः प्रादुर्भूतो मम स्वामी" (सुबो.का. १०।३।८) इति श्रीमदाचार्या अपि न वदेयुः. "तमद्भुतम्" (भाग.पुरा. १०।३।९) इति श्लोकद्वये द्वादशविशेषण-तात्पर्यविवरणे "सर्वप्रकाशक-श्चैव कालात्मेन्द्रियनायकः आत्मा कार्यं च भूतानि अहं तत्त्वमुभौ त्रय" (सुबो.का. १०।३।९) इत्यत्र लीलास्थभक्तानां सर्वरूपत्वं निरूपितं तदपि न संगतं भवति.

किञ्च यदि सर्वथा पृथक्त्वेन नन्दगृहे नवम्यां प्रादुर्भावः स्यात् तदा "देवकीजठरभूरुडुराजः" (भाग.पुरा. १०।३२।२३) इत्यत्र विवरणे "देवक्यां परन्तु सुखदो अस्माकमेव" (सुबो.) इति न वदेयुः, नन्दगृहजातस्यैव तथात्वात्. किञ्च "तमद्भुतं बालकम्" (भाग.पुरा. १०।३।९) इत्यत्र "लोकवेदप्रसिद्धस्तदती-तश्च प्रादुर्भूत" (सुबो.) इति उक्तम्. सएव नन्दगृहे प्राकृतशिशुः भूत्वा प्रकटः. अतः परम् एतद्भिन्नत्वेन नवम्यां प्रकटः स कीदृग्रूप इति न ज्ञायते इति अलम् उक्तिपल्लवितेन.

यथामतिविचार्यैतल्लिखितं सत्सुहृत्तमैः ।
विलोक्य मार्जनीयं तत् प्रभुवाक्यं सुदुर्गमम् ॥

। इति श्रीहरिरायविरचितो जन्माष्टमीनिर्णयः ।

(वेणुनाद वर्ष १ अंक ९ इत्यत्र प्रकाशितः).

(ग-८)

श्रीकृष्णाय नमः । "निलायनैः" (भाग.पुरा. १०।११।४९) इत्यस्य विवरणे "ब्राह्मणोपि" (सुबो.) इत्यादेः टिप्पणे कारिकाभिः अर्थनिरूपणे **सूक्ष्मरूपेण** इत्यादि.

सूक्ष्मरूपेण विश्वासमुत्पाद्य प्रतिबन्धके ।
तेनैवापगते स्वेष्टरूपमाविष्करोति हि ॥१॥

अत्र ब्राह्मण-क्षत्रियभवनयोः तात्पर्याणि यथाक्रमं निरूप्यन्ते परोक्षवाद-प्रकाशनाय. तत्र यथा ब्राह्मणो नम्रतादिभिः कृत्रिमसूक्ष्मरूपेण स्वस्मिन् विश्वासम् उत्पाद्य स्वकार्यप्रतिबन्धकनिवर्तकः – यतः सर्व एव "शुद्धः साधुः प्रशान्तः, न च एतस्मात् किञ्चन अन्यथा भविष्यति" इति बुद्ध्या तादृशं तं विश्वस्य परिजननिकटस्थमपि रहसि विहाय स्वस्वकार्याय अव्यग्रा गच्छन्ति – तथा भगवानपि कृत्रिमतया अङ्गस्थापनादिना स्वस्मिन् शुद्धत्वादिकं विबोध्य सर्वेषां विश्वासम् उत्पाद्य स्वलीलाप्रतिबन्धकनिवर्तक इत्यर्थः. तदेतद् उक्तं **सूक्ष्मरूपेण** इत्यारभ्य **तेनैवापगत** इत्यन्तेन. **तेनैव** इति विश्वासोत्पादनेन, नतु सामर्थ्यादिना इत्यर्थः. क्षत्रियभवनतात्पर्यमाहुः **स्वेष्टरूपम्** इति. यथा क्षत्रियः स्वकीयानाम् अन्यतः स्वतो वा अत्यार्तौ तन्निवर्तनाय स्वस्मिन् विद्यमानमेव तदनुकूल-सामर्थ्यादिविशिष्टं युद्धोपयिक-सकलसामग्रीसहितं तदिष्टं रूपं तत्प्रतिबन्धके निवृत्ते सुखे भाविनि प्रकटयति तथा भगवानपि स्वतः परतो वा स्वजनार्तौ तदभावाय स्वस्मिन् विद्यमानमेव रसोपयोगि-सकलसामर्थ्यवन्-मन्मथायोधनानुकूल-सकलसामग्रीविशिष्ट-निजजनेष्टं रूपं तत्प्रतिबन्धकापगमे प्रकटयति इत्यर्थः ॥१॥

ननु एकरसस्य ब्रह्मणः एवंकरणे किं तात्पर्यम् इत्याशङ्क्य आहुः **भक्तार्तिहृतिः** इत्यादि.

भक्तार्तिहृतिरिष्टाप्तिः फलं तदितरेष्वपि ।
निरोध्येषु प्रभौ दोषारोपाभावः फलं त्विह ॥२॥

अत्र हि द्वयं कर्तव्यं— भक्तानाम् आर्तिहृतिपूर्वकम् इष्टप्रापणं, तदतिरिक्त-निरोध्यनिष्ठ-प्रभुविषयक-दोषारोपाभावश्च. तत्र प्रतिबन्धकाभावाय ब्राह्मण-त्वाप्राकट्ये प्रतिबन्धकसद्भावेन भक्तानाम् आर्तिहृतिं क्षत्रियत्वानाविर्भावे तदिष्टाप्तिश्च न स्यात्. तस्माच्च स्वामिनीतरव्रजस्थेषु प्रभुविषयक-दोषाभावश्च इत्यर्थः. तेषामपि निरोध्यत्वेन प्रभोः सर्वार्थम् आगतस्य तेषु तथाकृतेः उचितत्वात् प्रभौ स्वामिनीषु तल्लीलायां दोषारोपे तन्निरोधासिद्धेः इति भावः ॥२॥

पुनः ब्राह्मणभवनतात्पर्यम् आहुः **कदाचिद्** इति.

कदाचिन्निजभक्तानां पित्रादीनामनुज्ञया ।
तत्संगतस्तत्र लीलाः कुर्वन् कृष्णो विराजते ।।३।।

यथा ब्राह्मणो गुर्वाद्यधीन एव भवति, न स्वतन्त्रः, सर्वं कुर्वन्नपि तदनुज्ञयैव करोति, अनुज्ञापरतया निर्दोषश्च, तथा भगवानपि स्वभक्त-पित्राद्यधीन एव, तदनुज्ञयैव च सर्वं करोति, भक्तानुज्ञापरतया भक्तिमार्गे निर्दोषश्च इत्यर्थः. एतादृशे अर्थे आज्ञादातृत्वाय भक्तत्वम् उक्तम्. अन्यथा अन्येषां भगवदिङ्गितातिरिक्त-स्फुरणानियमात् तथा न स्याद् इति भावः ।।३।।

पुनः क्षत्रियभवनतात्पर्यम् आहुः **क्वचिद्** इति.

क्वचित् परस्परं गुप्तानुरागवशतो वने ।
कथञ्चिद् भक्तसंगे सत्यनिशं रमते प्रभुः ।।४।।

यथा क्षत्रियो गूढमन्त्रो महासाहसः सर्वथा स्वकार्यसाधको निर्भयः सर्वरसभोक्ता तथा भगवानपि गूढः समन्त्रो वनसेवनात् महासाहसः कथञ्चिद् व्याजादिना सङ्केतितस्थले भक्तागत्या सर्वथा लीलारूपस्वकार्यसाधक इत्यर्थः. निर्भयत्वबोधनायैव **अनिशं रमते** इति उक्तम् ।।४।।

पुनः ब्राह्मणभवनतात्पर्यम् आहुः **कदाचिद् भक्त** इति.

कदाचिद् भक्तपित्रादिनिषेधेऽपि निजाग्रहात् ।
नयति स्वेष्टदेशांस्तं चातुर्येण प्रतापवान् ।।५।।

यथा ब्राह्मणः परमाग्रहः सकलासहिष्णुप्रतापवान् असामर्थ्येऽपि चातुर्येणैव स्वकार्यसाधकः तथा भगवानपि कदाचिदेव भक्तानां स्वामिनीनां ये पित्रादयः तत्कृते ''एतत्सङ्गे न गन्तव्यम्'' इत्यादिरूप-निषेधेऽपि ''मया गृहीत्वैव एनां गन्तव्यम्'' इति अतिविहिताग्रहः सर्वघर्षणक्षमप्रतापवान् बालभावेन असामर्थ्येऽपि व्याजादिप्रकल्पनचातुर्येण स्वेष्टदेशनयनरूप-कार्यसाधक इत्यर्थः ।।५।।

पुनः क्षत्रियभवनतात्पर्यम् आहुः **कदाचिद्** इत्यारभ्य **सर्वत** इत्यन्तेन.

कदाचित् कौतुकावेशं ज्ञापयन् स्वस्य नृप्वसौ ।
अन्यसंगनिवृत्त्यर्थं वानरैः सहितः प्रभुः ।।६।।
पुलिनस्थितभक्ताप्त्यै बहुधोपायकार्यभूत् ।
तत्स्थितप्रतिबन्धं च नाशयत्येव सर्वतः ।।७।।

यथा क्षत्रियः कुतुकावेशी स्वधर्मज्ञापनपरः प्रतिपक्षागतिशङ्कया सेनासहितो दुर्गादिस्थितवस्तुग्रहणाय विविधोपायकारी सकलप्रतिबन्धनिवर्तकश्च तथा भगवानपि

बालक्रीडाकुतुकावेशी कूर्दनादिना स्वसामर्थ्यज्ञापको लीलाकृतिपरिपन्थि-समागतिशङ्कया कपिसेनासहितः पुलिनस्थित-भक्तप्राप्तये च विविध-सेतुबन्धनाद्युपायकर्ता निजभक्तसुखप्राप्ति-प्रतिबन्धकनिवर्तक इत्यर्थः ॥६-७॥

पुनः ब्राह्मणभवनतात्पर्यम् आहुः **अन्यश्चेद्** इति.

अन्यश्चेदभिमानेन भक्तनैकट्यमाप्नुयात् ।
बालभावाग्रहेणैव तमपास्य तदा स्वयम् ॥८॥
स्थित्वानेकविधा लीलाः करोति व्रजवल्लभः ।

यथा अभिमानेन स्वप्रयोजनप्रतिबन्धार्थम् अन्यस्मिन्नागते ब्राह्मणो निजाग्रहेणैव तन्निरासकः, स्वविप्रत्वाग्रहेण तन्निरासको नतु स्वसामर्थ्येन, ततश्च स्वकार्यसाधकः, तथा अत्र भगवानपि स्वसम्बन्धाभिमानेन भक्तनैकट्यम्, अन्यस्मिन् तद्बहिर्भूते समागते सति स्वबालभावाग्रहेणैव तन्निरासको, नतु स्वसामर्थ्येन, तेन तथाकृतौ तादृशरूपे तथा सामर्थ्यदर्शनेन अन्येषां ज्ञानात् सम्यक् लीलासिद्धेः. ततश्च अनेकविधलीलारूप-स्वकार्यसाधक इत्यर्थः ॥८ १/२॥

पुनः क्षत्रियभवनतात्पर्यम् आहुः **स्थापयित्वैव** इति.

स्थापयित्वान्यगमन-प्रतिबन्धकमात्मनः ॥९॥
केवलस्य गतौ तत्र साधनं विदधाति च ।

यथा क्षत्रियो दुर्गादिषु अन्यप्रवेशप्रतिबन्धक-भटादिस्थापकः स्वगतिमात्रसाधन-विधाता तथा भगवानपि पुलिनादिषु अन्यगतिसम्भावितस्थलेषु रक्षकगोपादिस्थापकः स्वमात्रगतिसाधन-सेतुबन्धविधाता इत्यर्थः ॥९ १/२॥

अतः परं "सर्वमेव रसम् एकत्र स्थितमेव" (सुबो.) इत्यादितात्पर्यम् आहुः **भक्ता हि** इति.

भक्ता हि विविधैर्भावैर्युक्ता हरिरपि क्वचित् ॥१०॥
एकत्रैवाखिलान् भावान् क्रमेणोत्पाद्य तान् रसान् ।
भुङ्क्ते कदाचित् प्रत्येकं तत्र तत्र स्थितस्तथा ॥११॥
अथवैकत्र पुलिने वेणुवादनलीलया ।
संगतेष्वखिलान् भावरसान् भुङ्क्तेऽत्युदारधीः ॥१२॥

भक्ता हि भगवति प्रत्येकं स्पर्शादिविविधभाववन्तः, तथा भगवानपि तेषु. तथाच एकत्र एकस्यामेव स्वामिन्यां सर्वानेव अखिलस्वामिनीजनमनःस्थितान् भावान् क्रमेण उत्पाद्य तत्तद्भावरसान् तत्रैव भुङ्क्त इत्यर्थः. एतेन एकत्र मुख्यो रसो निरूपितः. भोगे प्रकारान्तरम् आहुः **कदाचित् प्रत्येकम्** इति. कदाचित् कपिलवद्

उत्प्लुत्य तत्र तत्र तस्यां तस्यां स्वामिन्यां स्थितः प्रत्येकम् अखिलान् भावरसान् भुङ्क्त इत्यर्थः. **एकत्र** इत्यस्य तात्पर्यान्तरम् आहुः **अथवा** इति. एकत्र पुलिने स्थितो वेणुवादनलीलया सर्वेषु भक्तेषु सङ्गतेषु अखिलानेव भावरसान् रासलीलास्थितानपि भुङ्क्त इत्यर्थः. एतेन मिश्ररूपेण अग्रे क्रियमाणाः सर्वा अपि लीला अत्र केवलरूपेण कृता इत्युक्तं भवति. अतएव उक्तम् आचार्यैः विवरणे "नतु तस्य कापि मर्यादा प्रतिबन्धिका" इति. अत्रापि उक्तम् **अत्युदारधीः** इति. बालो हि उदारबुद्धिः भवति. अतएव अत्र परीक्षासाधनाद्यसम्पादकत्वं, द्वितीय-तृतीयाध्यायीयलीलया इव. एतेन लोकवेदातीतपुरुषोत्तमस्वरूपं सर्वलीला-विशिष्टम् एतद् इति समर्थितम् ॥१०-१२॥

उपसंहरन्ति **एतदेव** इत्यादि.

एतदेव "ब्राह्मणोपी"त्यादिनोक्तं सुगोपितम् ।

सुगोपितम् इति. आचार्यैः तथोक्तम् इति अस्माभिरपि तथैव उच्यते इत्यर्थः ॥१२ १/२॥

अतः परं विवरणस्थ"मूललीला"इत्यादेः तात्पर्यम् आहुः **एतदग्रे** इति.

एतदग्रे "मूलरूपलीले"त्यादि निरूपितम् ॥१३॥

तद्भावः प्रोच्यते सम्यक् तदनुग्रहतः स्फुटः ।

तद्भाव इति. तात्पर्यवृत्तिनिरूपितोऽर्थः प्रकर्षेण उच्यते इत्यर्थः. **सम्यग्** इति. न अत्र पूर्ववत् परोक्षवादरीत्या निरूपणम् इत्यर्थः. **तदनुग्रहत** इति, स्वाचार्याशयस्य अनुग्रहैकलभ्यत्वाद् इत्यर्थः. **स्फुटम्** इति. अयं भावः — प्रकटन एव पूर्ववत् परोक्षरूप इत्यर्थः. रसात्मकेतरब्रह्मधर्माणाम् अत्र निरूपणेन तत्साम्यस्य अत्र प्रकटत्वाद् इति भावः ॥१३ १/२॥

तमेव आहुः **प्रमाणाख्यप्रकरण** इति.

प्रमाणाख्यप्रकरणोपसंहारेऽपि शुद्धता ॥१४॥
ब्रह्मता नोच्यते चेत् तत्सिद्धं नो भवति द्वयम् ।
अतएव त्रयं प्रोक्तं ब्रह्मतापरिचायकम् ॥१५॥

तदुपक्रमे हि तथा प्राकट्येन तादृगुत्सवहेतुतया पूतनासुपयःपानादिचरित्रैः स्वामिनीकृतरक्षया च शुद्धत्वं ब्रह्मत्वं च भगवति निरूपितम्. तदुपसंहारेऽपि यदि नोच्येत तदा उपक्रमोपसंहारविरोधात् तद्द्वयं न सिद्ध्येद् अतः तत्परिचायकलीलात्रयं प्रोक्तम् इत्यर्थः ॥१५॥

तदेव आहुः **सर्वाज्ञातस्वरूपम्** इति.

सर्वाज्ञातस्वरूपं हि ब्रह्म पूर्वं रिरंसया ।
ततोऽखिलजगद्रूपं भूत्वा तत्रातिदुस्तराः ॥१६॥
मर्यादाः कुरुते लीलासिद्ध्यै यद् वा प्रपञ्चतः ।
अतीतस्याप्तये भक्तिमार्गानप्यकरोद् दृढान् ॥१७॥

पूर्वं प्रपञ्चरूपेण आविर्भावात् पूर्वं सर्वेषां सूक्ष्मरूपेण तदुदरस्थत्वेऽपि तेषाम् अज्ञातम् इत्यर्थः, "न तं विदाथ" (ऋक्संहि. १०।८२।७) इति श्रुतेः. सृष्ट्युत्तरं तु तज्ज्ञानसम्भवोऽपि, सर्गस्य मोक्षं प्रति कारणत्वात्, "दैवी सम्पद् विमोक्षाय" (भग.गीता १६।५) इति वाक्याद् इत्यर्थः. अनेन ब्रह्मणो निलायनलीला उक्ता. सेतुबन्धसूचित-मर्यादाधारतया आक्षिप्तां जगद्रूपलीलाम् आहुः **रिरंसया तत** इति. **ततः** तदनन्तरं **(रिरंसया !)** प्रपञ्चरमणेच्छया **अखिलजगद्रूपं** जडजीवान्तर्यामि-भेदभिन्नतद्रूपम् आत्मानं कृत्वा **तत्र** प्रपञ्चरूपे **अतिदुस्तराः** सर्वथा अनुल्लङ्घ्या **मर्यादाः** स्व**लीलासिद्ध्यै**व बन्धमोक्षरूप-क्रीडासिद्ध्यै **कुरुत** इत्यर्थः. ननु सेतुबन्धैः परपारस्थित-प्राप्त्युपायभूतैः न प्रपञ्चमात्रपर्यवसित-मर्यादासूचनं भवति इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **यद् वा** इति. **प्रपञ्चतो अतीतस्य** स्वस्य **आप्तये** प्राप्तये **भक्तिमार्गान्** सेतुबन्धरूपान् सर्वथा अनायासेन विवरणसाधनान् **दृढान्** कर्मादिवत् शैथिल्येन पातसम्भावनारहितान् **अकरोद्** इत्यर्थः ॥१६-१७॥

एवं जगद्रूपलीलां निरूप्य वेदरूपलीलां निरूपयन्ति **अशेष** इति.

अशेषवेदशाखोक्तफलभोगाय वेदताम् ।
आत्मनः प्रकटीकृत्य क्रीडतीत्यपि सूच्यते ॥१८॥
भक्ताः सर्वं परित्यज्य प्रभुप्राप्त्यै यथा रहः ।
स्थितास्तथा चेत् कुरुते स्वयमेव तदा परः ॥१९॥

अशेषाः सकला या **वेदशाखाः** तासु **उक्तं** निरूपितं यत् **फलं** स्वर्गापवर्गादिरूपं तद्**भोगाय** स्वसृष्टजीवानां तत्प्राप्तये **आत्मनः** पूर्वमेव विद्यमानां **(वेदतां !)** वेदरूपतां **प्रकटीकृत्य** नामलीलया **अपि** रूपप्रपञ्चे **क्रीडति इति सूच्यते** इत्यर्थः. शुद्धब्रह्मतापरिचायक-तच्चरित्रत्रयम् अत्रापि अतिदिशन्ति तथात्वाय **भक्ता** इति. भक्तिमार्गे भगवतो मूलचरित्रप्राकट्यं भक्तार्थमेव इति ज्ञापनाय आहुः **भक्ता** इति. **यथा भक्ताः सर्वं** गृहादिकं **परित्यज्य प्रभुप्राप्त्यै रह** एकान्ते सङ्केतितवृक्षमूलाद्याश्रयेण **स्थिताः तथा** भगवानपि तदर्थं रहःस्थितः चेत् **तदा** सर्वाज्ञातस्वरूपतया निलायनक्रीडावत्त्वेन **परः** पराकाष्ठापन्नो लोकवेदातीतः पुरुषोत्तम इत्यर्थः. एतेन "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" (भग.गीता ४।११) इत्यादिमर्यादाकर्तृत्वेन लीलासृष्टिजगद्रूपलीला अपि उक्ता ॥१८-१९॥

ननु इयं प्रतिज्ञा सर्वसाधारणी, न असाधारण-ब्रह्मधर्मो, यतः सर्वेऽपि एवमेव स्वप्रपन्नेषु वदन्ति इत्याशङ्क्य आहुः **यतो नान्यप्रतिज्ञेयम्** इति.

यतो नान्यप्रतिज्ञेयं "ये यथे"त्यादिनोदिता ।
साक्षात्स्वरूपदानेन परा लीलेयमित्यपि ॥२०॥

एतादृक्प्रतिज्ञाकरणं भगवतएव सम्भवति, न अन्यस्य, सर्वसामर्थ्याभावात्, परमफलप्रेप्सया प्रपत्तौ तद्दानाशक्तत्वात्, यतो मूलचरितमेव इदम् इति भावः. सा का इति आकाङ्क्षायाम् आहुः (**ये यथा** इति !). **आदिपदेन "न मे भक्तः प्रणश्यति"** (भग.गीता ९।३१) इत्याद्या अनुसन्धेयाः. एतल्लीलाया मूलचरित्रत्वं प्रकारान्तरेण आहुः **साक्षाद्** इति. अस्यां भजनानुरूपभजनलीलायां **साक्षात्स्वरूपदानं,** तच्च न अन्यस्य सम्भवति. न हि साक्षात्स्वरूपं दातुम् अन्यः शक्तो, रसात्मकत्वाभावात्, मोक्षपर्यन्तमेव दातुं तच्छक्तेः, तत्र भगवतः प्राप्तिः नतु अस्य, इति स्वरूपदानमपि एतल्लीलाया मूलचरित्रत्वे हेतुः इत्यर्थः ॥२०॥

वेदरूपलीलामपि अत्र अतिदेष्टुं लीलासृष्टिस्थितस्वरूपम् आहुः **लीलासम्बन्धि** इति.

लीलासम्बन्धि वस्त्वत्र सर्वं भगवदात्मकम् ।
प्रवर्तकत्वतो वेणुनादो वेदात्मकोऽत्र हि ॥२१॥
एतत्सर्वं ज्ञापयितुमेतल्लीलात्रयं शुकैः ।
उक्तमित्युक्तमाचार्यैर्गोप्यत्वं चापि सूचितम् ॥२२॥

अत्र लीलासृष्टौ **सर्वं लीलासम्बन्धि,** अतएव **भगवदात्मकं,** लीलाविशिष्टस्यैव भगवत्त्वात्. अतः तत्प्रवर्तकत्वम् अन्यस्य न सम्भवति इति स्वयमेव तत्प्रवर्तनाय तद्द्वारा सर्वफलभोगाय शब्दात्मक-वेणुनादरूपेण प्रकटीभवति इत्यर्थः. एवं लीलात्रयम् अतिदिश्य उपसंहरन्ति **एतत्सर्वम्** इति. **गोप्यत्वं चापि** इति, परोक्षवादरीत्या निरूपणे (/ णेन / णाद् !) इत्यर्थः ॥२१-२२॥

इति श्रीवल्लभाचार्यकृपामात्रसहायवान् ।
न्यरूपयन्निजस्वामि - दासस्तत्कारिकाशयम् ॥
विदन्त्वेतेन विद्वांसः श्रुतिसारमखण्डितम् ।
लोकवेदाद्यतीतं यत् पुरुषोत्तमसंज्ञकम् ॥

(टिप्पणीपरिशिष्टे प्रकाशितः).

(ग-९)

। श्रीकृष्णाय नमः ।

नत्वा निजाचार्यसूनुं प्रभुं श्रीविट्ठलेश्वरम् ।
तदुक्तकारिकापञ्चकार्थोऽत्र विनिरूप्यते ॥

"निलायनैः" (भाग.पुरा. १०।११।४९) इत्यस्मिन् पद्ये त्रिविधलीला उक्ता "मूलरूपलीला" (सुबो.) इत्यादिना. तासु मर्कटोत्प्लवनसूचित-जगद्रूपलीलां परोक्षवादप्रकारेण प्रभवो निरूपयन्ति **स्वारोहणाक्षमाम्** इत्यादिना.

स्वारोहणाक्षमां शाखां किञ्चिदास्वाद्य लीलया ।
आरुरोह यथेच्छं ताम् अन्यां स्वारोहणक्षमाम् ॥१॥

अत्र अयम् आशयः. भगवान् बालः कुमारः पञ्चहायन्नानापूर्णः सर्वरसभोक्ता रासादिलीलाकृत् मन्मथात्मा मदनोन्मदः प्रमदासहस्रसमूहेषु यूथे केलिसिद्धये मुख्यस्वामिनीं द्रुमत्वेन स्थिरतया मध्ये परिकल्प्य शाखारूपत्वेन स्वयं सम्भूय स्थितेषु बाल्यविमिश्ररसलीलां कर्तुं यथा मर्कटो अनेकशाखासंवलित-द्रुममण्डलमध्यगतो लीलार्थं काञ्चित् शाखां समुदितलसत्कोमलपल्लवाम् अतिरुचिराकाराम् अफलोदयाम् असह्यनिपतनां **स्वारोहणाक्षमाम्** अतिलाघवेन आरुह्य तत्र स्थितम् अवान्तरफलं पल्लवस्पर्शादिरूपं **किञ्चिद्** अनिर्वचनीयं सर्वथा अनुभवाक्षमत्वात् किञ्चिदेव **आस्वाद्य लीलया** यथा सा न मृदिता भवति तथा आस्वाद्य तदनन्तरं **यथेच्छं** स्वस्य तासां च इच्छाम् अनतिक्रम्य संकोचम् अपहाय **तां शाखां** तत्सजातीयाम् **अन्यां स्वारोहणक्षमां** ततः किञ्चित्स्थूलां भारसहां विशेषचेष्टाकरणेऽपि स्थिरां प्रसारितानन्तपल्लवां सफलाम् **आरुरोह** तत्फलभोगार्थम् इत्यर्थः. एतेन तस्यां शाखायां चाञ्चल्येऽपि किञ्चित्कालं स्थितिः इति सूचितम् ॥१॥

प्रकारान्तरम् आहुः **कदाचिद्** इति.

कदाचित् निकटस्थामप्युल्लङ्घ्य स्वमनोगताम् ।
शाखाम् आरुह्य तत्रत्यं फलं भुङ्क्ते मनोगतम् ॥२॥

कदाचित् समयविशेषे वञ्चनप्रकारेण क्रीडेच्छायां **निकटस्थाम् अपि** फलानुभरणोन्मुखां सन्निहिताम् अपि योग्यां **शाखाम् उल्लङ्घ्य** जातिस्वभावबोधनाय उत्प्लुत्य **स्वमनोगतां** बहुकालम् आरभ्य स्वमनसि स्थापिताम् अकस्माद् **आरुह्य तत्रत्यं फलं** तत्रापि **स्वमनोगतं** मनसि समागतम् अविचारेण **भुङ्क्ते** इत्यर्थः ॥२॥

पुनः प्रकारान्तरम् आहुः **कदाचिद्** इति.

कदाचित् सकलाः शाखाः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा यथारुचि ।

गच्छन् शाखाविशेषस्य फलभोगार्थमेव हि ॥३॥

कदाचित् मध्यस्थशाखाफलभोगेच्छायां मध्ये मुख्याम् एकां शाखां द्रुमस्थानीयां फल... अतिदुर्लभफलां परिकल्प्य तदावरणत्वेन स्थिताः **सकलाः शाखाः स्पृष्ट्वा,** अनादरे वीप्सा, **यथारुचि** तद्रुचिं स्वरुचिं वा अनतिक्रम्य **मुख्यफलभोगार्थं गच्छन्** आनुषंगिकतया भावोद्बोधाय किञ्चित् किञ्चित् स्पर्शमात्रेण भुङ्क्ते. अन्यथा आवरणशाखास्पर्शेण तदनिवारणे मार्गप्राप्त्यभावात् मध्यस्थशाखापर्यन्तं गमनमेव न सम्भवेद् इति भावः ॥३॥

ननु एवंप्रकारेण लीलाकरणे को हेतुः ? तत्र आहुः **यस्या जातेः** इति.

यस्या जातेर्यथा धर्मस्तथा लीलाकृतिर्यतः ।
अतस्तज्जातिनामापि प्रभौ सम्यग् विराजते ॥४॥

अनुकरणलीलायां भगवतो **यस्या जातेः** ब्राह्मणादिजातेः **यथा धर्मः तथा लीलाकरः**. यथा वामनो भवन् विप्रभावं, रघुनाथो भवन् क्षत्रभावं, नन्दतनयो भवन् वैश्यभावं, मत्स्यादिरूपो भवन् तत्तद्भावम् अनुकरोति **यतो अतः तज्जातिनामा अपि प्रभौ** सर्वभवनसमर्थे सहस्रनामादौ **विराजते** इत्यर्थः ॥४॥

तथा प्रकृतेऽपि इति आहुः **तद्वद्** इति.

तद्वदत्रापि यज्जातिधर्मसाम्येन या कृतिः ।
तेनास्या अपि तत्साम्यम् इति सर्वं सुनिश्चितम् ॥५॥

अत्रापि बाललीलातया भगवतोपि तत्साम्यं गोपानां च स्याद् इति प्रभौ व्यवहारश्च. प्रकृते अपि **तेनैव** अनुकरणेन हेतुना **अस्या अपि** लीलायाः मर्कटचेष्टात्वं, भक्तानां रसरीत्या मर्कटेत्यादिव्यवहारश्च, **इति** कथं भगवल्लीलायाः मर्कटचेष्टात्वम् इति संशयनिराकरणाद् अत्रत्यं **सर्वमेव सुनिश्चितम्** इत्यर्थः ॥५॥

इति श्रीमन्निजाचार्य-तत्सूनुकृपया मया ।
लीला सुगोप्या विदता सैव मद्धृदि तिष्ठतु ॥

। इति श्रीहरिदासोदिता कारिकापञ्चकविवृतिः समाप्ता ।

(अप्रकाशितः).

(प्रकाशकाराणां मते एतल्लीलायाः शेषभूताः एता पञ्चकारिका विज्ञप्तौ दृश्यन्ते - सम्पा.)

(ग-१०)

। श्रीहरिः । **आध्यात्मिका आधिदैविकाश्च** (सुबो. १०।१२।२) इति.

तद्वादने विषयिणो मुक्ताश्च सर्वे समायान्ति आध्यात्मिका आधिदैविकाश्च

उद्बुद्धा भवन्ति. ततो वृतो गोपैः आधिदैविकैः अतएव स्वयशो गृणद्भिः. भगवद्यशः तैः निरन्तरं गीयते.

आध्यात्मिका इन्द्रियाणि **आधिदैविका** जीवाः. तथाच क्रमेण उभयोः विषय-मोक्षसम्बन्धित्वेन तत्तुच्छीकरणाद् वेणोः तयोः भगवत्परतासम्पादकत्वम् इत्यर्थः. **आधिदैविकैः गोपैः** इति. आधिदैविकत्वं भगवद्रूपत्वम्. तथाच येषु भगवतो न अल्पापि भेदबुद्धिः तानेव संगे नीतवान्, न अन्यान् इति ज्ञापनाय तथा उक्तम्. अतएव यशोगृणनं नैरन्तर्येण, अन्येषाम् एवं भगवत्परत्वासम्भवाद् इत्यर्थः.

(मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारतः प्राप्तः अप्रकाशितः).

(ग-११)

अन्तःकालीयसम्बन्धकृतदुष्टानां दाहार्थं तम् अग्निम् अपिबत्

- सुबो. १०।१४।२४.

एतावत्कालपर्यन्तं ते भगवति स्थिताः बहिः भगवति आगते बहिः आगताः. तत्र भगवता कालीयसम्बन्धेन तदन्तःस्थितानां तद्दोषसम्बन्धात् दुष्टा जाताः. ते दोषा भगवति एव स्थिताः ; तेषां दाहार्थम् इत्यर्थः. कण्टकेन कण्टकोद्धार इतिवद् दोषेणैव तद्दोषं दूरीकृतवान् इति भावः.

(मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारतः प्राप्तः अप्रकाशितः).

(ग-१२)

। हरिर्जयति । **यथा यथा भक्तानां स्वविषयिकाम् आर्तिं पश्यति तथा तथा मुदितो भवति इति वस्तुस्थितिः** (सुबो. । ।) इत्यत्र. यद्यपि परमकृपालोः भगवतः तथास्वभावकथनम् अनुचितं तथापि तथोक्तेः अयम् आशयः. भगवतो भक्तेषु परमानुरागात् परोक्षे तद्धृदये स्वस्वरूपप्रकटनेन गुणगानश्रवणानन्दानुभवेच्छा. साच तदार्त्यैव पूर्यते इति तादृशानन्दविशेषेण मुदितो भवति इति वस्तुस्वभाव इत्यर्थः.

(मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारतः प्राप्तः अप्रकाशितः).

(ग-१३)

"एवं शशांकांशुविराजिता निशा" (भाग.पुरा. १०।३०।२६) इत्यत्र इदं विचार्यते. अत्र भगवतो लीलाद्वयं निरूप्यते— नाट्यशास्त्रप्रकारेण कामशास्त्रप्रकारेण

च. तत्र नाट्यशास्त्रप्रकारेण तु "तत्रारभत" (भाग.पुरा. १०।३०।२) इत्यारभ्य "गायन्त्यस्तं विजह्रिरे, स्वकेशम्रस्तस्त्रज" (भाग.पुरा. १०।३०।१५-१६) इत्यन्तेन उक्ता. "एवं परिष्वङ्ग" (भाग.पुरा. १०।३०।१७) इत्यारभ्य "यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः" (भाग.पुरा. १०।३०।२५) इत्यन्तेन कामशास्त्रप्रकारेण उक्ता.

तत्र पूर्वस्यां भावमात्रेण सर्वप्रकारानुभवरूपायां रससमाप्तेः अनुक्तत्वात् निरन्तरमेव सा लीला गृहगमनानन्तरमपि भावेन तथा कुर्वन्त्य एव स्थिता इति तस्या उपसंहाराभावात् न केनापि प्रकारेण तत्र विरोधः, सर्वसमक्षमपि तद्भावने विरोधाभावात्. अतएव **सर्वदा लीलारूप** इति उक्तम्, अहर्निशम् एतद्भावनावत्त्वात्. अतएव अग्रे "भगवत्प्रिया" इति उक्तम्, विवृतं च आचार्यैः **तासां भगवानेव प्रियो नतु गृहा** इति. इयमेव स्वरूपानन्ददानलीला, स्वरूपस्य रसात्मकत्वेन तस्य च भावात्मकत्वाद् अनया लीलया तद्दानात्.

कामलीला तु दत्तेऽपि स्वरूपे वियोगे तत्स्मरणादिना व्यभिचारिभावैः विविधा, मनोरथरूपैः तदनुभवः रसपोषणाय. परं कामलीलायाम् उपसंहारकथनाद् भवति शंका "भगवद्दत्तोऽपि कामः स्वामिनीषु निवृत्त" इति, तच्छास्त्रे तथाचेष्टाभिः रमणे उभयत्र तन्निवृत्तेः उक्तत्वात्. एवं सति कामभावस्यापि भगवद्भावत्वेन नित्यत्वम् अपेक्ष्य तत् न स्याद् अतो भगवता स्वामिनीषु कामभावं दत्वा स्वस्मिन्नपि तद्भावात्मकत्वं प्रकटीकृत्य किमिति रमणं कृतम् इति? एतदेव च **ननु एवं रमणे को हेतुः** इति आभासेन आचार्यवर्यैः उक्तम्. एतदर्थस्तु— सर्वदा लीलारूपे पूर्वोक्तप्रकारे स्वरूपानन्ददानाय सत्यपि **एवं** कामशास्त्रप्रकारेण **रमणे को हेतुः** इति ज्ञेयः. एतत्समाहितिस्तु 'सत्यकाम' इति विशेषणेन क्रियते. 'कामार्दिताः शशांकश्च' इत्यत्र सगणस्य आकाशस्थितस्य देवतारूपस्य भगवद्रेतोरूपस्य प्राच्यां दिशि उदितस्य तत्रैव तदंशनिवृत्तेः उक्तत्वात् न स्वामिनीषु भगवति च कामनिवृत्तिः इति कामभावस्यापि सार्वदिकत्वमेव. पुत्रभोजने स्वस्य अभिमानिकसुखविशेषवद् अत्र उभयत्र तथा सुखविशेषोत्पत्तिः, नतु कामनिवृत्तिः. अतएव वियोगेऽपि एतल्लीला उक्ता "प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तये" (भाग.पुरा. १०।२७।३) इत्यादौ. अन्यथा लोके सा तत्र असम्भाविता इति न वदेत्. नच भावेनैव तत्र सा इति वाच्यं, तथा सति वियोगस्यैव स्थायिभावात्मकस्य निवृत्तिः स्यात् तावत्कालावच्छेदेन, संयोगवियोगयोः परस्परं विषमशीलत्वात्.

एवं सति यः कामः स्वरूपात्मकः प्रभुणा दत्तः स्वस्मिंश्च आविर्भावितः स स्वामिनीषु भगवति च सत्य एव स्थितो, भगवत्स्वरूपात्मकत्वात्. अतएव तस्या अपि लीलायाः वियोगे अनुभवसत्त्वात् न अनित्यत्वशंका इत्यर्थः.

नन्‌ भगवति सत्यकामत्वनिरूपणं द्वितीयार्थं कथम्‌ उपपद्यते, नित्याविर्भूतरूपस्य स्वरूपात्मकस्य असत्त्वशंकाया एव अभावाद्‌ इत्याशङ्क्य आहुः विवृतौ **स तथा प्रार्थित** इति. अत्र अयम्‌ आशयः. सर्वात्मभावेन प्रपन्नाः सुखेच्छया कामरूपं स्वस्य आविर्भाव्य रमणं विधाय तिरोहितं कुर्यात्‌. एतासां तद्रसे स्वतो अभिलाषाभावाद्‌ भगवान्‌ हि भक्तमनोरथेनैव तदनुकूलं स्वरूपं प्रकटयति "यद्यद्‌ धिया" (भाग.पुरा. ३।९।११) इति वाक्याद्‌ इत्याशङ्क्य **स** इत्यनेन पूर्वं "पुरुषभूषण देहि दास्यम्‌" (भाग.पुरा. १०।२९।३८) इत्यनेन एतल्लीलासहितदास्यार्थं प्रार्थित इति कामात्मकरूपं स्वरूपान्तर्गतं गूढभावत्वात्‌ तत्‌ न तिरोभावितवान्‌. अन्यथा महिष्यादिषु इव पुत्राद्युत्पत्तिरूपं तत्कार्यम्‌ अत्रापि स्यात्‌, अंशतः तत्क्षये एव तत्सम्भवात्‌. तथा सति कामस्य असद्‌विषयकत्वं च स्यात्‌, पुत्रादिरूपेण रेतोः तस्य उत्पत्तेः. अतएव स्पष्टं कामस्य आद्यमहिष्यां भगवदंशस्य उत्पत्तिः उक्ताः "कामस्तु वासुदेवांशः" (भाग.पुरा. १०।५२।१) इति वाक्यात्‌. एवं सति उपसंहारकथनेऽपि पूर्वलीलावद्‌ अस्या अपि लीलायाः संयोगवियोगयोः सत्त्वेन सर्वदा सत्त्वरूपं नित्यत्वं सिद्धम्‌ इति ज्ञेयम्‌.

नन्‌ भगवति सत्यकामत्वं सम्भवति, सर्वदा स्वस्वामिनीमात्रविषयक-कामसत्त्वाद्‌, एतदर्थमेव प्रभोः आविर्भावात्‌. अतएव उक्तम्‌ आचार्यैः "स्त्र्यर्थमेव प्रादुर्भूतो भगवान्‌ इति अवोचाम" (सुबो. । ।) इति. स्वामिनीनां तु गृहगतानां कामस्य असद्‌विषयकत्व-क्षीणत्वादिसम्भवात्‌ कथं तथात्वं तस्य उपपद्यताम्‌ इत्याशङ्क्य आहुः विशेषणतात्पर्यं **सर्वथा रतासु** इत्यादिना. यत्र यत्र भगवतः कामलीला तत्र सत्यकामत्वम्‌ अनेन प्रतिपाद्यते. अत्र हि न रतत्वमात्रम्‌ उच्यते किन्तु अनुरतत्वम्‌. तच्च अनु = पश्चाद्‌ = भगवदङ्गीकारोत्तर-रतत्वम्‌. तथा सति तथा रतत्वे अन्यत्र काम असम्भव एव इति न शंकालेशो अपि. नहि भगवदङ्गीकृतानाम्‌ अन्यत्र मनो भवति. अतएव "यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलम्‌" (भाग.पुरा. १०।२९।३६), "यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय" (भाग.पुरा. १०।४९।४३) इत्यादिवाक्यानि. अत्र "अबलागणा" इत्यनेन अनुरतस्त्रीसमूहा उच्यन्ते. आचार्यैः विविच्य गणिताः. तत्र **सर्वथा रतासु** इत्यनेन सर्वत्यागपूर्वक-सर्वभावेन रताः पतिमत्यः श्रुतिरूपा उक्ताः, तेषामेव त्यागविषय-पत्यादिसत्त्वात्‌. **नित्यसम्बद्धासु** इत्यनेन अन्तर्गृहगता उक्ताः, भगवति प्रविष्टत्वात्‌. **स्वविवाहितासु** इत्यनेन लक्ष्मीरूपा उक्ताः, भगवदेकभोग्यरूपेण प्रकटत्वात्‌. **सर्वथा प्रपन्नासु** इत्यनेन कुमारिका उक्ताः, तासां त्यागविषयाभावेऽपि व्रताचरणादिना सम्भावितान्यसम्बन्धपरित्यागेन सर्वात्मभावेन प्रपन्नत्वात्‌. तथाच कामलीलाविषयासु

सर्वासु अपि केवलभगवत्परत्वात् न कामस्य असद्विषयकत्वसम्भावनापि इति सिद्धं स्वामिनीषु सत्यकामत्वम् इति भावः.

ननु एवं सत्यकामासु स्वामिनीषु कामलीलां संयोगेन आनन्दानुभवरूपां सर्वदा कुतो न प्रभुः कृतवान्? कुतो वियोगम् अग्रे भ्रमरगीते दत्तवान्? कामिनीनां मानादिषु अनुनयः एव संयोगानुभवार्थं विधेयो न त्याग इति तच्छास्त्रमर्यादाभंगसम्भवाद् इत्याशङ्क्य आहुः **अग्रे** इति. दत्तस्य संयोगरसस्य वियोगेनैव पोषाद् इत्यर्थः. अयम् आशयः. भगवान् हि न शास्त्रमर्यादया अत्र आनन्दं दातुं प्रवृत्तः किन्तु स्वामिनीपरवशः तद्भावसन्तुष्टो मनोरथान्तम्. तत्र च उद्भटभावत्वेन न प्रभौ शास्त्रं नियामकम् इति रसदानाय यद् यद् उपयुज्यते अनुक्तमपि तत् तत् परवशः सम्पादितवान्. एतदेव उक्तं "शास्त्राणां विषयः" (कामसूत्र २।२।३२) इत्यादि. एतदर्थस्तु— यावत् नरो भोक्तारो मादरसा = मदसम्बन्धी नतु क्रियासम्बन्धी. मादो रसोऽयेषां रसो मदमेव उत्पादयति न क्रियां, तावत् ते शास्त्राणां विषयः. तान् शास्त्राणि विषयत्वेन गृहणन्ति, स्वनिरूपितक्रियाक्रमं तैः अनुष्ठापयन्ति इति. अग्रे तु शास्त्रमेव न स्फूर्तिविषय इति क्व तन्निरूपितः क्रमानुष्ठानम् इति ज्ञेयः. ननु एवं वियोगदानाय अपि त्यागे लोक इव कामोऽपि निवर्तिष्यते, नहि त्यक्तानां त्यक्तेषु वा कामः तिष्ठति इति चेत्, तत्र आहुः **तथापि** इति. यद्यपि रसपोषार्थं विप्रयोगदानाय परित्यागे कृते कामनिवृत्तिः अपेक्षिता तथापि इत्यर्थः. ननु तदानीं वियोगे कामे सति तेन भोगः स्यात् सच तस्य भोगपर्यवसायित्वात् सच न दृश्यते इति कामाभावात् कथं सत्यकामत्वम् उपपाद्यम् इति चेत्, तत्र आहुः **यो मोक्षपर्यवसायी** इति. कामो हि द्विविधः— बहिःस्वरूपानुभवानुकूलो भोगपर्यवसायी तथा अन्तःस्वरूपानुभवानुकूलो मोक्षपर्यवसायी च. तत्र भोगपर्यवसायिनि तस्मिन् निवृत्तेऽपि मोक्षपर्यवसायिनः तस्य सत्त्वात् सत्यकामत्वम्...

(मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारतः प्राप्तः अप्रकाशितः).

(ग-१४)

। श्रीहरिः । **सर्वा सामग्री विशकलिता** (सुबो. १०।३२।१) इति. वने भगवान् तल्लीलाश्च, एता व्रजे इति सुखेन दिननयनसामग्रीविशकलनम्. यदा पुनः तद्रूपं ताश्च लीला गुणगाने क्रियमाणे एतद्धृदये आविर्भविष्यन्ति तदा सकलसामग्रीसंकलनेन रमणमेव सम्पत्स्यते इति. अतएव अन्ते "रेमिरे अहस्सु तच्चित्ता" (भाग.पुरा. १०।३२।२६) इति उक्तम् इति भावः.

(मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारतः प्राप्तः अप्रकाशितः).

(ग-१५) अन्तरङ्गबहिरङ्गप्रपञ्चविवेकः

अथ अन्तरंगबहिरंगलीलाश्रययोः प्रपञ्चयोः भेदो निरूप्यते. तत्र अन्तरंगलीला पुरुषोत्तमरूपेण, इतरा जीवान्तर्यामिरूपाभ्याम्. तत्र तयोः आद्यः केवलानन्दमयः, अपरस्तु जडजीवात्मकः तिरोहितानन्दरूपः. तथा पुरुषोत्तमसमवायिकारणको अक्षरसमवायिकारणकश्च. अविकृतो विकृतश्च. विकारश्च मायया कृतः. तथा मायासम्बन्धरहितः तत्सम्बन्धी च. तथा नित्यो अनित्यश्च. पूर्वस्य विकृतरूपेणापि नित्यत्वं, तस्या अपि स्वरूपात्मकत्वात्. भगवानेव तथा तथा भवति, नतु माया. तथा अपरस्य विकृतत्वं मायया एव, अतएव ब्रह्मविदां निरस्तमायानां तथा ब्रह्मत्वेन प्रतीतिः. प्रकृते तु गतदोषाणां लीलारूपेणैव प्रतीतिः, तस्यैव वास्तवत्वात्. अतएव श्रुतयः प्रसन्नाद् भगवतो वरदानार्थप्रदर्शित-सकललीलाविशिष्टरूपं सविशेषणं दृष्टवत्यः. अतएव बृहद्वामनपुराणे "नानारसमदोन्मत्तं तत्र गोपीकदम्बकम्" (वामनपुरा. । ।) इत्यादि. अन्यच्च पूर्वः प्रकटानन्दः, परः तिरोहितानन्दः. तथा अयं रसात्मको, अपरो नीरसः. तत्रापि भजनानन्द-विषयानन्दाभ्यां विशेषः.

ननु एवं सति विलक्षणयोः अपि एतयोः नित्यत्वम् अविशिष्टम् उभयत्रापि इति आविर्भावतिरोभावाभ्यां को विशेषः इति चेद्, उच्यते— आविर्भावतिरोभावयोः तुल्यत्वेऽपि कारणवैलक्षण्यात् तद्विलक्षणत्वम्. कारणं च बहिरंगे तस्मिन् भगवदिच्छा. तत्रापि मूलेच्छा ; तया एव तत्र तौ. अन्तरंगे तु भक्तेच्छा, तत्रापि अन्तरंगानां तेषाम्. अतएव "यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" (भाग.पुरा. ३।९।११) इत्यादिवचांसि. अतएव "कस्याश्चित् पूतनायन्त्या" (भाग.पुरा. १०।२७।१५) इत्यत्र सकललीलानां प्रादुर्भावः. युक्तं च एतत् लीलाप्रपञ्चस्य भक्तहृदयस्थितस्य आन्तरस्य तद्भावनाधीनाविर्भावत्वम् इति सर्वम् अनवद्यम्.

आचार्यचरणाम्भोजयुगलैकप्रसादतः ।
प्रपञ्चयोस्तु बोद्धव्यं वैलक्षण्यं स्वरूपयोः ॥

। इति श्रीहरिरायचरणविरचितो अन्तरंगबहिरंगलीलाश्रययोः प्रपञ्चयोः विवेकः समाप्तः ।

(वेणुनाद वर्ष २ अंक ६-७ इत्यत्र प्रकाशितः).

(ग-१६)

। श्रीहरिः । "ततो ययौ" (भाग.पुरा. १०।५०।५६) इत्यस्य विवरणे **लोका हि** इत्यारभ्य **'शनैः' इत्यनेन निरूपितम्** इत्यन्तम्.

लोका हि नगरस्थाः त्रि-चतुरान् विहाय समागता अपि लोकवदन्त्या कृष्णाय दत्ता रुक्मिणी अतो भगवान् नयति इति सादरं प्रेक्षकाएव जाता इति 'शनैः' इत्यनेन सूचितम् (/ निरूपितम्) - सुबो.

अत्र अयं भावः. मूले "द्विषतां समीक्षताम्" (श्लो. ५५) इति उक्तत्वात् शनैः गमनं बाधितम् इत्याशङ्क्य परिहरति **लोका हि** इत्यादि. **लोका हि नगरस्था** नतु तत्सेवकाः. द्वेषित्वं तन्नगरस्थत्वेन उक्तम्, अन्यथा 'समीक्षताम्' इत्यनेन सम्यगीक्षणं न घटेत. ते **त्रि-चतुरान् विहाय समागता अपि**. अनेन नगरे त्रयो वा चत्वारो वा स्थिता भविष्यन्ति ; प्रेक्षकाणां बहुत्वम् उक्तम्. तद्भानप्रकारस्तु **कृष्णाय** भीष्मकेन **रुक्मिणी दत्ता अतो भगवान् नयति इति**प्रकारिका या **लोकानाम्** अन्यतः समागतानां **वदन्ता** वाणी तया कृत्वा तेषामपि भगवदिच्छया तथैव प्रतीतत्वाद् अस्मद् राज्ञो जामाता अयम् इति **सादरम्** आदरपूर्वकं **प्रेक्षका एव जाताः** यावद्दृष्टिपथं प्रेक्षितवन्त इत्यर्थः. **त्रि-चतुरान्** इत्यत्र "सङ्ख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये" (. । ।) इति सूत्रेण समासे बहुव्रीहौ "सङ्ख्येये डज् बहुगणाद्" (पाणि.सूत्र. । ।) इति सूत्रेण डचि च कृते 'त्रिचतुरान्' इति रूपम्. त्रयो वा चत्वारो वा इति विग्रहः. **वदन्ता** इति तु वदधातोः शतृप्रत्ययान्ताद् "उगितश्च" (पाणि.सूत्र ४।१।६) इति ङीपि कृते "श्यप् शनोः" (पाणि.सूत्र. ४।१।६) इत्यनेन नुमि च कृते रूपम्. लोकानां वदन्ता वाणी इति यावत्.

(मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारतः प्राप्तः अप्रकाशितः).

(ग-१७) तुलसीसमर्पणशंकानिराकरणम्

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥"

(भाग.पुरा. १०।७७।४).

'पत्रं' तुलस्यादि. (सुबो.).

॥ श्रीहरिः ॥ अथ किञ्चिद् लिख्यते. "तदहं भक्त्युपहृतम्" इति वाक्याद् भगवांस्तु स्वसम्बद्धमेव गृह्णाति, नतु यथाकथञ्चिदपि परसम्बन्धे. एवं सति सर्ववस्तुषु पश्चादपि स्वोपयोगभानेन अंशतः परसम्बन्धसम्भवाद् न साक्षादङ्गीकरोति. सर्वथा अन्यसम्बन्धरहिता केवलभगवत्सम्बन्धिनी सर्वानुपयोगिनी तुलसी इति साक्षात् तामेव गृह्णाति इति तत्सम्बन्धादेव अन्यवस्तूनामपि तादृग्धर्मवत्त्वसम्पत्तौ भगवदङ्गीकृतिः, नतु साक्षात्. अतएव भगवन्निवेदनादौ तत्प्रक्षेपः. सिद्धिश्च

तथा अन्यसम्बन्धराहित्यरूपा एव. अतएव ब्रह्मसम्बन्धेऽपि तद्द्वारा एव सर्वसमर्पणम् इति निगर्वः. यतो भगवान् स्वकीयानेव अन्यदृष्टिरहितान् आत्मसात् कुरुते अतएव उक्तं "नान्यसमक्षम्" (भाग.पुरा. १०।२६।३६) इति. एवं सति चरणात्मक-मर्यादाभक्तौ तद्द्वारा एव सर्वं, द्वितीयायां तु तत् कृष्णवर्त्मना एव सर्वम् इति सिद्धान्तसंग्रहः. अन्यच्च स्वमार्गो हि पुष्टिमर्यादारूपः, "अंगीकृतौ समर्यादः" (सर्वोत्तमस्तोत्र) इति मत्स्वामिनामनिरूपणात्. तत्र सत्ताविचारः पुष्ट्यंशः, भक्तिमार्गीयविधिः मर्यादा. तथाच अस्य मार्गस्य उभयरूपत्वात् तत्सेवने उभयमपि कर्तव्यम् इति न शंकालेशो अत्र कर्तव्य इति बुध्यस्व.

निःसंशया हि भवतः तुलस्यादिसमर्पणे ।
स्वाचार्यकृपया प्राप्तसामर्थ्योक्त्या मदीयया ॥

। इति श्रीहरिरायविरचितं तुलसीसमर्पणशंकानिराकरणं समाप्तम् ।

(वेणुनाद वर्ष १ अंक ७-८ इत्यत्र प्रकाशितः).

(घ) श्रीपुरुषोत्तमानां लेखः

। श्रीकृष्णाय नमः । श्रीभागवततृतीयस्कन्ध-द्वितीयाध्याये "अयाजयद् गोसवेन गोपं राजन् द्विजोत्तमैः, वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन् सद्व्ययं विभुः" (भाग.पुरा. ३।२।३२) इत्यस्य सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः विवृतं "अयाजयद् इति सप्तमान्ता लीला" इति. ततो अग्रे "वर्षति इन्द्रे व्रजः कोपाद् भग्नमाने अतिविह्वलः, गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णते" (भाग.पुरा. ३।२।३३) इत्यस्य व्याख्यायाम् उक्तम् "अष्टमवर्षादिकृत्यम् आह 'वर्षतीन्द्र' इति". तत्र एवं ज्ञेयम्. श्रावणस्य अमावास्यायां शक्रयागभङ्गो गोवर्धनपूजा च कृता. भाद्रे कृष्णस्य अष्टमवर्षप्रवेशः. कार्तिकशुक्लपक्षे गोवर्धनोद्धरणम्. यथा उक्तं वराहपुराणे "गोवर्धने च नन्देन कृतोऽयं सुमहोत्सवः, दर्शे च श्रावणे मासि गोपैः सुबहुलीकृतः" (वराह.पुरा. । ।) इति. विस्तरस्तु व्रतदिनकरोद्योते अनुसन्धेयः.

ननु श्रावणे इन्द्रयागभङ्गः, इन्द्रेण च तदैव रुष्टं; वृष्टिस्तु कार्तिके जाता इति असम्बद्धम् इति चेत्, न. इन्द्रेण हि तदैव स्वप्रधान आज्ञप्तः, तेन च मेघा आनीताः. पुनः इन्द्रेण ते समाज्ञप्ताः. एतावति उद्योगे शक्रसभायां मुहूर्तानां द्वयं त्रयं वा अतीतं भविष्यति इति तत्र तु स्थूलकालो अत्र तु सूक्ष्मकाल इति मासत्रयं जातम्. एतादृशी लीला कल्पान्तरीया. तदुक्तं प्रथमस्कन्धे अष्टमाध्याये "तत्रासीनं कुरुपतिम्" (भाग.पुरा. १।८।३) इत्यस्य श्लोकस्य व्याख्यायां श्रीमदाचार्यैः "विदुरतीर्थाटनकथा कल्पान्तरीया" (सुबो.) इति.

श्रीभागवतद्वितीयस्कन्धशेषे अपि उक्तं "विदुरमैत्रेयसंवादस्य कल्पान्तरीयत्वम्" (. । ।). "अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः, विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः, परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहं, यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पम् अथो शृणु" (भाग.पुरा. २।१०।४६-४७) इत्यत्र बोध्यम्.

(अप्रकाशितः).

(च) श्रीविट्ठलरायात्मज-वल्लभानां लेखाः

(१)

श्रीभागवते दशमपूर्वार्धे सुबोधिन्यां त्रिचत्वारिंशाध्याय-आद्यकारिकोत्तरं संगतिकाभासे "**पूर्वाध्याये 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्याम' (भाग.पुरा. १०।४२।२) इति नन्दं प्रति कृष्णेन उक्तम्. तेषामेव च स्वसम्बन्धः पुत्रत्वादिरूपः स्थापितः**" (सुबो. १०।४३।१) इत्यत्र **तेषामेव च** इति. साक्षात्पुरुषोत्तमे पुत्रत्वसम्बन्धो नन्दादीनामेव, प्रद्युम्नव्यूहाभावात्, स्वरूपे एव लीलार्थं पुत्रत्वस्थापनात्. वसुदेवगृहे व्यूहविशिष्ट-पुरुषोत्तमप्राकट्येऽपि वंशसम्बन्धः प्रद्युम्नांशेन. अतएव "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव" (सुबो. १०।२।१६) इति पूर्वम् उक्तम्. अत्र अयम् अभिसन्धिः — वासुदेवो नन्दगृहे आविर्भूतः तस्मिन्नेव तदीयपुत्रत्वादिसम्बन्धं स्वीकृतवान्. व्यूहत्रयविशिष्टो पुरुषोत्तमो वसुदेवगृहे प्रकटः. अत्र प्रद्युम्नांशेनैव पुत्रत्वादिसम्बन्धः. ततो गोकुलागमने उभयोः एकीभावेन स्थितिः. पुनः मथुरागमने वासुदेवमपि गृहीत्वा चतुर्व्यूहविशिष्टः सन् वसुदेवगृहाविर्भूतो भगवान् पुरुषोत्तमो मथुरां गतः. नन्दगृहाविर्भूतस्तु पुरुषोत्तमः केवलो भक्तहृदयाधारे स्थितः. अतएव तदनन्तरं केवलपुरुषोत्तमकार्यं भक्तेषु नानाविलासं कृतवान्, नतु व्यूहकार्यम् इति.

(अप्रकाशितः).

(च-२)

। श्रीकृष्णाय नमः । "पुरुषोत्तमस्तु" (सुबो. १०।२।१६) इत्यत्र "मायया सह जात" इत्यनेन तत्साहित्येनैव प्रादुर्भाव इति कस्यचिद् भ्रमो भवेत् तन्निरासाय एतदर्थो विविच्यते. एतद्वाक्यस्य आवेशप्रकरणस्थत्वाद् यदैव वसुदेवे व्यूहावृतभगवान् आविष्टो जातः तदैव नन्दगृहे यशोदायां निरावरणपुरुषोत्तमो मायया सह जात = आविष्ट इत्यर्थः. ननु मायावेशस्य उक्तत्वाद् भगवदावेशे मानाभाव इति चेत्, न, "तव सुत" (भाग.पुरा. १०।३२।१४) इति श्रीमत्स्वामिनीवाक्यस्य

मानत्वेन श्रीमदाचार्योक्तत्वात्. ननु तद्वाक्यं भ्रमाद् इति चेत्, न, भ्रमाभावसाधक-"देवकीजठरभूः" (भाग.पुरा. १०।३२।२३) इति तद्वाक्यान्तरेण प्रामाणिकत्वात्. व्रजे देवकीजठरभूत्वम् ऋषिरूपत्वात् श्रुतिरूपत्वाद् एव जानन्ति. तथाच एकत्र प्रामाण्यावधारणेन अपरत्रापि तदवधारणस्य न्याय्यत्वात्. अतएव तद्वचनप्रामाण्ये तद्वचनमेव प्रमाणत्वेन श्रीमदाचार्यैः उक्तं "देवकीजठरभूः इतिवद्" (सुबो. १०।२।१६) इति. अतो लोकवेदातीत-पुरुषोत्तमावेश-कालान्तरस्य स्फुटतया अनुक्तत्वात् मायावेशकाले तदावेशोऽपि अंगीकर्तव्यो वचनबलात्. रसदानार्थम् आगमनाद् ब्रह्मादीनामपि स कालो न ज्ञापित एव. अतः शुकैः अपि स्फुटतया न उक्तः.

अत एवम् अर्थनिरूपणेन "दासीनां सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य तादृशं, प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववद्" (सुबो.का. १०।३।८) इति महाप्रभुकारिका अपि प्राकट्यप्रकरणीया संगच्छते. न इयं माथुराविर्भावपरा, तथा सति 'दासीनाम्' इति न वदेयुः, स्वस्वामित्वं च. 'दासानाम्' इति वदेयुः. एतदर्थस्तु— यथा तासां कोऽपि अंशो अन्यविनियुक्तो न भवति तथा रक्षार्थम् इत्यर्थः. यद् वा सर्वरक्षा सर्वात्मभावे सति भवति इति तत्प्राकट्यार्थम् इत्यर्थः. न हि एतद् लोकवेदप्रसिद्ध-पुरुषोत्तमकार्यम्. 'निमित्तीकृत्य' इति 'तादृशम्' इति सामान्यकथनेन तादृशं लोकवेदप्रसिद्धम् अवतारं लीलाकालाविर्भावे निमित्तीकृत्य तादृशे स्वयम् आविर्भूत इत्यर्थः.

अनेन तादृशावतारस्य केवलफलरूपावतारे साधनत्वम् अपि सूचितम्. अतएव प्रभुचरणैः टिप्पण्याम् उक्तं "नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्यैव वसुदेवगृहे तदा कार्यम् अस्ति इति तत्रापि आविर्भाव उच्यते" (टिप्पणी १०।२।१६) इति "बभूव प्राकृतः शिशुः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इत्येतत्प्रसंगे. अत्र 'आविर्भूतस्य' इति भूतार्थप्रयोगेण पूर्वं तत्र आविर्भाव उक्तः. सएव "बभूव प्राकृतः शिशुः" इत्यनेन सर्वतः पाणिपादान्तत्वेन अत्रापि उक्तः. प्रकृत्या ग्राह्यः प्राकृत इति व्युत्पत्त्या यो नित्यलीलायां शिशुरूपो यशोदास्तनंधयो गोकुले प्रकटः सो अत्र प्रकटो बभूव इत्यर्थः. तस्य प्राकट्यं केवलभक्त्यैव भवति इति तदा देवक्या अपि माहात्म्यज्ञानतिरोधानेन स्नेहोत्पत्तौ तत्प्राकट्यम्. तद् उक्तं "समुद्विजे भवद्धेतोः" (भाग.पुरा. १०।३।२९) इति. मायाप्राकट्यस्य पश्चात्तनत्वात् पूर्वं मातृचरणानाम् अज्ञानं फलप्रकरणीयान्तर्धानवद् (आच्छादिका!) शक्त्यैव. वासुदेवो अत्रैव आविर्भूत इति स व्यूहरूपं भगवति अस्ति इति धर्मत्वेन वासुदेव आविर्भूय केवलमायाजन्यम् आसुरं स्तन्यं भगवत्पानार्थं शुद्धं कृतवान्. न एतावता पुत्रभावेन उत्पत्तिः

उक्ता. स हि मुक्तिदाता प्राकृतम् अंशं दूरीकृत्य तां ददाति. तथा तम् अंशं दूरीकृत्य स्तन्यं साक्षाद्ब्रह्म इव रूपं पानार्थं कृतवान्. तावद् एव तज्जन्यत्वं, संस्कारेण द्विजत्ववत्. देहस्थानापन्न-वासुदेवान्तः-पुरुषोत्तमाविर्भावाङ्गीकारे महान् विरोधः, श्रीस्वामिनीनां वासुदेवद्वारा पुरुषोत्तमसम्बन्धाङ्गीकारात्. "अन्यसम्बन्धगन्धोऽपि कन्धरामेव बाधते" (. । ।) इति प्रभुवाक्यविरोधात् च. अन्यत् च. इन्द्रस्तुतौ "विशुद्धसत्त्वम्" (भाग.पुरा. १०।२४।४) इत्यस्य व्याख्यानम् "इन्द्रेण भ्रमात् तथा ज्ञायते, अत्र तु केवल एव जात" (सुबो.) इत्यपि विरुद्ध्येत. सर्वा लीला व्यूहसम्बन्धिन्य एव भवेयुः. तस्मात् केवलघनीभूत-रसाविर्भाव एव व्रजे मन्तव्यः. दैत्यदलनादौ तत्तद्व्यूहोपयोग इति दिक्.

(अप्रकाशितः).

(च-३) प्रभुप्राकट्यविचारः

ननु "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जात" (सुबो. १०।२।१६) इति वाक्यात् तस्याश्च नवम्यां जातत्वाद् भगवतः तत्सहभावोक्तेः तस्यामेव[१] भगवतो जन्म इति प्रतिभाति. तत् किं तथैव आहोस्विद् अन्यथा इति शङ्कायां "पुरुषोत्तमस्तु" इत्यारभ्य "वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूत" इत्यन्तग्रन्थो विचार्यते.

ननु नवम्यामेव अस्तु, को दोष इति चेत्, तत्तु अविचारितरमणीयम्. तथाहि नहि इदं "पुरुषोत्तमस्तु" इतिवाक्यं नन्दगृहे पुरुषोत्तमाविर्भावसाधकं किन्तु "देवकीजठरभूः" (भाग.पुरा. १०।३२।२३) इतिवत्. "तव सुत" (भाग.पुरा. १०।३२।१४) इति भक्तवाक्ये "तन्मातरौ" (भाग.पुरा. १०।८।२४) इति शुकवाक्यश्रुतार्थापत्तिः प्रमाणम्. तथाच नवम्याः तत्र कुत्रापि अनुक्तत्वात् तदुपजीवकवाक्ये[२] कथं सा[३] समागच्छेत्? मायासाहित्यकथनादेव इति चेद्, अत्रापि तया सहभावः पुत्रीभूतया सह वाच्यः. तथा सति युग्मजन्मप्रसङ्गः. अस्तु तथा इति चेत्, न, उभयजन्मनोः प्रधानत्वाद् जन्मनि भगवत एव प्रधानत्वं[४] विरुध्येत. लोकवत् पौर्वापर्येण क्षणभेदेन तथा कल्पनेऽपि विरोधो दुषपरिहर[५] एव. साहित्याभावश्च. नच धर्मान्तरवत् पूर्वं शक्तित्वेनैव आविर्भाव

---

१. नवम्यामेव. २. उपजीवकत्वं निर्वाह्यत्वम्. मूलोपजीवक "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव" इति वाक्ये इत्यर्थः. ३. नवमी. ४. "मायया सह जात" इति तस्याः सहभावेन अप्रधानत्वोक्त्या भगवति प्रधानत्वं यत् सूचितं तद् विरुध्येत इत्यर्थः. ५. यमले पश्चाद् उत्पन्नस्य प्रधानत्वाद् इति भावः. ननु भगवत एव अस्तु पश्चात् प्रादुर्भावः, तथा सति न उक्तदोष इत्यतो दूषणान्तरम् आहुः 'साहित्ये'त्यादि. 'च'काराद् अनुजात्वश्रुतिविरोधश्च समुच्चित इति ध्येयम्.

इति वाच्यं, "भगवत्समानकाल" इत्यारभ्य "नवम्यां च सा जाता" इत्यन्तग्रन्थविरुद्धत्वात्. तथाहि अत्र देवकी-वसुदेवप्रस्वापाभिभवान्यथाऽनुपपत्त्या मायाया भगवत्समानकाल-जन्माभावात् "मुहूर्तानन्तरं सा जाता इति ज्ञायते" इति उक्तम्. तत्र क्षणपादार्धपूर्णघटिकान्तरायेणापि भगवत्समानकालाभावो भवति. तदन्तरमेव "नवम्यां सा जाता" इति अनुक्त्वा मुहूर्तानन्तर्ये मानाभावात् "मुहूर्तानन्तरम्" इति यद् उक्तं तस्य अयम् आशयः. अत्र 'मुहूर्तान्तर'शब्देन[१] घटिकाद्वयानन्तर्यं नोच्यते किन्तु 'निशीथ'शब्दवाच्य-मुहूर्तस्य आनन्तर्यम्, तस्यैव भगवत्कालत्वात्.

एवं सति यद्यपि "प्रथमातिक्रमे कारणाभावाद्" (जैमिनिन्यायमालावि. ३।४।२०।५२-५३) इति न्यायेन निशीथारम्भे एव भगवज्जन्मप्राप्तौ अपि "अर्धरात्रं निशीथं पञ्चचत्वारिंशत्-षट्चत्वारिंशद्-घटिकाद्वयम्" (सुबो. १०।३।८) इति श्रीमदाचार्योक्तेः अहोरात्रस्य समानत्वे सिद्धे चन्द्रोदयस्य अष्टम्यां पञ्चचत्वारिंशद्-घटिकान्तभावित्वनियमेन विशेषेण इन्दुसंयुतायाम् "अर्धरात्रे तु योगोऽयं तारापत्युदये तथा" (. । ।) इत्यादिवाक्योक्त-चन्द्रोदयलक्षणविशेषस्य निशीथमध्ये एव प्राप्त्या तत्रैव भगवत्प्रादुर्भावनिश्चयेन घटिकानन्तरमेव सा जाता इति निष्कर्षः, अनुपदमेव "नवम्यां च सा जाता" इति उक्तत्वात्. नवमी अपि तदैव जाता, तस्यां च पुनः सा जाता इति उक्तम् इति ज्ञायते. अग्रे च 'यदा तर्हि'पदान्ते 'एव'कारेण सुतादानक्षणाव्यवहितोत्तर-गमनेच्छाक्षणे एव सा जाता इति उक्तेः क्षणाभावेन न शक्तित्वेनापि आविर्भावः. अन्यच्च "पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे" इत्येतत् टिप्पण्यां नन्दगृहप्रादुर्भाव-पूर्वपक्षानन्तरं समाधानकथने नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्यैव वसुदेवगृहे "बभूव प्राकृतः शिशुः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इत्यनेन आविर्भाव उक्तः. स न हि आविर्भावो नवम्याम्. तथाच 'प्रादुर्भूतस्य' इति भूतार्थप्रयोगात् नन्दगृहीय-तन्मूलभूताविर्भावः कुतस्तरां नवमीं प्राप्नुयाद् इत्यपि अनुसन्धेयम्. इतोपि न तत्साहित्येन नवम्याम् आविर्भाव इति सिद्धम्.

अष्टम्यामेव आवरणशक्तित्वेन पूर्वम् आविर्भाव इत्यपि न युक्तं, निद्रयैव अज्ञानसम्भवे तत्प्रयोजनाभावात्. निद्रापि तत्कृतैव इति चेत्, तद् अग्रे निराकरिष्यते. जननं तु पुत्रीभावेनैव, अन्यथा ऐश्वर्यादिधर्मवद् अनुक्तसिद्धत्वेन पृथक्तज्जन्मकथनम् अनर्थकं स्यात्. ननु तर्हि "मायया सह जात" इति वाक्यम् अनुपपन्नम् इति चेत्, न, तदर्थानवबोधात्. तथाहि नन्दगृहे प्रादुर्भावो न चतुर्विधकार्यार्थः किन्तु केवललीलार्थः. तथाच केवलतदेकसाधिका 'आत्ममाया'पदवाच्या परमानन्दरूपा

---

१. तथाच "सुमुहूर्ते जन्म" इत्यादौ 'मुहूर्त'शब्देन कालसामान्यम् उच्यते तथा अत्रापि इति भावः.

या माया ताम् आदायैव तत्र आविर्भूतो भगवान् इति निश्चीयते, अन्यथा निषेकजननाद्यभावेन सुतत्वासम्भवात् "तव सुत" (भाग.पुरा. १०।३२।१४) इति वाक्यं विरुध्येत. नन्दयशोदयोः लीलार्थं पितृत्वम् उच्यमानमपि बाधितं स्यात्. "इत्युक्त्वासीद्" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इत्येतट्टिप्पण्यां वसुदेव-देवक्योः पितृत्वविषये यथा "आत्ममायया पित्रोः" इत्यनेन उक्तं तथैव अत्रापि इति ज्ञेयम्. 'आत्ममायया' इतिपदं "मायया सह जात" इत्येतस्य मूलम्. तस्यां 'माया'पदप्रयोगस्तु भक्तानां लीलासम्बन्धिपदार्थेषु आसक्तिजननात् स्वरूपविस्मरणात् लोकिकानां च विस्मारणात्. वस्तुतस्तु स्वरूपभूता एव इति 'आत्ममायया' इत्यत्र कर्मधारयेण टिप्पण्यां निरूपितम्. तथाच एतादृश्या न लोकव्यामोहक-मायामोहवद् भगवदज्ञानसाधको मोहो, न वा लोकेषु, तन्मोहस्य पुष्टिमार्गे भावप्राचुर्यजनकत्वस्य "इयं विशेषमाया" (सुबो. १०।३।८) इत्यादिग्रन्थस्य टिप्पण्याम् उक्तत्वात्.

एवं च सति व्रजे भगवदाविर्भावाज्ञानं न वा एतत्कार्यं न वा तत्कार्यं, तस्या भावित्वात्, एतस्याश्च भगवदज्ञानासाधकत्वात्. अतएव श्रीमदाचार्यैः प्रसवार्थवेदनाजनितश्रम एव निद्रायां हेतुत्वेन व्याख्यातः ; तया एव अज्ञानम् इति दिक्. मायाकार्यत्वे तु श्रमस्य हेतुत्वेन कथनं न उपपद्येत. शुकोऽपि 'श्रान्त-निद्रा'पदे विहाय 'माययापगतस्मृतिः' इत्येव वदेत्. महती वेदना अपि स्वाविर्भावार्थं भगवत्कृता एव, अन्यथा अतिश्रमाभावेन निद्राभावात् प्रसवज्ञानं भवेद् एव. तस्मिन् सति प्राकृतशिशुभवनादिकार्याणि बाधितानि स्युः, सर्वचरित्राणाम् अभिनिवेशोऽपि. जागरणे मुख्या यशोदा. सा चेत् न प्रबुद्धा तदा सर्वस्यापि व्रजस्य सहजनिद्रायाम् अप्रबोधो युक्त एव. अतएव व्रजस्यापि स्वापे मूले "गोपान् प्रसुप्तान् उपलभ्य निद्रया" (भाग.पुरा. १०।३।५१) इति निद्रैव हेतुः उक्ता. 'निद्रा'पदेन श्रीमदाचार्यैः अपि निद्रैव व्याख्याता, नतु माया. अतएव "कार्यार्थे सा भविष्यति" (भाग.पुरा. १०।१।२५) इत्यस्य विवरणे यशोदायाः स्तन्यं संकर्षणं कंसादिव्यामोहो वसुदेवादिमोचनम् इत्येतावदेव कार्यम् उक्तं, नतु व्रजस्थानां निद्रापि. 'कंसादि' इत्यनेन लीलाप्रतिबन्धकेषु तन्मोह इति उक्तम्. तेन लीलाप्रतिबन्धक-व्रजस्थेषु अपि तत्कृतः स इति सूचितम्. सएव उक्तः फलप्रकरणे "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्" (भाग.पुरा. १०।३०।३७) इत्यनेन. मूले 'गोपान्' इति पदेन स्वामिनीनां तु शीघ्रप्रियप्राकट्यार्ति-जनितमुहुर्गतागतश्रान्तानां मातृचरणप्रसववेदना-दर्शनासहिष्णुतया तत्र स्थातुम् अशक्तानां तादृक्समये निद्राया असम्भवाद् अतिचिन्तानिमग्नतया मूर्छयैव अप्रबोधः. कोऽपि न प्रबुद्ध इति

तु भगवच्चरितम्.

मायाविर्भावार्थं तु न वेदना. यद्यपि भगवतोऽपि आविर्भावे न सा अपेक्ष्यते, अलौकिकत्वात्, तथापि भगवतः स्वामिनीभावस्वरूपत्वाद् भावस्य च लोकसजातीयत्वेन तन्मनोरथपूर्त्यर्थं स्वस्मिन् यशोदासुतत्वप्रकटनपूर्वकं तथैव लीलानां चिकीर्षितत्वात् लोकजन्मनः तत्पूर्वं कृतत्वात् तथाभावपोषार्थं निद्रार्थं च अपेक्षिता एव. यया सह भगवान् जातो न तस्या भगवदावरकत्वम् इति तु पूर्वमेव उक्तम्. योगमायाजन्मनि तु तावन्मात्रार्थकत्वात् तस्याः तथाभावेन भगवत इव लीलाऽभावाद् अघटनघटनापटीयस्त्वाद् तदभावः.

न वा भगवदीयेषु भगवत्कार्यानुपयोगित्वात् तत्कृतपीडासम्भवे मायाकार्यत्वकथने को हेतुः इति चेत्, तत्र उच्यते बाललीलारसार्थम् अन्तःस्थिबालपोषणार्थं च स्तन्यम् आवश्यकम्. तथाच तद् भगवता तु न सम्भवति, यतो भगवता प्राकृतशिशुरूपे स्वस्मिन् नन्दयशोदयोः प्राकृतसुतबुद्धिः एव सम्पादिता, नतु स्वयं तथा जातः. ततश्च न तथाबुद्ध्यैव तद् उत्पद्यते किन्तु प्राकृतगर्भसम्बन्धेन. प्राकृतगर्भभावस्तु मायायाः सम्भवति इति तदर्थं तामेव आज्ञापयद् भगवान् "त्वं नन्दपत्न्यां भविष्यसि" इति. तदेव विवरणे विवृतं "यशोदायाः स्तन्यम्" इति. तत् तु प्राकृतमेव. भगवतः तथोत्पत्तौ "भगवान् तत्र न जात इति ताभिः ज्ञातम्" (सुबो.) इति "अजनमुज्जगुः" (भाग.पुरा. १०।५।१२) इत्येतस्य विवरणं विरुध्येत. आत्ममायया तु न तत् सम्भवति, तस्या अपि तथोत्पत्त्यसम्भवात्. एवञ्च तद् भगवदुपभोगयोग्यं कथम् इति अनुपपत्तिः. तन्निवारणार्थम् उक्तं "वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूत इति सिद्धान्त" इति. 'सिद्धान्त'पदेन च एतद् ज्ञापितं— भगवदुपभोगान्यथानुपपत्त्यैव नन्दगृहे वासुदेवाविर्भावः स्तन्यशुद्ध्यर्थमेव मन्तव्य एव, पूतनादिमोक्षदानं तु मथुरायाम् आविर्भूय समागतेनापि भवेद् इति.

तच्छुद्धिसम्पादनानन्तरं व्यापकत्वेन उभयत्र स्थितौ प्रयोजनाभावात् तस्यैव मथुरायां तुरीयव्यूहरूपेण तस्मिन्नेव समये दर्शनम्. भगवद्व्यूहानाम् आविर्भावः सप्रयोजनक एव. प्रयोजनानि तु "देवक्यां विष्णुरूपिण्याम्" (भाग.पुरा. १०।३।८) इत्यस्य विवरणे धर्मरक्षादीनि निरूपितानि. ततो "जायमानेऽजने" (भाग.पुरा. १०।३।५), "जायमाने जनार्दने देवक्यां (भाग.पुरा. १०।३।८), "विष्णुः सर्वगुहाशयः" (भाग.पुरा. १०।३।८) इति वाक्यत्रयेण विवरणे अनिरूद्ध-संकर्षण-प्रद्युम्ना नियतकार्या निरूपिताः, तदानीं तत्कार्याणाम् आवश्यकत्वात्. वासुदेवस्तु न उक्तः, तदानीं तत्कार्याभावात्.

एवं सति चतुर्भुजदर्शनान्यथानुपपत्त्या तदानीमेव तस्यापि आविर्भावो मन्तव्यः.

स कुत्र इति आकांक्षायां "नन्दगृहे वासुदेव" इति विवरणे पूर्वम् उक्तम्. ननु "नन्दगृहे वासुदेव" इति पूर्वम् उक्तत्वात् "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" (भाग.पुरा. १०।५।१) इत्यस्य विवरणे "आत्मनः सकाशाज्जातः पुत्र एव अयम् इति नन्दस्य बुद्धिः" (सुबो.) इत्युक्तेः अनुपदमेव "वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूत" इत्युक्तत्वात् सिद्धवत्कारेण "आत्मज उत्पन्न" इति शुकोक्तेश्च भगवत उत्पत्तेः असम्भवात् सुतत्वेन वासुदेव एव आविर्भूत इति उक्तम् इति ज्ञायते. तथाच देहस्थानीय-वासुदेवोत्पत्त्या आत्मस्थानीय-पुरुषोत्तमाविर्भावो निरूपितो, "देवदत्तो जात" इतिवत्. तत् तु वसुदेवगृहाविर्भावावैशिष्ट्येन केवलाविर्भावबोधक-वाक्यविरोधात्, व्रजीयलीलानामपि वासुदेवकार्यत्वप्रसंगात्, श्रीमत्स्वामिनीनां वासुदेवद्वारा पुरुषोत्तमसम्बन्धे "अन्यसम्बन्धगन्धोऽपि कन्धरामेव बाधते" (. । ।) इति प्रभुवाक्योक्त-शुद्धपुष्टिमार्गीयव्यवस्थाविरोधात्, "तव सुत" (भाग.पुरा. १०।३२।१४) इति शुद्धपुरुषोत्तमाविर्भाव-साधकप्रमाणवाक्ये लक्षणाप्रसंगेन पुरुषोत्तमाविर्भावे मानाभावप्रसंगाच्च इत्यादि अनेकहेतुभ्यो न साधीयः. तथाच तदर्थस्तु पूर्वं "यस्य यथा प्रतीतिः तथैव शुकेन अनूद्यते" (सुबो. १०।५।१) इत्युक्तेः भगवत आत्मजत्वे शुकस्य ताटस्थ्यम् आयातम्. एवं सति तस्या भ्रममूलकत्वस्यापि सम्भवेन तद्भावेन स्नेहातिशयेन भगवति प्रतिक्षणं क्रियमाणा उपचारा भ्रान्तिमूला एव भवेयुः इति तद्बुद्धेः भगवत्कार्यत्वम् उक्तं "भगवतैव तथा बुद्धेः सम्पादनाद्" इति. भगवता स भावो अंगीकृतश्चेत् सा बुद्धिः सत्यैव, नतु भ्रमकार्यम्. ननु उपचारास्तु भ्रमाद् अभ्रमाद् वा ; भगवति क्रियन्ते इति सत्या एव, तथा बुद्धिस्तु माययैव, अज्ञानमूलत्वाद्, भगवच्चरित्रत्वे मानाभावाद् इत्याशंक्य, तथाबुद्धिसम्पादनस्य भगवच्चरित्रत्वं साधयन्तः "वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूत" इत्यनेन "सिद्धवत्कारेण च शुको न वदेद्" इत्यनेन च भगवत आत्मजत्वे सामान्यविशेषहेतू आहुः.

तत्र स्तन्ययोग्यत्वकरणेन अनुमानविधया पूर्वं सामान्यं हेतुम् आहुः "वासुदेव" इति. भगवान् स्वयं सुतो जातश्चेत् साक्षात् स्वस्यैव स्तन्यपानम् आवश्यकम्. तत् केवलमायाजन्यं पानयोग्यं न इति योग्यत्वकरणार्थं वासुदेवाविर्भावः, अन्यथा वासुदेवाविर्भावे प्रयोजनाभावात्. योग्यत्वकरणं तु— वासुदेवो मोक्षदाता, स हि सत्त्वेन प्राकृतभावं दूरीकृत्य ब्रह्मभावसम्पादनेन भगवत्सम्बन्धयोग्यतां सम्पादयति. स आविर्भूत एव तथा करोति, नतु अनाविर्भूतः. अतो भगवता सहैव धर्मत्वेन आविर्भूय प्राकृतं स्तन्यं तत्त्वं दूरीकृत्य साक्षाद्ब्रह्मद्रवरूपं कृतवान् इति. इदमेव एतज्जनितत्वम् अस्य, द्विजत्ववत्. अतः पुरुषोत्तमस्यैव साक्षादात्मजत्वे सामान्यहेतुः

उक्तः. अन्यत्रापि आविर्भावेन चतुर्भुजदर्शनोपपत्तौ अपि स्तन्यं तथा न भवेद् इति "अत्रैव" इति उक्तम्.

ननु स्तन्यपानेनैव न आत्मजत्वसिद्धिः, धात्र्यादौ अपि पानसम्भवाद् इति, तत्र विशेषहेतुम् आहुः "सिद्धवत्कारेण च शुको न वदेद्" इति. नन्दादीनां भ्रमः सम्भवेदपि, शुकस्तु ब्रह्मवित्तमो भगवज्ज्ञानवान्, अतः तस्य भ्रमाभावात् सिद्धवत्कारेण तदुक्त्या तस्यापि भगवति नन्दात्मजत्वेनैव ज्ञाननिश्चयात् नन्दात्मजत्वं वास्तवमेव इति द्वितीयो विशेषहेतुः उक्तः. अतः तथाबुद्धिसम्पादनं भगवच्चरित्रमेव इति सर्वं सुस्थम्.

ननु एवं वासुदेवसाहित्येन नन्दगृहे प्रादुर्भूतस्य केवलत्वभङ्गप्रसङ्ग इति चेत्, न. न अत्र प्रद्युम्नमुख्यत्वेन वसुदेवगृह इव प्राकट्यं किन्तु केवलस्यैव. तथाच ऐश्वर्यादिधर्मवद् वासुदेवसाहित्येनापि न केवलत्वहानिः. विशेषतः यावद् वासुदेवाविर्भावकथनप्रयोजनं तु पूर्वमेव उक्तम्. ननु स्तन्यस्य स्वोपभोगयोग्यता स्वेनैव अस्तु, कृतं वासुदेवेन इति चेत्, न, स्वस्य फलरूपत्वात् पुष्टिकार्यकर्तृत्वात् च. न हि ब्रह्मभावसम्पादनं पुष्टिकार्यं न वा फलं मर्यादाकार्ये साधनताम् आपद्यते क्वचित्. अतो वासुदेवनियतकार्यमेव तत्.

ननु निशीथे वासुदेवप्राकट्यमेव अस्तु, भगवतस्तु नवम्याम् इति चेत्, तद् असंगतम्. न हि व्रजे केवलव्यूहस्य प्राकट्यं क्वचिदपि उक्तम्. तथा सति तस्यापि मुख्यता स्यात् प्राकट्यत्रयं च कल्पनीयं भवेत्, भगवत्साहित्येन तत्कार्यसिद्धौ पृथक्तज्जन्मकल्पनाया अन्याय्यत्वात्. तस्माद् वसुदेवगृहे चतुर्व्यूहदर्शनान्यथानुपपत्त्या नन्दगृहे निशीथे एव आत्ममाया-वासुदेवसहित-केवलभगवत्प्राकट्यम् इत्येव मन्तव्यम्.

एवं सति "आविरासीद्" (भाग.पुरा. १०।३।८) इत्येतदग्रे "दासीनां सर्वरक्षार्थम्" (सुबो. १०।३।८) इत्येतत्कारिकाकथनमपि संगच्छते. अर्थस्तु— अत्र 'दासी'पदेन व्रजसीमन्तिन्य एव उच्यन्ते, सर्वात्मभावेन दास्यं तासु एव प्रतिष्ठितम् इति. तासां सर्वभावेन रक्षा 'सर्वरक्षा' तदर्थम् इत्यर्थः. सर्वभावेन रक्षा तु पूर्वश्रुतीनां तु साक्षात्पुरुषोत्तमदर्शनेन पुष्टिमार्गीयभावोत्पत्त्यनन्तर-भजनानन्दप्रार्थनया भगवदाज्ञा जाता "व्रजे गोप्यो भविष्यथ" इति. ततो गोपीभूतानां तासां देहप्राणेन्द्रियान्तःकरण-जीवात्मिका भगवद्भोग्या सामग्री भगवदाविर्भावविलम्बे कालेन विशकलिता भवेत्. अतः तद्रक्षा सर्वभावेन रक्षा. यद् वा. शुद्धपुष्टिमार्गीयाणां भगवद्भोग्यसामग्र्या भगवदनुपयोगे महता क्लेशेन भगवद्विरहेण च स्वरूपान्यथाभावेन भजनानन्दानुभवाभावात् सर्वनाश एव भवेत्. तथाच तत्सम्बन्धिपदार्थानां सर्वेषां

रक्षार्थम् इत्यर्थः. न हि इदं लोकवेदप्रसिद्धपुरुषोत्तमस्य कार्यं किन्तु तदतीतस्यैव. तेन तदर्थम् आविर्भूतस्य तदतीतत्वं बोधितम्. अन्यच्च. 'पुरुषोत्तमा'दिपदानि विहाय तत्र "मम स्वामी" इति पदम् उक्तम्. तेन स्वस्य शुद्धपुष्टिलीलान्तःपातित्वात् साक्षादास्यरूपत्वाय अन्यत्र स्वामित्वाभिमानस्य अनुचितत्वात् लोकवेदातीत-शुद्धपुरुषोत्तमे एव श्रीमदाचार्यैः तदभिमानो दर्शितः. श्रीस्वामिनीभिः इयं प्रथमतया श्रीमुखारविन्ददर्शनानुपदमेव रक्षैव प्रार्थिता "चिरं पाहि" (भाग.पुरा. १०।५।१२) इति. सा एव आविर्भावकार्यत्वेन अत्र श्रीमदाचार्यैः उक्ता 'दासीनां सर्वरक्षार्थम्' इति. तेन इयं कारिका अष्टम्यधिकरणक-व्रजीयाविर्भावस्यैव बोधिका इति निश्चयः. नवम्याम् आविर्भावे तु "आविरासीद् यथा" इत्येतदनुपदमेव एतत्कथनम् अनुपपन्नं स्यात्. अतएव तादृशप्राकट्ये हेतुः अपि तादृश एव उक्तो 'निमित्तीकृत्य तादृशम्' इत्यनेन. 'तादृश'पदेन भक्तदुःखम् उच्यते. तथाच यादृशः स्वप्राकट्ये हेतुः तादृशं तं निमित्तीकृत्य इत्यर्थः.

एतच्च प्रकरणादौ ज्ञापितं "यथायोग्यं दुःखमेषाम्" (सुबो. १०।१।का. २५) इत्यनेन. अर्थस्तु— 'एषां यथायोग्यं दुःखं' यथायोग्याविर्भावहेतुः 'इति' हेतोः 'अत्र' प्रथमाध्याये 'एव' हेतुत्वेन तत् 'निरूप्यते' इति हेतुत्वावच्छेदक-भक्तदुःखत्वसामान्येन व्रजस्थानाम् अनुक्तमपि तद् आक्षिप्तं भवति. योग्यम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथायोग्यम्. भूमिमातृदुःख-निवारणयोग्ये हि चतुर्व्यूहावतारः. तथाच तद्योग्यं कंसादिकृतं कालकृतं च तयोः दुःखं, तेन सव्यूहाविर्भावः. तथा केवलपुरुषोत्तम एव व्रजभक्तानां दुःखदूरीकरणयोग्यः, तत्प्राकट्ये च तेषां भगवान् कदा आविर्भविष्यति इति अज्ञानजम् आर्तिरूपं दुःखं योग्यं ; तेनैव तदाविर्भावः. तत् तु भगवता वाक्यैः निराकरणीयं, "वाक्यैरज्ञानसम्भूतम्" (त.दी.नि. ३। ।) इतिनिबन्धवाक्यात्. तानि च "यशोदायाः सुतो जात" इत्येवंरूपाणि. तच्छ्रवणेनैव तेषां दुःखनिवृत्तिः इति "गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता" (भाग.पुरा. १०।५।९) इत्यत्र निरूपितम्. तानि वाक्यानि तद्दुःखदूरीकरणार्थं तत्तन्मुखेन भगवता एव उक्तानि इति ज्ञायते. तत उक्तं "तादृशं निमित्तीकृत्य प्रादुर्भूत" इति. 'तादृशम्' इति सामान्यपदोक्त्या स्वाविर्भावयोग्य-लीलाकालाविर्भावार्थं भूभारहरणविषयक-ब्रह्मादिप्रार्थनया चतुर्भुजावतारं सर्वलोकप्रसिद्धं निमित्तत्वेन परिकल्प्य तादृशे साक्षात् स्वयं गुप्ततया व्रजे प्रादुर्भूत इत्यपि अर्थो ज्ञापितः. अतएव शुकैः स्वामिनीहृदयान्तर्गतहेतुः अपि प्रथमाध्याये स्फुटो न उक्तः. तेन तदानीं मुख्यकार्यार्थं मुख्यतया व्रजे एव आविर्भाव इति फलितम्.

आविर्भावस्य रसदानार्थत्वेन गुप्तता. अयम् आविर्भावो भक्त्यैव इति

स्नेहभावानन्तरमेव "बभूव प्राकृतः शिशुः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इति उक्तम्. तद्भवनान्तरं वसुदेवस्य प्राकृतेव सुतबुद्धिः देवक्याः प्रसवधर्माविर्भावश्च. एतत् सर्वम् आत्ममायाकृतम् एव, तत्रापि सुतत्वेनैव लीलायाः करिष्यमाणत्वात् योगमायाया जनिष्यमाणत्वाच्च.

वसुदेवस्य मानुषत्वेन भानं तु योगमायोत्पत्त्यनन्तरं नवम्याम् एव जातं, तस्य तन्मात्रकार्यत्वेन तदुत्पत्त्यनन्तरभावित्वात् साधारणमोहस्य इति एतट्टिप्पण्यां वसुदेवस्य योगमायां गृहीत्वा पुनरागतिपर्यन्तं भगवज्ज्ञानशक्त्यैव व्याप्तत्वोक्तेः तावत्पर्यन्तं न योगमायाजनितमोहकृतं मानुषत्वेन भानम्. पश्चात् तु तज्जातम् इति विमर्शः. तदैव नन्दस्यापि तथा भानम्. नच लीलामध्यपातिनां भगवति तत्कार्यं तथा भानं किमर्थम् इति शङ्कनीयं यतः यत्र प्रभोः देहसम्बन्धित्वेन लीला चिकीर्षिता तत्र जगद्व्यामोहमायाकार्यं मानुषत्वेन भानं तथालीलापोषार्थम् आरादुपकारकम्. स्वामिनीषु तु नैव तत्प्रकारकं तत्कार्यं, तत्र निरुपधिप्रियत्वेनैव लीलायाः चिकीर्षितत्वात्. तथा प्रियस्तु आत्मा एव. तत्त्वेन प्रिये तथाभानस्य अप्रयोजकत्वात्. अतएव स्वामिनीवाक्यं "तव सुत" (भाग.पुरा. १०।३२।१४) इति "तन्मातरौ" (भाग.पुरा. १०।८।२४) इति शुकवाक्यं च श्रुतार्थापत्तिप्रमाणत्वेन श्रीमदाचार्यैः उक्तं, नतु नन्दस्य बुद्धिः अपि, तत्र यत्किञ्चित् तत्कार्यस्यापि सम्भवात्, स्वामिनीषु तदसम्भवात्. अतएव "न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृग्" (भाग.पुरा. १०।२८।४) इति तासां वाक्यमपि संगच्छते. पित्रोः अपि भ्रमरगीते श्रीमदुद्धववाक्योपदेशानन्तरं सर्वथा प्राकृतभावनिवृत्ति-पूर्वकं "भगवान् मे सुतो जात" इति बुद्धिप्रयुक्तः स्नेह एव स्वकार्यत्वाद् भगवता स्थापितः. तत एव इदं "मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रया" (भाग.पुरा. १०।४४।६६) इति "रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे" (भाग.पुरा. १०।४४।६७) इति च वाक्यद्वयमपि संगतम्. पूर्वतोऽपि अन्तरनुभूयमानो बाललीलारसो अधिक एव जात इति "आन्तरं तु महाफलम्" (सुबो. १०।२६।का. ५) इति पूर्णो निरोधः फलित इति सर्वं सुस्थम्.

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धाष्टम्याम् एव श्रीभागवतानुसारेण नन्दगृहीयाविर्भावः श्रीमदाचार्याभिमतः. अतः तत्र प्राकट्य-तत्प्रयुक्तमानसोत्सवयोः जातत्वाद् भगवदावेशार्थं पुष्टिमार्गीयैः मुख्यतया सा एव उपोष्या. विद्धायां तदुभयाभावात् तदर्थकोपवासनिषेधः. विद्धाक्षये तु पुत्रोत्सवादिकं तु शुद्धनवम्यामेव जातम् इति शुद्धाष्टम्यभावे नवमी उपोष्या इति उत्सवमात्रम् आदाय गौणतया नवम्याम् उपवासविधिः. शुद्धाशुद्धविवेकस्तु सूर्योदयकालम् आरभ्य इति 'शुद्धनवम्याम्' इति पदेन

सूर्योदयकालवर्ति-नवम्यां सर्वप्रकारेण पुत्रोत्सवादिकं प्रातः आरभ्यैव जातम्. सूर्योदयावधि आगमनादिसम्भ्रम एव सर्वेषाम् इति ज्ञायते. अतः शुद्धाष्टम्यभावे शुद्धैव नवमी उपोष्या.

यत् तु " "पूर्वविद्धाष्टमी या तु" (. । ।) इति वाक्यात् पूर्वविद्धायाः परदिने मुहूर्तमपि सत्त्वे एव पूर्वविद्धायाः त्यागो नतु असत्त्वेऽपि इति" (जन्माष्टमीनिर्णयप्रकाश) इत्युक्तं तत् तु तस्यैव वचनस्य व्याख्यानान्तरत्वात् केचिन्मतपरम्. 'इति' इति प्रकारवचनम्. तथाच 'पूर्वविद्धा' इत्येतस्यैव वचनस्य केचिद् एवम् अर्थं वदन्ति इति 'इति'पदस्य 'वदन्तम्' इति अग्रिमपदेनैव सम्बन्धः. एवञ्च जन्माष्टमी विद्धायामेव कर्तव्या भवेत् शुद्धाभावे, तदर्थं तथा वादिनं प्रति "केचित् तु जन्माष्टमीं पूर्वविद्धाम्" इति प्रतिवादिवाक्यम् इति जानीमः. तत्र मुहूर्तमात्रसत्त्वे सा उपोष्या इति तु का वार्ता, विद्धात्यागावश्यकत्वात् तदभावेऽपि सा उपोष्या यतः. एवम् आग्रहे "व्यासवचनाद्" इति प्रतिवादिवाक्यहेतुः उक्तः. तद्वचनस्य तथावचन-व्याख्यानानपनोद्यत्व-ज्ञापनाय द्वितीयोऽपि हेतुः उक्तो "वचनबलाद्" इति. तस्य साक्षात् नारायणावतारत्वेन सर्वोपजीव्यत्वात्. अन्यथा द्वितीयहेतुकथनं व्यर्थं स्यात्. यद् वा. "वचनबलाद्" इत्यनेन एतस्य व्यासवचनत्वे मूलवचनानि बहूनि भवन्ति, तेषां बलाद् इत्यर्थः. तथाच एतादृशं वचनं प्रतिवादिना वचनबलस्य तद्वचने एव प्रतिष्ठितत्वात् समूलकत्वेन अङ्गीक्रियते तदा सर्वोपजीव्य-व्यासोक्तरीतिः एव अस्माभिः अनुसर्तव्या. निर्मूलकत्वेन अङ्गीक्रियते चेत् तदा तु तद्वचनपूर्वोक्त-तदुक्त्यैव इति कटाक्षोक्तिः. तेन न वा तन्निर्मूलकं न वा प्रतिवाद्युक्तकरणम् इति फलितम्. स्वस्य निर्णयकर्तृत्वात् स्वमतानाग्रहज्ञापनाय "यदि" इति उक्तम् इति वा. शेषं पूर्ववत्. तथाच शुद्धाष्टम्यभावे नवमी उपोष्या इति सुबोधिन्या सह न विरोध इति सर्वम् अनवद्यम्.

हृदिस्थौ यत् सदा श्रीमद्वल्लभाधीश-विठ्ठलौ ।
निर्णयो मन्मुखाज्जातो जन्मसन्देहवारकः ॥

(वेणुनाद वर्ष १ अंक ५ इत्यत्र प्रकाशितः).

(छ) श्रीदेवकीनन्दनानां लेखः

। श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः । "शृङ्ग्यग्नि" (भाग.पुरा. १०।८।२६) इत्यत्र. ननु भगवान् आत्मसुखार्थं भक्तसुखार्थं च लीलां करोति इति शृङ्ग्यादिक्रूरसम्बन्धे तदुभयाभावात् किं तत्करणेन इत्याशङ्क्य आहुः "इष्टस्य दुष्टसम्बन्धे" (सुबो. १०।८।का. १३-१४) इति कारिकया.

इष्टस्य दुष्टसम्बन्धे शिष्टः पुष्टिं विमुञ्चति ।
नान्यथेति हरिः प्रीतः सत्यः क्रूरगतोऽभवत् ॥

यदा भगवान् उत्तमस्थले क्रीडति तदा तत्र स्वास्थ्यं मत्वा जनन्यौ गृहावश्यककार्यमपि कुरुतः. तथा सति निरोधस्य न पूर्णता, अन्तः आसक्तिसद्भावेऽपि प्रपञ्चविस्मरणाभावात्. अतः तयोः पूर्णनिरोधार्थं तथाकरणम् इत्याशयेन उच्यते **इष्टस्य** प्रीतिविषयस्य **दुष्टस्य** अनिष्टहेतोः **सम्बन्धे** सम्भवति सति **शिष्टः** प्रीतिमान् **पुष्टिं** स्वस्य भोजनशयनादिभिः पोषणं **विमुञ्चति** स्वपोषणं परित्यज्य इष्टस्य अनिष्टसम्बन्धनिवारणं करोति. **नान्यथा** इष्टस्य स्वास्थ्यदशायाम् एवं न करोति. इयं सामान्यतः स्नेहस्थितिः. **इति** अनेन प्रकारेण स्वगृह्यत्यागपूर्वकं शृङ्ग्यादिसम्बन्धाद् आत्मनो निवारणेन जनन्योः स्नेहातिशयं दृष्ट्वा पूर्णो निरोधः सिद्ध इति **हरिः प्रीतो** जातः. यतः स्वयं **सत्यो** अतः तयोः भावस्य सत्यतां दृष्ट्वा **प्रीतो** प्रीतियुक्तो अतः **क्रूरगतोऽभवद्** इति भावः.

। इति श्रीदेवकीनन्दनकृतप्रकाशः ।

(अप्रकाशितः).

(ज) *श्रीहरिकृष्णपाहाडकृता रासभावना*

। श्रीकृष्णाय नमः ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ।
तद्वंश्यान् बालकान् सर्वान् लिख्येयं रासभावनाम् ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाश्रितैः पंचाक्षरस्य जपसमये रासमण्डलस्य भावना कार्या इति श्रीहरिरायचरणैः उक्तं, सा कीदृशी कार्या इत्याकाङ्क्षायां पञ्चाध्यायीपञ्चमाध्यायोक्ता भावना कार्या. तत्र "तत्रारभत गोविन्द" (भाग.पुरा. १०।३०।२) इत्यत्र "अन्योन्याबद्धबाहुभिः" इति उक्तप्रकारेण पूर्वं केवलषोडशगोपिकानाम् अन्योन्याबद्धबाहुत्वं भावनीयम्. पश्चाद् "गृहीतानां कण्ठे" (श्लो. ३) इति उक्तत्वात् तन्मण्डलाद् बहिः द्वयोः द्वयोः गोपिकयोः गृहीतकण्ठानाम् अष्टकृष्णानां भावना कार्या. तथैव उक्तं सुबोधिन्याम् "एवं षोडशगोपिकानाम् अष्टकृष्णा भवन्ति" इति, "अतो मण्डलमध्ये यत्र हस्तद्वयग्रन्थिः तत्र भगवदुदरं यथा भवति तथा भगवान् उत्थितो जात" इति.

तदग्रे "काचिद् रासपरिश्रान्ता" (श्लो. ११) "तत्रैकांसगतम्" (श्लो. १२) इति श्लोकद्वये कीर्ति-श्रीरूपयोः द्वयोः गोपिकयोः मध्ये भगवद्भावना कार्या. तत्र कीर्तिः हि भगवतो दक्षिणभागे स्थिता, तया वृक्षाधिरूढालिंगनं

कृतम्. तदेव उक्तं सुबोधिन्यां "पार्श्वभागे विद्यमानस्य भगवतः कण्ठग्रहणं वृक्षाधिरूढालिंगनं भवति" इति. ननु अत्र वृक्षाधिरूढालिंगनं कीदृक् इत्याकाङ्क्षायां यथा यः कश्चित् वृक्षारोहणं करोति स पूर्वं स्वहस्तद्वयेन वृक्षस्य उपरिभागं गृह्णाति पश्चात् स्वोरुणा वृक्षारोहणं करोति. तथा अत्र वृक्षस्थानीयो नायकः तस्य या नायिका सा सम्मुखं स्थित्वा स्वदक्षिणहस्तेन पूर्वं नायकस्य वामस्कन्धं गृह्णाति इति लक्ष्यते. यद्यपि टिप्पण्यां (श्लो. १२) "रमणचरणम् एकेन ऊरुणा आक्रम्य खिन्नश्वसितम् अपरपादेन आश्रयन्ती तदूरुं, निजमथ भुजम् एकं पृष्ठतो स्थापयन्ती" (. । ।) इति श्लोके पदत्रये बाहुना स्कन्धग्रहणं न उक्तं तत् तुर्यपादे भविष्यति वा न भविष्यति तथापि "चरणकमलम् एकेन अङ्घ्रिणा आक्रम्य भर्तुः अपरपदसरोजेन आश्रयन्ती तदूरुं, तरुमिव भुजवल्यापीड्य चुम्बेन्नतांगीकथितमिहसनींद्रैः तद्धि वृक्षाधिरूढम्" (अनंगरंग ९।३) इत्यनंगरंगोक्त-श्लोके 'तरुमिव भुजवल्यापीड्य' इत्युक्त्या भुजलतया स्कन्धग्रहणं लक्ष्यते. अथवा "जग्राह बाहुना स्कन्धम्" (श्लो. ११) इत्यस्य व्याख्याने "पार्श्वभागे विद्यमानस्य भगवतः स्कन्धग्रहणं वृक्षाधिरूढालिंगनं भवति" इति श्रीमदाचार्यवचन-कथनान्यथानुपपत्त्या यत्रकुत्रचिद् रासग्रन्थे बाहुना कण्ठग्रहणपूर्वकं वृक्षाधिरूढालिंगनं भविष्यत्येव इति लक्ष्यते. किञ्च. "निजमथ भुजमेकं पृष्ठतो स्थापयन्ती" इत्युक्त्या वामभुजं पृष्ठभागे स्थापयति. पश्चाद् "रमणचरणम् एकेन ऊरुणा आक्रम्य" इति रमणस्य = नायकस्य ऊरुपर्यन्तं चरणं स्वेन एकेन ऊरुणा आक्रम्य "खिन्नश्वसितं यथा तथा अपरपादेन आश्रयन्ती तदूरुम्" इति स्वस्य ऊरुपर्यन्तेन एकेन पादेन नायकस्य ऊरु आश्रयन्ती = आश्रित्य तिष्ठति तद् वृक्षाधिरूढालिंगनम् इति.

ननु अत्र 'चरण'शब्दः 'पाद'शब्दश्च ऊरुपर्यन्तवाची इत्यत्र किं मानम् इत्याकाङ्क्षायां यथा "पादावस्य बि.. र्भिन्नौ" (. । ।) इत्यत्र 'पाद'शब्दः ऊरुपर्यन्तवाची नतु अग्रभागमात्रवाची तथा अत्रापि तथा इति सर्वं सुस्थम्.

तद् वृक्षाधिरूढालिंगनं कीर्त्या कृतम्. तत्र अयं प्रकारः. तस्याः कीर्तिरूपायाः वामहस्तस्य या ग्रन्थिः सा श्रीरूपायाः दक्षिणहस्ते पूर्वं कृता. अतएव "तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः" (श्लो. ३) इत्यत्र सुबोधिन्यां "यत्र हस्तद्वयग्रन्थिः तत्र भगवदुदरम्" इति पूर्वम् उक्तम्. अधुना तद्ग्रन्थिं वियुज्य "पृष्ठतो स्थापयन्ती" इति टिप्पण्युक्तवाक्याद् भगवतः पृष्ठभागे ग्रन्थिः कृता इति ज्ञायते. एवं तस्याः कीर्तिरूपाया दक्षिणभागे स्थिता या वीर्यरूपा स्वामिनी तद्धस्ते पूर्वं दक्षिणहस्तेन ग्रन्थिः कीर्तिरूपायाः कृता तामपि वियुज्य भगवतः सम्मुखं स्थित्वा तदा

स्वदक्षिणहस्तेन भगवतो वामस्कन्धं जग्राह. तदेव उक्तं "जग्राह बाहुना स्कन्धम्" (श्लो. ११) इति. तदा पूर्वं भगवता स्वदक्षिणहस्तः कीर्तिरूपायाः कण्ठे स्थापितः तं वियुज्य मण्डलसिद्ध्यर्थं दक्षिणभागे स्थिता या वीर्यरूपा अपरस्वामिनी तस्या वामहस्ते धृत इति. तदेव उक्तं सुबोधिन्यां "मण्डलसिद्ध्यर्थं भगवतापि हस्तग्रहणं सम्भवति" इति.

अग्रे 'श्लथद्वलयमल्लिका' इति पदस्य अर्थः सुबोधिन्यां "कबरे वलयाकारेण मल्लिका माला बद्धा सा च शिथिला जाता इति वैकल्यं प्रदर्शितं आप्तता च प्रदर्शिता" इत्युक्तम्. तदर्थो गोस्वामिश्रीवल्लभानां लेखे "अङ्गुलीभिः पुष्पाणामेव शैथिल्यं न मालायाः इति भावः" इत्युक्तम्. तद् भगवता केन हस्तेन कृतम् इत्याकाङ्क्षायां वामहस्तस्तु भगवता पूर्वं श्रीरूपायाः कण्ठे धृतः स तथैव स्थितो ; या दक्षिणभागे स्थिता वीर्यरूपा अपरस्वामिनी तद्धस्ते यो भगवता पूर्वं धृतः तद्ग्रन्थियुक्तेन हस्तेन यथा पूर्वं स्वामिन्योः तालाभिव्यक्त्यर्थं मध्ये मध्ये हस्तद्वयं योजयन्ति तद्वद् अत्र भगवतापि पूर्वं कीर्तिरूपाया हस्तस्थाने अपरस्वामिनी-वीर्यरूपाया हस्ते स्वहस्तो धृतः तं तालदानव्याजेन स्वामिन्याः हस्तेन सहैव आकृष्य तेन हस्तेन सह स्वहस्ताङ्गुल्या पुष्पाणां शैथिल्यकरणम् इति ज्ञायते. तदेव उक्तं "वलयानां नूपुराणाम्" (श्लो. ६) इत्यत्र सुबोधिन्याम् "अन्योन्याबद्धबाहव एव मध्ये मध्ये हस्तद्वयं योजयन्ति इति" इति.

ननु अत्र भगवतो दक्षिणभागे एव कीर्तिरूपायाः स्वामिन्याः स्थितिकथने किं मानम् इत्याशङ्का केन मानेन अपनेया इत्याकाङ्क्षा श्रिया भगवतो वामभागे स्थितिः लोकवेदप्रसिद्धा, तदनुगुणं श्रीरूपायाः स्वामिन्याः भगवतो वामभागे कथनं सकलप्रमाणमूर्द्धन्यं श्रीमदाचार्याणां वाक्यामृतमेव मानं तेन अपनेया इति सर्वं रमणीयम्. तथाच "अजितकीर्तिमाला पदे पदे नूतन यस्यमिक्ष्णम्" (भाग.पुरा. ३।८।१) इति तृतीयस्कन्धीय-मैत्रेयवाक्येन, "कीर्तिः हि भगवन्तमेव अवलम्बते" (सुबो.) इति श्रीमदाचार्याणां वाक्यामृतैश्च कीर्तेः भगवत्कण्ठावलम्बनोक्त्या यज्ञोपवीतवत् मालात्वात् भगवत्कण्ठस्थित्यापि श्रीशुकेन कीर्तिरूपायाः स्वामिन्या आप्तता प्राप्तपुरुषार्थता दर्शिता तेन सर्वं समञ्जसम् इति.

ननु सुबोधिन्यां षोडशगोपिकानां मध्ये अष्टौ कृष्णा भवन्ति इति उक्तं तत्र ता का, तावन्मात्रकथने च किं मानम् इत्याकाङ्क्षायां केनचिद् उक्तं "षोडशगोपिका भगवत्कलारूपाः ताभिः कलारूपाभिः सहितः श्रीवृन्दावनचन्द्रो भगवान् बोधितः अतएव षोडशगोपिका गणिता" (योजना) इत्याद्युक्तम्. तथा सति "अष्ट कृष्णा भवन्ति" (सुबो.) इति उक्तत्वात् एकैककृष्णं प्रति द्वे

द्वे कलारूपा गोपिका आयाति, नतु एकैकं प्रति षोडश षोडश कलारूपा इति अरुच्या, किञ्च तथाकथने "काचित् समं मुकुन्देन" (श्लो. १०) इत्यादिषु षण्णाम् ऐश्वर्यादिरूपाणां श्रीमदाचार्यकथन-वैयर्थ्यापाताच्च मम तु एवं प्रतिभाति. "काचित् समं मुकुन्देन" (श्लो. १०) इत्यारभ्य "श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम्" (श्लो. १४) इत्यन्तानां श्लोकानां विवृतौ षण्णाम् ऐश्वर्यादिरूपाणि विवृतानि ता एव अत्र षड्विधा. अवशिष्टानां दशविधानां तु गुणभेदेन भावाः "दुहन्त्योऽभिययुः काचिद्" (भाग.पुरा. १०।२६।५) इत्यादिस्थलेषु श्रीमदाचार्यचरणैः बहुधा उक्ता त एव अत्र दशविधाः. एवं षोडशविधानां स्वरूपाणि निरूपितेऽपि पुनरपि गृहिलतया पुनरपि आशङ्कते. ननु एवं षोडशा पक्षकथनेऽपि किं मानम् इत्याशङ्का "रासोत्सवः सम्प्रवृत्त" (भाग.पुरा. १०।३०।३) इत्यत्र सुबोधिन्यां "द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन भगवता कण्ठे गृहीतानाम्" इत्यादीनां व्याख्याने समसङ्ख्यादिपक्षे रसाभासादिदोषकथनपूर्वकं श्रीमदाचार्यवचनामृतमेव मानं तेन अपनेया इति. किञ्च "काचिद् रासपरिश्रान्ता" (श्लो. ११) इति पदस्य अर्थः सुबोधिन्यां "परिश्रमो रसाधिक्याद्" इति उक्तम्. तत्र "आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः" (भाग.पुरा. १०।५।९) इत्यत्रोक्तप्रकारेण अलौकिकदेहवतीनां देहक्लेशजनितश्रमा स्तम्भादिरूपा सात्त्विकभावा लक्ष्यते. सात्त्विकभावास्तु "स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः वैवर्ण्यम् अश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृता" (भरतनाट्यशास्त्र ६।२२) इति रसशास्त्रोक्ता ज्ञेयाः. अत्र 'प्रलय'शब्देन चेष्टाभावो, न मरणं, "प्रलयो नष्टचेष्टता" (अमरकोश १।७।३३) इति कोशात्. तच्छ्रमनिवृत्त्यर्थं कीर्तिरूपया स्वामिन्या वृक्षाधिरूढालिंगनं कृतं तेन तच्छ्रमनिवृत्तिः जाता. अन्यथा तच्छ्रमनिवृत्त्यर्थम् अधिकप्रलये उपविश्य रमणादौ क्रियमाणे रासो भज्येत इति. तदेव उक्तं सुबोधिन्याम् "अधिकप्रलये (/ प्रयत्ने!) ...".

किञ्च 'गदाभृत्'पदस्य ध्वन्यर्थकथने भगवतः स्थिरत्वाय बाहुना स्कन्धं जग्राह इत्युक्तम्. तद्भारनिक्षेपणेन कथं भगवतः स्थिरत्वं कथं वा लेखे टिप्पण्युक्तम् अवष्टम्भनम् इत्याकाङ्क्षायाम् अत्र अयम् आशयः. अग्रे रसार्थं प्रवृत्तिः द्वयोः रसाधिक्याद् भवति. "काचिद् रासपरिश्रान्ता" (श्लो. ११) इत्यत्र यथा 'परिश्रान्त'पदेन स्वामिन्या रसाधिक्यम् उक्तं तथा अत्र 'गदाभृत्'पदेन भगवतोपि रसपरवशत्वम् उक्तम्. तदा भगवतापि अधिकप्रलये उपविश्य रमणादिरूपे क्रियमाणे रासो भज्येत इति मण्डले भगवतः स्थिरत्वाय कीर्तिरूपया स्वामिन्या वृक्षाधिरूढालिंगनकरणेन रसपूर्त्या अवष्टम्भनं कृतं, नतु अन्यप्रकारेण. इति

श्रीसुबोधिनी-टिप्पण्यादिलेखविचारेण अयं प्रघट्टार्थः कृतः स विज्ञैः विचारणीयः तदा सर्वं समञ्जसं भवति इति.

किञ्च. ननु एवम् एकविधमण्डले सिद्धेऽपि "गोपीमण्डलमण्डित" (श्लो. ३) इत्युक्तेः अनेकविधमण्डलकथने का व्यवस्था इत्याकाङ्क्षायां यथा उत्सवो यज्ञरूपोऽपि अनेकविधैः ब्राह्मणादिमण्डलैः मण्डितो भवति तथा अत्रापि तुल्यस्वभावाः "दुहन्त्योऽभिययुः" (भाग.पुरा. १०।२६।५) इत्यत्र उक्त-पृथक्पृथक्मण्डलभाजो रसार्थं बह्व्य एकीकृताः इत्युक्तम्. तथाच केवलराजसराजसीनां षोडशसङ्ख्याकानाम् अनेकानि मण्डलानि. एवं केवलराजससात्त्विकीनाम् अनेकानि मण्डलानि. तथा केवलराजसतामसीनाम् अपि अनेकानि. एवम् अग्रेऽपि सात्त्विकराजसीनां, सात्त्विकसात्त्विकीनां, सात्त्विकतामसीनाम् अपि. तथा तामसराजसीनां, तामससात्त्विकीनां, तामसतामसीनाम् अनेकानाम् अपि षोडशसङ्ख्याकानाम् अनेकानि मण्डलानि ज्ञेयानि इति. एवं "अञ्जन्त्यः काश्च लोचने" (भाग.पुरा. १०।२६।७) इति गुणातीतानाम् अपि अनेकानाम् अपि षोडशसङ्ख्याकानाम् अनेकानि मण्डलानि ज्ञेयानि. तथा भगवदैश्वर्यादिधर्मरूपाणां षण्णां मध्ये तु यद्यपि सात्त्विकादिभावा न सन्ति तथापि "गोपीमण्डलमण्डित" (श्लो. ३) इत्युक्त्या तासां षड्विधानाम् अपि बहुत्वं लक्ष्यते. तथा सति तासामपि गोपीत्वात् तन्न्यायेन एकैकानां षोडशसङ्ख्यानि रसार्थं बहूनि मण्डलानि ज्ञेयानि इति.

किञ्च. "दुहन्त्य" (भाग.पुरा. १०।२६।५) इत्यस्य उत्थानिकायां श्रीमदाचार्यचरणैः प्रथमपक्षे यद्यपि "नवविधा समागता" (सुबो.) इत्युक्तं, पश्चाद् "अञ्जन्त्यः काश्च लोचने" (भाग.पुरा. १०।२६।७) इति गुणातीता इत्युक्तं, ताः का इत्याकाङ्क्षायां गोस्वामिश्रीवल्लभानां लेखे "निर्गुणत्वं षोडशसहस्रेषु अस्तीति तद्व्यतिरिक्ताः याः समागताः तद्धर्मो तेन वा (/ते नवा!) अन्यतमविधत्वमेव" इत्युक्तम्. तेन आद्यपक्षे "अञ्जन्त्यः काश्च लोचने" इत्यत्र षोडशसहस्रा ज्ञेया. पश्चात् "ता दृष्ट्वा" (भाग.पुरा. १०।२६।१७) इत्यत्र सुबोधिन्यां "यास्तु समाहूताः समागताः ता न निवार्यन्ते. या पुनः सगुणाः समागता अन्यत्र सम्बन्धिन्यः ता शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीया" इति वक्तव्यम्. तदग्रे "श्रवणाद् दर्शनाद्" (भाग.पुरा. १०।२६।२७) इत्यस्य आभासे "एवं सगुणाः प्रबोध्य गुणातीताः प्रबोधयन्ति" (सुबो.) इति वक्तव्यम्. ता अपि श्रुतिरूपाः ; तदुत्तरदानेऽपि "का स्त्र्यंग ते" (भाग.पुरा. १०।२६।४०) इति श्लोके श्रुतिरूपाणां गुणातीतानां वाक्यम् इति विचार्य पूर्वपक्षे अरुचिं मत्वा "दशविधा वा" (सुबो. १०।२६।५) इति उक्तम्. किञ्च

"गोपीमण्डलमण्डित" (श्लो. ३) इत्यत्रापि श्रुतिरूपाणाम् अनेकानाम् अनेकमण्डले षोडशसहस्रपरिमितानाम् अग्निकुमाराणां कल्पनेऽपि अरुचिं मत्वा "दशविधा वा" इति उक्तम्. एवं सति षोडशसहस्रपरिमितानाम् अग्निकुमाराणाम् अपि रासमण्डलमध्यपातित्वात् सहस्रमण्डलानि पृथगेव ज्ञेयानि इति प्रतिभाति इति. एवं रासमण्डलपरिभ्रमणम् अपि ऐश्वर्यरूपाम् आरभ्य अन्ते गुणातीतापर्यन्तं शिष्टपरम्परया परिक्रमावद् ज्ञेयम्. तेन श्रीरूपाया भगवतो वामपार्श्वे स्थितिः अपि सिद्धा इति भावः.

रासमण्डलभावोऽयं लिखितो दभ्रबुद्धिना ।
अदभ्रदययाऽऽचार्याः प्रसीदन्तु ततो मयि ॥

इति श्रीमन्मथुराधीशसन्निधौ गोस्वामिश्रीद्वारिकानाथात्मज- गोस्वामिश्रीरामकृष्णादिसतां सम्मत्या नन्दग्रामे श्रीमत्सुबोधिन्यादिकं यथाबुद्धि विचार्य श्रीमद्द्वारवतीनिवासिनां वालखिल्यगरुडोद्गारिज्ञातिना पाहाडश्रीविश्रामात्मज-हरिकृष्णेन इयं रासमण्डलस्य भावना लिखिता. तत्र मनसो अनेकपथत्वाद् बुद्धिदोषात् यत्किञ्चित् न्यूनाधिकं तद् विज्ञैः विचार्य कामानुजं विहाय लेखार्हं तत् लेख्यम्. यतो मया व्याकरणं न अधीतम्. अत्रार्थे केनचिद् उक्तं— "एवस्यामहमल्पबुद्धिविभवोऽप्येकोपि कोपि ध्रुवं, मध्ये भक्तजनस्य मत्कृतिरियं न स्यादवज्ञास्पदं, किं विद्याः सरघा किमुज्ज्वलकुला किं पौरुषाः किं गुणाः, तत् किं सुन्दरमादरेण रसिकैर्नापीयते यन्मधुः" ! यतो देहस्य अनित्यत्वं ततो ममोपरि दयां कृत्वा सत्समागमे सद्भिः स्मर्तव्योऽहम् इति प्रार्थये. संवत् १८९१.

(अप्रकाशितः).

(झ) केषाञ्चित् लेखाः

(१) "गोप्यः कामाद्" इति पद्यव्याख्यानम्

"गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो ॥

(भाग.पुरा. ७।१।३०).

। श्रीहरिः । **गोप्यः कामाद्** इति "जारबुद्ध्यापि संगता" (भाग.पुरा. १०।२६।११) इत्यत्र उक्ता अलब्धरासाः, नतु लब्धरासाः, तासां सर्वात्मना भावत्वेन उत्तमभक्तित्वात्. एतत् तत्रैव सुबोधिन्यां द्वितीयव्याख्याने स्फुटम्. सुगमम् अन्यत्.

ननु स्नेह-भक्त्योः भेदेन निरूपणम् अनुपपन्नं, "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः

सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा" (नारदपंचरात्र), "सा परानुरक्तिरीश्वरे" (शांडि.भक्तिसूत्र २) इत्यादौ स्नेहस्यैव भक्तित्वेन कथनाद् इति चेद्, अत्र वयं वदामः केवलस्नेहस्यैव भक्तित्वे पुत्रादिस्नेहवत्यपि 'भक्त' इति प्रयोगः स्यात्, नतु 'संसारी' इति प्रयोगः. तस्मात् माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वं तत्र वक्तव्यम्.

नच माहात्म्यज्ञानमेव सा इति वाच्यं, केवलमाहात्म्यज्ञानवति अतिव्याप्तेः. प्रपञ्चीयस्नेहतुल्यत्वे, ततोऽपि न्यूनत्वे वा प्रपञ्चविस्मृत्यभावेन मनःप्रभृतेन्द्रियाणां भगवदेकपरत्वाभावे भगवत्प्रसादाजनकत्वात् "प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्" (भाग.पुरा. ७।७।५२) इति मुख्यफलाजनने तादृशस्य भक्तित्वमेव न स्याद् इति सर्वत आधिक्येन अपि विशेषणीयः सः. सुदृढत्वाभावे कदाचित् कालादिवशात् भरतवत् शैथिल्ये पुनः संसारसम्भवात् साक्षादनर्थोपशमत्वाभावात् स एव दोष इति सुदृढत्वमपि विशेषणं देयम्. एवं "सा परानुरक्तिरीश्वरे" इत्यत्रापि ईश्वरत्वं माहात्म्यं, सुदृढत्वे सति सर्वतोधिकत्वमेव अनुरक्तौ परत्वम् इति उभयोः एकवाक्यता. एवम् अन्यत्रापि ऊहनीयम्. एवं सति युधिष्ठिरादौ नारदादिसदृश-माहात्म्यज्ञानाभावेन न तत्स्नेहे भक्तित्वम् इत्याशयेन पृथगुक्तिः ज्ञेया.

अथवा. "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः" (भाग.पुरा. ७।५।२३) इत्यादिवाक्यैः पूर्वोक्तं विशिष्टस्नेहवच्छ्रवणादौ अपि 'भक्ति'पदशक्तिनिश्चयात्, नारदादीनां च श्रवणादिभक्तिमत्त्वाद् अत्र 'भक्ति'पदं श्रवणादिपरम्. अन्यथा नारदे प्रेमाभावात् तत्परत्वाभिप्रायेण कथने बाधितार्थवादित्वेन तस्य मिथ्यावादित्वम् आपद्येत. नहि प्रेमवता तद्विषयस्य प्रबलशत्रुकंसादिज्ञापनं सम्भवति. न वा तद् अभक्तोद्वेजनप्रकार-कथनम्. न च एतस्य माहात्म्यज्ञानेन पर्यवसाने दोषाभावज्ञानात् ज्ञापनं न दोषाय इति वाच्यं, स्नेहात् तस्य दुर्बलत्वात्, तद्वत्त्वे तदसम्भवात्. अतएव नित्यं माहात्म्यं पश्यतोऽपि युधिष्ठिराद् "अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः, परेभ्यः शंकितः स्नेहात् प्रायुङ्क्त चतुरंगिणीम्" (भाग.पुरा. १।१०।३२) इति स्नेहकार्यमेव सम्पन्नम्. अतएव "योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो" (भाग.पुरा. १०।३।२६) इत्यादि माहात्म्यज्ञाने सत्यपि "उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपम् अलौकिकम्" (भाग.पुरा. १०।३।३०) इति, "समुद्विजे भवद्व्रताः कंसादहमधीरधीः" (भाग.पुरा. १०।३।२९) इति च शत्रुतः स्वरूपगोपनमेव प्रार्थितं मातृचरणैः ; तदभावे युद्धादिकरणे स्वमरणं च सूचितम् इति दिक्.

एतदेव "तत्रान्वहं कृष्णकथा प्रगायताम्" (भाग.पुरा. १।५।२६) इति श्लोकसुबोधिन्याम् "एवम् एका श्रवणभक्तिः सिद्धाः. श्रवणभक्तेः तस्या नारदत्वपर्यन्तं

फलम्. ततः कीर्तनम् इति साम्प्रतं तु कीर्तनम्. एवम् अग्रे श्रवणादिवृद्धौ तावद्भिः कल्पैः नवविधसाधनभक्तौ सिद्धायां प्रेम्णा भगवत्सायुज्यं भवति इति शास्त्रार्थः'' (सुबो.) इति आचार्यैः निरूपितम्.

तथाच पाण्डवानां स्वापेक्षोत्तम-भक्तिमत्त्वज्ञापनाय तत्स्नेहेऽपि 'भक्ति'पदप्रयोगे वैलक्षण्यज्ञानं न भविष्यति इति ''स्नेहाद् यूयम्'' इति निरूप्य ''भक्त्या वयम्'' इति पृथक् निरूपितवान् इति अदोषः. श्रवणादि''भक्त्या वयम्'' इति तस्य अर्थः. न च तेषां माहात्म्यज्ञानाभावात् तत्पूर्वकत्वाभावेन तत्स्नेहे भक्तिलक्षणाभावात् न एवं वक्तुं युक्तम् इति वाच्यं, ''यक्ष्ये विभूतीर्भवतः'' (भाग.पुरा. १०।६९।३) इत्यादिवाक्यैः चैद्यमोक्षदर्शनाच्च तन्निश्चयात्.

अथवा श्रवणादिभक्तौ– ''तज्जन्यमाहात्म्यज्ञाने''त्यादि-लक्षणवाक्योक्तभक्तौ च मुक्तिहेतुत्वकारणात् वेदेन ''दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः, श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते'' (भाग.पुरा. १०।४४।२४) इत्यादिवाक्यैः वेदानुष्ठानेन च जायमानत्वाच्च शास्त्रीयत्वेन, शास्त्रस्य च स्वेष्टमर्यादाज्ञापनार्थं मुक्त्यर्थं च भगवता कृतत्वात् – मर्यादामार्गीयत्वम्. ''पोषणं तदनुग्रहः'' (भाग.पुरा. २।१०।४), ''दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्, नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथं'' (भाग.पुरा. १०।२३।१३), ''देवानां गुणलिंगानाम् आनुश्रविककर्मणां, सत्य एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या, अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'' (भाग.पुरा. ३।२५।३२-३३) इत्यादिवाक्यैः परमकाष्ठापन्ने कृष्णाख्ये वस्तुनि वस्तुस्वभावात् केवलं तदत्यन्तानुग्रहेण परमस्नेहः पुष्टिभक्तिः. अत्यनुग्रहश्च भगवतः स्वव्यापकत्वादिधर्मम् अपि तिरोहितं कृत्वा बन्धनादिना ईश्वरत्वादिकमपि तिरोभाव्य कैंकर्यादिना च सदा तदनुसरतो तेषां स्वस्मिन् प्रत्यहम् आसक्तिवर्धनेन लक्ष्यते. भगवतोऽपि तत्र स्वाभाविकस्नेहात् तस्य स्नेहस्य च तादृक्स्वभावात् ''किमित्येवं क्रियते?'' इति शङ्कापि न कर्तव्या. एतदेव उत्तमाधिकारिणा शुकेन ''कृपयासीत् स्वबन्धने एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता'' (भाग.पुरा. १०।९।१८-१९) इत्यादिना उक्तम्.

पुष्टिमार्गाचार्यैरपि ''अजातशत्रुः'' (भाग.पुरा. १।१०।३२) इति श्लोकाभासे ''राज्ञो हि ज्ञानाद् भक्तिरधिका'' (सुबो.) इति वदद्भिः कृष्णस्नेहे एव 'भक्ति'पदशक्तिः ज्ञापिता. तत्पुत्रैश्च ''माहात्म्यज्ञाने''त्यादि-लक्षणलक्षितभक्तौ मुक्तिसाधनत्वश्रवणात् तादृश्याश्च तस्याः पञ्चपर्वायां विद्यायां प्रवेशात् तस्य शुद्धभक्तित्वम् अमन्यमानैः भक्तिहंसे ''तेन 'भक्ति'पदस्य शक्तिः स्नेहे एव'' इति उक्तम्. युक्तं च एतत्, ''महतां मधुद्विट्सेवानुरक्त-मनसाम् अभयोऽपि

फल्गुः'' (भाग.पुरा. ५।१४।४४) इत्यादिवाक्यैः तत्फलस्यापि तुच्छत्वश्रवणात्, ''तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह'' (भाग.पुरा. ११।२०।३१) इति विद्याङ्ग-ज्ञानवैराग्ययोः भक्तानुपयोगित्वकथनाच्च. ''सस्विजातेन शङ्कितौ'' (भाग.पुरा. १०।४१।५१) इति माहात्म्यज्ञानस्य यथेष्टपरमानन्दानुभवे प्रतिबन्धकत्वाच्च. अतएव अलौकिककार्यदर्शनेन जातमपि तत् तेषु अत्यनुग्रहवता भगवता ''वैष्णवीं व्यतनोत् मायां'' (भाग.पुरा. १०।८।४३), ''योगमायामुपाश्रितः'' (भाग.पुरा. १०।२६।१), ''माभूदिति निजां मायाम्'' (भाग.पुरा. १०।४२।१) इति अलौकिकप्रकारेण तिरोहितम्.

एतद्भक्तेः भगवता गोपीद्वारा प्रकटनात् नारदस्य तु मर्यादामार्गीयत्वेन तत्सङ्गाभावात् मध्यमाधिकारीत्वाच्च अज्ञानम्. अतः तादृशयुधिष्ठिरस्नेहे भक्तित्वाज्ञानात् ''स्नेहाद् यूयम्'' इति पृथग् उक्तवान्.

एतदेव उद्धवेन ''भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा, भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा'' (भाग.पुरा. १०।४४।२५) इत्यादिना उक्तम्. आचार्यैश्च ''न हि सर्वैः एकविधं भागवतं बुद्ध्यते. सूतशौनकाभ्यां बुद्धम् एकविधं, तथा नारदव्यासाभ्याम् अपरविधं तथा शुक-परीक्षिद्भ्याम् उक्तस्वरूपम्'' (सुबो. । ।) इत्यादिना उक्तम्. निरोधीयराजसप्रकरणे सुबोधिन्यां ''भ्रान्तोऽयम्'' (सुबो. । ।) इति च भगवदभिप्रायम् उक्तवन्तः. नारदस्य भ्रान्तत्वं च अन्यार्थक-भगवदवतारस्य अन्यार्थकत्वकथनेन इति ज्ञातव्यम्.

एवं च ''स्वाभाविकत्वे सति कृष्णपरमस्नेहत्वं पुष्टिभक्तिलक्षणम्'' इति सिद्धम्. 'कृष्ण'पदात् न पतिपुत्रजारपरस्त्र्यादिविषयक-स्वाभाविकपरमस्नेहे अतिव्याप्तिः. 'परम'पदाच्च प्रपञ्चतुल्ये ततोऽपि न्यूने वा कादाचित्के वा स्वाभाविककृष्णस्नेहे न अतिव्याप्तिः. 'स्वाभाविक'पदात् साधनैः जायमानमुक्तिकारणीभूता उक्तमर्यादाभक्तौ न अतिव्याप्तिः. ''मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्'' (ब्रह्मसूत्र १।३।२), ''मुक्ता अपि लीलार्थं विग्रहं कृत्वा भजन्ते'' (. । ।) इत्यादिवाक्यैः कदाचिद् अत्यनुग्रहेण लीलानुभवार्थं भगवान् स्वस्मिन् तादृशं स्नेहं सम्पादयति. तत्र न साधनानां माहात्म्यं, तेषां मुक्तौ उपक्षीणत्वात्. ''नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि, न तपो नात्ममीमांसा न शौचः न शुभाः क्रियाः, अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे, भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि'' (भाग.पुरा. १०।२०।४२-४३) इति अन्वयव्यतिरेक-व्यभिचाराच्च. एवं सति नन्दगोपकुमारीस्नेहे न अव्याप्तिः, अनुग्रहैकलभ्यत्वस्य व्युत्पादितत्वात्. ''पोषणं

तदनुग्रहाद्'' (भाग.पुरा. २।१०।४) इतिवाक्याद् उक्तस्नेहः 'पुष्टिभक्ति'शब्देन व्यवह्रियते.

अथवा पुष्टियुक्ता = न केनाप्यंशेन न्यूना पूर्णा प्रमाणतः प्रमेयतः साधनतः फलतश्च सर्वोत्तमा कालादिना अपि अनिवार्यावक्षमा ता, 'भक्ति'पदार्थद्वयरूपा इति यावत्, एतादृशी भक्तिः पुष्टिभक्तिः. सर्ववेदनिर्गलितार्थ-प्रतिपादकशब्दराशि-प्रतिपाद्यत्वात् प्रमाणत उत्तमत्वम्. मुक्तितोऽप्यधिक-परमानन्दरूपत्वात् प्रमेयत उत्तमत्वम्. सर्वे साधनसाधनीय-भगवदत्यन्तानुग्रह-साध्यत्वात् साधनत उत्तमत्वम्. ''सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः'' (बृहदा.उप. ४।४।२२) एतादृशभगवतोऽपि वश्यतासम्पादकत्वात् फलत उत्तमत्वम्. कालनियन्तुः अपि स्वाश्रयाधीनत्वेन कालादिनापि अविनाश्यत्वम् इति दिक्. पक्षद्वयेऽपि मध्यमपदलोपीसमासः.

एतावत् परं विशेषः. आद्यपक्षे पुष्टिसाध्या भक्तिः पुष्टिभक्तिः, द्वितीयपक्षे पुष्टियुक्ता भक्तिः पुष्टिभक्तिः इति. अर्थद्वयलाभाय एव 'अनुग्रहपूर्णा'दिपदानि अनुक्त्वा 'पुष्टि'पदप्रयोगः. इयमेव फलरूपा स्वतन्त्रभक्तिः. ''सा परानुरक्तिरीश्वरे'' (शांडि.भक्तिसूत्र २) इति 'भक्ति'पदार्थनिर्णायक-सूत्रकृतोऽपि अयमेव आशयः.

तथाहि. अक्षरपर्यन्तं सर्वेषां स्वातन्त्र्याभावात्– ''अक्षरादपि चोत्तमः'' (भग.गीता १५।१८), ''रतिः नः कृष्ण ईश्वरे'' (भाग.पुरा. १०।४४।६७), ''योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो'' (भाग.पुरा. १०।३।२६), ''चेष्टामाहुः'' (भाग.पुरा. १०।३।२६) इत्याद्यनेकवाक्यैः– वास्तवैश्वर्यवान् कृष्ण एव, कृत्रिमे सर्वापेक्षया न्यूने तुल्ये वा शिथिले वा 'पर'पदप्रयोगाभावात्. स्वाभाविकचेतसि सर्वाधिकत्वे सति सुदृढत्वरूपमेव उत्कृष्टत्वम् अनुरक्तौ 'पर'शब्देन उच्यते. भगवत्स्नेहानुग्रहयोः आनन्तर्यं च अनुना ज्ञाप्यते. इति उक्तसिद्धार्थ एतत्सूत्रस्य.

नच उक्तसाधनानन्तर्यम् अस्तु इति वाच्यं, तेषां साक्षात्परम्पराभेदेन मुक्तिसाधकत्वेन उपक्षीणसामर्थ्यत्वस्य अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारस्य च उक्तत्वात्. नच ''दानव्रततपोहोम'' इत्यादिना साधनानां भक्तिहेतुत्वकथनात् ''माहात्म्यज्ञान'' इत्यादिना भक्तेः मुक्तिकारणत्वकथनात् च अस्तु साधनानन्तर्यम् इति को दोष इति वाच्यं, ''सेवानुरक्तमनसाम् अभवोऽपि फल्गुः'' (भाग.पुरा. ५।१४।४४), ''मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये, मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोम्बुधौ, लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्'' (भाग.पुरा. ३।२९।११-१२), ''अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे, सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः, सएव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः'' (भाग.पुरा. ३।२९।१२-१४) इत्यादिवाक्यैः तत्फलस्यापि भक्तानाम्

अनंगीकारात्. किं बहुना, "तुलयामि लवेनापि न स्वर्गं न पुनर्भवं, भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः" (भाग.पुरा. १।१८।१३) इति तादृशभक्तसंगाद् अपि न्यूनत्वकारणात्. साधनानां च तत्कारणत्वे "नासां द्विजातिसंस्कार" (भाग.पुरा. १०।२०।४२) इत्यादिना अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारस्य उक्तत्वात् क्व भक्तौ उक्तसाधनसाध्यत्वं क्व वा मुक्तिसाधनस्य भक्तित्वम् इति त्वदुक्तप्रकारे दोषस्य सत्त्वात्. तस्यापि औत्पत्तिकः कथम्? "गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता" (भाग.पुरा. ३।२।३३) इति गोपोद्धववाक्ययोः स्पष्टकथनाच्च तत्रैव अन्यथा पालयितुं समर्थः. तादृशेषु स्नेहानुग्रहयोः तु भगवता "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहं, गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः" (भाग.पुरा. १०।२२।१८) इत्युक्त्या गोवर्धनोद्धरणेन लोके प्रकटनात् स्वस्य परमम् अनुग्रहं व्रजविषयकं लोके ख्यापयितुं पर्वतोद्धरणं कृतवान् इति अभिप्रायेण आह. "अनुगृह्णता" (सुबो.) इति आचार्यैः व्याख्यातत्वाच्च. सूत्रे 'ईश्वर'पदसान्निध्याच्च तद्धर्मयोः तयोः आनन्तर्यकथने न कोऽपि दोषः.

"सएव भक्तियोगाख्य" (भाग.पुरा. ३।२९।१४) इति 'आख्या'पदेन तत्रैव शक्तिबोधनात् ततो अन्यत्र 'भक्ति'पदप्रयोगो भाक्त इति ज्ञातव्यम्. नच "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु" इत्यादिवाक्यविरोधः शंकनीयः, तत्रैव मुक्तिसाधनत्वकथनेन भाक्तत्वस्य ज्ञापितत्वात्. अन्यथा उक्तविरोधस्य दुर्निवार्यत्वात्. अथवा "सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा" (भाग.पुरा. ११।२०।३३) इतिवाक्येन लाघवात् यथा सर्वेषां फलार्थिनामपि भक्तिः कर्तव्यत्वेन उपदिष्टा तथा मुमुक्षूणामपि मुक्तिः तत्र भगवत्सम्बन्धात् भक्त्यैव भवति, न अन्यसाधनेन इति तैः अपि सा एव कार्या इति ज्ञापनाय "तया मुक्तिर्नचान्यथा" इति उक्तम् इति न एतत् लक्षणघटकम्.

"माहात्म्यज्ञानपूर्व" इत्यत्र 'माहात्म्य'पदेन अपि "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" (भग.गीता ९।३१), "दृष्ट्वा भवद्भिः ननु राजसूये चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोपि सिद्धिः, यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यक् योगेन कस्तद्विरहं सहेत" (भाग.पुरा. ३।२।१९) "अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसया पाययदप्यसाध्वी लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम" (भाग.पुरा. ३।२।२३) इत्याद्युक्तं कालादिभ्योपि स्वभक्तरक्षणं, शत्रूणामपि ब्रह्मादिदुर्लभमोक्षदानं, परमदयालुत्वं च इत्यादिरूपं भजनीयतावच्छेदकरूपः धर्मसमूह उच्यते, एतस्यैव उक्तस्नेहोपयोगित्वात्. नतु "दंष्ट्रा करालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि, दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास, अमीवत्यां धृतराष्ट्रपुत्राः

सर्वे सहैवावनिपालसंघैः, भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः, वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्रा करालानि भयानकानि, केचिद् विभग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः'' (भग.गीता ११।२५-२७) इत्याद्युक्त-स्नेहविरोधिसर्वमारकत्वादिरूपं, ज्ञातस्य एतस्य भयजनकत्वेन सर्वविस्मारकत्वात्. एतादृशमाहात्म्यज्ञानस्य यथेष्टानन्दानुभव-प्रतिबन्धकत्वस्य पूर्वम् उक्तत्वात् च उक्तस्नेहः परब्रह्मकृष्णविषयकत्वे नतु विशेषणीय एव. एवं सति 'कृष्ण'पदेनैव महादेवादिविषयके पुत्रादिविषयके च तादृशस्नेहे अतिव्याप्तिवारणात् भक्त्युपयोगित्वेन कथनाच्च शक्यतावच्छेदककोटौ प्रवेशे गौरवाच्च 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु' इत्यस्यापि न लक्षणघटकत्वम्. उक्ताभिप्रायबोधनार्थमेव माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वम् उक्तवान्, अन्यथा तद्वैशिष्ट्यमेव वदेत्.

'दृढ'पदेनैव कादाचित्कत्वस्य वारणे अपि 'सु'पदं स्वाभाविकत्वार्थम्. अन्यथा कृत्रिमस्य साधनत्वेन परिग्रहात् प्राप्ते फले तस्य शैथिल्यसम्भवात्. औपाधिकत्वेन शोभनत्वाभावाच्च 'सु'पदम् अनर्थकं स्यात्. एवञ्च उक्तार्थकत्वाद् एतद्वाक्यस्यापि न विरोधः. इति तु परं ज्ञातव्यम्— उक्तस्नेहस्य अयं स्वभावः यत् स्वविषयपरतया सर्वेन्द्रियाणां प्रवर्तकत्वं स्वविषयान्यविस्मारकत्वं च. कामस्य कामिनीसंगसम्पादकत्वम् इव साधिकरणीभूतानां समानशीलानां संगसम्पादकत्वं च. अतएव ''देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणां'' (भाग.पुरा. ३।२५।३२), ''मनसो वृत्तयो नः स्युः'' (भाग.पुरा. १०।४४।६६), ''मनोगतिरविच्छिन्ना'' (भाग.पुरा. ३।२९।११), ''सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः'' (भाग.पुरा. ५।१४।४४), ''दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः'' (भाग.पुरा. ३।२९।१३), ''सेवया पूर्णाः'' (भाग.पुरा. ९।४।६७) इत्यादिवाक्यानि सर्वेन्द्रियाणां भक्तिविषयपरता-प्रतिपादकानि. ''मदन्यत् ते न जानाति नाहं तेभ्यो मनागपि'' (भाग.पुरा. ९।४।६८) ''नाविन्दन् भववेदनां'' (भाग.पुरा. १०।११।५८), ''तन्मनस्कास्तदालापाः तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः'' (भाग.पुरा. १०।२७।४४) इत्यादीनि विषयान्यविस्मृति-प्रतिपादकवाक्यानि.

अतएव केचित् महात्मानः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकत्वे सति भगवदासक्तित्वं भक्तेः लक्षणं वदन्ति. ''ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपासीत् महत्तमाः अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः'' (भाग.पुरा. ११।१२।७), ''तुलयामि लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवं, भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः'' (भाग.पुरा. १।१८।१३) इत्यादीनि सत्संगस्य मुख्यताप्रतिपादकानि, तस्यैव उक्तभावपोषकत्वात्. भक्तिस्वभावादेव सर्वतो निरपेक्षस्यापि शुकस्य स्वोद्यमेन परीक्षित्संगः. व्रजरत्नानामपि

भगवद्विरहकाले सम्भूय गुणगानम्. "य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः" (भाग.पुरा. १०।८।१८), "रतिर्न कृष्ण ईश्वरे" (भाग.पुरा. १०।४४।६७), "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगा मृगाः" (भाग.पुरा. ११।१२।८), "रतिमुद्वहतादद्धा" (भाग.पुरा. १।८।४२) इत्यादीनि मुख्यतया स्नेहस्य उत्तमत्वप्रतिपादकानि इति न कुत्रापि विरोधः.

किञ्च. "भज सेवायाम्" धातोऽर्थः 'क्तिन्'प्रत्ययेन निष्पन्नो भक्तिशब्दो योगशक्त्या सेवावाचकोऽपि "रूढिः योगमपहरति" इति न्यायेन रूढिशक्तिप्राबल्येन तादृशस्नेहविषय-कृष्णसेवाम् एव अभिधत्ते. एवञ्च निबन्धोक्तं "प्रेम सेवा च" (त.दी.नि. २।९२) इति अर्थद्वयं 'भक्ति'शब्दस्य. साच सदा चित्तस्य तदेकपरतया श्रवणादिभिः उक्तभक्तानां सदैव कर्तव्यत्वेन स्थितः फलरूपो भगवदुपयोगि कायिकव्यापारः, एतस्या एव ईश्वरप्रसादजनकत्वात्, "यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः" (भाग.पुरा. ३।६।३३), "प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्" (भाग.पुरा. ७।७।५२) इत्यादिवाक्यात्. बहिर्मुखतानिवृत्त्यर्थं 'सदा चित्तस्य' इत्यादि. बहिरिन्द्रियाणां साफल्याय 'श्रवणे'त्यादि. फलरूपत्वज्ञापनाय 'उक्तभक्तानाम्' इत्यादि. भगवदुपयोगाय 'भगवदुपयोगिकायिके'त्यादि. ईश्वरप्रसादस्यापि सेवापरम्परा-सिद्ध्युपयोगित्वात् न फलरूपत्वहानिः. एवञ्च "चेतस्तत्प्रवणं सेवा" (सिद्धा.मुक्ता. २), "देवानां गुणलिंगानां" (भाग.पुरा. १०।२३।१३), "मनोगतिरविच्छिन्ना" (भाग.पुरा. ३।२९।११), "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः" (भाग.पुरा. ७।५।२३) इत्यादि सेवारूप-भक्तिलक्षणं, "सा परानुरक्तिरीश्वरे" (शाण्डि.भक्तिसूत्र २) इत्यादि प्रेमभक्तिलक्षणम्. एवं सति उक्तस्वरूपात् किञ्चिन्न्यूनत्वे साधनत्वेन वा क्रियमाणत्वे अन्यविषयकत्वे वा 'भक्ति'पदप्रयोगो भाक्तः. अनेन 'पितृभक्तः' 'ब्राह्मणभक्तः' 'गुरुभक्तः' 'देवभक्तः' इत्यादिप्रयोगाः प्रत्युक्ताः. एवञ्च भक्त्या भक्तिमेव कुर्वन्ति, तयैव च पूर्णा भवन्ति, न अन्यत् किञ्चिद् आकाङ्क्षन्ते भक्ताः इति सिद्धम्.

अतएव एतत् सर्वं दास्ये प्रतिष्ठितम् इति सर्वभक्तोत्तमैः व्रजरत्नैः "भवाम दास्य" (भाग.पुरा. १०।२६।३९) इति दास्यमेव प्रार्थितम्. शुकेनापि "हरिदासस्य राजर्षेः" (भाग.पुरा. १०।७२।२७) इति तदेव अनूदितम्. उक्तस्नेहं विना उक्तसेवा न सम्भवति उक्तसेवां विना च उक्तस्नेहज्ञानं न सम्भवति इति एकलक्षणकथने द्वितीयस्यापि संग्रहाद् भिन्नतया लक्षणकरणेऽपि अक्षतिः. एवञ्च उक्तस्नेहविशिष्टोक्तसेवारूपत्वम् अपि उत्तमभक्तिलक्षण इत्यपि सुवचम्. अतएव "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति" (भाग.पुरा. १०।७८।४) इति अंशद्वयसद्भावस्य उपयोगो भगवता उक्तः. श्रीमन्नन्दरायैः अपि "मनसो

वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः, वाचोभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु, कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया, मंगलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे'' (भाग.पुरा. १०।४४।६७) इति अंशद्वयं प्रार्थितम् इति दिक्.

प्रत्यक्षेणानुमानेन निर्णीतो ह्याप्तवाक्यकैः ।
'भक्ति'पदस्य शक्यार्थः तेन तुष्यतु श्रीहरिः ॥

प्रकृतम् अनुसरामि. यद् वा. ''देवर्षि मे प्रियतमः'' (भाग.पुरा. १०।१०।२५) इति भगवद्वाक्यात् ''यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति, येषां गृहानावसतीति साक्षात् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिंगम्, स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः, प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च'' (भाग.पुरा. ७।१०।४८-४९) इति नारदवाक्याच्च अभीक्ष्णं भगवत्सहवासेन उक्तभक्तसंगाच्च नारदोऽपि उक्तभक्तिस्वरूपं जानाति यद्यपि तथापि यस्य यस्य धर्मस्य यत्र यत्र प्राधान्येन भगवत्प्रापकत्वं तं तं धर्मं तत्र तत्र तत्प्राप्तिहेतुत्वेन निरूपितवान्. अतएव गोपीनां ''दुःसहप्रेष्ठविरह'' (भाग.पुरा. १०।२६।१०) इति ''किमुताधोक्षजप्रियाः'' (भाग.पुरा. १०।२६।१३) इति स्नेहसत्त्वेऽपि न क्षतिः. ''चक्रे वैरानुबन्धनम्'' (भाग.पुरा. १।६।६) इति कंसस्य द्वेषसत्त्वेऽपि मातुलत्वेन सम्बन्धसत्त्वेऽपि क्षतिविरहः. वृष्णीनां निरोधमध्यपातित्वेन आसक्तिसत्त्वेऽपि न दोषः. युधिष्ठिरादीनां सम्बन्धसत्त्वेऽपि ''हरिदासस्य राजर्षेः'' (भाग.पुरा. १०।७२।२७) इति श्रवणादिभक्तिसत्त्वेऽपि च न काचिद् अनुपपत्तिः. 'स्नेहाद्' इत्यस्य स्थाने 'भक्त्या' इति पदप्रयोगेऽपि यद्यपि प्रेम्णा राज्ञा निवारितः, ''अजातशत्रुः पृतना गोपीथाय मधुद्विषः'' (भाग.पुरा. १।१०।३२) इति पूर्वापरविचारकाणां राज्ञा अधिकारानुसारेण तस्य स्नेहवाचकत्वमेव हृदि समायाति, तथापि ''भक्तियोगो बहुविधो मार्गैः भामिनि भाव्यते'' (भाग.पुरा. ३।२९।७) इति सर्वेषां ज्ञानं न सम्भवति इति स्पष्टार्थं तद्प्रयोगः स्वस्मात् तस्य उत्तमभक्तिमत्त्वज्ञापनाय 'स्नेहाद्' इति प्रयोगश्च कृतः.

नारदस्य तु कीर्तनभक्तिः सर्वजनीनः, ''प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि'' (भाग.पुरा. १।६।३४) इति वाक्यात्. तस्या एव भगवत्प्रापकत्वात् 'भक्त्या' इति प्रयोगेऽपि न सन्देहः. अतएव भगवति पौत्रत्वेन सम्बन्धसत्त्वे कीर्तनमाहात्म्यात् प्रेमसत्त्वे अधिकारित्वाद् भयसत्त्वे च न दोषः. ''मद्भयात् वाति वातोऽयम्'' (भाग.पुरा. ३।२५।४२) इत्यादौ अधिकारिणां भयं स्पष्टम्.

वस्तुतस्तु ''नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप'' (भाग.पुरा. १०।२६।१४)

इतिवाक्यात् यथा भक्ति-ज्ञान-कर्मणां फलसाधकत्वं तथा अवतारदशायां स्वरूपस्य फलसाधकत्वम्. यथा तदा भक्त्यादिपरतया कार्यसिद्धिः तथा अवतारकाले स्वरूपपरतया फलसिद्धिः. एवं सति यस्य यस्य यथा यथा स्वरूपपरता जाता सः प्रकारः तत्र तत्र स्पष्टतया नारदेन निरूपितः. एवञ्च "गानाद् वयम्" इति वक्तव्येऽपि तस्य कीर्तनभक्तिः प्रसिद्धा इति 'भक्त्या वयम्' इति उक्तवान् इति सर्वं सुस्थम्. अतएव अन्येऽपि उपायाः स्वरूपपरतासम्पादका बहवः सन्ति इत्याशयेन "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेद्" इति अग्रे उक्तवान्. अतएव पूतना भक्ष्यलोभेन स्वामिकार्यसाधकतया वा मार्यत्वाभिप्रायेण स्वरूपपरा जाता तथैव च मुक्ता. एवं मृगा अपि भगवन्मुखोत्थ-वेणुरणितश्रवणेन तत्परा जाताः. एवम् अन्या अपि उपायाः स्वयमेव ऊह्या इति दिक्.

आज्ञया गिरिधराणां व्याख्यानम् इदम् उक्तवान् ।
तेभ्यस्तु रोचते योऽर्थः स एव मम सम्मतः ॥

(अप्रकाशितः).

(झ-२)

। श्रीहरिः । **पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव मायया सह जात** (सुबो. १०।२।१६) इत्येतद्ग्रन्थसन्दर्भे. ननु "तव सुत" (भाग.पुरा. १०।३२।१४) इति "तन्मातरौ" (भाग.पुरा. १०।८।२४) इति वाक्यद्वयान्यथानुपपत्त्या भगवति नन्दसुतत्वम् आयाति, तेन च तत्र उत्पत्तिः अपि आक्षिप्यते, "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" (भाग.पुरा. १०।५।१) इति शुकवाक्येन तु श्रीनन्दे प्रभुसम्पादित-तथाबुद्धिः एव अनूद्यते, नतु क्वापि जन्मप्रकरणे केवलस्य तस्य उत्पत्तिः निरूपिता इत्याशङ्क्य आहुः **माययैव रूपान्तरम्** इति. अत्र अयम् आशयः. इदानीमेव मूलरूपप्राकट्यम् इति न कदापि मूलरूपं लोके सिद्धं, यत् पूर्वरूपम् आच्छाद्य तेन रूपान्तरं माया प्रकटयेत्, पूर्वं तस्य रूपस्य असिद्धत्वात्, सिद्धस्य मायया पूर्वम् आच्छाद्य प्रकटनीयत्वात्. इदमेव मायया रूपान्तरम्. माया हि सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्तिः. तया प्रभुः पूर्व-पूर्वरूपम् आच्छाद्य नानाविधं प्रकटयति. तथा सति तया पूर्वस्य आच्छादनाभावे द्वितीयम् अप्रकटम् एव स्यात्, पूर्वेण उपमर्दात्. अतो रूपान्तरप्राकट्ये भगवतः कर्तृत्वेऽपि मायायाः करणत्वं, तया विना तत्करणासम्भवात्. साच नन्दगेहे प्रकटा इति करणं कर्तृसहकृतमेव कार्याय इति कर्ता प्रभुः अपि तत्र आस्ते इति मन्तव्यम्. यतः तस्याः तत्र कार्यार्थमेव अवतारो, गर्भसङ्कर्षणादेः कार्यत्वात्. तत् तु प्रभुसन्निहिताया एव इति प्रभुसत्तापि तत्र मन्तव्या. तथाच

"आत्ममायया पित्रोः सम्पश्यतोः" (भाग.पुरा. १०।३।४६) इति वाक्यात् तस्या अत्र उत्पत्त्यध्याये निरूपणे मूलरूपाच्छादिकाया धर्मविशिष्टरूपाच्छादकम् इति केवलं तत् प्रकटम् इति तयैव रूपान्तरम् इति रूपान्तरस्वीकार एव उत्पत्तिः इति सा अत्र उक्ता केवलस्यापि. अतएव नन्दगृहप्रादुर्भूतायाः केवलतद्रूपाच्छादिकाया अत्र निरूपणं, तस्याच्छादने धर्मविशिष्टस्य अत्र प्रकटत्वात्. अतएव वसुदेवस्य तथाविधदर्शनवर्णनम्. तथाच केवलपुरुषोत्तमावरिकाया अत्र निरूपणे तस्याः समागत्य धर्मविशिष्टावरकत्वात् केवलस्य प्राकट्यं तयैव करणभूतया कृतम् इति सुष्ठूक्तम् आचार्यवर्यैः **माययैव रूपान्तरम्** इति. एवं सति जन्मप्रकरणेऽपि तदुत्पत्तिः निरूपिता ; न पूर्वोक्ता शंकालेशोऽपि इति उक्तम् इति भावः.

(वेणुनाद वर्ष १ अंक ७-८ इत्यत्र प्रकाशितः).

(झ-३)

। श्रीकृष्णाय नमः । "कस्याश्चिद्" (भाग.पुरा. १०।३०।१३) इत्यत्र **तत्रापि गण्डमिदम्** इति.

तत्रापि गण्डमिदं साध्यरूपा भक्तिरुच्यते. 'तां' लक्ष्मीं प्रति 'मूल'पर्यटनम् इति लक्ष्मीवन्तं प्रति पुनः पुनरावर्तत इति ज्ञानताम्बूलयोः तुल्यता. 'चर्वितम्' इति साधनप्रयासाभावेन सिद्धदानम् - सुबो.

साध्यं फलं तद्रूपा = फलानुभवरूपा इत्यर्थः. तत्र स्थित्वा तत्सम्बन्धेन फलानुभवः कर्तुं शक्यते इति साध्यरूपभक्तित्वं गण्डस्य. **तां लक्ष्मीम्** इति. **तां लक्ष्मीं** गण्डसम्बन्धिनीं कान्तिरूपलक्ष्मीं **प्रति** तद्रसानुभवमूलभूतस्य भगवतः **पर्यटनम्** ईषत्तदाभिमुख्यकरणम्. **लक्ष्मीवन्तम्** इति. पूर्वनिरूपितकान्तिरूप-लक्ष्मीवान् गण्डः, तत्स्पर्शजनित-रसभावप्रकार-विशेषलीलाविषयक-भगवज्ज्ञानावृत्तिः एव आवृत्तिः. तद्वन्मुखे चर्वितदानार्थं वारं वारं ताम्बूलावृत्तिः इति **ज्ञान-ताम्बूलयोः तुल्यता.** अतएव अग्रे चर्वणप्रयासाभावात् सिद्धदानम्. श्रीरस्तु.

(अप्रकाशितः).

